व्याख्याकार
मुनि श्री हेमचन्द्र जी

सम्पादक
श्री अमर मुनि

सूक्तत्रिवेणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

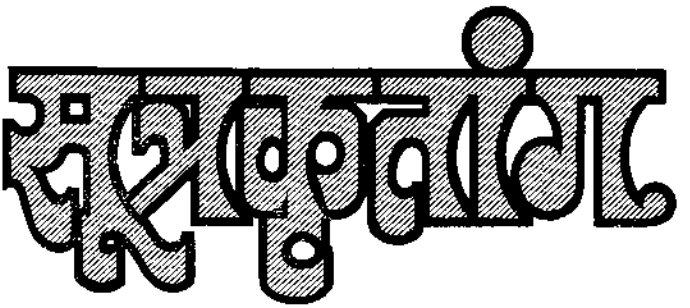

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणधर श्री सुधर्मा-प्रणीत द्वितीय अंग

श्री सूत्रकृतांगसूत्र

[प्रथम श्रुत-स्कन्ध]

[मूल-छाया-अन्वयार्थ-भावार्थ एवं अमरसुखबोधिनी व्याख्या सम्वन्वित]

अनुवाद और व्याख्या

पंडितरत्न श्री हेमचन्द्र जी म०

प्रेरक

नवयुग सुधारक पंडित श्री पदमचन्द जी महाराज
'भंडारी जी'

संपादक

अमर मुनिजी (प्रधान सम्पादक)
मुनिश्री नेमिचन्द्र जी (सह-सम्पादक)

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान पीठ—मानसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म दिवाकर आगम-रहस्यवेत्ता स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज
की जन्म शताब्दी [वि० सं० २०३९] के उपलक्ष्य में प्रकाशित

● **श्री सूत्रकृतांग सूत्र**

● **अनुवादक एवं व्याख्याकार**
पंडितरत्न श्री हेमचन्द्रजी महाराज

● **संपादक**
प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी महाराज

● **प्रकाशक**
आत्म-ज्ञानपीठ-
जैन-धर्मशाला
मानसा मण्डी (पंजाब)

● वीर संवत् २५००
वि० सं० २०३६ आश्विन
ई० सन् १९७९ सितम्बर

● **मुद्रक**
श्रीचन्द सुराना (आगरा) के निदेशन से
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

● **मूल्य** : लागत मात्र ५०) पचास रुपया

● **प्राप्ति स्थान**
० वीरायतन
पो० राजगृह
जि० नालन्दा (बिहार)
० सन्मति ज्ञानपीठ
लोहामण्डी, आगरा-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकी स्नेह एवं वात्सल्यपूरित प्रेरणाओं ने
मेरे ज्ञान-दीप की ज्योति को प्रज्वलित किया,
उन
नवयुग सुधारक, जैन विभूषण, परम सरलात्मा
गुरुदेव भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज
की पवित्र सेवा में

—अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैनधर्म दिवाकर स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज ने जिन-वाणी की अपूर्व प्रभावना की थी। अर्द्धमागधी भाषागत जैनशास्त्रों का हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टीकाएँ लिखकर उन्होंने आगमों का अमृत जन-जन के लिए सुलभ बनाने का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया था। उन्हीं की प्रेरणा व मार्गदर्शन से स्थानकवासी श्रमण परम्परा के अनेक विद्वान् मुनियों ने आगमों का सरल-सुबोध हिन्दी भाषा में संपादन-प्रकाशन कर श्रुतज्ञान-दान का महान् कार्य किया है। इसी परम्परा में संस्कृत-प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ पंडितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज ने श्री सूत्रकृतांग सूत्र का अनुवाद एवं विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका सम्पादन, पंडितश्री जी के सुयोग्य शिष्य नवयुग सुधारक भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज के विद्वान शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी महाराज ने किया है।

भंडारी श्री पदमचन्दजी महाराज जिनधर्म की प्रभावना में सदा अग्रणी रहे हैं। स्थान-स्थान पर चिकित्सालय, विद्यालय, वाचनालय, पुस्तकालय तथा असहाय सहायता केन्द्र आदि की स्थापना में प्रबल प्रेरणा देकर आप मानव जाति की महान सेवा कर रहे हैं, साथ ही भगवान महावीर के उच्च सिद्धान्तों का सक्रिय सजीव प्रसार कर रहे हैं। आपश्री के सद्प्रयत्नों से सम्पूर्ण मानवता धन्य हो रही है। पंजाब विश्वविद्यालय में जैनविद्या की चेयर स्थापना में भी आपश्री का मार्गदर्शन व सहयोग प्रमुख रहा है। पंजाब के गाँव-गाँव में सच्चरित्र व सद्ज्ञान की ज्योति जलाने की आपकी भावना सफल हो रही है।

प्रस्तुत सूत्र श्रीसूत्रकृतांग का संपादन व प्रकाशन भी आपश्री की प्रखर प्रेरणा का ही सुफल है। आपश्री की प्रेरणा से संपादन भी शीघ्रसम्पन्न हुआ और मुद्रण एवं प्रकाशन भी। हम आपके सदा आभारी रहेंगे।

प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी तटस्थ विचारक व लेखक मुनि श्री नेमीचन्द्र जी महाराज का भी अथक श्रम इस पुण्य कार्य में लगा है। वास्तव में संपादक द्वय की निष्ठा का ही यह सुपरिणाम है। संस्था आपकी सदा कृतज्ञ रहेगी।

प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी तटस्थ विचारक व लेखक मुनि श्री नेमीचन्द्र जी महाराज का भी अथक श्रम इस पुण्य कार्य में लगा है। वास्तव में संपादक द्वय की निष्ठा का ही यह सुपरिणाम है। संस्था आपकी सदा कृतज्ञ रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन में सहयोग देने वाले दानी सज्जनों ने शास्त्र-सेवा के पुण्यकार्य में दिल खोलकर सहयोग दिया है। हम उनको संस्था की तरफ से हार्दिक धन्यवाद देते हैं। साथ ही सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीचन्दजी सुरानी ने इस गंभीर आगम ग्रन्थ का सुन्दर व शुद्ध मुद्रण आदि कार्य सम्पन्नकर हमें उत्साहित किया है, हम उनके सहयोग को भी सदा स्मरण रखेंगे।

आशा है हमारी संस्था का यह प्रथम पुष्प पाठकों के लिए उपयोगी व उपकारी सिद्ध होगा।

मंत्री—
हाकमचन्द जैन
आत्म ज्ञान पीठ, मानसामंडी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादर धन्यवाद !

भगवद्वाणी का अमृत जन-जन को सुलभ हो सके, इसलिए शास्त्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की प्रबल प्रेरणा नवयुग सुधारक भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज की वाणी से मिली। उनके सुयोग्य शिष्य, प्रवचन भूषण श्री अमरमुनिजी के प्रवचनों से उत्साह दुगुना बढ़ा। हमारे पुण्यशाली गुरुभक्त सज्जनों ने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग दिया, और यह कार्य सुन्दरतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

यहाँ उन भाग्यशाली दाताओं की शुभ नामावली आदर और आभार पूर्वक प्रकाशित की जाती है—

१. श्री दीवानचन्द विनोदकुमार जैन, गीदड़बाहा मण्डी
२. श्री धनपतराय विनोदकुमार जैन, श्री गंगानगर
३. श्री अनन्तराम मलेरीराम जी, सफीदों मण्डी
४. श्री मुकेशकुमार, अशोककुमार जैन,
सुपुत्र --श्री कृष्णलाल जी, पदमपुर (राजस्थान)
५. लाला कबूलचन्द जगमन्दर लाल जैन, पदमपुर (राजस्थान)
६. बाबू शहजादाराम जी एडवोकेट, गीदडबाहा मण्डी
७. श्री पृथ्वीराज अभयकुमार जैन, पदमपुर (राजस्थान)
८. श्री जयकुमार सिंह जी जैन, लुधियाना
९. श्रीमती सुभाषरानी जैन, धर्मपत्नी डा० केवलकृष्ण जैन, लुधियाना
१०. श्री सन्तलाल जी जैन, आर० एन० ओसवाल, लुधियाना
११. श्री सुरेशचन्द जैन, चण्डीगढ़
१२. गुप्तदान
१३. श्रीमती प्रभाईदेवी जैन, C/O श्री मानसिंह विमलप्रसाद जैन, दिल्ली
१४. श्री रामस्वरूप जी, सफीदों मण्डी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. श्री बाबूराम सीताराम जैन, गीदड़बाहा मण्डी
१६. श्री फकीरचन्द जी जैन, कृपा नगर, अम्बाला
१७. श्री नगीनचन्द जैन, श्री गंगानगर
१८. श्री मिलखीराम जी जैन, मानसा
१९. श्री आतमाराम जैन एडवोकेट, हनुमानगढ़ टाऊन
२०. लाला पन्नालाल जैन, सितार गंज
२१. श्री रमेशचन्द जैन, मौड मण्डी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार-दर्शन

भगवान श्री महावीर के अमूल्य उपदेश आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, उसे 'आगम' कहा जाता है। आगम कोई एक ग्रन्थ विशेष नहीं है, किन्तु जिनवाणी के संकलित स्थिर संग्रह को ही 'आगम' संज्ञा दी गई है। उसमें मुख्य रूप से महावीर की वाणी तथा अन्य स्थविर-गणधर आदि के उपदेश संकलित होते हैं। श्वेताम्बर स्थानक वासी जैन मान्यतानुसार वर्तमान में बत्तीस आगम प्रमाणस्वरूप माने गये हैं। उनमें सर्वप्रमुख है ग्यारह अंग आगम। अंग आगमों में आचारांग सूत्र प्रथम आगम है। प्रस्तुत सूत्रकृतांग सूत्र द्वितीय अंग आगम है। आचारांग में आचारधर्म का अनेक दृष्टियों से वर्णन हुआ है। सूत्रकृतांग में दार्शनिक विवेचन अधिक है इसलिए इसे दर्शनशास्त्र का प्रमुख आगम कहा जाता है।

स्थानकवासी परम्परा में आगम प्रकाशन का कार्य पिछली एक शताब्दी से हो रहा है। अनेक विद्वान मुनि और आचार्यों ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर गंभीर आगम वचनों का अनुवाद व विवेचन कर उसे सर्वजन सुबोध भाषा में रखने का प्रयत्न किया है। आचार्यों की इस पुनीत नाम गणना में पूज्य आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज, पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज तथा जैन धर्म दिवाकर पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के शुभ नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं।

मेरे परदादागुरु आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज जैन आगमों के महान मर्मज्ञ, सरल व्याख्याकार और सुयोग्य संपादक थे। अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल पर उन्होंने अनेकानेक आगमों पर हिन्दी भाषा में विस्तृत टीकाएँ लिखीं और अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन किया। उनके असीम प्रयत्नों का ही यह सुफल है कि आज स्थानकवासी जैन श्रमणों में अनेक श्रमण प्राकृत-संस्कृत के अधिकारी विद्वान तथा आगमों के गंभीर ज्ञाता है और सुलेखक, संपादक एवं ओजस्वी वक्ता बनकर श्रमण वर्ग की गौरव गरिमा में चार चाँद लगा रहे हैं।

पंडितरत्न प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ श्री हेमचन्द्र जी महाराज स्व० आचार्य प्रवर के सुयोग्य शिष्य रत्न है और आप मेरे दादागुरु हैं। आपश्री की प्रेरणा व मार्ग-दर्शन से मैंने दो अक्षरों का बोध प्राप्त किया। आपश्री द्वारा किये गये अनुवाद एवं व्याख्या को मैंने अपनी शैली में ढ़ालने का प्रयत्न किया है।

व्याख्या को मैंने अपनी शैली में ढ़ालने का प्रयत्न किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे जीवन विकास और यत्किंचित साहित्यसेवा का जो कुछ भी श्रेय है, वह मेरे गुरुदेव नवयुग सुधारक, सेवा और सरलता के मूर्तिमंत भंडारी श्री पदमचन्द्रजी महाराज को है। मैं जो कुछ कर पाया हूँ यह स्व० गुरुदेव का आशीर्वाद और पूज्य गुरुदेव भंडारी जी महाराज के मार्गदर्शन तथा सतत सहयोग का ही सुफल है।

परममनीषी राष्ट्रसंत कवि श्री अमर मुनि जी महाराज के योग्य मार्गदर्शन और स्नेह-पूरित प्रेरणाओं को भी मैं भुला नहीं सकता। कविश्री की बलवती प्रेरणा और समयोपयोगी सुझावों ने मुझे कुछ करने योग्य बनाया है।

मुनिश्री नेमीचन्द्रजी महाराज ने भी मेरे इस भगीरथ कार्य को भाषा-शैली आदि विविध दृष्टियों से सुन्दर और उपयोगी स्वरूप प्रदान किया है। सुचिन्तक विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि शास्त्री ने इस सूत्र रत्न पर विशेष प्रस्तावना लिखी है। और जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने इसे शुद्ध मुद्रण आदि की दृष्टि से निखारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रेरणा से अनेक जिन-प्रवचन-श्रद्धालुओं ने प्रकाशन में हाथ बटाया है।

इस प्रकार मेरा यह एक संपादन-प्रयत्न गुरुजनों के आशीर्वाद, मार्गदर्शन, सहयोगी जनों के सहकार और श्रद्धालु भक्तों के उदार सौजन्य के बल पर पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। यह संपादन-विवेचन कैसा बना है, इसका निर्णय जिज्ञासु पाठक ही करेंगे, मैं तो जिन प्रवचन की एक तुच्छ सेवा करके अपने को भाग्यशाली मानकर ही प्रसन्न व आनन्दित हूँ।

२० अगस्त, १९७९ पर्युषण पर्व
जैन स्थानक,
लुधियाना

—अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र : एक अनुचिन्तन

[] श्री विजयमुनि शास्त्री

वैदिक-परम्परा में जो स्थान वेदों का मान्य है, तथा बौद्ध-परम्परा में जो स्थान पिटकों का माना गया है, जैन-परम्परा में वही स्थान आगमों का है। जैन-परम्परा, इतिहास और संस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही हैं। आगमों में जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग-युगान्तर से चला आया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु इस मान्यता में जरा भी सार नहीं है कि उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मान्यता-भेद भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण है-- समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमों के पृष्ठों पर विचार-भेद उभरते रहे हैं। आगमों की निर्युक्तियों में, आगमों के भाष्यों में, आगमों की चूर्णियों में और आगमों की टीकाओं में तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट है। मूल आगमों में भी युगभेद के कारण से विचार-भेद को स्थान मिला है और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारों में इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमों की रचना का काल

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्द्धिगणी ने पुस्तक लेखन करके आगमों के संरक्षण कार्य को आगे बढ़ाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्त्ता नहीं हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। देवर्द्धिगणी ने तो केवल उनका संकलन और संपादन ही किया है। यह सत्य है कि आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणी का काल नहीं हो सकता। पूरे आगमों का एक काल नहीं हो सकता। सामान्य रूप में विद्वानों ने अंग आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारों के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के काल में हुई। और उसका काल है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगम का काल लगभग ईसापूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शती तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा बारह सौ वर्षों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समय आगम संरचना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अंग आगमों के रचना के काल का संमिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमों का रचनाकाल मान लेते हैं। अंग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अतः आगमों की संरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमें जो प्रक्षेप अंश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारों से किया जा सकता है। अंग आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कंध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। सूत्रकृतांगसूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध में भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानांगसूत्र और समवायांग सूत्र में कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हैं, जिनकी नवता एवं पुरातनता के सम्बन्ध में आगमों के विशिष्ट विद्वानों को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अंगबाह्य आगम :

अंग-बाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अंग-बाह्य आगम गणधरों की रचना नहीं है। अतः उनका काल निर्धारण जैसे अन्य-आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अंग-बाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण संवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अतः प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रों में दशाश्रुत, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के आसपास निश्चित है। अतः उनके द्वारा रचित इन तीनों छेदसूत्रों का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय आचारांग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की संरचना है। मूल-सूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शयंभव ने की है, इसमें किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नहीं रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचारांग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो संक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एवं विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनों की करीब-करीब एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति नहीं, किन्तु संकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप में वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमों के सम्बन्ध में भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अंगों का क्रम

एकादश अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है। आचारांग को क्रम में सर्व-प्रथम स्थान देना तर्क-संगत भी है एवं परम्परा प्राप्त भी है। क्योंकि संघ व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-संहिता की मानव-जीवन में प्राथमिकता रही है। अतः आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आए हैं, वहाँ-वहाँ मूल में अथवा वृत्ति में आचारांग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आए हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं है। इतना अवश्य है कि सचेलक एवं अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एक ही क्रम है। सूत्रकृतांग सूत्र में विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचारांग में आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचारांग में भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप में अथवा बीज रूप में विद्य-मान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमें मुख्य है। सूत्रकृतांग में प्रायः सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग की तुलना बौद्ध-परम्परा मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमें बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित ६२ मतों का यथाप्रसंग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृतांग सूत्र में स्वसमय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारों के अनुसार इस में ३६३ मतों का खण्डन किया गया है। समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमें स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतों की, ८४ अक्रियावादी मतों की, ६७ अज्ञानवादी मतों की एवं ३२ विनयवादी मतों की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतों की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कंध में १६, द्वितीय श्रुतस्कंध में ७। नन्दीसूत्र में कहा गया है कि सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों का खण्डन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार-धर्म एवं विभिन्न क्रियाओं का निरूपण है।

सूत्रकृतांगसूत्र का संक्षिप्त परिचय

जैन-परम्परा द्वारा मान्य अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचारांग से अधिक है। भगवान महावीर के युग में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृतांग का वर्तमान समय में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कंध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले में २७ गाथाएँ हैं, दूसरे में ३२, तीसरे में १६ तथा चौथे में १३ हैं। इस में वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को बताते हुए अन्य बहुत से मतों का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। पहले में २२ गाथाएँ, दूसरे में ३२ तथा तीसरे में २२। वैतालीय छन्द में रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले में १७ गाथाएँ हैं, दूसरे में २२, तीसरे में २१ तथा चौथे में २२। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आने वाली विघ्न-बाधाओं का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमें साधकों के प्रति स्त्रियों द्वारा उपस्थित किए जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नों का वर्णन है। उपसर्ग अध्ययन में प्रतिकूल विघ्नों का वर्णन था और इसमें अनुकूल विघ्नों का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले में २७ गाथाएँ और दूसरे में २५। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नहीं है, इसमें २६ गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-भाषित अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं, जिसमें कुशील एवं चारित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन में २६ गाथाएँ हैं, इसमें वीर्य अर्थात् शुभ एवं अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया है। नववें धर्म अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म में समाधि अर्थात् धर्म में स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन में ३८ गाथाएँ हैं, जिसमें संसार के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवें समवसरण अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन में २३ गाथाएँ हैं, जिसमें मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन में २७ गाथाएँ हैं, जिसमें ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन में २५ गाथाएँ हैं, जिसमें भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य में है, जिसमें भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। उनमें प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य में है। इसमें एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु स्वयं ही कष्टों में फँस जाते हैं। राजा वहाँ का वहीं रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला आता है। इस अध्ययन में विभिन्न मतों एवं विभिन्न संप्रदायों के भिक्षुओं के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रियास्थान है, जिसमें कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमें बताया गया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमें त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एवं नियमों का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमें त्याज्य वस्तुओं की गणना की गई है, तथा लोकमूढ़ मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमें आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढंग से कही गई है। यह एक दार्शनिक संवाद है, जो उपनिषदों के संवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हैं। सातवाँ नालन्दा अध्ययन है, जिसमें भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा में दिया गया उपदेश अंकित है।

सूत्रकृतांग सूत्र में जिन मतों का उल्लेख है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतों का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद में उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमों में माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका निर्माण किसने किया ? और कैसे हुआ ? क्योंकि लोक प्रत्यक्ष है। अतः उसकी सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उठना सहज ही था। इसके सम्बन्ध में सूत्रकृतांग में एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पाँच भूतों का बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओं में किया गया है। मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे पञ्चभूतवाद कहा है, किन्तु सूत्रकृतांग के टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे चार्वाक मत बताया है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कंध में भी है। वहाँ इसे पञ्च महाभूतिक कहा गया है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। इसमें बताया गया है कि परलोकगमन करने वाला कोई आत्मा नहीं है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नहीं है। मूलकार ने इस मत का कोई नाम नहीं बताया। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध में इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालों का खण्डन करते हुए वादी कहता है — कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी नहीं बता सकते। यदि जीव शरीर से पृथक होता है, तो जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूँज से सींक तथा मांस से अस्थि अलग करके बताई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए। जिस प्रकार हाथ में रहा हुआ आँवला अलग प्रतीत होता है तथा दही में से मक्खन, तिल में से तेल, ईख में से रस एवं अरणि में से आग निकाली जाती है, इसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नहीं। अतः शरीर और जीव को एक मानना चाहिए। तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतों से चेतन का निर्माण होता है। अतः यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है। इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है।

एकात्मवाद की मान्यता

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एवं समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है। वही मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि में अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है। टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है।

नियतिवाद

कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, यथाप्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता। इन सबका करने वाला जब जीव स्वयं नहीं है, तब दूसरा कौन हो सकता है? इन सबका मूल कारण नियति है। जहाँ पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का समय आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है। उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल, अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। जगत् में सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं। सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में इस वाद के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनों ही नियतिवादी हैं। क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है। इस नियतिवाद के सम्बन्ध में मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एकमत हैं, वे तीनों इसे नियतिवाद कहते हैं। भगवान् महावीर के युग में गोशालक का भी यही मत था, जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमों में भी उपलब्ध होता है। निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा। पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था। सूत्रकृतांग सूत्र में इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरों का भी उल्लेख है। जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापसवाद, आदि अनेक मतों का सूत्रकृतांग सूत्र में संक्षेप रूप में और कहीं पर विस्तार रूप में उल्लेख हुआ है। परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलांक ने मत-मतान्तरों की मान्यताओं का नाम लेकर उल्लेख किया है। आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

आचारांग और सूत्रकृतांग

एकादश अंगों में आचारांग प्रथम अंग है, जिसमें आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है। श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है। आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कंध तथा द्वितीय श्रुतस्कंध। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम है। द्वितीय श्रुतस्कंध को आचाराग्र कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओं में विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचारांग से पृथक् हो गया। यह पृथक्करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नहीं हो सकी है। आचारांग में अथ से इति तक आचारधर्म का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचारांग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतांगसूत्र, जो एकादश अंगों में द्वितीय अंग है, उसमें विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीरकालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे, उन सबके विचारों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृतांग जैन-परम्परा में प्राचीन आगमों में एक महान् आगम है। इसमें नवदीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमें बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृतांग के भी दो श्रुतस्कंध हैं। दोनों में ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृतांग में वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होंगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदों में उपलब्ध होती है। उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य में इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा सकती है। ब्रह्मजाल सुत्त में भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिकों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक में सूत्रकृतांग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनों का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृतांग से ही हो सकता है। अतः जैन-परम्परा में सूत्रकृतांग एक प्रकार से दार्शनिक विचारों का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सम्पादन

सूत्रकृतांग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा में सुन्दर प्रकाशन ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान में चार भागों में प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टिकोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन संस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अतः मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृतांग जैसे गंभीर आगम का प्रकाशन एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत संस्करण सूत्रकृतांग एक विराट्काय संस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर संस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिससे मूल का स्पष्ट अर्थ बोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गंभीर भावों को आसानी से समझ सकता है। अतः प्रस्तुत संस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, जिसमें व्याख्याकार का गहन एवं विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एवं प्रगाढ़ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत संस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का उनका अध्ययन गंभीर एवं व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही हैं। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणों में जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन में संलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गंभीर एवं व्यापक बनाते गए। जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज स्वयं भी महान् आगमधर, दार्शनिक एवं विचारक थे। अपने युग में वे आगमों के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एवं व्याख्याता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होंने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचारांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गंभीर एवं गूढ़ कहे जाने वाले आगमों पर उन्होंने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं, जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थबोधक एवं हृदयग्राहिणी है। अतः श्री संघ ने उन्हें जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलंकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य में भी समवतरित हुई। आचार्य श्री के साहित्य-निर्माण में भी पण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही बहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह बौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना में चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत संस्करण के प्रेरक एवं सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे हैं – पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज में सर्वत्र विश्रुत हैं। भण्डारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत श्रद्धासिक्त स्नेही रहे हैं। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। सूत्रकृतांग का लेखन बहुत समय पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकांक्षा न होने के कारण उन्होंने (पं० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा में कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं किया। फलतः यह महती कृति वर्षों तक यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही रखी रही। पण्डितजी के प्रिय शिष्य श्री भण्डारीजी महाराज के अन्तर्मन में भावना जगी कि यह विराट शास्त्र आधुनिक शैली से पुनः सम्पादित होकर जन-चेतना के समक्ष आए। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि भण्डारीजी की उक्त मंगल भावना ने आज सुचारु रूप से मूर्त रूप लिया है।

पूर्व प्रकाशित प्रश्नव्याकरणसूत्र के समान सूत्रकृतांग के सम्पादन का यह महान् कार्य भी भण्डारीजी के प्रिय शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। श्री अमरमुनिजी प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार पं० हेमचन्द्रजी महाराज के प्रशिष्य हैं। वे एक महान् कर्मठ, योग्य विचारक एवं जिनशासनरसिक तरुण मुनि हैं। वर्तमान पंजाब जैन श्रमण-संघ में मुनिजी एक महान् यशस्वी प्रवक्ता हैं। उनकी वाणी से सहज ही वह अमृतकल्प रस धारा बरसती है, जो हजारों-हजार श्रोताओं के अन्तर् मन को गहराई से स्पर्श कर जाती है, आनन्द से सराबोर कर देती है। वस्तुतः वे सही अर्थ में प्रवचनभूषण हैं। सेवा की तो वे जीवित प्रतिमूर्ति ही हैं। सन् १९६४ के पूज्य गुरुदेव के जयपुर वर्षावास में उनको अस्वस्थता के समय उन्होंने जो उदात्त सेवा-परिचर्या की है, वह हम सबके स्मृति-कोष की एक अक्षुण्णनिधि है। वस्तुतः अमरमुनिजी में अपने पूर्व गुरुजनों की संस्कारधारा प्रवाहित है, जो उन्हें यशस्वी बनाती रही है और बनाती रहेगी। इन दिनों में पूज्य गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। अतः इस महान् कार्य में प्रस्तावना के रूप में मैं अपना योगदान देकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि भविष्य में भण्डारीजी और अमरमुनिजी आगम प्रकाशन के इस महान् कार्य की परम्परा को आगे भी चालू रखेंगे। प्रस्तुत सूत्रकृतांग सूत्र के व्याख्याकार की व्याख्या भी सुन्दर है, सम्पादक का सम्पादन भी मधुर है और प्रेरक की प्रेरणा भी प्रशंसा के योग्य है। प्रस्तुत प्रकाशन से आगमाभ्यासी एवं स्वाध्यायप्रेमी भाई-बहन अधिक से अधिक लाभान्वित हों, यही मेरी मंगल भावना है। सुरभित सुमन की सुगन्ध सब ओर मुक्तगति से फैलनी ही चाहिए।

वीरायतन, राजगृह
अक्षय तृतीया
२९ अप्रैल ७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहयोग के दो शब्द

वर्तमान में उपलब्ध ११ अंगों में सूत्रकृतांग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह द्वितीय अंगशास्त्र है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात।

यों देखा जाय तो सूत्रकृतांग दार्शनिक शैली का शास्त्र है, इसलिए प्रारम्भ में अध्येता को जरा दुरूह एवं क्लिष्ट प्रतीत होता है, लेकिन ज्यों-ज्यों इसके अन्दर वह अवगाहन करता जाता है त्यों-त्यों इस शास्त्र समुद्र में असंख्य मुक्ताफल ज्ञान और दर्शन के रूप में मिलते हैं।

इस व्याख्या का महत्त्व

यों तो इस शास्त्रराज पर अद्यावधि कई व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पर सबसे प्राचीन आचार्य भद्रबाहुस्वामी रचित निर्युक्ति है। इसके पश्चात् श्री शीलांकाचार्य की टीका प्रसिद्ध है। इस पर चूर्णि और दीपिका भी मिलती है। इसके अतिरिक्त स्थानकवासी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान में शीलांकाचार्य कृत टीका का पं० अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य द्वारा किया हुआ अनुवाद ४ भागों में प्रकाशित हुआ है। साथ ही जैनाचार्य पं० मुनि श्री घासीलाल जी महाराज द्वारा कृत संस्कृत, हिन्दी-गुजराती टीका भी प्रकाशित हुई है। परन्तु इन सब व्याख्याओं के होते हुए भी सूत्रकृतांग की यह व्याख्या कुछ विलक्षण है। इसमें प्रांजल हिन्दी भाषा में व्याख्या इतनी सरस व हृदयस्पर्शी है कि मूल पाठ के शब्दों का पुर्जा-पुर्जा खोलकर रख देती है। एक तरह से मूलपाठ का हृदय खोलकर रख देती है। व्याख्या में किसी प्रकार का साम्प्रदायिक पक्षपात न रखकर समन्वय का दृष्टिकोण रखा गया है। जहाँ कहीं किसी अन्य दर्शन के मत का निराकरण भी मूलानुसार किया गया है, वहाँ उस दर्शन का पूर्वपक्ष भली-भाँति प्रस्तुत करके फिर उसका उत्तरपक्ष सुचारुरूपेण समझाया गया है। इस सूत्रकृतांग-व्याख्या में मूलपाठ, संस्कृत-छाया, शब्दार्थ, अन्वयार्थ और व्याख्या यों ५ विभाग साथ-साथ दिये गये हैं, जिससे पाठक सुगमता से वस्तुतत्त्व को हृदयंगम कर सके।

शास्त्ररसिकों से

इसलिए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि व्याख्यासहित यह शास्त्रराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम-जिज्ञासुओं, आगमवेत्ताओं, शास्त्रज्ञ साधु-साध्वियों, शास्त्रशोधकर्ताओं तथा आगमरसिकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस व्याख्या को देख लेने के पश्चात अन्य टीका और निर्युक्त देखने की पाठक को आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यों तो यह शास्त्रराज बहुत ही दुरूह है, अगर मनोयोगपूर्वक न पढ़ा जाय तो झटपट समझ में आने वाला नहीं है, और न ही इसमें कोई कथा-कहानी है, जिससे उपन्यास-कहानी की तरह इसे पढ़ने में शीघ्र दिलचस्पी जगे। परन्तु इतना अवश्य है कि जो भी मुमुक्षुजन इसे रुचिपूर्वक पढ़ेगा, उसे इसमें से अनेक अनुभवरत्न मिलेंगे, आत्म-साधना की अटपटी घाटियों को पार करने में इस शास्त्रराज से बहुत ही मार्गदर्शन मिलेगा, और मिलेगा युक्ति, सूक्ति और अनुभूति का प्रकाश, जिससे प्रत्येक साधक अपनी जीवननैया को विषय-कषायों के तूफानों से; एवं काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेष आदि की चट्टानों से टकराने से बचा सके।

शास्त्र-सम्पादन एवं प्रकाशन का श्रेय

इस शास्त्रराज को इतनी सुन्दर व्याख्या के साथ सम्पादन और प्रकाशन कराने का श्रेय है श्रद्धेय जैन विभूषण भंडारी श्री पदमचन्द जी महाराज को, जिन्होंने व्याख्यासहित इस शास्त्र के सम्पादन की अनवरत प्रेरणा दी और शास्त्र की सुन्दरतम व्याख्या के लिए सतत उत्साहपूर्ण शब्दों में लिखते रहे। इस प्रकार जैनशासन की महती सेवा करके आप महान पुण्योपार्जन कर रहे हैं। आपकी इस श्रुतसेवा से अनेक शास्त्ररसिक, सिद्धान्तजिज्ञासु साधुसाध्वियों एवं अन्य महानुभावों को महान् श्रुतज्ञान का लाभ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। आपकी यह श्रुतसेवा चिरस्थायी होगी तथा आपकी कीर्ति को दिग्दिगन्त में प्रसारित करेगी।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस शास्त्रराज को प्रत्येक आगमरसिक उत्साह और श्रद्धा के साथ पढ़ेगा।

श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज बड़े उदार, सरलचेता एवं गंभीर साधु हैं। पंजाब के लब्धप्रतिष्ठ साधुओं में से आप एक हैं। आपने इससे पूर्व श्री प्रश्न-व्याकरणसूत्र की व्याख्या प्रकाशित करवाई है, इसके अतिरिक्त 'म० महावीर : सिद्धान्त और उपदेश' का अंग्रेजी में अनुवाद तथा अन्य कतिपय पुस्तकों का गुरु-मुखी में अनुवाद कराकर प्रकाशित करवाया है। सचमुच, आप में अद्भुत लगन है, उत्साह है, भगवान महावीर के जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को जन-जन में प्रसारित करने का! इस मिशन को लेकर आपने अपने शिष्य प्रसिद्धप्रवक्ता, वाणीभूषण श्री अमरमुनि के साथ पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रदेशों में सर्वत्र भ्रमण किया है। वयोवृद्ध होते हुए भी आप में युवकों का-सा उत्साह है।

शास्त्र सम्पादन की कहानी

जब मैं आगरा में था, तब आपका स्नेहानुरोध भरा समाचार प्राप्त हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि आपको (मुझे) सूत्रकृतांग सूत्र व्याख्यासहित सम्पादन कराना है। मैंने आपके कृपापूर्ण स्नेहानुरोध को मानकर अपने तत्त्वावधान में सूत्रकृतांग का व्याख्यासहित सम्पादन का कार्य हाथ में लिया जिसका प्रतिफल पाठकों के हाथों में है। इसकी व्याख्या के सम्पादन में अनेक ग्रन्थों में सहायता ली गई है। मैं उन सब ग्रन्थकारों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। साथ ही श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज को कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ, जो सम्पादन कार्य शीघ्र कराने के लिए सतत मेरा उत्साह बढ़ाते रहे। अगर आपके द्वारा इतना उत्साहसंवर्द्धन न होता तो मैं इतना शीघ्र इस भगीरथ कार्य को सम्पन्न नहीं करा सकता था। साथ ही अपने साथी सम्पादक प्रवचन भूषण श्री अमरमुनि जी को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी अविचल निष्ठा और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से मैं इस कार्य में यशस्वी बना हूँ।

सुन्दर मुद्रण के लिए

ज्यों ही इस शास्त्रराज का सम्पादन पूर्ण हुआ, श्रद्धेय श्री भण्डारीजी महाराज ने इसके शीघ्र एवं सुन्दरतम मुद्रण का कार्य प्रसिद्ध सिद्धहस्त लेखक श्री श्रीचन्दजी सुराना के हाथों में सौंपा। उन्होंने शुद्ध और सुन्दर रूप में उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से इसे मुद्रित करवाया है। इसके लिए वे धन्यवादार्ह है। सुन्दर और शुद्ध मुद्रण के लिए सुरानाजी प्रसिद्ध हैं ही।

आशा है, इस शास्त्रराज को पढ़कर पाठक श्रुतभक्ति का परिचय देंगे और अपने जीवन में इन मंगलमय सिद्धान्तों को स्थान देंगे।

अहिंसा निकेतन, बेलचम्पा (बिहार)
दिनांक—६-७-७६ चातुर्मासिक पर्व

— मुनि नेमिचन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल-भावना

उपाध्याय श्री फूलचन्द्र जी महाराज 'श्रमण'

आगम-शास्त्र श्रमण संस्कृति के मूलाधार होने के कारण हमारे श्रद्धा के केन्द्र हैं। पंच परमेष्ठी और नवतत्त्वों का बोध, स्व-पर का भान, दुःखों के मूल कारणों से निवृत्ति, परम-पद-प्राप्ति के उपायों की खोज हमें आगम-शास्त्र साहित्य में ही उपलब्ध होती है। साधक के गुण-दोषों का प्रतिबिम्ब ये आगम-शास्त्र ही हैं। आज के युग में यदि किसी को भगवान के दर्शन करने हों तो इन्हीं के माध्यम से हो सकते हैं।

आगम—जो ज्ञान-स्रोत भगवान महावीर से प्रस्फुटित हुआ, वह श्रुतज्ञान गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं बहुश्रुत मुनियों के माध्यम से अब तक चला आ रहा है और आगे भी चलता रहेगा। यही श्रुत ज्ञान आगम कहलाता है।

शास्त्र—लोक में विभिन्न प्रकार के शास्त्र हैं। जैसे—कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेदिकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुकलाशास्त्र, न्यायशास्त्र, तर्क-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, विज्ञानशास्त्र, शब्दशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि। इन सब में आगम-शास्त्र का स्थान सर्वोपरि है। जीवाजीव का बोध करवाकर आध्यात्मिक आनन्द देने वाला केवल आगम-शास्त्र ही है।

आगम-शास्त्रों में अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान की मुख्यता है। इसका स्थान उसी तरह उच्च है जैसे शरीर में उत्तम अंगों का। अंगप्रविष्ट शास्त्रों की गणना कुल १२ है, उनमें 'सूत्रकृताङ्ग' या 'सूयगडंग' का क्रम से दूसरा स्थान है।

सूयगडंग

धर्म और दर्शनशास्त्रों में 'सूयगडंग' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके संस्कृत भाषा में तीन रूप बनते हैं—सूतकृतांग, सूत्रकृतांङ्ग और सूचाकृताङ्ग। जो तीर्थंकरों द्वारा अर्थरूप में उत्पन्न होकर गणधरों द्वारा ग्रन्थरूप में रचा गया है उस अंगशास्त्र को 'सूतकृत' कहते हैं। सूत्र के अनुसार जिससे तत्त्वार्थ का बोध किया जाता है उस अंग शास्त्र को 'सूत्रकृत' कहते हैं। स्व-समय और पर-समय को सूचित करने वाला अंगशास्त्र 'सूचाकृत' कहलाता है। ये तीनों अर्थ प्रस्तुत शास्त्र में घटित होते हैं। इस शास्त्र की भाषा और विषय दोनों जटिल हैं। स्व-समय और पर-समय सिद्धान्त को मूलतः अलग-अलग समझना ही सम्यग्ज्ञान है। साधक की मनोवृत्ति जिस ज्ञान से अन्तर्मुखी हो जाय वही स्व-समय है। जिस ज्ञान से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्मुखी होकर भी बहिर्मुखी मनोवृत्तियाँ हो जाएं या सदैव बहिर्मुखी मनोवृत्तियाँ बनी रहें वह अज्ञान या पर-समय कहलाता है। प्रस्तुत शास्त्र में स्व-समय को समझाने के लिए पर-समय और पर-समय को समझाने के लिए स्व-समय का निर्देश किया गया है। सत्य को समझने के लिए असत्य को और असत्य को समझने के लिए सत्य को समझना आवश्यक है।

प्राचीन और अर्वाचीन व्याख्याएँ

प्रस्तुत शास्त्र पर सर्वप्रथम भद्रबाहु स्वामी ने प्राकृत भाषा में निर्युक्ति लिखी। शास्त्र और निर्युक्ति दोनों का आधार लेकर आचार्य शीलांक ने संस्कृत भाषा में बृहद्वृत्ति लिखी, जिनका कालमान नवाङ्गी टीकाकार अभयदेवसूरि से पहले का माना जाता है। आचार्य अमोलक ऋषि जी म० ने हिन्दी में संक्षिप्त व्याख्या लिखी। आचार्य जवाहरलाल जी म० की ओर से भी चार भागों में सूत्र और बृहद्वृत्ति का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया। 'सूत्रकृतांग' के हिन्दी व्याख्यासहित जितने भी संस्करण आजतक प्रकाश में आए हैं उन सबमें जो पुस्तक आपके हाथों को सुशोभित कर रही है यह अपने आप में अद्वितीय एवं अपूर्व है।

अनुवादक और सम्पादक

अनुवादक दुभाषिये का काम करता है और सम्पादक विषय तथा भाषा को परिमार्जित करके सर्वजनग्राह्य साहित्य की रचना करता है। इस शास्त्र के अनुवादक जैनरत्न, पण्डितरत्न, उपप्रवर्तक स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्र जी म० हैं और ये श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर महामहिम साहित्यरत्न, जैनागम, रत्नाकर, आचार्यप्रवर पूज्य श्री आत्माराम जी म० के शिष्य हैं। संस्कृत और प्राकृत भाषा के धुरंधर विद्वान हैं। इनके सुशिष्य नवयुग सुधारक, जैनविभूषण भण्डारी श्री पदमचन्द जी हैं जिन्होंने आचार्य श्री आत्माराम जी म० की बहुत वर्षों तक अथक सेवाएँ कीं, फलस्वरूप आपके मन में एक तरंग उठी, वह थी भगवद्वाणी की सेवा या प्रवचनवत्सलता। उनकी इस भावना को साकार बनाने के लिए प्रकृति देवी ने एक होनहार, प्रभावक, तेजस्वी, मनीषी, प्रवचनभूषण मुनिरत्न श्री अमरमुनि जी को शिष्य रूप में आपको प्रदान किया। प्रस्तुत शास्त्र का अत्युत्तम सम्पादन करके प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी ने समाज का जो कल्याण किया है वह समस्त जैन तथा जैनेतर विद्वानों के लिए उपादेय होगा ऐसी हमारी कामना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

❀ राष्ट्रसंत उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि

शुभाशंसा

आगम प्रकाशन की चिरकाल से एक लम्बी शृङ्खला बनती चली आ रही है। विभिन्न स्थानों से विभिन्न रूपों में आगमों का प्रकाशन हुआ है, और हो रहा है। आये दिन आगम प्रकाशन योजनाओं का कोई-न-कोई नया शंखनाद सुनने को मिल जाता है।

मैं बहुत वर्षों से चाहता था कि आगम प्रकाशन से पूर्व आगम संपादन के लिए एक सर्वदलीय विद्वत्सम्मेलन हो। उसमें परस्पर खुले मन से नये-पुराने सभी मस्तिष्क चिन्तन-मनन करें। अन्त में सर्वसम्मति से या बहुसम्मति से जो भी सत्यानुलक्षी एकवाक्यता हो, एक निर्णय हो, तदनुसार आगम-साहित्य का, आगमों की गरिमा के अनुरूप सम्पादन एवं प्रकाशन किया जाय। अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स और पूर्वकाल में नव प्रस्थापित स्था० वर्धमान श्रमण संघ के द्वारा जब-जब मुझे आगम साहित्य के सम्पादन आदि का काम सौंपने हेतु चर्चाएँ चलीं, तब-तब मैंने स्पष्ट शब्दों में अपने उपर्युक्त विचार व्यक्तिगत-परामर्शों एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से जनता के सामने रखे हैं। परन्तु हार्दिक खेद है, सामूहिक कर्म की उदार मनोवृत्ति के अभाव में यह बेल चढ़ाने पर भी मढ़े न चढ़ सकी। इतना लम्बा समय हो चुका है, आज भी यही स्थिति है। प्रतीक्षा है, आगम मन्दिर पर कभी-न-कभी सामूहिक चिन्तन-मनन का, यथार्थदर्शी सम्पादन-प्रकाशन का स्वर्ण-कलश चढ़ेगा और जनमानस में साम्प्रदायिक दुराग्रहों के कारण फैलती आई पुरानी भ्रान्तियाँ दूर होंगी, साथ ही नयी भ्रान्तियों की अमुक सीमा तक यथोचित रोक-थाम होगी।

जब तक उपर्युक्त पवित्र ब्रह्म बेला न आए, तब तक हमारे योग्य स्नेही साथी इस दिशा में जो भी एकांगी प्रयत्न कर रहे हैं, उनका हृदय से स्वागत है। एकान्त नकार से चलो कुछ हो तो रहा है।

एक ऐसे ही धन्यवाद के पात्र हैं प्रस्तुत में जैनधर्म दिवाकर महान् आचार्य-देव महामहिम पूज्य श्री आत्माराम जी म० के प्रिय शिष्य पं० श्री हेमचन्द्रजी। पण्डितजी विद्वान् हैं, शास्त्राभ्यासी हैं, फिर भी इतने विनम्र एवं निरभिमान कि देखें तो आश्चर्य होता है। अपने स्वर्गीय गुरुदेव के समान ही आप भी नियमित स्वाध्याय में अनुरत रहते हैं। इधर-उधर के प्रपंचों से आपको कुछ लेना-देना नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आप मेरे उन चिर-परिचित स्नेही साथियों में से एक है, जिन की स्नेहसिक्त आत्मीयता की मधुधारा अनेकानेक विघ्नों, उपद्रवों एवं अवरोधों में बाद भी उसी सहज प्रवर्धमान गति से प्रवाहित है। पण्डितजी और पण्डितजी के अनुयायी शिष्य-प्रशिष्य सुविश्रुत नीतिकार भर्तृहरि की उस सज्जन मैत्री के पक्षधर हैं, जो पूर्वार्ध दिन की छाया की भाँति निरन्तर क्षीण नहीं होती, अपितु परार्ध दिन की छाया की भाँति सतत प्रवर्धमान होती जाती है।

"दिनस्य पूर्वार्ध-परार्धभिन्ना, छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्।"

श्री सूत्रकृत् द्वितीय अंग आगम का प्रस्तुत संस्करण मेरे आत्मप्रिय पण्डित जी की ही उल्लेखनीय देन है। आपके द्वारा पूर्व सम्पादित प्रश्नव्याकरण अंग आगम, जो सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से प्रकाशित हुआ है, उसी की उदात्त शैली के अनुरूप प्रस्तुत आगम की भी अपनी शैली है। मूलपाठ और अर्थ आदि में शुद्धता का काफी ध्यान रखा गया है। अनन्तर विस्तृत व्याख्या में मूल के गूढ़ एवं गुरुगंभीर भावों के उद्घाटन में अत्यधिक श्रम किया गया है। जहाँ तक साधन उपलब्ध थे, बहुत कुछ अच्छा बन पड़ा है। अस्वस्थता के कारण मैं अधिक विस्तार में गहराई से तो प्रस्तुत संस्करण का अवलोकन नहीं कर सका हूँ किन्तु विहंगम दृष्टि से यत्र-तत्र जो दृष्टिपात किया है, उस पर से मैं यह कह सकता हूँ कि अन्य संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण अधिक सुन्दर है, अधिक हितकर है।

पण्डितजी अनुवादक हैं, व्याख्याकारक हैं, और उनके प्रपौत्र-प्रशिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनि जी सम्पादक हैं। सम्पादक का भी अपना एक सुकर्म होता है, वह पूर्वनिर्मित स्वर्णालंकार पर योग्य परिमार्जन है, आकर्षक संस्कार है। श्री अमरमुनि जी का यह सम्पादन-संस्कार काफी मनोमोहक है। पंजाब के श्रमण संघ में मुनिश्री उदीयमान ओजस्वी तरुण प्रवक्ता हैं। हजारों की संख्या में जैन-अजैन श्रोता मुनिजी की सुधावर्षिणी मधुरवाणी जब भी सुनते हैं, तो मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। प्रसन्नता है, प्रवचन के साथ साहित्य में भी मुनिजी अपना एक विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं, जिसकी मुखर साक्षी प्रस्तुत सम्पादन दे रहा है। मैं उनके उस उज्ज्वल एवं महनीय भव्य भविष्य की कामना करता हूँ, जो जैन संघ के वर्तमान गौरव को शीघ्र ही चार चाँद लगाए, निर्मल यशोगान से दिग्दिगन्त गुँजाए।

उक्त साहित्य स्वर्णशृंखला के निर्माण एवं प्रकाशन में प्रेरणास्रोत हैं मुनि श्री पदमचन्द्रजी, जिन्हें हम सब भंडारीजी के अतिप्रिय मधुर नाम से सम्बोधित करते हैं। भंडारीजी सेवाधर्म की जीवन्त मूर्ति हैं। सर्वतोभावेन सेवा के प्रति वे प्रारम्भ से ही समर्पित रहे हैं। भगवान महावीर के शासन के गौरव की श्रीवृद्धि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए सतत यत्नशील रहते हैं, भण्डारीजी। अनेक सेवा एवं शिक्षा संस्थाओं के निर्माण तथा विकास में भण्डारीजी का योगदान इतिहास की वस्तुवृत्त है। साहित्य प्रकाशन में भी आपकी सहज अभिरुचि है। अनेक प्रकाशन आपकी प्रेरणा से ही प्रकाश में आए हैं, मुनिश्री की यह कर्मधारा निरन्तर प्रवहमान रहै, यही महाश्रमण भगवान् महावीर के चरण कमलों में हार्दिक अभ्यर्थना है।

निर्मल व्याख्या, कुशल सम्पादन और मंगल प्रेरणा की उपर्युक्त पावन त्रिवेणी में स्नात सूत्रकृतांग का प्रस्तुत संस्करण आगमाभ्यासी स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों द्वारा स्वागतार्ह है। पूर्व प्रकाशित प्रश्नव्याकरण सूत्र के समान ही प्रस्तुत आगम भी आशा है, विद्वानों एवं सर्व साधारण जनों में समुचित प्रतिष्ठा पाएगा..... मानव जाति के कल्याण-पथ पर दिव्य आलोक विकीर्ण करेगा। अन्तर्मन के कण-कण से शत-शत साधुवाद।

वीरायतन, राजगृह
ज्येष्ठ गंगा दशहरा वि० सं० २०३६
सन् १९७९ ई०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सूत्रकृतांगसूत्र : : प्रथम श्रुतस्कन्ध

विषयानुक्रमणिका

उपोद्घात १—१७

सूत्रकृतांग की पृष्ठभूमि, सूत्रकृतांग की सार्थकता, सूत्रकृतांग की रचना कब, किसके द्वारा, कैसी मनस्थिति में ? सूत्रकृतांग की नित्यता, सूत्रकृतांग के अध्ययनों और विषयों का परिचय, शास्त्र की उपादेयता के लिए चार अनुबन्ध, शास्त्र की उपादेयता के पाँच निमित्त ।

प्रथम अध्ययन : समय : १८—२८०

समय : प्रथम अध्ययन : एक विश्लेषण १८—२०

प्रथम अध्ययन के उद्देशक और अर्थाधिकार ।

प्रथम उद्देशक २१—१३८

बोध ही मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, बोध क्या और किसका ?, बन्धन को जानो, समझो और तोड़ो, बन्धन की परिभाषा कारण और प्रकार, बन्धन का स्वरूप व उसे तोड़ने के सम्बन्ध में प्रश्न, परिग्रह : बन्धन का प्रधान कारण, परिग्रह का लक्षण और पहिचान, परिग्रह के दो रूप, परिग्रह रखना, रखाना और अनुमति देना, अनर्थ का मूल, परिग्रह दुःखरूप क्यों और कैसे ?, हिंसा : स्वरूप, कारण और परिणाम, हिंसा क्या और कैसे ?, हिंसा कृत, कारित, अनुमोदित रूपों में समान, असत्य, अब्रह्मचर्य एवं स्तेय भी बन्धन के कारण, जन्म, संवास एवं अति संसर्ग ममत्व का कारण, बन्धन तोड़ने का उपाय, परसमय मिथ्यात्व के कारण : क्यों और कैसे ? पंचमहाभूतवादी चार्वाक मत का स्वरूप और विश्लेषण, आत्माद्वैतवाद का स्वरूप और विश्लेषण, आत्माद्वैतवाद का निराकरण, आत्मा अनेक : किन्तु शरीर के साथ समाप्त, पुण्य-पाप का अभाव : एक दृष्टि, आत्मा का कर्तृत्व : एक विश्लेषण, तज्जीव-तच्छरीरवादी मत का निराकरण, प्रत्यक्ष सिद्धलोक और विचित्रता की सिद्धि के लिए अकारकवादी सांख्यमत का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निराकरण, सांख्यमत की मिथ्यात्वता, षट्पदार्थवादियों के मत का स्वरूप, छह पदार्थों की नित्यता की सिद्धि, सांख्य के एकान्त-नित्यत्व का खण्डन, असत्कार्यवादी बौद्धमत में आत्मा का स्वरूप, चातुर्धातुकवादी बौद्धमत-निरूपण, अफलवादी बौद्ध आदि के मिथ्या मन्तव्यों का खण्डन, अन्यदर्शन वालों का अपना-अपना मताग्रह, अन्यदर्शनी लोगों की संधि के विषय में अनभिज्ञता, अन्यदर्शनियों को मिलने वाला भयंकर फल, सर्वज्ञ महावीर द्वारा भविष्यवाणी।

द्वितीय उद्देशक १३९—१९६

नियतिवादियों के मत का निरूपण, नियतिवादियों का मिथ्या प्ररूपण, नियतिवाद की भ्रमपूर्ण मान्यता का निराकरण, नियति-वादियों के मिथ्यात्व का फल, एकान्तवादी अज्ञानियों की दशा का चित्रण, मूर्ख मृग के समान अज्ञानियों की दशा, अहितबुद्धि मृग की-सी दशा, अज्ञानी मृग के समान मिथ्यादृष्टि श्रमणों की मनो-दशा, शंकनीय-अशंकनीय का विपर्यास, समस्त कषाय-नाश ही सर्वथा कर्मक्षय का कारण, मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादियों का अनन्त-जन्म-मरण, ज्ञान के प्रदर्शकों में भी जीवों के ज्ञान का अभाव, अज्ञानियों की तोता रटन, अज्ञानवाद अज्ञान-पक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता, अंधे के पीछे अंधा : विनाश का धंधा, आजीवक आदि मतों द्वारा निरूपण, अज्ञानवादियों के कुतर्क, धर्माधर्म से अनभिज्ञ : अज्ञानवादी स्वमत-प्रशंसा, परमत-निन्दा ही एकान्तवाद का मूल, कर्म चिन्ता के प्रति लापरवाह, एकान्त क्रियावादी दर्शन, कर्म चिन्ता से दूर, क्रियावादी कर्म-बन्धन के तीन आदान : बौद्धमत में भाव विशुद्धि से कर्म-बन्धन नहीं, बौद्ध प्रदत्त दृष्टान्त, मन से द्वेष करने पर भी कर्मबन्ध नहीं, घोर असत्य, विभिन्न मतवादियों द्वारा निःशंक पाप सेवन, विभिन्न दार्शनिकों की जन्मान्धता और सछिद्र नौकारोहण, तथाकथित मिथ्यात्वी श्रमणों की दशा।

तृतीय उद्देशक १९७—२४५

दोषदूषित आहार-सेवन : द्विपक्ष दोषसेवन, आधाकर्मी आहारसेवी : अत्यन्त दुख के भागी, सुखशील आचारहीन श्रमणों की दशा, लोक की रचना के सम्बन्ध में विविध मत, लोक : ईश्वरकृत एवं प्रधानादिकृत, जगत की रचना : विष्णु और माया से, अण्डे से रचित ब्रह्माण्ड की कहानी, जगत की रचना के सम्बन्ध में पूर्वोक्त मतों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का खण्डन, ईश्वरकृतवादियों का कथन युक्तिविरुद्ध, स्वभाव, नियति आदि कथंचित् जगत के कारण, दुखोत्पत्ति से अनभिज्ञ : दुख निरोध से अज्ञात, निष्पाप शुद्ध मुक्त आत्मा पुनः कर्म के कटघरे में, मुनि की निर्मल निष्पाप आत्मा पुनः मलिन, अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग !, अपने-अपने अनुष्ठान से ही मुक्ति : एक विश्लेषण, स्वमतानुसारी सिद्धि में आसक्त सिद्धिवादी, मताग्रही सिद्धिवादियों का अन्धकारपूर्ण भविष्य ।

चतुर्थ उद्देशक : स्व-पर-समय वक्तव्यता २४६—२८०

पूर्व-संयोगी भी सावद्योपदेशक होने से अशरण्य हैं, ऐसे वेषधारी से अनासक्त व असंसर्ग होकर रहे, आरम्भ-परिग्रहवादियों का मोक्ष, अनारंभी-अपरिग्रही की ही शरण लो, भिक्षाजीवी साधु को आहार के सम्बन्ध में कर्तव्यबोध, लोकवाद : कितना हेय, ज्ञेय, उपादेय ?, लोकवाद की विचित्र मान्यताएँ, तीर्थंकर ईश्वर का अवतार : कितना ज्ञाता, कितना नहीं ? लोकवाद का खण्डन : त्रसस्थावर पर्याय-परिवर्तन, सभी प्राणी अहिंस्य हैं : क्यों और कैसे ?, ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय्य : अहिंसाचरण, कर्मबन्धनों से आत्म-रक्षा के लिए चारित्र शुद्धि, समितियुक्त मुनि के लिए कषाय का परित्याग आवश्यक, साधक मोक्ष-प्राप्ति तक संयम में डटा रहे ।

द्वितीय अध्ययन : वैतालीय : २८१—३९९

प्रथम उद्देशक : अनित्यता-सम्बोध २८१—३२०

वैतालीय नाम क्यों ?, द्वितीय अध्ययन की पृष्ठभूमि, उद्देशकों का परिचय, दुर्लभबोधि प्राप्त करने का उपदेश, मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती, माता-पिता आदि का मोह : संसार-परिभ्रमण का कारण, मोहान्ध को सुगति सुलभ कहाँ ?, महापुरुष द्वारा चेतावनी, अपने-अपने कर्म : अपने-अपने फल, सभी स्थान अनित्य हैं, कामों एवं परिचितों में आसक्त जीवों की दशा, दाम्भिक साधकों की दशा, मोक्षमार्गी या संसारमार्गी ? कृश और नग्न : फिर भी संसार-संलग्न, पापकर्मों से निवृत्ति का उपदेश, उपयोगपूर्वक संयम पथ पर चलो, वीर कौन ? परीषह आने पर वीर पुरुष का चिन्तन, परीषह और उपसर्ग के समय मुनि का धर्म, अहिंसाधर्म के परिपालन का फल, अनुकूल उपसर्ग : मुनि की दृढ़ता, परिपक्व एवं सावधान साधु की पहिचान, भय और प्रलोभन में भी अविचल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक, और भी अनुकूल उपसर्ग, कायर असंयमियों का पतन, वीर ही मोक्ष के महापथ को पाते हैं, वैदारक पथ पर आने वालों से ।

द्वितीय उद्देशक : अभिमानादि त्याग का उपदेश ३२१—३७१

कर्मादानरूप मद एवं निन्दा का त्याग आवश्यक, परतिरस्कार एवं परनिन्दा : दोषों की जननी, उत्कर्ष और अपकर्ष में सम रहे, समता का आराधक क्या करे ? समभावपूर्वक संयम में स्थिर रहने का उपाय, स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि का धर्म, बहुजन प्रशंसनीय धर्म का आचरण कैसे करे ? प्रथम धर्म : प्राणिघात से निवृत्ति, आरम्भ से परे धर्मपारंगत मुनि परिग्रह से दूर, उभयलोक दुःखप्रद परिग्रह में अनासक्ति ही हितावह, परिजनसंसर्ग एवं गर्व : मुनि के लिए त्याज्य, योग्य मुनि को एकाकी चर्या से लाभ, शून्यगृह में निवास की साधुमर्यादा, जहाँ सूर्य अस्त : वहीं साधु का निवास, शून्यागारस्थमुनि त्रिविध उपसर्ग सहन करे, जीवन और पूजा-प्रतिष्ठा की आकांक्षा से दूर ही अभ्यस्त, राजादि से संसर्ग : असमाधिकारक, कलहकारी साधु : संयम का नाशक, सामायिक-चारित्री साधु जीवन की आचार मर्यादा में दृढ़, टूटा जीवन : गर्व किस पर ?, मायाचार और स्वेच्छाचार से साधु दूर रहे, कुशल द्यूतकार द्वारा कृत नामक स्थान-ग्रहण, चतुर द्यूतकार की तरह सर्वोत्तम धर्म ग्रहण करो, दुर्जेय कामनिवृत्त साधक ही अर्हद्धर्मानुयायी, उत्थित-समुत्थित साधक कौन और कैसे ? समाधि के मूल-मंत्र, संयमी पुरुष की जीवननीति, धर्मनिष्ठ विवेकी संयमी वही जो कषाय-विजयी हो, आत्मकल्याण के कुछ सूत्र, सामायिक आदि का कितना श्रवण, कितना आचरण ? संसारसागर से कौन और कैसे पार हुए ?

तृतीय उद्देशक : उपसर्ग-सहन ३७२—३९९

अज्ञानजनित कर्मोपचय : संयम से, कामिनी संसर्ग त्याग ही मुक्त सदृश बनाता है, रात्रिभोजनविरति सहित महाव्रतों का धारण क्यों और कैसे ?, सुख-भोगों के पीछे जीवन समाधि को न समझने वाले !, भार ढोने में असमर्थ मरियल बैल विषममार्ग पर नहीं चल सकता, कामी के लिए शास्त्रकार का उचित मार्गदर्शन, साधु काम का त्याग क्यों और कैसे करे ? क्षणभंगुर जीवन में विषयासक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसी ?, आरम्भासक्त साधकों के कुकृत्यों का दुष्परिणाम, असंस्कृत जीवन होने पर भी पाप करने की धृष्टता, अन्धतुल्य नास्तिकों के मन्तव्य का खण्डन, सब प्राणियों को आत्मवत् समझे, व्रतधारी गृहस्थ भी सुगति प्राप्त करता है, भगवदनुशासन और भिक्षु का कर्तव्य, साधु की मोक्षयात्रा के पाथेय, धन आदि पदार्थ शरणभूत नहीं, दुःखभोग तथा परलोक गमनागमन अकेले का ही, जीव का स्वकर्मसूत्रग्रथित संसार-भ्रमण, मोक्षसाधना एवं बोधप्राप्ति का दुर्लभ अवसर मत खोओ, मोक्षसाधक गुणों के सम्बन्ध में सभी तीर्थंकर एकमत, त्रैकालिक मुक्त साधकों का मोक्षप्राप्ति में एकमत, यह उपदेश किसने, कहाँ और किससे कहा ?

तृतीय अध्ययन : उपसर्गपरिज्ञा : ४००—५०१

इस अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, उपसर्ग : स्वरूप, अर्थ, प्रकार और विश्लेषण ।

प्रथम उद्देशक : प्रतिकूल उपसर्गाधिकार ४०३—४२१

कायर तभी तक अपने को शूरवीर मानता है···, वीराभिमानी युद्ध के मोर्चे पर तो चला जाता है, पर····, नव-दीक्षित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है, भयंकर शीत स्पर्श से मन्द-साधक को विषाद, ग्रीष्मताप से पीड़ित साधक की मनोदशा, याचना का परीषह अत्यन्त दुसह, ये आक्रोश परीषह एवं उपसर्ग सहने में कायर साधक, क्रूर प्राणियों के द्वारा उपसर्ग आने पर, साधु विद्वेषी जनों द्वारा वाक्प्रहार के समय, अनार्यों द्वारा प्रयुक्त ये कठोर वाक्य !, साधु विद्रोही जनों के कुकृत्यों के फल, दंशमशक आदि परीषहों के समय कायर साधक का चिन्तन, कितना दुष्कर है केशलोच और ब्रह्मचर्य पालन !, साधु को उपसर्ग (पीड़ा) देने वाले, चोर या खुफिया समझकर साधु को बाँध देते हैं, शस्त्रास्त्रों से प्रहार : ज्ञाति-जनों की याद, संयम क्षेत्र छोड़कर नामर्द वापस घर को लौट जाते हैं ।

द्वितीय उद्देशक : अनुकूल-उपसर्गाधिकार ४२२—४४३

अनुकूल उपसर्ग : बड़े सूक्ष्म, अत्यन्त दुस्तर !, पारिवारिक जनों का अपने भरण-पोषण के लिए अनुरोध, स्वजनों के द्वारा मोह में फँसाने का एक और प्रकार, लौकिक राग में फँसाने का स्वजनों का तरीका, साधक को फुसलाने का तरीका, कर्मशूर साधक को घर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलने का आमंत्रण, घर चलने का दूसरी तरह से अनुरोध, द्रव्य का लोभ देकर गृहवास का अनुरोध, प्रव्रज्या छोड़कर घर की ओर दौड़, वन्यवृक्ष को लता और साधक को स्वजन बाँध लेते हैं, गृहस्थ में फँस जाने के बाद, गृहस्थ में फँस जाने के बाद साधक की स्थिति, समुद्रवत् दुस्तर संग में पड़ा हुआ साधक, संगों से बचो, असंयमी जीवन में मत पड़ो, ज्ञानी साधक संग के चक्करों से दूर, राजाओं आदि द्वारा भोगों का आमंत्रण मिलने पर, किन विषयोपभोगों का प्रलोभन दिया जाता है, अन्य भोग्य सामग्री का आमंत्रण, साधक को गृहवास में रहने का आश्वासन, साधक को गृहवास में फँसाने का दुश्चक्र, संयम से विचलित साधकों की दशा, उपसर्ग उपस्थित होने पर विषाद पाने वाले, उपसर्ग-पराजित साधकों की दशा।

तृतीय उद्देशक : विषादयुक्त वचनोपसर्गाधिकार ४४४—४६६

संग्राम में कायर पहले छिपने के स्थान ढूँढ़ता है, कायरता का भीरुतापूर्ण चिन्तन, मन्दपराक्रमी साधक की भावी कल्पना, अल्प सत्त्व साधकों का ऊटपटाँग चिन्तन, संयम पालन के विषय में संशयशील साधक, वीर पीछे नहीं, आगे ही देखते हैं, संयम में सुदृढ़ साधक की मनःस्थिति, आक्षेपात्मक वचनरूप उपसर्ग, गृहस्थों का-सा व्यवहार है इन साधुओं का !, सुविहित साधुओं पर प्रत्यक्ष आक्षेप, मोक्ष विशारद साधुओं द्वारा अन्यतीर्थिकों को उत्तर, अन्यतीर्थियों के आक्षेप का प्रत्याक्षेप, आक्षेप-कर्ताओं को युक्तिसंगत उत्तर, प्रेम से सच्ची और साफ-साफ बातें कहे, बांस के अग्रभाग की तरह युक्तिरहित पोचा कथन, सर्वज्ञ प्रदत्त धर्म-देशना का विपरीत अर्थ, स्वपक्ष सिद्धि में परास्त अन्य-तीर्थी पुनः उसी धृष्टता पर, विवाद में हार जाने पर अन्यतीर्थियों द्वारा आक्रोश का आश्रय, दूसरों के साथ विवाद के समय मुनि का धर्म, रुग्ण साधु की सेवा : प्रसन्नचित्त मुनि का धर्म, उपसर्गों को सहते हुए मोक्ष पर्यन्त संयम पालन करे।

चतुर्थ उद्देशक : उपसर्ग-स्थैर्य-अधिकार ४७०—५०१

शीतोदकसेवन से मोक्ष प्राप्ति : एक भ्रान्ति, अपरिपक्व साधु : भ्रान्ति-उत्पादकों के चक्कर में, सुख से सुख प्राप्ति की मान्यता आर्यमार्ग के विरुद्ध है, भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगों को उप-देश, मिथ्या मान्यता के चक्कर में पंचास्रवसेवन, स्त्रीसेवन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष ही क्या ? एक मिथ्या मान्यता, बच्चों पर आसक्त पूतना की तरह ये कामासक्त अनार्य !, दुष्कर्मी लोग पछताते हैं, क्यों व कब ?, समय पर चेतने वाले साधक बाद में पछताते नहीं, अविवेकी साधक के लिए स्त्री परीषह दुर्लंघ्य, स्त्रीसंसर्ग विमुख : सर्व उपसर्ग विजेता, सर्व उपसर्ग विजेता साधक ही संसारसागर पारगामी होता है, उपसर्ग विजयी साधु कौन, क्या करे ? सर्वत्र सर्वदा अहिंसा पालन से ही निर्वाण प्राप्ति, उपसर्गों पर विजय, धर्माचरण : मोक्ष प्राप्ति तक ।

चतुर्थ अध्ययन : स्त्रीपरिज्ञा : ५०२—५७१

चतुर्थ अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से स्त्री के विभिन्न अर्थ, स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के निक्षेपदृष्टि से अर्थ ।

प्रथम उद्देशक : स्त्रीसंसर्ग से शीलनाश ५०६—५४६

दीक्षा के समय साधक का संकल्प, अविवेकी स्त्रियों द्वारा साधु को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न, स्त्रियों द्वारा काम-जाल में फँसाने के लिए अंग प्रदर्शन, एकान्त में भोग्य पदार्थों की मनुहार : कामपाश के बन्धन, स्त्रियों के वशीभूत न होने के नुस्खे, स्त्रियों के मधुर शब्दों को मोहबंधन माने, चतुर स्त्रियों के द्वारा साधु को आकर्षित करने के उपाय, सिंह की तरह संवृत पुरुषसिंह को भी वश में कर लेती है, एक बार मोहपाशबद्ध साधु छूट नहीं सकता, स्त्री के मोहपाश में बँधने से पश्चात्ताप, स्त्री-संसर्ग विषलिप्त कण्टकसम त्याज्य, स्त्रीसंसर्गरूप निन्द्यकर्म में आसक्त कुशील हैं, इन स्त्रियों के साथ भी साधु संसर्ग न करे, एकान्त स्थान में स्त्री-सम्पर्क के कारण शंका और प्रतिक्रिया, श्रमण एवं स्त्री के प्रति लोगों का क्रोध और शंका, स्त्री-परिचयी श्रमण समाधियोग से भ्रष्ट हैं, मिथ्यामार्गी प्रव्रजितों का वकवास, ये शुद्धता की दुहाई देने वाले प्रच्छन्न पापी !, प्रच्छन्न पापी कुशील द्रव्यलिंगी की दुश्चेष्टाएँ, स्त्री-पोषण के अनुभवी बुद्धिशील भी स्त्री वशीभूत हो जाते हैं, परस्त्रीसंसर्ग का इहलौकिक भयंकर दण्ड, परस्त्रीगामी द्वारा भयंकर दण्डसहन, किन्तु पाप से विरत नहीं, श्रुति, युक्ति और अनुभूति से काम बुरा, किन्तु दुस्त्याज्य, स्त्रियों के मन, वचन, कर्म से विभिन्न रूप, नारी : साध्वी बनने के बहाने साधु को ठगने वाली, स्त्री श्राविका के बहाने साधु को फँसाती है, स्त्री के स्पर्श से भी कितना अनर्थ ! स्त्री-मोहित सदनुष्ठान भ्रष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधकों की माया, पाप-कर्म करना और उसे छिपाना दोहरा पाप है, व्यभिचारिणी स्त्रियों द्वारा जाल में फँसाने का प्रयत्न, साधक उन प्रलोभनों से दूर रहे।

द्वितीय उद्देशक : शीलभ्रष्ट पुरुष की दशा ५४७—५७१

भोगकामना ज्ञानबल से हटाए, भोगों में मूर्च्छित स्त्री-आसक्त साधु की विडम्बना, कामुक स्त्री द्वारा साधु को वचनबद्ध करने का तरीका, नारी वशीभूत साधु के साथ नौकर-सा व्यवहार, स्त्री नौकर की तरह तुच्छ कार्यों में जुटाए रखती है, स्त्री-मोहित की विडम्बना, वशीभूत साधु से स्त्री की मांग पर मांग, पुत्र उत्पन्न होने पर तो और अधिक गुलाम, स्त्रीदास कौन-सा नीच कार्य नहीं करते ? स्त्री-दास अतीत में कैसे थे, क्या थे ? स्त्री-संसर्ग त्याग की प्रेरणा, स्त्री-संसर्ग ही नहीं, स्त्री-पशु संस्पर्श से भी दूर रहे, अनगार परक्रिया का त्रियोग से त्याग करे, अन्तिम उपदेश।

पंचम अध्ययन : नरकविभक्ति : ५७२—६६३

प्रथम उद्देशक : नरक विभक्ति ५७२—६०७

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, नरक : क्या, क्यों और कैसे ? नरक विभक्ति नाम क्यों ? नरक के सम्बन्ध में जिज्ञासा, नरक के सम्बन्ध में भगवान महावीर का संक्षिप्त उत्तर, कौन, क्यों और कैसे नरक में जाते हैं, हिंसक, चोर आदि पापियों को नरक का दण्ड, परमाधार्मिकों के भयंकर शब्द सुनकर संज्ञाहीन नारक, नरक की तप्त भूमि का स्पर्श कितना दुखदायी ?, वैतरणी की तेज धार में कूदने को बाध्य नारक, कंठ में कीलें चुभाने वाले ये परमाधार्मिक !, परमाधार्मिकों का क्रूर व्यवहार, नरक की भयंकरता कितनी ?, गुफामय आग में सदा जलते हुए ये नारकी, नारकों पर कहर बरसाने वाले क्रूरकर्मी नरकपाल, संतक्षण नरक में कुल्हाड़ा लिए हुए परमाधार्मिक, छटपटाते नारकों को गर्म रक्तपूर्ण कड़ाही में, न भस्मीभूत, न मृत फिर भी चिरकाल तक दुखित, एक तो नरक का ताप, उस पर नरकपालों का सन्ताप, नरक के जीवों का भयंकर हाहाकार और दुःख, दिये गये दण्ड के अनुसार ही दण्ड, कितनी गन्दी नरकभूमि में निवास ? दुखों और सन्तापों से भरा नरकालय, परमाधार्मिकों द्वारा अंगों का छेदन और उत्पीड़न, नारकों के अंगों से रक्तादि-स्राव एवं आर्तनाद, रक्त और मवाद से पूर्ण कुम्भी कैसी और कितनी बड़ी, प्यास बुझाने के लिए पिघला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ गर्म सीसा और ताँबा, जैसा और जितना दुष्कर्म : वैसा और उतना ही दुख, अनार्य पुरुषों का इष्ट स्पर्शादि से रहित होकर नरकनिवास ।

द्वितीय उद्देशक : नरकाधिकार ६०८—६३३

सतत दुख स्वभाव वाले अन्य नरक और पापी नारक, परमाधार्मिकों द्वारा नारकी जीवों को यातना, पापकर्मों की याद दिला कर रोषपूर्वक ताड़न, नरक की जलती भूमि पर चंक्रमण, नोकदार आरे से वेध, परमाधार्मिकों द्वारा बलात् चलने को बाध्य, चिरकाल तक संतापनी में संतप्त नारक, नारक गेंद के समान आकार की नरक-कुम्भी में, नारकी जीवों की वही हाय-हाय, नरक के लोहमुखी पक्षियों द्वारा घोर कष्ट, नरकपालों द्वारा नारकी जीवों पर बरसाया जाता कहर, सदा अग्निमय-प्राणिघातक स्थानों में दुखी नारकी जीव, प्रज्वलित चिता में झोंक देने पर भी पानी-पानी, एक तो सदा गर्म स्थान फिर डंडों से पिटाई, नारकों के समस्त अंग भंग और गर्म सीसा पीने को बाध्य, पूर्व पापों की याद दिलाकर भारवहन को बाध्य, यातना पर यातना, आकाशस्थ विशाल वैतालिक पर्वत : नारकों के लिए महाकाल, अब इन आँसुओं का कोई मूल्य नहीं, नारकों की भयंकर दुर्दशा, नारकों को खा जाने वाले ये खूँखार और भूखे गीदड़, सदाजला नदी : नारकों को कष्टदायिनी, अकेले ही दीर्घकाल तक दुखरूप फलभोग ! जैसे जिसके कर्म, वैसा ही फलभोग, 'नरक विभक्ति' से साधक शिक्षा या प्रेरणा ले, चातुर्गतिकरूप अनन्त संसार का स्वरूप समझो ।

छठा अध्ययन : वीरस्तुति : ६३४—६७२

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, वीर और स्तुति शब्द के निक्षेपार्थ, विश्व हितंकर अनुपम धर्म का प्ररूपक कौन ? भ० महावीर के ज्ञान, दर्शन, शील के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न, ऐसे भगवान् की महत्ता को जानने हेतु उनके धर्म व धैर्य को देखो, जीव के नित्यानित्य स्वरूप और धर्म का कथन, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की विशेषताएँ, भ० महावीर के विशिष्ट गुण, भ० महावीर धर्मनेता और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे, अक्षय, अपार और निर्मल प्रज्ञा से सम्पन्न वीर प्रभु, पूर्ण शक्तिमान, सर्वश्रेष्ठ प्राणी मात्र के मोदकारी वीर प्रभु, पर्वतराज सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर, समस्त मुनियों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेष्ठ महावीर : कैसे?, भगवान का सर्वश्रेष्ठ ध्यान : शुक्लध्यान, वीर प्रभु ने सिद्धिगति कैसी और कैसे प्राप्त की ? ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महावीर, मुनियों में श्रेष्ठ महावीर : क्यों और किस तरह ?, तपः साधना के क्षेत्र में सर्वोपरि मुनिश्रेष्ठ भ० महावीर, निर्वाण मार्ग के उपदेशकों में प्रधान ज्ञातपुत्र महावीर, ऋषियों में सर्वतोमहान् ऋषिवर वर्द्धमान स्वामी, त्रिलोक में सर्वोत्तम श्रमण भ० महावीर, ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर, अनेक विशिष्ट गुणों के निधि : भ० महावीर, अन्तरंग दोषों एवं पापों से सर्वथा दूर अर्हन् महर्षि, मत-मतान्तरों के बीच भी सत्य और संयम में स्थिर, कठोर त्यागमार्ग के उत्कृष्ट साधक : वीर प्रभु, जिनेन्द्रभाषित धर्म के आराधकों की गति ।

सप्तम अध्ययन : कुशील-परिभाषा : ६७३—७१३

इस अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, शील-अशील और कुशील का निक्षेपदृष्टि से अर्थ, जीवों के प्रकार तथा उनके नाश से अपनी महाहानि, प्राणियों का विनाशकर्ता स्वयं विनष्ट होता है, कर्म कदापि और कहीं भी नहीं छोड़ते, अग्निकाय समारम्भी कुशील-धर्मा है, साधक के लिए अग्निकाय समारम्भ का निषेध, अग्निकाय का आरम्भ : अनेक जीवों के वध का कारण, वनस्पति के विभिन्न अंगों का छेदन : उनका विनाश है, बीजों का नाश : उनकी संतान वृद्धि का नाश, आत्मनाश, वनस्पतिनाशक अल्पायु या अनियतायु होते हैं, एकान्त दुःखी संसार में बोधिलाभ ही महत्त्वपूर्ण, ये सस्ते मोक्ष के दावेदार, जलस्पर्श एवं अग्निहोत्रादि क्रियाओं से मोक्ष कैसे ? अत्यन्त दुःखमय परिणाम जानकर प्राणिहिंसा से बचो, स्वाद-लोलुपता, शोभा एवं शृंगार की भावना संयमनाशिनी है, सुशील-साधु-चर्या की ओर इशारा, गार्हस्थ्य छोड़कर भी स्वादिष्ट भोजन के चक्कर में, भोजन के लिए धर्मोपदेश और गुण-कीर्तन क्यों ? पेट के लिए कितनी दीनता ? कितनी चापलूसी ? साधु का वेष : परन्तु साधुत्व से रहित थोथा निःसार, सुशील साधक का आचार-विचार, सुशील साधु की संयम साधनाएँ, सुशील साधु चार बातों से सावधान रहे, सुशील साधक द्वारा अंतिम मंजिल पाने का उपाय ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम अध्ययन : वीर्य : ७१४—७४५

इस अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, विभिन्न पहलुओं से वीर्य और उसके प्रकार, वीर्य, वीर और वीरत्व, कर्म और अकर्म : वीर्य के दो भेद, प्रमाद : कर्म— बालवीर्य एवं अप्रमाद : अकर्म - पण्डितवीर्य, प्राणिविघातक शास्त्रों एवं मंत्रों का अध्ययन, सुखेच्छाओं के पीछे दौड़ने वाले कपटी लोगों के कारनामे, असंयमी पुरुष हिंसा करते-कराते हैं, जीवहिंसा वैर परम्पराजनक एवं दुखान्त, स्वयं पापकारी, साम्परायिक कर्मबन्ध करते हैं, सकर्म वीर्य का उपसंहार, अकर्मवीर्य का प्रारम्भ, पण्डितवीर्य के धनी की विशेषताएँ, पण्डितवीर्यशाली का पुरुषार्थ और बालवीर्यवान का भी, सभी स्थान और सम्बन्ध अनित्य, ममत्व छोड़े : समत्व पकड़े, सद्धर्म का ज्ञान : पाप का प्रत्याख्यान, आयुष्यक्षय से पहले संलेखना ग्रहण करे, कछुए की तरह पापों को समेट ले, मन, वचन, काया की अशुभ से निवृत्ति आवश्यक, कषायों और सुखैषणाओं से दूर रहे, जितेन्द्रिय पुरुष का धर्म, शान्तिपूर्वक आत्माराधना में शक्ति लगाये, आत्मरक्षानरपर साधक त्रैकालिक पाप का अनुमोदन नहीं करते, मिथ्यादृष्टि का समस्त पराक्रम कर्मबन्धफलजनक, सम्यक् दृष्टि का पराक्रम शुद्ध और कर्मबन्धफल से रहित, महाकुलीन साधु पूजा प्रतिष्ठा के लिए तप न करे, साधु का निवृत्तिमय शान्त पुरुषार्थ, काया की भक्ति से दूर रहकर आत्म-भक्ति में ओतप्रोत रहे।

नवम अध्ययन : धर्म : ७४६—७८०

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेपदृष्टि से धर्म के विभिन्न अर्थ, भ० महावीर ने कौन-सा धर्म बताया था ? आरम्भ-परिग्रहरत जीवों का स्वभाव और दुष्परिणाम, स्वकृत कर्मों के दुखद फल का स्वयं ही भोक्ता, जिनभाषित धर्म का आचरण क्यों करे ? सांसारिक ममत्व छोड़ कर संयम में प्रगति करे, षट्जीवनिकाय के आरम्भ-परिग्रह का त्याग करे, विद्वान् साधु इन अनाचरणीय बातों का त्याग करे, धर्म का यह उपदेश भ० महावीर का है, साधु कैसी भाषा बोले, कैसी नहीं ? दृढ़धर्मी साधु के लिए कुशील-संसर्ग निषिद्ध है, साधुजीवन की कुछ मर्यादायें, अप्रमादयुक्त साधुचर्या, साधु आपे से बाहर न हो, साधना में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेक ही धर्म का मूल है, गुरु शुश्रूषा करने वाले साधक ही धर्म-निष्ठ होते हैं, बन्धनमुक्त, पुरुषादानीय कौन साधक होता है, निषिद्ध बातें अनाचरणीय हैं, समस्त विकारों का त्याग कर मोक्ष में ही लौ लगाए।

दशम अध्ययन : समाधि : ७८१—८१३

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा कथित समाधि धर्म सुनो, प्राणातिपात और अदत्तादान से सर्वथा विरमण से भावसमाधि, श्रुतसमाधि, दर्शनसमाधि और आचारसमाधि के उपाय, जितेन्द्रिय एवं बन्धनमुक्त बनकर सभी संतप्त प्राणियों को देखो, प्राणिहिंसा करने-कराने से समाधि का नाश, समाधि, कौन-सी भ्रान्त : कौन-सी अभ्रान्त, समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग, ये समाधि-भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। सर्वबन्धनमुक्त मुनि अपने धर्म पर दृढ़ रहे, समाधिअर्थी साधक के लिए कुछ शिक्षाएँ, समाधि-प्राप्ति का एक उपाय : शरीर के प्रति निरपेक्षता, एकत्व भावना ही मोक्ष-प्रदायक समाधि का द्वार, निःसन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है, विषयों में अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए? समाधिप्राप्त के कुछ लक्षण, मोक्ष के सम्बन्ध में अस्पष्ट लोग दर्शनसमाधि से दूर, अज्ञानमूलक मतों के एकान्त आश्रय से समाधि नहीं, इन्हें किसी प्रकार की समाधि प्राप्त नहीं होती, ममत्व का पुतला समाधि नहीं पा सकता, समाधि-प्रार्थी साधक पाप को पास न फटकने दे, समाधि-धर्मज्ञ हिंसादि पापों से दूर रहे, असत्य एवं अन्य पापों से दूर रहना ही सम्पूर्ण समाधि, आचारसमाधि के लिए क्या हेय क्या उपादेय? आदर्श तपःसमाधि के पाँच मूलमंत्र।

एकादश अध्ययन : मार्ग : ८१४—८४८

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से मार्ग का विवेचन, चौभंगी की दृष्टि से भावमार्ग का निरूपण, सम्यक्मार्ग और मिथ्यामार्ग, सत्यमार्ग के एकार्थक शब्द, एक प्रश्न : कौन-सा मोक्ष-मार्ग? सर्वदुःखमोक्षक शुद्ध श्रेष्ठ मार्ग के स्वरूप की जिज्ञासा, कौन-सा मोक्ष-मार्ग बताएँ? उन्हें यह मार्ग बताना! सर्वज्ञ महावीरकथित मार्ग का माहात्म्य, तीनों काल में संसारसागर से पार करने वाला मार्ग, अहिंसा का आचरण ही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है, मोक्षमार्ग पर चलने के लिए दोषों और विरोधों से निवृत्ति आवश्यक, मोक्षमार्ग का पथिक साधक एषणा समिति से युक्त हो, ऐसा करने से ही मोक्षमार्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पालन, शुद्ध आहार : मोक्षमार्ग का कारण, साधु जीवहिंसा-मय कार्य में अनुमति न दे, हिंसाजनित पुण्यकार्यों में साधु पुण्य कहे या अपुण्य ? मुनि एकमात्र मोक्ष की साधना में जुटा रहे, कर्म-पीड़ित जीवों के लिए यही मार्गरूप उत्तम द्वीप, परिपूर्ण अनुपम शुद्ध धर्म का उपादेशक, वे शुद्ध धर्म के तत्त्वज्ञान से काफी दूर हैं, भाव-मार्ग से दूर : क्यों और कैसे ?, मुनि साधुधर्म से मोक्ष तक की दौड़ लगाए, शान्तिरूप भावमार्ग ही समस्त तीर्थंकरों का आधार, भाव-मार्ग से विचलित न हो, संवृत और शान्त साधक की अन्तिम साधना।

बारहवाँ अध्ययन : समवसरण : ८४६—८८५

समवसरण अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेप की दृष्टि से समवसरण के अर्थ, चार वाद के रूप में चार समवसरण, अज्ञान-वादियों का स्वरूप, सर्वज्ञ सिद्धि के कारण अज्ञानवाद का खण्डन, विनयवादी और अक्रियावादी का मन्तव्य, अक्रियावादियों की रीति-नीति, एकान्तक्रियावादियों के रंग-ढंग, धर्मनायक तीर्थंकर आदि और उनकी शिक्षाएँ, यथार्थ क्रियावाद के प्ररूपक कौन और कैसे ? समवसरण के योग्य क्रियावादी साधु क्या करे ?

तेरहवाँ अध्ययन : याथातथ्य : ८८६—९१६

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, याथातथ्य शब्द का निर्वचन, याथा-तथ्य के निरूपण का अभिवचन, धर्मोपदेशक से धर्म पाकर उन्हीं की निन्दा करने वाले !, परम्परा से विरुद्ध व्याख्या, प्ररूपणा, श्रेष्ठ गुणों की अपात्रता का कारण, ऐसे मायावी लोग यथार्थ साधुता से दूर, कलहकारी साधक अत्यन्त दुखभागी, साधक के परस्पर विरोधी दो रूप, याथातथ्यचारित्र से सम्पन्न साधक, अभिमानी साधक : अपने ही मोक्ष के लिए बाधक, मूढ़मदान्ध साधक मुनीन्द्र पद में स्थित नहीं, कुल, गोत्र, जाति का गर्व न करे, वही सच्चा साधु, ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी वस्तु संसार-परिभ्रमण से बचा नहीं सकती, इतना उच्च त्याग होने पर भी मद त्याग न करने का फल, सुसाधु एषणा-अनैषणा का विचार करके शुद्ध भिक्षा ले, साधु के लिए साधना के कुछ सूत्र, साधु धर्मोपदेश देने से पहले और पीछे क्या सोचे ?, याथातथ्य धर्म का प्राणप्रण से पालन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौदहवाँ अध्ययन : ग्रन्थ : ६१७--६५०

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, ग्रन्थत्यागी शिष्य गुरु के सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण करे, अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल से बाहर खतरा है, गुरुकुलनिवास से साधक को लाभ, निर्ग्रन्थ मुनि पंचेन्द्रिय विषयक ग्रन्थ को तोड़े, भूल बताने वाले का वचन शिरोधार्य करे, धर्मतत्त्व में कब अनिपुण, कब निपुण, निर्ग्रन्थ साधु समस्त प्राणियों की हिंसा आदि ग्रन्थों से मुक्त रहे, गुरुकुलवासी निर्ग्रन्थ द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि, गुरुकुलवासी साधु द्वारा वाणी प्रयोग : कब और कैसा ?

पन्द्रहवाँ अध्ययन : आदान : ६५१—६८०

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेपदृष्टि से आदान शब्द के अर्थ, त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञाता, संशयातीत सर्ववस्तुतत्त्वनिरूपक अन्य दर्शनों में नहीं, अर्हद्भाषित तत्त्वकथन ही सत्य है, प्राणि मात्र के साथ मैत्री की साधना का क्रम, भावनायोग साधक की गति-मति बन्धनमुक्त मेधावी साधक, कर्मबन्धन से मुक्ति और उसके बाद, पूर्वकृत कर्म एवं स्त्रीवशयता नहीं, वही पुरुष महावीर है, स्त्री-सेवन से दूर : मोक्ष के अत्यन्त निकट, मोक्षाभिमुख साधकों की साधना का सारांश, मोक्षप्राप्ति योग्य मनुष्य जन्म तथा अभ्युदय : कितना दुर्लभ, परिपूर्ण अनुपम शुद्धधर्म के व्याख्याता : जन्म-मरण रहित, ऐसे मुक्त महापुरुषों का पुनः जन्म कहाँ, संयम नामक प्रधान स्थान : संसार के अन्त का कारण, कर्मों से मुक्त : मोक्ष सम्मुख साधक, संयम एवं मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम।

सोलहवाँ अध्ययन : गाथा : ६८१—६९६

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, गाथा अध्ययन क्या और कैसे, माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ : स्वरूप और प्रतिप्रश्न, ऐसे साधुओं को 'माहन' क्यों कहा जाए ?, ऐसे साधक को 'श्रमण' कहने में कोई आपत्ति नहीं, इतने गुणों से सम्पन्न ही वास्तव में भिक्षु है, इसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए, आप्तपुरुष के इस कथन की सत्यता में संदेह नहीं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र

मूल-अन्वय-भावार्थ

अमरसुख-बोधिनी व्याख्या सहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम श्रुतस्कन्ध : उपोद्घात

सूत्रकृतांगसूत्र की पृष्ठभूमि

इस दुःखमय संसार में विविध गतियों, योनियों में एवं विविध कायों को धारण करके अनादि-काल से परिभ्रमण करते हुए जीव को आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त नहीं हुआ। अब असीम पुण्यराशि संचित होने के कारण उसे अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। पाँचों इन्द्रियाँ स्वस्थ और पूर्ण मिलीं, स्वस्थ एवं सशक्त शरीर मिला। उत्तम आर्यक्षेत्र एवं उत्तम कुल में जन्म हुआ। परिपार्श्विक वातावरण भी अच्छा मिला। दीर्घ आयुष्य की भी संभावना प्रतीत हुई। ऐसी उत्तम सामग्री से युक्त व्यक्ति को पूर्वजन्म के संस्कार एवं ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश ऐसी जिज्ञासा होती है कि जब अर्हन्त भगवान तथा सिद्ध परमात्मा और मेरी आत्मा में निश्चयनय की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, तब अर्हन्त भगवान तो चार घनघाती कर्मों से सर्वथा रहित हो गए तथा सिद्ध परमात्मा तो आठों ही कर्मों से सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध होकर कृतकृत्य हो गए और मैं अभी आठों ही कर्मों के चक्कर में पड़ा हूँ। यह ठीक है, कि मुझे शुभ कर्म के बल से मनुष्य जन्म, उत्तम क्षेत्र, श्रेष्ठ कुल, इन्द्रियों की परिपूर्णता, स्वस्थ शरीर, दीर्घायुष्य आदि संयोग मिले, लेकिन मेरी आत्मा तो अभी तक सिद्ध परमात्मा एवं अर्हन्त भगवान के क्षेत्र से करोड़ों कोस दूर है, काल से भी हजारों वर्ष दूर हैं, द्रव्य से भी मेरी पात्रता, योग्यता और उनकी आत्मा की योग्यता एवं क्षमता में लाखों गुना अन्तर है और भाव से भी तो उनकी आत्मा परम क्षायिक भाव में है, अनन्त चतुष्टय से युक्त है और मेरी आत्मा अभी उपशम तथा क्षयोपशम भाव में ही चक्कर लगा रही है। मेरी योग्यता और क्षमता क्यों नहीं बढ़ पाती ? मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे यह अन्तर दूर हो ? अपने जीवन में मैं किस प्रकार की साधना करूँ, जिससे इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दूरी को समाप्त कर सकूँ ? क्या मेरा जन्म यों ही सांसारिक इन्द्रियजनित क्षणिक वैषयिक सुखों में लिप्त होकर पुनः चौरासी लक्ष जीवयोनियों में भटकने के लिए है या इन सांसारिक सुखों से निर्लिप्त होकर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर के द्वारा वीतराग-भाषित शुद्ध धर्म का पालन करके आत्मा को कर्मचक्र से पृथक् करने के लिए है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये और इस प्रकार की आत्मविकास-विषयक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होने पर उनका समाधान उन्हीं से हो सकता है, जो आत्मा के सम्बन्ध में सर्वतोमुखी-सर्वांगीण अनुभव प्राप्त कर चुके हों, जिनकी आत्मा अत्यन्त अविकसित अवस्था से क्रमशः उन्नत अवस्था को आरोहण करती हुई पूर्ण विकसित और पूर्ण स्वतंत्र अवस्था को प्राप्त कर चुकी हो, जिनके ज्ञान का सूर्य पूर्णरूप से प्रकाशित हो चुका हो, जो निखिल जगत की, विश्व के समस्त प्राणियों की समस्त गतिविधियों को अपने सर्वज्ञान के प्रकाश में जानते-देखते हों, जिनके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि समस्त विकार नष्ट हो चुके हों। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ वीतराग आप्तपुरुष के उपदेश के बिना आत्मविकास की जिज्ञासाओं का समाधान पूर्णरूपेण नहीं हो सकता। लौकिक बातों की जिज्ञासा का समाधान मनुष्य अपने माता-पिता एवं गुरुजन आदि विश्वस्त एवं लौकिक आप्तपुरुषों से प्राप्त कर लेता है, क्योंकि लौकिक बातों के अनुभव में वे ही उससे आगे बढ़े हुए होते हैं, उनको समाज, देश, काल आदि का अनुभव होता है। वैसे ही लोकोत्तर बातों की जिज्ञासा का समाधान लौकिक आप्तपुरुषों से नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हें इस विषय का सांगोपांग अनुभव नहीं होता, न उनका ज्ञान सर्वांगपूर्ण या आत्मप्रत्यक्ष होता है। इसलिये लोकोत्तर आप्तपुरुषों से ही आत्मविकास विषयक सांगोपांग अनुभव-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आत्म-विकास के विषय में सांगोपांग अनुभव ज्ञानी आप्तपुरुष अरिहन्तदेव ही हो सकते हैं। क्योंकि सिद्ध परमात्मा तो निरंजन-निराकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं अशरीरी हो गए, वे प्रत्यक्ष उपदेश दे नहीं सकते। अरिहन्तदेव सशरीरी वीतराग सर्वज्ञ होने से वे ही प्रत्यक्ष उपदेश दे सकते हैं।

अतः ऐसे जिज्ञासु पुरुष को पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु वह चाहता है कि मेरे और अर्हन्त प्रभु के बीच के अन्तर को दूर करने हेतु मुझे मेरे परम आप्तपुरुष वीतराग अर्हन्तदेव से उपदेश मिले. किन्तु वे उपदेष्टा आप्त-पुरुष अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर तो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो चुके, वे निर्वाण को प्राप्त हो चुके, उनकी उपस्थिति में उनके निकटतम अन्तेवासी गणधरों ने उनसे जो उपदेश सुना था, वह आगम के रूप में उपलब्ध है। किन्तु आगम तो समुद्र के समान बहुत गम्भीर एवं विशाल हैं, उनमें अवगाहन करना हर एक साधक के बस की बात नहीं है। परम-आप्त वीतराग श्री भगवान् महावीर ने विभिन्न समय में जो भी उपदेश अपने निकटतम शिष्यों-गणधरों को दिये थे, वे कोई लिखे नहीं गये थे, क्योंकि उस समय तक लिखने की कोई प्रथा नहीं थी और मुद्रण-यंत्रों से मुद्रित-प्रकाशित करने की प्रथा तो बहुत बाद में प्रचलित हुई है। गणधरों के युग में भगवान् महावीर के उपदेश जो गणधरों ने सुने, उन्हें वे अपने शिष्यों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुनाकर कण्ठस्थ करा देते थे। वे शिष्य अपने शिष्यों को कण्ठस्थ कराते थे। इस प्रकार कर्णोपकर्ण-परम्परा से भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ज्ञान चला। किन्तु एक बात निश्चित है कि भगवान् महावीर के उपदेश सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरों ने जिस क्रम से उनसे सुने थे, उन्होंने उसी क्रम से नहीं रखे। उन्होंने अर्थरूप में वीतराग प्रभु से उनके उपदेश सुने और अपनी विशिष्ट प्रखर बुद्धि से उन उपदेशों के भावों को व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करके सम्यक् रूप से ग्रथित-सम्पादित किया। आवश्यक निर्युक्ति (गा० १९२) तथा धवला भाग १ में इस सम्बन्ध में कहा गया है—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुम्फन्ति गणहरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए, ततो सुत्तं पवत्तेइ॥

अर्थात्—अर्हन्त देव अर्थरूप में उपदेश देते हैं, किन्तु उनके उन विशिष्ट उपदेशों को सूक्ष्मार्थदर्शी गणधरदेव शासन (धर्मसंघ) के हित के लिये निपुणरूप से सूत्ररूप में ग्रथित करते है। इस प्रकार सूत्र की परम्परा प्रवलित हुई।

अतः जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं की पूर्वोक्त प्रकार की जिज्ञासाओं के समाधान के लिये समग्र सूत्र के कर्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान् महावीर के उपदेश के भावों को इन्द्रभूति गौतम एवं सुधर्मा स्वामी आदि गणधरों ने तो अक्षुण्ण रखा, ताकि भगवान् महावीर के उपदेशों का सीधा लाभ जिज्ञासुओं को मिल सके, किन्तु उन्होंने उन उपदेशों को सूत्र रूप में ग्रथित-सम्पादित कर दिया। सूत्रकृतांगसूत्र भगवान महावीर के उन्हीं उपदेशों का साररूप में—सूत्र रूप में—ग्रथित सूत्र है। गणधरों ने इस सूत्र को अपने जिज्ञासु शिष्यों—मुमुक्षुओं की जिज्ञासाओं के अनुरूप इस खूबी से ग्रथित कर दिया है कि भगवान् महावीर ने उन जिज्ञासाओं या प्रश्नों के समाधान के रूप में जो उपदेश दिया (कहा) था, और जैसा आचरण किया था, उन सबका सार इस सूत्रकृतांगसूत्र में आ गया है। यही कारण है कि इस सूत्र के प्रारम्भ में आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करने का उपदेश **'बुज्झिज्जत्ति'** पद से सूचित किया है, और फिर जब शिष्य को जिज्ञासा हुई कि भगवान् महावीर ने बन्धन और उसके कारण किन-किन को बताया है तथा उन्हें कैसे जान-परखकर तोड़ा जाए? तब उसके समाधान के रूप में इस सूत्र के विभिन्न अध्ययनों में बन्धनों के कारणों और उनके निवारण के सम्बन्ध में भगवान् महावीर के उपदेश का सार दे दिया है तथा बन्धनों से सर्वथा मुक्त वीतराग परमात्मा—शुद्ध स्वतन्त्र आत्मा का स्वरूप कैसा होता है? इसे **वीरत्थुई** (वीरस्तुति) नाम के अध्ययन द्वारा सांगोपांग रूप में सूचित कर दिया है। सचमुच सूत्रकृतांगसूत्र में अर्थागम रूप से आद्यसूत्रोपदेष्टा भगवान् महावीर के उपदेश सूत्रों के रूप में आत्मा को विविध भाव बन्धनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जकड़ने वाले कर्म-बन्धनों का स्वरूप, उनके कारण, उनके निवारण के उपाय तथा घाती कर्म-बन्धन से मुक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप महावीर स्तुति के रूप में बता दिया है। इस प्रकार सूत्रकृत अर्थात् मूल में अर्थागम रूप से सूत्र कर्ता—उपदेश सूत्र के कर्ता—भगवान् महावीर के अंगभूत (वाणी या उपदेश उनका ही अंग है इस हेतु से) होने के कारण इसके नाम के साथ अंत में 'अंग' शब्द और जोड़ा गया, जिससे इसका नाम 'सूत्रकृतांग' प्रचलित हो गया।

अथवा भगवान् महावीर के अर्थरूप में दिये गये उपदेश को गणधरों द्वारा सूत्ररूप में कृत (किया गया) होने से इसका नाम 'सूत्रकृत' पड़ गया।

यद्यपि भगवान् महावीर द्वारा प्रकाशित ज्ञान को या अर्थागमों को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधर ग्रहण करके अपनी कुशलबुद्धि से द्वादशांगी के रूप में रचना करते हैं। अतः गणधर तो सभी अंगों को सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं, फिर इसी शास्त्र को 'सूत्रकृत' क्यों कहा गया, सभी शास्त्र सूत्रकृत कहे जाने चाहिए? बात ठीक है, किन्तु इसका नाम सूत्रकृत इसलिये रखा गया कि इस सूत्र की रचना शिष्यों द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट जिज्ञासाओं के समाधान-सूत्र के रूप में ही विशेष रूप से की गयी है। इसमें मुख्यतया एक ही प्रश्न—बन्धन के सम्बन्ध में सूत्ररूप में चर्चा है। बन्धन और बंधन-मुक्ति से सम्बन्धित विविध प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर के बोधसूत्र बहुत ही सुन्दर ढंग से इस एक ही शास्त्र में प्रस्तुत किये गये हैं, इसलिये इसका 'सूत्रकृतांग' नामकरण समुचित ही है। इसे ही सूत्रकृतांगसूत्र की रचना की पृष्ठभूमि समझना चाहिए।

सूत्रकृतांग की सार्थकता

सूत्रकृतांग पर आचार्य श्रीभद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति लिखी है। उन्होंने सूत्रकृतांग के एकार्थक नामों का उल्लेख करते हुए बताया है—

'सूयगडं अंगाणं बितियं, तस्सय इमाणि नामाणि।
सूतगडं सुत्तकडं सुयगडं चेव गोण्णाइं॥'

—सूत्रकृतांगसूत्र बारह अंगों में दूसरा (अंगशास्त्र) है। इसके एकार्थक नाम ये हैं—सूतकृत, सूत्रकृत और सूचाकृत। ये तीन इसके गुणनिष्पन्न नाम हैं।[1]

तीनों का क्रमशः व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार है—**'सूतमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्यस्ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति'** तथा **'सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियते**

---

१. गुणानुसारी नाम के द्वारा जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसे गुणनिष्पन्न नाम कहते हैं, जैसे इस शास्त्र का गुणानुसारी नाम सूत्रकृत' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्मिन्निति सूत्रकृतम्' तथा **'स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा, साऽस्मिन् कृतेति सूचा-कृतम्।'** अर्थात्—जो तीर्थंकरों के द्वारा अर्थरूप में उत्पन्न होकर गणधरों के द्वारा (ग्रन्थ) सूत्ररूप में रचा गया है, उसे 'सूतकृत' कहते हैं। सूत्र का अनुसरण करते हुए जिसमें तत्त्वबोध (उपदेश) किया गया है, वह 'सूत्रकृत' कहलाता है। तथा अपने और दूसरों के सिद्धान्तों को सूचित करना 'सूचा' कहलाता है, वह इस शास्त्र में किया गया है, इसलिये इसका नाम 'सूचाकृत' भी है।

यहाँ एक प्रश्न और समुद्भूत होता है कि 'सूत्रकृतांगसूत्र' की सूत्ररूप में रचना गणधर भगवान् ने की है, परन्तु उन्होंने संज्ञासूत्र, संग्रहसूत्र, वृत्तनिबद्धसूत्र और जातिनिबद्धसूत्र[1]—इन चार प्रकार के सूत्रों में से सूत्रकृतांग की रचना किस सूत्र के रूप में की है? वैसे सारे शास्त्र का दोहन करने से प्रतीत होता है कि यह मुख्यतया 'वृत्तनिबद्धसूत्र' है। गौणरूप से संज्ञासूत्र भी है, संग्रहसूत्र भी है और प्रथम श्रुतस्कंध के एक अध्ययन को छोड़कर शेष पद्य में है और दूसरा गद्य-पद्य दोनों में है। अनुष्टुप, वैतालिक और इन्द्रवज्रा छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसलिये यह गद्य-पद्यात्मक होने से जातिनिबद्धसूत्र भी है।

सूत्र शब्द का 'निक्षेप' होने के बाद 'कृत' शब्द का निक्षेप इस प्रकार से समझना चाहिए। नाम, स्थापना और द्रव्य-कृत को छोड़कर हम सीधे 'भावकृत' पर विचार करते हैं। भावकृत या अर्हन्तदेव के भावों को सूत्ररूप में ग्रथित करने वाले गणधर हैं।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके जो द्वादशांगीरूप में सूत्रबद्ध किया, वह अंगप्रविष्ट श्रुत होता है तथा कालदोष से बुद्धि बल और आयु की क्षीणता को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिये उसी द्वादशांगी में से भिन्न-भिन्न विषयों पर गणधरों के पश्चाद्वर्ती शुद्धबुद्धि आचार्यों ने जो शास्त्र रचे, वे अंगबाह्य

---

१. जो सूत्र अपने किये गये संकेत (पारिभाषिक शब्द) के अनुसार रचा गया है, उसे 'संज्ञासूत्र' कहते हैं। जैसे—'जे छेए' इत्यादि सूत्र 'संज्ञात्मक' हैं, इनमें 'सागारिक' और 'आमगंध' शब्द स्वशास्त्र-संकेतित हैं। जो सूत्र बहुत से अर्थों का संग्रह करता है, वह संग्रहसूत्र है। जैसे **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** इस सूत्र में सत् कहने से सभी द्रव्यों (धर्म-अधर्म आदि) का संग्रह होता है। जो सूत्र अनेक प्रकार के छंदों में रचा गया है, उसे 'वृत्तनिबद्ध-सूत्र' कहते हैं। जैसे **'बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा'** वृत्तनिबद्धसूत्र है। जातिनिबद्ध सूत्र चार प्रकार का है - कथनीय (कथाएँ हों), गद्यसूत्र, पद्यसूत्र और गेयसूत्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत कहलाते हैं। यहाँ द्वादशांगी में से दूसरे अंग के रूप में सूत्रकृतांगसूत्र है, जो द्वितीय अंग है, और अंगप्रविष्ट-श्रुत के अन्तर्गत है।

सूत्रकृतांग की रचना कब, किसके द्वारा, कैसी मनःस्थिति में ?

कई लोग यह शंका करते हैं कि सूत्र-रूप में तो अनेक लौकिक शास्त्रों की भी रचना होती है, जैसे वात्स्यायन का 'कामसूत्र', गौतम का 'न्यायसूत्र', कणाद का 'वैशेषिक सूत्र' एवं पातंजल का 'योगसूत्र' आदि। इसी प्रकार वर्तमान में भी अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र, विधिशास्त्र आदि की भी रचना की जाती है। क्या ये सब भी उत्तम कोटि के मोक्षप्रधान शास्त्र या सूत्र कहलाएँगे ?

इसके उत्तर में हम निर्युक्तिकार का आशय प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने बताया कि जिस शास्त्र में संवर, निर्जरा, वैराग्य, मोक्ष आदि की आचार-विचार-सम्बन्धी बातें हों, उन्हें ही उत्तम कोटि के लोकोत्तर सूत्र या शास्त्र के रूप में मानना चाहिए। प्रस्तुत सूत्रकृतांगसूत्र की रचना शुभ-ध्यान में स्थित, निस्पृह, त्यागी, षड्जीवनिकाय-रक्षक गणधरों द्वारा की गई है। किस उच्च-भावस्थिति में गणधरों ने इस शास्त्र की रचना की थी ? इसे बताते हैं—

जिनकी कर्मस्थिति न तो जघन्य थी, न उत्कृष्ट थी, उनका अनुभाव (विपाक) भी मन्द था। वे मन्द-विपाक वाली ज्ञानावरणीय आदि प्रकृति को बाँधते थे, किन्तु वे उस कर्मप्रकृति को निधत्त-निकाचित अवस्था में नहीं पहुँचने देते थे एवं दीर्घ-स्थिति वाली कर्मप्रकृति को ह्रस्वस्थिति वाली करते थे तथा उत्तर प्रकृतियों को वे बाँधी जाती हुई कर्मस्थिति में मिलाते थे। उदयप्राप्त कर्मों की वे उदीरणा करते थे। वे अप्रमत्तगुणास्थानवर्ती थे। साता और असातावेदनीय व आयु की उदीरणा नहीं करते थे। मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तथा उसके अंगोपांग आदि कर्मों के उदय में पुरुषवेद तथा क्षायोपशमिक भाव में वे वर्तमान थे। ऐसे शुभध्यानी गणधरों ने इस सूत्रकृतांगसूत्र की रचना की थी। वह भी अपनी इच्छा या स्वच्छन्दमति से नहीं, किन्तु पहले क्षायिकज्ञान में वर्तमान तीर्थंकरों ने गणधरों को यह सूत्र भलीभाँति कहा था, फिर ग्रन्थ की रचना करने में विघ्नोत्पादक कर्मों के क्षयोपशम हो जाने से एकाग्रचित गौतमादि गणधरों ने तीर्थंकरों के मत यानी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त मातृकादि पदों को सुनकर शुभ अध्यवसाय के साथ इस शास्त्र की रचना की थी।

यद्यपि निर्युक्तिकार ने ग्रन्थकार के रूप में किसी विशेष व्यक्ति का नाम नहीं बताया है, वक्ता के रूप में जिनवर का तथा श्रोता के रूप में गणधरों का निर्देश किया गया है। निर्युक्तिकार का कथन है कि जिनवर का वचन सुनकर अपने क्षयोपशम द्वारा शुभ अभिप्रायपूर्वक गणधरों ने जिस सूत्र की रचना 'कृत'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् की उसका नाम 'सूत्रकृत' हो गया। यह सूत्र अनेक योगधर साधुओं को स्वाभाविक भाषा अर्थात् प्राकृतभाषा में प्रभाषित किया गया है। इसलिये इसका नाम 'सूत्रकृत' है। सूत्र रचनाकार गणधर भी साधारण पुरुष न थे, किन्तु अनेक योगों के धारक थे। क्षीराश्रव आदि अनेक लब्धियों की प्राप्ति को योग कहते हैं। इस प्रकार के अनेक योगों को वे धारण किये हुए थे। गणधरों के समक्ष अर्थरूप से यह शास्त्र (आगम) भगवान् ने प्रकाशित किया था। गणधरों ने भगवान् से उस अर्थ को सुनकर वाक्योग के द्वारा जीव के स्वाभाविक गुणानुसार इस शास्त्र की रचना की थी।

इस शास्त्र में बौद्धमत के उल्लेख के साथ बुद्ध का नाम भी स्पष्ट आता है एवं बुद्धोपदिष्ट एक रूपक कथा का भी जिक्र किया गया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि जब बौद्धपिटकों के संकलन के लिए संगीतिकाएँ हुईं, उनकी वाचना निश्चित होकर तथागत बुद्ध के विचार लिपिबद्ध हुए, वह काल इस सूत्र के निर्माण का काल रहा होगा।

गणधरों ने अक्षरगुणमतिसंघटना और कर्मपरिशाटना (कर्म-संक्षय) इन दोनों के योग से अथवा वाक्योग और मनोयोग से इस सूत्र की रचना की थी, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' है?[१]

सूत्रकृतांग की नित्यता

अर्थस्य सूचनात् सूत्रम्— सूत्र की इस व्याख्या के अनुसार जो अर्थ को सूचित करता है, वह सूत्र कहलाता है। सूत्र में कई (अर्थ) बातें साक्षात् कही हुई होती हैं, वे मुख्यरूप से गृहीत होती हैं, लेकिन कई बातें (अर्थ) साक्षात् कही हुई नहीं

---

१. अचेल परम्परा में इस अंग (सूत्रकृतांग) के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं — सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इनमें प्रयुक्त 'सुद्द' अथवा 'सूद' शब्द 'सूत्र' का और 'यड' अथवा 'यद' शब्द कृत का सूचक है। इस अंग के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही प्रसिद्ध है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारों ने 'सूत्रकृत' नाम का ही उल्लेख किया है। सचेलक परम्परा में भी इसके लिए सूतगड, सूयगड और सुत्तकड ये तीन प्राकृत नाम प्रसिद्ध हैं। इनका संस्कृत रूपान्तर भी हरिभद्र आदि आचार्यों ने 'सूत्रकृत' ही दिया है।

अर्थबोधक संक्षिप्त शब्दरचना को 'सूत्र' कहते हैं और इस प्रकार की रचना जिसमें 'कृत' अर्थात् की गई है, वह 'सूत्रकृत' है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होतीं, वे अर्थापत्ति-न्याय[1] से अध्याहृत (आक्षिप्त) की जाती हैं। जैसे किसी को कहा गया—'दही लाओ'। इस आज्ञा में दही के बर्तन को लाने की बात भी अर्थापत्ति से जान ली जाती है। इसी प्रकार मूलसूत्र में न कही गई बातें अर्थापत्ति से जान ली जाती हैं। अथवा शास्त्र में कहीं सूत्रपाठ में अर्थ के एक अंश का ग्रहण है और कहीं समस्त अर्थों का ग्रहण है। अतः जिन पदों द्वारा उन अर्थों (सिद्धांत-सम्मत बातों) का प्रतिपादन किया गया है, वे पद अत्यन्त सिद्ध हैं, साध्य नहीं हैं तथा अनादि हैं। इस समय उत्पन्न करने योग्य नहीं है।[2] अतएव यह द्वादशांगी (जिसमें सूत्रकृतांग भी है) शब्द और अर्थ-रचना द्वारा महाविदेह-क्षेत्र में नित्य है तथा भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में भी इसकी शब्द रचना प्रत्येक तीर्थंकर के समय की जाती है। नहीं तो, और तरह से वह नित्य ही है।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र की रचना किन महापुरुषों द्वारा किन भावों की भूमिका में हुई है, वह हमने संक्षेप में निर्युक्तिकार के मतानुसार बता दिया है।

सूत्रकृतांग के अध्ययनों और विषयों का परिचय

निर्युक्तिकार के ही मतानुसार संक्षेप में सूत्रकृतांग के अध्ययनों का परिचय यों है—

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं।
तेत्तिसुद्देसणकाला, आयाराओ दुगुणमंगं॥

इस सूत्रकृतांगसूत्र में दो श्रुतस्कंध हैं, तेईस अध्ययन हैं तथा तेतीस उद्देशनकाल हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रथम अध्ययन में चार उद्देश, दूसरे अध्ययन में तीन उद्देश और तीसरे अध्ययन में चार उद्देश हैं। चौथे और पाँचवें अध्ययन में दो-दो उद्देश हैं, शेष ग्यारह अध्ययनों में एक-एक ही उद्देश हैं। यह प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययनों और उद्देशों का परिमाण है। दूसरे श्रुतस्कंध में सात अध्ययन और सात ही उद्देश हैं। इस प्रकार दोनों श्रुतस्कंधों में कुल मिलाकर २३ अध्ययन हैं। यह सूत्र आचारांगसूत्र से द्विगुण है। इसके पद ३६००० हैं।

सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध का नाम 'गाथा-षोडशक' है। इसमें गाथा नामक १६ अध्ययन हैं, इसलिए इसे 'गाथाषोडशक' कहते हैं।

---

१. जिसके बिना जिसकी सिद्धि नहीं होती, उससे उसका आक्षेप (अध्याहार) करना अर्थापत्ति है।

२. 'इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।'

—नंदीसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युगप्रधान आचार्य आर्यरक्षित ने वर्तमान युग के साधकों के उपकार के लिए द्वादशांगी को चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग रूप चार अनुयोगों[1] में विभक्त कर दिया है। आचारांगसूत्र चरणकरण-प्रधान है, सूत्रकृतांग द्रव्यानुयोग एवं चरणकरणानुयोग-प्रधान है।

प्रथम श्रुतस्कंध के एक अध्ययन को छोड़कर शेष सब पद्य में हैं और दूसरा श्रुतस्कंध गद्य-पद्य दोनों में है। निर्युक्तिकार ने प्रत्येक अध्ययन में वर्णित विषयों को निम्नोक्त गाथाओं में प्रदर्शित किया है—

ससमय-परसमयपरूवणा य णाऊण बुज्झणा चेव।
संबुद्धस्सुवसग्गा, थीदोसविवज्जणा चेव॥
उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह॥
परिचत्त-निसील-कुसील-सुसीलसविग्गसीलवं चेव।
णाऊण वीरियदुगं पंडियवीरिए पयट्टेई (पयहिज्जा)॥
धम्मो समाहिमग्गो समोसढा चउसु सव्ववादीसु।
सीसगुणदोसकहणा, गंथंमि सदा गुरुनिवासो॥
आदाणियसंकलिया आदाणीयंमि आदायचरित्तं।
अप्पगंथे पिंडियवयणेणं होइ अहिगारो॥

इसके प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में स्वसमय-परसमय का निरूपण किया गया है। द्वितीय अध्ययन में कहा गया है कि स्वसमय (सिद्धांत) के गुण और परसमय के दोषों को जानकर मनुष्य को स्वसिद्धांत का बोध प्राप्त करना चाहिए। तृतीय अध्ययन में कहा गया है कि सम्यक्बोध को प्राप्त साधक कैसे उपसर्गों को सहन कर लेता है? चतुर्थ अध्ययन में स्त्री-सम्बन्धी दोषों से दूर रहने का उपदेश है। पंचम अध्ययन में बताया गया है कि जो पुरुष उपसर्गों को सहन नहीं करता तथा स्त्री के वशीभूत होता है, उसका अवश्य नरकवास होता है। छठे अध्ययन में शिष्यों को उपदेश देते हुए यह कहा गया है कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के सहन करने से

---

१. सूत्र पढ़कर उसका अर्थ बताना अथवा संक्षिप्तसूत्र का विस्तृत अर्थ के साथ सम्बन्ध करना अनुयोग कहलाता है। (१) चरणकरणानुयोग—मूलगुणों-उत्तरगुणों को बताना, (२) द्रव्यानुयोग—जीव अजीव आदि द्रव्यों की व्याख्या जिसमें हो, वह। (३) धर्मकथानुयोग—जिसमें अहिंसा आदि धर्मों की व्याख्या की गई हो अथवा धर्म में प्रेरित करने वाली कथाएँ हों, वह। (४) गणितानुयोग - जिसमें गणित यानी संख्यात्मक वर्णन हो, वह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा स्त्रीसम्बन्धी दोषों के वर्जित करने से भगवान् महावीर स्वामी ने विजय प्राप्त करने योग्य कर्मों पर अथवा संसार के पराभव पर विजय प्राप्त होना बताया है, वैसे ही सभी साधकों को प्रयत्न करना चाहिए। सातवें अध्ययन में बताया गया है कि शीलवर्जित गृहस्थ और कुशील अन्यतीर्थी अथवा पार्श्वस्थ आदि को छोड़ने वाले परित्यक्त-निःशील-कुशील अर्थात् सुशील यानी शास्त्रानुसार संयम-पालक संविग्न साधक की जो सेवा करता है, वह साधक शीलवान् होता है। आठवें अध्ययन में कहा गया है कि बालवीर्य और पण्डितवीर्य, इन दोनों वीर्यों को जानकर पण्डितवीर्य में प्रयत्न करना चाहिए। नवें अध्ययन में धर्म का यथावस्थित स्वरूप कहा है। दशम अध्ययन में समाधि का वर्णन है। एकादश अध्ययन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग का वर्णन है। द्वादश अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, और विनयवाद इन चार मतों के मानने वाले ३६३ प्रकार के पाषण्डी, अपने-अपने मतों को सिद्ध करते हुए उपस्थित होते हैं। उन पाषण्डियों के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन के लिए दिये गये साधनों में दोष बताकर उनका निराकरण किया गया है। तेरहवें अध्ययन में कपिल, कणाद, अक्षपाद, बुद्ध और जैमिनि आदि सब मतवादियों को कुमार्ग का प्रवर्तक सिद्ध किया गया है। ग्रन्थ नामक चौदहवें अध्ययन में शिष्य सम्बन्धी गुणों और दोषों को बताकर कहा गया है कि साधक को शिष्य सम्बन्धी गुणों से सम्पन्न होकर सदा गुरुकुल में निवास करना चाहिए। आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययन में जो शब्द अथवा अर्थ ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें 'आदानीय' कहकर वे आदानीय पद अथवा अर्थ पूर्व-वर्णित पदों और अर्थों के साथ प्रायः मिलाये गये हैं। मोक्षमार्ग साधक सम्यक् चारित्र का भी इसमें वर्णन है। गाथा नामक सोलहवें अध्ययन में पाठ बहुत कम हैं, उसमें विशेषतः १५ अध्ययनों में जो अर्थ (बातें) कहा गया है, उसी का संक्षेप में वर्णन है।

इस प्रकार गाथाषोडशक नामक सोलह अध्ययनों में वर्णित विषयों (अर्थाधिकारों) का संक्षेप में कथन किया गया।

सूत्रकृतांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों में कुल तेईस (१६+७=२३) अध्ययन हैं। समवायांगसूत्र में सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययनों का नाम इस प्रकार है—

तेवीसं सूयगडज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—समए वेयालिए उवसग्ग परिण्णा त्थीपरिण्णा नरयविभत्ती महावीरथुई कुसीलपरिभासए वीरिए धम्मे समाहिमग्गे समोसरणे आहत्तहिए गंथे जमईए गाथा पुंडरीए किरियाठाणा, आहारपरिण्णा अपच्चक्खाणकिरिया अणगारसुयं अद्दइज्जं नालंदइज्जं।

सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन कहे है, वे इस प्रकार हैं—समय, वैतालीय, उपसर्गपरिज्ञा, स्त्रीपरिज्ञा, नरकविभक्ति, महावीरस्तुति, कुशीलपरिभाषक, वीर्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म, समाधिमार्ग, समवसरण, याथातथ्य, ग्रन्थ, यमतीत, गाथा, पुण्डरीक, क्रिया-स्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यान-क्रिया, अनगारसूत्र, आर्द्रकीय और नालंदीय ।[1]

समय अध्ययन में स्वसमय, परसमय का निरूपण करते हुए पंचभूतवादी, अद्वैतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, पुण्य-पाप-अकर्तावादी, पंचभूतात्मषष्ठवादी, क्रिया-फल में अविश्वासी आदि मतवादियों के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है तथा नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद और लोकवाद का निरसन किया है। **वैतालीय** अध्ययन में शरीर की अनित्यता, उपसर्गसहन, कामपरित्याग और अशरणत्व आदि का प्ररूपण है । **उपसर्गपरिज्ञा** अध्ययन में श्रमणधर्म के पालन करते समय उपस्थित होने वाले विभिन्न उपसर्गों का सांगोपांग विवेचन है । **स्त्रीपरिज्ञा** अध्ययन में बताया है कि साधुओं के सामने कैसे-कैसे स्त्रीजन्य-उपसर्ग आते हैं ? उस समय साधु को कैसे सावधान और अपने ब्रह्मचर्य में स्थिर रहने की आवश्यकता है ? **नरकविभक्ति**

---

१. अचेलक (दिगम्बर) परम्परा में भी सूत्रकृतांग के २३ अध्ययन मान्य हैं । इन नामों व श्वेताम्बर परम्परा के टीका ग्रन्थ आवश्यकवृत्ति में उपलब्ध नामों में थोड़ा-सा अन्तर है । **प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी** नामक पुस्तक में **तेवीसाएसुइत्थडज्झयणेसु** ऐसा पाठ है, इस पाठ की प्रभाचन्द्रीय वृत्ति में इन २३ अध्ययनों के नाम भी गिनाये हैं । वे इस प्रकार हैं–१. समय २. वैतालीय ३. उपसर्ग, ४. स्त्रीपरिणाम ५. नरक, ६. वीरस्तुति, ७. कुशील परिभाषा ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. अग्र, ११. मार्ग, १२. समवसरण, १३. त्रिकालग्रन्थहिद (?), १४. आत्मा, १५. तदित्थगाथा (?) १६. पुण्डरीक, १७. क्रियास्थान, १८. आहारक परि-णाम, १९. प्रत्याख्यान, २०. अनगारगुणकीर्ति, २१. श्रुत, २२. अर्थ, २३. नालंदा ।

- **राजवार्तिक** के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प्य तथा अकल्प्य का विवेचन है । छेदोपस्थापना, व्यवहारधर्म एवं क्रियाओं का प्ररूपण है ।
- **धवला** के अनुसार सूत्रकृतांग का विषय निरूपण राजवार्तिक के समान है । इसमें स्वसमय एवं परसमय का विशेष उल्लेख है ।
- **जयधवला** में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय, स्त्रीपरिणाम, क्लीवता, अस्पृष्टता—मन की बातों की अस्पृष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख—स्त्रीसंग का सुख, पुंस्कामिता-पुरुषेच्छा आदि की चर्चा है ।
- **अंगपण्णत्ति** में बताया है कि सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, निर्विघ्न, अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापना, यतिसमय, परसमय, एवं क्रियाभेद का निरूपण है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन में नरक के घोर दुखों का वर्णन है। **वीरस्तुति** अध्ययन में भगवान महावीर को हस्तियों में ऐरावण, मृगों में मृगेन्द्र, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया है। **वीर्य** अध्ययन में वीर्यसम्बन्धी विवेचन है। **धर्म** अध्ययन में सन्मति महावीर के धर्मों का प्ररूपण है। **समाधि** अध्ययन में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपःरूप समाधि को उपादेय बताया है। **मार्ग** अध्ययन में महावीरोक्त मार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए अहिंसादि धर्मों का निरूपण है। **समवसरण** अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का खण्डन है। **याथातथ्य** अध्ययन में उत्तम साधु आदि के लक्षण बताए गए हैं। **ग्रन्थ** अध्ययन में साधुओं के आचार-विचार का वर्णन है। **आदानीय** अध्ययन में स्त्रीसेवन आदि के त्याग का विधान है। **गाथा** अध्ययन में माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ की व्याख्या है। द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। **पुण्डरीक** अध्ययन में इस लोक को पुष्करिणी की उपमा देते हुए तज्जीवतच्छरीरवाद, पंचमहाभूतवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद एवं नियतिवाद का खण्डन किया है। साधु को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, इन चारों प्रकार के आहार के ग्रहण की शुद्ध-विधि बताई है। **क्रियास्थान** अध्ययन में १३ क्रियास्थानों का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत भौम, उत्पाद, स्वप्न आदि शास्त्रों का उल्लेख है। **आहारपरिज्ञा** अध्ययन में वनस्पति, जलचर और पक्षियों आदि का वर्णन है। **प्रत्याख्यानक्रिया** अध्ययन में जीवहिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आवश्यकता बताई गई है। **आचार-श्रुत** अध्ययन में साधुओं के आचार का वर्णन है। पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, लोक-अलोक, साधु-असाधु आदि को स्वीकार न करने को, वहाँ अनाचार कहा है। छठे **आर्द्रकीय** अध्ययन में गोशालक, शाक्यभिक्षु, ब्राह्मण, एकदण्डी और हस्तितापसों के साथ आर्द्रक मुनि का संवाद है। सातवें **नालन्दीय** अध्ययन में गौतम गणधर का नालन्दा में पार्श्वनाथ-शिष्य उदक-पेढालपुत्र के साथ वाद-विवाद हुआ, उसका वर्णन है। अन्त में पेढालपुत्र ने चातुर्याम धर्म का त्याग कर पंचमहाव्रत स्वीकार किए।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र के अध्ययनों का संक्षिप्त परिचय है। सूत्रकृतांगसूत्र के अन्तर्गत समायित विषयों की एक सूची भी नन्दीसूत्र में दी गई है। वह इस प्रकार है—

"से किं तं सुयगडे ? सुयगडे णं लोए सुइज्जइ, अलोए सुइज्जइ, लोयालोए सुइज्जइ। जीवा सुइज्जंति, अजीवा सुइज्जंति, जीवाजीवा सुइज्जंति। ससमए सुइज्जइ, परसमए सुइज्जइ, ससमय-परसमए सुइज्जइ। सुयगडेण असीयस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीईए अकिरियावाइएणं सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं. बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्हतिसट्ठीणं पासंडियसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'भगवन् ! सूत्रकृत (सूचाकृत) क्या है ? सूत्रकृत में लोक का स्वरूप सूचित किया गया है, अलोक का स्वरूप सूचित किया गया है, लोकालोक का स्वरूप सूचित किया गया है। इसमें जीव का स्वरूप सूचित किया गया है, अजीव का स्वरूप भी सूचित किया गया है, जीवाजीव का भी। स्वसमय सूचित किया गया है, परसमय भी सूचित किया गया है, स्व-पर-समय भी सूचित किया गया है। सूत्रकृतांग में १८० क्रियावादियों का, ८४ अक्रियावादियों का, ६७ अज्ञानवादियों का एवं ३२ विनयवादियों का, यों ३६३ पाषंडियों के सिद्धान्त का खण्डन करके स्वसिद्धान्त की स्थापना की गई है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण घड़ियों में हुई है, गणधरों ने भगवान् महावीर के उपदेश को यथातथ्यरूप में अर्द्धमागधी (प्राकृत) भाषा में निबद्ध करके सर्वसाधारण जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत करके महान उपकार किया है।

सूत्रकृतांगसूत्र पर श्री भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति लिखी है। इस पर चूर्णि भी है। श्री शीलांकाचार्य ने बाहरिगणि की सहायता से इस शास्त्र पर टीका लिखी है, जो आज विशेष प्रचलित है। मुनि हर्षकुल एवं साधुरंग ने इस पर दीपिकाओं की रचना की है। हर्मन जेकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' के ४५वें भाग में इसका अँग्रेजी में अनुवाद किया है। इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र प्राचीन-अर्वाचीन कई आचार्यों एवं विशिष्ट श्रुतधर मुनियों के चिन्तन से समृद्ध है। भाषा और विषय निरूपण की शैली को देखते हुए इस सूत्र की गणना भी प्राचीनतम आगमों में की जाती है।

शास्त्र की उपादेयता के लिये चार अनुबंध

अंगसूत्रों का प्ररूपण या अर्थ-कथन सीधे श्रमण भगवान महावीर स्वामी द्वारा किया गया है। बाद में गणधरों ने इन्हें शब्दों में संकलित-ग्रथित किया है। इसलिये इस शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने इस सूत्रकृतांगसूत्र को 'भगवान्' कहा है। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर द्वारा साक्षादुपदिष्ट होने से यह भगवान् का अंग है। चूँकि 'ज्ञान' को ही तो भगवान् का अंग कहा जा सकता है तथा भगवान् का अंगभूत वह सूत्ररूप ज्ञान महान् अर्थ का बोधक होने से भगवान् के तुल्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। इसके अतिरिक्त जो शास्त्र अनेक बंधनों में जकड़ी हुई आत्माओं को देखकर परम करुणा और हितबुद्धि से प्रेरित होकर स्वयं सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से निःसृत बोध-सूत्र के रूप में प्राप्त है, और बन्धनों के कारण एवं निवारणोपाय बताकर मोक्षपथ की ओर प्रत्येक मुमुक्षु एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासु साधक को ले जाने वाला है, वह निःसन्देह उपादेय है। फिर भी सर्व-साधारण जिज्ञासुओं और साधकों तथा पाठकों और श्रोताओं के लिये इस शास्त्र की सार्वभौम उपादेयता के लिये प्रत्येक शास्त्र के प्रारम्भ में चार प्रकार का अनुबन्ध बताना आवश्यक होता है।

किसी भी शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन या श्रवण-मनन में प्रवृत्ति तभी होती है, जब उसको उसमें प्ररूपित विषय, उसके प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध का अच्छी तरह ज्ञान हो। अर्थात् शास्त्र में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देने वाला ज्ञान अनुबंध कहलाता है। वह चार प्रकार का है—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन।

इस शास्त्र में किन-किन विषयों का वर्णन है, यह पहले बताया जा चुका है। इस सूत्र के पठन-पाठन या श्रवण-मनन के अधिकारी श्रमण-श्रमणी एवं श्रद्धालु श्रोता हैं। जो व्यक्ति अहर्निश सांसारिक लुभावनी मोहमाया के भँवरजाल में ही फँसा रहता है तथा रात-दिन महारंभ एवं महापरिग्रह[1] में रचा-पचा रहता है, वह इस शास्त्र के पठन-श्रवण का अधिकारी नहीं हो सकता। बल्कि यों कहना चाहिए कि ऐसे महारंभी, महापरिग्रही एवं बन्धनों में चारों ओर से जकड़े हुए व्यक्ति को शास्त्र के श्रवण, मनन एवं पठन की जिज्ञासा या इच्छा भी नहीं होती। इस सूत्र के साथ हमारा प्रेर्य-प्रेरकभाव सम्बन्ध है। यह शास्त्र प्रेरक है, यानी आत्मा को जकड़ कर पराधीन बनाने वाले कर्मबंधनों एवं उनके कारणों से दूर रखने और उन बंधनों से दूर रहकर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है, और जिस व्यक्ति को प्रेरणा दी जाती है, वह जिज्ञासु या मुमुक्षु प्रेर्य है अथवा उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। यह शास्त्र बन्धनों से निवृत्ति और मुक्ति में प्रवृत्ति का उपाय बताता है और जिसे उपाय बताता है या जो उपाय को ग्रहण करता है, वह उपेय कहलाता है। इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन जीवों को अपनी अज्ञानता के कारण आत्मस्वरूप को भूले हुए जीवों को बोध प्राप्त करने की प्रेरणा देना, बन्धनों और बन्धनों के कारणों का बोध देकर उनसे मुक्त होने के पुरुषार्थ में प्रवृत्त करना है। सारांश यह है कि संसारी जीव बंधनों को हेय समझकर उपादेयरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष में प्रवृत्ति करें, यही इस शास्त्र की रचना का मुख्य प्रयोजन है।

शास्त्र की उपादेयता के पाँच निमित्त

किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ की उपादेयता के ५ निमित्त होते हैं—(१) पूर्वा-

---

१. दो ठाणे अपरियणित्ता आया णो केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए—तं जहा—आरंभे चेव परिग्गहे चेव। —स्थानांगसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर सम्बन्ध, (२) उसका प्रतिपाद्य विषय, (३) उसकी सुगमता से प्राप्ति, (४) आप्त द्वारा उसकी रचना और (५) इष्ट प्रयोजन।

(१) जिस शास्त्र में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता, वह उन्मत्त वचन की तरह आदरणीय नहीं होता। प्रस्तुत शास्त्र सूत्रकृतांग में पूर्वापरसम्बद्ध वचन हैं। प्रथम अध्ययन की पहली गाथा में जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है—**'किमाह बंधणं वीरो ?'** उसी के सन्दर्भ में बंधनों के कारण और निवारण के उपाय के सम्बन्ध में अन्त तक विभिन्न पहलुओं से कहा गया है। (२) जिस शास्त्र में वास्तविक वस्तु का वर्णन न होकर 'आकाश के फूलों का सेहरा बाँधकर वन्ध्यापुत्र विवाह करने जा रहा है' इत्यादि वाक्यों की तरह ऊटपटांग बातें लिखी गई हों, अथवा जिस शास्त्र में जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने वाली बातें न हों, वह शास्त्र भी उपादेय नहीं होता। जैसे वैदिक ग्रन्थों में यह विधान **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेयाताम्।'** "स्त्री और शूद्र को वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए।" अगर वेद धर्मशास्त्र है, जीवन को उन्नति-पथ पर ले जाने वाला है, तो स्त्री-शूद्र के लिये उसके अध्ययन का निषेध क्यों ? किन्तु सूत्रकृतांगसूत्र में समस्त प्रतिपाद्य विषय वास्तविक तथ्य से, कर्मबंधन से मुक्ति की समस्या से सम्बन्धित है। (३) इसी तरह जिस शास्त्र में प्रतिपादित विषय या दोषनिवारणोपाय सर्वसुलभ या बोधगम्य न होकर 'तक्षकसर्प के मस्तक में स्थित मणि का आभूषण बनाकर पहनने से सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं' के समान दुर्गम एवं दुरूह उपाय बताये गये हों, उन्हें भी सज्जन लोग नहीं अपनाते। प्रस्तुत शास्त्र में प्रतिपादित वर्णन अनुभवयुक्त, सुलभ और सर्वजनग्राह्य है। इन्हें पढ़-सुन कर प्रत्येक व्यक्ति आसानी से हृदयंगम कर सकता है और बंधन-निवारण कर सकता है। (४) तथा जो शास्त्र वीतराग, निःस्वार्थ, हितोपदेशक, लोकोत्तर आप्तपुरुषों द्वारा रचित नहीं होता, वह भी, जैसे कोई रास्ता चलता मनचला किन्हीं बालकों से यह कहे कि 'दौड़ो-दौड़ो, बालको, इस पीपल में देवता रहते हैं, वे सोना दे देंगे' इत्यादि वाक्यों की तरह विश्वसनीय नहीं होता। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि वह शास्त्र अर्थरूप में अर्हतकथित तथा सूत्ररूप में गणधर-रचित है, इसलिये इसमें प्रतिपादित विषय अविश्वसनीय नहीं है। (५) इसी प्रकार 'पुत्रोत्पत्ति के लिये माता के साथ विवाह करो' या 'सुखवृद्धि के लिये दूसरों को लूटो-खसोटो' इत्यादि वचनों की तरह अनिष्ट प्रयोजन वाले शास्त्र (प्रवचन) सत्पुरुषों द्वारा अग्राह्य होते हैं। इस शास्त्र में **'बुज्झिज्जत्ति'** इत्यादि पदों द्वारा बंधनों एवं उनके कारणों को मिटाकर मोक्ष-प्राप्ति-रूप इष्ट प्रयोजन सूचित किया गया है। इसलिए यह शास्त्र पाँचों निमित्तों की दृष्टि से उपादेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन

समय : प्रथम अध्ययन—एक विश्लेषण

अब प्रसंगवश सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का कुछ विश्लेषण करना आवश्यक है।

नामनिष्पन्न निक्षेप के अनुसार इस अध्ययन का गुणसम्पन्न नाम '**समय**' है। 'अमरकोष' के अनुसार समय शब्द शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त, संकेत, प्रतिज्ञा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1] प्रश्न यह है कि यहाँ इस समय अध्ययन में 'समय' किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? जैन आगमकार एक-एक शब्द का नाप-तौल कर प्रयोग करते हैं, वे निक्षेप के द्वारा एक विशिष्ट शैली से समय का विश्लेषण करके प्रसंगवश यहाँ 'सिद्धान्त' में उसका प्रयोग होना सूचित करते हैं। आगमकारों की विश्लेषण-पद्धति के अनुसार 'समय' का निक्षेप १२ प्रकार का होता है—(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) क्षेत्र, (५) काल, (६) कुतीर्थ, (७) संगार, (८) कुल, (९) गण, (१०) संकर, (११) गण्डी और (१२) भाव।

नामसमय—किसी का नाम 'समय' रख दिया, तदनुसार गुण उसमें नहीं होता, वह 'नामसमय' है। **स्थापनासमय**—'समय' की आकृति, प्रतीक, चित्र या अक्षर के रूप में स्थापना करना। **द्रव्यसमय**—द्रव्य के **सम्यक्** अयन यानी परिणाम-विशेष—स्वभाव को द्रव्य-समय कहते हैं। जैसे—जीव द्रव्य का स्वभाव उपयोग है, पुद्गल द्रव्य का स्वभाव मूर्तत्व है। गति, स्थिति और अवकाश देना, क्रमशः धर्म, अधर्म और आकाश-द्रव्य का स्वभाव है। **कालसमय**—जिस द्रव्य के उपयोग के योग्य जो काल है, वह उसका काल-समय है। जैसे वर्षा ऋतु में नमक, शरद ऋतु में जल। अथवा कमल के सौ पत्तों के बींधने से व्यक्त होने वाले काल-विशेष को भी काल-समय कहते हैं। **क्षेत्रसमय**—क्षेत्र का अर्थ है—आकाश। आकाश के स्वभाव को

---

१. 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रसमय कहते हैं। आकाश एक परमाणु से भी पूर्ण होता है, दो से भी और सौ लाख से भी पूर्ण होता है। अथवा जिस क्षेत्र या प्रदेश (प्रान्त या राष्ट्र) का जो स्वभाव है, उसे भी क्षेत्र-समय कहते हैं। देवकुरु आदि क्षेत्रों का स्वभाव है कि उनमें रहने वाले प्राणी बड़े सुखी, सुन्दर एवं निर्वैर होते हैं अथवा धान्यादि बोने के लिए खेत को शुद्ध करने का जो अवसर होता है, उसे भी क्षेत्रसमय कहते हैं। **कुतीर्थसमय** – पाखण्डियों का अपना-अपना आगम-विशेष 'कुतीर्थ समय' कहलाता है। अथवा पाखण्डियों के आगमों में उक्त अनुष्ठान विशेष को भी 'कुतीर्थ समय' कहते हैं। **संगारसमय**—संगार का अर्थ है—संकेत। संकेत रूप जो समय है, उसे संगारसमय कहते हैं। जैसे सिद्धार्थ सारथि देव ने पूर्व संकेतानुसार हरि के शव को ग्रहण किये हुये बलदेव को प्रतिबोध दिया था। **कुलसमय** कुल के आचार को कहते हैं। जैसे पितृशुद्धि शक जाति का तथा मंथनिका शुद्धि अहीर जाति का कुलाचार है। **गणसमय** – किसी संघ का आचार 'गणसमय' कहलाता है। जैसे मल्ल लोगों का आचार था कि जो अनाथ मल्ल मर जाता है, उसका दाह संस्कार भी मल्ल लोग ही करते हैं। **संकरसमय** –संकर का अर्थ है –विभिन्न जाति वालों का सम्मिलन। उस संकर का, विभिन्न जाति समूह का –एकमत होकर रहना संकरसमय है। जैसे वाममार्गी विभिन्न जातीय होते हुए भी अनाचार करने में एकमत होते हैं। **गंडीसमय** –विभिन्न सम्प्रदायों की प्रथा को 'गंडी समय' कहते हैं, जैसे शाक्य लोग भोजन के समय गंडी का ताड़न करते हैं। **भावसमय**— विभिन्न अनुकूल एवं प्रतिकूल सिद्धान्तों को भावसमय कहते हैं।

प्रकृत अध्ययन 'समय' में भावसमय का ही ग्रहण किया गया है, शेष समयों का यहाँ प्रसंग नहीं है, इसलिये यहाँ भावसमय को छोड़कर शेष पूर्वोक्त विभिन्न समय केवल ज्ञेय हैं, उपादेय नहीं है।

प्रथम अध्ययन के उद्देशक और अर्थाधिकार

'समय' नामक प्रथम अध्ययन में चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये सर्वलोकव्यापी पंचमहाभूत हैं, यह प्रथम अर्थाधिकार है। चेतन और अचेतन (जड़) ये सभी पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं, इस प्रकार आत्माद्वैतवाद का प्रतिपादक दूसरा अर्थाधिकार है। 'वही जीव है, वही शरीर है,' यानी जीव और शरीर एक है, यह तीसरा अर्थाधिकार है। तथा पुण्य और पाप आदि सभी क्रियाओं को जीव नहीं करता, इस प्रकार कहने वाले वादी का चौथा अर्थाधिकार है। पाँच महाभूत और छठा आत्मा है, यह पाँचवाँ अर्थाधिकार है। किसी भी क्रिया का फल नहीं होता, इस मत का जिसमें प्रतिपादन किया गया है, यह छठा अर्थाधिकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे उद्देशक में चार अर्थाधिकार हैं --पहले अधिकार में नियतिवाद का कथन है, दूसरे अधिकार में अज्ञानवाद का और तीसरे में ज्ञानवाद का कथन है। चौथे अधिकार में बताया गया है कि शाक्यों (बौद्धों) के आगम में यह कथन है कि चार प्रकार का कर्म उपचय (बंधन) को प्राप्त नहीं होता। जैसे—(१) **अविज्ञोपचित कर्म**—अविज्ञा—अविद्या=अज्ञान के वश भूल से हुआ कर्म अविज्ञोपचित कर्म कहलाता है। जैसे माता के स्तन आदि से दबकर पुत्र की मृत्यु होने पर भी अज्ञान के कारण माता को कर्म का उपचय नहीं होता। इसी तरह भूल से जीवहिंसा आदि होने पर कर्म का उपचय नहीं होता। (२) **परिज्ञोपचित कर्म**—केवल मन के द्वारा चिन्तन करना परिज्ञा कहलाता है। किसी प्राणी का घात न हो, केवल मन के द्वारा परिज्ञा (घात का चिन्तन) होने से कर्म का उपचय नहीं होता। (३) **ईर्यापथप्रत्यय कर्म**—ईर्या (मार्ग में आवागमन) से जो जीवहिंसा होती है, उससे भी कर्म का उपचय नहीं होता, क्योंकि मार्ग में जाने-आने वाले का अभिप्राय जीवघात का नहीं होता। (४) **स्वप्नान्तिक कर्म**—जैसे स्वप्न में भोजन करने से तृप्ति नहीं होती, वैसे ही स्वप्न में किये हुये जीवहिंसा आदि से कर्म का उपचय नहीं होता।

तृतीय उद्देशक में आधाकर्मी आहार का विचार किया गया है और उस सदोष आहारकर्ता साधु को दोषयुक्त बताया गया है तथा कृतवादी का मत भी बताया गया है। कोई इस लोक को ईश्वरकृत और कोई प्रधानादिकृत मानते हैं। वे प्रावादुक अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए किस प्रकार उपस्थित होते हैं? यह भी इस उद्देशक का दूसरा अर्थाधिकार है।

चतुर्थ उद्देशक का अर्थाधिकार यह है कि अविरत यानी गृहस्थों में जो असंयम प्रधान अनुष्ठान होते हैं, प्रायः वे ही परतीर्थिकों में होते हैं। इसलिये परतीर्थिक भी प्रायः अविरत के तुल्य ही होते हैं। अन्त में अविरति रूप कर्म बन्धन के कारण से बचने के लिये अहिंसा, समता, कषायविजय आदि स्वसमय का प्रतिपादन करते हैं।

पूर्वोक्त उपोद्घात के द्वारा सूत्रकृतांग-सूत्र की पृष्ठभूमि, सार्थकता, रचना, रचनाकार की भावभूमि, सूत्र की नित्यता, सूत्रकृतांग के अध्ययनों और विषयों का परिचय, इसकी उपादेयता के चार अनुबंधों और पाँच निमित्तों का तथा प्रथम अध्ययन का विश्लेषण-विवेचन पढ़ने के बाद सहसा जिज्ञासा होती है कि प्रथम अध्ययन में क्या भाव है? अतः अब प्रथम अध्ययन प्रारम्भ करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

स्वसमय-वक्तव्यताधिकार

मूल पाठ

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टइ ? ॥१॥

संस्कृत छाया

बुध्येत त्रोटयेत् बन्धनं परिज्ञाय ।
किमाहं बन्धनं वीरः किं वा जानंस्त्रोटयति ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(**बुज्झिज्जत्ति**) मनुष्यों को बोध प्राप्त करना चाहिए। (**बंधणं परिजाणिया**) बन्धन को जानकर, (**तिउट्टिज्जा**) उसे तोड़ना चाहिए। (**वीरो**) वीरप्रभु ने (**बंधणं किमाह**) बन्धन का स्वरूप क्या बताया है ? (**वा**) और (**किं जाणं**) क्या जानता हुआ पुरुष (**तिउट्टइ**) बन्धन को तोड़ता है ?

भावार्थ

मनुष्यों को बोध प्राप्त करना चाहिए, तथा बन्धन का स्वरूप जान कर उसे तोड़ना चाहिए। वीरप्रभु ने बन्धन का स्वरूप क्या बताया है ? और किसको जानकर जीव बन्धन को तोड़ता है।

व्याख्या

सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने की बात कही है। सूत्रकृत शब्द का अर्थ गणधर होने से, गणधरों ने भगवान महावीर से इस शास्त्र को ग्रहण किया था। अतः गणधर ही वास्तव में इस सूत्र के उपदेष्टा हैं। वे अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिये अपने शिष्यों द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर के द्वारा प्राप्त उपदेश (बोध) को उनके समक्ष प्रकट करते हैं। वह उपदेश क्या और कौन सा है ? इसके लिये सर्वप्रथम बोध प्राप्त करने का निर्देश करते हैं।

बोध ही मनुष्य के लिये सबसे महत्वपूर्ण

इस जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त करने से पहले निगोद व एकेन्द्रिय के भव में कोई बोध प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों की चेतना अत्यन्त सुषुप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहती है। कुछ पुण्य राशि बढ़ने पर एकेन्द्रिय से क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक पहुँचा, किन्तु इन भवों में भी यद्यपि चेतना का विकास तो उत्तरोत्तर बढ़ा, मगर इतना चेतना का विकास होने पर भी अपने स्वरूप का बोध प्राप्त होना दुःशक्य था। अतः अपने स्वरूप का—आत्मा का - भान होना इन विकलेन्द्रिय जीवयोनियों में जन्म लेने पर भी असंभव था, अतः बोध न हो सका। इसके बाद तिर्यंच पंचेन्द्रिय में जन्म ग्रहण किया, लेकिन वहाँ भी असंज्ञी जीव को बोध होना दुःशक्य था, क्योंकि असंज्ञी के द्रव्यमन न होने से वह स्पष्ट विचार नहीं कर सकता। तिर्यन्च पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवयोनि में जन्म लेने पर भी किसी-किसी जीव को, पूर्वजन्मकृत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश बोध हो सकता है, जैसे ज्ञाता-सूत्र में वर्णित 'नन्दनमणिहार' के जीव को मेढ़क की योनि में जन्म लेने पर पूर्व जन्म के स्मरण होने से बोध हो गया था, और उसी बोध के फलस्वरूप उसने स्वयं श्रावक व्रत ग्रहण किये तथा भगवान महावीर के दर्शनार्थ फुदकता हुआ जाने लगा। कई हाथियों, बैलों, कुत्तों, घोड़ों आदि पशुओं को पूर्वजन्म के स्मरणवश कभी-कभी यत्किंचित् बोध हो जाता है, परन्तु वह भी किसी विरले ही तिर्यन्च जीव को होता है। इसलिये कहना चाहिए कि तिर्यन्च पचेन्द्रिय में भी बोध होना अत्यन्त दुर्लभ है। इसके पश्चात असीम पुण्यपुंज एकत्रित होने पर मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ, किन्तु मनुष्य जन्म मिलने के बावजूद भी अगर अनार्य क्षेत्र, अनार्यकुल में किसी हिंसक पापात्मा के यहाँ जन्म हुआ तो वहाँ भी आत्मबोध प्राप्त होना प्रायः अत्यन्त दुर्लभ होता है क्योंकि वहाँ का वातावरण ही प्रायः अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति मोह, ममत्व या स्वार्थ का होता है। उन मनुष्यों को यह भान ही नहीं होता कि मैं कौन हूँ ? मेरी आत्मा इस मनुष्य जन्म में कैसे आई है ? अब आगे मुझे क्या करना चाहिए ? मेरी आत्मा के विकास के लिये साधक-बाधक कौन-कौन से तत्त्व हैं ? इस प्रकार का बोध भी पूर्वजन्मकृत पुण्य तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिलता है। मनुष्य जन्म में आर्यक्षेत्र मिला, परन्तु उत्तम कुल नहीं मिला; उत्तम कुल प्राप्त हुआ, किन्तु पाँचों इन्द्रियाँ या शरीर के अंगोपांग पूर्ण और स्वस्थ और सशक्त न मिले तो फिर वही समस्या सामने आकर खड़ी हो गई। ये सब संयोग तो मिले किन्तु दीर्घ आयुष्य न मिला, बोध (समझ) पाने के योग्य वय होने से पहले ही इस संसार से चल बसे, अथवा जन्म लेते ही रोग लग गया, या बोध प्राप्ति की क्षमता के योग्य होने से एक दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष पहले ही असाध्य रोग से ग्रस्त हो गए तो फिर वही बोधदुर्लभता[1] सामने आ गई।

इसीलिये सूत्रकार गणधर भगवान महावीर के उपदेश को भव्यजीव के समक्ष दोहराते हैं '**बुज्झिज्जत्ति**' अर्थात मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त कारणों से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक और मनुष्य जन्म तक कितने-कितने जन्म हो गए होंगे, जिनमें बोध की एक बूंद भी नहीं मिल सकी, और अब मनुष्य जन्म मिला है, उत्तम शरीर मिला है तथा आर्यक्षेत्र, आर्यकुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ, तन-मन एवं दीर्घ आयुष्य मिला तो इसमें सबसे दुर्लभ, सर्वश्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण वस्तु बोध है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करो। यह इस विधि-पद का रहस्य है।

बोध क्या और किसका ?

अब इसी पद में गर्भित प्रश्न उठते हैं—बोध क्या है, जिसे प्राप्त करने के लिये भगवान् महावीर का उपदेश है ? तथा बोध किसका प्राप्त करना चाहिए ? ये दोनों प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इन्हीं दो प्रश्नों रूपी खंभों पर उद्देशकरूपी प्रासाद खड़ा है।

यद्यपि इसी गाथा में आगे चलकर केवल बन्धन का बोध करने की बात सूचित की है, तथापि भगवान महावीर का आशय सर्वप्रथम तो आत्मबोध करने से है। इतने योग्यतम सुदुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यदि अब भी आत्मस्वरूप का बोध[2] प्राप्त नहीं किया तो फिर यह अवसर बार-बार नहीं मिलेगा। यदि तुम यह सोचते हो कि इस जन्म में तो विषयभोग का आनन्द लूट लें, अगले जन्म में

---

१. देखिये भगवान महावीर द्वारा आगमों में प्ररूपित बोधिदुर्लभता के उद्धरण—'**संबोही खलु दुल्लहा**'—बोधि (सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। (सूत्र० २, अ० १, उ० १) '**णो सुलहं बोहिं च आहियं**' बोधि सुलभ नहीं बताई है। (सूत्र० २, १६, उ० ३) '**सुदुल्लहं लहिउ बोहिलाभं विहरेज्ज**' सुदुर्लभ बोधि को प्राप्त करके आत्मकल्याण के मार्ग पर विचरण करो। (आ० १७, १) '**बहुकम्मलेव लित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा**'—भारी कर्मों से लिप्त भोगों में ग्रस्त जीवों को बोध प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। (उ० ८, १५)

२. **संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।**
—संबोध प्राप्त करो, सम्बोध प्राप्त क्यों नहीं करते हो ? परलोक में सम्बोधि अवश्य ही दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध प्राप्त कर लेंगे, अथवा अभी क्या जल्दी है ? अभी तो बचपन है, खेलने-कूदने के दिन हैं, या अभी तो यौवन है, आमोद प्रमोद में जीवन में जीवन बिताने का समय है, बुढ़ापा आएगा तब बोध प्राप्त कर लेंगे, यह सरासर भ्रान्ति है। क्षणिक जीवन का कोई भरोसा नहीं है और अगले जन्म में भी सम्बोधि प्राप्त होने की कोई गारन्टी नहीं है। अतः अभी से, इसी जन्म में सम्बोधि प्राप्त करने का प्रयत्न करो, यह भगवान महावीर के उपदेश का आशय है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि एकेन्द्रिय जीवों को तो छोड़ दें, क्योंकि उनमें तो चेतना अत्यन्त सुषुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तक के जीवों में तो चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती है और प्रायः देखा जाता है कि इन त्रस जीवों में भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सन्तान-पोषण आदि का बोध होता है। एक छोटी से छोटी चींटी को भी यह बोध हो जाता है कि अमुक जगह मेरे लिये आहार पड़ा है, अमुक दिन वर्षा होने वाली है, मुझे चौमासेभर के लिये आहार संग्रह कर लेना चाहिए, इत्यादि। हाथी, गाय, भैंस, घोड़े आदि विशालकाय जानवरों में तो काफी बोध होता है। ये अपने मालिक को और उसके परिवार को, अपने विरोधी एवं प्रेमी को और अपने आवास स्थान को जान लेते हैं। अपनी प्रशंसा, निन्दा और भर्त्सना का भी इन्हें बोध हो जाता है। क्या इसी को बोध नहीं कहा जा सकता ? या बोध से भगवान महावीर का आशय कुछ और है ?

यद्यपि **'बुध्यतेऽनेनेति बोधः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे जाना जाय उसे बोध कहते हैं, परन्तु इस प्रसंग में भगवान महावीर का ऐसे बोध से मतलब नहीं है। उनका तात्पर्य ऐसे बोध से है, जो आत्मा से सम्बन्धित हो, जैसा कि आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ में कहा गया है—

"अत्थि मे आया उववाइए ? णत्थि मे आया उववाइए ? के वा अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"

अर्थात्— "मेरी आत्मा यहाँ से दूसरे लोक में जाती है या नहीं ? मैं कौन हूँ ? भूतकाल में मैं कौन था ? मैं यहाँ से मृत्यु होने के बाद परलोक में क्या **होऊँगा ?"**

इसी आशय की पंक्तियाँ अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र की मिलती हैं—

हुं कोण छु ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे म्हारूं खरूं ?
कोना सम्बन्धे बलगणा छे ? राखुं के ए परिहरूं ?

"मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ से कैसे मनुष्य रूप में पैदा हुआ ? मेरा असली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप क्या है ? मैं अपने असली स्वरूप को छोड़कर किसके साथ सम्बन्धित होकर चिपटा हुआ हूँ ? इस सम्बन्ध या बन्धन को रखूँ या इसका त्याग कर दूँ ?'[1]

यह है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त बोध, जिसे शास्त्रकार बोधि कहते हैं। यही बोध दुर्लभ और बहुत मँहगा है। इसी बोध को प्राप्त करने का भगवान महावीर का संकेत है। इसके लिये शास्त्रकारों और जैनाचार्यों ने बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा (भावना) बताई है, जिसमें यह चिन्तन करना होता है कि अनादिकाल से सांसारिक प्रपंच जाल में विविध दुखों के प्रवाह में बहते हुए और मोह आदि कर्म-बन्धन के तीव्र आघातों को सहते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध ज्ञान (बोधि) का प्राप्त होना दुर्लभ है।

जब मनुष्य इस बात का बोध प्राप्त कर लेगा कि मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, अविनाशी, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-सम्पन्न आत्मा हूँ। परन्तु शरीर और उनमें भी मनुष्य शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध क्यों और कैसे हुआ ? अमुक अमुक शुभाशुभ कर्मबन्धन के फलस्वरूप मुझे मनुष्य जन्म मिला है और मैं मनुष्य शरीर आदि से संयुक्त हुआ हूँ। ये बन्धन हेय हैं, ज्ञेय हैं या उपादेय हैं ? ऐसे और इस प्रकार से आत्म-स्वरूप का सर्वप्रथम बोध प्राप्त करना आवश्यक है।

बन्धन को जानो, समझो और तोड़ो

आत्मा तो निश्चयनय की दृष्टि से अपने आप में स्वतंत्र है, बन्धन-मुक्त है, फिर भी वह बन्धन में पड़ा है। इसलिये भगवान महावीर ने बोध प्राप्त करने के उपदेश से लगता ही दूसरा उपदेश दिया—

बंधणं परिजाणिया, तिउट्टिज्जा।

अर्थात्—पहले बन्धन को जानो, समझो और फिर उसे तोड़ो।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप बन्धनमय नहीं है, किन्तु वर्तमान समय में तुम्हारी यह आत्मा बन्धनवश हो रही है। यह सम्यग्दृष्टि को भान हो जाता है और

१. जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने भी आत्मस्वरूप के बोध की ओर इंगित किया है—

को अहं ? कथमिदं जातं ? को वै कर्ताऽस्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह, विचारः सोऽयमीदृशः ? ॥

—मैं कौन हूँ ? मेरा यह स्वरूप (मनुष्य जन्म) कैसे हुआ ? इसका कर्ता कौन है ? इसमें मेरा उपादान क्या है ? कौन सा है ? इस प्रकार का विचार ही वास्तव में विवेकख्याति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अपने आपको (अपनी आत्मा को) बन्धन में जकड़ी हुई, परतंत्र देखता है। इसलिये भगवान महावीर ने उस भव्य मुमुक्षु मानव को दूसरा उपदेश दिया कि आत्मा पर जो बन्धन हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। तुम चाहो तो उन्हें तोड़ सकते हो। क्योंकि इन बन्धनों में अपने आपको जकड़ने वाली तुम्हारी ही आत्मा है। दूसरे किसी ने तुम्हें बन्धनों में नहीं डाला और तुम चाहो तो इन बन्धनों से मुक्त हो सकते हो। यह मत समझो कि ये बन्धन तुम्हारी आत्मा से अधिक शक्तिशाली हैं, इन्हें तुम तोड़ नहीं सकते; इनकी प्रबल शक्ति के आगे तुम्हारी आत्मा निर्बल है। तुम अगर इन बन्धनों को तोड़ने में अपनी पूरी शक्ति लगा दोगे तो फिर इन बन्धनों को तुमसे विलग होना ही पड़ेगा। यही भगवान् महावीर के उपदेश का आशय प्रतीत होता है।

किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि जिस बन्धन को तुम तोड़ना चाहते हो, उसे पहले भलीभाँति जान लो, समझ लो, उस बन्धन को पहचान लो, उसकी शक्ति को भी अच्छी तरह जाँच परख लो, अन्यथा यदि उस बन्धन से भिड़ने की तुम्हारी पूर्ण तैयारी नहीं हुई तो तुम उससे हार खा जाओगे, उसके प्रबलतम सुदृढ़ चक्रव्यूह को देखकर तुम निराश, हताश और पस्तहिम्मत होकर भाग छूटोगे, उसका सामना नहीं कर सकोगे। किसी भी शत्रु को पराजित करना होता है तो पहले उसके बलाबल का पता लगाया जाता है। वह शत्रु जिससे उसे भिड़ना है, उसके पास कौन-कौन से शस्त्र हैं? कौन-कौन उसके सहायक हैं? उसकी कितनी तैयारी है? उसका साहस एवं उत्साह कितना है? वह शत्रु किस-किस प्रकार से कैसे-कैसे आक्रमण करता है? बन्धन भी आत्मा का शत्रु है। आत्मा को इसे परास्त करने के लिये पहले इसके बलाबल, दमखम एवं साहस का पता लगा लेना चाहिए। यह भी जान लेना चाहिए कि बन्धनरूप शत्रु किस-किस रूप में, किस-किस प्रकार से आत्मा पर आक्रमण करता है? उक्त बन्धनरिपु के कौन-कौन से सहायक हैं? उस बन्धनरिपु के पास कौन-कौन से शस्त्र हैं? बन्धन की अपने आप में कितनी प्रबल तैयारी है? इन बातों को जाने बिना ही आत्मा बन्धन रूपी शत्रु के साथ जूझेगा तो सम्भव है, अपनी पूरी तैयारी के बिना परास्त हो जाय या बन्धन के प्रबल शस्त्रों के प्रहार से आहत होकर गिर जाय, या बन्धनरिपु के प्रलोभन में फँस कर आत्मा स्वयं पतित हो जाय, उसी का गुलाम बन जाय। आत्मा के साथ सहायक कम हुए तो सम्भव है, बन्धन के बहुसंख्यक सहायकों के आगे उसे घुटने टेकने पड़ें। इसलिये भगवान महावीर का सन्देश है—बन्धन का पहले परिज्ञान कर लो। बन्धन को केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसको सब ओर से भली-भाँति जाँच-परख लेना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शास्त्रों में जहाँ भी किसी वस्तु के त्याग (प्रत्याख्यान) करने का प्रश्न आता है, वहाँ कहा गया है पहले 'ज्ञ-परिज्ञा' से उसे भली-भाँति जान लो फिर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका त्याग करो। यहाँ बन्धन को तोड़ने से पहले उक्त बन्धन को ज्ञ-परिज्ञा से भली-भाँति जान लेने का उपदेश दिया है। तभी आत्मा अपनी पूर्व तैयारी भली-भाँति करके, अहिंसा-सत्यादि या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर क्षमा-दया-सेवा-विनय आदि गुण—सहायकों से परिवृत होकर तथा दृढ़ साहस, श्रद्धा, उत्साह और बलवीर्य के साथ बन्धन को तोड़ सकेगा। इसीलिये यहाँ पहले बन्धन को जान कर उसे तोड़ने यानी जड़ से उखाड़ने की बात कही गई है। अन्यथा बिना ही तैयारी के आत्मा बन्धन के साथ भिड़ेगा तो उसे उन्मूलन करने की अपेक्षा ऊपर-ऊपर से उसे तोड़ देगा। आशय यह है कि यदि आत्मा पूर्ण तत्परता के साथ समझ-बूझ कर बन्धन को तोड़ने के लिये उपक्रम नहीं करेगा तो वह किसी एक बन्धन को तोड़ देगा, किन्तु दूसरा बन्धन शनैः शनैः उसके साथ लगता जायेगा, उसे पता ही नहीं चलेगा कि वह बन्धन चुपके से कहाँ से घुस आया ? उदाहरणार्थ—एक साधक ने घरबार, कुटुम्ब-परिवार के मोहबन्धन को तो तोड़ दिया, लेकिन धीरे-धीरे जिस संघ में उसने दीक्षा ली, वहाँ भक्त-भक्ताओं, शिष्य-शिष्याओं, क्षेत्रों, उपाश्रयों, शास्त्रों, उपकरणों आदि का मोहबन्धन लग गया। वह ममत्व का बन्धन इतना सूक्ष्म रूप से लग गया कि उसे स्वयं को भान ही नहीं रहा, वह तो यही समझता रहा कि यह तो धर्म-प्रभावना हो रही है, धर्म-श्रद्धालुओं का परिवार बढ़ रहा है। किन्तु सावधान न रहने से वही मोहबन्धन के कारण बन गए। इसीलिये भगवान महावीर ने जिज्ञासु भव्यों को संदेश दिया कि पहले उन बन्धनों को, जिन्हें तुम्हें तोड़ना है, भलीभाँति जान लो, समझ लो, जाँच-परख लो ; फिर उन्हें तोड़ने का उपक्रम करो।

बन्धन को तोड़ने का रहस्यार्थ यह है कि बन्धन के कारणों को तोड़ो। जिन कारणों से बन्धन आत्मा के चारों ओर लगे हैं, उनसे विपरीत कारणों से ही उन्हें तोड़ा जा सकता है। वहाँ कार्य में कारण का उपचार किया गया है। बन्धन तोड़ना कार्य है, किन्तु बन्धन के मूल स्रोतों को बन्द करना या मूल कारणों को तोड़ना कारण है। प्रकारान्तर से भगवान महावीर के इस उपदेश को इन शब्दों में कह सकते हैं—"बन्धन से मुक्त बनो, आत्मा को स्वतंत्रता को जिन बन्धनों ने दबा दिया है, उनसे छुटकारा पा लो, जिन बन्धनों ने आत्मा को कैद में डाल कर परवश बना दिया है, उन बन्धनों को काटकर फेंक दो। बन्धनों की जड़ें उखाड़ दो। अन्यथा वे बन्धन तुम्हें बारम्बार हैरान करेंगे, नाना योनियों और गतियों में परिभ्रमण करायेंगे, अनेक यातनाएँ दिलायेंगे।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ जैनदर्शन के एक महत्वपूर्ण सिद्धांत का भी प्रतिपादन कर दिया है कि **'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः'** ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है। मुक्ति के लिये अकेले ज्ञान से कार्य नहीं होता, न अकेली क्रिया से। वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों वाले ज्ञान मात्र से मुक्ति बताते हैं, मीमांसा आदि दर्शनों वाले एकान्त क्रिया से मुक्ति की प्राप्ति बताते हैं। किन्तु जैनदर्शन ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति की प्राप्ति मानता है।[1] इसीलिये कहा गया--'पहले बन्धन का परिज्ञान करके, तत्पश्चात उसे तोड़ने की क्रिया करो।' तैरने का केवल पुस्तकीय ज्ञान कर लेने मात्र से तैरना नहीं आता, उसका सक्रिय अभ्यास करने पर ही सफलता मिलती है। इसी प्रकार कोरा ज्ञान किसी कार्य को सम्पादन करने में समर्थ नहीं होता। गन्तव्य स्थान का ज्ञान तो हो, लेकिन गमनक्रिया न करने वाला पथिक ज्ञानमात्र से गन्तव्य स्थान तक कैसे पहुँच सकता है? शास्त्र में अकेले ज्ञान को पंगु कहा है, और अकेली क्रिया को अन्धी। किसी अन्धे को अथवा किसी लंगड़े को आम के दो अलग-अलग बागों में छोड़ दिया जाय और उन्हें कह दिया जाय कि अपने-अपने बाग की रखवाली करो और मनचाहे फल खाओ, तो अकेला अन्धा बाग में लगे हुए फलों को न देख पाने के कारण कैसे खा सकेगा? तथैव लंगड़ा बाग में लगे हुए फलों को देखकर भी पेड़ पर चढ़कर या खड़ा होकर तोड़ नहीं सकेगा। अतः खा भी कैसे सकेगा? यही हाल कोरी क्रिया या कोरे ज्ञान का है। ज्ञान क्रिया सहित होने पर ही अबन्ध्य कहलाता है, अन्यथा अकेला ज्ञान बन्ध्य है।

बन्धन की परिभाषा, कारण और प्रकार

बन्धन को जानकर तोड़ने की बात, उपर्युक्त पंक्ति में कही है। अतः प्रश्न होता है कि व्यवहार में किसी वाणी या वस्तु समूह को रस्सी, डोरी, शृंखला, तार आदि से बाँध देने को बन्धन कहा है, परन्तु आत्मा तो अमूर्त है, इन स्थूल आँखों से अदृश्य है, अव्यक्त है, फिर उसको रस्सी आदि पदार्थों से कैसे बाँधा जा सकता है? अतः यहाँ आत्मा के किस बन्धन की ओर वीतराग प्रभु का संकेत है?

वास्तव में यहाँ रस्सी, शृंखला आदि स्थूल पदार्थों का द्रव्यबन्धन आत्मा पर नहीं है, यहाँ तो आत्मा के भावबन्धन की ओर ही भगवान का संकेत है। भाव-बन्धन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा आत्मा को परतंत्र बना दिया जाय।[2]

---

१. दशवैकालिक सूत्र में भी इसी का समर्थन किया है—**'पढमं नाणं, तओ दया'** पहले ज्ञान, फिर दया की क्रिया।

२. बध्यते परतंत्रीक्रियते आत्मा अनेन तद्बन्धनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन या बन्ध जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का बँध जाना, नीरक्षीरवत् एकरूप हो जाना बन्धन या बन्ध कहलाता है। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही इस प्रकार के बन्धन हैं। एक आचार्य कहते हैं "जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे-बुरे कामों में लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीयादि रूप से उसमें प्रवेश करता है, जो जीव के साथ बंध को प्राप्त होता है।"[1]

जो संसारी जीव है, उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं, उन परिणामों से नये कर्म बन्धित होते हैं। उन कर्मों के बन्ध से विविध गतियों में जन्म लेना पड़ता है। अथवा कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है।[2] उस बन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की होती है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। उक्त बन्ध या बन्धन के कारण पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[3]

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के साथ बन्ध ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मबन्धन या मिथ्यात्वादि पाँच अथवा आरम्भ और परिग्रह आदि जो ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण स्वरूप बन्धन हैं उन्हें भली-भाँति जानकर तप-संयमादि अनुष्ठान रूप विशिष्ट क्रिया से तोड़ना चाहिए, अर्थात् अपनी आत्मा से पृथक् करना चाहिए अथवा बन्धन के कारणों का परित्याग करना चाहिए।

बन्ध का स्वरूप और उसे तोड़ने के सम्बन्ध में प्रश्न

भगवान महावीर स्वामी ने परमकरुणा से प्रेरित होकर भव्य आत्माओं को जब आत्म-स्वरूप का बोध प्राप्त करने और उक्त स्वरूप को आच्छादित करने वाले बन्धन को जानकर उसे तोड़ने का उपदेश दिया। जिसे सुनकर श्री जम्बूस्वामी ने गणधर श्री सुधर्मास्वामी से नम्रतापूर्वक बन्धन के विशिष्ट स्वरूप को जानने की दृष्टि से पूछा—"भगवान महावीर स्वामी ने बन्धन का क्या स्वरूप बताया है ? और आत्मा **क्या** (या कैसे) जानकर उस बन्धन को तोड़ता है ?" **किमाह बंधणं वीरो**—इस पंक्ति में शिष्य की जिज्ञासा बन्धन के स्वरूप को जानने की इसलिए हुई है कि पूर्वोक्त पंक्ति

---

१. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरजं, णाणावरणादि भावेहि॥

२. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८ सू० ३

३. मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः। —तत्त्वार्थसूत्र ८/१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में बंधन को जानकर तोड़ने का उपदेश दिया क्योंकि बन्धन का स्वरूप जाने बिना उससे निवृत्ति नहीं हो सकती और निवृत हुए बिना बन्धन के अभावरूप मोक्ष की संभावना भी नहीं हो सकती। **किंवा जाणं तिउट्टइ**—इससे सम्बन्धित ही दूसरा प्रश्न है—उस बन्धन को कैसे या किस प्रकार जानकर तोड़ा जाय ? ये दोनों प्रश्न ही इस सारे उद्देशक से सम्बद्ध हैं। क्योंकि कर्मबन्धन के कारणभूत परिग्रह, हिंसा आदि अव्रत, चार्वाक आदि मत प्ररूपण रूप मिथ्यात्व तथा बन्धन तोड़ने के सम्बन्ध में प्रमाद, अज्ञानवश नवीन कर्मबन्धन के कारणभूत कषाय और योग के सम्बन्ध में ही इस अध्ययन में विवेचन है।

वीरो—वीर शब्द यह भगवान महावीर के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसे—चतुर्विंशतिस्तव पाठ में '**यासं तह वद्धमाणं च**' में पार्श्वनाथ के बदले पार्श्व, शब्द का '**धम्मं संतिं च वंदामि**' में धर्मनाथ और शान्तिनाथ के बदले धर्म और शान्ति का प्रयोग हुआ है और यही बोध होता है, वैसे ही यहाँ वीर शब्द कहने से महावीर का बोध होता है।

बंधणं— यहाँ बन्धन शब्द से बन्धन के कारणों को ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि बन्धन का स्वरूप तो इस गाथा की प्रथम पंक्ति में लगभग बता दिया गया है। यही कारण है कि आगे की गाथाओं में बन्धन का स्वरूप न बताकर शास्त्रकार ने बन्धन के कारणों का स्वरूप तथा उसकी पहिचान बताई है। जैसे '**धम्मो मंगलं**' इस गाथा में धर्म को मंगल कहा है, किन्तु धर्म अपने आप में मंगल नहीं, मंगल का कारण है, वैसे ही यहाँ अगली गाथाओं में विवक्षित परिग्रह, हिंसा, मिथ्यादर्शन आदि स्वयं बन्धन नहीं, कर्मबन्धन के कारणभूत हैं। कारण में कार्य का उपचार करके यहाँ बंधणं (बन्धन) शब्द का प्रयोग किया गया है। चूँकि कारण के बिना कार्य कदापि निष्पन्न नहीं होता। यदि कारण के बिना ही कार्य हो जाता तो क्षुधानिवृत्ति चाहने वाला भोजन आदि का उपार्जन न करता। इसीलिये यहाँ शास्त्रकार ने इसी लोक-प्रसिद्ध न्यायानुसार कार्य से पहले कारणों का दिग्दर्शन कराया है, ताकि बन्धन के कारणों का स्वरूप भलीभाँति जानकर साधक उनका त्याग कर दे तो कार्यरूप बन्धन को भी रोक सकेगा, उसे भी तोड़ सकेगा, अथवा आत्मा से उन्हें पृथक् कर सकेगा।

शिष्य की जिज्ञासा के समाधान के लिये गणधर श्री सुधर्मास्वामी बन्धन के कारण अगली गाथाओं में क्रमशः बता रहे हैं—

मूल पाठ

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

चित्तवन्तमचित्तं वा परिगृह्य कृशमपि ।
अन्यं वा अनुजानाति, एवं दुःखान्न मुच्यते ॥२॥

अन्वयार्थ

(**चित्तमन्तं**) चित्तवान् अर्थात चैतन्ययुक्त सजीव द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणी, (**वा**) अथवा (**अचित्तं**) चैतन्य-रहित— जड़ सोना-चाँदी आदि (**किसामवि**) तथा तुच्छ वस्तु भुस्सा, तिनका आदि या स्वल्प भी (**परिगिज्झ**) परिग्रह रखकर (**वा**) अथवा (**अन्नं**) दूसरे को परिग्रह रखने की (**अणुजाणाइ**) अनुज्ञा देता है (**एवं**) इस प्रकार से वह जीव (**दुक्खा**) दुःख से (**ण मुच्चइ**) मुक्त नहीं होता ।

भावार्थ

जो व्यक्ति द्विपद, चतुष्पद आदि सचेतन प्राणी को अथवा चैतन्यरहित सोने-चाँदी आदि पदार्थों को, अथवा तृण, भुस्सा आदि तुच्छ पदार्थों को अल्पमात्रा में भी परिग्रह के रूप में स्वयं (ममत्व करके) रखता है, अथवा दूसरों को परिग्रह रखने की अनुमति देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता ।

व्याख्या

पूर्वगाथा में बन्धन के स्वरूप और उससे मुक्त होने के उपाय के सम्बन्ध में प्रश्न था, उसका समाधान करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं '**चित्तमंतं**' ।

परिग्रह बंधन का प्रधान कारण

पूर्वगाथा की व्याख्या में बताया गया था कि बन्धन के मुख्य पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इसलिये यहाँ सर्वप्रथम अविरति के पाँच भेदों—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह—में से सर्वप्रथम परिग्रह के सम्बन्ध में बताया गया है, जो कि तीव्र कर्मबन्धन का कारण है ।

यहाँ सीधे बन्धन को न बताकर बन्धन के कारणों को बताया गया है । बन्धन तो कर्म हैं, लेकिन वे कर्म किन-किन कारणों से बँधते हैं ? इसे बताने के लिये बन्धन के प्रधान कारणभूत परिग्रह का स्वरूप एवं उसका परिणाम इस गाथा में अभिव्यक्त किया गया है ।

संसार के सभी समारंभरूप कार्य 'मैं और मेरा' इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व एवं तृष्णा की बुद्धि से होते हैं, और यही परिग्रह है । यही समस्त कर्मबन्धनों का प्रधान कारण बनता है । इसीलिये सर्वप्रथम परिग्रह का स्वरूप, परिणाम एवं वृत्ति का दिग्दर्शन किया गया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह का लक्षण और पहिचान

'परिगिज्झ'—इस गाथा में परिगिज्झ शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने यह द्योतित कर दिया है कि किसी भी सजीव या निर्जीव भावात्म किंवा मूर्त पदार्थ को परिग्रह रूप से ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह का रूप धारण करता है। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इस प्रकार होता है—**'परि—समन्तात् द्रव्यभावरूपेण गृह्यते इति परिग्रहः'** किसी वस्तु को द्रव्य और भाव रूप से सभी ओर से ग्रहण करना, ममत्व बुद्धि से रखना परिग्रह है।

यहाँ शंका होती है कि अगर ग्रहण करना ही परिग्रह हो तो साधु अपने संयम पालनार्थ रजोहरण, पात्र, अन्य धर्मोपकरण, आहार, वस्त्र, उपाश्रय, पुस्तक, शास्त्र, शरीर आदि ग्रहण करता है, इसलिये ये सब वस्तुएं अपरिग्रही महाव्रती साधु के लिये भी परिग्रह हो जाएंगी।

इसका समाधान यह है कि यों किसी पदार्थ को स्थूल रूप से ग्रहण करने, न करने से वह परिग्रह या अपरिग्रह नहीं हो जाता। वह परिग्रह तभी होता है, जब उसे ममत्व, मोह, मूर्च्छा, आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है। इसीलिये दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

जं पि वत्थं वा पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥

अर्थात्—साधु-साध्वी जो कुछ भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादपोंछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह संयम और लज्जा निवारण के लिए ही। इस कारण उक्त धर्मोपकरण समूह को प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। सभी तीर्थंकरों और आचार्यों ने मूर्छा को ही परिग्रह[1] कहा है, यही बात भगवान महावीर ने कही है।

किन्तु जिनके रग-रग में मूर्छा ममता भरी है, उनके लिये तुच्छ से तुच्छ वस्तु तिनका या चुप भी परिग्रह है और जिनकी बुद्धि में बाह्य वस्तुएँ तो क्या, अपने शरीर के प्रति भी मूर्छा ममता नहीं, उनके लिए विशाल सातमंजिला भवन भी परिग्रह नहीं, सोना, मणि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भी उनके लिये धूल समान हैं। ये सामने पड़े हों और वे सामने से होकर पदार्पण कर रहे हों, फिर भी मन में

---

१. मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्त्वार्थसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्किंचित् भी ममत्वभाव न होने से परिग्रह नहीं। यही बात एक आचार्य ने कही है—

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः॥

अर्थात्—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि ग्रस्त हो चुकी है, उनके लिये सारा जगत ही परिग्रह रूप है। जिनके मन मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित हैं उनके लिये सारा जगत ही अपरिग्रह रूप है। इसीलिये तो इस गाथा के पूर्वार्द्ध में कहा गया है—**'चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।**

इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु चाहे सचेतन हो—धानी दो पैर वाले दास, दासी, स्त्री, पुत्र, माता, पिता हो, या चार पैर वाले गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, हाथी, बकरी, कुत्ता आदि कोई भी प्राणी हो, अथवा अचेतन सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, लकड़ी, महल, बाग, नौहरा, हाट, दुकान या मकान, रुपया, नोट या सिक्का आदि कोई भी अचेतन वस्तु हो, चाहे वह वस्तु छोटी हो या बड़ी, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, थोड़ी मात्रा में हो या अधिक मात्रा में, जब मन में इसके प्रति ममता—मूर्च्छा होगी तो वह चीज परिग्रह हो जाएगी। यों तो संसार का कोई भी पदार्थ अपने आप में परिग्रह या अपरिग्रह रूप नहीं होता। परिग्रह या अपरिग्रह तो उक्त पदार्थ के प्रति ममत्व-मूर्च्छा से लिप्तता-अलिप्तता ही है और वही क्रमशः बन्ध-मोक्ष का कारण बनता है। महाभारत (४/७२) में भी स्पष्ट कहा है—

द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुः निर्ममेति विमुच्यते॥

—बन्ध और मोक्ष के लिये दार्शनिक जगत में दो ही शब्द अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—**'मम'** और **'निर्मम'**। जब किसी वस्तु के प्रति मन-मस्तिष्क में मम (मेरी है) आ जाता है, तब प्राणी कर्मबन्धन से बँध जाता है और जब निर्मम (मेरी नहीं है, मैं उसका नहीं हूँ) आ जाता है, तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।

कई लोग कहते हैं कि चींटी, कीट, पतंग, भ्रमर, कुत्ता, बिल्ली, आदि तिर्यञ्च प्राणी तो सोना, चाँदी, हीरा, मोती आदि वस्तुओं को ग्रहण करते दिखाई नहीं देते, इनके पास कोई वस्त्र, आभूषण, या भोजन, मकान, दुकान या बाग, आदि नहीं होता, ये प्रायः संग्रह करके भी नहीं रखते, तब क्या इन्हें अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता? इसका समाधान पहले ही किया जा चुका है। कोई भी प्राणी तब तक अपरिग्रही नहीं कहला सकता, जब तक कि परिग्रह का मनोयोगपूर्वक त्याग न करे। चींटी, कौआ, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा आदि तिर्यञ्चों के नंग-धड़ंग घूमते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने और पास में कुछ भी न रखने पर भी उनका ममत्वभाव उन वस्तुओं पर से छूटा नहीं, न उन्होंने उक्त वस्तुओं को परिग्रह समझ कर छोड़ा है। इसीलिये शास्त्रकार ने कहा है—'**किसामवि**'—इस शब्द का तात्पर्य यह है कि पदार्थ चाहे मात्रा में अल्प हो, अथवा तुच्छ हो। तिनके या भुस्से का कोई अधिक मूल्य नहीं है, जंगल में जो यों ही घास पड़ी रहती है, किन्तु उसी घास-फूस पर ममता हो जाने के कारण या ममत्व न छोड़ने के कारण वह परिग्रह बन जाती है। अथवा मूर्च्छा की तरह इच्छा को भी परिग्रह कहते हैं, यह बात '**किसामवि**' इस पद के द्वारा द्वारा सूचित की है। इसका एक रूप '**कसमपि**' भी होता है, जिसका अर्थ होता है—परिग्रह बुद्धि से किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये उसके पास जाने का जीव का परिणाम होना[1], यह सब परिग्रह रखना है।

परिग्रह के दो रूप

परिग्रह के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि परिग्रह सिर्फ सचित्त-अचित्त पदार्थ ही नहीं है, पदार्थ सामने विद्यमान न हो या दूर हो, तो भी उस पदार्थ की चाह, तृष्णा या लालसा भी परिग्रह बन जाती है। अथवा क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामवासना, यश-प्रतिष्ठा, विपरीत मान्यता या श्रद्धा आदि की पकड़ भी आसक्ति-पूर्वक होने से वे भी परिग्रह बन जाते हैं। क्योंकि परिग्रह का मुख्य सम्बन्ध ममता, मूर्च्छा, इच्छा, तृष्णा, गृद्धि, आसक्ति, लालसा आदि भावों से है, वस्तु के विद्यमान, व्यक्त या अव्यक्त से इतना सम्बन्ध नहीं। पहले मन में इच्छा या लालसा जन्म लेती है, उसी को सक्रिय रूप से परिणत करने के लिये जीव वस्तु को ग्रहण करता है। इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने परिग्रह के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद किये हैं। बाह्य परिग्रह के भी दो भेद हैं, जिनका उल्लेख '**चित्तमंतमचित्त**' पदों से शास्त्रकार ने किया है। वे हैं सचेतन परिग्रह और अचेतन (जड़) परिग्रह। सचेतन परिग्रह में मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी (द्विपद और चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति, फल, धान्य आदि समस्त प्राणधारी सजीव पदार्थों का समावेश हो जाता है। अचेतन (जड़) परिग्रह में वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमें प्राण (जीव) नहीं होते हैं, जो निर्जीव हैं—जैसे क्षेत्र, वस्तु, रजत, स्वर्ण, माणिक्य, वस्त्र, पात्र, सिक्के, नोट, मकान, दुकान आदि। कुछ आचार्यों ने बाह्य परिग्रह के क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद और कुप्य, ये ९ भेद बताए हैं। भगवती सूत्र में गणधर श्री गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान ने कर्म, शरीर और

---

१. कसनं कसः परिग्रह बुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणामः इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भण्डोपकरण, इन तीनों को परिग्रह बताया है, बशर्ते कि जब तक इनके प्रति ममत्व-भाव का त्याग नहीं किया जाता और आभ्यन्तर परिग्रह, जिसका संकेत **'किसामवि एवं परिगिज्झ'** शब्दों से शास्त्रकार ने किया है, और जिसका सम्बन्ध हृदय और मन से है, वह आभ्यन्तर परिग्रह भी मिथ्यात्व, क्रोध आदि चार कषाय, हास्यादि छह और तीन वेद (नौ नोकषाय) यों कुल मिलाकर १४ होते हैं। संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह या तो जड़ है या चेतन है। जड़ और चेतन में विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं, और उन्हीं को लेकर बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने **'चित्तमंतमचित्तं पि'** ये दो शब्द सूत्ररूप में दे दिये, जिनके आश्रय से ममता, मूर्च्छा, आसक्ति, इच्छा, लालसा, तृष्णा आदि जल द्वारा परिग्रहरूपी वृक्ष का सिंचन होता है, परिग्रहतरु वृद्धिगत होता रहता है और उसके विविध कर्मबन्धन रूपी फल लगते हैं।

परिग्रह रखना, रखाना तथा अनुमति देना अनर्थ का मूल

कई बार मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोच लेता है कि मैं स्वयं किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखूँगा तो बन्धन से बच जाऊँगा, यों सोचकर वह अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री या अन्य सम्बन्धी के पास रख देता है, उनको रखने के लिये दे देता है, तथाकथित परिग्रह उनके नाम से करके उस पर अपना स्वामित्व रखता है, अथवा दूसरे को परिग्रह ग्रहण करा कर या सौंप कर उस परिग्रह से अपना भरण-पोषण करता है, अपने अनेकविध भोगोपभोग में उसका उपयोग करता-कराता है, अथवा रक्षा के लिये अपना परिग्रह किसी दूसरे को सौंप देता है, इस भ्रम से कि मैं परिग्रह से निष्पन्न कर्मबन्धन से छूट जाऊँगा, अथवा अपने से सम्बन्धित प्रियजनों को परिग्रह ग्रहण करने एवं संचित करने की अनुमति देता है, प्रेरणा और प्रोत्साहन देता है, ताकि उसे भी सुख-सुविधाएँ या जीवनोपयोगी साधन-सामग्री सुखपूर्वक मिलती रहें अथवा उसकी सेवा-भक्ति होती रहे। परन्तु शास्त्रकार ने इन सबको परिग्रह ग्रहण करने की तरह ही परिग्रह का कारण मानकर दुःख का मूल माना है। इसी को अभिव्यक्त करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—

'अन्नं वा अणुजाणाइ'।

वस्तुतः परिग्रह स्वयं रखना, स्वयं ममत्व या स्वामित्व की बुद्धि रखकर दूसरे के यहाँ रखना-रखाना अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुमति, प्रेरणा या प्रोत्साहन अपनी सुखलिप्सा से देना, ये सब परिग्रह ग्रहण की कोटि में आ जाते हैं।

परिग्रह : दुःखरूप क्यों और कैसे ?

'एवं दुक्खा ण मुच्चइ'—इस पंक्ति द्वारा शास्त्रकार स्वयं कहते हैं कि इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के (पूर्वोक्त) परिग्रह को स्वयं ग्रहण करके, दूसरों से ग्रहण करवा कर या ग्रहण करने वाले को अनुमति, प्रोत्साहन, प्रेरणा या अनुमोदन प्रदान करके जीव दुःख से मुक्त नहीं होता। क्योंकि प्रथम तो अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की लालसा होती है, उसके लिये काफी प्रबन्ध करना पड़ता है, वह भी क्लेशकारक है, दूसरों का अधिकाधिक परिग्रह देखकर मन में लालसा जागती है, स्वयं परिग्रह प्राप्त करने की। उसके लिए मन में विषाद होता है, दूसरों की खुशामद करनी पड़ती है, फिर कई प्रकार की झिड़कियाँ, अपमान, गाली बगैरह सहनी पड़ती हैं, वह भी दुःखकारक है, इसके पश्चात प्राप्त परिग्रह की रक्षा करने में भी कष्ट होता है। परिग्रह के उपभोग से भी तृप्ति नहीं होती, अतृप्ति और असंतोष का मानसिक दुःख होता रहता है। फिर प्राप्त परिग्रह को कोई नष्ट करता है, चुरा लेता है या अपने कब्जे में कर लेता है, तो उसके कारण दुःख, क्लेश, अशान्ति आदि होती है इसलिए परिग्रही को दुःख से छुटकारा नहीं होता।[1] कहा भी है—

ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः।
यशः सुखपिपासितैरयमसाधनार्थोत्तरैः परैरपसदैः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते॥

—'यह मेरा है' 'मैं इसका स्वामी हूँ', इस प्रकार मेरा और मैं इस अभिमान (मान्यता, परिग्रह) का दाहज्वर जब तक रहता है, तब तक समझो मृत्यु का मुख उसके समक्ष खुला है। तब तक उसके जीवन में ममता के ज्वर के कारण शान्ति की आशा नहीं है। परिग्रह इतना दुखद होते हुए भी यश और सुख के लिप्सु एवं परिणाम में अनर्थ के शिकार बनने वाले मृदु जीव इस नीच परिग्रह को अत्यन्त कष्ट सहकर भी ग्रहण करते हैं।

परिग्रही व्यक्ति को अपने धन की रक्षा की चिन्ता रात-दिन लगी रहती है, चोर, डाकू, आग, पानी आदि का भय तथा सरकार के कोप आदि आपत्तियाँ भी उस पर आती हैं। इसी कारण उसे रात को सुख से नींद भी नहीं आती। वह अपने पुत्र, स्त्री, भाई, स्वजन, दुष्ट, चोर, राजा, मित्र, रिश्तेदार तथा शत्रु आदि से सदा आशंकित रहता है। दूसरे के पास अधिक धन देखकर परिग्रही ईर्ष्या से जलता रहता है, वह दूसरों को अपने बराबर न देखने या नीचा गिराने की चिन्ता करता रहता है। अप्राप्त पदार्थ में भी उसे तभी सुख होता है, जब वैसा पदार्थ दूसरों के पास न हो। परिग्रही व्यक्ति के मन में स्वार्थ भावना के कारण निष्ठुरता आ जाती है, वह अपने दुःख को अधिक महत्व देता है, दूसरों को दुखी देखकर

---

१. अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः दुःखभाजनम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके दुःख की किंचित् भी परवाह नहीं करता। जहाँ परिग्रह है, वहाँ प्रायः द्वेष, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या, स्वार्थ, कपट आदि दुर्गुण भी स्वतः आ जाते हैं। महा-परिग्रही व्यक्ति प्रायः धर्माराधन, परमात्म-भक्ति, साधु-सन्तों की सेवा आदि से विमुख ही रहता है। परिग्रह हिंसा आदि अनेक पापों का मूल है।

यद्यपि केवल परिग्रह ही अनर्थ का मूल नहीं है, हिंसा, असत्य आदि अन्य अनेक पाप भी अनर्थ के मूल हैं; फिर भी शास्त्रकार ने सर्वप्रथम परिग्रह को ही क्यों ग्रहण किया? इसका समाधान यह है कि परिग्रह ही हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, कषाय आदि का मूल कारण होने से समस्त अनर्थ कारणों में मुख्य है। हिंसा आदि अन्य अनेक अनर्थ परिग्रहमूलक हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है कि परिग्रह के लिये लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, मिलावट करते हैं, तौल-नाप में गड़बड़ी करते हैं, लूट, चोरी, डकैती करते हैं, पर-स्त्री-हरण या परदारागमन करते हैं, अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, सबके साथ छल-कपट करते हैं, लड़ाई करते हैं, मार डालते हैं, बड़े-बड़े युद्ध भूमि और सम्पत्ति के लिए ही होते हैं। लाखों मनुष्यों को एकमात्र परिग्रह के लिये व्यक्ति मौत के घाट उतार देता है। यहाँ तक कि सभी पाप परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। परिग्रह के लिये व्यक्ति अपने शरीर को स्वजन को भी कष्ट में डालता है, परिवार, समाज एवं राष्ट्र से द्रोह करता है, कलह करता है, दूसरे का अहित करता है, बुरा चाहता है, दूसरे का अपमान करता है। शास्त्रकारों के आशय के अतिरिक्त, अनुभव भी स्पष्ट है कि संसार में जितने भी पाप हैं वे सब परिग्रह के ही कारण हैं, परिग्रह के लिये ही किये जाते हैं। एक अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधिर्,
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च॥

परिग्रह द्वेष का घर है, धैर्य का नाशक है, क्षमा का शत्रु है, चित्त-विक्षेप का साथी है, मद का भवन है, ध्यान का कष्टदायी रिपु है, दुःख का जन्म-दाता है, सुख का विनाशक है, पाप का खास निवास स्थान है। परिग्रह दुष्ट ग्रह के समान बुद्धिमान पुरुष को भी क्लेश देता है और उसका नाश कर डालता है।

इन सब दृष्टियों से परिग्रह दुःख का स्रोत है, दुःख (प्रतिकूलन वेदन) की प्राप्ति का कारण है। यह तो हुई प्रत्यक्ष दुःख की बात। परोक्ष रूप से भी परिग्रह (ममत्व) से ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मबन्धन तथा उनका असाता वेदनीय रूप उदय, दुःखरूप है। परिग्रही जीव परिग्रह से कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यन्च आदि नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करता है। इस प्रकार परिग्रह से जीव प्रत्यक्ष भी इहलोक में नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करता है और परोक्ष रूप से परलोक में भी उसे अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इसीलिये शास्त्रकार ने **'एवं दुक्खा ण मुच्चइ'** कहकर पूर्वगाथा में प्रस्तुत जिज्ञासा के समाधान के रूप में इसी पंक्ति के अन्तर्गत कर्मबन्धन के कारण-भूत परिग्रह का स्वरूप और परिणाम सूचित कर दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि परिग्रह ही समस्त दुःखरूप कर्मबन्धन का कारण है और परिग्रह का आरम्भ के साथ गाढ़ सम्बन्ध है। आरम्भ करने में हिंसा होती है, तथा परिग्रह भी अनेक प्रकार की हिंसा से बढ़ता है। इसलिये अब तीसरी गाथा में बन्धन की कारणभूत हिंसा का स्वरूप और परिणाम बताते हैं।

मूल पाठ

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

संस्कृत छाया

स्वयमतिपातयेत्प्राणान्, अथवाऽन्यैर्घातयेत्।
घ्नन्तं वाऽनुजानाति, वैरं वर्धयत्यात्मनः ॥३॥

अन्वयार्थ

जो व्यक्ति (**सयं**) स्वयं (**पाणे**) एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों की (**तिवायए**) हिंसा करता है, (**अदुवा**) अथवा (**अन्नेहिं**) दूसरों के द्वारा (**घायए**) वध कराता है, (**वा**) अथवा (**हणंतं**) प्राणियों का घात करते हुए व्यक्ति को (**अणुजाणाइ**) अनुज्ञा-अनुमोदन देता है, वह (**अप्पणो**) अपना (**वेरं**) वैर-शत्रुता, (**वड्ढइ**) बढ़ाता है।

भावार्थ

जो व्यक्ति स्वयं प्राणियों की किसी प्रकार से हिंसा करता है, अथवा दूसरों से हिंसा कराता है, या प्राणियों की हिंसा करते हुए अन्य व्यक्तियों को अनुज्ञा देता है, अनुमोदन करता है, वह उन प्राणियों के साथ और उपलक्षण से अपनी आत्मा के साथ शत्रुता बढ़ाता है।

व्याख्या

हिंसा : कारण, स्वरूप और परिणाम

कर्मबन्धन के पाँच कारणों में से 'अविरति' भी एक कारण है। अविरति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्गत जैसे परिग्रह है, वैसे हिंसा भी है। इसलिये परिग्रह के बाद अब हिंसा को कर्मबन्धन का कारण सूचित करते हुए शास्त्रकार हिंसा का स्वरूप और उसका परिणाम बताते हैं—**'सयं तिवायए पाणे वेरं वड्ढइ अप्पणो'**।

यद्यपि मूलपाठ में हिंसा के कारणों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु अन्यान्य आगमों एवं धर्मग्रन्थों तथा पूर्व गाथा में वर्णित परिग्रह के स्वरूप के आधार पर इतना तो स्पष्ट है कि संसार में जितनी और जिस प्रकार की भी हिंसा होती है, वह अपने शरीर, जीवन, अपनी प्रतिष्ठा, अपनी मानी हुई जमीन, जायदाद, सम्पत्ति, मकान, दुकान आदि वस्तु, अपने माने हुए परिवार, समाज, धर्म, संघ, संस्था, प्रान्त, मत, राष्ट्र, विचार आदि पर ममता-मूर्च्छावश होकर अपनी रक्षा करने, वृद्धि करने के लिये होती है। अपना विरोध करने या उस पर अधिकार जमाने या उसे ग्रहण करने वाले के प्रति मनुष्य हिंसक प्रतिकार वैर, विरोध, निन्दा, द्वेष, मारपीट, उपद्रव या वध करता है। स्वयं के द्वारा हिंसा सफल न होने पर दूसरों में पूर्वोक्त प्रकार का ममत्वभाव, स्वार्थभाव से प्रेरित, प्रोत्साहित करके हिंसा करवाता है या हिंसा में सहयोग देने के लिये तैयार करता है, अथवा दूसरों को उकसा कर हिंसा का समर्थन करता है। इस प्रकार की हिंसापूर्ण उत्तेजना फैला देता है, या हिंसोत्तेजक विचार फैलाता है, जिससे लोग हिंसा के लिये अभ्यस्त हो जाएँ। फिर वह उन हिंसाकर्ताओं को धन्यवाद देता है, उनके द्वारा की गई हिंसा का जोरदार शब्दों में समर्थन करता है, उन्हें हिंसा के लिये उपदेश देता है, अनुमति देता है, हिंसा के पथ पर जाने के लिये बाध्य कर देता है। इस प्रकार चाहे व्यक्ति स्वयं हिंसा करे, दूसरों से हिंसा कराये या हिंसा करने वालों का अनुमोदन करे, तीनों ही प्रकार की हिंसा किसी न किसी प्रकार के ममत्व (मैं और मेरे के परिग्रह) के कारण मन-वचन-काया से होती है और वह कर्मबन्धन का कारण बनती है।

हिंसा कर्मबन्धन का कारण क्यों बनती है इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'वेरं वड्ढइ अप्पणो।'** चूँकि किसी भी प्रकार से हिंसा करने-कराने वाला व्यक्ति उन प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ा लेता है। वैर इसलिये बढ़ाता है कि जिस प्राणी की हिंसा की जाती है, उसके मन में हिंसा करने वाले के प्रति अत्यन्त रोष, घृणा, द्वेष और प्रतिकार की क्रूर भावना जागती है किन्तु कुछ कर नहीं सकता, इसलिये हिंसक के प्रति उसके दिल में वैरभाव बढ़ता जाता है इसी-प्रकार हिंस्य प्राणी के प्रति भी हिंसक के मन में क्रूरता, द्वेष, घृणा और रोष जागते हैं, अपने शरीर, परिवार अथवा अपनी मानी हुई किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु, वस्तु के प्रति राग, मोह और ममत्व जागते हैं। ये राग और द्वेष ही कर्म-बन्धन के कारण हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—**'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं, कर्मबन्धन के मूल कारण हैं। जब हिंसा होती है तब राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति अवश्य होती है। राग-द्वेष आदि का मन में प्रादुर्भाव होना, वचन से रागादिवश वचन निकलना और काया से रागादि आवेश के वश होकर कुकृत्य होना ही तो हिंसा है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में स्पष्ट कहा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है और राग-द्वेषादि की उत्पत्ति होना ही हिंसा है, यही जिनागम का सार है। इस दृष्टि से हिंसा कर्म-बन्धन का कारण बनती है। एक बार उन हिंस्य प्राणियों के साथ वैर बँध जाने के बाद उसकी परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती है, इस वैर परम्परा के कारण कर्मबन्धन में वृद्धि होती रहती है। पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का क्षय नहीं हो पाता किन्तु नये अशुभ कर्म बँधते जाते हैं, क्योंकि वैर परम्परा को समता, क्षमा, दया, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त तप आदि उपायों से जब तक समाप्त नहीं किया जाता, तब तक कर्म-बन्धन का सिलसिला जारी रहेगा, वह रुकेगा नहीं। इसी बात को विशिष्ट सर्वज्ञानी पुरुषों ने अपने ज्ञान के प्रकाश में जानकर '**वेरं वड्ढइ अप्पणो**' से व्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त की है कि 'भव्य पुरुषो ! इस हिंसा से बचो, जो वैर परम्परा को बढ़ाने वाली है और घोर कर्मबन्धन की कारण है।'

हिंसा : क्या और कैसे ?

हिंसा जब कर्म-बन्धन की कारण है, तब प्रश्न होता है कि हिंसा क्या है ? स्थूल दृष्टि वाले लोग जान से किसी प्राणी को मार देना ही हिंसा समझते हैं। क्या हिंसा का यही लक्षण है ? इसका उत्तर शास्त्रकार इस तीसरी गाथा की पंक्ति द्वारा सूचित कर देते हैं—"**सयं पाणे तिवायए।**" अर्थात् प्राणों का अतिपात करना। जैन शास्त्रों में हिंसा के बदले अधिकतर 'प्राणातिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका रहस्य यही है कि हिंसा केवल 'किसी प्राणी को जान से मार डालना' ही नहीं है, अपितु प्राणी के स्वामित्व में निम्नोक्त १० प्राण हैं, उनमें से किसी भी प्राण को आघात पहुँचाना, चोट पहुँचाना, अंग-भंग कर देना, प्राणों को मार-पीट करके घायल कर देना, अपमानित करके प्राणों को ठेस पहुँचाना या गाली एवं व्यंग बाणों के द्वारा मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाना, धमकी देकर, भय दिखा कर या आतंक जमा कर प्राणी को भयभीत व व्यथित कर देना, विकास, प्रगति, गति या तरक्की को रोक देना, प्राणी का दम घोंट देना, श्वास रोक देना, अन्धेरे में दमघोंट कारागार में बन्द कर देना, हाथ-पैर जकड़ कर बाँध देना, भूखा-प्यासा रखना, स्वतन्त्रता में बाधा डालना या नजरबन्द कैद कर देना, परस्पर फूट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डालकर एक दूसरे की चुगली खाकर आपस में भिड़ा देना, द्वेषवश-रोषवश तरह-तरह की यातनाएँ या शारीरिक सजाएँ देना, धूप में खड़ा कर देना, अत्यन्त बोझ लाद देना, इधर-उधर तेजी से दौड़ाना, प्राणियों को आपस में लड़ाकर मारना या तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रों के प्रहार से घायल कर देना या मार देना—ये और इस प्रकार की हिंसा की विविध प्रक्रियाएँ हिंसा हैं। जान से मार डालना हिंसा की अन्तिम क्रिया है।

हाँ तो वे दस प्राण इस प्रकार हैं—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ताः, तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

लोक में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के नाम से पंचप्राण प्रसिद्ध हैं, वे प्राणवायु हैं। 'श्वास और उच्छ्वास' नामक दो प्राण ही प्राणवायु के अन्तर्गत आते हैं, लेकिन जैन शास्त्रों में 'प्राण' एक पारिभाषिक शब्द है, उसका विशिष्ट अर्थ होता है। उसके निम्नोक्त दस प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-बल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय-बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय-बल प्राण, (५) स्पर्शनेन्द्रिय-बल प्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचनबल प्राण, (८) काय-बल प्राण, (९) श्वासोच्छ्वासबल प्राण और (१०) आयुष्यबल प्राण। ये दस द्रव्य प्राण हैं; और चार भावप्राण हैं—ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख। इन दस द्रव्यप्राणों और चार भावप्राणों में से किसी भी एक या अनेक का प्राणी की आत्मा या शरीर से वियुक्त (पृथक) करना प्राणातिपात या हिंसा है। निष्कर्ष यह है कि इन दस द्रव्यप्राणों या चार भावप्राणों में से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाना, हानि पहुँचाना, पीड़ा देना, दबाना, सताना, डराना, डुबाना, जलाना, विकास में रुकावट डालना, आपस में टकराना, फेंकना, पीटना, श्वास रोक देना, जान से मार देना, बेहोश कर देना, दुखित कर देना, हैरान-परेशान करना, भगाना, थकाना, भूखे-प्यासे रखना, जकड़कर बाँध देना, अतिभार लादना आदि सब प्राणघातक[1] क्रियाएँ प्राणातिपात (हिंसा) के अन्तर्गत आ जाती हैं।

इसलिये हिंसा का लक्षण[2] है—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों

---

१. जैसे कि इरियावहिया (ईर्यापथिक) पाठ में हिंसा की विविध क्रियाएँ बताई हैं—
जे मे जीवा विराहिया, एगिन्दिया, बेइन्दिया, तेइन्दिया, चउरिंदिया, पंचेन्दिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया।

२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पूर्वोक्त दस द्रव्यप्राणों में से किसी प्राण का घात प्रमाद एवं कषाय से युक्त मन, वचन और काया (योग) से स्वयं करना, दूसरों से कराना और करते हुए को अनुमति या अनुमोदन देना हिंसा है।[1]

हिंसा : कृत-कारित-अनुमोदित रूपों में समान

कई धर्मभीरु लोग यह समझते हैं कि हमने स्वयं अपने मन-वचन-तन से हिंसा नहीं की, दूसरे से करा ली तो इसमें हमें हिंसा का पाप क्यों लगेगा ? अथवा कोई स्वतः हिंसा कर रहा है, हमने उसे हिंसा करने को कहा नहीं, किन्तु हम उसके द्वारा मारे हुए जीव के मांसादि पदार्थ का उपयोग कर लेते हैं, अथवा हम स्वयं हिंसा-निष्पन्न मांसादि का उपयोग नहीं करते, सिर्फ उसे बेचते हैं कोई खाए-पिए इससे हमें क्या ? हम तो निर्लेप हैं, सिर्फ उस हिंसा निष्पन्न वस्तु को बेचने की दलाली कर लेते हैं। फिर हमें हिंसा क्यों लगेगी ? अथवा हमने हिंसा की नहीं, कराई नहीं, सिर्फ जो हिंसा हो चुकी है, या की जा रही है उसे देखकर आनन्दित हो उठे, मन बहला लिया, पशुओं को आपस में लड़ते-मरते देखकर या मनुष्यों को परस्पर मार-पीट करते देखकर विनोद या आमोद-प्रमोद का आनन्द लूट लिया, या थोड़ा-सा उकसा कर किसी की होती हुई हिंसा को जल्दी समाप्त करा दिया या किसी दुष्ट हत्यारे या पापी के वध का समर्थन कर दिया तो इसमें हमें हिंसा करने का दोष क्यों लगेगा ?

इस पर एक, दूसरे दृष्टिकोण से सोचें—एक व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठित है, धर्मभीरु भी है किन्तु धन के अतिलोभ में आकर या स्वार्थ के वश, अथवा ममत्व वश अपने पथ में बाधक, विरोधी या धन सम्पन्न व्यक्ति को स्वयं तो नहीं मारता किन्तु किसी डाक्टर को कहकर या किसी गुंडे या हत्यारे को चुपचाप कुछ धन का लोभ देकर उसे विष दिला देता है, या शस्त्र से मरवा डालता है, कुए तालाब में धक्का देकर मरवाता है, या फिर धोखे से मरवाता है। अथवा स्वयं मारता-मरवाता नहीं, मारने का उपदेश देता है, इस प्रकार का प्रोत्साहन देता है, ऐसे विचारों का प्रसार करके मारने का अनुमोदन-समर्थन करता है, तो क्या ऐसे व्यक्ति को हिंसा का पाप नहीं लगेगा ? इसी भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये शास्त्रकार मूल पाठ में स्पष्ट उल्लेख करते हैं—**अदुवाऽन्ने हिं घायए, हणंतं वाऽणुजाणाइ।**'

---

१. यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि स्वयं हिंसा करने की तरह दूसरों से कराने या दूसरे द्वारा की गई हिंसा से निष्पन्न वस्तु का उपयोग करने से व्यक्ति हिंसा के पाप से बच नहीं जाता, बल्कि समाज की आँखों में धूल झोंकने और समाज की दृष्टि में अपने आपको धर्मात्मा या प्रतिष्ठित बनकर रखने के लिए वह दूसरों से हिंसा करा कर या करने के लोभ से प्रोत्साहन देकर या प्रेरणा करके वंचना के पाप का अधिक भागी होता है तथा जब तक व्यक्ति हिंसा से निष्पन्न वस्तु को उपयोग करने का त्याग नहीं कर लेता, तब तक वह उसका उपयोग करेगा, तो परोक्ष रूप से उसे हिंसा के अनुमोदन का पाप लगेगा ही। एक आदमी रेशमी वस्त्र पहनता है, वह यह समझता है, मैंने शहतूत के कीड़ों को मारने का कहा नहीं, मैंने हिंसा कराई नहीं, मैं तो रेशमी वस्त्र का उपयोग कर लेता हूँ, तो क्या वह हिंसा के पाप से बच सकता है। यों तो बर्मा में कई दुकानों पर साइन बोर्ड लगा होता है—'यह बकरा तुम्हारे लिये नहीं काटा गया है' और भोले-भाले लोग उसका मांस खरीद कर खा जाते हैं और समझते हैं कि हमें हिंसा का पाप नहीं लगा। क्या आपका दिल उसे हिंसा के पाप से मुक्त कहेगा ? कदापि नहीं। इसीलिये चाणक्यनीति में कहा गया है—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

—किसी जीव की हिंसा का अनुमोदन करने वाला, दूसरे के कहने से किसी का वध करने वाला, स्वयं उस जीव का घात करने वाला, जीवहिंसा से निष्पन्न मांस आदि को खरीदने-बेचने वाला, मांस आदि चीज को पकाने वाला, परोसने वाला या उपहार देने वाला और हिंसा से निष्पन्न उस मांसादि वस्तु को स्वयं खाने वाला, उपभोग करने वाला ये सब हिंसक की कोटि में हैं।

इसलिये साक्षात् या परम्परा से जो मन, वचन या काया से पूर्वोक्त दृष्टि से हिंसा का कर्ता है, वह हिंसक ही है। अथवा जो हिंसा का अनुमोदन, समर्थन या अनुमति देता है, प्रोत्साहन देता है, उसकी प्रशंसा करता है, उसे धन्यवाद देता है या हिंसा को प्रोत्साहन देने या उत्तेजन देने वाले विचारों को लेख, पुस्तक, ग्रन्थ आदि में प्रकाशित करके उसका प्रचार-प्रसार करता है, वह एक प्रकार से हजारों वर्षों तक हिंसा की परम्परा को फैलाता है; इसलिये वह भी हिंसक की कोटि में है। जैसे यज्ञ में या देवी-देवों के नाम से पशुबलि देने की प्रथा को प्रचलित करने वाला व्यक्ति हिंसा का समर्थक ही कहा जायेगा।

वेरं वड्ढइ अप्पणो—इस तरह किसी भी प्रकार से हिंसाकर्ता व्यक्ति इस जन्म में जिन प्राणियों की हिंसा करता-कराता है, उन प्राणियों के साथ उस हिंसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ता का वैर बंध जाता है। वे प्राणी जन्मान्तर में उस हिंसाकर्ता से अपने वैर का बदला लेते हैं, अर्थात् उस भूतपूर्व हिंसकों को वे मारते हैं। उसके पश्चात अगले जन्म में फिर वे भूतपूर्व हिंसक अपने हिंसकों से वैर का प्रतिरोध लेने हेतु उन्हें मारते हैं। इस प्रकार अरहटघटिका यंत्र (रेहट) के न्याय से वैर की परम्परा बढ़ती ही चली जाती है जिनके कारण कर्मबन्धनरूप दुखों की परम्परा से वह जीव सहसा मुक्त नहीं हो पाता।

'वेरं बड्ढइ अप्पणो' इस वाक्य का एक दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता है। वह यह है कि इस प्रकार हिंसा करने, कराने या अनुमोदन करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा के साथ भी वैर बढ़ाता रहता है। क्योंकि जब वह किसी प्राणी की हिंसा करता है, तो वह अपनी ही भावहिंसा करता है। दूसरे, प्राणी का वध तो कर सके या न भी कर सके, कषायों और राग-द्वेष के वश अपनी आत्मा की तो भावहिंसा कर ही लेता है और अपनी आत्मा का अहित करने या उत्पथ पर ले जाने वाला जीव आत्मा की हिंसा करके अपनी आत्मा का शत्रु बन जाता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिओ सुपट्ठिओ॥

—आत्मा ही अपने लिये दुखों और सुखों का कर्ता भोक्ता है। आत्मा ही विपरीत मार्ग पर प्रस्थान करने पर अपना शत्रु बन जाता है और सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा ही अपना मित्र बनता है।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दूसरे प्राणियों की हिंसा करने-कराने-अनुमोदन करने से आत्मा ही अपने राग-द्वेषादि परिणामों से अपनी भावहिंसा करके भयंकर कर्मबन्धन के चक्र में अपनी आत्मा को डाल देता है, अतः ऐसा आत्मा ही अपना शत्रु बन कर वैर परम्परा को बढ़ाता है, जिसके फलस्वरूप हजारों वर्षों तक आत्मा अपना ही शत्रु बना रहता है। वैर बढ़ाता चला जाता है।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि भी बन्धन के कारण

इस तीसरी गाथा के मूलपाठ में 'प्राणातिपात' शब्द उपलक्षण रूप[1] है। मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह आदि भी बन्ध के कारण हैं क्योंकि मृषावाद आदि का सेवन करते समय आत्मा के भावप्राणों की हिंसा अवश्य होती है, इसलिये मृषावाद आदि भी हिंसा के अन्तर्गत समझ लेने चाहिए। दूसरी तरह

१ जो दूसरे का भी बोध कराता है, उसे उपलक्षण कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सोचें तो मृषावाद आदि का सेवन करने में आत्मा के शुभ तथा शुद्ध परिणामों की हिंसा होती ही है, अतः आत्मा के शुद्ध परिणामों की हिंसा होने के कारण मृषावाद आदि का समावेश 'हिंसा' में ही हो जाता है जैसा कि कहा है—

आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेति ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्य-बोधाय ॥ ४२ ॥

—पुरु० सि०

अर्थात्—आत्मा के परिणामों की हिंसा के कारण होने से असत्य आदि सभी एक तरह से हिंसा ही हैं। हिंसा में ही इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। मृषावाद आदि पापास्रव तो केवल शिष्यों को सरलता से बोध प्राप्त कराने के लिए बताए हैं।

अतः कर्मबन्धन के कारणभूत 'अविरति' के परिग्रह, हिंसा आदि पाँचों प्रकारों का स्वरूप और परिणाम एक तरह से शास्त्रकार ने बता दिये हैं। इसलिये असत्य, स्तेय (चोरी) और अब्रह्मचर्य (मैथुन) को भी मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप में, कर्मबन्धन के कारण समझ लेने चाहिए।

अगली गाथा में फिर बन्धन के कारण का स्वरूप बताते हैं—

मूल पाठ

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए ॥ ४ ॥

संस्कृत छाया

यस्मिन्कुले समुत्पन्नो, यैर्वा संवसेत् नरः ।
ममायं लुप्यते बालः, अन्येष्वन्येषु मूर्च्छितः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ

(**नरे**) मनुष्य (**जस्सिं कुले**) जिस कुल में, (**समुप्पन्ने**) उत्पन्न हुआ है। (**जेहिं वा**) अथवा जिनके साथ, (**संवसे**) निवास करता है। (**बाले**) वह बाल—अज्ञजीव (**ममाइ**) उनमें ममत्व बुद्धि रखता हुआ (**लुप्पई**) पीड़ित होता है। (**अण्णे अण्णेहिं**) वह अज्ञानी दूसरी-दूसरी वस्तुओं में (**मुच्छिए**) मूर्च्छित-आसक्त होता रहता है।

भावार्थ

मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, और जिनके साथ निवास करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उनमें ममता रखता हुआ वह पीड़ित होता है। वह मूढ़ दूसरे-दूसरे पदार्थों में आसक्त होता रहता है।

व्याख्या

जन्म, संवास, अतिसंसर्ग आदि का ममत्व

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उग्र-कुल, भोगकुल आदि कुल में जन्म लेता है, उस कुल के साथ उसकी ममता, मूर्च्छा गाढ़ से गाढ़तर होती जाती है। उपलक्षण से जिस किसी देश, प्रान्त, नगर, राष्ट्र आदि में या हिन्दू, मुसलमान, जैन, वैष्णव आदि कौम में मनुष्य उत्पन्न होता है, उसके साथ उसका मोह एवं स्नेह होता जाता है। वह उस कुल, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त, भाषा, कौम आदि को अपना समझता है, और उससे भिन्न कुल आदि को पराया। इससे एक के प्रति जहाँ राग (मोह) बन्धन होता है, वहाँ दूसरों के प्रति द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, वैर-विरोध प्रायः हो जाता है। अविवेकी और मोहान्ध व्यक्ति स्वार्थवश अपने माने हुए तथाकथित कुल आदि का ही पक्ष लेता है, उसके लिये मरने-मारने को तैयार हो जाता है, उसकी ही सुख-सुविधाओं एवं स्वार्थों का ध्यान रखता है, उसकी ही भौतिक उन्नति के लिये प्रयत्न करता है, फिर भले ही वह कुल आदि विपथगामी हो, भले ही उस कुल आदि का कोई व्यक्ति अपराधी हो, दोषी हो या अनाचारी हो। ऐसे किसी भी कुल (वंश, राष्ट्र, जाति, कौम आदि) के व्यक्ति की जरा भी पराजय, अवनति अथवा यातना की बात सुनता है तो वह ममत्ववश दुखी होता रहता है। अगर उस व्यक्ति से अपना कोई स्वार्थ सधता था, वह भंग हो जाता है तो वह तिलमिला उठता है अथवा उसकी मृत्यु होने पर वह शोक, विलाप, चिन्ता, रुदन करता है, उसके वियोग में सिर पटक-पटक कर मर जाता है, छाती-माथा कूटता है, आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार संकीर्ण स्वार्थ और ममत्व में वह रचा-पचा रहता है।

इसी प्रकार जिन माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र-पुत्री, मामा, चाचा, नाना, बाबा, दादी, श्वसुर, सास, साला आदि के साथ निवास करता है उनके प्रति भी उसका ममत्वभाव हो जाता है। मनुष्य जिनके संसर्ग में रहता है, उनके प्रति उसका मोह और राग हो जाता है। मोहवश वह यही समझता है 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ।' इस प्रकार के ममत्वभाव के कारण वह उनसे सहायता, सेवा और स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा रखता है, अगर वह आशा या अपेक्षा पूर्ण हो जाती है, तब तो मन में प्रसन्न रहता है, अन्यथा उनके प्रति अप्रसन्न होता है, मन में दुःख पाता है, कुढ़ता है। उन्हें भला-बुरा कहता है। वे सम्बन्धीजन भी उससे बहुत बड़ी आशा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखते हैं, परन्तु जब उनकी वह आशा पूर्ण नहीं होती है तो वे उससे विमुख हो जाते हैं। इस प्रकार एक दूसरे के प्रति ममत्वभाव बढ़ाते रहते हैं। इसी ममत्व परम्परा के कारण वह अज्ञानी जीव राग-द्वेषवश कर्मबन्धन के कारण कर्मोपदिष्ट नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव इन चार गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक दुःख पाता है, पीड़ित होता है। ऐसे जीव को शास्त्रकार ने 'बाल' कहा है। बाल का अर्थ है अज्ञ, सत् और असत् के विवेक से रहित।

वह केवल अपने माता-पिता आदि सम्बन्धी एवं इष्ट जनों पर ही नहीं, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित द्विपद, चतुष्पद प्राणी, सोना, चाँदी, मणि, माणिक, सिक्के, घर के सामान, सुख-सामग्री, मकान, खेत, बाग, दुकान, जमीन, सम्पत्ति आदि विभिन्न वस्तुओं पर भी जो उसके सम्पर्क में आती हैं, जिनके साथ रात-दिन वास्ता पड़ता है उनके प्रति भी गाढ़ आसक्त हो जाता है। उनके टूटने, फूटने, नष्ट होने, चुराये जाने, लूटे जाने, छीने जाने या आग-पानी आदि से वियोग हो जाने पर गाढ़ मूर्च्छा (आसक्ति) के कारण वह रोता-पीटता है, विलाप करता है, खाना-पीना छोड़ देता है, आँसू बहाता है, शोक करता है, चिन्ता में निमग्न हो जाता है, और कभी-कभी आत्महत्या भी कर बैठता है अथवा अति शोक से उसकी हृदयगति अवरुद्ध हो जाती है। ये सब ममत्व के खेल हैं। प्राणी उन तुच्छ वस्तुओं के मोह पाश में बँध कर रात-दिन नये-नये कर्मों के बन्धन करता रहता है। ऐसा व्यक्ति कर्मबन्धन की परम्परा से सहसा मुक्त नहीं हो पाता। यही शास्त्रकार का आशय है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं—**'जस्सिं कुले ···· मुच्छिए।'**

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जन्म लेते ही पहले माता-पिता के सम्पर्क में आता है, उनसे स्नेह (राग) करता है, क्योंकि उनके समीप ही अधिक रहता है। फिर भाई-बहन के साथ स्नेह होता है। फिर खेल-कूद में मित्रों और हमजोलियों के साथ उसका स्नेह हो जाता है। बाल्यावस्था बीत जाने पर युवावस्था में आने पर पत्नी आदि पर स्नेह करता है। फिर जब पुत्र, पौत्र आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। इसके साथ ही अपने माने हुए कुल, वंश, जाति, देश, सम्प्रदाय, कौम, प्रान्त, राष्ट्र आदि के प्रति भी ममत्व बढ़ता जाता है और उन तमाम पदार्थों के प्रति भी उसकी आसक्ति हो जाती है, जिनके सम्पर्क में वह आता है, जिनको वह अपने मान लेता है। उन सब सचित्त-अचित्त वस्तुओं के प्रति ममत्वबद्ध होकर कर्मबन्धन के फलस्वरूप यहाँ से मर कर परलोक में जाता है, वहाँ फिर नये माता-पिता आदि से ममत्व बन्धन स्थापित हो जाता है। इसलिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह जन्म परम्परा के साथ ममत्व परम्परा का उल्लंघन नहीं कर पाता। इसी कारण कर्मबन्धन की शृंखला से मुक्त नहीं हो पाता।

पूर्वोक्त गाथाओं में बन्धन और उसके कारणों का स्वरूप बताया गया, अब **'कि वा जाणं तिउट्टइ'** इस प्रश्न को ध्यान में रख कर शास्त्रकार समाधान करते हैं—

मूल पाठ

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥ ५ ॥

संस्कृत छाया

वित्तं सोदर्याश्चैव सर्वमेतन्न त्राणाय।
संख्याय जीवितञ्चैव कर्मणस्तु त्रुट्यति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ

(**वित्तं**) धन-सम्पत्ति (**चेव**) और (**सोयरिया**) सहोदर भाई, बहन, आदि (**सव्वं एयं**) ये सब, (**न ताणइ**) रक्षा नहीं कर सकते। (**संखाए**) यह जान कर (**जीवियं चेव**) तथा जीवन को भी स्वल्प जानकर जीव (**कम्मुणा उ**) कर्म से (**तिउट्टइ**) पृथक हो जाता है।

भावार्थ

चल-अचल, सचित्त-अचित्त, धन-सम्पत्ति एवं सगे भाई-भगिनी आदि ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं[1] तथा जीवन भी स्वल्प है—यह भली-भाँति जानकर ही जीव कर्म से पृथक हो जाता है।

व्याख्या

बन्धन तोड़ने का उपाय

इस अध्ययन की प्रथम गाथा में यह पूछा गया था—'क्या और किस को जानकर व्यक्ति बन्धन को तोड़ पाता है?' इसके उत्तर में इस गाथा में बन्धन तोड़ने और कर्मबन्धन से पृथक होने का सरल उपाय बताया है—**'संखाए जीवियं**

---

१. **'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्थ'** (प्रमादी मनुष्य सचित अचित या चल-अचल धन से इस लोक में या परलोक में कोई त्राण-शरण या सुरक्षा नहीं पा सकता)। —**उत्तराध्ययन**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेव कम्मुणा उ तिउट्टइ', तात्पर्य यह है कि बन्धन यहाँ कोई लोह शृंखला, रस्सी आदि का नहीं है, जिसे तोड़ने के लिये शरीर की ताकत लगानी पड़े, यहाँ '**परिणामे बन्धः**' इस अनुभव सूत्र के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणामों —पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित ममत्व, परिग्रह एवं हिंसा के भावों—के अनुसार जो कठोर कर्मबन्धन हुए हैं, वे मन से हुए हैं और उन बन्धनों को तोड़ना भी मन से है। मन को मोड़ने और दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। क्योंकि '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**' इस सूत्र के अनुसार मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष (मुक्ति) का कारण उनका मन ही है। जिस मन को पहले धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीलों के प्रति ममत्व तथा उनके लिये अनेक प्रकार की हिंसा में लगाया था, उसको एकदम वहाँ से मोड़ कर यह विचार करो कि जिस जीवन के लिये तुम इतना उखाड़-पछाड़ कर रहे हो, वह तो क्षणिक एवं नाशवान है तथा जिन चल-अचल एवं द्विपद, चतुष्पद आदि सचित्त प्राणिधन एवं स्वर्ण, रजत, रत्न, मणि, मणिक, भूमि, खेत, मकान, दुकान आदि अचित्त धन से और भाई, बहन, माता, पिता आदि कुटुम्बीजनों से तुम रक्षा की आशा लगाए बैठे हो, वह भी निरर्थक है। क्योंकि समय आने पर एवं आयुष्य पूर्ण होने के समय ये सब कोई भी तुम्हें बचा नहीं सकते। कोई भी तुम्हें प्राणदान नहीं दे सकते। मृत्यु से रक्षा करने में ये कोई भी समर्थ नहीं हैं। चाहे जितना धन किसी को रिश्वत के रूप में दे दो, या डाक्टर, वैद्य, हकीम, यंत्रवादी, तंत्रवादी, मंत्रवादी, देवी-देव आदि को चाहे जितना धन दे दो, फिर भी वे मृत्यु को रोकने में समर्थ नहीं है। माता-पिता या भाई-बहन थोड़ी बहुत सेवा कर सकते हैं किन्तु कर्मों के फल तो जिसने बाँधे हैं, उसे ही भोगने पड़ेंगे, दूसरे कोई भी व्यक्ति उसके बदले में कर्मफल भोग नहीं सकते। ऐसी निरुपाय स्थिति में उचित यही है कि मन से इन सब के प्रति आशा, तृष्णा, मोह, ममता या मूर्च्छा के रूप में जो ममत्व बाँध रखा है, उसे मन से बिलकुल निकाल दें। ममत्व के मन से निकालते ही कर्मबन्धन स्वयं हट जायेंगे, आत्मा कर्म-बन्धन से छूट जायगा। 'मनुष्य ने मन से ही कर्म-बन्धन बाँधे हैं, इन्हें इसी प्रकार के प्रखर चिन्तन-बल से एक झटके में तोड़ फेंके।'

वित्तं सोयरिया चेव—'वित्त' शब्द से यहाँ केवल सोना, चाँदी या सिक्के आदि अचित्त (जड़) धन ही नहीं, चेतन धन भी ग्रहण कर लेना चाहिए। '**सोयरिया**' शब्द से एक ही उदर से जन्म लेने वाले सहोदर भाई-बहन ही नहीं, तमाम कुटुम्बीजनों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इतना ही नहीं, शास्त्रकार का आशय '**वित्त**' और '**सोयरिया**' इन दो पदों से संसार के समस्त सचित्त-अचित्त परिग्रह से है, जिनका पहले वे उल्लेख कर चुके हैं। इसलिये यहाँ ये दोनों शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार भर के परिग्रह के प्रतीक हैं। इसलिये इस गाथा के दूसरे चरण में कहा है—**'सव्वमेयं न ताणइ'**—अर्थात ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। आशय यह है कि **'सव्व'** शब्द से यहाँ शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओं में वर्णित सभी ममत्व के कारणभूत पदार्थों एवं सम्बन्धी जनों का स्मरण करा दिया है। **'न ताणइ'** (त्राण—रक्षण करने में समर्थ नहीं हैं) कहकर शास्त्रकार ने शास्त्र-पाठक पर छोड़ दिया है कि वह प्रसंगानुसार पूर्वोक्त गाथाओं से इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ लें—ये सब किसकी रक्षा नहीं कर सकते ? तथा ये सब किससे रक्षा करने में समर्थ नहीं है ? प्रथम प्रश्न का उत्तर तो इससे पूर्व की गाथा के आशयानुसार यह है कि 'जो यह मान बैठा है कि माता-पिता, भाई-बहन आदि या ये धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि मेरी रक्षा करेंगे, 'मैं इनका हूँ' 'ये मेरे हैं' फिर समय पर ये मुझे किसी न किसी तरह बचा लेंगे। मेरे प्राणों की रक्षा करेंगे।' दूसरे प्रश्न का उत्तर **'एवं दुक्खा ण मुच्चइ'** इस पंक्ति में आ जाता है, कि कोई भी धन-सम्पत्ति या कुटुम्बी जन शारीरिक, मानसिक दुःखों, रोग, जरा, मृत्यु आदि के भयंकर दुःखों या जन्म-मरण की परम्परा के घोरतम कष्टों से तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। मनुष्य अपनी रक्षा स्वयं ही कर सकता है, मन को ममत्व से हटा कर समत्व की ओर मोड़ कर। केवल दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है। तभी वह जिन कर्म-बन्धनों में जकड़ा हुआ था, उन कर्म-बन्धनों से मुक्त (पृथक) हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि संसार के जितने भी सजीव-निर्जीव पदार्थ हैं, जिन पर व्यक्ति ने ममत्वभाव स्थापित करके कर्म-बन्धन बाँधे हैं, वे सब अति कष्टदायी शारीरिक, मानसिक प्राणान्तक पीड़ा भोगते हुए ममत्वी जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं, तथा प्राणियों का जीवन भी स्वल्प एवं नाशवान है यह सम्यक् प्रकार से मन-मस्तिष्क में ठसाकर—ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से सचित्त-अचित्त तमाम प्रकार का परिग्रह, जीवहिंसा और स्वजन वर्ग के प्रति ममत्व आदि बन्धन स्थानों, कर्म-बन्धन के कारणों का हृदय से सर्वथा त्याग कर दे तो मनुष्य कर्म-बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अथवा उक्त बातों को भली-भाँति जानकर जीव संयमानुष्ठानरूप क्रिया द्वारा बन्धन से छूट सकता है।

प्रश्न होता है कि जब व्यक्ति उन कुटुम्बी जनों या धन-सम्पत्ति के प्रति इतना स्नेह रखता है, उनके लिये स्वयं प्राण देने को तैयार रहता है, तब क्या वे उसकी पूर्वोक्त दुःखों से रक्षा नहीं कर सकेंगे ?

शास्त्रकार ने तो इसका उत्तर स्पष्ट इन्कार में दिया है—**सव्वमेयं ण ताणइ**। अनुभव से भी यह प्रत्यक्ष देखा जाता है—एक व्यक्ति असाध्य रोग से पीड़ित है, मरण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शय्या पर पड़ा हुआ है, सम्पूर्ण परिवार उसकी परिचर्या में जुटा हुआ है, वैद्यों-हकीमों की कतार लगी हुई है, मंत्रयंत्रवादी भी अपना आसन जमाए जप कर रहे हैं, विपुल धन-सम्पत्ति में यह व्यक्ति समृद्ध है, नौकर-चाकरों की भी घर में कमी नहीं है, किन्तु जब मृत्यु आती है या रोगजनित पीड़ा होती है, अथवा अन्य शारीरिक, मानसिक कष्ट होता है, तब वह टुकुर-टुकुर देखता रह जाता है, कोई उसे पीड़ा या मौत से बचा नहीं सकता। इसीलिये तो नीतिकार कहते हैं—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, दारा गृहे बन्धुजनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

धन खजाने में या भूमिगृह में पड़ा रहता है, पशु बाड़े में बँधे रह जाते हैं, पत्नी घर में रह जाती है, बन्धुजन उसके शव के साथ श्मशान तक जाते हैं, देह भी चिता तक साथ रहता है, परलोक के पथ में तो इन सबको छोड़कर जीव अकेला ही जाता है, केवल उसका किया हुआ धर्माचरण अवश्य साथ में जाता है।

जिनके पास बड़ी भारी सेना थी, हाथी-घोड़े थे, भरा-पूरा परिवार था, असंख्य नौकर-चाकर थे, धन-दौलत का अम्बार लगा हुआ था, उनके साथ भी मृत्यु के समय कोई नहीं गया। कितनी असहायता, पराधीनता एवं अशरणता है, प्राणी की? इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मबन्धन से मुक्त होना हो तो इन सबके प्रति ममत्वभाव का एकदम परित्याग कर दो। मन से कतई निकाल दो कि 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ'।[1]

इस अध्ययन का नाम स्वसमय-परसमय-वक्तव्यता है। इसके अनुसार शास्त्रकार ने स्वसिद्धान्त (जैन सिद्धान्त) की दृष्टि से बन्धन और उनके कारणों का स्वरूप एवं उनसे विरत होने का उपाय बतला दिया, साथ ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, बन्धन के इन पाँच मुख्य कारणों में से अविरतिरूप कारण के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया। अब परसमय के वक्तव्य के सन्दर्भ में शास्त्रकार दो बातें मुख्य रूप से सूचित करते हैं—"एक तो, दूसरे मतवादियों या दार्शनिकों की बन्धन-विषयक मान्यता तथा आत्मा के स्वरूपबोध के

---

१. **न सा मह, नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं**—जिस किसी भी स्त्री, पुत्र, माता, पिता तथा सांसारिक सुख-सामग्री पर तुम्हारा मोह है, उसके विषय में यह सोचो कि वह मेरी नहीं है और न ही मैं उसका हूँ। आत्मत्राता इस प्रकार मन में प्रविष्ट राग या मोह को निकाल फेंके।

—दशवैकालिक, अ० २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध में उनका मन्तव्य क्या है ? दूसरे पूर्वाग्रह या मिथ्याभिनिवेश रूप मिथ्यात्व भी कर्मबन्ध का एक प्रबल कारण है, यह उन-उन मतवादियों में किस-किस रूप में पाया जाता है ?"

प्रकारान्तर से सत्यग्राही स्वसिद्धान्त तत्पर साधकों को इस मिथ्यादर्शन से बचने या अपने आप की रक्षा करने की बात भी परोक्ष रूप से सूचित कर दी है। देखिये शास्त्रकार की उनके सम्बन्ध में निष्पक्ष प्रतिपादनरूप गाथा—

मूल पाठ

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समण - माहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

संस्कृत छाया

एतान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य, एके श्रमण-ब्राह्मणाः ।
अजानन्तो व्युत्सिताः, सक्ताः कामेषु मानवाः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**एए गंथे**) इन पूर्वोक्त ग्रन्थों को (**विउक्कम्म**) छोड़कर (**विउस्सित्ता**) स्व-कल्पित ग्रन्थों या सिद्धान्तों में अभिनिवेशपूर्वक विविध प्रकार से बद्ध (**एगे समण-माहणा**) कई बौद्ध आदि श्रमण और बृहस्पति मतानुयायी ब्राह्मण (**अयाणंतो माणवा**) जो सत्य-सिद्धान्त के परमार्थ-वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ मानव हैं, (**कामेहि**) इच्छारूप और मदनरूप काम-भोगों में आसक्त रहते हैं।

भावार्थ

इन पूर्वोक्त ग्रन्थों या सिद्धान्तों का परित्याग करके कई शाक्य आदि श्रमण एवं बार्हस्पत्य मतानुयायी ब्राह्मण स्वरचित सिद्धान्तों में अभिनिवेश-पूर्वक बद्ध है। सत्य सिद्धान्तों के रहस्य से अनभिज्ञ वे मानव विविध काम-भोगों में आसक्त हैं।

व्याख्या

परसमय : मिथ्यात्व के कारण क्यों और कैसे ?

इस गाथा में दूसरे मतानुयायियों के सिद्धान्त शास्त्रकार ने प्रकारान्तर से मिथ्यात्व से ओत-प्रोत बताये हैं। इसे सिद्ध करने के लिये हमें जैन सिद्धान्तों की गहराई में उतरना पड़ेगा। जैन सिद्धान्त के अनुसार मिथ्यात्व का लक्षण है—जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु जैसी और वस्तुतः जिस स्वरूप में है उसे वैसी और उस रूप में न मानकर मिथ्याग्रहवश विपरीत रूप में मानना। ऐसा मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) दो प्रकार का होता है —(१) यथार्थ तत्त्वों में श्रद्धा न होना, (२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना। पहला मूढ़दशा में होता है, दूसरा विचारदशा में। इस दृष्टि से मिथ्यात्व के १० भेदों[1] का उल्लेख भी जैनागम स्थानांग सूत्र में किया है—'जीव में अजीव की मान्यता या श्रद्धा, अजीव में जीव की श्रद्धा, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, संसार के मार्ग को मोक्ष-मार्ग और मोक्ष-मार्ग को संसार-मार्ग मानना और आठ कर्मों से मुक्त में अमुक्त की और अमुक्त में मुक्त की मान्यता रखना।' मिथ्यात्व के विविध कारणों की दृष्टि से भी मिथ्यात्व के ५ एवं २५ प्रकार शास्त्रों में बताये गये हैं। यों तो पाँच भेदों में ही २५ भेदों का समावेश हो जाता है। ये पाँच प्रकार ये हैं, जो मिथ्यात्व के कारणों की उद्घोषणा करते हैं[2]— (१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) सांशयिक, (४) अनाभोगिक एवं (५) आभिनिवेशिक। तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। देव, गुरु, धर्म या सिद्धान्त के विषय में संशय-शील बने रहना, कोई निर्णय न करना कि इसका स्वरूप यह है या वह? इस प्रकार संशय के झूले में झूलते रहना सांशयिक मिथ्यात्व है। विचारशून्य एकेन्द्रियादि जीवों की तरह विशेष ज्ञानविकलतापूर्वक जो मिथ्यात्व हो, यह अनाभोगिक मिथ्यात्व है तथा अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह-हठ) करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसी प्रकार तीन प्रकार के मिथ्यात्व भी हैं[3]--अक्रिया, अविनय, अज्ञान। ये मिथ्यात्व विपरीत श्रद्धा के अर्थ में नहीं किन्तु क्रिया, विनय और ज्ञान असम्यक् हों, दोष दूषित हों, उनको पकड़े रखने के अर्थ में ये मिथ्यात्व हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व के ६ स्थान भी सन्मतितर्क में बताये गये हैं—

---

१. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं जहा—अधम्मे धम्म सण्णा, धम्मे अधम्म सण्णा अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उमग्ग सण्णा। अजीवेसु जीव सण्णा, जीवेसु अजीव-सण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानांग, सूत्र ७३४

२. धर्मसंग्रह अधिकार २, श्लोक २२, कर्मग्रन्थ भा० ४, गा० ५२।

३. तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा —अकिरिया, अविणए, अण्णाणे।
—स्थानांग, स्था० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ, कयं ण वेएइ, णत्थि णिव्वाणं ।
णत्थि पमोक्खोवाओ, छं मिच्छत्तस्स ठाणाइं ।।

अर्थात्—आत्मा नहीं है, आत्मा नित्य नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है, आत्मा किसी भी कर्म का भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं है मोक्ष का उपाय नहीं है, इस प्रकार ये ६ मिथ्यात्व के स्थान हैं।

मिथ्यात्व के पूर्वोक्त लक्षण, प्रकार, स्थान और कारणों की कसौटी पर जब हम उन-उन पर-सिद्धान्तों को कसते हैं, जांचते और परखते हैं तो यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि ये परसमय या परसमय के प्रवर्तक मिथ्यात्व से कितने ग्रस्त हैं? सर्वप्रथम बौद्धमत को लीजिए। बौद्धमत में चार[1] आर्य सत्य माने जाते हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। तथागत बुद्ध इन चार आर्य सत्यों के आदि उपदेष्टा हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान[2] ये पाँच विपाकरूप उपादान-स्कन्ध ही दुख हैं। जिससे पंचस्कन्ध रूप दुख उत्पन्न होता है, उसे समुदय कहते हैं। ये ही पाँच स्कन्ध तृष्णा के सहकार से जब नवीन स्कन्धों की उत्पत्ति में हेतु होते हैं, तब समुदय कहलाते हैं। संसार रूपी चारक (कैदखाने) का अभाव ही यहाँ निरोध है। इस कारण दुःख का निर्गमन या अनुत्पत्ति ही दुःख का निरोध कहलाता है। निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूप में परिणत चित्त विशेष ही मार्ग कहलाता है।

सचेतन-अचेतन परमाणुओं के प्रचय को स्कन्ध कहते हैं। इन पाँच स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कन्ध नहीं है। अर्थात् नाम-रूपात्मक इन्हीं पाँच स्कन्धों में आत्मा का व्यवहार होता है। ये ही पाँच स्कन्ध एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक भव से भवान्तर को जाते हैं। अतः संसरणधर्मा होने से संसारी है। इन विज्ञानादि पंच स्कन्धों से अतिरिक्त सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान आदि का आधारभूत आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।[3] न तो पंच स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है, और न आत्मा के साथ

---

१. इमानि वो भिक्खवे अरियसच्चानि तथानि अवितथानि अविसंवादकानि·····
—विसुद्धि १६।२०-२२

२ संखित्तेन पंच्चूपादान क्खंधापि दुक्खानि। —विसुद्धि० १६।५७

३. नात्माऽस्ति, स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्मादि संस्कृतम्।
अन्तरा भवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥
—अभिधम्मत्थ० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग है, जिससे अनुमान के द्वारा आत्मा सिद्ध हो सके। बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण[1] अविसंवादी हैं, इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है। ये पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं। ये न तो कूटस्थ नित्य हैं और न कालान्तर स्थायी हैं, अर्थात संसार के सभी संस्कार क्षणिक हैं, क्षण-स्थायी हैं। ये तो एक ही क्षण तक ठहरते हैं, और दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः कोई आत्मा नाम का स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, अपितु दीपक की लौ प्रतिक्षण नष्ट होती है, उसके स्थान में उसी के सदृश नूतन लौ उत्पन्न होती है, इसी तरह पूर्वापर ज्ञान प्रवाह रूप सन्तानें होती हैं।

इस प्रकार का प्रतिपादन सौत्रान्तिक बौद्धों द्वारा किया गया है। इस मत की मिथ्यादर्शनता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि यह आत्मा नामक तत्त्व को ही नहीं मानता है। जब आत्मा ही नहीं है तो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, या बन्ध-मोक्ष किसके होंगे ?

अब लीजिये सांख्यमत के सिद्धान्तों[2] की चर्चा। सांख्यदर्शन केवल[3] पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान मात्र से मुक्ति मानता है, क्रिया को यानी चारित्र को बिलकुल महत्व नहीं देता। आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आविर्दैविक इन तीन दुखों से जब प्राणी प्रबलरूप से सताया जाता है, और वह दुखों के आघात को सहते-सहते घबरा जाता है, तभी उसे दुख विघात के कारणभूत तत्त्वों की जिज्ञासा होती है। तत्त्व पच्चीस हैं। पुरुष (आत्मा) और प्रकृति[4] ये दो मुख्य तत्त्व हैं।[5] प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और उससे १६ गण (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मलस्थान, मूत्रस्थान, वाणी, हाथ और पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ,

१. यथाहि इन्धनमुपादायाग्निः एवं स्कन्धानुवादाय आत्मा प्रज्ञप्यते।
—चतुः श० वृ० १०।३

२. प्रधानं प्रकृति स्यक्तमव्याकृतं चेत्यनर्थान्तरम्। —सांख्यसूत्र

३. पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥ —सां० का० माठरवृत्ति
सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला चाहे जिस आश्रम में रहे, वह चाहे शिखा रखे, सिर मुँड़ाए या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है।

४. प्रकृति प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था। —सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ३१

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्य पंचभूतानि॥ —सां० का०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ (विषय), ये सब मिलाकर १६ गण) होते हैं। इन १६ गणों से पाँच महाभूत (रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, शब्द से आकाश तथा स्पर्श से वायु ये पाँच महाभूत) उत्पन्न होते हैं। ये २४ और पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष (आत्मा) है, जो निसंग है, निष्क्रिय है, अकर्ता है, निर्गुण है, भोक्ता है, तथा नित्य चेतन है।[1] प्रकृति किसी का विकार यानी कार्य नहीं है। वह सत्त्व, रज, और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था है। पुरुष न किसी को उत्पन्न करता है, न किसी से उत्पन्न होता है, इसलिए वह न प्रकृति है, न विकृति है। वह (आत्मा) प्रकृति आदि २४ तत्त्वों से भिन्न है। वह विषय सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य-पाप आदि कर्मों को नहीं करता, इसलिए वह अकर्ता है। आत्मा में करने-धरने की सामर्थ्य नहीं है। कर्त्री-धर्त्री तो प्रकृति है। क्योंकि पुरुष तो सत्त्वादि गुणों से सर्वथा रहित है, सत्त्वादि तो प्रकृति के धर्म हैं, इसलिये प्रवृत्ति करना प्रकृति का स्वरूप है। पुरुष (आत्मा) भोक्ता अवश्य है। वह विषयों को साक्षात नहीं भोगता (अनुभव करता), अपितु प्रकृति के विकाररूप[2] बुद्धि दर्पण में सुख-दुखादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं। बुद्धि दर्पण में प्रतिबिम्बित सुख-दुखादि की छाया, अत्यन्त निर्मल पुरुष में पड़ती है, वही पुरुष का भोग है। ऐसे ही भोग के कारण पुरुष भोक्ता कहलाता है।[3] जिस तरह जवा पुष्प आदि रंगीन वस्तु के सन्निधान से स्वच्छ स्फटिक भी लाल आदि रंग वाला कहा जाता है, ठीक उसी तरह प्रकृति के संसर्ग के कारण स्वच्छ पुरुष में भी सुख-दुखादि के भोक्तृत्व का व्यपदेश हो जाता है। बुद्धि रूपी माध्यम (उभयतः पारदर्शी दर्पण) में चैतन्य और विषय का युगपत प्रतिबिम्ब पड़ने से ही पुरुष अपने को 'मैं

---

१. मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ —सां० का०

२. बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनः संकल्प्य अहंकारस्य अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धेः सर्वाध्यक्ष भूताशयाम्। सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्यसाधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान पुरुषान्तरं सूक्ष्यम् (३७) बुद्धिर्हि पुरुषस्य सन्निधानात तच्छायापत्या तद्रूपेवसर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साध्यति।
—सां० का०

३. तस्मिंश्चिदर्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बित सरसीव तटद्रुमा यथा संलक्ष्यते रक्तः केवल स्फटिको जनैः रज्जकाद्युमधानेन तदवत-परमपुरुषः। —योग वा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाता हूँ, भोक्ता हूँ' आदि मानने लगता है।[1] प्रकृति और पुरुष का संयोग अंधे और लंगडे के समान है। अंधी प्रकृति के कंधे पर चढ़ा हुआ,लंगड़ा पुरुष अज्ञानवश प्रकृति-संसर्ग को सुखरूप मानकर संसार-परिभ्रमण करता रहता है। पुरुष का मोक्ष तभी होगा, जब प्रकृति और पुरुष में भेद-ज्ञान होने से प्रकृति का वियोग होगा। सुख-दुख-मोहरूपा प्रकृति से अपने स्वरूप को आत्मा भिन्न नहीं समझता, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। प्रकृति को आत्मा से भिन्न समझने पर ही प्रकृति का व्यापार रुक जाता है और आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। अतः सांख्यमतानुसार पुरुष न तो कारणरूप है, न कार्यरूप, अतः उसको न बन्ध होता है, न मोक्ष और न संसार ही। ये सब बन्ध आदि तो प्रकृति को होते हैं।[2] किन्तु प्रकृति में होने वाले ये बन्ध आदि विवेक (भेदज्ञान) न होने के होने के कारण उपचार से भोक्ता पुरुष के कहे जाते हैं।

इस प्रकार विचित्र सांख्यमत, जो आत्मा को बिलकुल निष्क्रिय और अकर्ता मानते हुए भी भोक्ता मानता है, साथ ही भोक्ता आत्मा को न तो वह बन्ध मानता है, न मुक्ति और न संसरण (जन्म-मरण रूप संसार परिभ्रमण ही)। भला यह तो सरासर मिथ्यात्व है कि 'करे कोई, भोगे कोई', 'करे प्रकृति, भोगे आत्मा'। और विषयोपभोग में प्रवृत्त होने पर भी आत्मा के कोई बन्धन नहीं, न उसे मुक्ति की कोई परवाह है। सांख्यमत के अनुयायियों की चर्चा का परिचय माठरवृत्ति में बताया गया है—

हस पिब लल खाद मोद नित्यं, भुंक्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
यदि विदितं ते कपिलमत, तत्प्राप्स्यसि मोक्ष-सौख्यमचिरेण॥

खूब हँसो, मजे से पीओ, प्यार करो, शरीर को खूब लाड़ करो, खूब खाओ, मौज करो, प्रतिदिन इच्छानुसार भोगों को भोगो, इस तरह जो तबियत में आवे, बेखटके करो। इतना सब करके भी यदि कपिल (सांख्य) मत को समझ लोगे तो शीघ्र मोक्ष सुख को प्राप्त कर लोगे।

अब आइए वैशेषिक मत की ओर। वैशेषिकदर्शन[3] में ६ पदार्थ माने

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ —सां० का० २१

२. तस्मान्न बध्यते नैवं मुच्यतेनाऽपि संसरति।
कश्चित् संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाप्रकृतिः॥ —सां० का० ६२

३. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म-सामान्य-विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। —वैशेषिक सूत्र १।४।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इन्हीं ६ पदार्थों में संसार की सभी वस्तुएँ आ गई हैं। द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी आदि के गुण या लक्षण न्यायदर्शन की तरह माने गये हैं। जीवों का जब कर्मफल भोगने का समय आता है, तब महेश्वर को उस भोग के अनुकूल सृष्टि रचने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्टबल से वायु के परमाणुओं में हलचल होती है। इनमें संयोग होता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुक से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महावायु उत्पन्न होता है, उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक त्रसरेणु आदि क्रम से महाजलनिधि उत्पन्न होता है। जल में पृथ्वी के परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथ्वी,[1] तथा उसी जलनिधि में तेजस् परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महातेजोराशि उत्पन्न होती है। इस प्रकार चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं, यही वैशेषिकों का परमाणुवाद है। अदृष्ट में धर्म-अधर्म दोनों का समावेश है। धर्म उसे कहा गया है, जिससे पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से मोक्ष होता है। विशेषतः वैशेषिकदर्शन ने बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, समत्व, भावना नामक संस्कार और द्वेष, आत्मा के इन नौ गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाना मोक्ष माना है। यह विचित्र मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा के गुणों का सर्वथा नाश हो जाता है, एक प्रकार से जड़ीभूत बन जाता है आत्मा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैशेषिकदर्शन में कोई कर्म-बन्धन की या उससे मुक्त होने की प्रक्रिया नहीं बताई गई है। केवल परमेश्वर पर सारा भार डाल दिया गया है, जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल भोग कराने का। विशेषतः तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति बता दी है और अहिंसादि का पालन, त्याग आदि की क्रिया कतई नहीं बताई गयी है। यही मिथ्यात्व का कारण है।

अब लीजिए नैयायिकों को। न्यायदर्शन में १६ तत्त्व माने गये हैं और उनके तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति मानी गयी है[2]। इनके मत में ईश्वर को देव मानते हैं।

---

१. पृथ्व्यपतेजोवाय्वाकाशकालोदिगात्मामनः इति द्रव्याणि।
—वैशेषिक सूत्र १।१।५।४

२. **प्रमाण, प्रमेय, संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम।**
—न्यायसूत्र १।१।१।३

अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन सोलह तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह जगत की सृष्टि एवं प्रलय करने में समर्थ है। वह व्यापक, नित्य, सर्वज्ञ तथा नित्यज्ञानशाली शिव देवता है।

नैयायिकों का मिथ्यात्व तो इसी से प्रगट होता है कि वे सिर्फ १६ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से मुक्ति-प्राप्ति मानते हैं। कितना सस्ता है, मुक्ति का सौदा? त्याग, व्रत, नियम आदि कुछ करना-धरना नहीं है। ईश्वर के हाथ में मुक्ति है ही। फिर क्या आवश्यकता है, किसी को संयम-अहिंसादि धर्माचरण द्वारा कर्मबन्धन को काटने की।

अब जरा मीमांसकों की ओर भी झांक लीजिए। मीमांसकों का मत है कि इस जगत् में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सृष्टिकर्ता, वीतराग आदि विशेषण वाला कोई भी देव नहीं है, जिसके वचनों को प्रमाण माना जाए। जब बोलने वाला अतीन्द्रियार्थ का प्रतिपादक यथार्थवक्ता कोई देव नहीं है, तब कोई भी आगम सर्वज्ञप्रणीत कैसे कहा जा सकता है? अतः यह अनुमान स्पष्टतः किया जा सकता है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह मनुष्य है; जैसे गली में चक्कर काटने वाला मूर्ख आदमी। सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने की शक्ति किसी सदुपलम्भक प्रमाण में नहीं है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षावलम्बी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं कर सकता। दूसरा कोई सर्वज्ञ दिखाई भी नहीं देता कि उसके सदृश बताकर उपमान से सर्वज्ञ सिद्ध हो सके।[1] सर्वज्ञ साधक कोई अविनाभावी पदार्थ भी नहीं दिखाई देता, जिसके बल पर अर्थापत्ति से सर्वज्ञ सिद्ध हो सके। प्रश्न होता है कि जब इन्द्रियों के अगोचर, अतीत-अनागतकालीन पदार्थ, आत्मा, पुण्य, पाप, काल, स्वर्ग-नरक, परमाणु आदि देश, काल, स्वभाव से विप्रकृष्ट[2] अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला कोई सर्वज्ञ नामक पुरुष-विशेष या सर्वज्ञप्रणीत आगम नहीं है, तब अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा?

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि ऐसी स्थिति में उत्पाद-विनाश से रहित नित्य, सदा स्थिर व एकरूप रहने वाले, अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा

---

१. सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना॥

२. न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्याश्रयात्।
नरान्तर प्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम्?

—मी० श्लोक चोदनासूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचित नहीं)[1] वेदों के वाक्यों से ही धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का यथावत परिज्ञान हो सकता है। अतः सर्वप्रथम शुद्ध वेदपाठ स्वरपूर्वक कर लेना चाहिए, तभी धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। धर्म को जानने का एकमात्र साधन है—चोदना-वेद। मीमांसक लोग हवन, यज्ञ, सर्वभूत-अहिंसा, दान आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने वाले वेद-वचन को कहते हैं। वेदवचन के सिवाय कोई भी वर्तमान में विद्यमान पदार्थबोधक प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ को नहीं जान सकता। इसीलिए धर्म का लक्षण किया है—वेदवचन की प्रेरणारूप ही धर्म है।[2] मीमांसामत में मुक्ति नहीं है। स्वर्ग तक की दौड़ है। कर्मकाण्डों से ही ज्ञान मानते हैं। वेदवचन से ही सारा ज्ञान हो सकता है।

कैसा विचित्र मत है। वेद का उच्चारण कण्ठ-तालु आदि के आघात से होता है। वह किसी न किसी साकार पुरुष द्वारा ही हो सकता है? इसीलिए सर्वज्ञ न मानकर वेद को ही सर्वज्ञ का स्थान देना, एक प्रकार का द्राविड़ प्राणायाम ही है। और फिर कर्मबन्धन से मुक्त होने का तो मीमांसकों के पास कोई उपाय ही नहीं है। उनकी दौड़ स्वर्ग तक ही है, जो पुण्य से प्राप्त होता है, जहाँ से जन्म-मरण का चक्र मिटता नहीं है। अतः मीमांसामत के मिथ्यात्व को तो उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त ही कह देते हैं।

अब रहा चार्वाकमत। इसकी नास्तिकता एवं मिथ्यात्व तो लोकप्रसिद्ध है। इस मत का विशेष स्वरूप तो शास्त्रकार स्वयं आगे बताएंगे। यहाँ तो इतना ही कहना है कि चार्वाकमत में शरीर को ही सब कुछ माना गया है। वही आत्मा है, जो यहीं समाप्त हो जाता है, परलोक या पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष दीखता है, वही है। यहीं सारा खेल खत्म हो जाता है। बृहस्पति आचार्य अपनी बहन से भी यही कहते हैं—'हे भद्रे! जितना यह दिखाई देता है, उतना ही लोक है। जैसे मूढ़ मनुष्य भूमि पर अंकित मनुष्य के पैर को ही झूठमूठ भेड़िये का पैर बताते हैं, वैसे ही स्वर्ग-नरक आदि की झूठी कल्पना लोग किया करते हैं। सुन्दरि! उत्तमोत्तम भोजन खाओ और पीओ। जो समय चला गया वह तुम्हारा

---

१. अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
(वेद) वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति॥ —कुमारिलभट्ट

२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। चोदना हेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।
—मी० सू० शाबर भा० १।१।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं रहा। हे भीरु ! गया समय लौटकर नहीं आता तथा यह शरीर भी पंच महाभूतों का पुंज ही है।[1]

इस प्रकार चार्वाकमत (लोकायतिक) अपने ही मुँह से अपने मिथ्यात्व को प्रमाणित कर रहा है। क्योंकि प्रत्यक्ष के सिवाय और कोई प्रमाण यह नहीं मानता। जब आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानता, तब पुण्य-पाप, उसके कारण शुभाशुभ कर्मबन्धन एवं उसके फलस्वरूप स्वर्ग-नरक एवं सर्वथा कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय ही सिद्ध नहीं होता।

पूर्वोक्त मतवादियों के सिद्धान्त में आत्मा का अस्तित्व प्रथम तो माना नहीं है, माना भी है तो विपरीत रूप में माना है। आत्मा केवलतत्त्वज्ञान कर लेने से या क्रियाकाण्ड कर लेने से तथा अहिंसा आदि संयम एवं धर्म का आचरण करने से कैसे कर्मबन्धनों से मुक्त हो जायगा। परन्तु ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धनों को न मानने से कोई भी व्यक्ति कर्मबन्धन के फलस्वरूप दुर्गति आदि से छूट नहीं सकता तथा उन कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति (आरम्भ, परिग्रह आदि), प्रमाद, कषाय, योग आदि बन्धनों से वह तब तक अपनी आत्मा को जकड़े रहेगा, जब तक वह स्वच्छन्द-मति-कल्पित सिद्धान्तों का पल्ला (पूर्वाग्रह रूप मिथ्यात्व) नहीं छोड़ देगा और अपने मिथ्या सिद्धान्तानुसार स्वच्छन्दतापूर्वक विषयासक्ति, प्रमाद, परिग्रह, हिंसा आदि अविरति को नहीं छोड़ देगा। इसीलिए तो शास्त्रकार ने कहा है—**'एए गंथे विउक्कम्म''''सत्ता कामेहि माणवा।'**

तात्पर्य यह है कि आभिनिवेशिक या आभिग्रहिक मिथ्यात्व या मिथ्याग्रहवश ये अज्ञ पुरुष जब तक तथाकथित मतवादी श्रमण-ब्राह्मण सर्वज्ञ वीतराग-प्ररूपित सत्य सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर अपने माने हुए अपसिद्धान्तों को (जो कि अल्पज्ञों एवं रागी-द्वेषी पुरुषों द्वारा कथित हैं) दृढ़ता से पकड़े रहेंगे, तब तक अपने कल्पित-मतानुसार चलकर इन्द्रियविषयक क्षणिक कामभोगों में आसक्त रहेंगे और मिथ्यात्व तथा अविरति के कारण कर्म-बन्धन करते रहेंगे और उनके फलस्वरूप अनेक गतियों और योनियों में जन्म-मरण के एवं तज्जनित दुख उठाते रहेंगे।

---

१. एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः॥
पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते।
नहि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गन्थे विउक्कम्म---इस वाक्य का एक और भी अर्थ परिलक्षित होता है। वह यह है कि पूर्वोक्त गाथाओं में जो ग्रन्थ अर्थात कर्मबन्धन में डालने वाली गाँठें---हिंसा, परिग्रह, ममत्व आदि बताई गई हैं उन कर्मबन्धन के ग्रन्थों को गाँठ न समझ कर वे ठुकरा देते हैं, अपनी स्वच्छन्दबुद्धि से कल्पित मतों में अत्यन्त बँधे रहते हैं। उन्हें भान ही नहीं होता या उनके मन में अज्ञानवश कोई विचार ही नहीं उठता कि कर्मबन्धन के कारणों को बढ़ावा देने वाले इन मतों को पकड़े रहकर तदनुसार विषयासक्ति में फँसकर मैं अपनी आत्मा को बन्धन से मुक्त करने की अपेक्षा उलटे बन्धनों में डाल रहा हूँ।

इसीलिए अनन्त करुणा से प्रेरित होकर सर्वज्ञ वीतराग प्रभु कहते हैं--- **'अयाणंता विउस्सित्ता सत्ता कामेहि माणवा'** वे दयनीय मानव इन पूर्वोक्त कर्मबन्धन की गाँठों को नहीं जान-समझ कर इनकी उपेक्षा कर देते हैं, और अपने मनमाने मत में बँध कर तदनुसार वैषयिक सुखभोगों में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वे बेचारे अपनी आत्मा को मुक्त करने के बजाय और अधिक बन्धनों में डालते हैं।

अब इस उद्देशक की अगली समस्त गाथाओं में कर्मबन्धन के प्रबल कारणभूत मिथ्यात्व से ग्रस्त विभिन्न मतवादियों के सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। सातवीं और आठवीं गाथा में पंचमहाभूतवादियों के मत का दिग्दर्शन कराते हैं--

मूल पाठ

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा ॥७॥

संस्कृत छाया

सन्ति पन्च महाभूतानीहैकेषामाख्यातानि।
पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपन्चमानि ॥७॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (**पंच महब्भूया**) पाँच महाभूत (**सन्ति**) हैं, (**एगेसि**) ऐसा किन्हीं ने, (**आहिया**) कहा। (**पुढवी**) पृथ्वी, (**आउ**) जल, (**तेऊ**) तेज, (**वाउ**) वायु (**वा**) और (**आगास पंचमा**) पाँचवाँ आकाश।

भावार्थ

पंच महाभूतवादियों का कथन है कि इस लोक में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

संस्कृत छाया

एतानि पञ्चमहाभूतानि, तेभ्य एक इत्याख्यातवन्तः ।
अथ तेषां विनाशेन, विनाशो भवति देहिनः ॥८॥

अन्वयार्थ

(एए) ये (**पंचमहब्भूया**) पांच महाभूत हैं । (**तेब्भो**) इनसे (**एगोत्ति**) एक आत्मा उत्पन्न होता है, यह उन्होंने (**आहिया**) कहा है । (**अह**) इसके पश्चात (**तेसिं**) उन पंच महाभूतों के (**विणासेणं**) विनाश होने से (**देहिणो**) आत्मा का (**विणासो**) विनाश (**होइ**) हो जाता है ।

भावार्थ

पूर्वगाथा में कहे हुए पृथ्वी आदि पाँच महाभूत हैं । इन पाँच महाभूतों से एक आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा लोकायतिक कहते हैं । फिर वे मानते हैं कि इन पाँच महाभूतों के नष्ट होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है ।

व्याख्या

पंचमहाभूतवादी चार्वाकमत का स्वरूप और विश्लेषण

उपर्युक्त दोनों गाथाओं में पंचमहाभूतवादी चार्वाक का स्वरूप बताया गया है । इसके बताने का शास्त्रकार का प्रयोजन यह है कि जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक इस बात को भलीभाँति समझ जाय कि चार्वाकमतवादी किस प्रकार प्रमाणसिद्ध वीतराग प्ररूपित सत्य सिद्धान्त को ठुकरा कर प्रमाणों और तर्कों से मिथ्या सिद्ध होने वाले मत को पूर्वाग्रहवश पकड़ कर मिथ्यात्व के फन्दे में फँसे रहते हैं और मिथ्यात्व के फलस्वरूप नाना कर्मबन्धन करते रहते हैं, उनसे मुक्त नहीं हो पाते ।

संति पंचमहब्भूया— कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि सांख्य एवं वैशेषिक आदि दर्शनों में भी पंचमहाभूत को माना है । जैसे कि सांख्यदर्शन का मत है— (सूक्ष्मसंज्ञक) रूपतन्मात्रा से तेज, रसतन्मात्रा से जल, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी और शब्दतन्मात्रा से आकाश —इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से पाँच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभूतों की उत्पत्ति होती है।[1] सांख्यमत के २५ तत्त्वों में से बाकी सबका क्रम और स्वरूप हम पहले बता चुके हैं।

वैशेषिकदर्शन भी पाँच महाभूत को मानता है। उसकी मान्यता यह है कि द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच द्रव्य पंचभूत हैं। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु ये ४ द्रव्य (भूत) प्रत्येक नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं। परमाणु-रूप पृथ्वी जल आदि नित्य हैं, किन्तु परमाणुओं के संयोग से बने हुए द्व्यणुक आदि स्थूल कार्य द्रव्य पृथ्वी आदि अनित्य हैं। आकाश द्रव्य किसी कारण से उत्पन्न न होने से नित्य ही है। पृथ्वीत्वरूप[2] धर्म के सम्बन्ध से पृथ्वी होती है। वह परमाणु-रूप नित्य है, और द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न होने वाली कार्यरूपा पृथ्वी अनित्य है। वह पृथ्वी रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग नामक चौदह गुणों से युक्त है तथा जलत्व रूप धर्म के सम्बन्ध से जल होता है। वह भी रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, गुरुत्व स्वाभाविक द्रवत्व, स्नेह और वेग नामक गुणों से युक्त है। जल का रूप शुक्ल है, स्पर्श शीत ही है। तेजस्त्व धर्म सम्बन्ध से तेज होता है। वह रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व नैमित्तिक द्रवत्व, और वेग नामक ११ गुणों से युक्त होता है। उसका रूप शुक्ल, भास्वर (चमकीला) तथा स्पर्श उष्ण ही है। वायुत्वरूप धर्म के सम्बन्ध से वायु होता है। वह अनुष्ण शीत स्पर्श (न गर्म, न ठण्डा), संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक ९ गुणों से युक्त है। हृदय का कम्पन, शब्द और अनुष्णशीत स्पर्श उसके लिंग (बोधक) हैं। आकाश एक होने से वह पारिभाषिक संज्ञा है। वह नित्य, अमूर्त, तथा विभु (विश्वव्यापक) है। वह संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और शब्द नामक ६ गुणों से युक्त है। शब्द नामक लिंग (बोधक) से ही आकाश का बोध होता है।" इसी तरह दूसरे

---

१. तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रान् पृथ्वी इत्यादि क्रमेण पूर्व-पूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्च गुणानि आकाशादि पृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टि क्रमः।

—सांख्य का० माठर पृ० ३७

२. पृथ्वीत्वाभिसम्बन्धात् पृथ्वी। अप्त्वाभिसम्बन्धादापः, तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः। तत्राकाशस्य गुणः शब्द संख्या परिमाणपृथक्त्व संयोग-विभागाः। शब्दलिंगविशेषादेकत्वं सिद्धम्"""।

—प्रशस्तपादभाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतवादियों ने भी भूतों का अस्तित्व स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में केवल लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही पंच महाभूतों का कथन क्यों किया ?

इसके उत्तर में निःसंदेह कहा जा सकता है कि दूसरे पंचमहाभूतवादियों का उल्लेख न करने से शास्त्रकार का आशय यह है कि सांख्य आदि दर्शनकार केवल पंचमहाभूतों को ही जगत में सर्वस्व नहीं मानते, अपितु वे प्रकृति से महत्तत्व, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, पुरुष आदि तथा दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों को भी मानते हैं, जबकि लोकायतिक मतानुयायी पंच महाभूतों से भिन्न आत्मा आदि पदार्थों को बिल्कुल नहीं मानते। इसलिये लोकायतिक (चार्वाक) मत को लेकर ही इस गाथा में उल्लेख किया गया है। इसी आशय को अभिव्यक्त करने के लिये शास्त्रकार स्वयं स्वीं गाथा में कहते हैं—"**एए पंचमहब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।**"

तात्पर्य यह है कि चार्वाक मत का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच महाभूत हैं। ये पाँच महाभूत सर्वलोकव्यापी एवं सर्वजन-प्रत्यक्ष होने से महान हैं। इस विश्व में इनके अस्तित्व से न कोई इन्कार कर सका है, और न ही इनका खण्डन कर सका है। दूसरे मतवादियों द्वारा कल्पित पाँच भूतों से भिन्न आत्मा नाम का परलोक में जाने वाला, सुख-दुख भोगने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। पृथ्वी आदि जो पाँच महाभूत हैं, इनके शरीररूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है।

अपने मत को सत्य प्रमाणित करने के लिये वे इस प्रकार की युक्तियाँ देते हैं—पृथ्वी आदि से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसका बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है। प्रमाण भी हम एकमात्र प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। अनुमान आदि प्रमाण को हमारे यहाँ कोई स्थान नहीं है, क्योंकि अनुमान आदि में पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये उनका मिथ्या होना संभव है। क्योंकि प्रायः अनुमान आदि मिथ्या हो जाते हैं और उनमें बाध एवं असंभव दोष भी हो सकते हैं। अतः अनुमान आदि में प्रमाण का लक्षण घटित नहीं होता। प्रमाण का लक्षण घटित न होने से अनुमान आदि में विश्वास नहीं किया जा सकता है। कहा भी है—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमान-प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः॥

जैसे ऊबड़-खाबड़ मार्ग में किसी के हाथ के स्पर्श से (गलत अनुमान करके) दौड़ते हुए अन्धे का गिर जाना कोई दुर्लभ नहीं है, वैसे ही बिना देखे हुए पदार्थ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुमान से सिद्ध करने वाले पुरुष से भी भूल हो जाना दुर्लभ नहीं है। जिस प्रकार अनुमान को अविश्वसनीय एवं भ्रान्तिजनक बताया गया है वैसे ही आगम आदि को भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए, क्योंकि आगम आदि में भी पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सीधा सन्निकर्ष (सम्बन्ध) न होने के कारण उसमें भी भूल हो जाना संभव है। इसलिए हम एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और प्रत्यक्ष से तो पाँच महाभूतों से भिन्न आत्मा नामक पदार्थ का ग्रहण नहीं होता।

उनसे जब पूछा जाता है कि चैतन्य शक्ति, जो आत्मा की शक्ति है, वह उन पाँच भूतों में कैसे और कहाँ से आएगी ? इस पर वे कहते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश इन पंचभूतों के विशिष्ट संयोग से वे भूत शरीराकाररूप में परिणत हो जाते हैं जैसे—गुड़, महुआ आदि मद्य की सामग्री के संयोग से मद शक्ति पैदा हो जाती है, वैसे ही शरीर में पंचभूतों के संयोग से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।[1] वह चैतन्य शक्ति पंचमहाभूतों से भिन्न नहीं है क्योंकि वह पंचमहाभूतों का ही कार्य है जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घटादि कार्य पृथ्वी से भिन्न नहीं है वैसे ही पंचमहाभूतों से भिन्न आत्मा नहीं है क्योंकि उन्हीं से ही उसी तरह चैतन्य शक्ति प्रकट होती है।

कोई यह कह सकता है कि चार्वाक[2] पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों को ही मानते हैं, उन्हीं के संयोग से चैतन्य शक्ति[3] प्रकट होना स्वीकार करते हैं, यहाँ शास्त्रकार ने पाँचवे भूत आकाश का अस्तित्व भी उनके पक्ष में बताया है, यह पूर्वापर विरोध क्यों ? इसके उत्तर में यही कहना है कि शास्त्रकार का कथन यथार्थ है। कई चार्वाक आचार्य आकाश को भी पाँचवाँ भूत मानकर जगत को पंचभौतिक कहते हैं। इनके मत में इन भूतों के विशिष्ट संयोग से ही

---

१. (क) पृथिव्यादिभूत संहत्यां तथा देहादिसम्भवः।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो यत्तदवच्चिदात्मनि ॥८४॥
—षड्दर्शनसमुच्चय

(ख) शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञके च पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः पिष्टोदकः गुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत्।
— प्रमेयकमल० पृ० ११५

२. 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञा, तेभ्यश्चैतन्यम्। —तत्त्वोप० श० भाष्य

३. चतुर्भ्यःखलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते, किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्। —सर्वदर्शनसंग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महुआ आदि के सड़ाने पर शराब में मादक शक्ति उत्पन्न होने की तरह भूतों में, चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिस तरह जल में बुलबुले उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, उसी तरह जीव भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में लीन होते रहते हैं। चैतन्य विशिष्ट शरीर का नाम ही आत्मा है।

चार्वाक के इस मन्तव्य पर शंका होती है—यदि पाँच महाभूतों से भिन्न कोई आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है तो 'वह मर गया' यह व्यवहार कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि मरते समय भी पाँचों भूत और तज्जन्य चैतन्य शक्ति तो रहती ही है। इसका समाधान चार्वाक की ओर से यह किया जाता है कि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों से चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन महाभूतों में से वायु या तेज किसी एक भूत या दोनों के हट जाने पर देवदत्त नामक देही का नाश हो जाता है और इसी कारण 'वह मर गया', ऐसा व्यवहार हो जायेगा। परन्तु देही का नाश होने पर कोई आत्मा या जीव नामक पदार्थ शरीर से अलग कहीं चला जाता है, ऐसा नहीं होता क्योंकि आत्मा नामक कोई पदार्थ शरीर से निकल कर कहीं जाते हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता।

चार्वाक का मत जैनदर्शन की युक्तियों के आगे बिलकुल खण्डित हो जाता है। उसका खण्डन न्याय की भाषा में अनुमान प्रमाण से निम्नोक्त रीति से हो जाता है— "पंच महाभूतों के परस्पर संयोग से (शरीररूप में परिणत होने पर) चैतन्य गुण (तथा तज्जनित बोलना-चलना आदि क्रियारूप गुण) उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि पंच महाभूतों का चैतन्य गुण नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे बालू के ढेर को पीलने से तेल पैदा नहीं होता, क्योंकि बालू में तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नहीं है। इसी प्रकार पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने के कारण, उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी बात को निर्युक्तिकार कहते हैं—

पंचण्हं संजोए अण्णगुणाणं ण चेयणाइगुणो।
पंचिन्दियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो॥

जिनका गुण चैतन्य से अन्य है, उन पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चेतनादि गुण प्रकट नहीं हो सकते। इसी तरह स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पांच इन्द्रियों के जो उपादान कारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य न होने से भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात अन्य इन्द्रिय नहीं जान पाती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचभूतों का गुण चैतन्य से भिन्न यों है—आधार देना और कठोरता पृथ्वी का गुण है, जल का गुण द्रवत्व है, तेज का गुण पाचन है, वायु का गुण चलन है, और अवगाह देना आकाश का गुण है। अथवा पहले बताए गन्ध, रस आदि क्रमशः एक-एक को छोड़कर पृथ्वी जल आदि के गुण हैं। इनमें से किसी भी भूत में चैतन्य का गुण नहीं है। ये सब गुण चैतन्य से भिन्न हैं। इसलिये पृथ्वी आदि ५ भूत चैतन्य से भिन्न गुण वाले हैं। इस दृष्टि से चार्वाक चाहे जितना पच ले, किन्तु पृथ्वी आदि पंच भूतों से चैतन्य गुण की उत्पत्ति सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इन पंच भूतों का गुण चैतन्य से भिन्न है। अतः इन भूतों में से प्रत्येक का जब चैतन्य गुण नहीं है, तब इनके समूह से चैतन्य गुण की सिद्धि कैसे हो सकेगी? जैनदर्शन द्वारा इस सम्बन्धी तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—जब एक-एक भूत में चैतन्य गुण नहीं है, तो उनके समुदाय से भी चैतन्य गुण उत्पन्न या अभिव्यक्त नहीं हो सकता। चैतन्य अगर पृथ्वी आदि का गुण होता तो पृथ्वी आदि से सचेतन रूप में उपलब्धि होती। किन्तु ऐसी उपलब्धि होती नहीं है। इसलिये चैतन्य एक-एक भूत या भूत समुदाय का गुण हो नहीं सकता। स्वतन्त्र भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों का गुण चैतन्य से भिन्न है। भिन्न गुण वाले पदार्थों का जो-जो समुदाय है, उस-उस समुदाय में अपूर्व गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः शरीर में जो चैतन्य दिखाई देता है, वह आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं; क्योंकि भूत चैतन्य गुण के आधार नहीं हैं। इसलिये चैतन्य भूतों का नहीं, उनसे भिन्न आत्मा का ही गुण है।

इसे ही सिद्ध करने के लिये दूसरा हेतु लीजिए—

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-रूप पाँच इन्द्रियों के उपादान कारण क्रमशः ये हैं—श्रोत्रेन्द्रिय का उपादान कारण आकाश है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय छिद्र-रूप है, चक्षुरिन्द्रिय का उपादान कारण तेज है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तेजोरूप है, घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण पृथ्वी है, क्योंकि घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी रूप है। रसनेन्द्रिय का जल और स्पर्शेन्द्रिय का वायु उपादान कारण है। अतः पाँचों इन्द्रियों के जो उपादान कारण (स्थान) हैं, वे ज्ञान रूप न (स्वयं ज्ञान नहीं कर सकतीं) होने से भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता।[1] चार्वाक मत में शरीर और इन्द्रियों से अतिरिक्त 'आत्मा' नहीं माना गया है। अतः आत्मा को द्रष्टा न मानने के कारण

---

१. यहाँ अनुमान इस प्रकार हो सकता है—इन्द्रियाँ चैतन्य गुण वाली नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन गुण वाले पदार्थों से बनी हैं। जो-जो अचेतन गुण वाले पदार्थों से बना होता है, वह सब अचेतन गुण वाला होता है, जैसे—घट-पट आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार्वाक को चक्षु आदि इन्द्रियों को ही द्रष्टा मानना पड़ा है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है।

दूसरी इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती। इसलिए एक इन्द्रिय द्वारा ज्ञात अर्थ को दूसरी इन्द्रिय नहीं जान सकती। ऐसी स्थिति में 'मैंने पाँच ही विषयों को जाना।' इस प्रकार का सम्मेलनात्मक ज्ञान चार्वाक मत में हो नहीं सकता। परन्तु इस प्रकार के सम्मेलनात्मक ज्ञान का अनुभव होता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि इन्द्रियों से भिन्न कोई एक द्रष्टा अवश्य होना चाहिए। वह द्रष्टा आत्मा ही हो सकता है, भूत समुदाय नहीं, क्योंकि चैतन्यगुण द्रष्टा (आत्मा) का ही है, भूत समुदाय का नहीं। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का अनुमान प्रयोग होता है—भूत समुदाय का गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि भूतों से बनी हुई इन्द्रियाँ एक-एक विषय की ग्राहक होकर भी सब विषयों के मेलनरूप ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। यदि दूसरे के द्वारा जाने हुए अर्थ को दूसरा भी जान लेता हो, तब तो देवदत्त द्वारा जाने हुए अर्थ को यज्ञदत्त भी जानने लगेगा परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, अनुभव भी इसके विपरीत है, और ऐसा इष्ट भी नहीं है। शंका—यदि इन्द्रियों को ही ज्ञानवान माना जाए तो प्रश्न होता है कि सब इन्द्रियां मिलकर ज्ञान का आधार हैं या पृथक-पृथक? यदि कहें कि सब इन्द्रियां मिलकर हैं, तब तो एक इन्द्रिय का नाश होने पर ज्ञानवान का ही नाश हो जाएगा। वहाँ फिर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि ज्ञान के आधार का नाश हो चुका है। यदि कहें कि पृथक-पृथक एक-एक इन्द्रिय ज्ञान का आधार है, तब तो किसी कारणवश नेत्र के नष्ट होने पर पहले देखे हुए रूप का स्मरण होना चाहिए, किन्तु वह नहीं होता क्योंकि अनुभवकर्ता (नेत्र) अब विद्यमान नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस अधिकरण में जिस विषय का अनुभव उत्पन्न होता है, उसी अधिकरण में पूर्वोत्पन्न अनुभव से प्राप्त संस्कार के बल से कालान्तर में स्मरण उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं होता कि अनुभव एक करे और स्मरण करे दूसरा। ऋषभदत्त ने जिसका अनुभव किया है, उसका स्मरण अभिनन्दनप्रसाद को हो जाए, ऐसा देखा नहीं जाता। यदि दूसरे के द्वारा अवलोकित पदार्थ का स्मरण दूसरे को होने लगे, तब तो सर्वज्ञ के द्वारा देखे गये पदार्थों का स्मरण हम लोगों को हो जाना चाहिए, ताकि हम भी झटपट सर्वज्ञ बन जाएँ। लेकिन ऐसा कदापि होता नहीं है। दूसरे के देखे हुए पदार्थ को दूसरा स्मरण नहीं कर पाता—**"नान्यद् दृष्टं स्मरत्यन्यो नैकभूतमक्रमात्।"** एतएव इन्द्रियाँ चेतनावान नहीं हैं। इस तर्क से भूत समुदाय में चैतन्य का अभाव सिद्ध कर दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार्वाक—एक-एक भूत से चैतन्य की उत्पत्ति मानने से यह दोष आता है, किन्तु पाँचों भूतों के मिल जाने से चैतन्य की उत्पत्ति है, यह माना जाय तो हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता। जैसे अलग-अलग जौ का आटा, या गुड़ पड़ा हो तो उसमें मादक शक्ति नहीं पैदा होती किन्तु सभी वस्तुओं के मिल जाने पर मादक शक्ति पैदा होती है।

जैन—यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि पंचमहाभूतों का वह संयोग, जिसके बल पर आप चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं, भूतों से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न मानें तब तो पाँच भूतों से अतिरिक्त संयोग नामक पदार्थ को स्वीकार करना होगा, जो आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त हम पूछते हैं कि पंच महाभूतों का संयोग प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है अथवा अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से ? प्रत्यक्ष से तो उस अतीन्द्रिय पंचभूत संयोग का ग्रहण होना असंभव है। अतीन्द्रिय वस्तु कदापि चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो सकती। किसी अन्य प्रमाण से उक्त संयोग का ग्रहण होता है, यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाण या तो अनुमान होगा अथवा आगम होगा। अनुमान से आप पंचमहाभूत संयोग का ग्रहण कर नहीं सकते, क्योंकि अनुमान हमने पहले ही भूत चैतन्यवाद का खण्डन कर दिया है। अतः उक्त संयोग को ग्रहण करने वाले अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। आगम प्रमाण से भी उक्त संयोग का ग्रहण आप कर नहीं सकते, क्योंकि आप तो आगम (आप्त = ईश्वर) को मानते ही नहीं है, अतएव आगम प्रमाण से भी यह सिद्ध नहीं हो सकता। और फिर आप एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। अनुमान और आगम इन प्रमाणों को तो आप मानते ही नहीं है, तब इन प्रमाणों का प्रयोग करके उक्त संयोग को ग्रहण कैसे कर सकेंगे ?

अगर उस संयोग को भूतों से अभिन्न कहते हैं, तब हम पूछते हैं कि प्रत्येक भूत चेतन है या अचेतन ? यदि प्रत्येक भूत को चेतन कहें तो एक ही इन्द्रिय की सिद्धि होगी, विभिन्न विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। ऐसी दशा में पंचभूतों के समुदाय रूप शरीर का चैतन्य ५ प्रकार का हो जाएगा। क्योंकि शरीर तो पंचभूत समुदायरूप है अतः पृथ्वी अंश विषयक ज्ञान घ्राणजन्य होने से अतिरिक्त होगा, चक्षु आदि से जन्य ज्ञान उससे भी अतिरिक्त होगा। यह महान आश्चर्य की बात है।

यदि प्रत्येक भूत अचेतन है, ऐसा मानें तो पूर्वोक्त दोषापत्ति आयगी। एक-एक भूत में चैतन्य नहीं है तो उसके समुदाय में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेत के एक-एक-कण में तेल नहीं है तो उसके ढेर में तेल कहाँ से निकलेगा ? जो गुण प्रत्येक में नहीं है, वह उसके समुदाय में भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

आपने जो यह कहा था कि गुड़ और आटा और महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अंग में न रहने वाली मद शक्ति उसके समुदाय से पैदा हो जाती है, इसी प्रकार पंचमहाभूतों में प्रत्येक में वह चैतन्य शक्ति नहीं है, किन्तु महाभूतों के समुदाय से तो चैतन्य शक्ति हो ही जाती है, यह युक्ति भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि दृष्टांत और दृष्टान्तिक में यहाँ समानता नहीं है। गुड़, आटा, महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अंग में सूक्ष्म रूप से मादक शक्ति विद्यमान रहती है, वही समुदायावस्था में स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाती है। किन्तु यहाँ तो पृथ्वी-जल आदि प्रत्येक भूत में चैतन्य शक्ति का सर्वथा अभाव होता है, तब भूतों के समूह में चैतन्य शक्ति कहाँ से उत्पन्न हो जायेगी ?

अगर भूतों को ही चेतन मानें तो मृत्यु की व्यवस्था नहीं बन सकती। क्योंकि मृतक शरीर में पाँचों महाभूत विद्यमान रहते हैं। यदि कहें कि मृतक शरीर में वायु या तेज नहीं होते हैं, इसलिए मृत्यु होती है। जैसा कि शास्त्रकार ने कहा है (**अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो**) तो यह कथन भी अनुभव विहीन है, क्योंकि मृत शरीर में सूजन दृष्टिगोचर होती है, इसलिए वायु का उसमें अभाव नहीं होता और न तेज का अभाव होता है, क्योंकि पाचन स्वरूप कोथ (सादाद) का उत्पन्न होना तेजस्तत्त्व का कार्य है। अतः वायु आदि का अभाव होने से मृत्यु हो जाती है, यह कथन यथार्थ नहीं है।

यदि कहें कि मृत शरीर में से सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म तेज निकल जाते हैं, इसलिए मृत्यु हो जाती है तो ऐसा मानना भी उचित नहीं है। ऐसा मानेंगे तो केवल नाम का ही विवाद रहेगा क्योंकि दूसरा (सूक्ष्म तेज और सूक्ष्म वायु) नाम देकर आपने भी प्रकारान्तर से जीव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया।

एक और युक्ति से भी आपकी बात का खण्डन हो जाता है। आपने कहा कि पंचभूतों के समुदाय मात्र से चैतन्यगुण उत्पन्न हो जाता है, पर यह बात भी प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। एक कारीगर ने मिट्टी की एक पुतली बनाई। उसमें मिट्टी, पानी, हवा, धूप (तेज) अग्नि (पकाते समय) एवं आकाश इन पाँचों भूतों को वहाँ एकत्र किया गया। इस प्रकार पृथ्वी आदि पाँचों भूतों को मिलाकर एक स्थान पर रख देने पर भी वहाँ चेतना दिखाई नहीं देती। मिट्टी की पुतली में पाँचों भूत मौजूद हैं, फिर भी उसमें चेतना नहीं आती। वह बोलती-चालती नहीं, जड़ ही बनी रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः पूर्वोक्त रीति से अन्वय-व्यतिरेक से विचार करने पर भूतों का चैतन्य नामक गुण सिद्ध नहीं होता। फिर भी जीवित शरीरों में चैतन्य गुण पाया जाता है, अतः परिशेष न्याय से वह आत्मा का ही गुण है, भूतों का नहीं।

आप (लोकायतिक) ने पहले जो अनुमान प्रयोग किया था कि पृथ्वी आदि भूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उस आत्मा का बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता, और प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही है, यह कथन भी **'वदतोव्याघात'** जैसा है। एक तरफ आप कहते हैं कि प्रत्यक्ष के सिवाय हम किसी प्रमाण को नहीं मानते और दूसरी तरफ आप स्वयं अनुमान प्रमाण का प्रयोग कर रहे हैं।

प्रमाण का लक्षण है[1]—अर्थ को जो अविसंवादी (ठीक-ठीक) रूप में बताता है किन्तु जो कुछ प्रत्यक्ष किया जाता है, उस प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप सिद्ध करने के लिए, तथा दूसरों को बताने के लिए आपको अनुमान प्रमाण का सहारा लेना पड़ेगा। क्योंकि अपना प्रत्यक्ष तो अपने ही अनुभव में व अपनी ही बुद्धि में आता है, दूसरे की बुद्धि में नहीं आ सकता। ऐसा कोई साधन भी नहीं है, जिससे अपना प्रत्यक्ष दूसरे की बुद्धि में स्थापित किया जा सके। वाणी द्वारा समझाकर अपना प्रत्यक्ष दूसरे को बताया जाता है। उससे श्रोता को ज्ञान भी होता है। परन्तु वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। वह तो शब्द सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान है, उसे शब्दबोध कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान[2] वह है, जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा अपने अनुभव में आता है। वह अनुभव अपनी ही बुद्धि में स्थिर रहता है, दूसरे की बुद्धि में स्थापित नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रत्यक्ष ज्ञान गूंगे की तरह मूक होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस बात को प्रत्यक्षकर्ता ही जानता है, दूसरा पुरुष नहीं जानता। दूसरे पुरुष को अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता वाणी द्वारा कह कर समझाई जाती है। वह वाणी अनुमान के अंगस्वरूप पंचावयवात्मक वाक्य है। जैसे—"मेरा यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि यह अर्थ को यथार्थ रूप में बताता है जैसा मेरा अनुभव किया हुआ पट-प्रत्यक्ष। मेरे अनुभव किए हुए पटप्रत्यक्ष ने भी सत्य अर्थ को बताया था, इसी तरह यह घटप्रत्यक्ष भी सत्य अर्थ को बताता है। अतः सत्य अर्थ को बताने के कारण यह घटप्रत्यक्ष भी प्रमाण है।" इस प्रकार अपने प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पड़ता है। दूसरी बात—'अनुमान प्रमाण नहीं है' इसे सिद्ध करने के लिए भी अनुमान का सहारा लेकर अनुमान का खण्डन भी अनु-

---

१. 'अर्थाविसंवादकं प्रमाणम्'।

२. 'इन्द्रियसन्निकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान के द्वारा ही चार्वाक करता है, यह पागलपन नहीं तो क्या है ? चार्वाक अनुमान को इस प्रकार के अनुमान प्रयोग द्वारा ही अप्रमाण सिद्ध कर सकता है—"अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह अर्थ को ठीक-ठीक नहीं बतलाता है, जैसे कि अनुभव की हुई अनुमान व्यक्ति जो अर्थ को ठीक-ठीक नहीं बतलाता वह प्रमाण नहीं है।"

यदि कहें कि दूसरे मतवादी अनुमान को प्रमाण मानते हैं, इसलिए हम भी परमतसिद्ध अनुमान का आश्रय लेकर ही अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध करते हैं, तब हमें आप यह बताइये कि परमतसिद्ध प्रमाण आपके मत में प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि प्रमाण कहते हैं तो आप अनुमान को अप्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि अपने ही मुख से आप उसे आप प्रमाण कह रहे हैं। यदि अनुमान अप्रमाण है, तो आप उस (अनुमान) का सहारा लेकर दूसरे को क्यों समझाते हैं ? यदि कहें कि दूसरा अनुमान प्रमाण मानता है इसलिए हम अनुमान के द्वारा उसे समझाते हैं, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं। दूसरा कदाचित बुद्धि की मन्दता के कारण अप्रमाण को प्रमाण लेता होगा, मगर आप तो बुद्धिनिपुण हैं एवं अपने आपको सर्वज्ञ तुल्य मानते हैं, आपको तो ऐसा नहीं मानना चाहिए। कोई अज्ञानी गुड़ को विष मानता है, तो क्या बुद्धिमान पुरुष भी किसी को मारने के लिए गुड़ को विष मान कर उसे दे सकता है ? अतः प्रत्यक्ष की प्रमाणता और अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध करने के लिए इच्छा न होते हुए भी बलात् अनुमान की प्रमाणता चार्वाक के गले आ पड़ी।

और भी हम पूछते हैं कि चार्वाक को किसी व्यक्ति के विषय में निर्णय करना हो कि वह व्यक्ति संदिग्ध है या विपर्यस्त ? तब अनुमान से ही निर्णय कर सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से तो वह जान ही नहीं सकता। उस व्यक्ति की आकृति,[1] इंगित, गति, चाल-ढाल, चेष्टा, बोलचाल (भाषण), नेत्र और मुख के विकार आदि के द्वारा ही वह जान सकेगा, जो कि अनुमान का ही एक प्रकार है।

अगर प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानेंगे तो आपका पुत्र घर से भाग कर चला गया है, अब आपको वह प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देगा, तो आपको अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाणों का सहारा उसे ढूँढने के लिए लेना पड़ेगा। अगर प्रत्यक्ष प्रमाण को ही आप पकड़े रहेंगे तो पुत्र के अभाव (मृत्यु) का आपको निश्चय करना पड़ेगा,

---

१. आकारैरिंगितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वक्त्र-विकाराभ्यां, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ —पंचतन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुमानादि प्रमाणों के प्रयोग के अभाव में शायद आप अपने पुत्र के मिलने से वंचित रह जायेंगे।

इसलिए अनिच्छा से भी आपको अनुमान की प्रमाणता माननी पड़ेगी।

आप स्वर्ग, नरक, मोक्ष या अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का निषेध करते हैं, तो किस प्रमाण के आधार पर करते हैं? क्या आप स्वर्ग आदि को जानते हैं? या नहीं जानते? अगर जानते हैं तो प्रत्यक्ष से जानते हैं या अन्य किसी प्रमाण से? प्रत्यक्ष से तो आप इन्हें जानते नहीं, क्योंकि स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय अमूर्त पदार्थ प्रत्यक्ष से तो गृहीत होते नहीं। अतीन्द्रिय पदार्थ इसी कारण अतीन्द्रिय कहलाते हैं कि वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। अगर वे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते तो अतीन्द्रिय ही न कहलाते। तथैव आप प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वर्ग और मोक्ष आदि का निषेध भी नहीं कर सकते, क्योंकि आप पहले यह बताइए कि वह प्रत्यक्ष, स्वर्ग और मोक्ष आदि में प्रवृत्त होकर उनका निषेध करेगा या उनसे निवृत्त होकर करेगा? स्वर्ग और मोक्ष में प्रवृत्त होकर तो प्रत्यक्ष उनका निषेध नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष का अभाव-विषयक वस्तु के साथ विरोध होता है। अर्थात जो वस्तु नहीं है, उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है। आपके मत से स्वर्ग, मोक्ष आदि जब हैं ही नहीं, तब उनमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? अतः स्वर्ग, मोक्ष आदि में जब प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं है, तब प्रत्यक्ष प्रवृत्त होकर स्वर्ग, मोक्ष आदि का निषेध नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष निवृत्त होकर स्वर्ग, मोक्ष आदि का निषेध करता है, यह बात भी असंगत है। क्योंकि स्वर्ग, मोक्ष आदि का जब प्रत्यक्ष ही नहीं है, तब प्रत्यक्ष से उनका निश्चय हो नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि व्यापक पदार्थ की निवृत्ति होने पर व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति मानी जाती है, परन्तु सम्मुख उपस्थित पदार्थों को बताने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण, समस्त वस्तुओं का प्रकाशक नहीं होता है, यानी वह समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं करा सकता। अतः प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने पर उस पदार्थ की भी निवृत्ति (अभाव) हो जायेगी। ऐसा मान लेने पर तो घर से बाहर निकला हुआ मनुष्य जब घर के आदमियों को प्रत्यक्ष नहीं देखेगा तो वह उनके अभाव का निश्चय कर लेगा। यह अभीष्ट नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु के केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने मात्र से उस वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से उसका अभाव तभी सिद्ध हो सकता है, जब वह वस्तु प्रत्यक्ष से जानने योग्य हो; फिर भी न जाना जाता हो, तभी प्रत्यक्ष से उसका अभाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि निवर्तमान प्रत्यक्ष वस्तु का अभाव सिद्ध करता है तो घर के अन्दर रखी हुई वस्तु का भी दीवार आदि की ओट के कारण प्रत्यक्ष न होने से अभाव सिद्ध कर देगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में समीपता, अतिदूरी आदि बाधकों से रहित प्रत्यक्ष जब किसी वस्तु को नहीं जानता है, तभी योग्य वस्तु के अभाव का बोध होता है। (१) अत्यन्त दूरी होने से, (२) अत्यन्त समीपता होने से, (३) किसी इन्द्रिय का घात हो जाने से, (४) मन के अव्यवस्थित (अन्यमनस्क) होने से, (५) पदार्थ के सूक्ष्म होने से, (६) दीवार आदि का व्यवधान (ओट) होने से, (७) अभिभव होने (प्रभाव दब जाने) से और (८) सजातीय पदार्थों के सम्मिश्रण होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता।[1]

तात्पर्य यह है कि पदार्थ विद्यमान होते हुए भी पूर्वोक्त कारणों से प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। **अति दूरी के कारण**—आकाश में विद्यमान पक्षी अत्यन्त दूरी के कारण नहीं दिखाई दे सकता, मगर इतने मात्र से पक्षी का अभाव नहीं हो जाता। अतिदूरी रूपी बाधक कारण (प्रतिबन्धक) के मौजूद रहते प्रत्यक्ष प्रवृत्त नहीं हो पाता, किन्तु इतने भर से वह (प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति) वस्तु के अभाव का निर्णायक नहीं हो सकता। **अति सामीप्य के कारण**—कभी-कभी अत्यन्त निकट होने से वस्तु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, जैसे नेत्रों में लगा हुआ अंजन दिखाई नहीं देता, किन्तु न दिखने मात्र से ही उसका अभाव नहीं हो जाता। **इन्द्रिय भंग होने से**—किसी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने या कमजोर हो जाने से भी व्यक्ति प्रत्यक्ष देख-सुन नहीं सकता। जैसे अंधा या बहरा हो जाने से मनुष्य रूप को देख नहीं सकता या शब्द को सुन नहीं सकता किन्तु इतने मात्र से रूप अथवा शब्द का अभाव नहीं होता। **मन की अस्थिरता से**—जब मन ग्राह्य विषय की ओर नहीं होता, कहीं अन्यत्र संलग्न होता है तो प्रचण्ड प्रकाश के होते हुए भी, घड़ा सामने या पास में होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। **सूक्ष्मता के कारण**—चित्त की एकाग्रता होने पर भी सूक्ष्म पदार्थ दिखाई नहीं देता। जैसे परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता। किन्तु इससे परमाणु का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। **व्यवधान के कारण**—किसी दीवार, पर्दे या कपड़े आदि का व्यवधान (ओट या आड़) होने से भी पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे पर्दे की ओट में रानी बैठी है, दिखाई नहीं देती, किन्तु न दिखाई देने से रानी नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। **अभिभव के कारण**—अभिभव (दब जाने, हतप्रभ हो जाने) के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दिन में सूर्य की प्रभा से चन्द्रमा, तारे, ग्रह आदि दब जाने के कारण दिखाई नहीं देते। परन्तु इतने

---

१. "अतिदूरात्, सामीप्यादिन्द्रियघाताऽऽत्ममनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्यात् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्चेति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र से उनका अभाव नहीं माना जाता। **सजातीय पदार्थों के साथ सम्मिश्रण हो जाने से**—कभी-कभी समान जातीय वस्तुओं के साथ सजातीय वस्तु के मिल जाने से भी ग्राह्य वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो पाता। जैसे जलाशय में अपने लोटे का जल डाल देने पर उस जल का पृथक ग्रहण नहीं होता। कबूतरों के झुण्ड में मिला हुआ किसी के घर का पालतू कबूतर अलग दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु न दिखने मात्र से न तो उक्त जल का अभाव हो सकता है और न ही उस कबूतर का। **अनुद्भव के कारण**—किसी चीज का प्रादुर्भाव न होने तक वह चीज प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे—दूध में दही या बीज में अंकुर अभी दिखता नहीं है, किन्तु न दिखने मात्र से दही या अंकुर का अभाव नहीं माना जाता।

इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, मोक्ष, अदृष्ट आदि में प्रवृत्त न होने वाला प्रत्यक्ष स्वर्गादि के अभाव का बोधक नहीं हो सकता। जो वस्तु किसी अन्य प्रमाण के द्वारा निश्चित न हो, उसमें अगर प्रत्यक्ष विवृत्त हो तो उस वस्तु का अभाव सिद्ध हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष न होने मात्र से किसी वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाए, ऐसा प्रमाण-विशेषज्ञ पुरुष नहीं मानते।

इसके अतिरिक्त जिन्होंने स्वर्ग आदि को नहीं जाना, उन्हें उनके अभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। जिस पुरुष ने घट को नहीं जाना, वह घटाभाव को भी नहीं जान पाता। इसी प्रकार स्वर्ग आदि प्रतियोगियों का ज्ञान चार्वाक को न होने से वह स्वर्गादि के अभाव को किसी भी प्रकार से नहीं जान सकता। अतः स्वर्गादि का अभाव सिद्ध करना चार्वाक के बस की बात नहीं रही। क्योंकि स्वर्गादि के अभाव के ज्ञान के लिए पहले उसे स्वर्गादि का ज्ञान, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी अन्य प्रमाण से करना ही होगा। इसी प्रकार दूसरों के अभिप्राय को जानने-समझने और दूसरों को अपना अभिप्राय समझाने के लिये भी प्रत्यक्ष के सिवाय किसी अन्य प्रमाण को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा चार्वाक ने दूसरों को समझाने के लिये शास्त्रों की रचना क्यों की ?

इस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान आदि प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है। उन प्रमाणों से आत्मा भी पंचमहाभूत से भिन्न सिद्ध हो जाती है।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, क्योंकि उसका जो असाधारण गुण चैतन्य है, वह उपलब्ध होता है। इस प्रकार कार्य की उपलब्धि से कारण की अर्थात देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है। जैसे— आत्मा है, क्योंकि उसका असाधारण गुण पाया जाता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय। यद्यपि अतिसूक्ष्म होने के कारण आत्मा साक्षात ज्ञात नहीं होती। लेकिन स्पर्शन आदि इन्द्रियों से न होने योग्य रूप विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ज्ञात होने से आत्मा का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि में न होने वाले चैतन्य गुण को देखकर आत्मा का अनुमान किया जाता है। चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है। पृथ्वी आदि भूत समुदाय में चैतन्य गुण का निराकरण करने से यह सिद्ध हो जाता है।

तथा आत्मा अवश्य है, क्योंकि समस्त इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए पदार्थों का सम्मेलनात्मक ज्ञान आत्मा के सिवाय किसी को नहीं हो सकता। 'मैंने पाँचों ही (इन्द्रिय) विषयों को जाना' यह ज्ञान सम्मेलनात्मक ज्ञान है। यह ज्ञान सब विषयों को जानने वाला एक आत्मा माने बिना हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को प्रत्यक्ष करती है। आँख रूप ही देखती है, वह स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं कर सकती। स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ही ज्ञान करती है, वह रूप आदि को नहीं जानती। ऐसी दशा में पूर्वोक्त सम्मेलनात्मक ज्ञान इन्द्रियों को तो होना असंभव है; अतः इन्द्रियों के द्वारा सब अर्थों को प्रत्यक्ष करने वाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। वह आत्मा ही सब विषयों को प्रत्यक्ष करता है। पाँच खिड़कियों के समान पाँच इन्द्रियाँ उसके प्रत्यक्ष के साधन हैं। जैसे खिड़कियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए अर्थ को देवदत्त कालान्तर में स्मरण कर लेता है, वैसे ही इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने गए अर्थों को आत्मा स्मरण कर लेता है।

एक दूसरी युक्ति से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—

जो पुरुष किसी पदार्थ को देखता है, वही दूसरे समय में उस पदार्थ को स्मरण करता है। परन्तु जो देखता नहीं है, वह स्मरण नहीं कर सकता है। देवदत्त ने जो देखा है, उसे वही स्मरण कर सकता है। देवदत्त ने नेत्र द्वारा जिस पदार्थ को कभी देखा है, नेत्र नष्ट होने पर भी वह उसे स्मरण करता है, यह अनुभवसिद्ध है। यदि नेत्र द्वारा पदार्थ को देखने वाला नेत्र से भिन्न आत्मा नहीं है तो नेत्र नष्ट होने पर नेत्र द्वारा देखे हुए पदार्थ को देवदत्त कैसे स्मरण कर सकता है? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार करने वाला इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मा अवश्य है। जैसे पाँच खिड़कियों के द्वारा देवदत्त वस्तु को प्रत्यक्ष करता है, उसी तरह आत्मा पाँच इन्द्रियों द्वारा रूप आदि विषयों को प्रत्यक्ष करता है। इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थापत्ति प्रमाण को सातवाँ प्रमाण माना जाता है। अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण यह है कि जिस पदार्थ का अन्य पदार्थ के बिना न होना छह ही प्रमाणों से निश्चित हो, वह पदार्थ अपनी सिद्धि के लिये जो अन्य अदृष्ट की कल्पना करता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[1] अर्थापत्ति को समझने के लिए उदाहरण लीजिये—**पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुंक्ते** (यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है)। बिना खाए कोई मोटा हो नहीं सकता, यह सभी प्रमाणों से निश्चित है। परन्तु यहाँ देवदत्त का दिन में खाने का निषेध किया है, साथ ही उसे मोटा भी कहा है। मगर खाए बगैर वह मोटा नहीं हो सकता है। इसलिए जाना जाता है कि वह रात में खाता है। यहाँ देवदत्त के लिये रात में भोजन करने की बात नहीं कही गई है, फिर भी अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है। इसी तरह, दीवार आदि पर लेप्य कर्म वगैरह में पृथ्वी, जल आदि पंच महाभूत समुदाय होते हुए भी सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रियाएँ नहीं होती। इससे निश्चित होता है कि सुख, दुख, इच्छा आदि क्रियाओं का समवायी कारण पंचभूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है। और वह पदार्थ आत्मा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानादि मूलक अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि समझ लेनी चाहिए।

आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—**अत्थि मे आया उववाइए**[2] (परलोक में जाने वाला मेरा आत्मा है) **'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** (श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम्हीं हो) इत्यादि आगम प्रमाण आत्मा के विषय में मिलते हैं।

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये दूसरे प्रमाणों को ढूंढ़ने की क्या आवश्यकता है ? सब प्रमाणों में श्रेष्ठ और प्रधान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा के ज्ञान आदि गुण मानस-प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं। वे ज्ञानादि गुण अपने गुणी आत्मा से अभिन्न हैं। गुण तथा गुणी एक होने से मानस-प्रत्यक्ष से आत्मा भी प्रत्यक्ष ही है। जैसे रूप आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से पट आदि का प्रत्यक्ष होता है। आशय यह है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि अनुभूत वाक्यों में 'मैं' इस ज्ञान से ग्रहण किया जाने वाला आत्मा मानस प्रत्यक्ष है। क्योंकि 'मैं' यह ज्ञान, आत्मा का ही ज्ञानरूप है। तथा मेरा यह शरीर

---

१. प्रमाण षट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवन्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥

२. आचारांग सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, मेरा पुराना कर्म है, इत्यादि व्यवहारों से आत्मा शरीर से पृथक बतलाया जाता है। इस युक्ति से भी आत्मा प्रमाण से सिद्ध है।

तुष्यतुदर्जन न्यायेन चार्वाक द्वारा अपने मतलब के लिये प्रयुक्त अनुमान प्रमाण में भी जैन नैयायिक दोष बताते हैं। चार्वाक ने यह कहा कि 'चैतन्य भूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह पंचभूतों का कार्य है, जैसे घट आदि', यह भी असंगत है क्योंकि यहाँ 'भूतकार्यत्व' हेतु 'स्वरूपासिद्धि' है। जहाँ हेतु पक्ष में नहीं रहता, वहाँ हेतुत्व का अभाव होने से पक्ष में स्वरूपासिद्धि होती है। जैसे शब्द गुण हैं, क्योंकि वह चाक्षुष है। यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्द रूप पक्ष में न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध है, वैसे ही यहाँ चैतन्य महाभूतों का कार्य न होने से चैतन्य रूप पक्ष में भूत कार्यत्व हेतु नहीं रहता। अतः वह भी स्वरूपासिद्ध है, चैतन्य महाभूतों का कार्य क्यों नहीं है, यह हम पहले ही "महाभूतों का कार्य चैतन्य नहीं है, क्योंकि भूतों का गुण चैतन्य नहीं है।" इस प्रकार के अनुमान द्वारा सिद्ध कर आए है। भूतों का कार्य चैतन्य मानने पर 'मैं पाँच ही विषयों को जानता हूँ' इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, यह दोषापत्ति भी हम पहले प्रस्तुत कर आए हैं। इसलिए भूतों से भिन्न ज्ञान का आधार आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध हुआ।

चार्वाक की ओर से पुनः शंका प्रस्तुत की जाती है—ज्ञान से भिन्न और ज्ञान का आधारभूत अलग आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि ज्ञान से ही सम्मेलनात्मक (संकलनात्मक) ज्ञान आदि सभी सिद्ध हो सकते हैं। अतः शरीर की भेद ग्रन्थि की तरह व्यर्थ ही एक आत्मा को अलग से मानने की क्या जरूरत है? ज्ञान से ही सभी व्यवहार हो सकेंगे। वह इस प्रकार—ज्ञान ही चैतन्य रूप है, उसका शरीर रूप में परिणत अचेतन भूतों के साथ सम्बन्ध होने पर सुख-दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रिया उत्पन्न होती हैं तथा उसी को सम्मेलनात्मक ज्ञान होता है और वही ज्ञान दूसरे भव में भी जाता है। इस प्रकार सब विषयों की व्यवस्था हो जाने पर फिर आत्मा की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान यह है—ज्ञान का आधारभूत एवं ज्ञान से कथंचित भिन्न आत्मा माने बिना अनेक विषयों का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा। जैसे—प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। चक्षु रूप को ही जानती है, रसादि को नहीं। ऐसी दशा में सभी विषयों को जानने वाले इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व न होगा तो ज्ञायक का अभाव होने से 'मैंने पाँचों ही विषय जाने' इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि यह कहें कि ज्ञान का अधिकरण (आधार) कोई द्रव्य (आत्मा) नहीं है, किन्तु आलयविज्ञान नामान्तर वाला ज्ञान ही प्रवृत्तिविज्ञान (अहं प्रत्यय का आधार एवं सुख-दुखादि का अनुसंधानकर्ता आलयविज्ञान कहलाता है और घट आदि को प्रत्यक्ष करने वाला प्रवृत्तिविज्ञान है) का जनक होता है और वही अधिकरण है। उसी से संकलनात्मक ज्ञान आदि भी घटित हो जायेंगे। फिर व्यर्थ ही ज्ञान से भिन्न आत्मा को अलग से मानने का प्रयास क्यों करते हो? इस पर जैनदर्शन कहता है यह तो नाम मात्र का ही भेद हुआ। आपने आत्मा को आलय-विज्ञान नाम देकर प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया और फिर ज्ञान गुण गुणी आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता और न निराधार ही ठहर सकता है। इसलिये जब ज्ञान गुण है तो उसका आधारभूत गुणी आत्मा अवश्य होना चाहिए।

अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो - चार्वाक ने यह माना है कि उन पंचमहाभूतों का विनाश होने पर देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है। यहाँ शंका होती है। हमने आत्मा को पंचभूतों से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य तो विविध युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध कर दिया, लेकिन वह आत्मा नित्य है या अनित्य (विनाशशील)? शरीर से भिन्न होने पर भी क्या शरीर के नाश होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, कायम रहती है या जिस योनि में उस जीव को जन्म लेना होता है, वहाँ चली जाती है? ये प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैनदर्शन इन प्रश्नों का उत्तर अनेकान्तवाद दृष्टि से देता है—'आत्मा किसी अपेक्षा से अनित्य है और किसी अपेक्षा से नित्य है। पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य है।[1] जैसे- -घट द्रव्य रूप से नित्य है, लेकिन नवीनता, प्राचीनता आदि पर्यायों की दृष्टि से अनित्य है। इसी प्रकार[2] आत्मा भी बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था आदि पर्यायों की अपेक्षा से तथा शरीर आदि अवच्छेदक के भेद से अनित्य है। संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन में बँधा हुआ है। उसका कर्म के साथ सम्बन्ध होने के कारण आत्मा की सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं। कर्मों के बन्धन के फलस्वरूप आत्मा कभी मनुष्य पर्याय को छोड़कर देव पर्याय में जाता है, तो कभी नारक और तिर्यंच पर्याय में जाता है। वहाँ शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुख रूप फल भोगता है। अतः

---

१. आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥—**स्याद्वादमंजरी**

२. उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्। —**तत्त्वार्थ-सूत्र**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है। लेकिन द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। किसी की आत्मा ने मनुष्य शरीर धारण किया, लेकिन फिर जहाँ-जहाँ उसका जीव जिस-जिस योनि में जो-जो शरीर धारण करेगा, वहाँ-वहाँ सर्वत्र आत्मा जाएगा। विविध शरीरों के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होगा। यहाँ तक कि फिर कभी शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा, ऐसी मुक्त-सिद्ध-बुद्ध स्थिति आने पर भी उस जीव का शरीर छूट जाएगा, मगर आत्मा मुक्ति में साथ ही जाएगी। अतः आत्मा नित्य है, शाश्वत है। अगर आत्मा को एकान्तरूप से अनित्य मान लिया जाए तो केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए यम, नियम, प्राणायाम, तप, स्वाध्याय, श्रवण, मनन, धारणा, ध्यान, समाधि, ईश्वरप्रणिधान आदि लोकोत्तर फल के साधनों का तथा श्रम, कृषि, व्यापार, सेवा, दान, परोपकार आदि इहलौकिक फल देने वाले कर्मों का तथा प्रत्यभिज्ञान, स्मरण आदि का सर्वथा लोप हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि सभी बुद्धिमान व्यक्ति आत्मा को अपने शरीर से भिन्न, परलोक में साथ जाने वाला, कथंचित् नित्य जान कर ही पारलौकिक फल के साधन दान, पुण्य, सेवा, परोपकार आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अगर वे प्रज्ञामूर्ति जन आत्मा को एकान्त अनित्य समझते तो जिस शरीर के द्वारा या जिस शरीर में रहकर दान-धर्म, पुण्य, परोपकार आदि शुभकर्म किये हैं; वह शरीर, वह आत्मा और किये हुए सभी शुभकर्म सबके सब यहीं मरने के साथ ही नष्ट हो जायेंगे; फिर कालान्तर में पुण्यादि शुभ कार्यों के फलस्वरूप स्वर्गादि परलोक या भवान्तर में कुछ नहीं मिलेंगे, यह जान कर कौन पुण्यादि शुभ कर्म करते? जब आत्मा देहनाश के साथ ही समाप्त हो जाएगा, तब पाप करने वालों को तो पाप करने की खुली छूट मिल जायगी कि शरीर, आत्मा तथा शुभाशुभ कर्म सबके सब यहीं नष्ट हो जायेंगे, आगे कर्मफल भोगने के लिए कहीं जाना नहीं है। संसार में तब तो अव्यवस्था और अराजकता छा जाएगी। शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने की कोई गुंजाइश ही नहीं रहेगी। ऐसा तो होता ही नहीं कि एक आत्मा (जीव) के बदले दूसरा जीव फल भोग ले। इसलिए आत्मा एकान्त अनित्य नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा एकान्त नित्य भी नहीं है, क्योंकि एकान्त नित्य आत्मा को मानने पर जन्म, मरण, तथा नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देवगति आदि की व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

अतएव आत्मा कथंचित् अनित्य है और कथंचित् नित्य भी है। एक ही आत्मा में द्रव्य की अपेक्षा से नित्यता और देव, नारक, तिर्यञ्च आदि पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता मानने में कोई दोष नहीं आता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तो ठीक, पर वह आत्मा अमूर्त, निरंजन, निराकार अपने आप में होने पर भी जब तक विविध योनियों एवं गतियों में विविध शरीरों के साथ सम्बद्धित रहती है, तब क्या वह शरीर के किसी कोने में दुबकी रहती है, या सारे शरीर में व्याप्त होकर रहती है, अथवा सारे संसार में व्याप्त होकर रहती है ? इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न अटकलें लगाई हैं, भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की है। कोई दार्शनिक आत्मा को अणु परिमाण ही मानते हैं। वैदिक श्रुति[1] में बताया है—यह अणु परिमाण आत्मा चित्त के द्वारा माना जाता है, जिसमें ५ प्रकार के प्राणों का सन्निवेश है। कुछ दार्शनिक आत्मा को समस्त ब्रह्माण्डव्यापी मानते हैं और कई दार्शनिक मानते हैं—मध्यम परिमाण वाला आत्मा। जो आत्मा को श्यामाक (धान्य विशेष) के दाने के बराबर या अँगूठे के पर्व के समान या अणु परिमाण मानते हैं, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इतना छोटा आत्मा सारे शरीर में व्याप्त होकर नहीं रह सकता। तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त ज्ञान गुण की उपलब्धि उसे नहीं हो सकेगी, न सारे शरीर में चेतना का लाभ हो सकेगा। अगर आत्मा को व्यापक परिमाण वाला मानते हैं तो सभी जगह उसके गुण पाए जाते, मगर ऐसा प्रतीत नहीं होता। अतएव आत्मा व्यापक नहीं है।[2] जैसे घट के रूप आदि गुण घट से भिन्न प्रदेश में नहीं पाये जाते, वे घट में ही रहते हैं, वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुण भी शरीर पर्यन्त ही पाये जाते हैं, शरीर के सिवाय अन्यत्र नहीं पाये जाते, इस कारण ज्ञानादि गुणों का अधिकरण (आत्मा) व्यापक नहीं है, मध्यम परिमाण है— शरीरव्यापी—चर्मपर्यन्त समस्त शरीरव्यापी। कुछ लोग इस पर भी आपत्ति उठाते हैं कि आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानने से वह घट आदि की तरह अनित्य हो जाएगा। फिर तो शरीर के नाश होने की तरह आत्मा का भी नाश हो जाएगा। ऐसी स्थिति में जन्मान्तर में कर्मफल का उपभोग आदि की व्यवस्था कैसे संगत होगी ? ऐसा कहना यथार्थ नहीं है। जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् अनित्य मानता है। इसलिए पर्याय बदलने पर भी आत्मा तो एक रूप ही रहेगा। मगर जब तक कर्म हैं, तब तक शरीर के साथ शरीरव्यापी होकर सम्बद्ध

---

१. 'एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिन् प्राणः पंचधा सन्निवेशः।

—श्रुति

२. यद्यपि समुद्घात, लब्धि, सिद्धि या योग के द्वारा आत्मा को जगद्व्यापी बनाया जा सकता है, पर उस दशा में शरीर भी उतना ही व्यापक बन जाएगा, अतः आत्मा शरीरव्यापी ही होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहेगा। जिस जीव के शरीर का जितना परिमाण होता है, उतना ही परिमाण आत्मा का हो जाता है।

इस प्रकार इन दो गाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने चार्वाकमत-प्रतिपादित पाँच भौतिक सिद्धान्त के मत का खण्डन करके स्वसत्य सिद्धान्तसम्मत आत्मा की सिद्धि, उसका स्वरूप तथा उसकी पंचभूतों से भिन्नता प्रतिपादित की है। शास्त्रकार का आशय प्रस्तुत चार्वाकमतीय एकान्त मिथ्याग्रह को मिथ्यात्व बताकर तज्जन्य कर्म-बन्धन से अपनी आत्मा को बचाने हेतु सम्यक्त्व सेवन ध्वनित हुआ है।

अब शास्त्रकार वेदान्त मत प्रतिपादित एकान्त एकात्मवाद के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसके मिथ्यात्व को सूचित करते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

संस्कृत छाया

यथा च पृथिवीस्तूप एको नाना हि दृश्यते ।
एवं भोः ! कृत्स्नो लोकः, (विज्ञ) विद्वान् नाना हि दृश्यते ॥९॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**एगे य**) एक ही (**पुढवीथूभे**) पृथ्वी समूह (**नाणाहि**) नाना रूपों में (**दीसइ**) दिखाई देता है, (**भो**) हे जीवो (**एवं**) इसी प्रकार (**विन्नू**) विज्ञ आत्मस्वरूप (**कसिणे**) सम्पूर्ण (**लोए**) लोक (**नाणाहि**) नानारूपों में (**दीसइ**) दिखाई देता है।

भावार्थ

जैसे एक ही पृथ्वीसमूह सरिता, सागर, ग्राम, घट, पट, पर्वत, नगर आदि अनेक रूपों में दिखाई देता है, उसी तरह हे भव्य जीवो ! (विज्ञानरूप) आत्ममय यह जड़चेतनरूप समस्त जगत नाना रूपों में दिखाई देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप और विश्लेषण

प्रस्तुत गाथा में एकात्मवाद, जिसे कि उत्तरमीमांसक (वेदान्ती)[१] मानते हैं, का स्वरूप बताया गया है। उत्तरमीमांसावादी वेदान्ती अद्वैतब्रह्म को मानते हैं। उनका प्रधान सिद्धान्त है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन'** अर्थात इस जगत में सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाली चीजें कुछ नहीं है। अर्थात् चेतन, अचेतन (पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ) जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप हैं।[२] सभी प्राणियों के शरीर में जो भूतकाल में रहा है, भविष्य में रहेगा, वह एक ही ब्रह्म (आत्मा) भासमान होता है।[३] इसी तरह सभी जड़ पदार्थ भी ब्रह्मरूप हैं। इसी बात को शास्त्रकार ने व्यक्त किया है—**'एवं भो कसिणे लोए विञ्ञू'** अर्थात सारा जड़-चेतनात्मक लोक आत्म-स्वरूप-चैतन्यमय है।[४] ब्रह्म (आत्मा) एक ही है, वह अद्वितीय है।[४]

प्रश्न होता है कि जगत में ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है, तब फिर ये बहुत सी चीजें हमें अपनी खुली आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, ये क्या हैं? आप तो कहते हैं एक ही पदार्थ है, वह है ब्रह्म; फिर ये जो नाना चीजें दिखाई पड़ती हैं, ये क्या हैं? इसका समाधान वे यों करते हैं कि अविद्या के कारण मनुष्य को भ्रान्ति हो जाती है, इसी से उसे बहुत सी चीजें मालूम होती हैं। अविद्या व्यक्तिगत अज्ञान है, वह मानव स्वभाव में ऐसी मिली हुई चीज है कि बड़ी कठिनता से दूर होती है। अविद्या कोई अलग चीज नहीं है, वही माया है, मिथ्या है। जो कुछ हम देखते हैं या और किसी तरह का अनुभव करते हैं, वह भी ब्रह्म का अंश है, पर वह हमें अविद्या के कारण ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान

१. उत्तरमीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में, कुछ पुराणों में और साधारण साहित्य में मिलते हैं। वेद का ज्ञानकाण्ड उपनिषदों में संगृहीत किया गया है, इसीलिए इसे वेदान्त कहा गया है, इन सिद्धान्तों का क्रम से वर्णन सर्वप्रथम बादरायण ने (ई० पू० ३-४ शताब्दी में) वेदान्त (ब्रह्म) सूत्र में किया, जिस पर शंकराचार्य का बृहद्भाष्य है।

२ 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१), 'ब्रह्म खल्विदं वाद सर्वम्' (मैत्र्युप० ६।३)।

३. पुरुष एवेदं सर्वं, यच्च भूतं, यच्च भाव्यम्।

४. एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को देखकर पानी समझे या पानी में परछाई देखकर समझे कि चन्द्रमा, तारे, बादल आदि पानी के भीतर हैं और पानी के भीतर घूम रहे हैं, ठीक इसी तरह अविद्या के प्रभाव से मनुष्य साधारण वस्तुओं को ब्रह्म न मानकर मकान, पेड़, शरीर या जानवर इत्यादि मानते हैं। ज्यों ही मनुष्य को ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यों कहिए कि ज्यों ही उसका शुद्ध ब्रह्मरूप प्रकट होगा, त्यों ही उसे सब कुछ ब्रह्मरूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुँचते ही मनुष्य के समस्त दुख-दर्द की माया मिट जायेगी, सुख ही सुख हो जायेगा। वह ब्रह्म में मिल जाएगा, या लय हो जाएगा अर्थात अपने असली स्वरूप को पा जाएगा। यह ब्रह्मलयावस्था है। इस प्रकार की ब्रह्मविद्या जिसने प्राप्त कर ली, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया समझो। जिसने ब्रह्म को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। ब्रह्म को जानने के बाद कुछ भी जानना या पाना शेष नहीं रहता।

जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म को छोड़कर कोई चीज नहीं। उसे फिर वेद को पढ़ने की भी आवश्यकता नहीं है। जैसे—पानी से लबालब भरे प्रदेश में क्षुद्र जलाशय का कोई महत्व नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त किए हुए व्यक्ति के लिये वेद का कोई महत्व नहीं है। जब शिष्य ने गुरु से पूछा—"गुरुदेव ! कहाँ आप और कहाँ मैं ? आपकी परमात्मा में और मेरी आत्मा में तो बहुत अन्तर है। क्या सभी ब्रह्म एक से हैं ?" ऋषि ने कहा—"**तत्त्वमसि**" तुम ही वह ब्रह्म (आत्मा) हो। वास्तव में दोनों एक हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, और दृश्यमान नाना पदार्थात्मक जगत मिथ्या है। जगत में नानारूप में दिखाई देने वाली वस्तुएँ ब्रह्म (आत्मा) का ही रूप है। इस बात को आत्माद्वैतवादियों की ओर से स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—"**जहा य पुढवीथूभे णाणाहि दीसइ**" जैसे पृथ्वी का समूह रूप जो अवयवी है अथवा पृथ्वीरूप जो स्तूप-समुदाय रूप पिण्ड है, वह एक है, फिर भी जल, नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, घट, पट आदि नानारूप होने से विचित्र सा दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, कोमल, कठोर, लाल, पीला, भूरा, आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सबमें पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। इन सब भेदों के बावजूद भी पृथ्वीतत्त्व में कोई भेद नहीं होता। इसी प्रकार हे लोको ! चेतन-अचेतन रूप समस्त लोक विज्ञ (विद्वान या ज्ञानमय) एक आत्मा ही है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में होने से नाना प्रकार का दिखाई देता है, परन्तु इस भेद के कारण उस आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। आशय यह है कि जैसे—घड़े आदि सब वस्तुओं में पृथ्वी एक ही है, उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार आत्मा भी विविध आकृति एवं रूप वाले जड़-चेतनमय पदार्थों में व्याप्त है और एक ही है। जैसे कि श्रुति (वेद) में कहा है—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

एक ही आत्मा (ब्रह्म) सभी भूतों में स्थित है। वह एक होकर भी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान नानारूप में दिखाई देता है।

आशय यह है कि जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न पात्रों में अनेक दिखाई देता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधिभेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है।

जैसे एक ही वायु सारे लोक में व्याप्त (प्रविष्ट) है, मगर उपाधिभेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, वैसे ही सर्व भूतों में रहा हुआ एक ही आत्मा उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न रूप वाला हो जाता है।

यही शास्त्रकार का आशय है। यही आत्माद्वैतवादियों की मान्यता है। अगली गाथा में आत्माद्वैतवाद का खण्डन करते हुए शास्त्रकार इस मत के मानने से होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराते हैं—

मूल पाठ

एवमेगे त्ति जप्पंति, मंदा आरम्भणिस्सिया ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

संस्कृत छाया

एवमेक इति जल्पन्ति, मन्दा आरंभनिःश्रिताः।
एके कृत्वा स्वयं पापं, तीव्रं दुःखं नियच्छन्ति ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**एगे**) कई आत्माद्वैतवादी (**त्ति एवं**) एक ही आत्मा है, इस (पूर्वोक्त) प्रकार से (**जप्पंति**) असत्य प्रलाप करते हैं, मिथ्या प्रतिपादन करते हैं। (**मंदा**) वे मन्द यानी जड़बुद्धि हैं, विवेकविकल हैं, (**आरंभणिस्सिया**) प्राणातिपात आदि आरम्भ में आसक्त ऐसे (**एगे**) कई व्यक्ति (**सयं**) स्वयं (**पावं**) पाप (**किच्चा**) करके (**तिव्वं**) तीव्र (**दुक्खं**) दुःख (**नियच्छइ**) प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

कई एकात्माद्वैतवादी सारे ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है, इस (पूर्वोक्त) प्रकार से मिथ्या प्ररूपण करते हैं। वे कई मंदबुद्धि अज्ञ, प्राणातिपात आदि आरम्भ में आसक्त स्वयं पाप करके तीव्र दुख प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

आत्माद्वैतवाद का निराकरण

इस गाथा में पूर्वगाथा में प्रतिपादित आत्माद्वैतवाद को अयथार्थ बताकर उसका प्ररूपण करने वाले व्यक्तियों को शास्त्रकार ने मंदबुद्धि, अज्ञानी, विवेकहीन और मिथ्या प्ररूपण करने वाले बताया है।

प्रश्न होता है कि आत्माद्वैतवाद का प्ररूपण करने वाले मंदबुद्धि क्यों हैं? उन्होंने बड़ी-बड़ी युक्तियाँ और दृष्टान्त देकर सारे जड़-चेतनात्मक संसार को एक ब्रह्मरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अतः वे जड़बुद्धि या विवेकहीन कैसे हो हो सकते हैं?

इसके उत्तर में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—"**जप्पंति···आरंभ-णिस्सिया···नियच्छइ।**" आशय यह है कि युक्ति एवं विचार से रहित होने के कारण वे युक्तिरहित एकात्मवाद को पकड़ कर जहाँ-तहाँ अपनी डींग हाँकते हैं। वे उस प्रकार का ब्रह्मज्ञान बघारते हैं, जिसका कोई ओर-छोर नहीं है, यही उनकी मूर्खता या मूढ़ता है।

एगे—ऐसा युक्तिरहित आत्माद्वैतवाद कई लोग बघारते हैं, सभी नहीं। क्योंकि वेदान्तदर्शन में भी आगे चलकर शंकराचार्य, आचार्य रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि आचार्यों ने इसमें कुछ संशोधन किया है। ब्रह्म को सगुण मानकर भक्तियोग का भी समावेश किया है, तथा ब्रह्म सत्य होते हुए भी प्रेम या करुणामय है। ब्रह्म अन्तर्यामी है, वह सब आत्माओं के भीतर का हाल जानता है। ब्रह्म में मिल जाने पर बिल्कुल मिथ्या नहीं है, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि कई शाखाएँ वेदान्तदर्शन में से फूटी हैं। वे लोग पूर्वोक्त मान्यता से कुछ भिन्न विचार रखते हैं। इसीलिए 'एगे' कहा गया है।

एकात्मवाद युक्तिरहित इसलिए है कि एक ही आत्मा को मानने पर एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्मों का फल दूसरे को भोगना चाहिए। एक को कर्मबन्धन होने पर संसार के सभी जीवों के कर्मबन्धन होना चाहिए, संसार से किसी एक व्यक्ति के कर्मबन्धन से मुक्त होने पर संसार के सभी जीवों को मुक्त हो जाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए. लेकिन ऐसा कदापि होता नहीं और न ही यह सुसंगत है। इस प्रकार विश्व में सिर्फ एक आत्मा को स्वीकार करने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। जो जीव मुक्त है, वह एकात्मवाद की दृष्टि से बन्धन में पड़ जाएगा और जो पुरुष बन्धन में हैं, वे एकात्मवाद के कारण मुक्त हो जाएँगे। फिर तो एक के अशुभ-कर्म करने पर शुभकर्म करने वाले सभी पुण्यात्माओं को भी तीव्र दुख होना चाहिए, क्योंकि सबका आत्मा एक है। परन्तु यह नहीं देखा जाता। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जो व्यक्ति अशुभ (पाप) कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, वही दुखी होता है, उसके बदले दूसरे सब व्यक्ति दुखी नहीं हो सकते। किन्तु सबका आत्मा एक मानने पर जो पापी नहीं, उसे भी पापी के बराबर कष्ट भोगना पड़ेगा। क्योंकि सब एक ब्रह्मरूप होने से आत्मा में कोई भिन्नता तो रही नहीं है। एक ही आत्मा मानने पर देवदत्त को जो ज्ञान हुआ, वह यज्ञदत्त को भी होना चाहिए। देवदत्त के ज्ञान को यज्ञदत्त को जानना चाहिए लेकिन यह भी होता नहीं। एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर दूसरे सभी जीवों को जन्म लेना, मर जाना चाहिए या किसी कार्य में प्रवृत्त हो जाना चाहिए पर ऐसा कदापि होता नहीं। इसलिये सब प्राणियों का एक आत्मा है, यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं है। तथा आत्मा को सर्वब्रह्माण्डव्यापक मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि शरीररूप में परिणत पाँचभूतों में ही चैतन्य पाया जाता है, घट-पटादि पदार्थों में नहीं। अन्य आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। इसीलिए कहा है—

नैकात्मवादे सुख-दुःखमोक्ष-
व्यवस्था कोऽपि सुखादिमान् स्यात्।

एकात्मवाद में सुख, दुख, मोक्ष आदि व्यवस्थाएँ गड़बड़ा जाएँगी। इसलिये इस मत को मानकर कोई सुखी नहीं हो सकता। अतएव जड़-चेतनात्मक जगत् में सिर्फ एक ही आत्मा है, यह कहना युक्ति-संगत नहीं है। एकात्मवाद का ब्रह्मज्ञान पाकर कई व्यक्ति इतने निःशंक हो जाते हैं, कि उनके एकात्मवाद के साथ अहिंसा, सत्यादि का आचरण या किसी अपने से उत्कृष्ट परमात्मा, सर्वज्ञ, वीतराग, त्यागी, निःस्पृह श्रमण आदि की उपासना करना तो बिलकुल ही बताया नहीं जाता, क्योंकि वेदान्तदर्शन में तो इसी पर जोर दिया गया है कि सारे संसार में एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व को मान लो, समझ लो, ब्रह्मज्ञान कर लो, ब्रह्म में लीन हो जाओ, यही मुक्ति है, यही सर्वस्वज्ञान है। इसी से मुक्ति हो जाएगी। इसलिये एकात्मवाद को मानकर फिर वह बेखटके हिंसा, असत्य आदि पापों में प्रवृत्त हो जाता है, क्योंकि उसे यह तो भय है नहीं, कि मैं जो शुभाशुभ कर्म या पाप-पुण्य की प्रवृत्ति करूँगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका फल तो मुझे मिलेगा नहीं, क्योंकि अगर मुझे फल मिलेगा तो सारे संसार को फल मिलेगा। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**'मन्दा आरंभनिस्सिया, एगे किच्चा सयं पावं।'** तात्पर्य यह है—ऐसे कई आत्माद्वैतवादी या उनके चक्कर में पड़े हुए व्यक्ति, ये युक्तिहीन मिथ्या आत्माद्वैतवाद को पकड़कर विवेकभ्रष्ट होकर बेखटके हिंसा आदि आरंभ करते हैं, उसी में रात-दिन रचे-पचे रहते हैं, उधर लोगों में भले बनने या धर्मात्मा का स्वांग रचने के लिये वे रटी-रटाई ब्रह्मज्ञान की—आत्मा की बातें करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान का तोता-रटन्त उन्हें पापकर्मबन्धन से बचाने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार वे अपनी आत्म-वंचना करके पापकर्म में लिप्त होकर उस बन्धन के फलस्वरूप इहलोक में भी दुख पाते हैं और परलोक में भी नरक, तिर्यन्च आदि दुर्गतियों में जाकर नाना प्रकार के दुखों से पीड़ित होते हैं। इस एक जन्म में एकान्त आत्माद्वैत के मिथ्यात्व सेवन के कारण वे अगले जन्मों में भी सहसा सम्यग्ज्ञान या सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाते। नरक-तिर्यन्च गति में उन बेचारों को सम्यग्बोध कहाँ मिल सकता है? और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की रुचि भी कहाँ होती है? मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व का गाढ़ काला पर्दा उनकी बुद्धि पर पड़ जाता है और पड़ा रहता है। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब अगली गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवादियों के मत का स्वरूप बताकर उसका खण्डन करते हुए कहते हैं।

मूल पाठ

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

संस्कृत छाया

प्रत्येकं कृत्स्ना आत्मनः, ये बाला ये च पण्डिताः।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति, न संति सत्त्वा औपपातिकाः ॥११॥

अन्वयार्थ

(**जे बाला**) जो अज्ञानी हैं, (**जे य पंडिया**) और जो पण्डित हैं, (**कसिणे**) उन सबकी (**आया**) आत्माएँ (**पत्तेअं**) पृथक पृथक (**संति**) हैं। (**ते**) किन्तु वे (**पिच्चा**) मरने के पश्चात (**न संति**) नहीं रहते हैं (**सत्ता**) वे प्राणी (**उववाइया**) परलोकगामी (**नत्थि**) नहीं होते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जो अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी हैं, उन सबकी आत्माएँ पृथक-पृथक् हैं, एक नहीं है। किन्तु वे आत्माएँ मरने (शरीर छूटने) के पश्चात् नहीं रहती, और न परलोक में जाती हैं। यानी प्राणी औपपातिक (एक भव से दूसरे भव में जाने वाले) नहीं होते।

व्याख्या

आत्मा अनेक; किन्तु शरीर के साथ समाप्त

इस गाथा में शास्त्रकार यह बताना चाहते हैं कि कई लोग आत्माएँ तो अनेक मानते हैं, क्योंकि संसार में यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि कई लोग बिलकुल अज्ञानी हैं, उन्हें अपने स्वरूप तथा जीवन का भान ही नहीं होता, इसके विपरीत कई लोग एकदम ऊँचे दर्जे के विद्वान हैं, शास्त्रज्ञ हैं, विवेकवान हैं। इस महान् अन्तर को देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता कि सारे संसार में आत्मा एक ही है। बल्कि संसार के सब प्राणियों की आत्माएँ अलग-अलग हैं। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते हैं—**'पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिआ।'**

तज्जीव-तच्छरीरवाद का स्वरूप

प्रश्न होता है, जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि दर्शनों का तो यही सिद्धान्त है—**'प्रत्यगात्मा भिद्यते'** प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है। वह अपने आप में सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, तब फिर शास्त्रकार इस मत का खण्डन क्यों करते हैं? इसका समाधान शास्त्रकार स्वयं करते हैं—**'संति पिच्चा न ते ।'** अर्थात् आत्मा पृथक-पृथक मानने पर भी उनका मत है कि जब तक शरीर विद्यमान रहता है, तब तक ही आत्मा भी स्थित रहती है, किन्तु शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों से चैतन्य प्रकट होता है, अतः उनके अलग-अलग होने पर वह चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। शरीर के साथ ही चैतन्य-विनाश का कारण यह है कि शरीर से बाहर निकल कर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। यही तज्जीव-तच्छरीरवादियों के मत का एक पक्ष है।[1]

---

१. **स एव जीवस्तदेव शरीरमिति वक्तुं शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।**
अर्थात् वही जीव है, और वही शरीर है, यह जो बतलाता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवादी कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त पंचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहते हैं, तथापि उनके मत में पंचभूत ही शरीर रूप में परिणत होकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नत्थि सत्तोववाइया—तज्जीव-तच्छरीरवादियों के सिद्धान्त का एक अंग यह है कि आत्मा कहीं परलोक में नहीं जाती, इसलिए प्राणी एक भव से दूसरे भव में नहीं जाता। क्योंकि शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही जब आत्मा उत्पन्न-विनष्ट हो जाता है तब फिर कौन परलोक में या अन्य जन्मान्तर में आत्मा साथ जायगा ? जो वस्तु नष्ट हो चुकी है, उसका आना-जाना सम्भव ही नहीं है। आना-जाना तो उसी में पाया जाता है जो स्थितिशील हो। जैसा कि उनके आगम (श्रुति) में कहा है—'**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति**।' अर्थात, 'विज्ञान का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात नष्ट हो जाता है। अतः मरण के पश्चात ज्ञान (चैतन्य) नहीं रहता।' शास्त्रीय भाषा में एक भव से दूसरे भव में जाना 'उपपात' कहलाता है और जो एक भव से दूसरे भव में जाता है, उसे 'औपपातिक' कहते हैं। **सत्ता**—सत्त्व अर्थात प्राणी, जो आत्मा को धारण करने वाले हैं, उन्हें कहते हैं।

शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि आत्मा भी जब शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है; तब आत्मा ही नहीं, आत्मा को धारण करने वाले प्राणी भी एक जन्म से दूसरे जन्म में नहीं जाते।

इस मत के द्वारा मान्य आत्मा का अनेकत्व तो जैनदर्शन को अभीष्ट है, लेकिन शरीर के उत्पन्न-विनष्ट होने के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति-विनाश मानना अभीष्ट नहीं है। जैनदर्शन जीवों के बहुत्व को स्वीकारते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न एवं परलोकगामी मानता है। इतना जैनदर्शन और तज्जीव-तच्छरीरवाद में अन्तर है।

जब गुणी आत्मा यहीं नष्ट हो जाता है, परलोक नहीं जाता है तो उसके गुण धर्म और अधर्म का यहीं नाश हो जाता है, परलोक में जाने का तो सवाल ही नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव में उक्त कारण के आश्रित कार्य का भी अभाव होता है। घड़े के ठीकरों का अभाव (नष्ट) हो जाने पर घट भी किसी प्रकार ठहर नहीं सकता, तथैव जब (धर्मी) आत्मारूप कारण का ही अस्तित्व नहीं है, तो

सब क्रियाएँ करते हैं। परन्तु तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत में ऐसा नहीं है। वे शरीररूप में परिणत पंचभूतों से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानते हैं। यही पंच-भूतवादियों से तज्जीव-तच्छरीरवादियों का अन्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके आश्रित धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) का भी अभाव हो जाता है। इसे ही बतलाने के लिए शास्त्रकार अगली गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवादी की मिथ्या मान्यता का अनिष्ट परिणाम बताते हैं।

मूल पाठ

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

संस्कृत छाया

नास्ति पुण्यं वा पापं वा, नास्ति लोक इतः परः।
शरीरस्य विनाशेन, विनाशो भवति देहिनः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**पुण्णे व**) पुण्य (**वा पावे**) अथवा पाप (**नत्थि**) नहीं हैं। (**इतो**) इस लोक से (**वरे**) परे, आगे, दूसरा (**लोए**) लोक (**नत्थि**) नहीं है। (**सरीरस्स**) शरीर के (**विणासेणं**) विनाश से (**देहिणो**) देही—आत्मा का (**विणासो**) विनाश (**होइ**) हो जाता है।

भावार्थ

पुण्य अथवा पाप नहीं हैं। इस लोक से भिन्न दूसरा लोक भी नहीं है। शरीर के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है।

व्याख्या

पुण्य-पाप का अभाव : एक दृष्टि

इस गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवादियों के मत का अनुसरण करने से क्या अनिष्टापत्ति होती है, यह बताने के लिए शास्त्रकार ने कहा—'**नत्थि पुण्णं व पावे वा**' पंचभूतात्मक शरीर के साथ ही आत्मा के विनष्ट हो जाने से जीव द्वारा किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप जो पुण्य-पाप होते हैं, वे नहीं हैं। **सरीरस्स विणासेण**—पुण्य और पाप आदि क्रमशः शुभ-अशुभ कर्मों के फल होते हैं। दान, परोपकार, सेवा आदि शुभ क्रियाओं से पुण्य बन्ध होता है और हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि अशुभ क्रियाओं से पाप-बन्ध होता है। इन दोनों का अस्तित्व तज्जीव-तच्छरीरवादी के मत में नहीं है। क्यों नहीं है? इसका कारण उन्हीं की दृष्टि से शास्त्रकार बताते हैं—'**सरीरस्स विणासेणं**' जो चेष्टा तथा इन्द्रियार्थ का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधारभूत हो, वह शरीर कहलाता है। अर्थात सुख-दुख आदि भोग के आश्रय पंचभूतात्मक शरीर का विनाश होने पर आत्मा का भी विनाश हो जाता है। पुण्य पाप ये दोनों आत्मारूप धर्मी के धर्म हैं। धर्म तभी तक टिकते हैं, जब तक धर्मी टिकता है। आत्मारूपी धर्मी के अभाव में पुण्य-पापरूप धर्म का भी अभाव हो जाता है। आत्मा आधार है, पुण्य-पाप आधेय हैं। आधार (आत्मा) के अभाव में 'आधेय' (पुण्य-पाप) का भी अभाव हो जाता है। इस विषय को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं—पानी से प्रगट होने वाली तरंगें पानी के रहते ही दिखाई देती हैं। सूर्य की तप्त किरणों आदि से पानी के सूख (नष्ट हो) जाने पर जल का अभाव हो जाने से जल का बुलबुला भी नष्ट हो जाता है। इस तरह जब तक बुलबुलों का उत्पादक जल रहता है, तभी तक तज्जनित बुलबुले रहते हैं। इसी प्रकार जल के विनष्ट होने पर जल के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले कार्य समूह भी नष्ट हो जाते है। निष्कर्ष यह है कि उत्पादक के अभाव में उत्पाद्य का, एवं अभिव्यंजक के अभाव में अभिव्यंज का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार अभिव्यंजक भूत समुदाय अर्थात शरीर के नष्ट होने पर भूतों के समुदाय से उत्पन्न होने वाला आत्मा भी नष्ट हो जाता है। केले के खम्भे के बाहरी छिलकों को उतारे जाने पर अन्त में छिलके ही छिलके रह जाते हैं, उनसे भिन्न सार रूप पदार्थ केले में नहीं रहता। इसी प्रकार शरीर सम्बन्धी पंचमहाभूतों के अलग-अलग हो जाने पर उनसे भिन्न साररूप कोई आत्मा नाम का पदार्थ नहीं रहता, जो पुण्य-पाप आदि कारणों को ग्रहण करके दिखाई देने वाले इस लोक से दूसरे लोक में जाकर सुख या दुख का उपभोग करे। जब पुण्य-पाप ही नहीं हैं (यानी धर्मीरूप आत्मा के साथ ही नष्ट हो गये हैं), तब उनके फलस्वरूप मिलने वाले परलोक भी नहीं है। पुण्य-पाप के कारण ही परलोक होता है, जब पुण्य-पापरूप कारण ही नहीं हैं, तब उनसे होने वाला परलोक भी नहीं है, जहाँ जाकर जीव अपने किये कर्म का फल भोग सके। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**'नत्थि लोए इतो वरे'**—इस दिखाई देने वाले लोक से भिन्न कोई परलोक नहीं है। जहाँ तक चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यापार होता है, उतना ही लोक है। सुख-दुख आदि के उपभोग का आधार लोक ही प्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य कोई परलोक नहीं है, जहाँ जाकर जीव पुण्य-पाप का सुख-दुखरूप फल भोगता हो।

परलोक क्यों नहीं है ? इस प्रकार पूछे जाने पर उनकी ओर से उत्तर मिलता है—पंचभूतात्मक शरीर नष्ट हो जाने पर आत्मा नष्ट हो जाती है, ऐसी दशा में भूत समुदाय से अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती। ऐसा दृष्टि-गोचर नहीं होता कि आत्मा शरीर से निकल कर परलोक को जा रहा हो। जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाँबी से बाहर निकलते समय सर्प पास में खड़े हुए लोगों को दिखाई देता है, वैसे ही शरीर से बाहर निकलता हुआ जीव मृत शरीर के पास बैठे हुए लोगों को दिखाई नहीं देता। अतः जो दिखता ही नहीं, उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है। यों अगर अनुपलब्ध पदार्थ की भी सत्ता मानने लगेंगे तो खरगोश के सींग और आकाश के फूल की भी सत्ता माननी पड़ेगी।

यहाँ शंका होती है कि जैसे स्वप्न में घट, पट आदि बाहरी पदार्थों के मौजूद हुए बिना भी उनका ज्ञान हो जाता है, वह बाधित भी नहीं होता, वैसे ही आत्मा की बाह्य उपलब्धि के बिना ही भूत समुदाय से पृथक् आत्मा का अनुभव ज्ञान उत्पन्न होना माना जाय तो क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि स्वप्न में दृश्यमान घट-पटादि बाह्य पदार्थों का ज्ञान तभी होता है, जब घट, पट आदि पहले कहीं प्रत्यक्ष देखे गये हों। आत्मा तो पहले कहीं प्रत्यक्ष देखा गया नहीं है, इसलिए भूतों से भिन्न उसकी उपलब्धि (अनुभव ज्ञान) होना सम्भव नहीं है।

अथवा जैसे अत्यन्त स्वच्छ काँच में मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, क्योंकि काँच अत्यन्त स्वच्छ होता है। काँच में बाह्य पदार्थ तो घुसता नहीं है, वहाँ विद्यमान न होने पर भी पदार्थ काँच के अन्दर प्रतीत होता है। इसी प्रकार आत्मा भी भूत समुदाय के शरीराकार में परिणत होने पर भूतों से पृथक न होने पर भी भूतों से पृथकता की बुद्धि उत्पन्न करता है। अर्थात आत्मा भूतों का विशेषण होने से भूतों से अभिन्न होता हुआ भी भूतों से भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु आत्मा के भेदरूप से प्रतिभासमान होने की बात सीप में चाँदी के या रस्सी में साँप के प्रतिभासमान होने के समान भ्रान्त है। अतः रस्सी में साँप की बुद्धि अवास्तविक है, उसी तरह भूत समुदाय में चेतना बुद्धि होना भी अवास्तविक है। अतः भूत समुदाय रूप शरीर में भूतों से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, यही तज्जीव-तच्छरीरवादियों के मत का कथन है।

पुण्य पाप एवं परलोक न मानने पर

पुण्णे व पावे वा—पुण्य का अर्थ होता है—सुख प्राप्तिरूप शुभ-अच्छा फल देने वाला कर्मपुद्गल, अथवा जीव को अभ्युदय प्राप्त कराने वाला। तथा पाप का अर्थ है—दुख प्राप्ति रूप अशुभ बुरा फल देने वाला कर्मपुद्गल अथवा जीव को अवनति प्राप्त कराने वाला।[1] पुण्य एक प्रकार से शुभ आस्रव है या शुभ बन्ध है जबकि पाप एक प्रकार से अशुभ आस्रव है या अशुभ बन्ध है।

१ शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तज्जीव-तच्छरीरवादियों के समक्ष यह शंका प्रस्तुत की जाती है कि यदि पाँच भूतों से भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है और उसके किये हुए पुण्य-पाप नहीं है तो यह विचित्र जगत क्यों दृष्टिगोचर होता है ? इस विश्व में कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई मतिमन्द है तो कोई प्रखर प्रज्ञ, कोई स्वस्थ, कोई रोगी, कोई सुखी तो कोई दुखी प्रतीत होता है, ऐसी विचित्रता क्यों दिखाई देती है ? इसे भ्रान्ति तो कह नहीं सकते और न इसे मिथ्या प्रतीति ही कह सकते हैं।

इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं—यह सब स्वभाव से होता है। जब किसी पत्थर के टुकड़े की देवमूर्ति बनाई जाती है और मूर्ति कुंकुम, चन्दन, अगरु आदि विलेपन से सुशोभित है और धूप आदि की सौरभ से भी सुवासित है। जबकि दूसरे पत्थर के टुकड़े पर लोग पैर धोते हैं, चटनी बाटते हैं आदि। ऐसा होने में उन दोनों पत्थर के टुकड़ों का क्रमशः कोई पुण्य-पाप नहीं है, जिसके उदय से उनकी वैसी स्थिति हो। अतः यह सिद्ध हुआ कि जगत में परिदृश्यमान विचित्रता स्वभाव से होती है। काँटों में तीक्ष्णता, मयूर में विविध रंगों की छटा, और मुर्गे की चोटी का बढ़िया रंग, ये सब भी तो स्वभाव से ही होते हैं, इन्हें कौन करता है ? वैसे ही जगत में दृश्यमान विविधता स्वाभाविक है, किसी के द्वारा की हुई नहीं है।

परन्तु जैनदर्शन तथा अन्य कई भारतीय दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नहीं हैं। पुण्य-पाप या इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक की व्यवस्था को न मानने पर जगत की सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है तथा फिर कोई भी शुभ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होगा, प्रायः हर व्यक्ति पाप कर्म या बुरे कार्य बेखटके करने के लिए प्रेरित होगा। क्योंकि शरीर खत्म होते ही आत्मा और उसके द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म यहीं खत्म हो जायेंगे। फिर कौन मोक्ष के लिए साधना करेगा ? संसार में पशुता या अराजकता का ही ताण्डव नृत्य होगा। आगे शास्त्रकार स्वयं इस सम्बन्ध में प्रकाश डालेंगे, इसलिए इस विषय को यहीं विराम देते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि यह तज्जीव-तच्छीरवादी सिद्धान्त मिथ्यात्व का पोषक होने से अशुभ कर्मबन्धन का कारण है।

अब अकारकवादी सांख्यदर्शन का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

कुर्वश्च कारयंश्चैव, सर्वं कुर्वन् न विद्यते ।
एवमकारक आत्मा, एवं ते तु प्रगल्भिताः ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**अप्पा**) आत्मा (**कुव्व च**) स्वयं क्रिया करने वाला और (**कारयं**) दूसरे से क्रिया कराने वाला (**चेव**) तथैव (**सव्वं**) सब क्रियाओं को (**कुव्वं**) करने वाला (**न विज्जई**) नहीं है। (**एवं**) इस प्रकार (**अकारओ**) आत्मा अकारक है, किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है। (**ते उ**) वे अकारकवादी (**एवं**) इस प्रकार (**पगब्भिया**) कहने की धृष्टता करते हैं।

भावार्थ

आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, और न ही दूसरे को प्रेरित करके क्रिया करवाता है, तथा समस्त क्रियाएँ आत्मा नहीं करता है। इस प्रकार आत्मा अकारक अर्थात् किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है, यों अकारकवादी सांख्य आदि मत वाले अपने सिद्धान्त की डींग हाँकते हैं।

व्याख्या

आत्मा का अकर्तृत्व : एक विश्लेषण

इस गाथा में सांख्यदर्शन के द्वारा प्ररूपित आत्मा के अकर्तृत्ववाद का स्वरूप बताया गया है। सांख्यदर्शन में आत्मा को पुरुष कहते हैं। व्याकरण शास्त्र में कर्ता का लक्षण दिया है—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' कर्ता स्वतन्त्र होता है। इसका मतलब है कि कर्ता वह है, जो क्रिया के प्रति स्वतन्त्र हो, क्रिया करता हो; जबकि सांख्यदर्शन मान्य आत्मा अमूर्त, नित्य एवं सर्वव्यापी होता है, इसलिए भी वह कर्ता नहीं हो सकता। जो अमूर्त, नित्य एवं सर्वव्यापी होता है, वह क्रियाशून्य होता है। वह (पुरुष) प्रकृति आदि २४ तत्त्वों से भिन्न है, अकर्ता है, निर्गुण (त्रिगुणरहित) है, भोक्ता है तथा नित्य चैतन्यशाली है।[1] आत्मा अकर्ता इसलिए भी है कि वह विषय-सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मों को नहीं करता।[2] आत्मा में एक तिनके को भी मोड़ने की शक्ति नहीं है।

किसी अन्य कारण से प्रयुक्त होकर जो सकल कारकों का प्रयोजक (प्रेरक) होता है, वह भी कर्ता कहलाता है, इस अर्थ में भी सांख्यदर्शनीय आत्मा कर्ता नहीं

---

१. 'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कापिलदर्शने ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई**' इस गाथा में **कुव्वं** पद के द्वारा स्वतन्त्र कर्ता का भी निषेध किया है। चूंकि आत्मा अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है, इसलिए वह कर्ता नहीं हो सकता और इसी कारण वह दूसरों से क्रिया कराने वाला भी नहीं हो सकता। इस गाथा में प्रयुक्त पहला **च** शब्द आत्मा के भूतकालीन एवं भविष्यकालीन कर्तृत्व का निषेधक है।

आशय यह है कि आत्मा स्वयं किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता और दूसरे को भी किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करता। **कुव्वं च कारयं चेव**—यहाँ शास्त्रकार ने आत्मा के स्वयं कर्तृत्व तथा पर-प्रेरणा द्वारा कर्तृत्व का निषेध कर दिया है, इन दोनों पंक्तियों से समस्त क्रियाओं के कर्तृत्व—कारयितृत्व का निषेध कर दिया गया है, फिर पुनः '**सव्वं कुव्वं न विज्जई**' कहने की क्यों आवश्यकता पड़ी।

इसके समाधान में यों कहा जा सकता है कि सांख्यमत में आत्मा स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता, लेकिन मुद्रा-प्रतिबिम्बोदय-न्याय एवं जपा-स्फटिक-न्याय से वह स्थितिक्रिया और भोगक्रिया करता है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य और कर्तृत्व धर्म भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहते हैं। चैतन्य आत्मा का धर्म है और कर्तृत्व प्रकृति का। शीशे में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण में पुरुष (आत्मा) का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतएव जैसे शीशे के हिलने पर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी हिलता है इसी प्रकार प्रकृति में रहे हुए विकार पुरुष में भी प्रतिभासित होते हैं। इस दृष्टि से जीव अकर्ता होकर भी कर्ता हो जाता है, अचेतन भी लिंग चेतना वाला हो जाता है। प्रकृति में स्थितिक्रिया होने पर पुरुष में भी स्थितिक्रिया उपलब्ध होती है। अचेतन प्रकृति भी चेतनावती सी हो जाती है और आत्मा अकर्ता होने पर भी शरीर के सम्बन्ध के कारण कर्ता-सदृश हो जाता है।[1] वह स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, यह सांख्यमत का आशय है।

जैसे किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए स्वयं प्रयत्न नहीं करती, किन्तु प्रयत्न के बिना ही वह चित्र में स्थित रहती है। इसी तरह आत्मा अपनी स्थिति के लिए स्वयं प्रयत्न किये बिना ही स्थित रहता है। इस 'मुद्रा-प्रतिबिम्बितोदयन्याय' की दृष्टि से आत्मा स्थितिक्रिया का स्वयं कर्ता न होने के कारण अकर्ता-सा है। इसी प्रकार जैसे स्फटिक मणि के पास लाल रंग का जपापुष्प

---

१. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ —सां० का०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रख देने पर वह लाल-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः स्फटिक लाल है नहीं, वह तो श्वेत ही है, श्वेत ही रहता है तथापि लाल फूल की छाया पड़ने से वह रक्त हुआ-सा जान पड़ता है। इसी तरह सांख्यमत में आत्मा भोगक्रिया रहित है, तथापि बुद्धि के संसर्ग से बुद्धि का भोग आत्मा में प्रतीत होता है। इसी प्रकार जपा-स्फटिक-न्यायेन आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती है।

इस दृष्टि से आत्मा की स्थितिक्रिया और भोगक्रिया औपचारिक रूप से मानी गई है, वास्तव में इन दोनों क्रियाओं के लिए आत्मा प्रयत्न नहीं करता। इसी-लिए शास्त्रकार ने दूसरी बार कहा कि **'सव्वं कुव्वं न विज्जई'** आत्मा समस्त क्रिया का कर्ता नहीं है। इसका रहस्य यह है कि एक देश से दूसरे देश में जाना आदि सभी क्रियाओं को आत्मा नहीं करता है, क्योंकि सर्वव्यापी और अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह वह निष्क्रिय है।

सांख्यों की धृष्टता : क्या और कैसे ?

ते उ पगब्भिया—शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि सांख्यमत पूर्वप्ररूपित मतों से भिन्न है, किन्तु वे (सांख्य) अत्यन्त धृष्ट होकर ऐसा कहते हैं कि प्रकृति ही सब कुछ करती है। लेकिन यज्ञ, दान, तप आदि सब कार्य प्रकृति करती है तो उन-उन शुभ कार्यों के करने के पुण्यफल की भोक्त्री भी प्रकृति ही होनी चाहिए थी, किन्तु पुरुष के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकारण्य छोड़कर प्रकृति को कर्तृत्व और पुरुष को भोक्तृत्व मात्र का वैयधिकारण्य मानते हैं, यह उनकी धृष्टता है। पुरुष चैतन्यवान् है फिर भी नहीं जानता, यह कथन उनकी दूसरी धृष्टता है। इस प्रकार उनकी धृष्टता के और भी नमूने उनके दर्शन-ग्रन्थों से समझ लेने चाहिए। जैसे कि सांख्यकारिका में कहा है—

तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते, नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।
रूपैः सप्तभिरेवमात्मानं बध्नात्यात्मना प्रकृतिः॥

पुरुष बद्ध नहीं होता, और न मुक्त होता है और न एक भव से दूसरे भव में जाता है। अनेक पुरुष का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही एक भव से दूसरे भव में जाती है, मुक्त होती है और बद्ध होती है। इस प्रकार सात रूपों में आत्मा को प्रकृति बद्ध करती है। आत्मा नहीं, वही प्रकृति फिर उसे मुक्त करती है।

इतना होने के बावजूद भी 'आत्मा कर्ता नहीं है' ऐसा कहने वाले सांख्य अकारकवादी हैं। इसलिए धृष्ट हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'ते उ पगब्भिया।'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब शास्त्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी और अकारकवादी इन दोनों मतों का मिथ्या मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं ।

मूल पाठ

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ? ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

संस्कृत छाया

ये ते तु वादिन एवं, लोकस्तेषां कुतः स्यात् ? ।
तमसस्ते तमो यान्ति, मन्दा आरम्भनिःश्रिताः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**जे ते उ**) जो वे, (**वाइणो**) तज्जीव-तच्छरीरवादी एवं अकारकवादी (**एवं**) इस प्रकार कहते हैं, (**तेसिं**) उनके मत में, (**लोए**) यह लोक (**कओ सिया**) कैसे हो सकता है ? (**मंदा**) मूढ़ (**आरंभनिस्सिया**) आरंभ में आसक्त (**ते**) वे वादी (**तमाओ**) एक अज्ञान अंधकार से निकलकर (**तमं**) दूसरे अन्धकार को (**जंति**) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ

जो लोग आत्मा को अकर्ता एवं निष्क्रिय कहते हैं, उन वादियों के मत में यह चतुर्गतिक संसार या परलोक कैसे घटित हो सकता है ? वस्तुतः वे मूर्ख हैं और आरंभ में आसक्त हैं । अतः वे एक अज्ञानतमिस्रा से निकल कर दूसरे अज्ञानतम को प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या

तज्जीव-तच्छरीरवादी मत का निराकरण

शास्त्रकार ने इससे पूर्व दो गाथाओं में क्रमशः तज्जीव-तच्छरीरवाद एवं अकारकवाद का क्रमशः स्वरूप बताया है । अब इस गाथा में क्रमशः उन दोनों के मत के दूषण और मिथ्यात्व परिपोषण का निराकरण करते हैं । तज्जीव-तच्छरीर-वादियों का कथन है कि 'शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है' । यह बात असंगत है, इस बात को सिद्ध करने वाला प्रमाण पाया जाता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है । प्रमाण अनुमान है, वह इस प्रकार है—'यह शरीर किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है, क्योंकि यह आदिवाला और नियत आकारवाला है । इस जगत में जो-जो पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिवाला या नियत आकारवाला होता है, वह किसी कर्ता का किया हुआ होता है। जैसे--घट। जो पदार्थ किसी कर्ता का किया हुआ नहीं होता है, वह आदिवाला तथा नियत आकारवाला नहीं होता। जैसे---आकाश। अतः जो पदार्थ आदिवाला तथा नियत आकारवाला होता है, वह अवश्य किसी न किसी कर्ता का किया होता है, यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नहीं होता, वहाँ व्याप्य भी नहीं होता। किसी कर्ता से किया जाना व्यापकधर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्यधर्म है। ऐसी संयोजना सर्वत्र कर लेनी चाहिए।

आत्मा को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए तथा तज्जीवतच्छरीरवाद का निराकरण करने हेतु दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है---इन्द्रियों का कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य है क्योंकि इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं। इस जगत में जो-जो करण होता है, उसका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है, जैसे---दण्ड आदि साधनों का अधिष्ठाता कुंभकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता, वह करण नहीं हो सकता, जैसे आकाश का कोई अधिष्ठाता नहीं होता, इसलिये वह करण नहीं है। इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिये उनका अधिष्ठाता आत्मा है, वह आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

इसी प्रकार तीसरा अनुमान प्रयोग लीजिए—इन्द्रियों और विषय समूह को ग्रहण करने वाला कोई न कोई अवश्य है, क्योंकि इनका ग्राह्य-ग्राहक भाव देखा जाता है। जहाँ-जहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही कोई ग्रहण करने वाला पदार्थ होता है। जैसे---संडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है। अतः इन्द्रियरूप साधनों से जो विषयों को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियों और विषयसमूह से भिन्न आत्मा है।

चौथा अनुमान प्रयोग लीजिए—इस शरीर का भोक्ता कोई-न-कोई अवश्य है, क्योंकि यह शरीर ओदन आदि के समान भोग्य पदार्थ है। इन्द्रियाँ और मन तो इस शरीर के भोक्ता नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं शरीर के ही अंगभूत हैं। ओदन आदि भोग्य पदार्थों का कोई न कोई भोक्ता अवश्य होता है। इसी प्रकार इस शरीर का भी कोई भोक्ता है, वह है आत्मा।

यदि कोई कहे कि पूर्वोक्त अनुमानों में आपने जो कुंभकार आदि का हेतु दिया था, वह हेतु विरुद्ध है, क्योंकि कुंभकार आदि कर्ता मूर्त, अनित्य और अवयवी हैं, जबकि आत्मा अमूर्त, नित्य और संहतरूप ही सिद्ध होता है, यह बात युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जैनसिद्धान्त भी आत्मा को कथंचित् अमूर्त, अनित्य और अवयवी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि धर्मों से युक्त मानता है। संसारी आत्मा, कर्म से परस्पर मिल कर शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण मूर्त, अनित्य आदि भी माना जाता है।

तज्जीव-तच्छरीरवादी का मत यह भी है कि 'आत्मा (जीव) परलोकगामी (औपपातिक) नहीं है', यह भी यथार्थ नहीं है। निम्नोक्त अनुमान प्रयोग से आत्मा का परलोकगमन सिद्ध होता है—तत्काल जन्मे हुए शिशु को माता के स्तन-पान की इच्छा होती है, वह इच्छा पहले ही पहल नहीं हुई है, किन्तु वह उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है, क्योंकि वह इच्छा है। जो-जो इच्छा होती है, वह अन्य इच्छापूर्वक ही होती है, जैसे कुमार (५-७ वर्ष के बालक) की इच्छा। इसी प्रकार बालक का विज्ञान, अन्य विज्ञानपूर्वक है, क्योंकि वह विज्ञान है। जो-जो विज्ञान है, वह अन्य विज्ञानपूर्वक ही होता है, जैसे कुमार का विज्ञान।

तत्काल जन्मा हुआ बच्चा जब तक 'यह वही स्तन है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर लेता है, तब तक रोना बन्द कर वह स्तन में मुख नहीं लगाता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालक में कुछ न कुछ विज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) अवश्य होता है। वह यत्किंचित विज्ञान अन्य विज्ञानपूर्वक होता है। वह अन्य विज्ञान पूर्व-जन्म (दूसरे भव) का ज्ञान ही हो सकता है। अतः यह सिद्ध होता है कि परलोक में जाने वाला पदार्थ (आत्मा) अवश्य है।

आशय यह है कि जिस पदार्थ का जिसने कभी उपभोग नहीं किया, उसकी इच्छा उसमें नहीं होती है। उसी दिन का जन्मा हुआ बालक माता के स्तन पीने की इच्छा करता है, परन्तु उसने जन्म लेने से पहले कभी स्तनपान नहीं किया है। फिर उस बालक को स्तन पीने की इच्छा क्यों हुई? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस बालक ने पूर्वजन्म में माता का स्तनपान किया है, इसीलिए उसको स्तनपान की फिर इच्छा हुई है। अतः परलोकगामी आत्मा अवश्य है, यह प्रमाणित होता है।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तज्जीव-तच्छरीरवादियों ने कहा था कि 'विज्ञानघन आत्मा इन भूतों से उत्पन्न होकर इनके नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है इत्यादि', यह भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि इस श्रुतिवाक्य का ऊपर जो अर्थ किया गया है, वह ठीक नहीं है, इसका सम्यक् अर्थ है—विज्ञानपिण्ड आत्मा पूर्वभव के कर्मवश शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों के द्वारा अपने कर्म का फल भोगकर उन भूतों के नष्ट होने पर उस रूप से नष्ट होकर फिर दूसरे पर्याय में उत्पन्न होता है। जैसे घट के नष्ट हो जाने पर घट-उपाधिवाला (घट-सम्बद्ध) आकाश नष्ट हुआ सा प्रतीत होता है; लेकिन वह सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसका सम्बन्ध पट आदि से हो जाता है। इसी प्रकार एक पर्याय का विनाश होने पर उस पर्याय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट आत्मा का अभाव सा दिखाई देता है, लेकिन दूसरे पर्याय के रूप में उसकी उत्पत्ति होती है। वास्तव में विशेष पर्याय का ही उत्पाद और विनाश होता है, पर्यायवान जीव (आत्मा) का नहीं। जीव (आत्मा) तो अव्ययी (शाश्वत) द्रव्य होने से सदैव कायम रहता है।

इससे संलग्न जो तीसरी बात वादी ने कही थी कि 'धर्मीरूप आत्मा न होने से उसके धर्म पुण्य-पाप भी नहीं हैं', यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि हमने पूर्वोक्त अनुमानों और श्रुतिरूप प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि कर दी है। आत्मा की सिद्धि हो जाने पर उसके धर्म की सिद्धि स्वतः ही हो जाती है। धर्मीरूप आत्मा सिद्ध होने पर उसके धर्मरूप पुण्य-पापों की सिद्धि भी समझ लेनी चाहिए। अगर पुण्य-पाप न होते तो जगत की विचित्रता भी न दिखाई देती। क्योंकि जगत की इस दृश्यमान विचित्रता का अन्य कोई स्पष्ट कारण नहीं है। जगत में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली विचित्रता का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः जगत की विचित्रता की अन्यथानुपपत्ति से उस विचित्रता को उत्पन्न करने वाले पुण्य-पाप को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

तज्जीव-तच्छरीरवादी ने जगत की विचित्रता स्वभाव से सिद्ध करने के लिए जो पत्थर के टुकड़ों का दृष्टान्त दिया है, वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पत्थर के टुकड़ों में एक का देवमूर्ति बनना और दूसरे का पैर धोने की शिला बनना, स्वभाव से नहीं हुआ है, बल्कि ये दोनों टुकड़े जो तथारूप बने हैं, उनके पीछे उन पत्थरों के उपभोक्ताओं या स्वामियों का कर्म कारण है। उनके स्वामियों के कर्मवश ही वे दोनों शिला के टुकड़े वैसे हुए हैं। इसलिए पुण्य-पाप के अस्तित्व से इन्कार करना प्रत्यक्षानुभूत वस्तु से इन्कार करना है।

आत्मा का अभाव सिद्ध करने के लिए जो केले का स्तंभ आदि अनेक दृष्टांत दिये गये थे, वे भी केवल वाचालता के नमूने हैं, क्योंकि इससे पूर्व युक्ति समूह के द्वारा परलोकगामी, पंचभूतों से भिन्न, साररूप आत्मा सिद्ध कर दिया गया है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्यक्षसिद्ध लोक और विचित्रता की सिद्धि के लिए

लोए तेसिं कओ सिया—इस पंक्ति का अर्थ एक और भी है, वह इस प्रकार है कि 'उन भूतों से भिन्न आत्मा का अपलाप करने वाले तज्जीव-तच्छरीर वादियों के मत से यह प्रत्यक्षसिद्ध कर्ममय लोक (संसार) कैसे संगत हो सकेगा?' जहाँ कर्मफलों का अनुभव किया जाय, उसे लोक कहते हैं। यह चर्तुगतिक संसार ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में लोक है। इसमें एक भव से दूसरे भव में जाता जीव प्रतीत होता है।[1] **'कओ सिया'** इन दो पदों में 'कओ' शब्द आक्षेपात्मक है। इसका तात्पर्य यह है कि यह जो लोक में एक सुखी, एक दुखी, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई सम्पन्न, कोई विपन्न, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, आदि विचित्रताएँ (विलक्षणताएँ) दृष्टिगोचर होती हैं, ये किस तरह से घटित होंगी ? शरीरादि से भिन्न आत्मा को पुण्य-पापफल का भोक्ता मानते तो जगत की विचित्रता सिद्ध होती, उसके बिना विचित्रता की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु वे आत्मा को परलोकगामी और परलोकगमन के साधन—कारण पुण्य-पाप आदि को स्वीकार ही नहीं करते तो कर्मफलानुभव का हेतु चतुर्गतिस्वरूप संसार (लोक) और उसकी विचित्रता कैसे सिद्ध करेंगे ? किसी भी प्रकार से घटित एवं सिद्ध नहीं हो सकती।

इस मान्यता का फल

तमाओ ते तमं जंति—इस गाथा की नीचे की पंक्ति में शास्त्रकार ने तज्जीव-तच्छरीरवादियों के उक्त मिथ्यामत को मान कर चलने वालों के जीवन की क्या दशा होती है ? यह बताया है। उनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का गाढ़ पर्दा पड़ जाता है, इसलिए वे बुद्धिमन्दता के कारण सत्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में सोच नहीं सकते और यदि कोई उन्हें सच्ची बात समझाने का प्रयास करे तो वे उसे अपने पूर्वाग्रहवश ग्रहण नहीं कर सकते, फलतः वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि न मानकर नास्तिक बनकर स्वच्छन्दतापूर्वक हिंसा, असत्य आदि विविध पापारम्भों में रत रहते हैं। वे मन्दबुद्धि लोग कभी यह भी नहीं सोचते हैं कि इन पापकर्मों का फल उन्हें कितना भयंकर मिलेगा ?

वे प्रायः यह सोच लेते हैं कि जब हम आत्मा, पुण्य-पाप एवं उनके कारण होने वाले शुभाशुभ कर्मबन्ध के फलस्वरूप स्वर्ग-नरक (परलोक), मोक्ष आदि नहीं मानते, तो हमें कैसे कर्मबन्ध हो जायगा और क्यों नरक, तिर्यञ्च आदि गति मिलेगी ? परन्तु किसी अनुभवसिद्ध सत्य बात को न मानने से या उसके परिणाम से अनभिज्ञ रहने मात्र से कोई व्यक्ति उसके फल से छूट नहीं सकता। कोई व्यक्ति विष को मारक न माने या न समझे अथवा विष के प्रभाव से अनभिज्ञ होकर यदि विष खा ले तो क्या विष अपना प्रभाव नहीं दिखायेगा ? अवश्य दिखायेगा। इसी प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी नास्तिक यदि अनुभवसिद्ध सत्य सिद्धान्त को न माने, न समझे या ठुकरा दे अथवा अपने माने हुए तथाकथित मिथ्या सिद्धान्तों को पूर्वाग्रहवश पकड़ कर चले, अथवा सत्य सिद्धान्त से अनभिज्ञ होकर उस मिथ्याश्रद्धान-

---

१. 'लोक्यते अनुभूयते कर्म फलान्यस्मिन्निति लोकः चतुर्गतिकः संसारः।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनित मिथ्यात्व विष का सेवन करे तो क्या वह अपना प्रभाव नहीं दिखाएगा? अवश्य दिखायेगा। इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**तमाओ ते तमं जंति**। तम का अर्थ अन्धकार है। मिथ्यात्व एवं अज्ञान एक प्रकार का अन्धकार है। वे मिथ्यात्व अज्ञान आदि अन्धकार में तो पड़े ही हैं, इस घोर अन्धकार में उन्हें पता भी नहीं लगता कि हम क्या कर रहे हैं? हमें क्या करना है? इसलिए उक्त घोर मिथ्यात्व अन्धकार के कारण इस लोक में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि अशुभ कर्मबन्ध का संचय करते हैं और यहाँ से मरने के बाद परलोक में भी उन्हें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का बोध मिलता नहीं, इसलिए वहाँ भी पुनः इसी प्रकार की मिथ्या मान्यताओं के चक्कर में आकर अथवा तिर्यन्च या नरक गति में घोर यातनाएँ पाकर वे ज्ञानावरणीय आदि के घोरतम अन्धकार में पड़ते हैं।

अथवा जो अन्धकार के समान है, उसे 'तम' कहते हैं तथा दुखों के कारण सत्-असत् विवेक-बुद्धि का विनाशक यातना का स्थान भी 'तम' कहलाता है। अतः इस पंक्ति का अर्थ भी यह होता है कि इहलोक में वे मूर्ख युक्तिसिद्ध आत्मा को अपने मिथ्या आग्रह के कारण न मानकर तथा पुण्य-पाप का अभाव मानकर परलोक की परवाह न करते हुए विचारशील पुरुषों द्वारा निन्दित प्राणिहिंसारूप आरम्भ में आसक्त रहते हैं। इस कारण वे मूढ़ यहाँ मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण घोर ज्ञानावरणीय कर्म आदि बड़े से बड़े तम (अन्धकार) का संचय करते हैं। इस प्रकार के तम से वे यातना के धाम नरकरूपी तम में जाते हैं। या इस प्रकार के एक नरकरूप तम से वे उत्तरोत्तर घोर और बड़े नरकरूप तम में जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को उत्तम लोक की प्राप्ति तो किसी भी प्रकार हो नहीं सकती। उन्हें बारम्बार अज्ञान तिमिर में पड़ना पड़ता है। अथवा उस नरकस्थानरूप तम से निकल कर वे उससे भी बड़े दूसरे नरकस्थान में जाते हैं। सातवीं नरकभूमि में वे क्रमशः रौरव, महारौरव, काल, महाकाल और अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में जाते हैं। यह इस गाथा का भावार्थ है। वे सत्-असत् के विवेक से विकल मूढ़जन सुख की आशा से ऐसा करते हैं, लेकिन सुख मिलना तो दूर रहा घोरातिघोर कर्मबन्ध के कारण एक नरकस्थान को छोड़कर अन्य जन्मों में उससे भी अधिकाधिक दुखप्रद नरकस्थान को प्राप्त करते हैं। नरक के घोरतम तमिस्रा के चक्र से दीर्घकाल तक वे बाहर ही नहीं निकल पाते। वेद में भी उनके लिए यही बात कही है।[1]

---

१. **अविद्यामन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।**
दन्द्रम्यमाना परियन्ति मूढाः, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ —श्रुति

जो मूढ़जन अविद्या (अज्ञान) में रत हैं, अपने आपको वे धीर पण्डित मानते हैं, वे अन्धे के द्वारा ले जाए जाने वाले अंधों के समान ठोकरें खाते हैं और विनाश को प्राप्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादियों की दृष्टि से इस गाथा का अर्थ और व्याख्या की जा चुकी है। अब शास्त्रकार अकारकवादी सांख्यमत का निराकरण और उनकी मिथ्या मान्यता का परिणाम बताने हेतु पुनः इसी गाथा को दोहराते हैं, इसलिए हम यहाँ मूलगाथा न देकर सिर्फ उसका संक्षिप्त अर्थ और तदनुसार व्याख्या दे देते हैं—

मूलार्थ

जो सांख्यमतवादी आत्मा को नित्य, अमूर्त एवं सर्वव्यापी होने से अकर्ता (निष्क्रिय) मानते हैं, उनके मत से यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म, जरा, मृत्यु, सुख-दुखरूप तारतम्य से युक्त नरक-तिर्यन्च-मनुष्य-देवरूप चतुर्गतिक लोक कैसे घटित होगा ? इस प्रकार वे बुद्धिमंद विवेकमूढ़ लोग उक्त मिथ्यात्व-अंधकारवश नाना प्रकार के आरंभों में रत रहते हैं और यहाँ से मर कर फिर मिथ्यात्व-अन्धकार को प्राप्त करते हैं। अथवा एक नरक से दूसरे नरक के घोर अन्धकार में भटकते रहते हैं।

व्याख्या

अकारकवादी सांख्यमत का निराकरण एवं फल

"**लोए तेसिं**"—जो सांख्यादि मतवादी आत्मा को (१३ वीं गाथा के अनुसार) एकान्त, अमूर्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी होने के कारण निष्क्रिय (क्रियारहित-अकर्ता) मानते हैं ? उनके मतानुसार प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला जन्म, जरा, मरण, हर्ष, शोक, रुदन, सुख, दुख आदि रूप तथा नरक तिर्यन्च-मनुष्य-देवगतिरूप यह लोक (संसार नामक प्रपंच) कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि आत्मा यदि कूटस्थनित्य[२] माना जाय तो उसका एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना, पुण्य-पाप के फलस्वरूप एक गति और योनि से च्युत (मृत) होकर दूसरी गति और योनि में उत्पन्न होना, तथा एक ही शरीर में बालक, युवक, वृद्ध आदि पर्यायों को धारण करना कैसे सम्भव होगा ? अगर आत्मा भी आकाश की तरह एकान्त, सर्वव्यापक, नित्य और अमूर्त है तो उसकी भी गति-आगति हो नहीं सकती। ऐसी दशा में जन्म-मरण आदि की व्यवस्था का अभाव हो जायगा। आत्मा को कूटस्थ-

---

१. **अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।**
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने॥

२. **अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावः नित्यः।**
(जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो, स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो, वह कूटस्थनित्य कहलाता है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्य—जैसा का तैसा, अपरिवर्तनशील, सदा एकरूप में रहने वाला मानने पर जो बालक है, बालक ही रहेगा, जो मूर्ख है, वह मूर्ख ही रहेगा, क्योंकि कूटस्थनित्य में तो न कोई पहले का स्वभाव नष्ट होता है और न उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति होती है, वह तो सदा एक-सा ही रहता है। मूर्ख है तो मूर्ख और विद्वान है तो विद्वान ही रहता है। अतः जन्म-मृत्यु न मानने पर या परिवर्तनशीलता न मानने पर पुण्य के फलस्वरूप उपभोग साधन, देव, मनुष्य आदि शरीर की प्राप्ति तथा कोई सुखी, कोई दुखी, कोई बद्ध, कोई मुक्त इस प्रकार की व्यवस्था भी न हो सकेगी। मूर्ख को विद्वान और अज्ञानी को ज्ञानी बनने की भी गुंजाइश नहीं रहेगी। ऐसी दशा में तीनों प्रकार के दुखों का विनाश और मोक्ष प्राप्ति आदि बिना क्रिया के अकेले ज्ञान से कैसे संभव होगी? तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए कूटस्थनित्य निष्क्रिय आत्मा कैसे पुरुषार्थ कर सकेगा?

यदि कहें कि हमारे मत से हमें इष्ट है, हम प्रकारान्तर से इन सब कार्यों की संगति प्रकृति द्वारा बिठा लेते हैं, परन्तु इस बात को कोई भोला-भाला या मूर्ख ही मान सकता है, जो थोड़ा सा भी विचारशील एवं हिताहित विवेकी होगा, वह सरल सत्य सहज स्वभाव से बुद्धि में आने वाले सिद्धान्त को छोड़कर टेढ़ी मेढ़ी कल्पना के जाल को नहीं मान सकेगा।

इस प्रकार अकारकवादी सांख्य दृष्ट (प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध) एवं इष्ट (सर्व आस्तिकों के लिए अभीष्ट) में बाधक अज्ञानान्धकार से पूर्वाग्रह एवं मिथ्याग्रह के कारण निकल नहीं पाते, उसी में ग्रस्त रहते हैं। उस अँधेरे से निकलकर (यानी शरीर छोड़ने पर) वे मिथ्यात्वान्ध अविवेकी महारम्भासक्त पुरुष उससे भी निकृष्ट अन्धतम स्थान (गति) में जा पहुँचते हैं। जहाँ पूर्वकृत घोर पापकर्मवश नाना यातना-स्थान पाते हैं।

सांख्यमत की मिथ्यात्वता

निर्युक्तिकार अकारकवादी सांख्यमत के मिथ्या सिद्धान्त का खण्डन एक गाथा के द्वारा करते हैं—

को वेएई अकयं? कयनासो, पंचहा गई नत्थि।
देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाइयाणं च॥

अर्थात्—(यदि आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है, उसका किया हुआ कोई भी कर्म नहीं होगा) बिना किये कर्म को कौन भोगता है? इस प्रकार मानने से कृत-कर्म के विनाश का दोष आता है, पाँच प्रकार की गति संभव नहीं हो सकती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा देव एवं मनुष्य पर्याय में गति-आगति तथा जातिस्मरण आदि भी संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई कर्ता नहीं है तो कर्ता द्वारा किया जाने वाला कर्म भी नहीं हो सकता और जब आत्मा का किया हुआ कर्म ही नहीं है तो बिना कर्म किये, वह फल कैसे भोग सकेगा ? यदि आत्मा को इस प्रकार अकर्ता माना जाएगा तो 'मैं जानता हूँ' इत्यादि रूप से ज्ञानक्रिया भी नहीं हो सकेगी ? कर्म किये बिना ही आत्मा सुख-दुख का उपभोग भी कैसे कर सकेगा ? यदि कर्म किये बिना ही आत्मा द्वारा उसके फल (सुख-दुख) का उपभोग किया जाय तो 'अकृतागम' दोष आएगा और स्वयं किये हुए कर्म का फल न भोगने से 'कृतनाश' दोष आएगा। ऐसी स्थिति में एक प्राणी के द्वारा किये हुए पापकर्म से सभी प्राणी दुखी हो जायेंगे और एक प्राणी के द्वारा किये हुए पुण्यकर्म से सब सुखी हो जायेंगे। मगर ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। प्रत्यक्षविरुद्ध होने से ऐसा मानना इष्ट भी नहीं है। ऐसा तो होना भी असंभव है कि देवदत्त कर्म करे और यज्ञदत्त उसका फल भोगे। क्योंकि कर्म और फल में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। वह समानाधिकरणता के साथ है। अर्थात् जो आत्मा कर्म का अधिकरणरूप होता है, वही आत्मा फल का अधिकरणरूप होता है।

आत्मा यदि सर्वव्यापक एवं एकान्त कूटस्थनित्य है तो उसकी देव, नरक, मनुष्य, तिर्यंच और मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नहीं हो सकती। ऐसी दशा में सांख्यवादी संन्यासी जो काषायवस्त्र-धारण, शिरोमुंडन, दण्डधारण, भिक्षान्न-भोजन और पंचरात्र (ग्रन्थ विशेष) के आदेशानुसार यम, नियम आदि का अनुष्ठान करते हैं, यह सब व्यर्थ होगा। तथा 'पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला पुरुष चाहे जिस किसी आश्रम में रहे और वह जटी हो, मुण्डी हो, अथवा शिखाधारी हो मुक्ति को प्राप्त करता है, यह कथन भी निरर्थक हो जायगा। तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा ही नहीं है तो ये विधि-निषेध या मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्रवचन निरर्थक हो जाते हैं क्योंकि वे समाधान करने में असमर्थ हैं। आकाशवत् तथा सर्वव्यापी होने के कारण देवता, मनुष्य आदि गतियों में आत्मा का आना-जाना भी नहीं हो सकेगा तथा नित्य होने के कारण विस्मृति न होने से उस आत्मा में जातिस्मरण (पूर्वजन्मों का स्मरण) आदि क्रिया भी नहीं हो सकेगी।

सांख्यमत में यह माना गया है कि प्रकृति कर्म करती है, आत्मा नहीं करता। आत्मा तो आराम करने यानी भोगने वाला है। यह मान्यता भी प्रमाणशून्य है। आत्मा वस्तुतः कर्मों का कर्ता है, क्योंकि वह उन कर्मों के फलों को भोगता है। जो अपने कर्मों के फल को भोगता है, वह कर्ता भी होता है। जैसे अपनी लगाई हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेती की फसल काट कर भोगने वाला किसान। यदि सांख्य पुरुष (आत्मा) को कर्ता नहीं मानते तो उनका पुरुष वस्तु ही नहीं बन सकेगा। सांख्य द्वारा मान्य पुरुष (आत्मा) वस्तु सत् नहीं है, क्योंकि वह कोई कर्म नहीं करता, जैसे कि आकाश का पुष्प।

सांख्य आत्मा को भोक्ता मानते हैं, यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि भोग-क्रिया भी आखिर एक क्रिया है और सांख्य आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं। भोक्ता का अर्थ होता है—भोगक्रिया को करने वाला। अगर सांख्यमान्य पुरुष (आत्मा) भोगक्रिया करके भोक्ता बनता है तब तो अन्य क्रियाओं ने क्या अपराध किया है कि पुरुष उन्हें नहीं करता? जिस प्रकार आत्मा भोगक्रिया करता है उसी प्रकार अन्य क्रियाएँ करके उसे सच्चा कर्ता बनना चाहिए। यदि वह निष्क्रिय पुरुष भोगक्रिया नहीं करता, तब उसे भोक्ता कैसे कहा जा सकता है? इस अनुमान से भी आत्मा का अभोक्तृत्व सिद्ध होता है, संसारी आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यह भोगक्रिया नहीं करता, जैसे कि मुक्त आत्मा। अकर्ता को भोक्ता मानने में तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई। ऐसा मानने से तो 'कृतनाश' और 'अकृता-भ्यागम' नामक भीषण दोष आयेंगे। देखिये—प्रकृति ने सब कुछ कार्य किया, पर फल उसे नहीं मिला, वह भोक्त्री न बन सकी, यह स्पष्टतः कृतनाश है और आत्मा ने कुछ भी कार्य नहीं किया, पर फल उसे मिल रहा है, यह अकृताभ्यागम (अकृत की प्राप्ति) है। अतः 'करे कोई और भोगे कोई' इस दूषण से बचने के लिये भोगने वाले आत्मा को ही कर्ता मानना चाहिए। प्रकृति तो अचेतन है, उसे कर्त्री और भोक्त्री मानना उचित नहीं। यदि वही कर्त्री-भोक्त्री मानी जाएगी तो पुरुष सर्वथा निरर्थक हो जाएगा।

यदि कहें कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति बाहर रहकर भी दर्पण में दिखाई देती है, इसी तरह आत्मा में न होता हुआ भोग भी आत्मा में प्रतीत होता है। यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। प्रतिबिम्ब का उदय भी तो एक प्रकार की क्रिया है, जो विकाररहित नित्य आत्मा में कैसे हो सकती है।

कदाचित सांख्यमतवादी यह कहें कि हम तो आत्मा में भोगक्रिया और प्रतिबिम्बित होने की क्रिया मात्र से उसे निष्क्रिय नहीं कहते। आत्मा को हम तभी निष्क्रिय कहते हैं जब सभी क्रियाओं से रहित हो जाए। यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। जैसे—फलों का अभाव वृक्ष के अभाव का साधक नहीं है। क्योंकि ऐसा होता नहीं कि जब वृक्ष फलवान हो, तभी वृक्ष कहलाए और जब उसके फल न लगे हों, तब वृक्ष न कहलाए। इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओं में यद्यपि आत्मा कथंचित् निष्क्रिय होता है, तथापि इतने मात्र से आत्मा को निष्क्रिय नहीं कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता, यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि किसी खास पुरुष की अपेक्षा से तो यह कथन ठीक हो सकता है, किन्तु सर्वसामान्य पुरुषों की अपेक्षा से यह कथन उचित नहीं है। अतः विशिष्ट शक्तिवाले पुरुष की क्रिया की अपेक्षा से यदि आत्मा को क्रियारहित कहें, तब तो कोई क्षति नहीं किन्तु सर्वसामान्य की अपेक्षा आत्मा को क्रियारहित कहें, तो यह बात असंगत है, क्योंकि सर्वसामान्य की अपेक्षा से तो आत्मा क्रियावान ही है।

सांख्यदर्शन में तो एकान्तरूप से आत्मा को अमूर्त, अकर्ता या निष्क्रिय माना है, उससे जागतिक व्यवस्था की भयंकर क्षति तो होती ही है, साथ ही उसका यह सिद्धान्त युक्तियों की कसौटी पर भी यथार्थ नहीं टिकता। किन्तु मिथ्याग्रहवश वह अपने ही मिथ्यासिद्धान्त का पल्ला पकड़कर बैठ जाता है, सत्य सिद्धान्त को सुनना-समझना भी नहीं चाहता और एकान्तरूप से प्रतिपादन करता है, यही मिथ्यात्व का लक्षण है। इसी मिथ्यात्व के कारण नाना प्रकार के आरंभों में वे लोग बेखटके लगे रहते हैं और अपनी आत्मा को पंचविंशतितत्त्व का ज्ञाता होने के झूठा आश्वासन देकर आत्म-वंचना करते रहते हैं। इसलिये वे यहाँ भी पापकर्मोदयवश अज्ञान एवं मिथ्यात्व के अन्धकार में डूबे रहते हैं और परलोक में भी ऐसे प्राणियों को यथार्थ बोध नहीं मिलता, इसलिये इससे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार में निमग्न होते हैं। शास्त्रकार का इस मत के स्वरूप प्रतिपादन एवं खण्डन करने के पीछे यही आशय है।

अब पंचमहाभूत और छठा आत्मा इन षट्पदार्थवादियों के मत का स्वरूप आगामी गाथा में बताते हैं —

मूल पाठ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोए य सासए ॥१५॥

संस्कृत छाया

सन्ति पञ्च महाभूतानि, इहैकेषामाख्यातानि।
आत्मषष्ठानि पुनराहुरात्मा, लोकश्च शाश्वतः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**इह**) इस जगत में (**महब्भूया**) महाभूत (**पंच**) पाँच (**संति**) हैं और (**आयछट्ठो**) आत्मा छठा है। (**एगेसिं**) यह किन्हीं वादियों ने (**आहिया**) प्ररूपण किया—कहा (**पुणो**) फिर (**आहु**) उन्होंने कहा कि (**आया**) आत्मा (**लोए य**) और लोक (**सासए**) शाश्वत हैं—नित्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इस जगत में पाँच महाभूत और छठा आत्मा ये छह पदार्थ हैं, ऐसा कई मतवादी कहते हैं, फिर वे कहते हैं कि आत्मा और लोक नित्य हैं।

व्याख्या

षट्पदार्थवादियों के मत का स्वरूप

वेदवादी, सांख्य और वैशेषिक (शैवाधिकारी) इन तीनों का मत यह है कि इस जगत में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा छठा आत्मा ये छह पदार्थ हैं। दूसरे (भूतचैतन्यवादी आदि) वादियों के मत में जैसे ये अनित्य हैं, उस प्रकार इनके मत में नहीं हैं, इनके मत में ये नित्य हैं। सर्वथा अनित्य मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती, इस कारण ये आत्मा को आकाश की तरह सर्व-व्यापी तथा अमूर्त होने के कारण नित्य मानते हैं तथा पृथ्वी आदि पंच महाभूत रूप लोक को भी अपने स्वरूप नष्ट न होने के कारण अविनाशी (नित्य) मानते हैं। यही शास्त्रकार का आशय है।

अगली गाथा में इन्हीं षट्पदार्थवादियों द्वारा मान्य पृथ्वी आदि पाँच भूत तथा आत्मा के नित्यत्व को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं—

मूल पाठ

दुहओ वि ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्तीभावमागया ॥१६॥

संस्कृत छाया

द्विधाऽपि न विनश्यन्ति, न चोत्पद्यतेऽसत्।
सर्वेऽपि सर्वथा भावाः, नियतीभावमागताः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**दुहओ वि**) दोनों प्रकार से सहेतुक अथवा अहेतुक, पूर्वोक्त छहों पदार्थ (**ण विणसंति**) नष्ट नहीं होते हैं। (**असं य**) तथा अविद्यमान—असत् पदार्थ (**नो उप्पज्जए**) उत्पन्न नहीं होते। (**सव्वेऽवि**) और सभी (**भावा**) पदार्थ (**सव्वहा**) सर्वथा (**नियत्तीभावं**) नित्यता को (**आगया**) प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त पृथ्वी आदि पंचभूत एवं छठा आत्मा ये छहों कारणवश या बिना कारण दोनों ही प्रकार से नष्ट नहीं होते। और न ही असत् वस्तु की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी उत्पत्ति होती है। अतएव सभी पदार्थ विधि प्रमाणों से सर्वथा नित्य सिद्ध होते हैं।

व्याख्या

छह पदार्थों की नित्यता की सिद्धि

इस गाथा में पूर्वोक्त गाथा में उक्त छह पदार्थों को नित्य सिद्ध करने का उपक्रम किया गया है। पृथ्वी आदि पंचमहाभूत और छठा आत्मा ये छहों पदार्थ बिना कारण अथवा कारण से विनष्ट नहीं होते। क्योंकि ये छहों पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध हैं। सर्वथा नित्य हैं। क्योंकि ये सत् हैं और सत्पदार्थ का कभी विनाश नहीं होता। साथ ही यह भी वास्तविक तथ्य है कि असत् कभी उत्पन्न नहीं होता।

दुहओ—इसका आशय है—दोनों तरह से, यानी सहेतुक और निर्हेतुक दोनों प्रकार से ये छहों पदार्थ नष्ट नहीं होते। यह बताने का तात्पर्य यह है कि बौद्धदर्शन में विनाश निर्हेतुक (अकारण) ही माना गया है। उनका कहना है—

जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात्स केन च ?

अर्थात्—पदार्थों की उत्पत्ति (जन्म) ही उनके विनाश का कारण है। जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट न हुआ, वह बाद में किस कारण से नष्ट होगा? अतः नाश का कारण उत्पत्ति है। उत्पत्ति के अनन्तर ही पदार्थ का नाश हो जाता है। यदि उसी समय नाश न माना जाय तो बाद में विनाश का कोई कारण ही नहीं रहता। वैशेषिकदर्शन में घट आदि का विनाश डण्डे, लाठी आदि के प्रहार (कारणों) से माना गया है। इस मत में नाश सहेतुक बताया गया है। मगर आत्म-षष्ठवादियों का यह प्रबल मत है कि इन दोनों प्रकार के नाशों से आत्मा और लोक का नाश नहीं होता। अथवा '**दुहओ वि**' इस पद का यह अर्थ भी सम्भव है, कि[1] पृथ्वी आदि पंचमहाभूत अपने अचेतन स्वभाव से एवं आत्मा अपने चेतन स्वभाव से

---

१. गीता में भी कहा है—

'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

असत् कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् का कभी अभाव (नाश) नहीं होता। तत्त्वदर्शियों ने सत् और असत् इन दोनों का तत्त्व देख लिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी च्युत नष्ट नहीं होते। यानी ये दोनों कोटि के अचेतन-चेतनात्मक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। पृथ्वी आदि पंचभूत अपने स्वभाव का परित्याग न करने के कारण नित्य ही हैं। श्रुति में भी कहा गया है—"**कदाचिदनीदृशं जगत्।**" अर्थात्—यह जगत कदापि और तरह का नहीं होता, इसलिए शाश्वत है तथा आत्मा भी किसी का किया हुआ नहीं है, इसलिए वह भी नित्य ही है। जैसे कि भगवद्गीता में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥"

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी इसे भीगा नहीं सकता, हवा इसे सुखा नहीं सकती। अतः यह आत्मा अच्छेद्य (छेदन न कर सकने योग्य) अदाह्य (जल न सकने योग्य) बिकार पैदा न होने योग्य, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अविचल और सनातन कहलाता है।

अब लीजिए सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद की युक्तियाँ—पृथ्वी आदि पाँच भूत तथा आत्मा नित्य है, इसलिए यही सिद्धान्त मानना चाहिए कि असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति नहीं होती, सत्य पदार्थ की ही सदा उत्पत्ति होती है। क्योंकि जो पदार्थ असत् है, उसमें कर्ता-करण आदि कारकों का व्यापार नहीं होता। सत्पदार्थ में ही ऐसा हो सकता है। इसीलिए सांख्यकारिका में कहा है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

अर्थात्—जो वस्तु है ही नहीं, असत् है, वह की (बनाई) नहीं जा सकती, जैसे गधे के सींग हैं नहीं तो कहाँ से बनाये जायेंगे? यदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न या निर्मित होने लगें तो आकाश-पुष्प या खरगोश के सींग भी उत्पन्न होने लगेंगे। दूसरी बात कर्ता किसी वस्तु को बनाने के लिए उसके उपादान को ही ग्रहण करता है। यदि असत् की भी उत्पत्ति होने लगे तो उपादान के ग्रहण की क्या आवश्यकता रहेगी? फिर तो किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु बनाई जाने लगेगी। अन्यथा तेल निकालने के लिए तिल ग्रहण न करके मिट्टी या बालू से भी तेल निकाला जाने लगेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिस वस्तु का उपादान विद्यमान हो, उसकी उत्पत्ति हो सकती है, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति होती हो तो वृक्ष की लकड़ी से पुतली ही क्यों बनाई जाती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? गेहूँ, जौ, चना, घट, पट आदि क्यों नहीं बना लिये जाते ? अतः प्रत्येक कर्म के लिये उपादान को ग्रहण करना पड़ता है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती। शक्त से ही शक्य की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की शक्ति से जो साध्य होता है, उसी को वह करता है। मनुष्य की शक्ति से जो साध्य नहीं होता, उसे वह नहीं करता। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो, अशक्य पदार्थ को भी कर्ता क्यों नहीं कर देता ? अतः असत् की उत्पत्ति नहीं होती, यह सिद्ध है। फिर यह भी है कि कारण में स्थित (सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। जैसे पीपल के बीज से पीपल ही होता है, आम का अंकुर नहीं। अगर कारण में स्थित न रहने वाला भी कार्य उत्पन्न हो तो पीपल के बीज से आम का अंकुर पैदा हो जाना चाहिए। मृत्पिण्ड में घड़ा विद्यमान रहता है, क्योंकि घड़ा बनाने के लिए मृत्पिण्ड को ही ग्रहण करना पड़ता है। यदि असत् की भी उत्पत्ति होती तो वह घट जिस किसी पदार्थ से बना लिया जाता। उसके लिए खास तौर से मृत्पिण्ड ही लेने की क्या आवश्यकता थी ? अतः निश्चित है कि कारण में विद्यमान कार्य ही उत्पन्न होता है।

इसलिए पृथ्वी आदि पंच महाभूत और छठा आत्मा ये छहों पदार्थ नित्य हैं। ऐसा नहीं है कि ये पहले अभाव रूप में थे, फिर भावरूप में हो गये हों। सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद में उत्पत्ति और विनाश सिर्फ आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ में है। इसलिए सब पदार्थों का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। जगत् में उत्पत्ति और विनाश का जो व्यवहार होता है, वह भी वस्तु की प्रकटता और अप्रकटता को लेकर होता है।

सांख्य के एकान्तनित्यत्व का खण्डन

सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक आदि का एकान्तभूत नित्यत्व या अनित्यत्व वाद यथार्थ नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थों को एकान्तनित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व परिणाम नहीं हो सकेगा। आत्मा में कर्तृत्व परिणाम न होने पर उसमें कर्मबन्ध कैसे हो सकेगा ? कर्मबन्ध न होने पर सुख-दुखरूप कर्मफलभोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा ? क्योंकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा। ऐसी दशा में सुख-दुख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की उत्पत्ति कथंचित् न मानें तो पूर्वभव का परित्याग करके उत्तरभव की उत्पत्ति रूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्ष गति रूप पंचम गति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? इस प्रकार आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न एवं स्थिर एक स्वभाव का मानने पर उसका मनुष्य-देव आदि गतियों में गमन-आगमन संभव नहीं हो सकेगा और स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी नहीं हो सकेगा। अतः आत्मा को एकान्तनित्य कहना मिथ्या है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत् की ही उत्पत्ति होती है, यह एकान्त कथन भी दोषयुक्त है। यदि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है तो फिर उत्पत्ति कैसी ? और यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? इसीलिए कहा गया है—

कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद् विज्ञेयं, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्॥

अर्थात् जब तक घटादि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है, तब तक उनके द्वारा जलधारण या जलानयन आदि कार्य नहीं किये जा सकते तथा उनके गुण भी नहीं पाए जाते। अतः उनका घट आदि नाम भी तब तक उच्चरित नहीं होता। मृत्पिण्ड से जल नहीं लाया जा सकता, न जलधारण किया जा सकता है तथा वह घट के गुणों से भी युक्त नहीं होता, इसलिए मिट्टी के पिण्ड को कोई घड़ा नहीं कहता। घट बनाने वाले की प्रवृत्ति भी घट न होने पर ही होती है, घट बन जाने पर नहीं होती। अतः उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् समझना चाहिए।

अतः आत्मा आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा कथंचित् सत्, कथंचित् असत् इस प्रकार सदसत्कार्यवाद न मानना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। एकान्त आग्रह पकड़ना ही मिथ्यात्व है। अतः बुद्धिशाली विवेकी व्यक्तियों को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् और पर्यायरूप से असत् इस प्रकार (नित्यानित्यरूप) सदसत्कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

सभी पदार्थ क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं तथापि उनमें भेद प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि पदार्थों का अपचय-उपचय होते हुए भी उनकी आकृति और जाति सदा वही बनी रहती है तथा कारण के साथ कार्य का एकान्त भेद या अभेद दोनों नहीं है, यही मानकर चलना चाहिए।

अब असत्कार्यवादी बौद्धमत का स्वरूप और उसका विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

संस्कृत छाया

पंच स्कन्धान् वदन्त्येके, बालास्तु क्षणयोगिनः।
अन्यमनन्यं नैवाहुर्हेतुकञ्चाहेतुकम् ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**एगे उ बाला**) कई अज्ञानी (**खणजोइणो**) क्षणमात्र रहने वाले (**पंच खंधे**) पाँच स्कन्ध (**वयंति**) बताते हैं, कहते हैं। (**अण्णो**) पंचभूतों से भिन्न, (**अणण्णो**) तथा अभिन्न (**हेउयं**) कारण से उत्पन्न (**च**) तथा (**अहेउयं**) बिना कारण उत्पन्न आत्मा (**णेवाहु**) नहीं है, ऐसा कहते हैं।

भावार्थ

कई तत्त्वविवेक से अनभिज्ञ वादी क्षणमात्र स्थिर रहने वाले रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्धों का प्रतिपादन करते हैं। पाँच भूतों से भिन्न अथवा अभिन्न कारण से उत्पन्न या बिना कारण उत्पन्न आत्मा नहीं है, ऐसा वे मानते हैं।

व्याख्या

असत्कार्यवादी बौद्धमत में आत्मा का स्वरूप

इस गाथा में शास्त्रकार पंच स्कन्ध मात्र को ही आत्मा मानने वाले बौद्ध मत का स्वरूप बताते हुए उनके मत की विवेक-विकलता प्रदर्शित करते हैं। सभी बौद्धमत वाले ऐसा नहीं मानते, इस दृष्टि से शास्त्रकार ने '**वयंतेगे**' कहकर कतिपय बौद्धमतवादियों का आत्मा के सम्बन्ध में मन्तव्य प्रकट किया है। साथ ही उक्त मत को विवेकमूढ़ता सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने यह भी कहा है—'**बाला उ खणजोइणो**' वे सत्-असत् के विवेक से रहित विचारमूढ़, बालक की तरह अज्ञ हैं, क्योंकि वे उन पंच स्कन्धों को क्षणमात्रजीवी कहते हैं। साथ ही उसी को आत्मा मानते हैं, उन पाँच स्कन्धों से भिन्न कोई परलोकगामी आत्मा नहीं मानते। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं—

रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार, ये पाँच ही स्कन्ध हैं। इनसे भिन्न कोई आत्मा नामक स्कन्ध नहीं है।[1]

पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार धातु आदि तथा रूप आदि विषय रूपस्कन्ध कहलाते हैं।[2] सुख-दुःख और असुख-अदुःखरूप (जो न सुख रूप हों, न दुख रूप)

---

१. इहहि पूर्वहेतुजनिता प्रतीत्यसमुत्पन्नाः पंचोपादान स्कन्धाः।
—**माध्यमिक०**

२. तत्थ य किंचिसितादीहिनघनलक्खणा—तदेतं रूपनलक्खणेन एकविधंपि भूतोपादानभेदतो दुविधं। तत्थ भूतरूपं चतुव्विधं, उपादानरूपं चतुवीसविधं।
—**विसुद्धि०**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदना—अनुभव को वेदनास्कन्ध कहते हैं।[1] यह वेदना (अनुभूति) पूर्वकृत कर्म-विपाक से (कर्मफल के सुखादि रूप से) होती है। जैसे कि एक बार स्वयं तथागत भिक्षा के लिये जा रहे थे, तब उनके पैर में काँटा गड़ जाने पर उन्होंने कहा था—

इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तत्कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥

हे भिक्षुओ! आज से ९१वें कल्प में मेरे द्वारा शक्ति (छुरी) से एक पुरुष का वध हुआ था, उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर में काँटा लगा है। रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान को 'विज्ञानस्कन्ध' कहते हैं। संज्ञा के कारण वस्तु विशेष के बोधक शब्द को 'संज्ञास्कन्ध' कहते हैं।[2] जैसे गौ, अश्व आदि संज्ञाएँ हैं। ये संज्ञाएँ वस्तु के सामान्य धर्म को निमित्त मानकर व्यवहार में आती हैं। पुण्य-पाप आदि धर्म-समुदाय को 'संस्कारस्कन्ध' कहते हैं। इसी संस्कार के प्रबोध से पहले जाने पर-पदार्थ का स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं। इन रूप आदि पंचस्कन्धों से भिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। न स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है। उस आत्मा के साथ अविनाभावी (नियत) सम्बन्ध रखने वाला कोई निर्दोष चिन्ह भी गृहीत नहीं होता, जिससे कि अनुमान द्वारा आत्मा सिद्ध हो सके। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही अविसंवादी (सत्य-सत्य बताने वाले) प्रमाण हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है। अतः पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा नहीं है। इस प्रकार बालक के समान पदार्थज्ञानरहित बौद्धगण कहते हैं। बौद्धमान्य ये पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी (क्षणिक) हैं। एक क्षण तक ही रहते हैं। दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। परम-सूक्ष्म काल को क्षण कहते है। उस क्षण के साथ सम्बन्ध को 'क्षणयोग' कहते हैं। जो पदार्थ उस क्षण के साथ सम्बन्ध रखता है, उसको 'क्षणयोगी' कहते हैं। क्षण-मात्र स्थायी पदार्थ को क्षणयोगी कहते हैं। ये पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी हैं। ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य (सदा एक से रहने वाले) हैं, और न ही कालान्तर स्थायी (दो चार क्षण तक ठहरने वाले) हैं। ये तो सिर्फ एक ही क्षण ठहरते हैं, दूसरे क्षण में समूल नष्ट हो जाते हैं। स्कन्धों के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'स्कन्ध क्षणिक हैं, क्योंकि सत् हैं। जो-जो सत् होता है, वह-वह

---

१. यं किंचि वेदयितलक्खणं सब्बं तं एकतोकत्वा वेदनाक्खंधो वेदितब्बो।
—विसुद्धि०

२. यं किंचि संजाननलक्खणं सब्बं तं एकतोकत्वा सञ्ञाक्खंधो वेदितब्बो।
—विसुद्धि०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षणिक होता है। जैसे मेघ माला आदि। जैसे मेघमालाएँ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक हैं, स्थायी नहीं।

सत् का लक्षण है—अर्थक्रियाकारित्व।[1] स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया संभव नहीं है। वस्तु की क्रिया को अर्थक्रिया कहते हैं। जैसे आग की क्रिया जलाना है, पानी की क्रिया प्यास बुझाना है। जो जलाने या प्यास बुझाने की क्रिया नहीं करते, वे अग्नि व पानी नहीं है। आशय यह है कि जो वस्तु की क्रिया करता है, वही वस्तु है। इससे सिद्ध होता है कि क्रिया करना ही वस्तु का लक्षण है। जो क्रिया करता है, वही सत् (वस्तु) है; जो क्रिया नहीं करता, वह सत् (वस्तु) नहीं है। इसलिए स्थायित्व से विरुद्ध क्षणिकत्व ही पदार्थ सत् में सिद्ध होता है।

अपने कारणों से उत्पन्न हुआ पदार्थ यदि अविनश्वर (स्थायित्व) स्वभावी उत्पन्न हो तो वह न तो क्रमशः क्रिया कर सकता है और न एक साथ ही। क्योंकि नित्य अविनश्वर (स्वभाव न बदलने वाले) पदार्थ का स्वभाव बदलेगा नहीं, और स्वभाव बदले बिना वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं को कर नहीं सकता। अतः नित्य पदार्थ द्वारा क्रिया न हो सकने से वह कोई वस्तु हो नहीं हो सकता।[2] आशय यह है कि नित्य पदार्थ क्रम से या युगपत् (एक साथ) दोनों तरह से अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि यदि क्रम से कार्य करेगा तो कालान्तर में होने वाली सभी क्रियाओं को पहली क्रिया के समय में ही क्यों नहीं कर लेता? समर्थ कालक्षेप नहीं करता। यदि कहो कि पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ तो है बशर्ते कि उसे सहकारी कारणों का संयोग मिले तो यह समाधान भी उचित नहीं है। ऐसा होने पर तो वह परमुखापेक्षी एवं असमर्थ हो जायेगा। अतः नित्य पदार्थ का क्रम से अर्थक्रिया करने पर पक्ष समीचीन नहीं है।

अगर नित्य पदार्थ एक साथ अर्थक्रिया करने लगेगा, तो एक पदार्थ समस्त देशकालों में होने वाली समस्त क्रियाओं को एक साथ ही कर लेगा। परन्तु ऐसी प्रतीति कहीं भी किसी को नहीं होती। यदि सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक साथ मानी जाय तो कार्य और कारण आदि भी एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, तब तो दण्ड और घट आदि में परस्पर कार्य-कारणभाव ही नहीं बन सकेगा। यदि स्थिर पदार्थ

---

१. (क) अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्। —प्र० वा०
(ख) अर्थक्रिया सामर्थ्यलक्षणत्वादवस्तुतः। —न्यायबिन्दु

२. क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रिया कृता।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्वास्ततो मताः॥ —तत्व सं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी अर्थक्रियाओं को एक साथ ही कर डालेगा तो दूसरे-तीसरे आदि क्षणों में क्या करेगा ? अतः एक साथ अर्थक्रिया करने का पक्ष भी समीचीन नहीं है।

बौद्धों की ओर से यह युक्ति दी जाती है कि पदार्थ को अनित्य माना जाये तो सभी पदार्थों की क्षणिकता बिना ही प्रयत्न सिद्ध हो जाती है। कहा भी है—

जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ॥

अर्थात् पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता, वह बाद में किस कारण से नष्ट होगा ? यानी नष्ट ही नहीं होगा।

अतएव सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य (क्षणिक) ही उत्पन्न होते हैं, नित्य नहीं। यही शास्त्रकार का आशय है। '**अण्णो अणण्णो०**' गाथा में उल्लिखित इस पंक्ति का आशय यह है कि जैसे पाँच भूत और छठे आत्मा को मानने वाले सांख्यमतवादी भूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं, उस तरह से बौद्ध मत वाले नहीं मानते, और जैसे चार्वाक पाँच भूतों से अभिन्न आत्मा स्वीकार करते हैं, उस तरह भी ये बौद्ध नहीं मानते। यहां भिन्न के लिए 'अन्य' (**अण्णो**) तथा अभिन्न के लिए अनन्य (**अणण्णो**) शब्द शास्त्रकार ने प्रयुक्त किए हैं। इसी प्रकार ये बौद्ध आत्मा को शरीर रूप में परिणत पंच भूतों से उत्पन्न, अथवा आदि-अन्त रहित नित्य स्वीकार नहीं करते हैं। इसे सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने बताया है—'**णेवाहु हेउयं च अहेउयं**' अर्थात् बौद्धों ने आत्मा को सहेतुक (कारण से) या अहेतुक (बिना कारण) उत्पन्न नहीं माना। इस प्रकार संक्षेप में कुछ बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता का निरूपण किया है।

अब शास्त्रकार चार धातु मानने वाले बौद्धों के मत का निरूपण करते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥१८॥

संस्कृत छाया

पृथिव्यप्तेजश्च तथा वायुश्चैकतः ।
चत्वारि धातोरूपाणि एवमाहुरपरे ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(पुढवी) पृथ्वी, (आउ) जल, (य) और (तेऊ) तेज (तहा) तथा (वाऊ य) वायु, (चत्तारि) ये चारों (धाउणो रूवं) धातु के रूप हैं। (एगओ) ये शरीर रूप में एक होकर जीव संज्ञा को प्राप्त करते हैं। (एवं) इस प्रकार (अवरे) दूसरे बौद्धों ने (आहंसु) कहा है।

भावार्थ

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु के रूप हैं। ये सब शरीर रूप में परिणत होकर एकाकार हो जाते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है, ऐसा दूसरे बौद्ध कहते हैं।

व्याख्या

चातुर्धातुकवादी बौद्धमत का निरूपण

बौद्धधर्म के कुछ मतवादी चातुर्धातुकवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि जगत में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु ही सर्वस्व हैं।[1] ये चारों जगत का धारण-पोषण करते हैं इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु एक साथ मिलकर जगत को उत्पन्न करते हैं, धारण करते हैं और पोषण करते हैं। इन्हीं से जगत की उत्पत्ति होती है। इनमें पृथ्वी का स्वभाव कठोरता है, जल शीत गुणवाला है, अग्नि उष्ण स्पर्शवाली है और वायु सर्वथा गमन स्वभाव वाला है। इन्हीं चारों धातुओं के समुदित होने से घटादि का समूहरूप जगत उत्पन्न हुआ है। यही जब एकाकार होकर शरीररूप में परिणत होते हैं, तब इनकी जीवसंज्ञा होती है। मतलब यह है कि चार धातुओं में चैतन्य की (जिसे आत्मा या जीव कहते हैं) उत्पत्ति होती है। इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। इन्हीं के समुदाय को आत्मा नाम दिया जाता है। जैसा कि वे कहते हैं—**'चातुर्धातुकमिदं शरीरम्, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति'** अर्थात यह शरीर चार धातुओं से बना है। इनसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। यह दूसरे बौद्धों का कथन है।

'जाणगा'—किसी-किसी प्रति में **'अवरे'** के स्थान पर **'जाणगा'** पाठ मिलता है। उसका अर्थ होता है—'हम जानकार हैं' अर्थात् हम लोग बड़े ज्ञानी हैं, इस प्रकार की अभिमानरूपी अग्नि से जले हुए वे बौद्ध कहते हैं कि यह शरीर चार धातुओं से बना है तथा शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है।

---

१. जैसा कि विसुद्धिमग्गो में कहा है—**तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं—पृथवीधातु, आयोधातु, तेजोधातु, वायोधातूति।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अफलवादी बौद्ध आदि मतों के मिथ्या मन्तव्य का खण्डन

ये सभी बौद्धमतवादी अफलवादी हैं। क्योंकि इनके मतानुसार क्रिया करने के क्षण में ही कर्ता—आत्मा का समूल विनाश हो जाता है। अतः आत्मा का क्रिया-फल के साथ सम्बन्ध नहीं होता। जब फल के समय तक आत्मा रहता ही नहीं है, तो ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा? क्योंकि इनके मत से पदार्थ मात्र क्षणिक है, आत्मा भी क्षणिक है और दान आदि सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इस कारण क्रिया करते ही क्षणमात्र में सबका विनाश हो जाने पर कालान्तर में होने वाला फल कौन भोगेगा? कालान्तर स्थायी कोई अतिरिक्त भोक्ता वे मानते ही नहीं हैं।

अथवा सांख्य, बौद्ध आदि पूर्वोक्त सभी मतानुयायी अफलवादी हैं। इनमें से किन्हीं के मत में आत्मा का अस्तित्व माना है, तो भी एकान्त, अविकारी, निष्क्रिय (क्रियारहित) और कूटस्थनित्य माना है। उनके मतानुसार विकारहीन, निष्क्रिय आत्मा में कर्तृत्व या फल-भोक्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? क्रिया से रहित एवं सदा एक से रहने वाले कूटस्थनित्य आत्मा में किसी प्रकार की कृति नहीं होती। कृति के अभाव में कर्तृत्व ही नहीं होता और कर्तृत्व के अभाव में क्रिया का सम्पादन करना असम्भव है। ऐसी स्थिति में वह सुख-दुःख के साक्षात्कार रूप फलोपभोग को कर ही कैसे सकता है? जो सर्वथा उदासीन, सर्वप्रपंचरहित है, वह कर्ता या भोक्ता नहीं हो सकता है?

किन्हीं के मत में पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। उनके मतानुसार आत्मा (उपभोक्ता) ही न होने से दुःख-सुखादि फलों का अनुभव कौन और कैसे कर सकेगा?

यदि कहें कि सुख-दुःख का अनुभव विज्ञानस्कन्ध करता है तो यह भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि विज्ञानस्कन्ध भी क्षणिक है और ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण उससे सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता।

किन्हीं के मतानुसार आत्मा क्षणिक है, क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक हैं और आत्मा भी उन्हीं के अन्तर्गत है। कार्यक्षण के पश्चात् दूसरे ही क्षण में आत्मा का विनाश हो जाता है। ऐसी दशा में कालान्तर में होने वाले कर्मफल के साथ क्षण-विनष्ट आत्मा का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है?

इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ही नहीं है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण आदि की व्यवस्था भी नहीं बैठ सकेगी। मोक्ष की व्यवस्था के अभाव में शास्त्रों की तथा महाबुद्धिमानों की प्रवृत्ति निरर्थक हो जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार क्रियावान (आत्मा) को क्षण-विनश्वर मानने से क्रियावान और फलवान के बीच में काफी फासला (समय का) हो जाएगा। इस कारण जो पदार्थ क्रिया करता है और जो पदार्थ उस क्रिया का फल भोगता है, इन दोनों का परस्पर अत्यन्त भेद होने के कारण कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी आते हैं। जिस आत्म-क्षण ने क्रिया की, वह उसी समय नष्ट हो गया, वह कालान्तर में उत्पन्न होने वाले फल को किसी भी प्रकार भोग नहीं सकेगा। यह 'कृतनाश' नामक दोष हुआ। जो फल भोगता है, उसने वह क्रिया नहीं की, इसलिए 'अकृताभ्यागम' दोष हुआ।[1]

यदि कहो कि ज्ञान-सन्तान (ज्ञान की परम्परा) एक है, इसलिए जो ज्ञान सन्तान क्रिया करता है वही उसका फल भोगता है, इसलिए कृतनाश व अकृताभ्यागम नामक दोष नहीं आते, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञानसन्तान भी प्रत्येक ज्ञानों से भिन्न नहीं है। अतः उस ज्ञानसन्तान से भी कुछ फल नहीं है।

यदि कहो कि पूर्व-पदार्थ उत्तर-पदार्थ में अपनी वासना को स्थापित करके नष्ट होता है, जैसे कि कहा है—जिस ज्ञानसन्तान में कर्मवासना स्थित रहती है, उसी में फल उत्पन्न होता है। जिस कपास में लाली होती है, उसी में फल उत्पन्न होता है,[2] तो यहाँ भी यह विकल्प पैदा हो जाएगा कि वह वासना उस क्षणिक पदार्थ से भिन्न या अभिन्न है? यदि भिन्न है तो वह वासना उस क्षणिक पदार्थ को वासित नहीं कर सकती, यदि वह अभिन्न है तो उस क्षणिक पदार्थ के समान वह भी क्षण-क्षयिणी है।

अतः आत्मा न होने पर सुख-दुःख का भोग नहीं हो सकता। परन्तु सुख-दुःख के भोग का अनुभव होता है, अतः आत्मा अवश्य है, यह सिद्ध होता है।

यदि यह कहें कि क्षणमात्र स्थित होने वाले पहले पदार्थ से उत्तर-पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्षणिक पदार्थों में परस्पर कार्य-कारणभाव हो सकता है तो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि पहला क्षणिक पदार्थ स्वयं नष्ट होकर उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है, अथवा नष्ट न होकर

---

१. क्रिया करने वाला अपनी क्रिया का फल नहीं भोगता, यह कृतनाश दोष है और जो क्रिया नहीं करता है, वह उस क्रिया का फल भोगता है, यह अकृताभ्यागम दोष है।

२. यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न करता है ? स्वयं नष्ट होकर तो उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि जो स्वयं नष्ट हो गया है, वह दूसरे को किस तरह उत्पन्न कर सकता है ? यदि कहो कि स्वयं नष्ट न होकर पहला पदार्थ उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तर-पदार्थ के काल में पूर्व-पदार्थ का व्यापार विद्यमान होने से तुम्हारा क्षणभंगवादरूप सिद्धान्त ही नहीं रह सकता है।

यदि कहें कि तराजू का एक पलड़ा, स्वयं नीचा होता हुआ, दूसरे पलड़े को ऊपर उठाता है, उसी तरह पहला पदार्थ स्वयं नष्ट होता हुआ उत्तर-पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह बात भी युक्तिहीन है। क्योंकि ऐसा मानने पर आप स्वयं दोनों पदार्थों को एक काल में स्थित रहना स्वीकार करते हैं,जो क्षणभंगवाद सिद्धान्त के प्रतिकूल है। ऐसी दशा में उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पर उनके धर्मीरूप पूर्व और उत्तर-पदार्थ की भी एक काल में स्थिति सिद्ध होगी। अगर उत्पत्ति और विनाश को पदार्थों का धर्म न मानो तो उत्पत्ति और विनाश कोई वस्तु ही सिद्ध न होंगे।

पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है—यह कथन भी दोष-दुष्ट है। यदि पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति ही न होनी चाहिए, क्योंकि उनके विनाश का कारण (उत्पत्ति) उनके निकट विद्यमान है।

आपने पदार्थ को क्षणिक मान कर उस पदार्थ का सर्वथा अभाव माना है, वह भी ठीक नहीं है। अभाव शब्द का यहाँ[1] प्रसज्यात्मक नञ् समास मान कर अर्थ करने पर अघट कहने से मुद्गर आदि के प्रहार से घट आदि का विनाश मानना पड़ेगा। उसी तरह आत्मा का भी अभाव सिद्ध हो जाएगा। इसलिए अभाव का यहाँ पर्य्युदास नञ् समास की दृष्टि से अर्थ करने पर अघट कहने से घट से भिन्न कपाल (ठीकरा) रूप पदार्थ को मुद्गर उत्पन्न करता है और घट परिणामी अनित्य है, इसलिए वह कपाल रूप में परिणत होता है।

क्षणिकवाद की विस्तृत चर्चा पूर्व गाथा में की गई है, इसलिए हम पुनः पिष्टपेषण न करके संक्षेप में बताना चाहते हैं कि आत्मा को कूटस्थनित्य मानने पर ये सब दोष आते हैं। क्षणिक होने से अभावरूप आत्मा मानी जाएगी तो सारी

---

१. जैसे कि व्याकरण-शास्त्र में बताया है—

नञर्थौद्वौ समाख्यातौ पर्य्युदास प्रसज्यकौ।
पर्य्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥

नञ् समास के दो अर्थ कहे गए हैं—पर्य्युदास और प्रसज्य। पर्य्युदास सदृश (तद्भिन्न तत्सदृश) का ग्राही है, और प्रसज्य निषेध का ग्राहक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था स्वर्गादि की या इहलोक की नहीं बैठेगी, परलोक की भी सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी।

जैनदर्शन के अनुसार प्रसज्य प्रतिषेध मान कर यहाँ प्रध्वंसाभाव मानना चाहिए।[1] प्रध्वंसाभाव में कारकों का व्यापार होता ही है। क्योंकि वह वस्तुतः

---

१. पदार्थों की व्यवस्था के लिये चार प्रकार के अभावों को अवश्य मानना चाहिए—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव) और (४) अत्यन्ताभाव।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते हैं अथवा वर्तमान पर्याय का पूर्वपर्याय में अभाव भी प्रागभाव कहलाता है। जैसे—दही की पूर्वपर्याय दूध थी, इसलिए दही की पर्याय में दूध की पर्याय का अभाव प्रागभाव कहलाया। जिसकी उत्पत्ति होने पर कार्य अवश्य नष्ट हो जाय, वह उसका प्रध्वंसाभाव है अथवा एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की आगामी (भविष्य की) पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव कहलाता है। जैसे--दही की भविष्य की पर्याय मट्ठा है, दही की पर्याय में मट्ठे की पर्याय का अभाव है इसलिये मट्ठे की पर्याय का अभाव प्रध्वंसाभाव हुआ। तीसरा अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव) वह है जहाँ एक पदार्थ के एक स्वरूप की दूसरे स्वरूप से व्यावृत्ति हो, अथवा एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में जो अभाव हो, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे--दूध की पर्याय में दही की पर्याय का, या दही की पर्याय में मट्ठे की पर्याय का अभाव, अथवा स्तम्भ पर्याय में कुम्भ पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है। तैजस शरीर में कार्मण का शरीर का अभाव भी अन्योन्याभाव है। चौथा है अत्यन्ताभाव—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तीनों काल में तादात्म्य रूप से परिणत न हो, अथवा एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में तीनों काल में अभाव हो, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—चेतन और जड़ में, कुम्हार और घड़े में, पुस्तक और जीव में अत्यन्ताभाव है, क्योंकि प्रत्येक में दोनों भिन्न-भिन्न जाति के द्रव्य हैं। चार अभावों में अत्यन्ताभाव द्रव्यसूचक है, और शेष तीन—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव पर्याय-सूचक हैं। प्रागभाव न मानने से कार्य अनादि (आदिरहित) सिद्ध हो जाएगा। प्रध्वंसाभाव न मानने से कार्य अनन्तकाल (अन्तरहित) तक रहेगा। अन्योन्याभाव न मानने से एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का, दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में अभाव है, वह नहीं रहेगा। अत्यन्ताभाव न मानने से प्रत्येक पदार्थ की त्रैकालिक भिन्नता नहीं रहेगी। जगत् के सभी द्रव्य एकरूप हो जायँगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ का पर्याय यानी अवस्था-विशेष है, अभावमात्र नहीं है। वह अवस्था-विशेष भावरूप है क्योंकि वह पूर्व-अवस्था को नष्ट करके उत्पन्न होता है, इसलिए जो कपाल आदि की उत्पत्ति है, वही घट आदि का विनाश है, जो कारणवश, कभी-कभी होता है। इस कारण भी वह सहेतुक है।

पदार्थों की व्यवस्था के लिए चार प्रकार के अभाव को मानना आवश्यक है। इस प्रकार क्षणभंगवाद विचारसंगत न होने से वस्तु परिणामीनित्य है, यह पक्ष मानना ही ठीक है।

जैन दृष्टि से आत्मा परिणामी, ज्ञान का आधार, दूसरे भवों में जाने वाला और भूतों से कथंचित् भिन्न है तथा शरीर के साथ मिलकर रहने से वह शरीर से कथंचित् अभिन्न है। वह आत्मा, नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में कारणरूप कर्मों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में बदलता रहता है। इसलिए वह सहेतुक भी है तथा आत्मा के निज स्वरूप का कभी नाश नहीं होता इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक भी है।

इस तरह शरीर से भिन्न आत्मा सिद्ध होने पर भी उसे चार धातुओं से बना हुआ शरीर मात्र बताना पागलों की सी बकवास है।

अब शास्त्रकार पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित चार्वाक से लेकर बौद्धदर्शन पर्यन्त विविध दार्शनिकों का अपने-अपने दर्शन के प्रति जो मताग्रह है तथा उस मताग्रह के फलस्वरूप उनका दर्शन मिथ्याभिवाद पूर्ण मिथ्यात्व से ग्रस्त हो जाता है, इसे बताने के लिए कहते हैं—

मूल पाठ

अगारमावसंतावि, अरण्णा वावि पव्वया।
इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

संस्कृत छाया

आगारमावसन्तोऽपि, आरण्या वाऽपि प्रव्रजिताः।
इदं दर्शनमापन्नाः, सर्वदुःखाद् विमुच्यन्ते ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**अगारं**) घर में (**आवसंतावि**) निवास करने वाले भी (**अरण्णा**) वन में निवास करने वाले तापस (**पव्वया**) पार्वत=पर्वत की गुफाओं में रहने वाले (**वावि**) अथवा प्रव्रजित=प्रव्रज्या धारण किये हुए पुरुष भी (**इमं दरिसणं**) हमारे इस (माने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए) दर्शन—मत को (**आवण्णा**) प्राप्त कर (**सव्वदुक्खा**) समस्त दुखों से (**विमुच्चई**) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ

घर में निवास करने वाला गृहस्थ तथा वनवासी तापस एवं पर्वत की गुफा में रहने वाले या गिरिजन भी अथवा प्रव्रज्या (दीक्षा) धारण किये हुए ऋषि या परिव्राजक जो भी हमारे इस दर्शन (मत) को प्राप्त या स्वीकार कर लेते हैं, वे समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

व्याख्या

अन्य दर्शन वालों का अपना-अपना मताग्रह

'इमं दरिसणमावण्णा'—जैसे दुकानदार अपनी दुकान की ओर ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए ग्राहकों से प्रायः यह कहा करते हैं—मेरी दुकान पर जैसा बढ़िया माल मिलेगा, सस्ता मिलेगा, तुम्हारे मनपसन्द का मिलेगा, वैसा किसी दूसरी दुकान में नहीं मिलेगा। दूसरी दुकान पर जाओगे तो वहाँ ठगा जाओगे, वे तुम्हें खराब व घटिया माल दे देंगे और कीमत भी ज्यादा ले लेंगे वैसे ही विविध वादों, दर्शनों और मतों वाले अपनी विचारधाराओं को भ्रान्त या मिथ्या होते हुए भी पूर्वाग्रहवश प्रायः यह कहा करते हैं—हमारे माने हुए या प्रवर्तित मत, दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो समस्त दुःखों से मुक्त हो जाओगे। ऐसा सरल, सीधा और सच्चा दर्शन या मत संसार में और कोई नहीं मिलेगा, दूसरे मतों में मुक्ति का मार्ग अत्यन्त दुरूह और कठिन बताया गया है, जबकि हमारे मत में मुक्ति का मार्ग अत्यन्त सरल, सुसाध्य है, एवं अधिक कष्टकर भी नहीं है। केवल अमुक-अमुक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने से ही मुक्ति हो जाती है।[1] सिर्फ ज्ञानाग्नि ही समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[2] हमारे मत को ग्रहण कर लो बस बेड़ा पार हो जाएगा, सब दुःखों से छुटकारा हो जाएगा। बौद्धमत की ओर आकृष्ट करने

---

१. जैसे कि सांख्यदर्शन के प्ररूपकों ने कहा है—

पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

२. इसी प्रकार गीता में बताया है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए किसी बौद्ध ने कहा—कोमल गुदगुदाती शय्या, प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही दूध आदि का पान, मध्याह्न में भोजन और अपरान्ह में फिर शरबत, आधी रात में किसमिस और मिश्री, इन समस्त सुखोपभोगों के बाद अन्त में मोक्ष की प्राप्ति। ये सब बातें शाक्यपुत्र बुद्ध ने अनुभव की हैं।[1] वेदान्तदर्शन ने एकमात्र ब्रह्मज्ञान को ही मोक्षप्राप्ति का कारण बताकर ब्रह्म में लय हो जाने को मुक्ति कहा है।[2] उनकी मुक्ति के लिए कुछ करना-धरना नहीं है। चार्वाक तो मुक्ति को मानता ही नहीं है। वह तो यही कहता है—समस्त दुःखों से मुक्ति का उपाय यह है कि जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ। शरीर के भस्म हो जाने के बाद फिर किसी लोक में गमन या पुनरागमन नहीं होता।[3] इस प्रकार सभी मत, दर्शन या वाद वाले अपने-अपने माने हुए मतादि के ममत्व में पड़कर अपने मतादि की ओर दूसरों को आकर्षित करने के लिये कहा करते हैं—'इस दर्शन को स्वीकार करने पर समस्त दुःखों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।' यही शास्त्रकार का आशय है।

अगारमावसंता वि—जब उनसे पूछा जाता है कि क्या घर-गृहस्थी में रहते हुए अपने कुटुम्ब-परिवार (माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई-बहनों) के बीच रहते हुए उनके मोह-ममत्व में बँधा हुआ व्यक्ति भी क्या समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है? या मुक्ति प्राप्ति कर लेता है? इस प्रश्न का कारण यह भी सम्भव है कि पूर्व-काल में और अब भी कुछ मत इस विचारधारा के रहे हैं कि गृहस्थ को मुक्ति या दुःख-मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनेक गार्हस्थ्य प्रपंचों में रचा-पचा रहता है, गृहस्थ का पालन करते हुए वह हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता इसलिए गृहस्थ के लिए स्वर्गादि की प्राप्ति तो बताते थे, किन्तु मुक्ति की प्राप्ति नहीं। इसी सन्दर्भ में उक्त प्रश्न पूछे जाने पर तथाकथित दार्शनिक झटपट यह कह दिया करते थे कि हमारे मत को स्वीकार करने पर तुम गृहस्थ में रहते हुए भी सर्वदुखों से मुक्त हो सकोगे। यह इस पंक्ति का तात्पर्य है।

अरण्णा वावि पव्वया—प्राचीन काल में कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो गृहस्थाश्रम को अधिक महत्व देते थे, उनकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारियों

---

१. मृदवी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये, पानकं चापरान्हे।
द्राक्षा खण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥

२. ब्रह्मण्येव लयान्मुक्तिः। —वेदान्त

३. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़कर समाज, और परिवार के दायित्वों से भाग कर अलग-थलग एकान्त वन में या पर्वत की गुफा में जाकर साधना करने वाले निकृष्ट माने जाते थे। ऐसे तापस या ध्यानी अथवा पर्वतीय जन समाज या राष्ट्र के लिए भी अपने ज्ञान या अनुभवों को प्रदान न करने के कारण निरुपयोगी समझे जाते थे। इस सन्दर्भ में पूछे जाने पर भी क्या वनवासी तापस, परिव्राजक या पर्वतीय जन भी सर्वदुखों से मुक्त हो सकते हैं? तब उन मतवादियों का प्रायः यही उत्तर होता था कि हमारे दर्शन को अंगीकार कर लो, सब दुखों से छुटकारा (मोक्ष) हो जायेगा। यह इस पंक्ति का आशय है।

तात्पर्य यह है कि पंचभूतात्मवादी, आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती), तज्जीव-तच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, क्षणिकपंचस्कन्धवादी, चातुर्धातुकवादी आदि दर्शनकार कहते हैं कि गृहनिवासी गृहस्थ, वनवासी तापस, पर्वतीय जन, प्रव्रज्या धारण किये हुए संन्यासी आदि हमारे दर्शन में विश्वास किए हुए नर-नारी समस्त दुखों से मुक्त हो जाते हैं। पंचभूतवादी और तज्जीव-तच्छरीरवादी का यह आशय है कि जो लोग हमारे दर्शन का आश्रय लेते हैं, वे गृहस्थ रहते हुए शिरो-मुण्डन, दण्डचर्मधारण, जटाधारण, काषायवस्त्र, गुदड़ीधारण, केशलुंचन, नग्न रहना, तप करना आदि दुख रूप शरीर क्लेशों से बच जाते हैं।[1] जैसा कि वे कहते हैं—

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चनम्।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते॥

अर्थात् विविध प्रकार के तप तो विचित्र प्रकार से शरीर को यातना देना है, संयम धारण करना भोग से वंचित रहना है, तथा अग्निहोत्र आदि कर्म बच्चों के खेल के समान मालूम होते हैं।

मोक्ष को स्वीकार करने वाले सांख्यमतवादी आदि ऐसा आश्वासन देते हैं कि अकर्तृत्ववाद, अद्वैतवाद और पंचस्कन्धात्मकवाद का प्रतिपादन करने वाले हमारे दर्शन को जो भी गृहस्थ, तापस या वानप्रस्थ संन्यासी या गिरिजन अंगीकार कर लेते हैं वे जन्म, मरण, जरा, गर्भ परम्परा तथा अनेकविध शारीरिक एवं

---

१. वे शास्त्रविहित कर्मों की इस प्रकार निन्दा भी करते हैं—'**त्रयो वेदस्य कर्तारो, भाण्ड-धूर्तनिशाचरा**.' अर्थात् वेद रचयिता तीन तरह के लोग हैं—भाण्ड, धूर्त और निशाचर (राक्षस)। इस प्रकार वे स्वच्छन्दाचारी इहलौकिक सुखोपभोग करने को ही दुख-मुक्ति का मार्ग बताते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक दुखों से मुक्त होकर सब बखेड़ों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'**सव्वदुक्खा विमुच्चई।**'

इस पंक्ति के पीछे शास्त्रकार का यह आशय भी प्रतीत होता है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान महावीर ने जन्म, मरण, जरा, गर्भ परम्परा तथा अनेकविध शारीरिक मानसिक दुखों का कारण कर्मबन्ध को तथा कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बताया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप द्वारा उक्त कर्मबन्धन के कारणों को मिटाकर कर्मबन्धनों से मनुष्य सर्वथा मुक्त हो सकता है, फिर वह चाहे गृहस्थ हो, साधु हो, स्त्री हो, या किसी भी जाति, देश, वेष का साधक हो। इस पर से अन्य दार्शनिकों ने अपनी ओर लोगों को खींचने के लिए यही कहना प्रारम्भ किया कि कुछ भी करो, कहीं भी रहो, हमारे दर्शन (विचारधारा) को स्वीकार करने की देर है, फिर मुक्ति या सब दुखों से मुक्ति तुम्हारे निकट ही है। और कुछ करने-धरने, व्यर्थ ही शरीर को कष्ट में डालने, इन्द्रियों पर नियंत्रण करने या मन को मारने की जरूरत नहीं। दुख-मुक्ति या मुक्ति का नुस्खा बहुत ही आसान है और सस्ता सौदा है।

यही कारण है कि अगली छह गाथाओं में शास्त्रकार व्यर्थ के गाल बजाने वाले अफलवादियों—इन मतवादियों का बखिया उधेड़ते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥
ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥२१॥
ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥
ते णावि संन्धि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥
ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

संस्कृत छाया

ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते ओघन्तरा आख्याताः ॥२०॥
ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते संसारपारगाः ॥२१॥
ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते गर्भस्य पारगाः ॥२२॥
ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते जन्मनः पारगाः ॥२३॥
ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते दुःखस्य पारगाः ॥२४॥
ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं, न ते मारस्य पारगाः ॥२५॥

अन्वयार्थ

(**ते**) वे पूर्वोक्त मतवादी—अन्यदर्शनी, (**संधिं**) सन्धि को (**णावि**) नहीं (**णच्चा**) जानकर क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। (**ते जणा**) किन्तु वे लोग (**धम्मविओ**) धर्म के तत्त्वज्ञ (**न**) नहीं हैं। (**एवं**) पूर्वोक्त प्रकार के (**वाइणो**) अफलवाद को मानने और समर्थन करने वाले (**जे ते उ**) जो अन्यदर्शनी हैं, (**ते**) उन्हें तीर्थंकर ने (**ओहंतरा**) संसार के प्रवाह को पार करने वाले (**न आहिया**) नहीं कहा है ॥२०॥

(**ते**) वे अन्यदर्शनी मतवादी, (**णावि संधिं णच्चा**) संधि को नहीं जान कर क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, (**ण ते धम्मविओ जणा**) वे धर्म के जानकार नहीं हैं। (**जे ते उ एवं वाइणो**) जो इस प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, (**न ते संसारपारगा**) वे संसार सागर को पार नहीं कर सकते ॥२१॥

(**ते**) वे (**संधिं**) सन्धि को, (**ण णच्चा वि**) बिना जाने ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। (**ते जणा धम्मविओ न**) वे लोग धर्म के ज्ञाता नहीं है। (**जे ते उ एवं वाइणो**) जो अन्यदर्शनी ऐसे वादी हैं (**ते गब्भस्स पारगा न**) वे गर्भ को पार नहीं कर सकते ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**ते संधिं णावि णच्चा**) वे पूर्वोक्त मतवादी संधि को न जानकर क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, (**ते जणा धम्मविओ न**) वे लोग धर्म के रहस्यज्ञ नहीं हैं। (**जे ते उ एवं वाइणो**) जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या सिद्धान्त की प्ररूपणा करने वाले अन्यदर्शनी हैं (**ते जम्मस्स पारगा न**) वे जन्म को पार नहीं कर सकते ॥२३॥

(**ते संधिं णावि णच्चा**) वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं, (**ते जणा धम्मविओ ण**) वे लोग धर्मवेत्ता नहीं हैं। (**जे ते उ एवं वाइणो**) अतः जो इस प्रकार के मिथ्या सिद्धान्तों की प्ररूपणा करते हैं, (**ते दुक्खस्स पारगा न**) वे दुख के पारगामी नहीं होते ॥२४॥

(**ते संधिं णावि णच्चा**) वे अन्य मतवादी संधि से अनभिज्ञ होकर क्रिया में जुट जाते हैं, (**ते जणा धम्मविओ न**) वे लोग धर्म के ज्ञाता नहीं हैं। (**जे ते उ एवं वाइणो**) जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या मत का प्रतिपादन करते हैं (**ते मारस्स पारगा न**) वे मृत्यु को पार नहीं कर सकते ॥२५॥

भावार्थ

पूर्वोक्त अन्यदर्शनी संधि—ज्ञानावरणीय आदि कर्म विवर को न जानकर ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, ये लोग धर्मज्ञान से रहित हैं। जो पूर्वोक्त प्रकार से अफलवाद के समर्थक मिथ्यावादी हैं, उन्हें भगवान महावीर संसार के प्रवाह के पारगामी नहीं बताते हैं ॥२०॥

वे अन्यदर्शनी संधि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। वे लोग धर्म के ज्ञाता नहीं है। जो पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाले मताग्रही हैं, वे संसार को पार नहीं कर सकते ॥२१॥

वे अन्यतीर्थी संधि (अवसर या कर्मबन्ध के मेल) को न जान कर ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे लोग धर्म के तत्त्वज्ञ नहीं हैं। जो पूर्वोक्त मिथ्या मान्यताओं के प्रतिपादक हैं, वे गर्भ में आगमन को पार नहीं कर सकते ॥२२॥

वे अन्य मतवादी संधि (ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्धन के संयोजन) को जाने बिना ही अंधाधुंध प्रवृत्ति करते हैं। वे लोग धर्म के रहस्य से अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले लोग जन्म (परम्परा) को पार नहीं कर सकते ॥२३॥

वे अन्य मतावलम्बी लोग संधि (उत्तरोत्तर पदार्थ परिज्ञान) को नहीं जान कर भी क्रिया में प्रवृत हो जाते हैं, वे लोग धर्म का सम्यक् निर्णय करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में समर्थ नहीं है। इस प्रकार के मिथ्यामत के शिकार जो अन्यदर्शनी हैं, वे दुख को पार नहीं कर सकते ॥२४॥

वे अन्यदर्शनी लोग सन्धि (कर्मबन्धन की रहस्यमय संधि) को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे लोग धर्म के तत्त्वज्ञ नहीं हैं। अतः जो पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले हैं, वे मृत्यु को पार नहीं कर सकते ॥२५॥

व्याख्या

अन्यदर्शनी लोगों की संधि के विषय में अनभिज्ञता

'ते णावि संधि णच्चा—इस पंक्ति में **'ते'** शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनके विषय में शास्त्रकार पूर्वगाथाओं में कह आये हैं। वे हैं—पंचभूतवादी, आत्माद्वैतवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, पंचस्कंधवादी एवं चातुर्धातुकवादी बौद्ध आदि-आदि विभिन्न अफलवादी मतों के प्ररूपक। छह गाथाओं में उन सबकी बन्ध-मोक्ष के विषय में अनभिज्ञता और अंधाधुंध क्रिया प्रवृत्ति देखते हुए उनके लिए कहा है कि वे धर्म के ज्ञाता नहीं हैं तथा वे अपनी मिथ्या विचारधाराओं के मताग्रह के कारण संसार सागर को पार नहीं कर सकते; न जन्म, मरण, गर्भ, दुःख आदि को नष्ट कर सकते हैं। वे ऐसे क्यों है? इसका रहस्य हम क्रमशः खोल रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि वे संधि को जाने बिना ही अंधाधुंध प्रवृत्ति करते रहते हैं। इस पंक्ति में 'संधि' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण और अर्थ-गंभीर है। संधि शब्द का यों तो अर्थ होता है—जोड़, या मेल। अथवा संधि शब्द का अर्थ संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम्यक् प्रकार से धारण करना भी होता है[1]। अथवा संधि का अर्थ छिद्र भी होता है। यहाँ सन्धि विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। वह यह है कि शास्त्रकार ने इस अध्ययन की प्रथम गाथा में बताया है—**किमाह बंधणं वीरो**। वीर भगवान ने कर्मबन्धन किसे कहा है? जीव उस कर्मबन्धन से मुक्त कैसे हो सकता है? उसी सन्दर्भ में शास्त्रकार ने यहाँ सन्धि शब्द का प्रयोग किया है। उससे यह द्योतित किया है कि अन्यदर्शनी, ये पूर्वोक्त मतवादी (अफलवादी) कर्मबन्धन और मुक्ति का मेल क्या है? कर्मबन्धन का आत्मा के साथ कहाँ-कहाँ जोड़ है, मेल है? इस बात को नहीं जानकर ही वे दुःख-मुक्ति के लिए दौड़धूप करते हैं। अथवा कर्मबन्धन के कारणों अथवा आत्मा के साथ कर्मबन्धन की सन्धि कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे, किन कारणों से हो जाती है?

---

१. सम्यग्धीयते इति सन्धिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस बात को वे (अन्यदर्शनी) नहीं जानते, किन्तु वे कर्मबन्धन से मुक्ति या दुःख से मुक्ति के लिए अंधी दौड़ लगाते हैं। आशय यह है कि आत्मा के कर्मबन्धन से रहित होने की सन्धि (रहस्य) को अन्यदर्शनी लोग जाने बिना ही दुःख से मुक्त होने की अंधाधुंध प्रवृत्ति करते हैं।

पूर्वगाथाओं में पंचभूतवादी से लेकर पंचस्कन्धवादी या चातुर्धातुकवादी बौद्ध तक का स्वरूप बताकर विविध प्रमाणों से उनके मत को मिथ्या सिद्ध किया जा चुका है।

पंचभूतवादियों के मत में कर्मबन्धन तथा उससे मुक्ति के विषय में घोर अन्धेर है ही। वे पंचभूतों से अतिरिक्त किसी आत्मा या कर्मबन्धन, कर्ममुक्ति आदि को मानते ही नहीं तथा दुःख-मुक्ति के विषय में उनका जो भोगविलासवादी रुख है, वह कितना छिछला है, यह हम पहले बता चुके हैं। यही हाल वेदान्तियों (आत्माद्वैतवादियों) का है। वे भी सारी दुनियाँ की एक सिर्फ एक आत्मा मानकर कर्मबन्ध और उससे मुक्ति को घपले में डाल देते हैं। वे भी व्यक्तिशः आत्मा के कर्मबन्ध और उससे मुक्ति का उपाय नहीं बता सकते। इसके बाद है—तज्जीव-तच्छरीरवादी। वह भी पंचभूतवादियों का भाई है। उनकी दुःख-मुक्ति भी पंचभूतवादियों की सी विचित्र ढंग की है। इसलिए वे भी आत्मा के साथ कर्मबन्ध की सन्धि और उससे मुक्ति के रहस्य से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। सांख्यों का तो आत्मा ही सर्वथा निष्क्रिय, भोगी और अकर्ता है। वह न तो कर्मबन्धन और आत्मा के मेल को भलीभाँति जानता है, और न ही उससे मुक्त होने की बात समझता है। उसका आत्मा तो मूर्ति की तरह निष्क्रिय है। इसलिए वे भी इस सन्धि को जाने-समझे बिना यों ही लकीर के फकीर बने चले जा रहे हैं। आत्मषष्ठवादी आत्मा को तो मानते हैं, मगर उनका आत्मा सर्वथा कूटस्थनित्य होने के कारण न बन्ध कर सकता है, (हालाँकि बन्ध तो होता है) और न मोक्ष के लिए उपाय कर सकता है। इसलिए वे आत्मषष्ठवादी 'वैशेषिक या वेदवादी' तो आत्मा के साथ कर्म की सन्धि या बन्धन के रहस्य से बिलकुल अपरिचित हैं। आत्मा को पंचस्कन्धमय मानने वाले अफलवादी हैं, उनके मत से जीव को कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दोष लगते हैं। चातुर्धातुकवादी बौद्धों का आत्मा ही क्षणस्थायी है, तब वह क्या तो बन्धन को जानेगा और कब उस बन्ध से मुक्ति होगा? इस प्रकार यह सभी मतवादी आत्मा और कर्म की सन्धि (बन्धन) और उसके जैनदर्शन-मान्य मिथ्यात्वादि पाँच कारणों से बिलकुल अनभिज्ञ होकर बन्धन या दुःख से मुक्ति के नाम से तथाकथित उपाय करते रहते हैं। किन्तु वह तो अन्धे कुएँ में कूदने के समान प्रवृत्ति है। क्योंकि जिस आत्मा को बन्धन से या दुःख से मुक्त कराना चाहते हैं, उस बन्धन या आत्मा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय में तो दिमाग में अन्धेरा है। 'प्रथम ज्ञान और फिर क्रिया' वाला सिद्धान्त वे भूल जाते हैं। यही इस प्रथम पंक्ति का आशय है।

न ते धम्मविओ जणा—इस पंक्ति में उन्हीं पूर्वोक्त मतवादियों के विषय में कहा गया है कि वे सन्धि से अनभिज्ञ मतवादी लोग धर्म के तत्त्ववेत्ता नहीं है। कैसे नहीं है ? इसे बताने के लिए पिछली युक्तियों पर हमें ध्यान देना होगा। जब कर्म-बन्धन और उसके कारणों की सन्धि (रहस्य) को नहीं जानेंगे-मानेंगे तो आत्मा के धर्म को वे कैसे जानेंगे ? शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप और उनके परिणामवश प्राप्त होने वाले स्वर्ग-नरक आदि तथा शुद्ध परिणामों एवं कर्म-क्षय से प्राप्त होने वाली पंचम गति मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी। आत्मा का धर्म क्या है ? इस बात को भी वे नहीं जानते। इसीलिए शास्त्रकार ने उनके लिए सूचित किया है—**न ते धम्मविओ जणा**।

जे ते उ वाइणो एवं—अब तीसरी पंक्ति में शास्त्रकार यह सूचित करते हैं कि जिन मिथ्यासिद्धान्तवादियों का हमने पूर्वगाथाओं में जिक्र किया है, वे अपने सिद्धान्तों के थोथेपन या अयर्थाथत्व को जानकर भी, युक्तियों एवं प्रमाणों से खण्डित होने पर भी मिथ्याग्रह या पूर्वाग्रहवश स्वयं पकड़े रखते हैं, और जगह-जगह अपने मिथ्यामत की डींग हाँकते फिरते हैं। 'एक तो करेला, फिर नीम पर चढ़ा' वाली कहावत के अनुसार अपने मिथ्यात्व एवं उसके अभिमान से ग्रस्त होकर अपने मत की झूठी शेखी बघारने वाले वे लोग एक तो मिथ्यात्व और दूसरे उस मिथ्यात्व के जोर-शोर से प्रचार के कारण तथा भोले-भाले हजारों-लाखों लोगों को अपने मिथ्या-मत में फँसाने के कारण घोर अशुभ (पाप) कर्मबन्ध से छूट नहीं सकते। उक्त अशुभ (पाप) कर्मबन्ध के फलस्वरूप वे नरक-तिर्यञ्च आदि विविध गतियों एवं योनियों में भटकते हुए नाना प्रकार के दुख भोगते रहते हैं। बुद्धि में मिथ्यात्वरूपी अन्धकार होने के कारण उन नरक-तिर्यंच योनियों में भी उन तथाकथित वादियों को सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रायः नहीं मिलता।

यदि कहें कि वे जो अपने जीवन में अज्ञानवश अनेक तप, जप, क्रियाकाण्ड या कष्टसहन आदि क्रियाएँ करते हैं, क्या उसके फलस्वरूप वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकेंगे ? जैन दृष्टि कहती है—वे उक्त क्रियाकाण्डों या तप-जप आदि के फलस्वरूप मन्द कषाय के कारण कदाचित देव योनि प्राप्त कर लें, परन्तु वहाँ भी उन्हें सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन उपलब्ध न होने से वे अज्ञान, मोह, काम, लोभवश अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दुःख-सुख प्राप्त करते रहते हैं। वहाँ उन्हें इतनी सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री मिलने पर भी सुख कहाँ ? इसीलिए शास्त्रकार ने छह गाथाओं में अलग-अलग प्रकार का कर्मफल उक्त विभिन्न मतवादियों को प्राप्त होने का तथा घोर कर्मबन्धनों से उनकी आत्मशक्ति विकसित न होकर कुण्ठित हो जाने का वर्णन किया है। इसीलिए जैसे—आत्मा की कर्मबन्धनों से मुक्ति के समय होने वाले कर्म-बन्धनों के प्रवाह (संसार प्रवाह) को, संसार को, माता के गर्भ में बार-बार आगमन को, बार-बार जन्म लेने के दुःख को, शारीरिक-मानसिक दुखों को तथा मृत्यु को वह पार नहीं कर सकता। शास्त्रकार ने इन छह गाथाओं में से प्रत्येक की तीन पंक्तियों में, एक सरीखी बात सूचित की है, अन्तिम चौथी पंक्ति में **'ओहंतरा-ऽऽहिया', संसारपारगा, गब्भस्स पारगा, जम्मस्स पारगा, दुक्खस्स पारगा** तथा **मारस्स पारगा,** कहकर कर्मबन्धन से मुक्त साधक जैसे कर्मबन्धन प्रवाह, संसार, गर्भ, जन्म, मरण, शारीरिक-मानसिक दुःख आदि रूप समस्त दुखों को समाप्त कर देता है, वैसे ये पूर्वोक्त मतवादी समाप्त नहीं कर पाते। क्योंकि जब तक कर्म-बन्धन के स्वरूप, कारण, और उनसे छुटकारे के उपाय—मुक्ति-मार्ग का सम्यक् परिज्ञान न हो, मिथ्याग्रहवश मिथ्यात्व से पिण्ड न छूटे, तब तक कर्मबन्धन के फल-स्वरूप प्राप्त होने वाली इन सब चीजों—संसार, जन्म-मरण, गर्भ, दुःख आदि को कोई कैसे समाप्त कर सकेगा ? यहाँ **'पारगा'** शब्द **(पार तीर समाप्तौ)** पार और तीर इन दोनों समाप्त्यर्थक धातुओं से बना है। जिसका अर्थ होता है—समाप्त करने वाले, किनारे तक पहुँचने वाले या किनाराकशी करने वाले। जब तक जीवन में मिथ्यात्व रहेगा, तब तक चाहे पर्वत पर चला जाय, घोर जंगल में जाकर ध्यान लगा ले, अनेक कठोर तप करने लगे या कष्टकर विविध क्रियाकाण्ड भी कर ले, वह व्यक्ति जन्म-मरण, संसार, गर्भ, दुःख आदि को समाप्त नहीं कर सकता। इसीलिए उक्त मतवादियों में मुक्ति, सम्पूर्ण कर्मबन्धनों से मुक्ति, समस्त दुखों से सर्वदा तथा सर्वथा मुक्ति की असमर्थता इन छह गाथाओं द्वारा सूचित कर दी है।

अब अगली गाथा में उन मतवादियों को मिथ्यात्व के कारण होने वाले घोर कर्मबन्धनों का फल क्या और किस प्रकार का मिलता है, इसे बताते हैं—

मूल पाठ

णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोंति पुणो-पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

(त्ति बेमि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

नानाविधानि दुःखान्यनुभवन्ति पुनः पुनः ।
संसारचक्रवाले मृत्युव्याधिजराकुले ॥२६॥
(इति ब्रवीमि)

अन्वयार्थ

(**मच्चुवाहिजराकुले**) मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे से व्याप्त (**संसारचक्कवालमि**) संसार रूपी (जन्म-मरण के) चक्र में (**पुणो पुणो**) वे अन्यदर्शनी मिथ्यात्वग्रस्त बार-बार (**नाणाविहाइं**) अनेक प्रकार के (**दुक्खाइं**) दुःखों का (**अणुहोंति**) अनुभव करते हैं।

भावार्थ

वे मिथ्यात्वग्रस्त अन्यदर्शनी मृत्यु, रोग एवं वृद्धावस्था से परिपूर्ण इस संसार (जन्म-मरण) के चक्र में बार-बार अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दुःखों को भोगते हैं।

व्याख्या

अन्यदर्शनियों को मिलनेवाला भयंकर फल

'**नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति**' पूर्वोक्त छह गाथाओं में तो उन अन्यदर्शनियों की आत्म-शक्ति की कुण्ठता के कारण गर्भ-जन्म-मृत्यु-संसार-दुःख आदि को काटने की असमर्थता बताई थी, अब इस गाथा में यह बतलाते हैं कि उन अन्य मतवादियों को इस मृत्यु-व्याधि-जरा से पूर्ण संसारचक्र में थोड़ा-सा इन्द्रियजनित क्षणिक वैषयिक सुख तो शायद इस एक मानव जन्म में मिल जाता होगा, लेकिन इसके बाद उक्त घोर मिथ्यात्वग्रस्तता के कारण पुनः-पुनः भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने के कारण एक ही नहीं, अनेक एक से एक बढ़कर भयंकर दुखों का सामना करना पड़ता है। उन गतियों तथा योनियों में वह सुख की साँस ले नहीं सकता।

इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति तो अज्ञान के कारण स्वयं मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है, वह इतना तीव्र कर्मबन्ध नहीं करता, किन्तु जो मिथ्यात्व के खोटे सिक्के को संसार के बाजार में खरे सिक्के के रूप में चलाता है, उसका जनता के सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में प्रचार-प्रसार करता है, हजारों-लाखों को मुक्ति-दुःखमुक्ति का प्रलोभन देकर जान-बूझकर उस असत्य विष का पान कराता है, भला वह इतने घोर दण्ड के बिना कैसे छुटकारा पा सकता है? इसलिए शास्त्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी की लल्लोचप्पो किये बिना खरी-खरी सुना देते हैं कि ऐसे मिथ्यात्वग्रस्त मतवादी नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवरूप चारों गतियों से युक्त जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि से व्याप्त संसार में विविध दुखों का अनुभव करते हैं ।

चारों गतियों में असातावेदनीय के उदय से कैसे-कैसे दुखों का बार-बार अनुभव करना पड़ता है, इसे संक्षेप में बताते हैं । वे नरक में आरे से चीरे जाते हैं, कुंभीपाक में पकाये जाते हैं, गर्म लोहे से चिपटाये जाते हैं, शाल्मली वृक्ष से आलिंगन कराये जाते हैं । तिर्यंच गति में जन्म लेकर शीत, उष्ण, भूख-प्यास, दहन, अंकन, ताड़न, अतिभारवहन आदि नाना कष्टों को उन्हें सहना पड़ता है । मनुष्य जन्म में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शोक, रुदन, आदि दुख भोगने पड़ते हैं और देव गति में भी जन्म लेकर अभियोगीपन, ईर्ष्या, किल्विषीपन, पतन (च्यवन) आदि नाना प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं । क्या सुख है इस संसार में ? क्षणिक विषय सुख के बाद फिर वही हाय हाय! ऐसे घोर दुखों को भोगते समय कहाँ निश्चिन्तता; और जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? तब उस दुखग्रस्त जीव को सम्यग्ज्ञान की जिज्ञासा भी कैसे पैदा हो सकती है ? अतः वे मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर जाते हैं, लेकिन विविध गतियों एवं योनियों में भटकने के बाद भी उस जीव के मन-मस्तिष्क को बार-बार मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व का गाढ़ अंधेरा आ घेरता है । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति'** आशय यह है कि वे मिथ्या सिद्धान्त प्ररूपक विविध वादी जन्म-मृत्युरूप संसार में पूर्वोक्त दुःख बार-बार भोगते हैं ।

अब इस उद्देशक की अन्तिम गाथा में प्रथम गाथा में कही हुई बात का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संति णंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

संस्कृत छाया

उच्चावचानि गच्छन्तो, गर्भमेष्यन्त्यनन्तशः ।
ज्ञातपुत्रो महावीर, एवमाह जिनोत्तमः ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**नायपुत्ते**) ज्ञातपुत्र (**जिणोत्तमे**) वीतरागी = जिनों में उत्तम (**महावीरे**) तीर्थंकर महावीर ने (**एवमाह**) इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अफलवादी अन्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनी (**उच्चावयाणि**) ऊँच-नीच गतियों में (**गच्छंता**) गमन करते हुए (**णंतसो**) अनन्त बार (**गब्भमेस्संति**) माता के गर्भ में आएँगे या गर्भ को पायेंगे।

भावार्थ

वीतरागियों में श्रेष्ठ ज्ञातपुत्र तीर्थंकर महावीर ने इस प्रकार कहा है कि पूर्वोक्त अफलवादी विविध उच्च-नीच गतियों में गमन-भ्रमण करते हुए अनन्त बार माता के गर्भ में आएँगे।

व्याख्या

सर्वज्ञ ज्ञातपुत्र महावीर द्वारा भविष्यवाणी

इस गाथा में '**नायपुत्ते महावीरे एवमाह**' कहकर सूत्रकार गणधर ने यह नम्रता प्रगट की है कि मैं अपने मुख से इस प्रकार की बात नहीं कह रहा हूँ। यह बात तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रकट की गई है। गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—मैं यह बात अपनी ओर से नहीं कहता, अपितु तीर्थंकर की आज्ञा से उनके उपदेशों के आधार पर या तीर्थंकर से साक्षात् जैसा और जितना सुना है वही मैं तुमसे कह रहा हूँ, अपनी बुद्धि से कल्पित करके नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार आद्योपान्त इस अध्ययन में वर्णित बातें और इस गाथा में उक्त बातें भगवान महावीर द्वारा साक्षात् प्रकाशित किये जाने से ये तीन बातें ध्वनित होती हैं—एक तो गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा सर्वज्ञ आप्तपुरुष एवं उनकी वाणी के प्रति विनय व्यक्त किया गया है; दूसरे, सर्वज्ञ आप्तपुरुष तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित होने से इस वाणी पर प्रामाणिकता की मुहर-छाप लग गई और तीसरे, इससे जनता के हृदय में इन शास्त्रोक्त बातों पर भली-भाँति विश्वास जम जाता है कि यह अल्पज्ञ द्वारा कही हुई संदिग्ध बात नहीं है, अपितु सर्वज्ञ द्वारा कथित या उपदिष्ट है। ऐसा न किया जाता तो कोई भी व्यक्ति शास्त्र पाठक से पूछ सकता था कि जिन अन्य दार्शनिकों के लिये आपने जो दुःख-मुक्ति की असमर्थता बताई तथा बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म-मरण, गर्भ आदि दुखों का अनुभव करने या नरकादि में जाने अथवा अनन्त बार गर्भ में आने की जो बातें कहीं गईं, वे तुम्हारी कही हुई हैं या सर्वज्ञ आप्तपुरुष की? यदि तुम्हारे द्वारा कही गई हैं, तब तो इसमें किसी को भी शंका करने या आक्षेप लगाने की गुंजाइश बनी रहेगी। अल्पज्ञ कथित बात में लोगों को सन्देह भी हो सकता है, लेकिन यह अध्ययन मूल में सर्वज्ञोक्त होने पर किसी को भी किसी बात में सन्देह करने का अवसर नहीं रहता। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'**नायपुत्तो महावीरे एवमाह जिणोत्तमे।**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चावयाणि ·····णंतसो—इस पंक्ति में बताया गया है कि पूर्वोक्त मतवादियों को कोई एक ही जन्म ले कर नहीं रहना होगा, बल्कि अनेक उच्च-नीच (स्थानों) गतियों एवं योनियों में बार-बार परिभ्रमण करते हुए वे एक-दो बार नहीं, अनन्त बार माता के गर्भ को प्राप्त करेंगे ।

जो व्यक्ति राग-द्वेष-रहित है, विश्वहितैषी है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, निःस्पृह है, त्यागी है, उसकी वाणी से किसी के प्रति किसी प्रकार से द्वेष-रोष या घृणा-वैर से सम्पृक्त कोई भी वचन नहीं निकलता । वे क्यों किसी के प्रति द्वेषवश या वैरवश वचन निकालेंगे ? उन्होंने अपने ज्ञान में जैसा भी उन पूर्वोक्त वादियों का अन्धकारमय भविष्य देखा, वैसा ही उन्होंने प्रकट कर दिया । उन्होंने किसी का व्यक्तिगत नाम लेकर ये बातें नहीं कहीं, बल्कि अमुक-अमुक गलत सिद्धान्त प्ररूपणा करने वालों के लिये समुच्चय रूप में कही हैं । इसीलिए शास्त्रकार तीर्थंकर की ओर से इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

त्ति बेमि ।

इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

पढमज्झयणे पढमो उद्देसो सम्मत्तो ॥

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण हुआ । सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की 'अमरसुखबोधिनी' व्याख्या भी सम्पूर्ण हुई ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

परसमय-वक्तव्यताधिकार

प्रथम उद्देशक में स्वसमय और परसमय का निरूपण किया गया। इसी प्रकार दूसरे उद्देशक में भी स्वसमय-परसमय का वर्णन किया जा रहा है। वैसे तो पहला अध्ययन ही स्वसमय-परसमय-वक्तव्यता का है। पहले उद्देशक में भूतवादी आदि का मत बताया गया है, और दूसरे उद्देशक में अदृष्ट नियतिवादी आदि मिथ्यादृष्टिसम्पन्न दार्शनिकों का मत बताया गया है। प्रथम उद्देशक में **'बुज्झिज्जत्ति'** आदि बोध-सूत्रों के द्वारा कहा गया है कि जीव को पहले बोध प्राप्त करना चाहिये। आत्मस्वरूप का बोध होते ही बन्धन का स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिये।

अतः आत्म-स्वरूप के बोध के साथ-साथ 'बन्धन' के सम्बन्ध में किस दार्शनिक ने क्या कहा है ? किसने बन्धन को माना है, किसने नहीं ? इन सब बातों का बोध करना आवश्यक है। इसलिए शास्त्रकार अब नियतिवादी आदि ने क्या कुछ कहा है, वह क्रमशः बताते हैं—

मूल पाठ

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ ॥१॥

संस्कृत छाया

आख्यातं पुनरेकेषामुपपन्नाः पृथग्जीवाः।
वेदयन्ति सुखं दुःखमथवा लुप्यन्ते स्थानतः ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**पुण**) फिर (**एगेसिं**) किन्हीं मतवादियों का (**आघाय**) कहना है कि (**जिया**) जीव (**पुढो**) पृथक् पृथक् हैं, (**उववण्णा**) यह युक्ति से सिद्ध है। (**सुहं दुक्खं**) वे जीव पृथक्-पृथक् ही (अपना-अपना) सुख-दुःख (**वेदयन्ति**) भोगते हैं, (**अदुवा**) अथवा (**ठाणउ**) अपने स्थान से अन्यत्र (**लुप्पंति**) जाते हैं।

भावार्थ

फिर किन्हीं मतवादियों ने यह भी मन्तव्य प्रतिपादित किया है कि संसार में सभी जीव (आत्मा) पृथक्-पृथक् हैं, यह युक्ति से सिद्ध होता है; तथा वे जीव अपने-अपने अलग-अलग सुख-दुःख का अनुभव करते हैं; अथवा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं।

व्याख्या

नियतिवादियों के मत का निरूपण

इस गाथा में नियतिवादी दार्शनिकों के मत का स्वरूप बताया जा रहा है। पहले उद्देशक में पंचभूतात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, पंचस्कन्धवाद, आत्माद्वैतवाद, अकारकवाद, चातुर्धातुकवाद आदि बताये गये हैं। इन वादों से विलक्षण एवं विपरीत दूसरे उद्देशक में युक्तिसंगत यथार्थ वस्तुस्वरूप नियतिवाद के द्वारा बतलाया गया है।

नियतिवाद का आत्मा के सम्बन्ध में क्या मन्तव्य है? इसे प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने कहा '**जिया पुढो उववण्णा**' अर्थात् इस संसार में सभी जीव अपना-अपना अलग अस्तित्व रखते हैं, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्तियों से सिद्ध होती है। इस कथन से पंचभूतात्मवाद या तज्जीव-तच्छरीरवाद का खण्डन हो जाता है। नियतिवादियों के द्वारा प्रत्येक आत्मा के पृथक अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए '**वेदयन्ति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ**' कहा गया है। आशय यह है कि जब तक पृथक-पृथक आत्मा नहीं मानी जायगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दुःख भी नहीं भोग सकेगा। और फिर शुभाशुभ कर्मफल के रूप में सुख या दुःख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति या एक योनि को छोड़कर दूसरे शरीर, दूसरी गति और दूसरी योनि में जाना नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीवों की पृथक-पृथक सत्ता नहीं मानी जायेगी तो उन सुख-दुःखों को भोगने के लिए कौन कहाँ जायेगा? यह भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह कथन भी अनुभव और युक्तियों से सिद्ध है। जीवगण अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक आदि पदों या शरीरों में जन्म धारण करते हैं, इस कथन से आत्माद्वैतवादी के मत का खण्डन हो जाता है। युक्ति से पृथक-पृथक जीव इसलिए भी सिद्ध हैं कि संसार के जीवों में कोई अधिक सुखी है, कोई कम सुखी है, कोई अधिक दुःखी है, कोई कम दुःखी। वे अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगते देखे जाते हैं। इस कथन से पञ्चस्कन्ध या चतुर्धातु से भिन्न आत्मा को न मानने वाले बौद्धों के मत का खण्डन समझ लेना चाहिए। वे जीव प्रत्येक शरीर में अलग-अलग निवास करते हुए सुख-दुःख भोगते हैं। प्रत्येक प्राणी के अनुभव से सिद्ध सुख-दुःखरूप फलभोग को हम झुठला नहीं सकते। इस उक्ति से आत्मा को कर्ता न मानने वाले मतवादियों के मत का खण्डन समझ लेना चाहिए, क्योंकि पुण्य-पाप का कर्ता तथा विकारयुक्त आत्मा न होने पर सुख-दुःखरूप फलभोग नहीं हो सकता। अथवा वे प्राणी सुख-दुःख को भोगते हैं और अपना आयुष्य पूर्ण होते ही वर्तमान शरीर से अलग हो जाते हैं अर्थात् एक भव, एक शरीर को छोड़कर दूसरे भव, या शरीर को चले जाते हैं, इस अनुभव को भी हम मिथ्या नहीं कह सकते। इस प्रकार जीवों के एक भव से दूसरे भव में जाने का भी निषेध नहीं किया जा सकता। यही शास्त्रकार का आशय है।

प्रश्न होता है कि नियतिवाद का आत्मा के सम्बन्ध में शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण यथार्थ है और जैनदर्शन भी तो अनेक आत्मा, आत्मा का पृथक अस्तित्व, आत्मा का सुख-दुःखरूप फलभोग तथा उसे भोगने के लिए परलोकगमन आदि बातें इसी रूप में मानता है, फिर नियतिवाद का खण्डन करने के लिए शास्त्रकार ने इस गाथा में उपक्रम क्यों किया? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि नियतिवाद जहाँ तक अनुकूल है, वहाँ तक तो उसका वैसा सत्यस्वरूप बताना ही चाहिए, किन्तु एकान्त नियतिवाद के जो दोष हैं, उनका खण्डन शास्त्रकार ने अगली दो गाथाओं में किया है। जैनदर्शन की दृष्टि आलोचक या दोष-दृष्टि नहीं है, वह वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करता है। विविध प्रमाणों और नयों की दृष्टि से किसी भी वाद, मत या तत्त्व को तौल कर ही वह अपना निर्णय देता है। यही कारण है कि इस गाथा में नियतिवाद का जो सत्यांश है, उसका कथन किया और अगली दो गाथाओं में उसके असत्यांश का वर्णन कर रहे हैं—

मूल पाठ

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ?।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया ।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसिं आहियं ॥३॥

संस्कृत छाया

न तत् स्वयं कृतं दुःखं, कुतोऽन्यकृतञ्च ? ।
सुखं वा यदि वा दुःखं, सैद्धिकंवाऽसैद्धिकम् ॥२॥
स्वयं कृतं नाऽन्यैर्वेदयन्ति पृथग्जीवाः ।
सांगतिकं तत्तथा तेषामिहैकेषामाख्यातम् ॥३॥

अन्वयार्थ

(तं) वह (दुक्खं) दुःख (सयं कडं) स्वयं किया हुआ (न) नहीं है । (अन्न कडं) दूसरे का किया हुआ (कओ) कहाँ से हो सकता है ? (सेहियं) सिद्धि से उत्पन्न (वा असेहियं) अथवा सिद्धि के बिना उत्पन्न (सुहं वा) सुख अथवा (दुक्खं) दुःख, जिसे (जिया) जीव (पुढो) पृथक-पृथक (वेदयंति) भोगते हैं (सयं) स्वयं अथवा (अन्नेहिं) दूसरों के द्वारा (कडं न) किया हुआ नहीं है । (तं) वह (तेसिं) उनका (तहा) वैसा (संगइअं) नियतिकृत है, (इह) इस जगत में ऐसा (एगेसिं) किन्हीं मतवादियों का (आहियं) कथन है ।

भावार्थ

वह दुःख स्वयं के द्वारा किया हुआ जब नहीं है, तो दूसरे के द्वारा किया हुआ कैसे हो सकता है ? विभिन्न प्राणी जो सुख या दुःख अलग-अलग भोगते हैं, वे सुख-दुःख चाहे सिद्धि से उत्पन्न हुए हों या सिद्धि के बिना उत्पन्न हुए हों, वे उसके अपने किए हुए नहीं हैं, और न ही दूसरों के द्वारा किये हुए हैं । उनका वह सुख या दुःख नियतिकृत ही होता है, ऐसा किन्हीं (नियतिवादियों) का कथन है ।

व्याख्या

नियतिवादियों का मिथ्या-प्ररूपण

इससे पहले की गाथा में नियतिवाद का आत्मा के विषय में जो कथन था, वह किसी अपेक्षा से युक्तिसंगत था, परन्तु अब इन दो गाथाओं में जो प्ररूपण है, वह उनके एकान्त मिथ्याग्रह को सूचित करता है । नियतिवादियों का कहना यह है कि इस संसार में समस्त प्राणियों के द्वारा जो सुख-दुःख, जन्म-मरण, एक भव से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे भव में गमनागमन आदि का जो कुछ अनुभव किया जाता है, वह उनके अपने पुरुषार्थ से निष्पादित नहीं है—स्वकृत नहीं है। यहाँ गाथा में कारण में कार्य का उपचार करके 'दुःख' शब्द से दुःख का कारण ही कहा गया है। दुःख शब्द उपलक्षण है, इसलिए इससे सुख आदि अन्य बातों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। कहने का आशय यह है कि यह जो जीवों को सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह उनके उद्योगरूप कारण से उत्पन्न किया हुआ नहीं है। यदि अपने-अपने उद्योग के प्रभाव से सुख-दुःख आदि मिले, तब तो सेवक, किसान और वणिक् आदि का उद्योग एक सरीखा होने पर उनके फल में विभिन्नता या फल की अप्राप्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु इसके विपरीत यह देखा जाता है कि किसी को विशिष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती और किसी वणिक् को बहुत उत्तम फल मिलता है, किसान को पुरुषार्थ के अनुरूप फल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति को सुख-दुःख रूप फल नहीं मिलता।

इसी प्रकार काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के प्रभाव से जीवों को सुख-दुःखरूप फल नहीं मिलते, अर्थात् काल आदि अन्य कारकों द्वारा कृत भी जीवों के सुख-दुःख आदि नहीं हो सकते।

शंका—पुरुषार्थ यदि कार्य के प्रति कारण नहीं है तो न सही, काल तो सब का कर्ता है। काल ही सारे विश्व की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। महाभारत में कहा गया है—'काल ही समस्त भूतों को परिपक्व बनाता है, काल ही प्रजा का संहार करता है, काल ही सोते हुए जगत् के जीवों में स्वयं जागता रहता है, काल के सामर्थ्य का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।'[1] काल ही समस्त कार्यों का जनक है। यही जगत् का आधार है।[2] कालवादियों के मत से यह आत्मा स्वरूप से विद्यमान है, नित्य है। सारा जगत् कालकृत है। काल के बिना चम्पा, अशोक, आम आदि वनस्पतियों में फूल तथा फलों का लगना, कुहरे से जगत् को धूमिल करने वाला हिमपात, नक्षत्रों का संचार, गर्भाधान, वर्षा आदि ऋतुओं का समय पर आगमन, बाल, यौवन एवं वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ, ये सब काल के प्रतिनियत विभाग से ही सम्बन्ध रखते हैं। मूँग की दाल का परिपाक भी कालक्रम से होता है। काल आने पर ही देवताओं का च्यवन होता है, काल आने पर ही असुर व सर्प नष्ट

---

१. कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालोहि दुरतिक्रमः॥ —हारीत सं०

२. जन्मानां जनकः कालो, जगतामाश्रयो मतः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, राजा एवं सभी जीव काल आने पर समाप्त हो जाते हैं।[1] जो कुछ भी कर्म वर्तमान में हम देख रहे हैं, उन सबका प्रवर्तक काल है। काल ही उनका प्रतिपालक है, वही संहर्ता है। जो भी अतीत, अनागत या वर्तमान भाव प्रवृत्त हो रहे हैं, वे सब काल द्वारा निर्मित हैं। सुख-दुःख, भाव-अभाव आदि सब काल मूलक हैं।[2] देवर्षि, सिद्ध और किन्नर सभी काल के वश में हैं। काल ही भगवान है, दैव है, साक्षात् परमेश्वर है।[3] इसलिए काल ही सब कार्यों का कर्ता है।

समाधान—यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। काल सर्वव्यापक और एक है, यदि यही कर्ता होता तो कार्यों में भेद न दिखाई देता। विविध कारणों के भेद से कार्यों में भेद होता है, लेकिन जहाँ एक ही कारण हो, वहाँ कार्यों में भेद नहीं हो सकता। यदि काल ही एक मात्र सर्व कार्यों का कारण होता तो ग्रीष्म और शरद् आदि काल भेद से अथवा तन्तु-कपाल आदि के भेद से कार्यों में जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं होना चाहिए। अतः यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण काल को कार्यों का कारण नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार ईश्वर भी सुख-दुःख आदि कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि यह प्रश्न उठेगा कि वह ईश्वर मूर्त है अमूर्त? मूर्त मानना तो उचित नहीं, क्योंकि ईश्वर यदि मूर्त होगा तो हम लोगों के समान ही देहादिमान् होने से सबका कर्ता नहीं हो सकेगा। क्योंकि देहधारी पुरुष देह में सीमित होने से मूर्त होकर सभी कार्य नहीं कर सकेगा। ईश्वर को आकाश की तरह माना जाय तो वह सदा-सर्वदा क्रिया-रहित ही रहेगा। जो निष्क्रिय होता है, वह किसी कार्य का कर्ता नहीं होता। फिर यह शंका भी होगी कि ईश्वर रागादिमान् है या वीतराग? यदि रागादियुक्त ईश्वर है तो वह हम लोगों के समान होने से जगत्कर्ता नहीं हो सकता। यदि वह वीतराग है तो किसी को सुरूप किसी को कुरूप, धनाढ्य-निर्धन, विद्वान-मूर्ख आदि विचित्र जगत् को नहीं रच सकता। ईश्वर को कर्ता मानने पर उसमें निर्दयता, पक्षपात, अन्याय आदि अनेक दोषापत्तियाँ आ जाएँगी। फिर वह ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर जगत् को बनाता है, या करुणा से प्रेरित होकर? प्रथम विकल्प में

---

१. काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुरपन्नगाः।
नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च, काले सर्वे विनश्यति॥ —हारीत सं०

२. अतीतानागता ये भावा, ये च वर्तन्ते साम्प्रतम्।
तान्कालनिर्मितान् बुद्ध्वा, न संज्ञां हातुमर्हति॥ —महाभारत

३. कालस्य वशगाः सर्वे, देवर्षि सिद्ध किन्नराः।
कालोहि भगवान्देवः, स साक्षात्परमेश्वरः॥ —हारीत सं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आत्म काम०' इत्यादि श्रुति से विरोध आएगा। अर्थात् जो आत्मकाम यानी कृत कृत्य हो चुका है, उसे कुछ भी तो करना शेष नहीं रहा है, कृतकृत्य को जगत् रचना करके कुछ भी पाना नहीं है। अतः ईश्वर स्वार्थ प्रेरित होकर जगत् की रचना करता है, यह कथन मिथ्या है। करुणा से प्रेरित होकर वह जगत् की रचना करता है, यह भी मिथ्या दृष्टि है। क्योंकि जीव आखिर दुःखी कब होते हैं? सृष्टि रचना के पश्चात् ही तो वे दुःखी हो सकते हैं। सृष्टि के अभाव में दुःख के कारण शरीर आदि जीवों के होते ही नहीं, तब तज्जन्य दुःख कैसे होगा? अतः ईश्वर को सृष्टि-कर्ता मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है। पहले सृष्टि रचना हो, तब प्राणियों को दुःखी देखकर ईश्वर को करुणा पैदा हो, और जब करुणा पैदा हो तब जाकर ईश्वर सृष्टि रचे। इसीलिए तो गीता में कहा है:—ईश्वर में कर्तृत्व नहीं है, वह कर्म और कर्मफल के संयोग नहीं कराता, यह सब स्वभाव से ही होता है।[1] ईश्वर किसी के पुण्य या पाप को ग्रहण नहीं करता। जीवों का ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाता है, इसी कारण वे मूढ हो जाते हैं।[2] अतः ये सब सुख-दुःख आदि ईश्वरकृत नहीं है।

शंका—स्वभाव को सुख-दुःख का कर्ता मानने में क्या दोष है? क्योंकि स्वभाववादियों का कथन है—सारी सृष्टि और उसके कार्यों का कारण स्वभाव है। संसार में सभी शुभ-अशुभ सुख-दुःख आदि स्वभाव से होते हैं। सभी कार्य स्वभाव से होते हैं, अतः प्रयत्न निष्फल है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में नियतरूप से संचार स्वभाव से होता है। किसी जीव को बुढ़ापा या पीड़ा का संयोग भी स्वभाव से होता है, उसमें प्रयत्न क्या करेगा?[3] सभी पदार्थ अपने-अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुओं का स्वभाव स्वतः परिणति करने का है। उदाहरणार्थ—मिट्टी से घड़ा ही बनता है, कपड़ा नहीं।[4] सूत से कपड़ा ही बनता है, घड़ा नहीं। यह प्रतिनियत कार्यकारणभाव स्वभाव के बिना नहीं बन सकता। इसलिये सारा जगत् अपने स्वभाव से ही निष्पन्न है। कहा भी है—

---

१. न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ —गीता

२. नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ —गीता

३. यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयातिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः॥ —बुद्ध चं०

४. तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो, न पटादिकम्। —शास्त्रदा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥

अर्थात्—यह सारा संसार स्वभाव से ही अपनी सारी प्रवृत्ति कर रहा है। इसमें किसी की इच्छा या प्रयत्न का कोई हस्तक्षेप नहीं है। बताओ काँटों में तीक्ष्णता-नुकीलापन किसने पैदा किया ? हरिण और पक्षियों के विचित्र स्वभाव किसने किये ? पक्षियों के अनेक रंग के पंख, उनकी मधुर कूजन, हरिणों की सुन्दर आँखें, उनका छलांगें भर कर कूदना-फाँदना, ये सब स्वभाव से ही तो हैं। इसी प्रकार स्वभाव से ही सारे प्राणी प्रवृत्ति करते हैं। स्वभाव से ही किसी कार्य से निवृत्त होते हैं। इसलिये सच्चा द्रष्टा एवं विचारक वही है जो 'मैं करता हूँ', इस प्रकार के अहंकर्तृत्व से विरत होता है।[1] हरिणियों की आँखों में कौन अंजन आँजता है ? मोर को सुन्दर एवं रंग-बिरंगे परों से कौन सुशोभित करता है ? कमलों में पत्तों का एक जगह संचय कौन करता है ? या कुलीन व्यक्तियों में कौन विनयभाव धारण कराता है ? यह सब स्वभाव से ही होता है।[2] अन्य कार्यों की बात तो जाने दो, समय, पतीली, ईंधन, आग आदि सभी सामग्री होते हुए भी कोरड़ू मूंग नहीं पकता। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिसमें पकने का स्वभाव होता है, वही पक सकता है, अन्य नहीं। इस तरह स्वभाव के साथ अन्वयव्यतिरेक होने से समस्त कार्य स्वभावकृत ही समझना चाहिये।

समाधान—स्वभाववादियों की ये सब युक्तियाँ सत्यसंगत नहीं हैं। क्योंकि स्वभाव सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता। हम पूछते हैं कि वह स्वभाव पुरुष से भिन्न है अभिन्न ? यदि स्वभाव पुरुष से भिन्न है, तो वह पुरुष के सुख-दुःखों को नहीं उत्पन्न कर सकता, क्योंकि वह पुरुष से भिन्न है। यदि स्वभाव पुरुष से भिन्न नहीं है तो वह पुरुष ही है और पुरुष सुख-दुःख का कर्ता नहीं है, यह नियतिवादियों द्वारा पहले कहा जा चुका है। कर्म भी सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ भी प्रश्न होगा—वह कर्म पुरुष से भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि कर्म पुरुष से अभिन्न है, तब तो वह पुरुष मात्र ही है। इस पक्ष में पुरुष सुख-दुःख का कर्ता नहीं है, यह पूर्वोक्त दोष आता है। यदि कर्म पुरुष से भिन्न है, तो वह सचेतन है

---

१. स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः।
नाऽहं कर्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ॥

२. केनाञ्जितानि नयनानि मृगांगनानाम्, कोऽलंकरोति रुचिरांगरुहान् मयूरान्।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति, को वा ददाति विनयं कुलजेषु पुंस्सु।
—नन्दीसूत्रवृत्तिः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या अचेतन ? यदि सचेतन है तो एक शरीर में दो चेतन मानने पड़ेंगे। यदि कर्म अचेतन है तो वह पाषाण खण्ड के समान स्वयं परतन्त्र है, फिर वह सुख-दुःख का कर्ता कैसे हो सकता है ?

इसलिये पुरुष, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म ये सब सुख-दुःख के कर्ता नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ।

'सेहियं असेहियं वा'—ये दोनों विशेषण सुख के हैं—एक सुख तो सैद्धिक है, दूसरा है—असैद्धिक। जो सुख सिद्ध यानी मुक्ति में उत्पन्न होता है, उसे सैद्धिक सुख कहते हैं। इसके विपरीत जो सुख असिद्धि यानी संसार का है, संसार में जो सातावेदनीय के उदय से सुख उत्पन्न होता है, उसे असैद्धिक सुख कहते हैं। अन्यथा सुख और दुःख दोनों ही सैद्धिक और असैद्धिक रूप से दोनों तरह के होते हैं। पुष्प माला, चन्दन, सुन्दर अंगना आदि उपभोगरूप सिद्धि से उत्पन्न सुख सैद्धिक हैं, तथा चाबुक से मारना, और गर्म लोहे से दागना आदि सिद्धि से उत्पन्न दुःख सैद्धिक हैं। एवं जिसका बाह्य कारण ज्ञात नहीं है, ऐसा अनिर्वचनीय आनन्दरूप सुख मनुष्य के हृदय में अचानक उत्पन्न होता है, वह असैद्धिक सुख है, तथा ज्वर, सिर दर्द और शूल आदि दुःख, जो अपने अंग से उत्पन्न होते हैं वे असैद्धिक दुःख हैं। ये दोनों प्रकार के सुख और दुःख पुरुष के अपने उद्योग से उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा वे काल आदि किसी अन्य पदार्थ के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार के सुख-दुःखों को प्राणी पृथक-पृथक भोगते हैं।

संगइअं तं—ये सुख-दुःख प्राणियों को क्यों और किस कारण से होते हैं ? यही बताने के लिये नियतिवादी अपना अभिप्राय व्यक्त करता है—**'संगइअं तं'** अर्थात् वह उनका **सांगतिक** है। सम्यक् अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे संगति कहते हैं। जिस जीव को, जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दुःख को अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है। वही नियति है। उस नियति से सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे सांगतिक कहते हैं। जैसे कि शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा है—

नियतेनैवरूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबंधतः॥
यद्यदेव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनं बाधयितुं क्षमः ?

चूँकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियतस्वरूपेण उत्पन्न होते हैं। अतः यह ज्ञात हो जाता है कि ये सब नियति से उत्पन्न हुए हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियतितत्त्व से गुँथा हुआ है, उससे तादात्म्य होकर वे नियतिजन्य हो रहे हैं। जिसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना है, वह उससे उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से प्रसिद्ध इस नियति के स्वरूप को कौन रोक सकता है ? यह सर्वत्र निर्बाध है।

नियतिवादी कहते हैं कि नियति एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इस नियति से ही सभी पदार्थ नियतरूप में उत्पन्न होते हैं, अनियत रूप में नहीं। यदि नियति तत्त्व न हो तो संसार से कार्यकारण भाव की तथा पदार्थों के अपने निश्चित स्वरूप की व्यवस्था ही उठ जाएगी। इस प्रतीतिसिद्ध वस्तु का एक जगह लोप किया जाता है तो संसार से प्रमाण मार्ग ही उठ जाएगा। जैसा कि वे कहते हैं—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात्—नियति (होनहार) के बल से शुभ-अशुभ जो कुछ भी मिलने वाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु जो होनहार नहीं है, वह महान् प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलता, अथवा नहीं होता और जो होने वाला है, उसका नाश नहीं होता।

इस प्रकार इन दो गाथाओं में नियतिवाद का पूर्वपक्ष प्रबलरूप से प्रस्तुत किया गया है, अब अगली गाथा में नियतिवाद का निराकरण करते हुए उसके दुःखपरिणामों को अभिव्यक्त किया गया है—

मूल पाठ

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।
नियइानियइं संतं, अयाणंता अबुद्धिया॥४॥

संस्कृत छाया

एवमेतानि जल्पन्तो, बालाः पण्डितमानिनः।
नियतानियतं सन्तं, अजानन्तोऽबुद्धिकाः॥४॥

अन्वयार्थ

(**एव**) इस प्रकार (**एयाणि**) इन बातों को (**जंपंता**) कहते हुए नियतिवादी (**बाला**) वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ हैं (**पंडिअमाणिणो**) तथापि अपने को पण्डित मानते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। (**नियत्यानियतं संतं**) सुख-दुःख आदि नियत और अनियत दोनों ही प्रकार के हैं, परन्तु इसे (**अयाणंता**) नहीं जानते हुए वे नियतिवादी (**अबुद्धिया**) बुद्धिहीन हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से नियतिवाद का प्रतिपादन करते हुए नियतिवादी वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ हैं, तथापि स्वयं को पण्डित मानते हैं। सुख-दुःख आदि नियत और अनियत दोनों ही प्रकार के हैं, लेकिन इस बात को नहीं समझते हुए वे नियतिवादी बुद्धिहीन हैं।

व्याख्या

नियतिवाद की भ्रमपूर्ण मान्यता का निराकरण

इससे पूर्व दो गाथाओं में नियतिवाद के सिद्धान्त का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसे बताने के लिये '**एवं**' शब्द का प्रयोग किया गया है।

आशय यह है कि पूर्वोक्त दो गाथाओं में नियतिवाद के जिन युक्तिहीन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, उसे भलीभाँति समझे बिना तथा उसमें आने वाले पूर्वापर विरोध का विचार किये बिना ही अज्ञ होते हुए भी अपने आप को विशेष ज्ञानी मानते हैं। '**बाला**' शब्द इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि वे बच्चों की तरह की बचकानी बातें करते हैं और अपने हठ पर अड़े रहते हैं। दूसरा कोई उन्हें उनकी भूल बताए तो भी वे मानने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि वे अहंकारवश अपने आपको विद्वान माने हुए हैं। नीतिकार भर्तृहरि की यह उक्ति उन पर सोलहों आने ठीक उतरती है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयेत्॥

जो बिलकुल नासमझ और भोला है उसे आसानी से समझाया जा सकता है, जो विशेषज्ञ है उसे तो और भी सुगमता से समझाया जा सकता है, लेकिन जो अधकचरा पण्डित है, थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अपने को बड़ा भारी विद्वान समझता है, उसे ब्रह्माजी भी समझा नहीं सकते, न मना सकते हैं।

प्रश्न होता है, शास्त्रकार ने नियतिवादियों को पण्डितमानी क्यों कहा? इसके उत्तर में यह पंक्ति प्रस्तुत है—**नियत्यानियतं सन्तं अयाणंता अबुद्धिया**।

तात्पर्य यह है कि नियतिवादी सुख-दुःख आदि को एकान्तरूप से नियतिकृत मानते हैं, उसी को मिथ्याग्रहवश पकड़े हुए हैं, वे मंदबुद्धि नियतिवादी इस बात को नहीं जानते, न ही जानने की कोशिश करते हैं कि संसार में सभी सुख-दुःख नियति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत नहीं होते। कुछ सुख-दुःख आदि नियतिकृत अवश्य होते हैं, व उन-उन सुख दुःखों के कारणरूप कर्म का किसी अवसर विशेष में अवश्य उदय होता है, तब प्राप्त होते हैं। किन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नहीं) होते हैं, वे पुरुष के उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदि के द्वारा किये हुए होते हैं। अतः सुख-दुःख का कारण अकेली नियति नहीं है, किन्तु काल, स्वभाव, नियति, कर्म, ईश्वर आदि सब मिलकर ही कारण होते हैं।

ऐसी स्थिति में अकेली नियति को कारण मानना अज्ञान है, और उसका मिथ्याग्रह रखना मिथ्यात्व है। आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में कहा है—

कालो सहाव-नियई

काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ रूप पंच कारण समवाय के विषय में जो एकान्तवाद है, वह मिथ्या है। यही बात परस्पर सापेक्ष मानने से सम्यक्त्व है। ऐसी स्थिति में जो सुख-दुःख आदि को एकान्तरूप से नियतिकृत मानते हैं, वे निर्बुद्धिजन वास्तविक कारणों को नहीं समझते हैं। इसीलिए आर्हद्-दर्शनी लोग सुख-दुःख आदि को कथंचित् उद्योगसाध्य भी मानते हैं। कारण यह है कि क्रिया से फल की उत्पत्ति होती है, और वह क्रिया उद्योग के अधीन है। इसी-लिए तो नीतिकार कहते हैं—

न दैवमिति संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ?॥

जो भाग्य में लिखा है, वही होगा, ऐसा सोचकर व्यक्ति को अपना पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। बिना पुरुषार्थ के तिलों से कौन तेल प्राप्त कर सकता है ?

नियतिवादियों ने पहले जो तर्क उठाया था कि उद्योग समान होने पर भी फल में विचित्रता क्यों दिखाई देती है ? वह तुम्हारे पक्ष में दोष है, किन्तु वास्तव में यह दोष नहीं है, क्योंकि उद्योग की विचित्रता भी फल की विचित्रता का कारण होती है। एक सरीखा उद्योग करने पर भी किसी को फल नहीं मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। जैनदर्शन में उस अदृष्ट (कर्म) को भी सुख-दुःख आदि का कारण माना जाता है। इसी तरह काल भी सुख-दुःख आदि का कर्ता है, क्योंकि बकुल, चम्पक, अशोक, नाग और आम आदि वृक्षों में विशिष्ट काल आने पर ही फल-फूल की उत्पत्ति होती है, सर्वदा नहीं होती। नियतिवादियों ने जो आक्षेप किया है कि काल तो एकरूप है, उससे विचित्र जगत् की या सुख-दुःखादि फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, यह भी हमारे लिए दोषरूप नहीं है, क्योंकि फल की उत्पत्ति में अकेले काल को ही हमने कारण नहीं माना है। स्वभाव भी कथंचित्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्ता है। इसी तरह हम लोग कर्म को भी कर्ता मानते हैं। कर्म की विचित्रता के कारण फल की भी विचित्रता होती है। इसलिए हमारे मत में कोई दोष नहीं है। ईश्वर (कर्मबद्ध ईश्वर—आत्मा) भी जगत् का या सुख-दुःख का कर्ता है क्योंकि आत्मा ही विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता हुआ, सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर है। वही ईश्वर सुख-दुःख आदि का कर्ता है, यह सर्वमतवादियों को अभीष्ट है। फिर सुख-दुःख का कर्ता ईश्वर है, इस मान्यता को दूषित करने के लिए नियति-वादियों ने 'आत्मा मूर्त है, या अमूर्त ?' इत्यादि जो शंका उठाई है, वह दूषण भी आत्मा (कर्मबद्ध आत्मा) को ईश्वर मानने पर समाप्त हो जाता है। तथैव स्वभाव भी कथंचित् कर्ता है। क्योंकि आत्मा का उपयोग रूप तथा असंख्य प्रदेशी होना तथा पुद्गलों का मूर्त होना एवं धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का क्रमशः गति-स्थिति में सहायक होना तथा अमूर्त होना, यह सब स्वभावकृत ही तो हैं। 'स्वभाव आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?' इत्यादि तर्क प्रस्तुत करके नियतिवादी ने जो स्वभावकर्तृत्व में दोष लगाया है, वस्तुतः वह भी दोष नहीं है। कारण यह है कि स्वभाव आत्मा से भिन्न नहीं है तथा आत्मा कर्ता भी है, यह हमने स्वीकार किया है। अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वभावकृत है। इसी प्रकार कर्म भी कर्ता है, क्योंकि वह जीव प्रदेश के साथ परस्पर मिल कर रहता हुआ कथंचित् जीव से अभिन्न है और उसी कर्म के वश जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख को भोगता है।

इस प्रकार नियति और इससे भिन्न काल, स्वभाव, ईश्वर, कर्म आदि (अनि-यति) इन दोनों सुख-दुःखादि कर्तृत्व युक्ति से सिद्ध होते हुए भी अपने हठाग्रह या पूर्वाग्रहवश सिर्फ नियति को एकान्त रूप से कर्ता मानकर नियतिवादी अपनी बुद्धि का दिवालियापन सूचित करते हैं। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त नियतिवादियों को क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ता है ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

एवमेगे उ पासत्था, भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

संस्कृत छाया

एवमेके तु पार्श्वस्थास्ते, भूयो विप्रगल्भिताः ।
एवमुपस्थिताः सन्तो, न ते दुःखविमोक्षकाः ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(एवं) इस प्रकार (एगे उ) कोई (पासत्था[1]) पाशस्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं, (तं) वे (भुज्जो) बार-बार (विप्पगब्भिया) नियति को कर्ता कहने की धृष्टता करते है। (एवं) इस प्रकार (उवट्ठिया संता) अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में उपस्थित होकर भी (ते) वे (दुक्खविमोक्खया) दुःख से मुक्त (न) नहीं है।

भावार्थ

नियति को ही एक मात्र सुख-दुःख का कर्ता मानने वाले नियतिवादी पाश में पूर्वोक्त प्रकार से जकड़े हुए एकमात्र नियति के ही कर्ता होने की डींग हाँकते हैं। वे अपने सिद्धान्तानुसार परलोक की क्रिया करते हुए भी दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते।

व्याख्या

नियतिवादियों के मिथ्यात्व का फल

'एवं'—पूर्वोक्त प्रकार से एकान्त नियति की प्ररूपणा करने वाले नियतिवादियों के लिए 'एवं' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् जो नियतिवादी अवश्यंभावी (नियति) को ही बिना कारण कर्ता मानते हैं और अपनी इस एकान्त मिथ्या प्ररूपणा की सत्यता की बार-बार दुहाई देते फिरते हैं। वे अपने इस मिथ्यात्व के फलस्वरूप पाश (बन्धन) में जकड़े हुए की तरह कर्मपाश (कर्मबन्धन) में जकड़े हुए रहते हैं। अथवा पुरुष, काल, ईश्वर, स्वभाव आदि कारण चतुष्टय को छोड़कर जो एक मात्र नियति को ही मानने के कारण एक पार्श्व में—एक किनारे स्थित (खड़े) हो गए हैं, यानी पार्श्वस्थ हो गये हैं।

एवं उवट्ठिया संता—इस पंक्ति का आशय यह है कि एक तरफ तो वे पूर्वोक्त प्रकार से अकेली नियति का पल्ला पकड़े हुए हैं, किन्तु दूसरी ओर नियतिवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध अपना परलोक सुधारने के लिए अपने मत द्वारा मान्य विविध क्रियाएँ भी करते हैं और जनता को इस प्रकार से वैराग्य का डौल दिखाकर झांसे में डालते हैं। यही कारण है कि वे इस आत्मवंचना के फलस्वरूप मिथ्यात्व के कारण अनेक अशुभ कर्मबन्धन में जकड़ जाने के कारण अपनी आत्मा को जन्म-जरा-मरण आदि के दुःखों से मुक्त नहीं कर पाते। यह इस गाथा का आशय है।

---

१. 'पासत्था' शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—पाशस्थाः और पार्श्वस्थाः। यहाँ 'पाशस्था' शब्द ही अधिक संगत लगता है। **पाश इव पाशः कर्मबन्धनं, तत्र स्थिताः पाशस्थाः।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब अज्ञानियों के मत का स्वरूप अगली दो गाथाओं द्वारा शास्त्रकार बताते हैं---

मूल पाठ

जविणो मिगा जहा संता, परित्ताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥६॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिति तहिं तहिं ॥७॥

संस्कृत छाया

जविनो मृगा यथा सन्तः परित्राणेन वर्जिताः ।
अशंकितानि शंकन्ते, शंकितान्यशंकिनः ॥६॥
परित्राणितानि शंकमाना, पाशितान्यशंकिनः ।
अज्ञानभयसंविग्नाः, सम्पर्य्ययन्ते तत्र तत्र ॥७॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (**परित्ताणेण**) रक्षक से (**वज्जिआ**) रहित (**जविणो**) चंचल या तेज तर्रार (**मिगा**) मृग (**असंकियाइं**) शंका के अयोग्य स्थानों में (**संकंति**) शंका करते हैं (**संकियाइं**) और शंका करने के योग्य स्थान में (**असंकिणो**) शंका नहीं करते हैं। (**परियाणिआणि**) सुरक्षित स्थानों को (**संकंता**) शंकास्पद मानते हुए और (**पासिताणि**) पाश-बन्धनयुक्त स्थानों को (**असंकिणो**) शंकारहित मानते हुए (**अण्णाणभयसंविग्गा**) अज्ञान और भय से उद्विग्न वे मृग (**तहिं तहिं**) उन-उन पाशयुक्त (खतरनाक) स्थलों में ही (**संपलिति**) जा पहुँचते हैं।

भावार्थ

जैसे रक्षक से रहित अत्यन्त शीघ्र भागने वाले हिरण शंका के अयोग्य स्थानों में शंका करने लगते हैं और जहाँ शंका करने योग्य स्थान हैं, वहाँ शंका नहीं करते हैं। ऐसे प्राणी सुरक्षित (खतरे से रहित) स्थानों को शंकास्पद स्थान मानते हैं, और जो पाश (बन्धन) से युक्त स्थान हैं, उन्हें शंकारहित मानते हुए, अज्ञान और भय से डरे हुए वे मृग उन-उन पाश-बन्धनयुक्त स्थानों में ही अपना डेरा जमा लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

एकान्तवादी अज्ञानियों की दशा का चित्रण

यहाँ शास्त्रकार अज्ञानीजनों और एकान्तवादियों को मृग की उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार तेज भागने वाले मृग (उपलक्षण से सारे जंगली जानवर) परित्राण (चारों ओर से रक्षा करने वाले) से रहित होते हैं। जंगल में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशुओं का कोई रक्षक (रखवाला) नहीं होता। अथवा परित्राण का अर्थ बंधन भी होता है, उस परित्राण से त्रस्त पशु भय से चंचल नेत्र होकर घबरा से जाते हैं। उस समय वे सम्यक् विवेक से रहित होकर कूटपाश आदि से रहित तथा शंका के अयोग्य स्थानों में ही वहम करने लग जाते हैं। उस सुरक्षित स्थान को वे खतरे की नजरों से देखते हैं, अनर्थजनक मानते है, तथा जो शंका करने योग्य पाश बन्धन आदि हैं, उनमें कतई शंका नहीं करते। अन्ततोगत्वा वे पशु व्याकुल होकर इधर से उधर भागते हुए उन्हीं पाश आदि बन्धनों में फँस जाते हैं।

उनके अति मोह को पुनः प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—अत्यन्त मूढ़तावश विपरीत ज्ञान के धनी वे बेचारे रक्षायुक्त (सुरक्षित) स्थानों में शंका करते हैं। अर्थात् जो रक्षा करने वाला है, उसमें खतरे की आशंका करते हैं और जहाँ अनर्थजनक पाशयुक्त स्थान है, वहाँ शंका न करके अज्ञान और भय से तड़फते हुए हृदय से आखिरकार वे बेचारे उन्हीं बन्धनों में जा पड़ते हैं। क्योंकि वे शंकनीय-अशंकनीय या सुरक्षित-असुरक्षित (अनर्थयुक्त) स्थान का विवेक नहीं कर सकते। अतः अन्त में प्रलोभन वाले भयजनक स्थानों में आंख मूँद कर जा पहुँचते हैं।

इस प्रकार का रूपक देकर शास्त्रकार नियतिवाद, कालवाद, पुरुषार्थवाद, कर्मवाद, ईश्वरवाद आदि एकान्तमताग्रही अज्ञानवादियों की भी वैसी ही विचित्र दशा बताते हैं। क्योंकि वे भी अनेकान्तवाद जैसे अनन्त रक्षक से दूर भागते हैं और अपने मतरूपी वन में स्वच्छन्द, किन्तु असुरक्षित एवं अनन्त रक्षक से रहित होकर भटकते हैं। वह रक्षायुक्त अनेकान्तवाद से रहित है तथा अनेकान्तवाद, सब दोषों से रहित एवं ईश्वर आदि को भी कारण मानने से अशकनीय हैं तथापि वे उसमें शंकित रहते हैं और नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि एकान्तवाद जो शंका के योग्य हैं, उन्हें वे निःशंक होकर अपनाते हैं। इस प्रकार परित्राता अनेकान्त में शंका करते हुए और युक्ति विरुद्ध तथा अनर्थपूर्ण एकान्तवाद को अशंकनीय समझते हुए वे अज्ञानग्रस्त मूढ़ एकान्तवादी उन कर्मबन्धनों के स्थानों में ही जा पहुँचते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः मूर्ख मृग की उपमा देकर शास्त्रकार अज्ञानवादियों की दशा का चित्र खींचते हैं—

मूल पाठ

अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण पेहए ॥८॥

संस्कृत छाया

अथ तं प्लवेत बन्धमधो वन्धस्य वा व्रजेत् ।
मुञ्चेत्पदपाशात्तत्तु मन्दो न पश्यति ॥८॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् वह मृग (तं बज्झं) उस बन्धन को (पवेज्ज) उल्लंघन कर जाय (वा) अथवा (बज्झस्स) बन्धन के (अहे) नीचे होकर (वए) निकल जाय तो (पयपासाओ) पैर के पाश-बन्धन से (मुच्चेज्ज) छूट सकता है, (तु) परन्तु (तं) उस बन्धन को (मंदे) वह मूर्ख मृग (ण पेहए) नहीं देखता है ।

भावार्थ

वह मृग यदि कूद कर उस बन्धन को लाँघ कर चला जाए, अथवा उस बन्धन के नीचे से निकल जाए, तो वह झटपट पैरों में पड़े हुए बन्धन से मुक्त हो सकता है, मगर वह मूढ़ मृग इसे देखता ही नहीं है ।

व्याख्या

मूर्ख मृग के समान अज्ञानवादियों की दशा

शास्त्रकार उसी दृष्टान्त के द्वारा फिर अज्ञानवादियों की मूर्खता का नग्न चित्र खींच रहे हैं । जैसे मूर्ख मृग छलांग मार कर उस कूटपाशादि बन्धन (जाल) को पार कर जाय, अथवा उस चर्मबध बन्धन के नीचे से होकर निकल जाय तो वह पदपाशरूप उस पैर के बन्धन में फँसने से बच सकता है, मगर वह मूर्ख मृग आँखें होते हुए भी उस जाल या बन्धन को देखता ही नहीं, हृदय की आँखों से इस बन्धन के दूरगामी दुष्परिणाम पर विचार नहीं करता । इसी प्रकार अज्ञानवादी, मृग (पशुबुद्धि वाले) के समान अपने सामने मोह एवं अज्ञान के द्वारा बिछाये हुए कपटजाल—एकान्तवादीमत के मिथ्याग्रह स्वरूप प्राप्त बन्धन को यदि अनेकान्तवाद की युक्ति से लाँघ जाए, अथवा दूर से ही देख कर उससे साफ बच जाये तो वह उस कर्मबन्ध के पाश (जाल) से जनित जन्म-जरा-मरण आदि दुःखों से छूट सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, पर वह तनिक आँख उठाकर दिव्य नेत्रों से इस बन्धन को देखे तब न ? वह तो इस बन्धन को गले का हार समझे बैठा है। अपने मतमोह एवं मिथ्यात्व को वह बन्धन न समझ कर सम्मानजनक आभूषण समझे बैठा है। आशय यह है कि वह अज्ञानी जीव उक्त प्रकार से अनर्थ को दूर करने का उपाय होते हुए भी उसे देखता नहीं। अगली गाथा में उस मृग की दुर्दशा का पुनः वर्णन करते हैं—

मूल पाठ

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छई ॥९॥

संस्कृत छाया

अहिताऽत्माऽहितप्रज्ञानः विषमान्तेनोपागतः।
स बद्धः पदपाशेन तत्र घातं नियच्छति ॥९॥

अन्वयार्थ

(**अहिअप्पा**) अहितात्मा (**अहियपण्णाणे**) अहित प्रज्ञा वाला, (**विसमंतेणुवागते**) कूटपाशादि से युक्त विषम प्रदेश में पहुँचकर (**स**) वह मृग (**तत्थ**) वहाँ (**पयपासेणं**) पदबन्धन के द्वारा (**बद्धे**) बद्ध होकर (**घायं**) वध को (**नियच्छई**) प्राप्त होता है।

भावार्थ

अपना ही अहित करने वाला, अहितबुद्धि से युक्त वह मृग अज्ञानवश बन्धनयुक्त विषम प्रदेशों में जाकर पदबंधन से बँध जाता है और वहीं उसका काम तमाम हो जाता है।

व्याख्या

अहितबुद्धि मृग की सी दशा

पूर्वोक्त भयंकर बन्धन को बन्धन न समझ कर वह भोला-भाला मृग कितनी और कैसी संकटापन्न स्थिति में पहुँच जाता है, इसे शास्त्रकार पुनः सूचित करते हैं कि वह अज्ञानी बे-समझ मृग अपने हिताहित को नहीं समझता। उसकी बुद्धि सम्यक् रूप से अपने हित में काम नहीं करती, अतः वह प्रलोभन या भुलावे में पड़ कर ऐसे विषम प्रदेश में पहुँच जाता है, जहाँ उसे बंधन में डालने के लिये जाल बिछा होता है, वह लोभ में आकर वहाँ फँस जाता है, अथवा वहाँ वह अपने आपको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस कूटपाश आदि के बन्धन से युक्त विषम प्रदेश में अपने को ऐसे गिरा देता है अथवा स्वयं ही निढाल होकर गिर पड़ता है कि वहीं उसके पैरों में बन्धन डाल दिये जाते हैं जिससे वह न आगे खिसक सकता है, न पीछे और वहीं सड़-सड़ कर समाप्त हो जाता है। पाश से बिल्कुल निकल नहीं सकता तब सिवाय नाश (मृत्यु) के और कोई चारा नहीं रहता है। यह इस गाथा का तात्पर्य है।

पूर्वोक्त चार गाथाओं में निरूपित मृग के दृष्टान्त को शास्त्रकार दार्ष्टान्तिक रूप में घटाते हैं—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिआ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥१०॥

संस्कृत छाया

एवं तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्ट्योऽनार्य्याः।
अशंकितानि शंकन्ते, शंकितान्यशंकिनः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**एवं तु**) इसी प्रकार (**एगे**) कई (**मिच्छादिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**अणारिआ**) अनार्य (**समणा**) श्रमण (**असंकियाइं**) शंकारहित अनुष्ठानों में (**संकंति**) शंका करते हैं तथा (**संकियाइं**) शंका के योग्य अनुष्ठानों में (**असंकिणो**) शंका नहीं करते हैं।

भावार्थ

इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण शंका के अयोग्य अनुष्ठानों में शंका करते हैं और शंकायोग्य अनुष्ठानों में शंका नहीं करते हैं।

व्याख्या

अज्ञानी मृग के समान मिथ्यादृष्टि श्रमणों की मनोदशा

इससे पूर्व चार गाथाओं में जिस प्रकार अज्ञानी मृग की मनोदशा का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस गाथा में मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमणों की मनोदशा का चित्रण किया गया है। जैसे—अज्ञानी मृग बन्धन को न जान कर भुलावे में पड़ कर अनेक अनर्थों को प्राप्त करते हैं, इसी तरह पाषण्डविशेष को स्वीकार करने वाले कई श्रमण अनेक अनर्थों को प्राप्त करते हैं। यहाँ **एगे** कह कर कुछ एक श्रमणों के विषय में उल्लेख किया गया है। साथ ही उन श्रमणों के दो विशेषण यहाँ दिये हैं जिनसे उन्हें पहिचाना जा सकता है। वे श्रमण कैसे हैं? इसके लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं—**'मिच्छादिट्ठी अणारिया'**। अर्थात् उनकी दृष्टि विपरीत है, तथा वर्जनीय हेय धर्मों से जो दूर नहीं हैं। जो समस्त वर्जनीय हेय धर्मों से दूर है, उसे आर्य्य कहते हैं, जो इससे भिन्न हैं, वे अनार्य्य हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि अनार्य्य होते हैं, जो त्याज्य एवं निन्द्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, और मिथ्याज्ञान से आवृत रहते हैं और साधु के वेश में असद् अनुष्ठान करते हैं। ऐसे लोग अज्ञानवादी या नियतिवादी मिथ्यावादी होते हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व अन्धकार से आच्छादित रहती है, वे ऐसे सुन्दर धर्म के आचरण एवं अनुष्ठान में शंका करते रहते हैं, जहाँ शंका नहीं करनी चाहिए और जहाँ शंका करने योग्य पाश (बन्धन) से युक्त एकान्त पक्ष है, उसको स्वीकार करने में जरा भी शंका नहीं करते। वहाँ निःशंक होकर बेधड़क प्रवृत्ति करते हैं। अर्थात् अज्ञानान्धकार में डूबे हुए वे शास्त्र में अविहित कार्यों को बेखटके करते रहते हैं और जो शास्त्रविहित सत्कार्य हैं उनमें शंका करते हैं। ऐसा मिथ्यात्व के चढ़े हुए नशे के कारण होता है। इस प्रकार उनकी बाल-चेष्टाएँ उन भोले-भाले नासमझ मृगों की-सी होती हैं, जिनका नतीजा उन्हें स्वयं को भोगना पड़ता है। जिसका दुष्परिणाम उनकी आत्मा के लिए अहितकर, भयंकर और अनर्थकर होता है। परन्तु मिथ्यात्व का भूत जो उनके सिर पर सवार है, वह जो भी नाच नचाये वह थोड़ा ही है।

ऐसे मिथ्यात्वभूतग्रस्त अज्ञानवादी कहाँ शंका करते हैं और कहाँ शंका नहीं करते? यह अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया ॥११॥

संस्कृत छाया

धर्मप्रज्ञापना या सा, तां तु शंकंते मूढकाः।
आरम्भान्न शङ्कन्ते, अव्यक्ता अकोविदाः ॥११॥

अन्वयार्थ

(जा सा) जो वह **(धम्मपण्णवणा)** धर्मज्ञापन—धर्म की प्ररूपणा है, **(तं तु)** उसमें तो **(मूढगा)** वे मूढ़ **(संकंति)** शंका करते हैं, जब कि **(आरंभाइं)** आरम्भों—आरम्भयुक्त कार्यों में **(न संकंति)** शंका नहीं करते। **(अवियत्ता)** वे विवेकरहित हैं, **(अकोविया)** सत्शास्त्र के ज्ञान से रहित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

वे विचारमूढ़, अविवेकी एवं शास्त्रज्ञानवर्जित अन्यदर्शनी मिथ्यादृष्टि यह जो क्षमा आदि दश धर्मों की प्ररूपणा है, उसमें तो अधर्म की शंका करते हैं, और जिन अनुष्ठानों में षट्काय (जीवों) के उपमर्दन रूप आरम्भ होता है, उसमें शंका नहीं करते।

व्याख्या

शंकनीय-अशंकनीय का विपर्यास

जिनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व का पर्दा पड़ा हुआ है, वे शंकनीय और अशंकनीय के विवेक से रहित, विचारमूढ़ एवं शास्त्रज्ञान से रहित अज्ञानवादी आदि अन्यतीर्थी लोग जहां शंका नहीं करनी चाहिये, ऐसी धर्मप्ररूपणा-धर्माचरण की प्रेरणा जिन वीतराग प्ररूपित शास्त्रों या सिद्धान्तों में है, उन पर शंका करते हैं कि यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इस अहिंसा से तो देश का बेड़ा गर्क हो जाएगा; किन्तु जिन तथाकथित शास्त्रों में यज्ञीय पशु हिंसा की घोर प्ररूपणा है, कामना-नामना-पूर्ण कर्मकाण्डों का विधान है, हिंसाजनक कार्यों से युक्त हैं, ऐसे पापोपादानभूत आरंभों के विषय में बिलकुल शंका नहीं करते, उन्हें निःशंक होकर करते हैं। यही महान आश्चर्य है कि वे मिथ्यात्वपिशाचग्रस्त लोग शंकनीय-अशंकनीय का विवेक नहीं कर सकते। इसके दो कारण यहाँ बताए हैं—'**अवियत्ता अकोविया**' अर्थात् वे स्वभावतः सद्विवेक से रहित हैं तथा सत्-शास्त्र के ज्ञान से शून्य हैं।

ऐसे अज्ञानी मिथ्यात्वी लोग किस बात की अज्ञता के कारण सम्यक्ज्ञान या सत्शास्त्र का विवेक प्राप्त नहीं कर सकते? यह अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं -

मूल पाठ

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥१२॥

संस्कृत छाया

सर्वात्मकं व्युत्कर्षं, सर्वं मायां विधूय।
अप्रत्ययमकर्मांश एतमर्थं मृगस्त्यजेत् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**सव्वप्पगं**) सर्वात्मक सबके अन्तःकरण में व्याप्त—लोभ, (**सव्वं णूमं**) समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया, (विउक्कस्सं) विविध प्रकार के उत्कर्ष—मान, (अप्पत्तिअं) और क्रोध को (विहूणिया) त्याग कर ही (अकम्मंसे) जीव कर्मांशरहित—सर्वथा कर्मरहित होता है, (एयमट्ठं) किन्तु इस सर्वज्ञभाषित अर्थ—सदुपदेश को (मिगे) मृग के समान अज्ञानी जीव (चुए) ठुकरा देता है, त्याग देता है।

भावार्थ

सबके अन्तःकरण में व्याप्त लोभ, समस्त माया, विविध प्रकार के उत्कर्षरूप मान और क्रोध का सर्वथा त्याग करने पर ही जीव सर्वथा कर्म-बन्धन से रहित होता है, इस वीतराग प्ररूपित सत्य सिद्धान्त को मृग की तरह अज्ञानी जीव ठुकरा देता है, छोड़ देता है।

व्याख्या

समस्त कषायनाश ही सर्वथा कर्मक्षय का कारण

इस गाथा में शास्त्रकार ने कर्मबन्ध के एक विशिष्ट कारण कषाय को सूचित करके कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिये कषायों से सर्वथा मुक्ति आवश्यक बताई है।[1] इसका कारण यह है कि विविध धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन एवं मत वाले लोगों में उस युग में कुछ तो सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने से मुक्ति मानते थे, कुछ केवल क्रियाकाण्ड या साम्प्रदायिक या स्वमतकल्पित कुछ क्रियाएँ, यज्ञ-हवन आदि अनुष्ठान या अज्ञानपूर्वक कष्ट-सहन या तप करने से मुक्ति मानते थे।

वे यह मानते थे कि हम जटाएँ बढ़ा लें, कुछ तप-जप कर लें, कुछ अपने मत के द्वारा माने हुए क्रियाकाण्डों को कर लें, या तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें। इतने से ही हमारी मुक्ति हो जाएगी, परन्तु भगवान महावीर ने तथा जैनाचार्यों ने कहा कि जब तक क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से छुटकारा नहीं पा लोगे, तब तक कर्मबन्धनों से मुक्ति असम्भव है। परन्तु भ० महावीर की यह सीधी, सरल, सच्ची बात मतान्ध लोग भला कब मान सकते थे? वे जोश-खरोश में आकर कहते थे, हम इतना तप-जप करते हैं, इतना यज्ञ करते हैं, इतने शास्त्र हमें कण्ठस्थ हैं,

---

१. कहा भी है—नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥
न दिगम्बरत्व स्वीकार करने से मुक्ति होती है, न श्वेताम्बरत्व स्वीकार करने से और न तत्त्वों के विषय में वाद-विवाद कर लेने से, न कोई तर्क-वितर्क करने से ही मुक्ति होती है। किसी एक पक्ष का आश्रय लेने से भी मुक्ति नहीं होती। कषायों से मुक्ति होना ही वास्तव में मुक्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम इतने क्रियाकाण्ड करते हैं, क्रोध, अभिमान, लोभ या माया का सद्भाव हुआ तो क्या हुआ ? तत्त्वज्ञान से या क्रियाकाण्ड कर लेने से सब कषाय मिट जाएँगे। इसीलिये शास्त्रकार ने कर्मबन्धन को काटकर सर्वथा कर्मरहित-मुक्त बनने की बात का नुस्खा बता दिया—**सव्वप्पगं ·····विहूणिआ अप्पत्तिअं अकम्मंसे।**"

आशय यह है कि सर्वात्मक लोभ, अनेक प्रकार का अभिमान, समस्त माया और क्रोध को छोड़ने पर ही आत्मा सर्वथा कर्मों से मुक्त होता है। चाहे जैसा वेष पहनो, चाहे जो धर्माचरण करो, परन्तु इन क्रोधादि चार कषायों को मिटाये बिना कर्मबन्धनों से साधक मुक्त नहीं हो सकता।

परन्तु यह बात उन मिथ्यात्वग्रस्त विवेक-विकल दिग्गज दार्शनिकों या मतवादियों को कहाँ सुहाती है, वे बेचारे मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यामोह से आवृत रहते हैं, इसलिये इस बात को ठुकरा कर अपनी पकड़ी हुई बात या मान्यता पर ही चलते हैं।

अकम्मंसे—जिसका कर्म अंशमात्र भी नहीं रह गया है, उसे अकर्मांश कहते हैं। अकर्मांश होता है विशिष्ट सम्यग्ज्ञान से, अज्ञान से नहीं। किन्तु जिनमें अज्ञान है, वे क्या करते हैं ? इसे बताने के लिये शास्त्रकार कहते हैं—**एवमट्ठं मिगे चए** अर्थात् वे मृगवत् अज्ञानी कर्म (बन्धन) से मुक्त होने तथा कषायचतुष्टयरूप उसके कारण पर विचार करने की बात को ठुकरा देते हैं। किसी-किसी प्रति में **'चए'** के बदले **'चुए'** पाठ है, वहाँ इस प्रकार अर्थ करना चाहिये कि इस अर्थ (सच्चे ज्ञान) से अज्ञानी जीव भ्रष्ट हो जाते हैं।

'सव्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं'·····अप्पत्तिअं' चार कषायों के ये चार नाम शास्त्रकार ने अपनी विशिष्ट रचना-पद्धति से दिये हैं, वैसे इनके क्रमशः प्रचलित नाम हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। परन्तु यहाँ लोभ के बदले **'सव्वप्पगं'** नाम दिया है। इसका अर्थ होता है—जिसका आत्मा सर्वत्र होता है, वह सर्वात्मक है—**लोभ**। मान के बदले **'विउक्कस्सं'** शब्द दिया है, जिसका अर्थ होता है—विविध उत्कर्ष = गर्व = व्युत्कर्ष अर्थात् मान। माया के बदले **'णूमं'** शब्द दिया है और क्रोध के बदले यहाँ **'अप्पत्तिअं'** शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है—जिसका कोई प्रत्यय (प्रतीति) भरोसा न हो कि कब आ धमकेगा, वह क्रोध है, बिना बुलाया मेहमान।

कषायों से मुक्ति : मोहनीयक्षय से—शास्त्रकार द्वारा प्रदर्शित लोभ, मान, माया और क्रोध इन चार कषायों से सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का ग्रहण हो जाता है। जैन सिद्धान्तानुसार ये चारों कषाय मोहनीय कर्म से ही प्रादुर्भूत होते हैं। अतः लोभादि कषायों के त्याग से समस्त मोहनीय कर्म का त्याग समझ लेना चाहिये। तभी जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंकमीश होता है। कहा भी है—"**तह कम्माणि हम्मंति मोहणिज्जे खयंगए।**" मोहनीय कर्म के क्षय होने पर सभी कर्मों का क्षय प्रायः होने लगता है।

कर्मबन्धन और कर्ममुक्ति के ज्ञान से अनभिज्ञ मिथ्यात्वग्रस्त लोगों की अन्त में क्या दशा होती है ? इसे अगली गाथा में शास्त्रकार बताते हैं—

मूल पाठ

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णन्तसो ॥१३॥

संस्कृत छाया

ये एतन्नाभिजानन्ति, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
मृगा वा पाशबद्धास्ते, घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**जे**) जो (**मिच्छदिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**अणारिया**) अनार्यपुरुष (**एयं**) इस अर्थ (बात) को (**न**) नहीं (**अभिजाणंति**) जानते हैं। (**मिगा वा**) मृग की तरह (**पासबद्धा**) पाश (बन्धन) में बद्ध (**ते**) वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी (**णंतसो**) अनन्त बार (**घायं**) घात को (**एसंति**) प्राप्त करेंगे।

भावार्थ

जो मिथ्यादृष्टि अनार्य पुरुष इस अर्थ (पूर्वोक्त सिद्धान्त) को नहीं जानते, वे पाश (बन्धन) में बँधे हुए मृगों की तरह अनन्त बार विनाश को प्राप्त करेंगे।

व्याख्या

मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादियों का अनन्त जन्म-मरण

इस गाथा में पुनः मिथ्यादृष्टि एवं शास्त्रविहित अनुष्ठान से अत्यन्त दूर रहने वाले अज्ञानवादियों को अपने उक्त अकृत्य का कितना दुष्परिणाम भोगना पड़ता है ? इसे बताते हैं—'**जे एयं नाभिजाणंति**' अभिप्राय यह है जैसे बन्धन में पड़े हुए मृग अनेक प्रकार के ताड़न, मारण आदि दुःख पाते हैं, वैसे ही अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण होने वाले घोर कर्मबन्धन में बद्ध अज्ञानी जीव भी मिथ्यात्वरूपी ग्रह से ग्रस्त होकर अपने अज्ञान मत पक्ष को ऐसी दृढ़ता से पकड़ लेते हैं कि सम्यग्ज्ञान एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रविहित सम्यक् अनुष्ठान को नहीं जान पाते। ऐसे व्यक्तियों की एक मनुष्यजन्म की जरा सी भूल के कारण मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण हुए कर्मबन्धन में जकड़े जाने से वे उन पाशबद्ध मृगों की तरह अनन्तकाल तक विनाश को प्राप्त करते हैं। अर्थात् अनन्तकाल तक उन्हें बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है, संसार के चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। उन जन्म-मरणों के दौरान जिन-जिन गतियों या योनियों में वे जाते हैं, वहाँ उन्हें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं मिलता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं—**'घायमेसंति णंतसो'**। वे अनन्तकाल तक विनाश (द्रव्यविनाश —शरीर का नाश और भावविनाश—आत्मगुणों का नाश, सम्यक्त्व का नाश) प्राप्त करते हैं। अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वे अनन्तकाल तक विनाश को ढूँढ़ते हैं। आशय यह है कि एक बार गाढ़ मिथ्यात्व को प्राप्त होने के बाद अनन्तकाल तक वे सम्यक्त्व को नहीं पाकर मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वशीभूत होकर अपनी जिंदगी के लिये आत्महत्या या आत्मगुणघात (विनाश) ढूँढ़ते रहते हैं। वे मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार से आवृत होकर अनन्तकाल तक घात (अपने आत्मगुणों की हत्या) करते रहते हैं।[1] यही शास्त्रकार का आशय प्रतीत होता है।

अब अज्ञानवादियों के मत का निराकरण करने के लिये उनकी मान्यता के मिथ्यात्व एवं अज्ञान का पर्दाफाश करते हैं—

मूल पाठ

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥१४॥

संस्कृत छाया

ब्राह्मणाः श्रमणा एके, सर्वे ज्ञानं स्वकं वदन्ति ।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः, न ते जानन्ति किंचन ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**एगे**) कई (**माहणा**) ब्राह्मण एवं (**समणा**) श्रमण (**सव्वे**) सभी (**सयं**) अपना-अपना (**नाणं**) ज्ञान (**वए**) बघारते हैं, बताते हैं। (**सव्वलोगे**) किन्तु समस्त

---

१ उपनिषद् में भी कहते हैं :

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येके चात्महनो जनाः ॥ —ईशोपनिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक में (जे) जो (पाणा) प्राणी हैं, (वि) उन्हें भी (ते) वे (किंचण) कुछ (न जाणंति) नहीं जानते।

भावार्थ

इस जगत् में कई ब्राह्मण और श्रमण ऐसे भी हैं कि वे सभी अपना-अपना ज्ञान बघारते रहते हैं, अपने ज्ञान का वे प्रदर्शन करते रहते हैं। किन्तु समस्त लोक में जितने प्राणी हैं, उन्हें भी वे कुछ नहीं जानते।

व्याख्या

ज्ञान के प्रदर्शकों में जीवों के ज्ञान का अभाव—'थोथा चना बाजे घना' इस लोकोक्ति के अनुसार अज्ञानवादियों के पास सम्यग्ज्ञान तो होता नहीं, इधर-उधर का रटारटाया मतासक्तिपूर्ण थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है, उसे ही वे बढ़ा-चढ़ाकर लच्छेदार भाषा में भोले-भाले लोगों के सामने बघारते रहते हैं। यह अज्ञान का प्रदर्शन सम्यक्ज्ञान के नाम पर सम्यक्ज्ञान का मुलम्मा चढ़ाकर किया जाता है, इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**सव्वे नाणं सयं वए**।

माहणा समणा एगे—इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि सभी ब्राह्मण-श्रमण तो नहीं, किन्तु कई ब्राह्मण-श्रमण ऐसे हैं, जो अपने-अपने माने हुए शास्त्रों में हेयोपादेय के बोधक ज्ञान का निरूपण करते हैं, कहते हैं—इस प्रकार से इस अनुष्ठान के करने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति होगी, इसके करने से मोक्ष मिलेगा। परन्तु उनका वह ज्ञान जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाय[1], इस व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार ज्ञान भले ही हो, सम्यक्ज्ञान नहीं है, अपितु उनका ज्ञान परस्पर विरोधी होने के कारण सम्यक्ज्ञान—सच्चा ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान बघारने की अपेक्षा अज्ञान ही अच्छा। वे परस्पर विरोधी और एकान्त प्ररूपणा करते हैं, अतः परस्पर विरोधी प्ररूपणा करने से प्रतीत होता है, कि उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं है, प्रत्युत वे सब अज्ञानान्धकार में भटक रहे हैं।

'सव्वलोगेऽवि ..... न ते जाणंति किंचण'—एक तरफ वे कहते हैं—**'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** (समस्त प्राणियों की हिंसा मत करो) और दूसरी ओर वे ही कहने लगते हैं - **'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति'**, या **'यज्ञार्थं पशवः सृष्टा'** (यज्ञ में पशुवध से होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है। ईश्वर ने यज्ञ के लिये पशु बनाये हैं।) इस प्रकार परस्पर विरोधी वचन कहने वाले क्या सम्यग्ज्ञानसम्पन्न कहे जा सकते

---

१. ज्ञायते परिच्छिद्यते पदार्थोऽनेनेति ज्ञानम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं ? वे स्वयं अपने अन्तर् में विवेक का गज डालकर देखें कि क्या यज्ञ के समय पशु-बलि से होने वाली हिंसा अहिंसा हो जाएगी ? क्या यज्ञ में मरने वाले प्राणी प्राणी नहीं हैं ? क्या वे उस समय जीव न रहकर अजीव हो जाएँगे ? यदि उन तथाकथित ज्ञानवादियों को प्राणियों के स्वरूप का ज्ञान होता तो क्या वे उनकी (यज्ञार्थ होने वाली) हिंसा को अहिंसा कह सकते थे ? यह स्पष्टतः प्राणियों के सम्बन्ध में उनकी अज्ञानता सूचित करता है। यह इस पंक्ति का आशय है।

अब दो गाथाओं द्वारा दृष्टान्त देकर शास्त्रकार समझाते हैं कि किस प्रकार से वे सम्यक्ज्ञानवर्जित तथाकथित ब्राह्मण-श्रमण अज्ञान से आवृत हैं—

मूल पाठ

मिलक्खू अमिलक्खूस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया ॥१६॥

संस्कृत छाया

म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य, यथोक्ताऽनुभाषकः ।
न हेतुं स विजानाति, भाषितंत्वनुभाषते ॥१५॥

एवमज्ञानिकाः ज्ञानं, वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम् ।
निश्चयार्थं न जानन्ति, म्लेच्छा इवाबोधिकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**मिलक्खु**) म्लेच्छ पुरुष (**अमिलक्खूस्स**) अम्लेच्छ यानी आर्य-पुरुष के (**वुत्ताणुभासए**) कथन का अनुवाद करता है। (**से**) वह (**हेउं**) कारण को (**ण विजाणाइ**) नहीं जानता है, (**तु**) किन्तु (**भासियं**) उनके भाषण का (**अणुभासए**) अनुवादमात्र करता है ॥१५॥

(**एवं**) इसी तरह (**अन्नाणिया**) सम्यग्ज्ञानहीन ब्राह्मण (परिव्राजक) और श्रमण (शाक्यादि श्रमणवेषधारी) (**सयं सयं**) अपने-अपने माने हुए (**नाणं**) ज्ञान को (**वयंतावि**) कहते हुए भी (**निच्छयत्थं**) निश्चित अर्थ (सर्वज्ञोक्त सुसिद्धान्त) को (**न याणंति**) नहीं जानते हैं। (**मिलक्खु व्व**) वे पूर्वोक्त म्लेच्छ की तरह (**अबोहिया**) बोधरहित हैं ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जैसे म्लेच्छपुरुष अम्लेच्छ आर्यपुरुष के कथन का अनुवाद करता है, किन्तु वह उस भाषण का अभिप्राय (हेतु) नहीं जानता, वह तो केवल उस भाषण का अनुवादमात्र करता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान से विहीन ब्राह्मण और श्रमण अपने-अपने ज्ञान को कहते हुए भी उसके निश्चितार्थ को नहीं जानते। वे तो पूर्वोक्त म्लेच्छों की तरह सम्यक्बोध से रहित हैं।

व्याख्या

अज्ञानियों की तोतारटन

इन दो गाथाओं में अज्ञानियों की म्लेच्छ के साथ उपमा देते हुए कहा गया है कि वे पण्डितम्मन्य अज्ञानवादी जो कुछ ज्ञान बघारते हैं, वह उसी तरह का तोतारटन है। जैसे आर्यों की भाषा से अनभिज्ञ म्लेच्छ आर्यपुरुष के कथन को मात्र दोहरा देता है। वह उस भाषा में कही हुई बात का रहस्य या कारण नहीं बता सकता। जैसे तोते को 'राम-राम' या 'नमस्ते' कहना सिखा दिया जाता है और वह इन वाक्यों को बार-बार दोहराता रहता है, परन्तु वह उक्त शब्दों का अर्थ बिलकुल नहीं जानता, वह मालिक के सिखलाये हुए शब्दों को रटकर उन्हें दोहराता रहता है। जैसे आर्यों की भाषा से अनभिज्ञ कोई म्लेच्छपुरुष म्लेच्छ भाषा को न जानने वाले आर्यपुरुष के शब्दों को केवल दोहरा देता है, या अर्थज्ञानशून्य उसकी भाषा का अनुवाद मात्र कर देता है परन्तु उसने किस विवक्षा से यह बात कही है, उसका अभिप्राय वह भली-भाँति नहीं जानता।

यही बात सम्यग्ज्ञान से शून्य अज्ञानसम्पन्न तथाकथित ब्राह्मण-श्रमणों पर भी लागू होती है कि वे अपने-अपने मत की पोथियों में लिखे ज्ञान को लोगों के सामने बार-बार दोहराते रहते हैं, साथ ही उस ज्ञान के प्रमाणभूत होने की दुहाई भी देते रहते हैं, लेकिन परस्पर विरुद्ध और विसंगत बातें कहने के कारण साफ प्रतीत होता है कि वे केवल तथाकथित शास्त्रों या अपने माने हुए शास्त्रों के वचनों को दोहरा रहे हैं, उनका जो निश्चित-सिद्धान्तसम्मत अर्थ है, उसे वे नहीं जानते। वे उसी म्लेच्छ या तोते की तरह अबोध और अनुवादकमात्र हैं। इसीलिये शास्त्रकार ने दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए कहा है—**निच्छयत्थं न याणंति मिलक्खु व्व**।

अब अगली गाथा में अज्ञानवादियों का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए उनको अज्ञानता सिद्ध करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अन्नाणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

संस्कृत छाया

अज्ञानिकानां विमर्शः अज्ञाने न विनियच्छति ।
आत्मनश्च परं नालं, कुतोऽन्याननुशासितुम् ? ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**अन्नाणियाणं**) अज्ञानियों का (**वीमंसा**) पर्यालोचनात्मक विचार (**अण्णाणे**) अज्ञानपक्ष में (**ण विनियच्छइ**) युक्तिसंगत नहीं हो सकता। (**अप्पणो**) वे अज्ञानवादी अपने को भी (**परं**) अज्ञानवाद की (**अणुसासिउं**) शिक्षा देने में (**नालं**) समर्थ नहीं हैं, (**अन्नाणुसासिउं कुतो**) दूसरों को अनुशासित करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

भावार्थ

अज्ञानवादियों द्वारा अज्ञान ही श्रेष्ठ है, इसकी मीमांसा (सर्वतोमुखी विचार) अज्ञानपक्ष में संगत नहीं हो सकती। जब अज्ञानवादी अपने आपको अनुशासित करने (शिक्षा देने) में समर्थ नहीं है, तब फिर वे दूसरों को अनुशासित करने (शिक्षा देने) में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

व्याख्या

अज्ञानवाद अज्ञानपक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता

इस गाथा में शास्त्रकार ने तर्कों द्वारा अज्ञानवाद को असिद्धकर बताया है। पहला तर्क यह है कि अज्ञानवादी[1] जो अज्ञान को ही दुनिया में सर्वश्रेष्ठ वस्तु सिद्ध

---

१. अज्ञान का अर्थ है—कुत्सितज्ञान। वह अज्ञान जिसका हो, वह अज्ञानिक है अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचार-व्यवहार है, वे अज्ञानिक कहलाते हैं। हिताहित-परीक्षा से जो रहित हैं, वे भी अज्ञानिक हैं।

(क) कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, तद् येषामस्ति तेऽज्ञानिकाः। ते च वादिनश्चेतमज्ञानिकवादिनः। —भग०

(ख) वे अज्ञानवादी शाकल्य, सात्यमुद्रि, मौद, पिप्पलाद, बादरायण, जैमिनि, वसु आदि प्रमुख हैं। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है—"शाकल्य-वाल्कल-कुथुमि-सात्यमुद्रि-नारायण-कण्ठमाध्यंदिन-मौद-पिप्पलाद-बादरायणाम्बष्ठिकृदौदरिकायनवसुजैमिनि इत्यादीनामज्ञानकुदृष्टीनां सप्तषष्ठिः।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने का प्रयास करते हैं, परन्तु उसकी सारी विचार-चर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणों) द्वारा करते हैं, यह बेतुकी और 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। अज्ञानवादियों का मन्तव्य यह है कि बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्मबन्ध विफल हो जाता है, वह दारुण दुःख नहीं देता। ज्ञान कल्याणकारी नहीं होता। ज्ञान ही तमाम वितण्डावादों की सृष्टि करता है। ज्ञान से ही तो एक वादी दूसरे के विरुद्ध तत्त्व प्ररूपण करके विवाद का अखाड़ा बनाते हैं। वाद-विवाद से चित्त में कलुषितता आदि दोष पैदा होते हैं, जिनसे दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण होता है। जब इस अनर्थमूलक ज्ञान को छोड़कर अज्ञान का सहारा लेते हैं तो, 'यह मेरा सिद्धान्त है, मैं तुम्हारे मत का खण्डन करूँगा', इत्यादि ज्ञानमूलक अहंकार कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। अहंकार न होने से एक दूसरे के प्रति कालुष्य नहीं होगा। चित्त में कालुष्य न होने से कर्मबन्ध की सम्भावना भी नहीं रहेगी। इसी तरह, जो कार्य विचारकर जानबूझकर किये जाते हैं, उनसे दारुण-फलदायक कर्मबन्ध होता है, और उस कर्मबन्ध का कठोर फल अवश्य भोगना पड़ता है। तीव्र अध्यवसाय से अर्थात् बुद्धिपूर्वक होने वाले कषायादेश से जो कर्मबन्ध होता है, उसका फल भी अबाधित होता है। अतः जो कर्म मन के अभिप्राय के बिना केवल वचन और शरीर की प्रवृत्ति मात्र से उपार्जित किये जाते हैं, उनमें चित्त का तीव्र अभिनिवेश—अत्यन्त कषायवृत्ति न होने से उनका फल भी नहीं भुगतना पड़ता। वे कर्म फल दिये बिना भी झड़ सकते हैं। यदि उन्होंने फल भी दिया तो इतना दारुण-फल नहीं होता। दीवार पर लगी हुई धूल के झाड़ने के समान थोड़ी सी शुभ-अध्यवसायरूप हवा के झोंके से अपने आप वह कर्मरज झड़ जाती है। मन में रागद्वेषादिरूप अभिनिवेश उत्पन्न न होने देने का सबसे आसान उपाय है—ज्ञानपूर्वक व्यापार को छोड़कर अज्ञान में ही सन्तोष करना। क्योंकि जब तक ज्ञान रहेगा, तब तक वह कुछ न कुछ रागद्वेषादिरूप उत्पात करता ही रहेगा। वह शान्त नहीं बैठा रहेगा। अतः मोक्षसाधक मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही साध्य तथा श्रेयस्कर हो सकता है, ज्ञान नहीं।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान तो तब उपादेय हो सकता है, जब ज्ञान के स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय हो जाय। इस संसार में अनेकों मत-मतान्तर हैं, सभी मत वाले अपने-अपने तत्त्वज्ञान के सच्चे होने का दावा करते हैं। अतः इस आपाधापी में 'कौनसा मत सच्चा है? या किसका ज्ञान यथार्थ है?' यह निर्णय करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। सभी दर्शन वाले अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पका रहे हैं। सभी अपने-अपने सिद्धान्तों के लिए सत्यता की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुहाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह विवेक करना कठिन हो रहा है कि यह सच्चा है या वह ? सभी अपने-अपने मत के प्रवर्तकों को सर्वज्ञ और दूसरे मत के प्रवर्तकों को असर्वज्ञ कहते हैं, अपने शास्त्र और उनमें प्ररूपित ज्ञान को सभी अपने सर्वज्ञ द्वारा भाषित एवं पूर्ण सत्य कहते हैं। पर इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि सर्वज्ञ कौन है ? किस मत का प्रवर्तक सर्वज्ञ है ? यदि निर्णय भी कर लिया जाय कि अमुक मत का प्रवर्तक सर्वज्ञ है, तब भी वे शास्त्र या वे सिद्धान्त-वचन उस सर्वज्ञ के द्वारा भाषित या उपदिष्ट हैं या नहीं ? यह जाँचना-परखना भी टेढ़ी खीर है। क्योंकि किसी भी सर्वज्ञ को हमने या हमारे पूर्वजों ने कभी शास्त्रोपदेश करते भी तो नहीं देखा। तब बिना प्रमाण के तथाकथित मत के प्रवर्तक को सर्वज्ञ तथा उसके द्वारा प्रकाशित शास्त्रज्ञान को सर्वज्ञोपदिष्ट कैसे माना जाये ? थोड़ी देर के लिए आपकी (जैनों की) बात मानकर हम यह स्वीकार भी कर लें कि आचारांग आदि शास्त्रों में उक्त वचन सर्वज्ञ महावीर के हैं, तब भी शास्त्र में उक्त वचनों (शब्दों) का यही अर्थ है, दूसरा नहीं; इस प्रकार का निश्चय कौन और कैसे करेगा ? क्योंकि आपके सर्वज्ञ उन शब्दों का निश्चित अर्थ तो कर ही नहीं गये हैं। यही कारण है कि एक ही शास्त्र पर कई शब्दों के विभिन्न टीकाकारों एवं व्याख्याकारों ने परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ किये हैं। वहाँ बुद्धि चकरा जाती है। कौन-सा अर्थ सही होगा, कौन-सा गलत, इसका निर्णय करना भी कठिन हो जाता है। अतः इन सब झंझटों से दूर रहने के लिए अज्ञान को ही अपनाना श्रेयस्कर है। ज्ञान ही सारे अनर्थों का मूल है। इसी से अहंकारपूर्वक रागद्वेष होने से अनन्त संसार की वृद्धि होती है, फिर कौन-सा ज्ञान सम्यक् है, इसका निश्चय करना भी अत्यन्त कठिन है। इस अनर्थमूलक ज्ञान से कल्याण नहीं हो सकता। अतः अज्ञान ही श्रेयःसाधक है।

अज्ञानवादियों की पूर्वोक्त विचारधारा का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं—'**अन्नाणियाणं वीमंसा अण्णाणे ण विनियच्छइ**।' इसका आशय है कि अज्ञानवादियों द्वारा अज्ञान ही श्रेष्ठ है। **वही श्रेयस्कर है, ज्ञान अनर्थों का मूल है**, इत्यादि बातें सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो अनुमानादि (तर्क, युक्ति, हेतु आदि) ज्ञान का सहारा लिया है, वह 'वदतोव्याघात' जैसा है। अपनी ही बात अपने व्यवहार से वे खण्डित कर रहे हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर सिद्ध करने के लिये ज्ञान का आश्रय वे क्यों लेते हैं ? 'ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है, त्यों-त्यों दोष बढ़ता है,' यह ज्ञान सत्य है या असत्य ? तथा 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है,' इत्यादि मीमांसा या विचार-चर्चा करना भी अज्ञानवादियों को उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का पर्यालोचनात्मक विचार भी तो ज्ञानरूप है। जब वे स्वयं जानबूझकर अज्ञानी बनकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने में सुख-शान्ति समझते हैं तो बुद्धि पर ताला लगा कर चुपचाप बैठना चाहिए, न उन्हें किसी को अपनी बात समझानी चाहिए और न ही उपदेश देना चाहिए, अपने मत का भी प्रचार उन्हें नहीं करना चाहिए। परन्तु वे स्वयं कहाँ चुपचाप बैठते हैं, अपने मत का प्रचार करने के लिए बुद्धि का प्रयोग करते हैं। जब वे स्वयं को अपने अज्ञानवाद के सिद्धान्त पर स्थिर एवं अनुशासित नहीं रख सकते, यानी अपने आपको अज्ञानवाद की शिक्षा देने में समर्थ नहीं हैं, तब दूसरों (शिष्यों) को अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन (शिक्षा) में कैसे चलाएँगे ? दूसरी बात, जब वे स्वयं अज्ञानी हैं, तब शिष्य बनकर जो शिक्षा के लिए उनके पास आते हैं उन्हें वे अज्ञानवाद की शिक्षा भी कैसे दे सकेंगे ? क्योंकि अज्ञानवाद की शिक्षा तो ज्ञान के द्वारा ही दी जाएगी, ज्ञान को तिलांजलि देकर कोई भी अज्ञानवादी कैसे शिक्षा दे सकेगा ? अतः सबसे बड़ी चुप (मौन) की साधना में ही अज्ञानवाद है ? क्योंकि **'मौनं विभूषणमज्ञतायाः'** अज्ञता (अज्ञान) का आभूषण मौन है। यही बात शास्त्रकार इस गाथा की निचली पंक्ति में कहते हैं—**'अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं'**। इससे अज्ञानवादियों का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति नहीं जानी जाती, इसलिए **अज्ञान ही श्रेयस्कर है**, क्योंकि 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है,' इस प्रकार का उपदेश दूसरों को देने के लिए प्रवृत्त होकर उन्होंने स्वयं दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान होना स्वीकार कर लिया है। यदि दूसरे की चित्तवृत्ति नहीं जानी जाती है तो अज्ञानवादी गुरुओं की चित्तवृत्ति को उनके शिष्य कैसे जानेंगे, उन पर कैसे विश्वास कर लेंगे, कि हमारे गुरु ज्ञानवान् हैं। उनका बताया हुआ ज्ञान सच्चाज्ञान है। वे अगर अपने गुरुओं की चित्तवृत्ति को नहीं जानेंगे या विश्वास नहीं करेंगे तो अज्ञानवाद का उपदेश कैसे ग्रहण करेंगे ? जब दूसरे की चित्तवृत्ति को जान नहीं सकते तो फिर उन्हें अज्ञानवाद की शिक्षा ही क्यों देते हैं ? अन्यमतवादियों ने स्पष्ट स्वीकार कर लिया है कि दूसरे की चित्तवृत्ति जानी जा सकती है, देखिये उनका वह श्लोक—

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

अर्थात्—मनुष्य की आकृति (चेहरे) से, इंगित से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, भाषण (बोलचाल) से, आँखों और मुँह के विकारों से उसका अन्तर्मन जान लिया जाता है।

जब अज्ञानवादी स्वतः प्रेरित अज्ञानी हैं, तो वे बिना ज्ञान के यह आक्षेप कैसे कर सकते हैं कि 'समस्त उपदेश आदि म्लेच्छों द्वारा किये हुए आर्यभाषा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद के समान निराधार हैं।' क्योंकि ज्ञान के बिना वे कथन भी कैसे कर सकते हैं ?

अज्ञानवादी स्वयं को तथा दूसरों को अज्ञानवाद के अनुशासन में रखने में किस प्रकार असमर्थ हैं, यह दो दृष्टान्तों द्वारा बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

वणे मूढे जहा जंतू, मूढेणेयाणुगामिए।
दोवि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥१८॥

अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

संस्कृत छाया

वने मूढो यथा जन्तुर्मूढनेत्रनुगामिकः ।
द्वावप्येतावकोविदौ तीव्रं शोकं नियच्छतः ॥१८॥

अन्धोऽन्धं पन्थानं नयन्, दूरमध्वानमनुगच्छति ।
आपद्यत उत्पथं जन्तुरथवापन्थानमनुगामिकः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (वणे) वन में, (मूढे) दिशामूढ (जन्तू) प्राणी (मूढेणेयाणुगामिए) दिशामूढ नेता के पीछे चलता है तो, (दोवि एए) वे दोनों ही (अकोविया) मार्ग नहीं जानने वाले हैं, इसलिए (तिव्वं) तीव्र (सोयं) शोक—दुःख (नियच्छइ) अवश्य ही प्राप्त करते हैं ॥१८॥

(अंधं) अन्धे मनुष्य को (पहं) मार्ग में (णितो) ले जाता हुआ (अंधो) अन्धा पुरुष (दूरं) जहाँ जाना है, वहाँ से दूर तक (अद्धाणुगच्छइ) मार्ग में चला जाता है। (जन्तू) तथा वह प्राणी (उप्पहं) उत्पथ उजड़ मार्ग (आवज्जे) पकड़ लेता है या पहुँच जाता है। (अदुवा) अथवा (पंथाणुगामिए) अन्य मार्ग पर चढ़ जाता है या उसके पीछे-पीछे चला जाता है ॥१९॥

भावार्थ

जैसे घोर जंगल में दिशामूढ़ बनकर मार्ग भूला हुआ प्राणी यदि किसी दिशामूढ़ नेता के पीछे चलता है तो वे दोनों ही मार्ग न जानने के कारण मार्गभ्रष्ट प्राणी अवश्य तीव्र दुःख एवं शोक को प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे स्वयं अन्धा व्यक्ति मार्ग में दूसरे अन्धे को ले जाता हुआ जहाँ जाना है, वहाँ से दूर, बहुत दूर देश में चला जाता है। अथवा वह (काँटे, कंकड़, जंगली हिंसक जन्तुओं से भरे) उजड़ रास्ते पर चढ़ जाता है, अथवा ठीक मार्ग को छोड़कर दूसरे रास्ते पर चला जाता है।

व्याख्या

अन्धे के पीछे अन्धा : विनाश का धन्धा

अज्ञानवादियों की अनिष्ट दशा को समझाने के लिए शास्त्रकार दो दृष्टान्तों द्वारा वस्तुतत्त्व अभिव्यक्त करते हैं—

(१) एक घोर जंगल है। उसमें हिंसक जंगली जन्तुओं का भय है। एक पथिक घूमता-घामता रास्ता भूल गया, उसे यह पता ही नहीं चल रहा था कि मैं किस दिशा में जा रहा हूँ ? वह दिग्मूढ एवं व्याकुल होकर इधर-उधर देख रहा था कि इतने में एक दूसरा पथिक आता हुआ दिखाई दिया, वह भी पथभ्रष्ट और दिशामूढ़ था, परन्तु वाचाल होने के कारण उक्त व्याकुल पथिक से कहा—'मेरे पीछे चले आओ, मैं तुम्हें सही-सलामत गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दूँगा, मैंने सब रास्ता देखा है।' वह दिशामूढ़ भयभ्रान्त बेचारा पथिक इस नये वाचाल पथिक के चक्कर में आकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। नतीजा यह हुआ कि उस मार्गभ्रष्ट एवं मार्ग से अनभिज्ञ पथिक के पीछे चलने से वह भोला पथिक दुःखी हुआ। साथ में जो मार्गदर्शक नेता बना था, वह भी मार्ग का जानकार न होने से अत्यन्त दुःखी हुआ। दोनों एक-दूसरे को कोसने लगे। आवाज सुनकर एक भयानक जंगली जानवर आ गया। उसने दोनों पर झपटकर वहीं दोनों का काम तमाम कर डाला।

यह एक रूपक है। यही हाल सत्पथ से अनभिज्ञ अज्ञानवादी गुरु का है, उसके पीछे-पीछे यदि कोई दिशामूढ़ भयभ्रान्त पथिक उसके बहकावे में आकर चल देता है तो आखिर दोनों इस घोर संसाररूपी जंगल में भटकते रहते हैं और कहीं न कहीं भयंकर दुःख एवं मरण की चपेट में आ जाते हैं।

(२) इसी प्रकार एक दूसरा दृष्टान्त देकर इस बात को समझाया गया है—एक अन्धा था, वह कहीं चला जा रहा था। मार्ग में उसे एक दूसरा अन्धा मिला। वह वाचाल था। पहले वाले अन्धे से उसने पूछा 'कहाँ जा रहे हो ?' उसने किसी नगर का नाम लिया, तो दूसरा वाचाल अन्धा तपाक से बोला—'अरे, पहले तुमने क्यों नहीं कहा ? तुम तो उलटे चल रहे हो। मेरे साथ चले आओ। मैं तुम्हें ठीक मार्ग से सही-सलामत वहीं पहुँचा दूँगा।' पहला अन्धा भुलावे में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर दूसरे अन्धे के नेतृत्व में चल पड़ा। दूसरा अन्धा स्वयं मार्ग नहीं देख सकता था, अतः अपने पीछे चलने वाले अन्धे को जिस मार्ग से जाना था, उसे छोड़कर वह असली मार्ग से बहुत दूर पहुँच गया। वहाँ से फिर भटककर वह कँटीले-कंकरीले उजड़ मार्ग पर चढ़ गया। आगे चलकर दोनों अन्धे दूसरे ही मार्ग पर चल पड़े और ऐसे भटक गये कि उन्हें असली रास्ता नहीं मिला।

यही हाल अज्ञानवादियों को नेता मानकर उनके पीछे चलने वाले मार्ग से अनभिज्ञ अन्धतुल्य नासमझ शिष्य का होता है। अज्ञानवादी स्वयं सम्यक्मार्ग से अनभिज्ञ है, तब अपने पीछे चलने वालों को वे कैसे मार्ग बता सकेंगे? सचमुच अपने पीछे चलने वालों को भी वे बहुत दूर क्रियाकाण्डों के गहन वन में या तापस तक के उजड़ मार्ग में ले जाकर छोड़ेंगे। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब उन्हीं अज्ञानवादियों की उन्मार्गगामिता का परिचय दे रहे हैं—

मूल पाठ

एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

संस्कृत छाया

एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधकाः वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयुः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**एगे**) कई (**नियायट्ठी**) मोक्षार्थी कहते हैं (**वयं**) हम (**धम्ममाराहगा**) धर्म के आराधक हैं। (**अदुवा**) परन्तु वे (**अधम्ममावज्जे**) अधर्म को प्राप्त करते हैं (**सव्वज्जुयं**) सब प्रकार से सरल मार्ग को (**ण ते वए**) वे प्राप्त नहीं करते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार कई मोक्षार्थी (तथाकथित) कहते हैं कि हम धर्म के आराधक हैं। परन्तु धर्म की आराधना तो दूर रही, वे प्रायः अधर्म को ही (धर्म के नाम से) स्वीकार कर लेते हैं। वे सब प्रकार से सरल संयम के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

आजीवक आदि मतों का निरूपण

एवं'—इस गाथा में '**एवं**' पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित भावों को प्रदर्शित करने के लिए है। पूर्वोक्त प्रकार से जो भावमूढ़, भावान्ध, अज्ञानी आजीवक आदि हैं, वे **नियाय** यानी मोक्ष अथवा सद्धर्म को प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

'**धम्ममाराहगा वयं**'—वे तथाकथित मोक्षार्थी यह मान कर प्रव्रज्या धारण करते हैं कि हम उत्तमधर्म के आराधक हैं। शास्त्रकार के इस कथन के पीछे आशय यह है कि वे लोग परिव्राजक या श्रमण का वेष धारण करने के साथ ही मन में यों समझ लेते हैं, कि हम श्रमण या संन्यासी हो गए हैं और उच्चधर्म का हम ही पालन करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि श्रमण, संन्यासी या परिव्राजक को अपने विचार और आचार कितने उच्च रखने चाहिये? उसका जीवन क्षमा आदि दस उत्तमधर्मों से सुशोभित होना चाहिए? इसीलिए तो श्रमण भगवान महावीर ने केवल वेष से किसी को श्रमण, माहण (ब्राह्मण), तापस, आदि नहीं माना, अपितु तदनुरूप उच्च आचार-विचार अनिवार्य बताये हैं-

ण वि मुण्डिएण समणो, ण ओंकारेण बम्भणो।
ण मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो॥
समयाए समणो होई, बंभचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होई, तवेण होइ तावसो॥[1]

मुंडन कर लेने से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का नाम रटने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, न अरण्य में निवास करने से कोई मुनि हो जाता है और न ही कुश—काषायवस्त्र आदि धारण करने से कोई तापस हो सकता है। समताभाव रखने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य-पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान प्राप्त करके अपने और जगत् के स्वरूप पर मनन करने से मुनि होता है और अहंकार से रहित होकर तप करने से तापस होता है। परन्तु पूर्वोक्त आजीवक आदि मत के श्रमण या अन्य परिव्राजक इन बातों को मानते नहीं, न जानने का उपक्रम करते हैं। वे ऐसे किसी भी मत में दीक्षित होकर—प्रव्रज्या धारण करके भी पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय का उपमर्दन (हिंसा) करके पचन-पाचन आदि क्रिया में प्रवृत्त होकर स्वयं ऐसे सावद्य कार्य करते-कराते रहते हैं, दूसरों को भी उपदेश देते रहते हैं। इस प्रकार वे श्रमण या परिव्राजक इष्ट-मोक्ष की प्राप्ति से भ्रष्ट हो जाते हैं। मोक्ष की प्राप्ति

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २५, गा० ३१, ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो दूर रही, वे प्रव्रजित होकर जब इस प्रकार आरम्भ-समारम्भ के सावद्य अनुष्ठान में पड़ जाते हैं, तब अधर्म-पाप को ही बटोरते रहते हैं। यही बात इस गाथा की दूसरी पंक्ति में बताई गई है।

अदुवा अहम्ममावज्जे—इसके साथ ही शास्त्रकार ने उनके लिए एक और अनर्थ की सम्भावना प्रकट की है—**'ण ते सव्वज्जुयं वए'** इसके दो अर्थ होते हैं, एक अर्थ तो यह है कि इस प्रकार के असत्कर्म का अनुष्ठान करने वाले, अज्ञान को कल्याण का कारण बताने वाले आजीवक (गोशालक मतानुयायी) आदि श्रमण तथा ब्राह्मण व परिव्राजक आदि जो सद्धर्म या मोक्ष की प्राप्ति के लिए सबसे सरल संयम मार्ग है, उसे प्राप्त नहीं करते। अथवा दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि अज्ञानान्ध तथा ज्ञान को मिथ्या बताने वाले वे अन्यदर्शनी अज्ञानवादी तथाकथित श्रमण-परिव्राजक आदि मोक्ष-प्राप्ति के लिये सबसे सरल मार्ग—जो सत्य है, उसे वे बोलते तक नहीं हैं। क्योंकि अज्ञान को एकमात्र श्रेयस्कर मान कर भी वे स्वयं ज्ञान बघारते हैं, ज्ञान के द्वारा ही दूसरे मत-मतान्तर का खण्डन करते हैं, यह सबसे बड़ा सत्य का अपलाप है।

अब अज्ञानवादियों द्वारा मान्य विविध कुतर्कों का निदर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

संस्कृत छाया

एवमेके वितर्काभिर्नाऽन्यं पर्युपासते ।
आत्मनश्च वितर्काभिरयमृजुर्हि दुर्मतयः ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस (अज्ञानवादियों के पूर्वोक्त) प्रकार के (**वियक्काहिं**) विविध वितर्कों-कुतर्कों के कारण (**एगे**) कई (**दुम्मई**) दुर्बुद्धि, विपरीत बुद्धि वाले, अज्ञानवादी व्यक्ति (**अन्नं**) दूसरे ज्ञानवादी उदार विचारकों की (**नो पज्जुवासिया**) सेवा-पर्युपासना नहीं करते। (**अप्पणो य**) और अपने (**वितक्काहिं**) वितर्कों के कारण (**अयमंजूहिं**) यह अज्ञानवाद ही यथार्थ है, ऐसा कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इस प्रकार के कई विपरीत बुद्धि वाले अज्ञानवादी अपने पक्ष के समर्थन में पूर्वोक्त प्रकार के मिथ्या कुतर्क प्रस्तुत करके अपने मत से भिन्न जो ज्ञानवादी वगैरह हैं, उनकी सेवा-उपासना नहीं करते। वे अपने उक्त कुतर्कों के कारण अज्ञानवाद ही श्रेयस्कर और सरल मार्ग है, ऐसा मानते हैं।

व्याख्या

अज्ञानवादियों के कुतर्क

एवमेगे वियक्काहिं—शास्त्रकार ने इस गाथा में अज्ञानवादियों के उन वितर्कों या कुतर्कों का स्मरण दिलाया है जो उनके मन-मस्तिष्क में ऐसा तूफान मचाये हुए हैं कि वे इन वितर्कों के कारण अपने आप को बहुत बड़े पण्डित, विद्वान, विचारक मानते हैं, अपने मत से भिन्न ज्ञानवादियों के चरणों में बैठकर किसी बात का समाधान नहीं करते, न सरलतापूर्वक वे सत्य को स्वीकार करते हैं।

अज्ञानवादियों के कुतर्क कौन से हैं? पिछली गाथाओं में हम संक्षेप में अज्ञानवाद का परिचय दे आएँ हैं। उन कुतर्कों के अतिरिक्त अज्ञानवादियों के और भी विकल्प हैं।

पूर्वोक्त अज्ञानवादी जिन विकल्पों को कुतर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उनके हिसाब से कुल मिलाकर इनके ६७ विकल्प (भेद) हो जाते हैं। उन भेदों (विकल्पों) को इस तरीके से जानना चाहिए।

इनका सबसे पहला वितर्क यह है—कौन जानता है कि जीव सत् है? क्योंकि जीव की सत्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी नहीं है, अतः उसकी सत्ता को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। अथवा जीव की सत्ता का ज्ञान भी हो जाये तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जीव चाहे नित्य, सर्वगत, अमूर्त और ज्ञानादि गुणयुक्त हो या इससे विपरीत हो, इससे किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार कौन जानता है कि जीव असत् है? और इसको जानने से भी कोई प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार सदसत्, अवक्तव्य, सद्अवक्तव्य, असद्अवक्तव्य, सद्असद्अवक्तव्य यों एक-एक वितर्क पर जीव के विषय में एक-एक विकल्प होने से सात हुए। तत्त्व नौ हैं,—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वों पर सात-सात विकल्प होते हैं। अतः ९×७ =

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३ भेद हो गये तथा इनमें ४ विकल्प और जोड़े जाते हैं। ये विकल्प भावोत्पत्ति की दृष्टि से होते हैं—(१) भाव की उत्पत्ति सत् होती है, यह कौन जनता है? अथवा इसे जानने से क्या लाभ है? (२) भाव की उत्पत्ति असत् होती है, यह कौन जानता है? अथवा उसके जानने से भी क्या प्रयोजन है? (३) भाव की उत्पत्ति सत्-असत् होती है, यह कौन जानता है? अथवा जानने से प्रयोजन भी क्या है? (४) भाव की उत्पत्ति अवक्तव्य होती है, यह कौन जानता है? और इसे जानने से भी क्या मतलब है? इस प्रकार पूर्वोक्त सात विकल्पों में से चार विकल्प तो भावोत्पत्ति के विषय में कहे गये हैं शेष तीन विकल्प भावोत्पत्ति के नहीं होते। किसी पदार्थ की उत्पत्ति होने के पश्चात् उस पदार्थ के अवयव की अपेक्षा से होते हैं। इसलिए भावोत्पत्ति के विषय में वे सम्भव नहीं है। इस हिसाब से पहले के नौ तत्त्वों पर सत्-असत् आदि सात विकल्प होते हैं जो ६३ हुए और ४ विकल्प भावोत्पत्ति के (जो अभी कहे हैं) मिलाकर कुल ६७ वितर्क (विकल्प) अज्ञानवादियों के हुए। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'अप्पणो य वियक्काहिं अयमंजूहिं दुम्मई'**। अर्थात् वे दुर्बुद्धि अपने ही प्रयुक्त वितर्कों (विकल्पों) के भँवरजाल में ऐसे फँसे रहते हैं कि उन्हें अज्ञानवाद के अतिरिक्त कोई सरल तथा श्रेयस्कर मार्ग जँचता ही नहीं। वे अपने इन वितर्कों के अहंकार में ग्रस्त होकर अपने को पण्डित, तत्त्वज्ञानी और न जाने क्या-क्या समझते हैं। वे मानते हैं कि हम ही तत्त्वज्ञानी हैं, हमसे बढ़कर कोई भी नहीं है। यह समझकर वे अपने से भिन्न दूसरे ज्ञानवादी आदि की उपासना नहीं करते। साथ ही वे अपने वितर्कजाल के कारण यह मानते हैं कि 'हमारा अज्ञानमार्ग ही कल्याणमार्ग है। वही निर्दोष है और दूसरे मतवादी उसका खण्डन नहीं कर सकते; तथा अज्ञानमार्ग ही सत्य और उत्तम गुणयुक्त तथा यथावस्थित अर्थ को प्रगट करता है।

प्रश्न होता है—वे अज्ञानवादी ऐसा क्यों कहते हैं? शास्त्रकार एक शब्द में उसका उत्तर सूचित करते हैं, **दुम्मई** अर्थात् वे दुर्मति या विपरीत बुद्धि से युक्त हैं।

मूल पाठ

एवं तक्काइ साहिता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टन्ति, सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

संस्कृत छाया

एवं तर्कैः साधयन्तः, धर्माधर्मयोरकोविदाः।
दुःखं ते नातित्रोटयन्ति, शकुनिः पंजरं यथा ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (तक्काइ) तर्कों के द्वारा (साहिता) अपने मत को मोक्षदायक सिद्ध करते हुए (धम्माधम्मे अकोविया) धर्म तथा अधर्म को न जानने वाले (ते) वे अज्ञानवादी (दुक्खं) जन्ममरणादि दुःख को (नाइतुट्टंति) अत्यन्त रूप से तोड़ नहीं पाते, (जहा) जैसे (सउणी) पक्षी (पंजरं) पिंजरे को नहीं तोड़ पाता।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से अपने मत को मोक्षदायक सिद्ध करते हुए धर्म तथा अधर्म से अनभिज्ञ वे अज्ञानवादी जन्ममरणादि दुःख के कारणभूत कर्मबन्धन को नहीं तोड़ पाते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ पाता।

व्याख्या

धर्माधर्म से अनभिज्ञ : अज्ञानवादी

पूर्वोक्त अज्ञानवाद के विविध कुतर्कों के द्वारा अज्ञानवादी अपने मत को मोक्षदायक सिद्ध करने के लिए एड़ी से लेकर चोटी तक का जोर लगा देते हैं। वे अपने को अज्ञानवादी कहते हैं, किन्तु वे मृषावादी भी हैं, क्योंकि ज्ञान का विरोध या खण्डन करके भी उसी ज्ञान को प्रतिदिन अपनाते हैं, अनुमान आदि का प्रयोग भी उसी ज्ञान के माध्यम से करते हैं।

प्रश्न होता है कि वे अज्ञानवादी जब इतने पैने तर्क-तीर चला कर दूसरों को कायल कर देते हैं, तब धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि को वे ठुकरा क्यों देते हैं? इसका उत्तर शास्त्रकार यों देते हैं—

धम्माधम्मे अकोविया— धर्म और अधर्म के मामले में वे अत्यन्त अज्ञानी हैं या अनिपुण हैं। वे न तो क्षमा आदि दशविध उत्तमधर्म को जानते-मानते हैं और न ही जीवहिंसा से उत्पन्न पाप को जानते-मानते हैं। एक प्रकार से जड़ता के प्रतिनिधि वे अज्ञानवादी मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्धनों के कारणों से उत्पन्न घोर कर्मबन्धन को नहीं तोड़ सकते। जिस तरह पक्षी अपने चिरपरिचित पिंजरे को तोड़ नहीं सकता; उसी तरह अज्ञानवादी भी संसाररूपी पिंजरे से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—"**दुक्खं ते नाइतुट्टंति।**" यहाँ 'दुःख' शब्द दुःख के कारणभूत 'कर्मबन्धन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **नाइतुट्टंति** का अर्थ होता है – अत्यन्त रूप से नहीं तोड़ पाता। इसका आशय है, कदाचित् अकामनिर्जरावश थोड़े बहुत कर्मबन्धनों को वे अज्ञानवादी दूर कर दें, किन्तु कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त होने में वे समर्थ नहीं होते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब पूर्वगाथाओं में जिन-जिन एकान्तवादियों के मतों का निरूपण किया था, उनके मतों में शास्त्रकार मिथ्यात्व, मिथ्याग्रह आदि दूषण बताते हैं—

मूल पाठ

सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

संस्कृत छाया

स्वकं स्वकं प्रशंसन्तो गर्हयन्तः परं वचः ।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते संसारं ते व्युच्छ्रिताः ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**सयं सयं**) अपने-अपने मत की (**पसंसंता**) प्रशंसा करते हुए (**परं वयं**) और दूसरे के वचन की (**गरहंता**) निन्दा करते हुए (**जे उ**) जो मतवादीजन (**तत्थ**) उस विषय में (**विउस्संति**) अपनी विद्वत्ता प्रगट करते हैं, (**ते**) वे (**संसारं**) जन्म-मरण-रूप संसार में (**विउस्सिया**) अत्यन्त दृढ़रूप से बँधे हुए हैं ।

भावार्थ

अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के वचन की निन्दा करते हुए जो मतवादीजन उस विषय में अपना पांडित्य दिखाते हैं, वे वास्तव में (एकान्तवाद के मताग्रहरूप मिथ्यात्व के कारण) जन्म-मरणरूप संसार-बन्धन में दृढ़ता से जकड़े हुए हैं ।

व्याख्या

स्वमत-प्रशंसा एवं परमत-निन्दा ही एकान्तवाद का मूल

इस गाथा में शास्त्रकार ने विभिन्न एकान्तवादी दार्शनिकों की मिथ्यात्वी मनोवृत्ति का परिचय दिया है । अज्ञान, मिथ्यात्व एवं मतमोहान्ध वे मतवादी अपने माने हुए मत की बढ़-चढ़ कर तारीफ करते हैं । वे दूसरों के सामने यह रट लगाते फिरते हैं कि 'हमारे मत में यह विशेषता है, यह सुगमता है, इतनी छूट है, ऐसा व्यवहार है, इतने-इतने उच्च साधक हैं या हुए हैं, मुक्ति के लिए इस मत की समानता और कोई मत नहीं कर सकता ।' वे लोग स्वमत-मण्डन करके ही रह जाएँ, तब भी गनीमत है, उनके मन-मस्तिष्क की खुजली इतने से शान्त नहीं होती, वे सदैव ही दूसरों के मत का, उनके ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए बखिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उधेड़ते रहते हैं, उनकी निन्दा और भर्त्सना किया करते हैं, उन-उन परमतों के वचनों को उद्धृत करके वे उनकी मजाक उड़ाया करते हैं। इस प्रकार उनके मन मस्तिष्क की खुजली तब तक शान्त नहीं होती, जब तक वे निन्दापुराण न पढ़ लें। इसीलिए शास्त्रकार ने ऐसे अज्ञानवादी लोगों की इस प्रकार की स्वमत-मोहचेष्टाओं को ही मिथ्यात्वरूपी विषवृक्ष का मूल कहा है, जो एकान्तवाद का जल सींचने से मजबूत होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—**'सयं सयं पसंसंता ····।'**

आशय यह है कि उन मतवादियों का मतमोहरूप मिथ्यात्व उन्हें चैन से बैठने नहीं देता। वह युग शास्त्रार्थ का युग था। मतमोह की मदिरा पीकर विभिन्न मतों के पण्डित लोग साँड़ों की तरह परस्पर लड़ते थे, वाक्युद्ध करते थे। शास्त्रार्थ का अखाड़ा जमता था। मतमल्ल अपने-अपने दाँव-पेंच लगाते थे। सांख्य दर्शन के पण्डित 'समस्त वस्तुएँ आविर्भूत-तिरोभूत होती रहती हैं, किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता,' इस प्रकार एकान्त मताग्रह से ग्रस्त होकर 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं और निरन्वय विनाशी हैं,' इस प्रकार के क्षणिकवादी बौद्धों पर आक्षेप करते थे, उनके मत में दोष बताते थे और क्षणिकवादी बौद्ध पण्डित भी 'नित्य पदार्थ न तो क्रमशः अर्थक्रिया कर सकता है और न ही युगपत् करता है,' इत्यादि दोष देकर सांख्यवादियों की भर्त्सना करते थे। इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी परस्पर एक-दूसरे के वचनों की निन्दा और स्वप्रशंसा करते थे।

'जे उ तत्थ विउस्संति ····' इस पंक्ति में शास्त्रकार ने उन सबको एकान्त मताग्रहवादी बताकर उनके इस व्यवहार को विजिगीषुवृत्ति बताया है, न कि जिज्ञासुवृत्ति। यानी वे केवल अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करने के लिये ऐसा करते थे, एक-दूसरे का मत जिज्ञासाबुद्धि से समझने के लिये नहीं। वे मताग्रही बनकर अपने-अपने सिद्धान्त के पक्ष में विशिष्ट युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे। जैसा कि समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

'आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

जो दुराग्रही है, साम्प्रदायिक आग्रह से जिसकी बुद्धि विकृत हो रही है उसकी बुद्धि ने जिस पदार्थ को जिस रूप से ग्रहण कर रखा है, वहीं वह युक्तियों की यद्वा-तद्वा खींचतान करता है। उसका मूलमंत्र होता है—'जो मेरा है या मैंने जाना-माना है, वही अन्तिम सत्य है।' इसलिए वह सत्य का पुजारी नहीं होता, वह अपने मतीय अहंकार का पुजारी होता है। इसलिए वह युक्तियों की खींचतान करके जैसे-तैसे अपने मत को सच्चा सिद्ध करने का अनुचित प्रयत्न करता है। लेकिन जिसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि मत-पक्षपात से रहित है, जो मध्यस्थभाव से अपनी बुद्धि का सन्तुलन रख कर उपयोग करता है, उस समझदार की बुद्धि तो जिस पदार्थ को युक्तियाँ जिस रूप से सिद्ध करती हैं, उसको उसी रूप से मानने के लिये सदा प्रस्तुत रहती है। उसका सिद्धान्त होता है—जो सत्य सिद्ध हो, वह मेरा है। युक्तिसिद्ध वस्तु को पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त होकर स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये।

किन्तु थोथा पाण्डित्य प्रदर्शित करने वाले मताग्रही इस बात को कब मानने को तैयार होंगे ? वे तो अपनी मानी हुई घिसी-पिटी पुरानी युक्ति-विरुद्ध लकीर पर ही चलने का आग्रह रखते हैं। यही उनके एकान्तवादरूप मिथ्यात्व का नमूना है। जिसके फलस्वरूप वे तीव्ररागद्वेषवश घोर कर्मबन्धन करके जन्म-मरण-रूप संसार में ही चक्कर काटते रहते हैं। इसी बात को शास्त्रकार ने सूचित किया है—**'संसारं ते विउस्सिया।'**

अगली गाथा में परसमय-वक्तव्य के सन्दर्भ में शास्त्रकार क्रियावादियों के मत का निदर्शन करते हैं—

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥२४॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातं, क्रियावादिदर्शनम् ।
कर्मचिन्ताप्रनष्टानां, संसारस्य प्रवर्धनम् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (अवरं) दूसरा (पुरक्खायं) पूर्वोक्त—पहले कहे हुए (किरियावाइदरिसणं) एकान्तक्रियावादियों का दर्शन है। (कम्मचिंतापणट्ठाणं) कर्म (कर्मबन्ध) की चिन्ता से रहित, उन एकान्त क्रियावादियों का दर्शन (संसारस्स) जन्म-मरण-रूप संसार की (पवड्ढणं) वृद्धि करने वाला है।

भावार्थ

अब दूसरा दर्शन पहले बताये हुए एकान्तक्रियावादियों का है। कर्म (कर्मबन्धन) की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन संसार की वृद्धि ही करने वाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

कर्मचिन्ता के प्रति लापरवाह : एकान्त-क्रियावादी-दर्शन

किरियावाइदरिसणं—अज्ञानवादियों के मतनिरूपण के पश्चात् अब शास्त्रकार उन एकान्त-क्रियावादियों के दर्शन की चर्चा छेड़ रहे हैं, जिसका जिक्र नियुक्तिकार ने इस उद्देशक के अर्थाधिकार में किया था। इसलिये इस नये विषय को प्रारम्भ करने हेतु शास्त्रकार ने '**अहावरम्**' शब्द प्रयोग किया है, इसका अर्थ होता है—अज्ञानवादियों के मत का निरूपण करने के बाद अब दूसरा पूर्वकथित क्रियावादी-दर्शन है। चैत्य-कर्म आदि क्रिया को ही जो लोग प्रधानरूप से मोक्ष का अंग बतलाते हैं, उनके दर्शन (विचारधारा) को क्रियावादी-दर्शन कहते हैं।

कम्मचिन्तापणट्ठाणं—क्रियावादीदर्शन का क्या स्वरूप है ? क्या लक्षण है ? इसे शास्त्रकार अपनी भाषा में बताते हैं कि वे एकान्त-क्रियावादी कर्मों की चिन्ता से प्रनष्ट यानी दूर रहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म कैसे, किन-किन कारणों से किस-किस तीव्र-मन्द आदि रूप में आत्मा के बँध जाते हैं, वे सुख-दुःख आदि के जनक हैं या नहीं ? उनसे छूटने का उपाय क्या है ? आदि कर्म-सम्बन्धी विचार करना कर्मचिन्ता कहलाती है। एकान्त-क्रियावादी इसप्रकार की कर्मचिन्ता से रहित—लापरवाह होते हैं। ऐसे एकान्त-क्रियावादी बौद्ध दार्शनिक हैं, जो अज्ञान आदि से उपचित (किये हुए) चार प्रकार के कर्मों को बन्धनरूप नहीं मानते। इस प्रकार कर्मबन्धन का विचार करने की वे अपेक्षा नहीं करते। इसीलिये उन्हें 'कर्मचिन्ता-प्रनष्ट' कहा है।

'संसारस्स पवड्ढणं'—'चार प्रकार का कर्म बन्धकारक नहीं होता' उक्त क्रियावादियों का यह मत संसार को बढ़ाने वाला ही होता है, घटाने वाला नहीं, क्योंकि वे एकान्तरूप से इस बात को मानते हैं, मताग्रह रखते हैं, दूसरे की सच्ची युक्तियों को ठुकरा देते हैं, इस प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त होने या प्रमाद (कर्मचिन्तन के विषय में उपेक्षाभाव) से युक्त होने के कारण वे घोर कर्मबन्धन के फलस्वरूप अपने संसार की वृद्धि करते हैं। '**संसारस्स पवड्ढणं**' के बदले कहीं-कहीं '**दुक्खखंध-पवड्ढणं**' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होता है, उन क्रियावादियों का यह दर्शन दुःखस्कन्ध यानी असातोदयरूप दुःखपरम्परा को बढ़ाने वाला है।

वे क्रियावादी कर्म-चिन्ता से किसप्रकार रहित हैं ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा में बताते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेयइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

संस्कृत छाया

जानन् कायेनानाकुट्टी अबुधो यं च हिनस्ति ।
स्पृष्टः संवेदयति परमव्यक्तं खलु सावद्यम् ॥२५॥

अन्वयार्थ

(जं) जो पुरुष (**जाणं**) जानता हुआ मन से (**हिंसति**) हिंसा करता है, (**काएणऽणाउट्टी**) किन्तु शरीर से हिंसा नहीं करता, (**च**) और (**अबुहो**) नहीं समझता। (**जं हिंसति**) जो पुरुष शरीर से हिंसा करता है, (**परं पुट्ठो संवेयइ**) वह केवल उसका फल स्पर्शमात्र से भोगता है। (**खु**) वस्तुतः (**सावज्जं**) वह सावद्यकर्म (**अवियत्तं**) अव्यक्त है स्पष्ट नहीं है।

भावार्थ

जो व्यक्ति रोष-द्वेष आदि के आवेशवश केवल मन से ही हिंसा करता है, मगर शरीर से नहीं करता तथा अनजान में शरीर से हिंसा करता है, वह उस कर्म के फल को स्पर्शमात्र से भोगता है—यानी कर्मबन्ध के फल का अनुभव करता है, क्योंकि उसका वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त—अप्रकट होता है। अर्थात् उक्त दोनों प्रकार के दोषयुक्त व्यापार स्पष्ट नहीं होते।

व्याख्या

कर्मचिंता से दूर—क्रियावादी

'**जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति**' इस गाथा में शास्त्रकार ने क्रियावादियों की कर्मचिन्ता के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है। शास्त्रकार ने यहाँ दो प्रकार से हिंसा की क्रिया से कर्मबन्ध न होने की क्रियावादियों की मान्यता स्पष्ट की है। एक तो यह कि एक व्यक्ति केवल मन से ही जान-बूझकर किसी प्राणी की हिंसा करता है, बाहर में वह हिंसा प्रकट नहीं है, क्योंकि शरीर से किसी प्रकार की हिंसक क्रिया करता दिखाई नहीं देता। शरीर से वह अनाकुट्टी है। इसका मतलब है कि शरीर से वह जीवहिंसा नहीं करता है। कुट्ट धातु का अर्थ छेदन है, जो पुरुष रोष-द्वेषादिवश छेदन-भेदन करता (कूटता-पीटता) है, उसे आकुट्टी कहते हैं और जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार का आकुट्टी नहीं है, वह अनाकुट्टी कहलाता है। आशय यह है कि जो क्रोधादि-कारणवश केवल मन के व्यापार से प्राणी की हिंसा करता है, परन्तु शरीर से रोष-द्वेषादिवश प्राणियों के अंगों का छेदन-भेदन-रूप व्यापार नहीं करता। ऐसे व्यक्ति को सावद्य-पापकर्म का उपचय —बन्ध नहीं होता। दूसरे, एक व्यक्ति अनजाने ही, अकस्मात् केवल शरीर के व्यापार से ही प्राणिहिंसा की क्रिया कर बैठता है। उससे यह हिंसा-क्रिया अज्ञात अवस्था में बिना जाने-बूझे ही हो जाती है। उसके मन का कोई व्यापार नहीं होता। अतः ऐसे व्यक्ति को भी सावद्य-कर्मबन्ध (कर्मोपचय) नहीं होता।

निर्युक्तिकार ने पहले यह बताया था —'चतुर्विध कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नहीं होता, यह भिक्षुओं (बौद्ध दार्शनिकों) का कथन है। इन चारों में से शास्त्रकार ने परिज्ञोपचित और अविज्ञोपचित इन दोनों प्रकारों का तो मूलपाठ में उल्लेख कर दिया है। शेष ईर्यापथिक और स्वप्नान्तिक ये दो प्रकार नहीं बताये, किन्तु मूलपाठ में 'च' शब्द है, उससे उन दोनों का अध्याहार (ग्रहण) हो जाता है। ईर्या कहते हैं—गमन को। तत्सम्बन्धी मार्ग को ईर्यापथ कहते हैं। उस ईर्यापथ के कारण जो कर्म होता है, उसे ईर्यापथिक कहते हैं। आशय यह है कि मार्ग में चलते समय जो बिना जाने, उपयोग के बिना मनोव्यापार के अभाव में प्राणियों का घात हो जाता है, उससे कर्म का उपचय नहीं होता। इसी प्रकार स्वप्नान्तिक कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता, जैसे स्वप्न में किये हुए भोजन से किसी की तृप्ति नहीं होती उसी तरह स्वप्न में किये हुए जीव-घात से भी कर्मबन्ध नहीं होता। 'स्वप्नान्तिक कर्म जिसमें विद्यमान हों, उसे 'स्वप्नान्तिक' कहते हैं। स्वप्न में काया के व्यापार का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए स्वप्न में किया हुआ किसी प्राणी का छेदन-भेदन आदि कर्मबन्धन का कारण नहीं होता।

प्रश्न होता है कि यदि इन चारों प्रकारों से कर्मबन्धन नहीं होता तो बौद्धों के मतानुसार किस प्रकार से कर्मबन्धन होता है? इसका उत्तर वे यों देते हैं कि प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, फिर हनन करने वाले को यह ज्ञान (भान) हो कि यह प्राणी है। उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि (वृत्ति) हो कि 'मैं इसे मारूँ या मारता हूँ।' इन सबके रहते हुए यदि शरीर से वह उस प्राणी को मारने की चेष्टा करता है और उस चेष्टा के अनुसार यदि वह प्राणी मार दिया जाता है या उस प्राणी के प्राणों का वियोग कर दिया जाता है, तब हिंसा होती है, और तभी कर्म का भी उपचय होता है।

यहाँ पाँच कारण हिंसा के बताये गये हैं। इनमें से किसी एक के भी न होने पर न हिंसा होती है, न कर्म का उपचय होता है; जैसा कि वे कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा ।
प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापाद्यते हिंसा ॥

अर्थात् प्राणी, प्राणी का ज्ञान, घातक की चिन्ता, घातक की क्रिया और प्राणवियोग, इन पाँचों बातों से हिंसा लगती है। यहाँ जो हिंसा के निमित्त पाँच पद कहे गये हैं, उनके कुल मिलाकर ३२ भंग होते हैं। उनमें से हिंसक तो प्रथम भंग वाला पुरुष ही होता है, शेष ३१ भंग हिंसक नहीं होते।

पुट्ठो संवेयई परं अवियत्तं खु सावज्जं—इस पंक्ति का आशय यह है कि उक्त क्रियावादी बौद्धों से यह पूछे जाने पर कि क्या परिज्ञोपचित आदि से कर्म का बन्धन सर्वथा ही नहीं होता ? उसके उत्तर में उनकी मान्यता-सम्बन्धी जो उत्तर आया, वह इस पंक्ति में उट्टंकित किया गया है। उत्तर यह है कि कर्मबन्धन तो होता है, परन्तु अत्यन्त अल्प। इसी बात को घोषित करने के लिए यहाँ '**पुट्ठो**' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल मनोव्यापाररूप परिज्ञोपचित्त कर्म से, केवल शरीर से अनजाने में होने पाले अविज्ञोपचित कर्म से, एवं मार्ग में चलते-फिरते समय होने वाले ईर्यापथिक कर्म से तथा स्वप्न में होने वाले स्वप्नान्तिक कर्म से—यानी इन चारों प्रकार के कर्मों से पुरुष का जरा सा स्पर्श होता है (पुरुष इन चतुर्विधकर्म से स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं। अतः ऐसे कर्मों के विपाक (फल) का भी स्पर्शमात्र ही वेदन (अनुभव) करता है। मतलब यह है कि इन कर्मों का हलका-सा स्पर्श होने के कारण इनका फल भी जरा-सा ही भोगना पड़ता है, अधिक नहीं। जैसे—मुट्ठी भर कर रेत दीवार पर मारी जाय तो वह दीवार को जरा-सा छूकर ही बिखर जाती है, चिपकती नहीं; वैसे ही पूर्वोक्त कर्म-चतुष्टय जरा-से छूकर ही झड़ जाते हैं, वे उक्त पुरुष से चिपकते नहीं हैं। इसीलिए बौद्धों का कहना है कि ये चतुर्विधकर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए हम इसे कर्मों के उपचय का अभाव कहते हैं, अत्यन्ताभाव नहीं। चूँकि वे चतुर्विध-कर्म अव्यक्त हैं, अप्रकट हैं, इसीलिये उनका विपाक भी स्पष्टतः अनुभूति में नहीं आता। अतः परिज्ञोपचित आदि कर्म अव्यक्तरूप से सावद्य (सदोष) हैं।

अब अगली दो गाथाओं में बौद्धमतानुसार पाप-कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या हैं, यह बताते हैं—

मूल पाठ

संतिमे तउआयाणा जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्माय पेसाय मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एते उ तउ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

संस्कृत छाया

सन्तीमानि त्रीण्यादानानि यैः क्रियते पापकम् ।
अभिक्रम्य च प्रेष्य च मनसाऽनुज्ञाय ॥२६॥
एतानि तु त्रीण्यादानानि यैः क्रियते पापकम् ।
एवं भावविशुद्धया तु निर्वाणमभिगच्छति ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**इमे**) ये (आगे कहे जाने वाले) (**तउ**) तीन (**आयाणा**) कर्मों के आदान-ग्रहण (बंध) के कारण (**संति**) हैं, (**जेहिं**) जिनसे (**पावगं**) पाप-कर्म (**कीरइ**) किया जाता है। (**अभिकम्माय**) किसी प्राणी को मारने के लिए अभिक्रम (आक्रमण के लिये उद्यत) करके, (**पेसाय**) तथा किसी प्राणी को मारने के लिये नौकर आदि किसी को प्रेषित—भेजकर (**मणसा अणुजाणिया**) एवं मन से अनुज्ञा देकर।

(**एते उ**) ये पूर्वोक्त (**तउ**) तीन (**आयाणा**) कर्मबन्धन के कारण हैं, (**जेहिं**) जिनसे (**पावगं**) पापकर्म (**कीरइ**) किया जाता है। (**एवं**) इस प्रकार (**भावविसोहीए**) भावों की विशुद्धि से (**निव्वाणं**) निर्वाण—मोक्ष को (**अभिगच्छइ**) जीव प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ

ये तीन कर्म-बन्ध के कारण हैं, जिनसे पाप-कर्म किया जाता है। (१) किसी प्राणी को मारने के लिये स्वयं उस पर आक्रमण करना या प्रहार के लिये उद्यत होना, (२) नौकर आदि को भेजकर प्राणी का घात कराना, तथा (३) प्राणी का घात करने के लिये मन से अनुज्ञा-अनुमोदन करना—ये पूर्वोक्त तीन कर्म-बन्ध के कारण हैं, जिनसे पापकर्म किया जाता है। जहाँ ये तीन नहीं हैं, तथा जहाँ भाव की विशुद्धियाँ हैं, वहाँ कर्मबन्ध नहीं होता है, प्रत्युत निर्वाण की प्राप्ति होती है।

व्याख्या

बौद्धमत में कर्मबन्ध के तीन आदान

संति मे तउ आयाणा—इन दोनों गाथाओं में शास्त्रकार ने बौद्धमतानुसार कर्मबन्ध के तीन प्रकार बताये हैं। चूँकि पूर्वगाथा में बौद्धमतानुसार चतुर्विधकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपचय (बन्ध) कारण नहीं होता, यह बताया गया है; तब सहज ही प्रश्न होता है, कि कर्मबन्ध किस प्रकार होता है ? कर्मों का आदान (ग्रहण) किस माध्यम से होता है ? इसके उत्तर में ये दोनों गाथायें प्रस्तुत की गई हैं। इनका आशय स्पष्ट है। जिनके द्वारा कर्मों का आदान, ग्रहण या बन्ध किया जाता है, उसे आदान कहते हैं। जिन आदानों के माध्यम से पापकर्म किये जाते हैं, वे आदान तीन प्रकार के हैं—वध्यप्राणी को मारने की इच्छा से स्वयं उस प्राणी को मारना, उस पर प्रहार करना यह प्रथम कर्मादान है, (२) प्राणी को मारने हेतु किसी नौकर आदि को भेजकर या किसी को प्रेरित करके उस प्राणी का घात कराना, यह द्वितीय कर्मादान है, और (३) प्राणी का घात करते हुए पुरुष को मन से अनुज्ञा देना, अनुमोदन-समर्थन करना, यह तीसरा कर्मादान है।[1] परिज्ञोपचित कर्म में और इस तीसरे आदान में यह अन्तर है कि परिज्ञोपचित कर्म में केवल मन से चिन्तनमात्र होता है, जबकि इस तीसरे आदान में दूसरे के द्वारा मारे जाते हुए प्राणी के घात का मन से अनुमोदन किया जाता है।

२७वीं गाथा में उसी बात को दोहराया गया है। उसका अभिप्राय यह है प्राणिघात के विषय में स्वयं करना, कराना और अनुमोदन करना ये तीन कर्मबन्ध के आदान (द्वार) हैं।

एवं भावविसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ—पूर्वोक्त पंक्ति में 'उ' (तु) शब्द निश्चयार्थक है। अर्थात् पूर्वोक्त तीन ही प्रत्येक तथा तीनों मिलकर कर्मबन्ध के कारण हैं, क्योंकि इन तीनों में अध्यवसाय दुष्ट रहता है। इसलिए इनके द्वारा पापकर्म का उपचय होता है। इससे फलितार्थ यह निकलता है कि जहाँ प्राणिघात के प्रति दुष्ट अध्यवसायपूर्वक करना, कराना और अनुमोदन ये तीन नहीं हैं, तथा जहाँ राग-द्वेषरहित बुद्धि से प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में जहाँ केवल मन से या शरीर से अथवा मानसिक अभिप्राय-रहित दोनों से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भावविशुद्धि होने के कारण कर्म का उपचय नहीं होता और कर्म का उपचय न होने के कारण जीव समस्त द्वन्द्वों से रहित निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह इस गाथा के उत्तरार्ध का आशय है।

भावविशुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करने से कर्मबन्ध नहीं होता, इसे बौद्धमतानुसार एक दृष्टान्त द्वारा शास्त्रकार समझाते हैं—

---

१. जैनशास्त्रों में कृत, कारित और अनुमोदित—ये तीन करण हिंसा आदि के बताये गये हैं, वैसे ही बौद्धमत में हिंसा आदि के ये तीन आदान बताये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मुणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

संस्कृत छाया

पुत्रं पिता समारभ्याहारयेदसंयतः ।
भुञ्जानश्च मेधावी कर्मणा नोपलिप्यते ॥२८॥

अन्वयार्थ

(असंजए) संयमविहीन (पिया) पिता (पुत्तं) अपने पुत्र को (समारब्भ) मारकर (आहारेज्ज) खा ले तो (भुंजमाणो) खाता हुआ भी वह पिता (मेहावी) तथा मेधावी साधु भी (कम्मुणा) कर्म से (नोवलिप्पइ) उपलिप्त नहीं होता।

भावार्थ

जिस तरह दुष्काल आदि विपत्ति के समय कोई असंयमी पिता अपने पुत्र को मारकर उसका मांस खाता है, तो वह पुत्र का मांस खाकर भी कर्म से लिप्त नहीं होता, इसी तरह रागद्वेषरहित मेधावी साधु भी मांस खाता हुआ कर्म से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या

भावशुद्धि से कर्मबन्ध नहीं : बौद्ध-प्रदत्त दृष्टान्त

इस गाथा में भावशुद्धिपूर्वक हिंसा आदि प्रवृत्ति से कर्मबन्ध का अभाव सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने बौद्धों द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्त का आशय स्पष्ट है। जैसे कोई रागद्वेष-रहित असंयमी गृहस्थ किसी बड़ी विपत्ति के समय अपने उद्धारार्थ उदरपूर्ति हेतु अपने पुत्र को मार कर उसका भक्षण कर लेता है, तो भी वह कर्मबन्ध से लिप्त नहीं होता, क्योंकि पुत्र पर उसका कोई द्वेष नहीं है।[1] इसी तरह रागद्वेषरहित बुद्धिमान शुद्धाशय साधु भी किसी घोर संकट-

---

१. संयुत्तनिकाय में इस प्रकार की एक गाथा मिलती है कि शरीर-शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध करके उसका मांस भक्षण कर लेता है। फिर भी बौद्धधर्म की दृष्टि से वह पिता वधक (हिंसक) नहीं होता। यह आपवादिक नियम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल में मांस खा लेता है तो वह भी कर्मबन्ध से लिप्त नहीं होता। यहाँ 'य' (च) शब्द 'अपि' समुच्चय अर्थ में है। गाथा का निष्कर्ष यह है कि चाहे गृहस्थ हो या साधु, जिसका आशय शुद्ध है, अन्तःकरण राग-द्वेषरहित है, वह इस प्रकार का प्राणिघात होने पर भी पाप-कर्म से नहीं लिपटता; क्योंकि पापकर्म तभी चिपकता है, जब भावों में अशुद्धि हो, दुष्ट अध्यवसाय हो।

अब अगली गाथा में शास्त्रकार इस गलत मान्यता का निराकरण करते हैं—

मूल पाठ

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ।
अणवज्ज मतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

संस्कृत छाया

मनसा ये प्रद्विषन्ति, चित्तं तेषां न विद्यते।
अनवद्यमतथ्यं तेषां, न ते संवृतचारिणः ॥२९॥

अन्वयार्थ

(**जे**) जो लोग (**मनसा**) मन से (**पउस्संति**) किसी प्राणी पर द्वेष करते हैं, (**तेसिं**) उनका (**चित्तं**) चित्त (**ण विज्जइ**) विशुद्धियुक्त नहीं है। (**तेसिं**) तथा उनके (**अणवज्ज मतहं**) पापकर्म का उपचय नहीं होता, यह कथन भी मिथ्या है। (**तेण संवुडचारिणो**) तथा वे संवर (पापों के स्रोत का निरोध) के साथ चलने वाली नहीं है।

भावार्थ

जो मन से प्राणियों पर द्वेष करते हैं, उनका चित्त निर्मल नहीं होता। तथा मन से द्वेष करने पर भी पापकर्म का उपचय नहीं होता, यह कथन भी असत्य है। ऐसे लोग पापों के निरोधरूप संवर को लेकर प्रवृत्ति करने वाले नहीं हैं।

व्याख्या

मन से द्वेष करने पर भी पापबन्ध नहीं : घोर असत्य

पूर्वोक्त गाथाओं में बौद्धों द्वारा मान्य, भावविशुद्धि होने पर हिंसा आदि से पापकर्मबन्ध नहीं होता, अब बौद्धों के इस मत को दूषित सिद्ध करते हैं। आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर मन से द्वेष करता है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन उस समय द्वेष में या हिंसा में नहीं जाता या विशुद्ध है, ऐसा कहकर उस पुरुष में पाप-कर्म के बन्ध का अभाव मानना, सरासर असत्य है। भला कौन ऐसा प्राणी होगा, जिसके मन में हिंसा करने से पहले हिंसा करने के परिणाम न होते हों? वे चाहे तीव्र राग के हों या तीव्र द्वेष के हों अथवा मन्द राग-द्वेष से पूर्ण हों, हिंसा के समय होते ही हैं। वे कभी विशुद्ध नहीं कहे जा सकते। क्योंकि दूसरे के द्वारा मारे हुए पशु का मांस खाने में भी हिंसा की परोक्ष अनुमति तो रहती ही है। अतः बौद्धों का यह कथन मिथ्या है कि 'केवल मन के द्वारा द्वेष करने पर भी कर्म का उपचय नहीं होता।' उनका आचरण एवं चर्या संयम से युक्त नहीं है, क्योंकि उनका मन अशुद्ध है। वस्तुतः कर्म के उपचय करने में मन[1] ही तो प्रधान कारण है। इसे प्रायः सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। यही कारण है कि बौद्धों ने भी माना है कि मनोव्यापाररहित केवल शरीर के व्यापार से कर्म का उपचय नहीं होता। प्रधान कारण भी वही होता है, जो जिसके होने पर हो, और न होने पर न हो। मन भी कर्मोपचय का प्रधान कारण इसलिये है कि मन के व्यापार होने पर कर्म का उपचय होता है और मनोव्यापार न होने पर नहीं होता।

कोई यह प्रश्न प्रस्तुत कर सकता है कि बौद्धों ने तो शरीर-चेष्टा से रहित मनोव्यापार को कर्मोपचय का कारण न होना भी तो बताया है, फिर कर्मोपचय का प्रधान कारण उनकी दृष्टि में मन कहाँ हुआ? इसके समाधानार्थ हम उन्हीं के मान्य वचन प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि उन्होंने माना है कि चित्तविशुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह कहकर चित्त को ही मोक्ष का प्रधान कारण बताया है तथा और भी कहा है—

'चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते?॥

अर्थात् रागद्वेषादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार है और वही चित्त-रागादि क्लेशों से मुक्त होने पर संसार का अन्त-मोक्ष कहलाता है।

अन्य दार्शनिकों ने भी मन को शुभाशुभ परिणामवशात् क्रमशः मोक्ष और नरक माना है—

'मतिर्विभव! नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसाम्।
परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव॥
नरकनगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेके।
उपचितसुभशक्त्या सूर्यसंभेदिनोऽन्ये॥

---

१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—हे मति के धनी मन ! तुम्हें नमस्कार है। यद्यपि संसार में तुम्हारे लिये सभी पुरुष समान हैं, तथापि तुम किसी पुरुष में शुभ अंशों में और किसी में अशुभ अंशों में परिणत होते हो। यही कारण है कि कई लोग परिणामों के अशुभांश के कारण नरकमार्गगामी बनकर कष्ट उठाते हैं तो कई शुभांश की शक्ति पाकर सूर्यभेदी मोक्षगामी बन जाते हैं।

इस प्रकार बौद्धों के मन्तव्यानुसार क्लिष्ट मनोव्यापार पाप-कर्मबन्धन का कारण सिद्ध होता है।

ईर्यापथ में भी उपयोग रखकर नहीं चलना ही तो चित्त की क्लिष्टता है। अतः उससे भी कर्मबन्ध होता ही है। हाँ, यदि कोई साधक उपयोग रखकर गमन करता है, उनके मन में किसी भी जीव को मारने की भावना नहीं है, प्रमादरहित-सावधानी से चर्या करता है तो वहाँ उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता है। यह तो जैन सिद्धान्त में भी कहा है—

उच्चालयम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज॥
णय तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहुमोऽवि देसिओ समए।
अणवज्जो उपयोगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त साधक भूमि पर कदम रखने के लिए जब अपना पैर उठाता है, तब उसके पैर के नीचे आकर यदि कोई सूक्ष्मजीव मर जाये तो उसे उस निमित्त से जरा भी पाप-कर्मबन्ध नहीं होता, यह (जैन) सिद्धान्त में कहा है। क्योंकि वह पुरुष सब तरह से जीवरक्षा में उपयोग रखने के कारण पाप रहित (अनवद्य) है।

चित्त क्लिष्ट होता है, तभी स्वप्न में किसी को मारने का उपक्रम होता है। इसलिए स्वप्नान्तिक में भी चित्त अशुद्ध होने के कारण कुछ न कुछ कर्मबन्ध होता ही है। आपने भी तो स्वप्नान्तिक में **'अव्यक्तं तत्सावद्यम्'** कहकर अव्यक्त पाप का होना स्वीकार किया है। अतः जब आपने यह मान लिया कि क्लिष्ट मनोव्यापार होने पर कर्मबन्ध होता है,तब 'प्राणी, प्राणिज्ञान आदि पाँच बातों से ही हिंसा होती है' यह कथन असंगत सिद्ध हो जाता है। आपने जो दृष्टान्त देकर बताया कि राग-द्वेष से रहित पिता विपत्ति के समय पुत्र को मार कर खा जाये, तब भी कर्मबन्धन नहीं करता, यह कथन भी विचारशून्य है। क्योंकि राग-द्वेष के बिना मारने का परिणाम हो ही कैसे सकता है? जब तक किसी के चित्त में 'मैं मारता हूँ' ऐसा परिणाम नहीं होता, तब तक कोई मारता नहीं है। और 'मैं मारता हूँ''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार का चित्त का परिणाम असंक्लिष्ट नहीं होता, यह कौन मान सकता है? चित्त की क्लिष्टता से कर्मबन्ध होता है, इसमें आप और हम दोनों एकमत हैं। अतः पुत्रघाती पिता को पापरहित बताना असंगत है। बौद्धों ने कहीं यह भी कहा था—'जैसे दूसरे के हाथ से अंगारा पकड़ने पर हाथ नहीं जलता, वैसे ही दूसरे के द्वारा मारे हुए जीव के मांस खाने में पाप नहीं होता,' यह भी उन्मत्त-प्रलाप के समान है, क्योंकि दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी का मांस खाने में भी अनुमति अवश्य होती है। अनुमति होने पर कर्मबन्ध अवश्य होता है। आपने भी कर्म के तीन आदानों में एक आदान अनुज्ञा (अनुमति) को माना ही है। अन्य मत वालों ने भी कहा है—

अनुमन्ता विशसिता संहर्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च घातकश्चाष्टघातकाः॥

मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, पशुवध करके उसके अंगों को काट कर अलग-अलग करने वाला, पशु को मारने के लिए कत्लखाने में ले जाने वाला तथा पशु को मारने के लिए उसे खरीदने या बेचने वाला, अथवा मांस खरीदने-बेचने वाला, पशु का मांस पकाने वाला, खानेवाला और मारने वाला—ये आठों ही घातक (हिंसक) हैं। ये आठों ही पशुघात के पाप के भागी हैं। बौद्धों ने भी तो जीवहिंसा करने, कराने और अनुमति देने में पाप होना बताया है। यह तो हमारे ही मत का आपने समर्थन किया है। तब आपका यह कथन कि 'चार प्रकार के कर्म उपचय (बन्ध) को प्राप्त नहीं होते,' बिलकुल असंगत है। इसीलिए तो आप पर यह आक्षेप है कि आप कर्म की चिन्ता से रहित हैं। शास्त्रकार ने ठीक ही कहा है—**ण ते संवुडचारिणो**।' अर्थात् वे लोग संवृत होकर फूंक-फूंककर नहीं चलते, संयम के विचार से प्रवृत्त नहीं होते।

अब अगली गाथा में पूर्वोक्त विविध दार्शनिकों की मिथ्यात्वयुक्त दृष्टि और उसके कारण किये जाने वाले अकार्य का निरूपण करते हैं—

मूल पाठ

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया।
संरणं ति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा॥३०॥

संस्कृत छाया

इत्येताभिश्च दृष्टिभिः सातगौरवनिश्रिताः।
शरणमिति मन्यमानाः सेवन्ते पापकं जनाः॥३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**इच्चेयाहि**) इन पूर्वोक्त (**दिट्ठीहिं**) दृष्टियों को लेकर (**सातागारवणिस्सिया**) सुखोपभोग तथा मान-बड़ाई में आसक्त विभिन्न दर्शन वाले (**जणा**) लोग (**सरणंति**) अपने-अपने दर्शन को अपना-अपना शरण (आधारभूत) (**मन्नमाणा**) मानते हुए बेखटके (**पावगं**) पाप का (**सेवंति**) सेवन करते हैं।

भावार्थ

अब तक बताई हुई इन भिन्न-भिन्न दृष्टियों (विचारधाराओं) को लेकर इन्द्रिय-सुखों के उपभोग में तथा बड़प्पन में आसक्त विभिन्न दर्शनों वाले लोग अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानकर बेखटके पाप-कर्म का सेवन करते हैं।

व्याख्या

विभिन्न मतवादियों द्वारा निःशंक पाप-सेवन

'**इच्चेयाहिं य दिट्ठीहिं**' इस गाथा में शास्त्रकार ने, विभिन्न दार्शनिक और मतवादियों की दृष्टियाँ अस्पष्ट और विपरीत होने के कारण वे किस प्रकार अपने जीवन में स्वच्छन्द हो जाते हैं, यह बताया गया है। आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति की दृष्टि (विचारधारा) सबल, सम्यक् एवं अभ्रान्त नहीं होती है, तब उसका आचरण भी विपरीत दिशा में होगा, यह एक सुनिश्चित तथ्य है। इससे तो अब इन्कार नहीं किया जा सकता कि पूर्वगाथाओं में बताये हुए विभिन्न मतवादियों की दृष्टियाँ कितनी एकान्त एवं भ्रान्त हैं? अतः वे लोग अपने-अपने दर्शन एवं मत के अनुसार प्रायः निःशंक होकर ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद एवं सम्मान-प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़ जाते हैं, और यह सोचकर बेखटके पाप-कर्म करते रहते हैं कि क्या चिन्ता है हमें! हमने तो अपने दर्शन एवं मत का पल्ला पकड़ लिया है, वही हमें संसार-सागर से पार करने के लिए उत्तम नौका है। उसी की छत्रछाया में हमें मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। अभी तो बेधड़क हिंसा आदि कर लें। एक दिन हमारा मत हमें अवश्य ही नरक से बचा लेगा। इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार होकर वे दार्शनिक बेखटके पापाचरण करते हैं।

अब शास्त्रकार विभिन्न दार्शनिकों की अन्धता एवं छिद्रयुक्त नौका में बैठकर संसार-सागर को पार करने की चेष्टा को बताते हुए कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअन्धो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई ॥३१॥

संस्कृत छाया

यथा आस्राविणीं नावं, जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥३१॥

अन्वयार्थ

(जहा) जैसे (जाइअंधो) जन्मान्ध पुरुष (अस्साविणिं नावं) ऐसी नौका जिसमें जल प्रवेश कर जाता है—छिद्रों वाली नाव (दुरूहिया) चढ़कर (पारमागंतुं) उस पार जाने की (इच्छइ) इच्छा करता है, परन्तु (अंतरा य) मध्य में ही (विसीयई) डूबकर दुख पाता है ।

भावार्थ

जैसे जल प्रविष्ट हो जाने वाली छिद्रयुक्त नौका पर चढ़कर जन्मान्ध व्यक्ति पार जाना चाहता है, लेकिन वह बीच में ही जल में डूब कर मर जाता है ।

व्याख्या

विभिन्न दार्शनिकों की जन्मान्धता एवं सछिद्र नौकारोहण से तुलना

'जहा अस्साविणिं णावं'—इस गाथा में दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है और विभिन्न मतवादियों की अकार्य चेष्टाओं का दिग्दर्शन कराया गया है । आशय यह है कि कोई व्यक्ति जन्म से अन्धा हो तो उसे यह पता ही नहीं होता कि कौनसी नौका छिद्रवाली है और कौनसी नहीं ? वह नौका के खेवैया के वाग्जाल में आकर छिद्रवाली नौका में चढ़ बैठा । बेचारा अगाधजल वाली नदी के उस पार जाना चाहता था, मगर अफसोस ! अध-बीच में ही नाव में इतना पानी भर आया कि मल्लाह सहित वह अन्धा भी डूबने लगा । जब मल्लाह ने उसे सावधान किया कि नौका में पानी भर आया है, सावधान हो जाओ, तब उसे बड़ा दुःख हुआ । वह मल्लाह को कोसने लगा । पर अब क्या हो सकता था, बरबस उसे जल-समाधि लेनी ही पड़ी ।

ठीक यही दशा उन विभिन्न मतवादियों की है, जो बेचारे पहले से ही मिथ्यात्व एवं मतमोह में अन्धे हैं फिर उनको कर्णधार भी ऐसे मिल गये जिन्होंने अपने वाग्जाल में फँसा कर उन्हें अपने मत, दर्शनरूपी फूटी नौका में बिठा लिया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब क्या था ! वे तो संसार-समुद्र से पार होने की आशा से मतरूपी नौका में बैठे लेकिन वह नौका इतनी पोच निकली कि अध-बीच में ही अनेक अशुभ आस्रवों (पापों) के जल से भर गई। इस प्रकार उन्हें वह मतरूपी नौका ले डूबी। वे इस जीवन से भी नष्ट हुए और अगले जीवन से भी। इस जीवन में भी मत के चक्कर में पड़कर भी धर्माचरण न कर सके, यह जीवन तो बिगड़ा ही अगला जीवन भी बिगड़ गया। पर अब पछताने से क्या होता। अब तो जिन्दगी का अन्त निकट आ लगा। अब भी चेतने का अवसर तो था लेकिन मताग्रह एवं मिथ्यात्व का अन्धापन कुछ भी करने और सोचने ही कहाँ देता है ?

अब इस द्वितीय उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥

संस्कृत छाया

एवं तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
संसारपारकांक्षिणस्ते, संसारमनुपर्यटन्ति ॥३२॥

अन्वयार्थ

(**एवं तु**) इस प्रकार (**एगे**) कई (**मिच्छदिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि (**अणारिया समणा**) अनार्यश्रमण (**संसारपारकंखी**) संसार-सागर से पार जाना चाहते हैं, लेकिन (**ते**) वे (**संसारं**) संसार में ही (**अणुपरियट्टंति**) बार-बार पर्यटन करते रहते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य तथाकथित श्रमण संसार-सागर पार करना चाहते हैं लेकिन वे संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या

तथाकथित मिथ्यात्वी श्रमणों की दशा

जैसे जन्मान्ध पुरुष सछिद्र नौका पर चढ़कर नदी पार नहीं कर सकता, वैसे ही विपरीत दृष्टि वाले मिथ्यात्वान्ध मतमोहान्ध कई मांसाहार, मद्यपान आदि विविध हेय कर्मों (पापों) में स्वयं लिप्त अथवा उन पापों के समर्थक अनार्य श्रमण परिव्राजक आदि अपने-अपने दर्शन रूपी नौका के सहारे संसार-सागर को पार करना चाहते हैं, परन्तु मिथ्यात्व की रतौंधी के कारण वे संसार-सागर को पार नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर पाते और अध-बीच में ही संसार-सागर में डूब कर बार-बार जन्म-मरण रूप चतुर्गतिक संसार में ही भटकते रहते हैं। इस संसार में बार-बार जन्म-मरण और दुर्गति आदि दुखों को भोगते हुए घोर मिथ्यात्व के कारण अनन्तकाल तक इसी में दौड़-धूप करते रहते हैं। परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते, न ही मोक्ष के द्वार-रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर पाते हैं। यह इस गाथा का आशय है।

गणधर सुधर्मास्वामी इस द्वितीय उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

त्ति बेमि

इस प्रकार मैं कहता हूँ।

पढमज्झयणे बीओ उद्देसो सम्मत्तो।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक 'अमरसुख-बोधिनी' व्याख्या सहित पूर्ण हुआ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन : तृतीय उद्देशक

पर समयवक्तव्यता : आचारदोष

यहाँ से प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारम्भ हो रहा है। पहले के दो उद्देशकों में भी है तो स्वसमय-परसमयवक्तव्यता का अधिकार, किन्तु इन पूर्वोक्त दो उद्देशकों में मिथ्यादृष्टि परमतवादियों की विचारधारा बताकर उनके वैचारिक दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब इस उद्देशक में उनकी आचार-प्रणाली बता कर उनमें निहित आचार सम्बन्धी दोषों का दिग्दर्शन किया गया है।

इस उद्देशक का पूर्व दो उद्देशकों के साथ सम्बन्ध यह है कि प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में 'बन्धनों को जानकर (**बुज्झिज्जत्ति**) तोड़ने' की बात कही गई है। वे कर्मबन्धन के कारण मुख्यतः मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। पूर्वोक्त दो उद्देशकों में मुख्यरूप से अन्यदर्शनों एवं मतों को मिथ्यात्व-दोष दूषित बताकर उसके फलस्वरूप होने वाले कर्मबन्धनों को जानने की अव्यक्त रूप से प्रेरणा दी गई है, अब इस तृतीय उद्देशक में आचार-दोष के कारण अविरति और प्रमाद से होने वाले कर्मबन्धन को जानने की अव्यक्त प्रेरणा दी गई है। साथ ही शुद्ध आचार, जो बन्धन तोड़ने का उपाय है, उसका भी बोध प्राप्त करना चाहिए, यह संकेत भी है।

अतः शास्त्रकार सर्वप्रथम कर्मबन्धन के कारणभूत एवं श्रमणों, बौद्धभिक्षुओं एवं निर्ग्रन्थों के लिए असेव्य आधाकर्मी आहार-सेवन में दोष और उसका परिणाम बताते हैं—

मूल पाठ

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं।
सहस्संतरियं भुञ्जे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

संस्कृत छाया

यत्किञ्चित्पूतिकृतं श्रद्धावताऽऽगन्तुकेभ्य ईहितं।
सहस्रान्तरितं भुञ्जीत द्विपक्षञ्चैव सेवते ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जं किंचि उ**) जो आहार थोड़ा-सा भी (**पूइकडं**) आधाकर्म आदि आहार-दोष दूषित या मिश्रित—अपवित्र है, (**सड्ढी**) श्रद्धालु गृहस्थ ने (**आगंतुभोहियं**) आगन्तुक (आने वाले) मुनियों, बौद्धभिक्षुओं या श्रमणों के लिए तैयार किया है। (**सहस्संतरियं**) उस दोषयुक्त आहार को जो साधक हजार घर का अन्तर देकर भी (**भुंजे**) खाता है, (**दुपक्खं चेव सेवइ**) वह गृहस्थ और साधु दोनों के पक्षों का (दोष) सेवन करता है।

भावार्थ

जो आहार आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार के कण से (जरा-से दाने से) भी अपवित्र है और श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा अत्यन्त श्रद्धावश आने वाले मुनियों के लिए बनाया गया है, उस आहार को जो साधक एक घर से दूसरे, दूसरे से तीसरे, यों हजार घर का अन्तर देकर भी खाता है, वह साधु और गृहस्थ दोनों पक्षों का (दोष) सेवन करता है।

व्याख्या

दोषदूषित आहारसेवन : द्विपक्ष दोषसेवन

इस गाथा में शास्त्रकार ने उस आचार की ओर संकेत किया है, जिसकी मर्यादा भंग करने से साधक को उभयपक्षीय दोष से लिप्त होकर उक्त प्रमाद के फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध का भागी होना पड़ता है। साधकों की आहार-विहार सम्बन्धी सभी मर्यादाएँ अहिंसा पर आधारित हैं। साधु के स्वयं आहार पकाने, दूसरों से पकवाने और आहार पकाने का अनुमोदन (समर्थन) करने का त्याग होता है, क्योंकि इसमें अहिंसा सम्बन्धी मर्यादा भंग होती है। आहार पकाने में सचित्त जल, वनस्पति, अग्नि, वायु और पृथ्वीकाय इन एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा के अतिरिक्त अग्नि में त्रसजीवों की भी प्रायः हिंसा हो जाती है। इसीलिए आधाकर्म आदि आहार सम्बन्धी दोषों की गवेषणा करने का साधु के लिए विधान है कि वह जिस आहार को ले रहा है, वह किसी भी प्रकार के दोष से दूषित—अपवित्र तो नहीं है? यहाँ शास्त्रकार ने '**पूइकडं**' विशेषण आहार के लिए लगाया है। उसका आशय है—दोष से दूषित किया हुआ आहार। क्योंकि दोषयुक्त (आधाकर्मी) आहार सेवन करने का परिणाम आगम में घोर कर्मबन्ध बताया है—'**आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उवचिणाइ? गोयमा! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ घणियबंधणबद्धाओ पकरेइ० जाव**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुपरियट्टइ।[1] अर्थात्— "भगवन् ! जो श्रमण निर्ग्रन्थ आधाकर्म आहार का सेवन करता है, वह कितनी कर्मप्रकृतियों को बाँधता है; कितने कर्मों का चय, उपचय करता है ? गौतम ! आधाकर्मी आहारकर्ता आयुष्य को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियाँ जो शिथिल बँधी हुई थीं, उन्हें सघन (घने) कर्मों के बन्धन से बद्ध कर लेता है, कर्मों का चय उपचय करता है, दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।"

प्रश्न होता है, आहार आधाकर्मी (दोष-दूषित) कब होता है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते—'**सड्ढोमागंतुमीहियं**' जब कोई श्रद्धावान् भक्त किसी स्वार्थ, लोभ या अपनी प्रतिष्ठा के लिए अथवा भक्त कहलाने या पुण्यवृद्धि के हेतु किन्हीं खास आगन्तुक साधुओं के निमित्त से आहार तैयार करता है, तब साधु को समझ लेना चाहिए कि यह आहार आधाकर्म दोष से अपवित्र है। किन्तु जो साधु पूर्वोक्त आगमसूचित घोर कर्मबन्धन रूप परिणाम को न जानकर अथवा स्वाद-लोलुपतावश या श्रद्धालु भक्त की अन्धभक्ति के प्रवाह में बहकर जानबूझकर उस आहार को ग्रहण कर लेता है, इतना ही नहीं, उसका उपभोग भी कर लेता है तो वह साधक आधाकर्मी दोष का सेवन करता है।

यहाँ यह शंका होती है कि मान लो, साधु आहार के उक्त आधाकर्म दोष को छिपाने और अपने गुरु या बड़े साधुओं की दृष्टि से बचाने के लिए उक्त दोषयुक्त आहार लेकर कई घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर उसके साथ मिला देता है ताकि किसी को पता न लगे या शंका न हो कि यह आधाकर्मी आहार है। इस प्रकार उस आहार को लेकर वह अपने उपाश्रय में आकर सेवन करता है, क्या तब भी वह आहार (अनेक घरों में घूमकर उसके साथ दूसरा आहार मिलाने पर भी) दोषयुक्त रह जाता है ? शास्त्रकार कहते हैं—'**सहस्संतरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवइ**' अर्थात् वह आहार चाहे हजार घर का व्यवधान देकर भी सेवन किया जाय, तब भी उक्त दोष से मुक्त नहीं होता, प्रत्युत स्वपक्ष में तो उस आधाकर्मी सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थपक्ष के दोष का भागी भी वह होता है। क्योंकि यदि वह साधक गृहस्थ के यहाँ उस आहार की गवेषणा करता, और आधाकर्मी जानकर उसे ग्रहण न करता तो गृहस्थ भविष्य में उस दोष से सावधान हो (बच) जाता। किन्तु उस सदोष आहार को ग्रहण कर लेने से गृहस्थ भविष्य में बार-बार उक्त दोष साधु के लिए लगाएगा। अतः भविष्य में दोष-परम्परावर्द्धक होने से वह साधक गृहस्थपक्ष के दोष का भी समर्थक हो जाता है। यह इस गाथा का रहस्य है।

दुपक्खं चेव सेवइ—यहाँ '**दुपक्खं**' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ होते हैं—पहला

---

१. भगवती सूत्र, श० ७, उ० ६, सू० ७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ तो ऊपर दिया जा चुका है कि वह आधाकर्मी आहार का उपभोक्ता साधु, साधु और गृहस्थ दोनों पक्षों का (दोष) सेवन करता है।

दूसरा अर्थ यह है कि वह ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों क्रियापक्षों का सेवन करता है। आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया तो लगती है, किन्तु उस दोषयुक्त आहार का सेवन करने में माया और लोभ दोनों कषायों के कारण साम्परायिकी क्रियापक्ष का भी सेवन कर लेता है।

तीसरा अर्थ यह है कि ऐसा दोषयुक्त आहार सेवन करने से पहले बाँधी हुई कर्मप्रकृतियों को निद्धत्त, निकाचित आदि गाढ़रूप स्थिति में पहुँचा देता है और फिर नवीन कर्मप्रकृतियाँ बाँध लेता है। यों वह दोहरा पाप-सेवन करता है।

इससे एक बात और फलित होती है कि श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा निर्मित सदोष आहार का एक कण भी जब हजारों घरों के अन्तर से खाने वाला साधक दोहरे दोष का भागी बन जाता है, तब जो शाक्यभिक्षु, संन्यासी आदि सारा आहार स्वयं तैयार करके खाते हैं, उनकी तो बात ही क्या है? वे तो कभी भी इस दोहरे दोष से छुटकारा नहीं पा सकते।

आहार के दोषों को न जानकर जो सुखशील साधक दोषयुक्त आहार का सेवन करते हैं, उसका कटुफल दृष्टान्त द्वारा दो गाथाओं से शास्त्रकार समझाते हैं—

मूल पाठ

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छावेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥
उदगस्स पभावेण, सुक्कं सिग्घं तमिति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥३॥

संस्कृत छाया

तमेवाविजानन्तो विषमेऽकोविदाः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैवोदकस्याभ्यागमे ॥२॥
उदकस्य प्रभावेण शुष्कं स्निग्धं तमेत्यतु ।
ढंकैश्च कंकैश्चामिषार्थिभिस्ते दुःखिनः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**तमेव**) उस आधाकर्म आदि आहार के दोषों को (**अवियाणंता**) नहीं जानते हुए (**विसमंसि**) तथा अष्टविधकर्म के ज्ञान में अथवा विषम संसार के ज्ञान में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**अकोविया ते**) अनिपुण वे अन्यतीर्थी परमतवादी आधाकर्मी आहार-सेवी साधक (**दुही**) उसी प्रकार दुःखी होते हैं, (**वेसालिया मच्छा चेव**) जैसे—वैशाली जाति के मत्स्य (**उदगस्सऽभियागमे**) जल की बाढ़ आने पर होते हैं। (**उदगस्स**) जल के (**पभावेण**) प्रभाव से (**सुक्कं सिग्घं**) सूखे तथा गीले स्थान को (**तमिति उ**) प्राप्त करके जैसे वैशालिक मत्स्य (**आमिसत्थेहिं**) मांसार्थी (**ढंकेहि ककेहि**) ढंक और कंक पक्षियों द्वारा (**दुही**) दुःखी होते हैं, सताये जाते हैं। (उसी तरह आधाकर्मी आहार-सेवनकर्ता साधक दुःखी होते हैं।)

भावार्थ

आधाकर्म आदि आहार के दोषों को नहीं जानने वाले और चतुर्गतिक संसार अथवा अष्टविधकर्म के ज्ञान में अकुशल आधाकर्मभोजी साधक उसी प्रकार दुःखी होते हैं, जिस प्रकार जल की बाढ़ आने पर जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान में पहुँची हुई विशालजातीय मछलियाँ मांसार्थी ढंक एवं कंक पक्षियों द्वारा दुःखी की जाती हैं—सताई जाती हैं।

व्याख्या

आधाकर्म आहारभोजी : अत्यन्त दुःख के भागी

इन दोनों गाथाओं में कर्मबन्धन के कारणों और विषम चतुर्गतिक संसार-भ्रमण के कारणों को समझने में अकुशल लोग किस प्रकार अन्त में दुःखी होते हैं? यह बात दृष्टान्त देकर समझाई गई है।

तमेव अविजाणंता- इस पंक्ति का आशय यह है कि जो साधक अपने मत या धर्म सम्प्रदाय के ग्रन्थों या गुरुओं से आधाकर्म आदि आहार के उपभोगजनित दोषों के प्रति बिलकुल अनभिज्ञ एवं लापरवाह होकर चलते हैं, वे बेखटके ऐसे दोष-युक्त आहार का बराबर सेवन करते हैं। वे इस कटु एवं अष्ट प्रकार के कर्म-बन्धन के रहस्यों—कारण निवारणों को या संसार परिभ्रमण के मूल कारणों को समझने में या उन पर ऊहापोह करने में अकुशल हैं। वे यह नहीं समझते कि कैसे ये विविध कर्मबन्धन हो जाते हैं? कैसे इन कर्मबन्धनों से मुक्ति हो सकती है? अथवा इस संसार-सागर को कैसे पार किया जा सकता है? इन सब रहस्यों को जानने में वे बिलकुल मूढ़, अकुशल और बेखबर हैं। ऐसे साधक इसी संसार-सागर में कर्म-बन्धनों में जकड़ कर दुःखी होते रहते हैं।

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे विशाल समुद्र में होने वाले वैशालिक मत्स्य अथवा विशालकाय मच्छ या विशाल जाति में उत्पन्न महामत्स्य समुद्र में तूफान आने पर, तूफानी हवाओं से टकराती हुई ऊँची-ऊँची उछलती हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लहरों के थपेड़े खाकर किनारे पर चले जाते हैं। उस प्रबल तरंग के हटते ही जल से गीले स्थान के सूख जाने पर वे भीमकाय मत्स्य समुद्रतट पर ही पड़े-पड़े तड़पने लगते हैं, उधर मांसलोलुप ढंक-कंक आदि पक्षी तथा मनुष्यों के द्वारा वे मत्स्य जिंदे ही नोच-नोच कर फाड़ दिये या काट दिये जाते हैं। रक्षक के अभाव में वे मछलियाँ वहीं तड़प-तड़प कर मर जाती हैं। यही हाल उन आधाकर्ममोजी साधकों का होता है, वे भी घोर कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक या तिर्यञ्चगति में जाते हैं, वहाँ परमाधार्मिक नारकीय असुरों द्वारा तरह-तरह से सताए जाते हैं तथा वहाँ से तिर्यंच गति में आने पर भी अनेक मांसार्थी जीवों द्वारा उनकी बोटी-बोटी उधेड़ दी जाती है।

इसी बात को विशेषरूप से द्योतित करने के लिए शास्त्रकार अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥४॥

संस्कृत छाया

एव तु श्रमणा एके, वर्तमानसुखैषिणः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैव, घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**एव तु**) इस प्रकार (**वट्टमाण सुहेसिणो**) वर्तमान सुख के अभिलाषी (**एगे समणा**) कई श्रमण (**वेसालिया मच्छा चेव**) वैशालिक मत्स्य की तरह (**णंतसो**) अनन्तबार (**घातमेस्संति**) घात को प्राप्त होंगे।

भावार्थ

इसी तरह (पूर्वोक्त प्रकार के) केवल वर्तमानकालिक सुख में ही रचे-पचे रहने वाले कई तथाकथित आचारभ्रष्ट श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार मरकर संसारचक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या

सुखशील आचारहीन श्रमणों की दुर्दशा

इस गाथा में '**एगे समणा**' कहकर शास्त्रकार ने उन तथाकथित बौद्ध, आजीवक, पाशुपत आदि पर-तीर्थिक श्रमणों या स्वतीर्थिक भी वैसे सुखशील उन श्रमणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को चेतावनी दे दी है, जो आहार लेने की विधि में दोषों का भंडार अपने जीवन में भरते रहते हैं। दूसरी ओर वे **'श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार घोर तपश्चर्या भी करते हैं, किन्तु आचार-पालन में प्रमाद-सेवन करके विविध दुष्ट कर्मों को बांध लेते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? इसका समाधान **'वट्टमाणसुहेसिणो'** पदों द्वारा देते हैं। इसका आशय यह है कि जो साधक साधुजीवन अंगीकार करने के बाद थोड़ा-सा कष्ट आने पर सहन नहीं कर सकते, वे सुख-सुविधायें ढूंढ़ते रहते हैं, प्रमादी बन जाते हैं। आहार-विहार की निर्दोष विधियों को जानबूझकर ठुकराते रहते हैं, आहार के उन दोषों का बार-बार सेवन करते हैं। वे केवल वर्तमान क्षणिक वैषयिक सुख को ही देखते हैं, किन्तु भविष्य के महान् दुःख को नहीं देख पाते। उनकी दशा भी पूर्वगाथा में उक्त वैशालिक मत्स्यों की-सी होती है। वे बेचारे आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार का उपभोग करके उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले कटु दुःखों को भोगते हैं। जैसे—अरहट यंत्र बार-बार कुए में डूबता-तैरता रहता है वैसे वे ही संसार-सागर में बार-बार डूबते-उतराते रहते हैं। इस प्रकार वे अर्धविदग्ध संसार-सागर को अनन्त जन्मों तक पार नहीं कर सकते। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब अगली गाथाओं में जगत्कर्ता के बारे में विभिन्न मतों का निदर्शन शास्त्रकार करते हैं—

मूल पाठ

इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसिमाहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

संस्कृत छाया

इदमन्यत्स्वज्ञानमिहैकेषामाख्यातम् ।
देवोप्तोऽयं लोकः, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥५॥

अन्वयार्थ

(**इणं**) यह (**अन्नं तु**) दूसरा (**अन्नाणं**) अज्ञान है। (**इह**) इस लोक में (**एगेसिं**) किन्हीं ने (**आहियं**) कहा है कि (**अयं**) यह (**लोए**) लोक (**देवउत्ते**) किसी देव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। (**आवरे**) और दूसरे कहते हैं कि यह लोक (**बंभउत्तेति**) ब्रह्मा का बनाया हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

पूर्वोक्त अज्ञान के सिवाय दूसरा एक अज्ञान इस लोक में यह भी है कि कई लोग कहते हैं—यह लोक किसी देव के द्वारा बनाया हुआ है, और दूसरे कहते हैं – ब्रह्मा ने इस लोक को बनाया है।

व्याख्या

लोक की रचना के सम्बन्ध में विभिन्न मत

इस गाथा में इस लोक की रचना किसने की ? इस पर उस युग में प्रचलित विभिन्न मत शास्त्रकार दे रहे हैं। लोक-रचना के विषय में उन विभिन्न मतवादियों की अज्ञानयुक्त मान्यता के प्रति अपना आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं—**'इणमन्नं तु अन्नाणं'** अर्थात् संसार के अन्यान्य अज्ञान तो विचार-आचार सम्बन्धी विभिन्न बातों के सम्बन्ध में प्रचलित हैं ही, कुछ अज्ञानों के नमूने हम पहले बता चुके हैं, किन्तु आश्चर्य है कि यह अज्ञान उन अज्ञानों से अलग किस्म का है, यह बड़ा दिलचस्प और आश्चर्य में डालने वाला है। किस विषय में और कौन-सा अज्ञान है ? इस जिज्ञासा के उठने से पहले ही शास्त्रकार समाधान कर देते हैं—

'इहमेगेसिमाहियं देवउत्ते ०....'—आशय यह है कि यह अज्ञान इस लोक की रचना के बारे में है, और इस सम्बन्ध में विभिन्न मतवादियों के पृथक-पृथक मत हैं, जबकि वे मतवादी अपने-अपने इष्ट या आराध्य को प्रायः सर्वज्ञ मानते हैं। यही आश्चर्य है। कुछ लोगों का कहना है कि यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला संसार किसी न किसी देव के द्वारा बनाया गया है, क्योंकि मनुष्य में तो इतनी शक्ति नहीं कि इतने विशाल दिग्दिगन्त व्यापक ब्रह्माण्ड की रचना कर सके। मनुष्य ज्यादा से ज्यादा बनाएगा तो नगर, गांव, कस्बा, महानगर, प्रान्त या राष्ट्र की रचना कर देगा, किन्तु इतने राष्ट्रों तथा सृष्टि के विभिन्न अद्भुत पदार्थों की रचना करना मनुष्य के बूते से बाहर है। देव चाहे जो कर सकते हैं, वे अपना रूप चाहे जैसा बना सकते हैं। इसलिए 'मियांजी की दौड़ मस्जिद तक' इस कहावत के अनुसार उस युग के लोगों ने देवताओं को शक्तिशाली और कई करिश्मे दिखाकर विस्मय में डालने वाला समझा और जब दूसरे वादियों ने उन तथाकथित ज्ञान के ठेकेदारों से पूछा कि बताओ, 'यह लोक किसने बनाया ?' तो उन्होंने तपाक से कह दिया—"कोई ईश्वर तो बनाता दिखाई नहीं देता, और मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं कि वह इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, इसलिए हम तो देवों की शक्ति को प्रत्यक्ष देखते हैं, और उन देवों में से किसी जबरदस्त शक्तिशाली देव ने इसी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक को उत्पन्न किया है, जैसे कोई किसान खेत में बीज बोकर धान्य को उत्पन्न करता है।[1]

'देवउत्ते०'—मूल पाठ में **'देवउत्ते'** शब्द है, संस्कृत में उसके तीन रूप हो जाते हैं—देव + उप्त = देवोप्त, देवगुप्त और देवपुत्र। पहले का अर्थ होता है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया हुआ। आशय यह है कि इस सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए किसी देव ने अपना बीज (वीर्य) किसी स्त्री में बोया अर्थात डाला। और उससे मनुष्य एवं दूसरे प्राणी हुए, उन्होंने प्रकृति की सब वस्तुएँ बनाईं। दूसरा रूप है—देवगुप्त। उसका अर्थ है—किसी देव के द्वारा गुप्त = रक्षित। कोई देवता इस लोक का रक्षक है, जब-जब संसार पर कोई संकट या धर्मात्माजनों पर विपत्ति आती है, धर्म की ग्लानि (हानि) और अधर्म (पाप) की वृद्धि होती है, तब-तब वह देव अवतार लेता है, जगत् की रक्षा करता है। भगवद्गीता में कहा गया है कि, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होने लगता है, तब-तब मैं (अवतार) अपने आपको सर्जन (उत्पन्न) करता हूँ। सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के विनाश के लिए, और शुद्धधर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ।[2] तीसरा रूप, जो देवपुत्र है, उसका अर्थ है—'यह लोक किसी तथाकथित देव का पुत्र है। सारा संसार किसी देव की संतान है, जिसने संसार को पैदा किया है।'

'बंभउत्ते ति आवरे'—इस लोक की रचना के सम्बन्ध में किन्हीं विशेष तथाकथित बुद्धिमानों ने कहा—'यह लोक प्रजापति ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है।' उनका कहना है कि मनुष्य की यह ताकत नहीं कि वह इतनी बड़ी व्यापक सृष्टि की रचना कर सके और देव, वे मनुष्य से भौतिक शक्ति में कुछ अधिक जरूर हैं, लेकिन वे भी इस विशाल ब्रह्माण्ड को रचने में कहाँ समर्थ हो सकते हैं? उनमें

---

१. उस वैदिक युग में जबकि ज्ञान-विज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था, मनुष्य अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल, आकाश, विद्युत्, दिशा आदि प्राकृतिक वस्तुओं का उपासक था, प्रकृति को ही वह देव मानता था। इसलिए देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। जैसे कि उपनिषद् में कहा है—**'एकोऽहं बहुस्याम्।'**

२. **यदा-यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना ज्ञान--पूर्णज्ञान कहाँ कि वे सारे संसार को देख सकें या यथायोग्य पदार्थों की रचना कर सकें। इसलिए ब्रह्मा ही इस विशाल ब्रह्माण्ड के रचयिता हो सकते हैं। वे अपनी सन्तान की तरह सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इसीलिए उन्हें जगत्-पितामह या प्रजापति कहा है। सृष्टि के पूर्व में—जगत् की आदि में---वही एक थे---उन्होंने प्रजापतियों को बनाया और प्रजापतियों ने क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया। जैसे कि उपनिषद् में कहा है—

'हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे, स एक्षत, तत्ते जोऽसृजत'

अर्थात्---'सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था। उसने देखा, और फिर उसने तेज की सृष्टि की।'

ऐसे ही एक वैदिक पुराण में कहा है—

ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत्॥

उसके बाद विविध प्रजाओं की सृष्टि (सर्जन) करने के इच्छुक भगवान् स्वयम्भू—ब्रह्मा ने सबसे आदि (प्रारम्भ) में पानी बनाया, उसमें बीज उत्पन्न किया।

ब्रह्माजी ने यह जगत् किस विधि और क्रम से बनाया, इस सम्बन्ध में दूसरे पौराणिकों का विचित्र मत इस प्रकार है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजंगमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टे राक्षसोरगे॥२॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य नाभेः पद्मं विनिर्गतम्।
तरुणार्कबिम्बनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम्॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसंयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः॥५॥
अदितिः सुरसन्धानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहंगमानां माता विश्वप्रकाराणाम्॥६॥
कद्रूः सरीसृपानां, सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम्॥७॥

अर्थात्—पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिलकुल अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य तथा अविज्ञेय! मानो वह सर्वथा सोया हुआ था। वह केवल एक समुद्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में था। उसमें स्थावर, जंगम, देव, मानव, दानव, उरग, भुजंग आदि कोई भी न था। ये सब के सब प्राणी नष्ट हो गये थे। पृथ्वी आदि महाभूत तथा पर्वत, वृक्ष आदि से वह संसार रहित था। वह केवल गह्वर (एक बड़े गड्ढे) के रूप में था। वहाँ मन में भी अचिन्त्य विभु विष्णु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। वहाँ सोये हुए विष्णु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्यबिम्ब के समान तेजस्वी, मनोहर और सोने की कर्णिका वाला था। उस कमल में से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान् ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने ८ जगदम्बाएँ (जगत् की माताएँ) बनाईं—दिति, अदिति, मनु, विनता, कद्रू, सुलसा, सुरभि और इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवगणों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियों को, कद्रू ने सभी प्रकार के सरीसृपों (साँपों) को, सुलसा ने नाग जातियों को, सुरभि ने चौपायों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।

इसी बात को शास्त्रकार ने संक्षेप में बता दिया—**बंभउत्तेति आवरे**। इसका आशय भी ऊपर स्पष्ट कर दिया है। '**बंभउत्ते**' शब्द के भी '**देवउत्ते**' की तरह संस्कृत में जो तीन रूप होते हैं, उनकी व्याख्या भी पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। विशेष बात यही है कि देव की जगह यहाँ ब्रह्मा शब्द है और शेष सब अर्थ पूर्ववत् है।

अब अगली गाथा में शास्त्रकार जगत् को ईश्वरकृत एवं प्रकृतिकृत मानने वालों का मत अभिव्यक्त करते हैं—

मूल पाठ

ईसरेण कडे लोए पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥६॥

संस्कृत छाया

ईश्वरेण कृतो लोकः, प्रधानादिना तथाऽपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**जीवाजीवसमाउत्ते**) जीव और अजीव से संकुल, (**सुहदुक्खसमन्निए**) सुख और दुःख से समन्वित—युक्त (**लोए**) यह लोक (**ईसरेण**) ईश्वर के द्वारा (**कडे**) कृत—रचित है, ऐसा कई कहते हैं। (**तहावरे**) तथा दूसरे कहते हैं कि यह लोक (**पहाणाइ**) प्रधान (**प्रकृति**) आदि के द्वारा कृत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जीव और अजीव से व्याप्त, सुख और दुःख से समन्वित (सम्मिश्रित) यह लोक ईश्वर द्वारा रचित है, ऐसा कई (ईश्वरकर्तृत्ववादी) लोग कहते हैं तथा दूसरे (सांख्यमतवादी आदि) कुछ लोग कहते हैं कि यह लोक प्रकृति आदि के द्वारा कृत है।

व्याख्या

लोक : ईश्वरकृत एवं प्रधानादिकृत

'ईसरेण कडे लोए'— इस गाथा में लोक (जगत्) की रचना के सम्बन्ध में जो विभिन्न विरोधी विचारधाराएँ, जो विश्व के अधिकांश धर्मों व सम्प्रदायों में एकान्तरूप से प्रचलित हैं, प्रस्तुत की हैं। पूर्वगाथा में लोकरचना के सम्बन्ध में दो मत प्रस्तुत किये थे—देवकृत और ब्रह्मारचित। मानवजाति का ज्यों-ज्यों विकास होता गया तथा विविध दार्शनिकों ने ज्यों-ज्यों इस विषय पर चिन्तन किया—उनके सामने लोक की उत्पत्ति या रचना के सम्बन्ध में मुख्य दो विकल्प आए—एक विकल्प तो यह था कि जगत् ईश्वर के द्वारा रचित है, दूसरा विकल्प यह था कि ईश्वर नाम का कोई पुरुष इस जगत् का रचयिता नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष (आत्मा) कर्तृत्व से रहित, निर्गुण, साक्षी व निर्लेप है। प्रकृति ही जगत् की विधात्री-कर्त्री-धर्त्री हो सकती है। यहाँ मूलपाठ में **'पहाणाइ'** शब्द है, उसका अर्थ है—प्रधान आदि। प्रधान प्रकृति को कहते हैं। आदि शब्द से प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति भी जगत् की कर्त्री है, ऐसे विभिन्न मतों को ग्रहण कर लेना चाहिए।

सर्वप्रथम ईश्वरकर्तृत्ववादियों की ओर से जो युक्तियाँ एवं प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें दे रहे हैं। मुख्यतया ईश्वरकर्तृत्ववादी तीन हैं—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक। वेदान्ती ईश्वर को ही जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण मानते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत श्रुतियों के प्रमाण ये हैं—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'सच्चत्यच्चाभवत्' सदिति पृथिवीजलतेजांसि प्रत्यक्षरूपाणि, त्यदिति वाय्वाकाशौ अप्रत्यक्षरूपौ।"

जिन (ब्रह्म=ईश्वर) से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उन सबका तादात्म्य (उपादान) कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। यहाँ जो कुछ भी है, वह सब बड़ी ब्रह्म (ईश्वर) है। जो भी सत् या त्यत् उत्पन्न होते हैं, वे सब ब्रह्मकृत हैं। सत् हैं - पृथ्वी, जल और तेज, जो प्रत्यक्षरूप हैं; और त्यत् हैं—वायु और आकाश, जो परोक्षरूप हैं। तथा—**'तदैक्षत: तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** [उसने (ब्रह्मा ने) देखा और जगत् का सर्जन करके उसी में अनुप्रविष्ट —लीन हो गया] **'एकोऽहं, बहुस्यामः प्रजायेय'** (मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, सृष्टि को पैदा करूँ) इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से भी यह बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त बादरायण व्यासरचित ब्रह्मसूत्र के **'जन्माद्यस्य यतः'** (सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते हैं, इसीलिए यही जगत् का उपादानकारण है, और निमित्तकारण भी।

उनकी ओर से निम्नलिखित अनुमानप्रमाण का प्रयोग भी किया जाता है—'ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है। जो चेतन होता है, वह कर्ता होता है, जैसे कुम्हार।' इस तर्क से भी वेदान्ती ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति में कर्तारूप कारण मानते हैं।

दूसरे कर्तृत्ववादी हैं—नैयायिक। नैयायिक मत आक्षपाद (अक्षपादऋषिकृत) मत कहलाता है। उस मत में महेश्वर (शिव) ही आराध्यदेव हैं। महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा उसका संहार करते हैं। महेश्वर की शक्ति का माहात्म्य अचिन्त्य है। उसी अचिन्त्य शक्ति से वे जगत का निर्माण और संहार करते हैं। नैयायिक जगत् को महेश्वरकृत सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग इस प्रकार करते हैं--पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, भुवन, इन्द्रिय, आदि सभी किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा किए गये हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे किसी न किसी बुद्धिमान के द्वारा ही किये जाते हैं, जैसे कि घड़ा। चूँकि यह जगत भी कार्य है, अतः यह भी किसी बुद्धिमान द्वारा निर्मित होना चाहिए। जो इस जगत् का रचयिता बुद्धिमान है, वही तो ईश्वर है। जो बुद्धिमान के द्वारा उत्पन्न नहीं किए गए, वे कार्य भी नहीं हैं, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

फिर वे ईश्वरकर्तृत्वसिद्धि के लिए भी तीन हेतु प्रस्तुत करते हैं—पहला यह है कि पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि किसी बुद्धिमानकर्ता ने सोच-समझ कर भिन्न-भिन्न आकारों में इन्हें बनाया है। जैसे घट, देवकुल और कूप आदि भिन्न-भिन्न आकार वाले पदार्थ सोकि न किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये जाते हैं वैसे ही जगत् का कर्ता कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असाधारण पुरुष-विशेष सिद्ध होता है। वह पुरुष-विशेष हम लोगों के समान साधारण पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि सारे विश्व के पदार्थों का निर्माण वही कर सकता है, जिसे उन सबके जनक-कारणों का सर्वतोमुखी ज्ञान हो। सर्वज्ञता के बिना विश्व के जनक-कारणों का ज्ञान होना असम्भव है। और बिना जाने कोई उनका यथायोग्य संयोग या प्रयोग भी नहीं कर सकता। जैसे कुम्हार को घड़ा बनाने में मिट्टी, पानी, चक्र आदि जनक-कारणों का ज्ञान है, तभी वह उन सबका यथायोग्य उपयोग कर लेता है वैसे ही विश्व के कार्यों के लिए उन सबके जनक-कारणों का ज्ञान होना आवश्यक है। और विश्व-रचना जैसे विशाल कार्य के जनक-कारणों का ज्ञान किसी साधारण पुरुष को हो नहीं सकता। अतः इस विश्व की रचना करने वाला सांसारिक जीवों से विलक्षण कोई पुरुष-विशेष अवश्य मानना चाहिए। वह पुरुष ईश्वर ही है।

दूसरा हेतु यह है कि पृथ्वी-समुद्र आदि कार्य हैं, इसलिए इनका कोई न कोई कर्ता अवश्य है। क्योंकि कर्ता के बिना कार्य नहीं हो सकता। जैसे घट आदि कार्य कुम्हार आदि के बिना नहीं होते। इसी तरह यह पृथ्वी, समुद्र आदि कार्य भी किसी कर्ता के बिना नहीं हो सकते। अतः इनका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। और वह कर्ता कोई साधारण पुरुष नहीं हो सकता। अतः असाधारण पुरुष ईश्वर ही है, जो विश्व-रचना सदृश असाधारण कार्य करता है।

तीसरा हेतु यह है - जैसे बसूला अपने आप कोई कार्य नहीं करता, किन्तु कारीगर जब चाहता है, तभी उसके द्वारा काम लेता है। इसी तरह पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि अपने आप कोई कार्य नहीं करते, किन्तु मनुष्य आदि प्राणी जब चाहते हैं, तब इनसे काम लेते हैं। अतः जैसे बसूला पराधीन प्रकृति वाला होने के कारण किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है इसी तरह पराधीन प्रवृत्ति वाले होने के कारण पृथ्वी आदि भी किसी के द्वारा किये हुए हैं। जिसने इन्हें किया है, वह ईश्वर है।

वह ईश्वर आकाश के समान समस्त जगद्व्यापी है। यदि ईश्वर को किसी नियत स्थान में रहने वाला मान लिया जाए तो वह विभिन्न देशवर्ती पदार्थों का निश्चित रूप से यथावत् निर्माण नहीं कर सकेगा। जैसे —एकदेशवर्ती कुम्हार अति दूर देश में घड़े को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः समस्त जगत में पदार्थों की प्रतिनियत रूप में उत्पत्ति ही ईश्वर को व्यापक सिद्ध कर देती है।

इसी प्रकार वह जगत्कर्ता ईश्वर नित्य है। क्योंकि यदि उसे अनित्य माना जाएगा तो ईश्वर अपनी उत्पत्ति में भी अन्य कारणों की अपेक्षा रखेगा, इसलिए वह कृतक हो जाएगा। कृतक वह होता है, जो अपनी उत्पत्ति में पर के व्यापार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा रखता है। यदि ईश्वर स्वयं अकृतक होकर भी जगत्कर्ता होगा तो उस ईश्वर को बनाने वाला अन्य कर्ता मानना पड़ेगा, वह भी अनित्य होगा तो उसे बनाने वाला भी अन्य कर्ता मानना होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अतः ईश्वर को नित्य ही मानना चाहिए।

नित्य मानकर भी उसे एक (अद्वितीय) मानना चाहिए। क्योंकि अनेक ईश्वर माने जाएँगे तो 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' की कहावत के अनुसार एक ही वस्तु को बनाने में सब अपनी-अपनी इच्छानुसार अलग-अलग डिजाइन एवं आकार-प्रकार का बनायेंगे, इसलिए किसी भी वस्तु में एकरूपता और सदृशता नहीं रहेगी। बहुनायकत्व होने पर अव्यवस्था और दिसंवादिता पैदा होगी। अतः एक ही ईश्वर मानना उचित है।

उक्त जगत्कर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ भी मानना चाहिए। अल्पज्ञ होगा तो उसे उत्पन्न किये जाने वाले कार्यों की रचना का सम्यक् परिज्ञान नहीं होने से पदार्थों का यथावत् निर्माण करना उसके लिए अत्यन्त कठिन होगा। सर्वज्ञ होने पर ही वह अल्पज्ञ प्राणियों को उनके अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों को भली-भाँति जान कर यथायोग्य नरक-स्वर्ग आदि में भेज सकेगा। संसारी प्राणियों को अपने कर्मों के फल का ज्ञान नहीं होता, वे अच्छे-बुरे कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, पर फल भोगने का उन्हें ज्ञान नहीं होता। परमेश्वर सर्वज्ञ होता है, वह उन्हें उनके-उनके कर्मानुसार फल भोगने के लिए विविध गतियों या योनियों में भेजता है। कहा भी है—

अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितोगच्छेत् स्वर्गंवाश्वभ्रमेव वा ।।

अर्थात्—यह अल्पज्ञ प्राणी अपने किये हुए कर्मों के सुख-दुःखफल को जानने में असमर्थ है, अतः उन फलों को भोगने के लिए ईश्वर के द्वारा प्रेरित (भेजा गया) ही वह स्वर्ग या नरक में जाता है।

फिर वह ईश्वर सर्वशक्तिमान भी होना चाहिए अन्यथा प्राणी उसके काबू में नहीं आएँगे, वे ईश्वर पर ही हावी हो जाएँगे। यह है नैयायिकों द्वारा मान्य ईश्वर द्वारा जगत्कर्तृत्ववाद का स्वरूप ! नैयायिकों का ईश्वर जगत् का उपादानकारण या समवायीकारण नहीं है। क्योंकि उपादानकारण तो कार्यरूप होता है, यदि ईश्वर को जगत् के जड़-चेतन पदार्थों का उपादानकारण माना जाता तो वह जड़ को बनाकर जड़मय बन जाता, चेतनावान नहीं रहता। यदि उसे जगत् का समवायीकारण माना जाता तो जैसे समवायीकारण अपने समानजातीय दूसरे गुणों को कार्यरूप में उत्पन्न करता है वैसे ही इस नियम के अनुसार ईश्वर में विद्यमान सर्वज्ञता का गुण उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा निर्मित जगत् में भी होता, पर जगत् में सर्वज्ञत्व गुण नहीं दिखता। अतः ईश्वर जगत् का समवायीकारण भी नहीं है। वह कुम्हार की तरह जगत् का निमित्तकारण है। निमित्तकारण ७ प्रकार का होता है—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण। इसमें से ईश्वर जगत् का कर्तारूप कारण है। वैशेषिकों की मान्यता भी ईश्वरकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में लगभग ऐसी ही है।

'पहाणाइ तहावरे' शास्त्रकार ने लोक के कर्तृत्व के विषय में अब सांख्यमतवादियों का विचार प्रस्तुत किया है कि वे मानते हैं कि जगत् ईश्वर का किया हुआ नहीं है। उनका तर्क यह है कि यह शब्दादि प्रपंचमय जगत् सुख-दुःख, मोह आदि से युक्त है अतएव इस प्रपंच का कारण (ईश्वर) भी सुख, दुःख और मोह आदि से युक्त होना चाहिए। चूँकि ईश्वर पुरुष (आत्मा) है, वह सुख-दुःख आदि प्रपंचों से दूर, निर्गुण, निष्क्रिय, साक्षी, निर्लेप और अकर्ता है। अतः वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। सुख-दुःख आदि सब प्रपंच प्रकृति के कार्य हैं। अतः वही जगत् का उपादानकारण है। सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए क्रिया में प्रवृत्त होती है। यहाँ आदि शब्द से यह ध्वनित होता है कि जगत् की उपादानकारण प्रकृति (प्रधान) है, उस प्रकृति से महान् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है और बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से सोलह **गण** (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पाँच तन्मात्राएँ ये १६ तत्त्व) उत्पन्न होते हैं, सोलह गणों में से पाँच तन्मात्राओं से पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस क्रम से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। मूल में प्रकृति के द्वारा महदादि क्रम से स्पष्टतः सृष्टि होती है।

हमने सांख्यदर्शन के २५ तत्त्वों का पिछले पृष्ठों में स्वरूप बताया है। वही यहाँ समझ लेना चाहिए।

अथवा **'आदि'** शब्द से काल, स्वभाव, नियति आदि के द्वारा यह जगत् कृत है। इन सबके स्वरूप का वर्णन भी पीछे हम कर आये हैं। एकान्तकालवादी काल को ही जीव-अजीवमय या सुख-दुःख से युक्त जगत् का कारण मानते हैं। एकान्तस्वभाववादी कहते हैं जगत् किसी कर्ता द्वारा किया हुआ नहीं है, अपितु स्वभावकृत है। एकान्तनियतिवादी कहते हैं—जैसे मोर के पंख नियतिवश रंग-बिरंगे व विचित्र होते हैं, वैसे ही यह समस्त विश्व नियति से उत्पन्न हुआ है, नियति-कृत है। इस प्रकार विभिन्न एकान्तभूतवादी जगत् की उत्पत्ति अपने-अपने मतानुसार बताते हैं।

'जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए'—ये दोनों लोक के विशेषण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई यह न समझ ले कि केवल पहाड़, समुद्र, रेगिस्तान आदि जड़ पदार्थरूप ही लोक है, किन्तु जड़-चेतनात्मक जीव और अजीव दोनों प्रकार के पदार्थों से यह विश्व (लोक) भरा हुआ है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गलरूप अजीव द्रव्यों से तथा जीव द्रव्यों (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक) से यह जगत् परिपूर्ण है। इतना ही नहीं, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से भी युक्त है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी है, कोई निर्धन है, इत्यादि अनेक विषमताओं से युक्त जगत् भी ईश्वर या अन्य किसी शक्ति द्वारा रचित है।[1]

अब लोक की रचना के सम्बन्ध में विष्णुकर्तृत्ववाद तथा मारकर्तृत्ववाद का दिग्दर्शन अगली गाथा में कराते हैं- -

मूल पाठ

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥७॥

संस्कृत छाया

स्वयम्भुवा कृतो लोक इत्युक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वतः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**सयंभुणा**) स्वयम्भू=विष्णु ने (**लोए**) यह सुख-दुःख समन्वित जीवाजीव-युक्त लोक (**कडे**) बनाया है, (**इति**) ऐसा (**महेसिणा**) हमारे महर्षि ने (**वुत्तं**) कहा है। (**मारेण**) यमराज ने (**माया**) यह माया (**संथुया**) रची है, (**तेण**) इसी कारण (**लोए**) यह लोक (**असासए**) अशाश्वत = अनित्य है।

भावार्थ

कई अन्यतीर्थीजन कहते हैं कि स्वयम्भू (विष्णु) ने लोक बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। तथा यमराज ने माया रची है, इसी कारण यह लोक अनित्य—परिवर्तनशील है, नाशवान है; अथवा परमार्थतः सत्य नहीं है।

---

१. आजकल ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने वाले वैदिकधर्मसम्प्रदायों के अतिरिक्त इस्लामधर्म, ईसाईधर्म आदि भी हैं। परन्तु वे भी इस बात को युक्तिहीन श्रद्धापूर्वक मानते हैं, उनके पास कोई विशेष तर्क या युक्तियाँ नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

जगत् की रचना : विष्णु और माया से

सयंभुणा कडे लोए— इस गाथा में विष्णुकर्तृत्ववाद एवं मायाकर्तृत्ववाद का स्वरूप बताया है। कई मतवादियों—खासकर वैष्णवों का कहना है कि यह जगत् विष्णु द्वारा रचित है। उन्हीं की लीला है। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, और विष्णु के अर्थ में भी। ब्रह्मा ने यह जगत् बनाया है, इस सम्बन्ध में हम पाँचवीं गाथा में विवेचन कर चुके हैं। यहाँ प्रसंगवश विष्णु अर्थ में स्वयम्भू शब्द है। उनका मत इस प्रकार है जो अपने आप होता है, उसे स्वयम्भू कहते हैं, ऐसा स्वयम्भू विष्णु है।[1] वह पहले एकाकी ही थे, अकेले ही रमण करते थे। उन्होंने दूसरे की इच्छा की। उनकी इस चिन्ता के पश्चात् ही दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई और उस शक्ति के होने के बाद ही इस जगत् की सृष्टि हुई।

कई दार्शनिक इस जगत् को विष्णुमय मानते हैं। संसार में विष्णु सर्वत्र व्यापक हैं। इस सम्बन्ध में वे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

"जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके :
ज्वालामालाकुले विष्णुः, सर्व विष्णुमयं जगत् ॥१॥
पृथिव्यामप्यहं पार्थ ! वायवग्नौ जलेऽस्म्यहम्।
सर्वभूतगतश्चाहं, तस्मात्सर्वगतोऽस्म्यहम्[2]" ॥२॥

अर्थात्—'जल में विष्णु है, स्थल में विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त स्थल में विष्णु है। सारा जगत् विष्णुमय है। 'हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी में भी हूँ, वायु, अग्नि और जल में भी मैं हूँ, और समस्त प्राणियों में मैं हूँ। इसलिए मैं सारे संसार में व्याप्त हूँ।'

विष्णु जगत् की रचना कैसे और कब से करते हैं ? इस सम्बन्ध में मार्कण्ड ऋषि की एक कथा मिलती है—

सो किल जलय समत्थेणुदएणेगन्नवम्मि लोगम्मि।
वीतो परंपरेण घोलंतो उदयमज्झम्मि ॥१॥
सो किल पेच्छइ सो तसथावरपणट्ठ सुरनरतिरिक्खजोणीयं।
एकन्नवं जगमिणं महभूयविवज्जियं पुहिरं ॥२॥

१. 'एकोऽहं बहुस्याम:' 'तस्मादेकाकी न रमते'। ये श्रुतिवचन प्रमाण हैं।
२. कहीं कहीं यह पाठ भी है – **"वनस्पतिगतश्चाहं सर्वभूतगतोऽप्यहम्।"**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवंविहे जगंमि पेच्छइ नग्गोहपायवं सहसा ।
मंदरगिरिव्व तुंगं, महासमुद्दं च विच्छिन्नं ॥३॥

खंधंमि तस्स सयणं, अच्छइ तहिं बालओमणभिरामो ।
संविद्धो सुद्धहियओ मिउकोमलकुंचियकेसो ॥४॥

हत्थो पसारिओ से महरिसिणो एह अत्थ भणिओ य ।
खंधं इमं विलग्गसु, मा मरिहिसि उदयबुड्ढीए ॥५॥

तेण य घेत्तुं हत्थे उ भोलिओ से रिसी तओ तस्स ।
पेच्छइ उदरंमि जयं ससेलवणकाणणं सव्वं ॥६॥

अर्थात्—सारा संसार जल के बढ़ जाने के कारण एक जलमय महासमुद्र हो गया। उस अथाह जलप्रवाह में लहरों की परम्परा के साथ बहते हुए मार्कण्ड ऋषि ने इस जगत् को त्रस, स्थावर, देव, मानव और तिर्यञ्चयोनि के जीवों को नष्ट हो जाने से महाभूतों से रहित महान् रूप एक महासमुद्र के रूप में देखा। साथ ही ऐसे प्रलयमय जगत् में सहसा उन्हें एक विशाल वटवृक्ष नजर आया, जो मंदराचल के समान ऊँचा और महासागर के समान विस्तीर्ण था। फिर उन्होंने उसके स्कन्ध पर एक मनोहर नयनाभिराम बालक को सोये हुए देखा, जिसका हृदय शुद्ध था, जो संवेदनशील (भावुक) था। उसके बाल अत्यन्त कोमल, चिकने और घुंघराले थे। उसने महर्षि की ओर हाथ फैलाया और कहा—"यहाँ आ जाओ। इस स्कन्ध को पकड़ लो। इससे तुम जल के बढ़ जाने पर भी मरोगे नहीं।" इसके बाद उसने (विष्णु ने) महर्षि का हाथ पकड़ कर अपने साथ मिला लिया। उस समय मार्कण्ड ऋषि ने उस बालक विष्णु के उदर में पर्वतों, वनों और काननों सहित सारे जगत् को देखा। तत्पश्चात् सृष्टि रचना के समय विष्णु ने सबकी रचना की। यह है, विष्णु द्वारा जगत् की रचना की रामकहानी।

'मारेण संथुया माया'—इस प्रकार वे विष्णु को जगत्कर्ता स्वीकार करते हैं। लेकिन फिर वे कहते हैं कि जब विष्णु लोक को उत्पन्न करके उसके भार से भयभीत[1] हुआ, तब उसने जगत् का संहार करने वाले मार=यमराज=मृत्यु की रचना की। यमराज ने माया बनाई। वास्तव में वह माया विष्णु की ही थी,[2] उस माया से जगत् को सम्मोहित करके यमराज जीवों को यथासमय मारने का काम करता है। यमराज की माया से इस प्रकार विनाश के कारण ही यह लोक नित्य

---

१. 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' —उपनिषद्
२. 'विष्णोर्माया भगवती, यया सम्मोहितं जगत्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है, नाशवान है।[1] इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'मारेण संथुया माया' अर्थात् यमराज ने माया रची और उसी माया के द्वारा यमराज सृष्टि की रचना करता है। यही शास्त्रकार का आशय है।

अब अगली गाथा में जगत् को अण्डे से उत्पन्न कहने वालों की मिथ्यावादिता प्रकट करते हैं —

मूल पाठ

माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

संस्कृत छाया

ब्राह्मणाः श्रमणाः एके, आह आहुरण्डकृतं जगत्।
असौ तत्त्वमकार्षीच्च, अजानन्तो मृषा वदन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ

(एगे) कई (माहणा समणा) तथाकथित माहन (ब्राह्मण) और श्रमण (जगे) जगत् को (अंडकडे) अण्डे के द्वारा कृत=उत्पन्न (आह) कहते हैं। तथा वे कहते हैं कि (य) और (असो) उस ब्रह्मा ने (तत्तं) पदार्थ समूह को (अकासी) बनाया; (अयाणंता) वस्तुतत्त्व को न जानने वाले वे (मुसं) ऐसे असत्य (वदे) कहते हैं।

भावार्थ

कई माहन (ब्राह्मण) और श्रमण यों कहते हैं कि यह जगत् अण्डे के द्वारा बनाया हुआ है। तथा वे कहते हैं कि ब्रह्मा ने तत्त्वसमूह की रचना की। वास्तव में वस्तुतत्त्व को न जानकर वे लोग झूठमूठ ही ऐसी गप्पें हाँकते हैं।

---

१. जैसा कि श्रुति में कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं, क इत्थं न वेद यत्र सः॥

अर्थात्— ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि जिसके भात (भोजन) हैं, और मृत्यु जिसके लिए शाकभाजी के समान है, ऐसे स्वयम्भू (विष्णु) को कौन यहीं जानता, जहाँ वह है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

अण्डे से रचित ब्रह्माण्ड की कहानी

'अंडकडे लोए'—इस गाथा में शास्त्रकार ने उस युग की एक विचित्र मान्यता जगत् की रचना के सम्बन्ध प्रस्तुत की है। वह इस प्रकार है—

यह सम्पूर्ण चराचर लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा है कि "पहले जगत् पंचमहाभूतों (पृथ्वी आदि) से रहित था। वह एक गहन महासमुद्र रूप था। उसमें केवल जल ही जल था। उसमें से एक विशाल अण्डा प्रादुर्भूत हुआ। चिरकाल तक वह अण्डा लहरों में इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा। फूटने पर उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़े से भूमि और दूसरे से आकाश बना। बाद में उसमें से सुर (देव), असुर (दानव), मानव और चौपाये, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ है। इसी तरह जल, तेज, वायु, समुद्र, नदी और पर्वत आदि सभी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अण्डे से बना हुआ ही यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) है।

'माहणा समणा एगे आह'- इस प्रकार की प्ररूपणा कई माहन (ब्राह्मणों) तथा त्रिदण्डी आदि श्रमण एवं कुछ पौराणिक लोग करते हैं, सब नहीं। यह बताने के लिए इन शब्दों का प्रयोग शास्त्रकार ने किया है।

'असो तत्तमकासी च'—फिर उन्होंने यह कहा कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकाररूप, अज्ञात, अविलक्षण, तर्क का अविषय तथा अज्ञेय था, मानों चारों तरफ से सोया हुआ-सा था। इत्यादि क्रम से ब्रह्मा ने अण्डा आदि क्रम से सम्पूर्ण जगत् को बनाया। इस क्रम का वर्णन पाँचवीं गाथा में **'बंभउत्तेति'** के प्रसंग में हम कर चुके हैं।

'अयाणंता मुसं वदे'—पूर्वोक्त दोनों मत (अण्डे से जगत् की उत्पत्ति तथा ब्रह्मा से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति) कितने हास्यास्पद हैं। कितनी युक्तिहीन अनर्गल कल्पना है? यह शास्त्रकार स्वयं अगली गाथा में बतायेंगे। लोक की उत्पत्ति के विषय में ऐसी ऊटपटांग कल्पना, वे ही लोग कर सकते हैं, जो वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ एवं तत्त्वज्ञान से शून्य हों। इसलिए ऐसी ऊटपटांग कल्पना करके वे झूठ-मूठ ही अण्डे से या ब्रह्मा से जगत् का निर्माण बताते हैं। वस्तुतत्त्व तो कुछ और ही है, परन्तु वे इसे जाने बिना ही या तत्त्वज्ञानियों से जिज्ञासापूर्वक समझे बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही लोगों की जिज्ञासा को किसी तरह शान्त करने के लिए इस प्रकार की मिथ्या-प्ररूपणा करके गुमराह करते हैं। वे एकान्तमताग्रही होकर ही इस प्रकार की झूठी बातें बनाते हैं।

अब जगत् की रचना के विषय में पूर्वगाथाओं में उल्लिखित विभिन्न मतों का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

सएहिं परियाएहिं लोयं बूया कडेति य ।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥९॥

संस्कृत छाया

स्वकैः पर्यायैर्लोकमब्रुवन् कृतमिति च ।
तत्त्वं ते न विजानन्ति, न विनाशी कदाचिदपि ॥९॥

अन्वयार्थ

(**सएहिं**) अपने अपने (**परियाएहिं**) अभिप्रायों के अनुसार (**लोयं**) लोक को (**कडेति य**) कृत=रचित (**बूया**) जो बताते हैं, (**ते**) वे (**तत्तं**) वस्तुतत्त्व को (**ण**) नहीं (**विजाणंति**) जानते। क्योंकि यह लोक (जगत्) (**कयाइवि**) कभी भी (**विणासी**) विनाशी (**ण**) नहीं है।

भावार्थ

पूर्वोक्त देवोप्त, ब्रह्मोप्त, ईश्वरकृत, प्रकृतिकृत, अण्डकृत, ब्रह्माकृत, स्वयम्भूकृत, मारकृत, इत्यादि विभिन्न मतवादी अपने-अपने माने हुए अभिप्रायों के अनुसार लोक (जगत्) को रचित (कृत) बताते हैं। परन्तु वे सब वस्तुस्वरूप को नहीं जानते। क्योंकि यह जगत् कदापि विनाशवान नहीं है, अपितु शाश्वत है।

व्याख्या

जगत् की रचना के सम्बन्ध में पूर्वोक्त मतों का खण्डन

'सएहिं परियाएहिं लोयं'—शास्त्रकार के द्वारा प्रयुक्त यह पंक्ति सूचित करती है कि पूर्वोक्त अन्यदर्शनियों को अपनी-अपनी परम्परा से जो कुछ विचारधारा मिल गई है, उसकी सत्यासत्यता पर वे कोई विचार करना नहीं चाहते। इतना ही नहीं, वे एकान्तमताग्रह के चक्कर में पड़कर जो बात जिस रूप में उन्होंने पकड़ ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो पकड़ ली उस पर तटस्थ दृष्टि से विचार नहीं करते, न करना चाहते हैं। बस, वे अपनी-अपनी युक्तियों के बल से कहते हैं— हमारे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरा मत सत्य नहीं है। वास्तव में पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अपनी-अपनी स्वच्छन्द कल्पना से अपनी-अपनी युक्तियों द्वारा अपनी-अपनी बातें सिद्ध करते हैं। हम यहाँ उनसे चुनौती देकर पूछते हैं कि क्या वास्तव में जगत् वैसा ही या उनके द्वारा ही रचित है, जैसा वे मानते हैं ? आइए, हम उनमें से प्रत्येक मत की कुछ समीक्षा कर लें—

देवोप्तवादियों का मिथ्यात्व – देवोप्तवादी इस लोक को देवकृत बताते हैं, यह सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि यह लोक देवकृत है, इस विषय में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं दिया गया है। जो बात प्रमाणविरुद्ध केवल कल्पना के सहारे कही जाती है, विद्वानों के मन को समाहित या सन्तुष्ट नहीं कर सकती। हम पूछते हैं कि जिस देव ने इस लोक को बनाया है, वह देव स्वयं उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है अथवा उत्पन्न हुए बिना ही बनाता है ? वह उत्पन्न हुए बिना तो इस लोक को बना नहीं सकता, क्योंकि जो उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह गधे के सींग की तरह स्वयं विद्यमान नहीं है, तब दूसरों को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? अगर वह देव उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होता है, अथवा किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जाता है ? यदि कहो कि वह अपने आप ही उत्पन्न होता है तो इस लोक को ही अपने आप ही उत्पन्न क्यों नहीं मान लेते ? यदि कहते हो कि वह देव किसी दूसरे देव से उत्पन्न होकर इस लोक को बनाता है, तो वह दूसरा देवता भी किसी तीसरे देवता द्वारा उत्पन्न होगा और वह तीसरा देवता भी किसी चौथे देवता से उत्पन्न होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। देवकृत लोक वाली बात किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि कहो कि वह देव अनादि होने के कारण उत्पन्न नहीं होता तो इसी तरह इस लोक को ही अनादि क्यों नहीं मान लेते ? तथा जिस देव ने इस जगत् को बनाया है, वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो अर्थक्रिया के साथ विरोध होने के कारण वह न तो एकसाथ क्रियाओं का कर्ता हो सकता है और न ही क्रमशः कर्ता हो सकता है। क्योंकि जो पदार्थ नित्य है, उसका स्वभाव नहीं बदलता है, और स्वभाव बदले बिना पदार्थ से क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं। अतः सदा एक से स्वभाव वाला देव न तो एकसाथ क्रियाओं को कर सकता है, और न ही क्रमशः कर सकता है। यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण वह अपनी रक्षा भी स्वयं करने में समर्थ नहीं है तो फिर वह किसी दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है ? फिर यह भी प्रश्न होता है कि जो देव इस लोक को बनाता है, वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है, तब तो आकाश की तरह वह अकर्ता ही रहेगा, यदि वह मूर्त है, तो कार्य की उत्पत्ति के लिए साधारण पुरुष के समान उसे भी उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। ऐसी दशा में वह समस्त जगत् का कर्ता नहीं हो सकेगा, यह स्पष्ट है। यह लोक देव के द्वारा गुप्त (देवरक्षित) है या देवपुत्र है, यह मत तो अपने आप ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब देवकृत जगत् ही सिद्ध नहीं हुआ, तब देवगुप्त या देवपुत्र सिद्ध होना तो दूर की बात है।

इसी प्रकार जगत् को ब्रह्मा द्वारा रचित बताना भी इन्हीं पूर्वोक्त दोषों और आपत्तियों से परिपूर्ण है।

ईश्वरकृतवादियों का कथन युक्तिविरुद्ध

ईश्वरकारणवादियों ने जो युक्तियां ईश्वर को जगत्कर्ता होने के लिए दी हैं, वे भी निम्नलिखित युक्तियों से असिद्ध हो जाती हैं। उन्होंने जो अनुमान प्रयोग किया है, वह भी गलत है। घट-पट, मठ आदि को देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि ये सब किसी कर्ता द्वारा निर्मित हैं। क्योंकि ये कार्य हैं, परन्तु यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि ये घटपटादि अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित हैं। क्योंकि जो कार्य हैं वे सब कर्ता द्वारा किये हुए हैं, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति कारण में गृहीत होती है, किन्तु जो-जो कार्य होता है, वह अमुक व्यक्ति के द्वारा निर्मित होता है, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण में गृहीत नहीं होती। घट को देखकर यही कहा जा सकता है कि इसे कुम्हार ने बनाया है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसे अमुक-अमुक नाम के कुम्हार ने बनाया है। इसी तरह जगत् को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह जगत् कारण से उत्पन्न हुआ है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह जगत् अमुक विशिष्ट कारण से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि कार्य की व्याप्ति विशिष्ट कारण में नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि जो व्यक्ति यह जानता है, जिसने प्रत्यक्ष देखा है कि अमुक कार्य अमुक व्यक्ति ही करता है, दूसरा नहीं कर सकता है, वह व्यक्ति उस कार्य को देखकर, उसके कर्ता उस विशिष्ट व्यक्ति का अनुमान कर सकता है, परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृष्ट है, उसमें यह प्रतीति कदापि नहीं हो सकती। अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी किसी से देखा ही नहीं गया है, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान कैसे किया जा सकता है। यदि यह कहें कि घट को देखकर उसके कर्ता—कुम्हार का अनुमान किया जाता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह कुम्हार एक विशिष्ट जाति का पदार्थ है, इसी तरह जगत् को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता—ईश्वर का भी अनुमान किया जा सकता है। यह भी युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि घट एक विशेष प्रकार का कार्य है, और उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिए घट को देखकर कुम्हार का अनुमान किया जा सकता है, परन्तु जगत् को देखकर ईश्वर का अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि घट को बनाता हुआ कुम्हार जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उस तरह नदी, समुद्र, पर्वत आदि को बनाता हुआ कोई बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) कभी प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता। अतः जगत् को देखकर विशिष्ट बुद्धिमान कर्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के द्वारा बनाए हुए हैं'। यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नहीं होता कि हर चीज को बनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्ता ही हो। आकाश में बादल बुद्धिमान कर्ता के बिना भी बनते और बिखरते हुए दिखाई देते हैं। बिजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए बिना ही उगती है, वर्षा ऋतु में पानी बरसता है, शरद ऋतु में ठण्ड और ग्रीष्म ऋतु में गरमी आदि बिना ही किसी बुद्धिमान के पड़ती है। उनके पीछे कोई भी उन पदार्थों के कार्यों को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। पदार्थों की उत्पत्ति और नाश तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो कोई दिखाई नहीं देता।

यह तर्क भी निराधार है कि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से घटादि पदार्थ जैसे बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हैं, वैसे ही विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से पर्वतादि पदार्थ भी बुद्धिमान कर्ता (ईश्वर) द्वारा निर्मित हैं; क्योंकि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने मात्र से सभी पदार्थ बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हों, यह प्रतीति नहीं होती है। यदि ऐसा माना जाएगा तो वल्मीक (दीमक द्वारा निर्मित मिट्टी का ढेर) भी मिट्टी की विशिष्ट अवयवरचना से युक्त होने से घट के समान कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ सिद्ध हो जाएगा। इसी तरह अवयवरचना-मात्र देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि जो-जो अवयवरचनायुक्त है, वह सब बुद्धिमान कर्ता द्वारा किया हुआ है। किन्तु जिस अवयवरचना का बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित होना जाना-देखा जा चुका है, उसी अवयवरचना को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान किया जा सकता है, केवल अवयवरचना को देखकर नहीं। तथा अवयवरचना को देखकर ईश्वर का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि घटादि पदार्थों की अवयवरचना का विशिष्ट कर्ता कुम्हार ही देखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, ईश्वर नहीं। यदि घटादि का कर्ता भी ईश्वर है तो फिर कुम्हार की क्या आवश्यकता है ?

यदि कहें कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से निमित्तरूप में घटादि रचना में अपना व्यापार करता है, तो इस प्रकार दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना का प्रसंग आएगा, क्योंकि घट का कर्ता कुम्हार प्रत्यक्ष उपलब्ध (दृष्ट) होता है, उसे न मानना दृष्ट की हानि है। और घट बनाता हुआ ईश्वर कभी नहीं देखा जाता, उसे घट का निमित्त मानना अदृष्ट की कल्पना है। कहा भी है—

शस्त्रौषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे ।
असम्बद्धस्य किं स्थाणोः कारणत्वं न कल्प्यते ?

अर्थात्— चैत्र नामक पुरुष के घाव भरने में शस्त्रक्रिया (नश्तर लगाने) एवं औषध के लेप ही कारण थे, दूसरे पदार्थ कारण नहीं थे, परन्तु उस घाव के साथ जिसका कोई सरोकार नहीं है, ऐसे ठूंठ को घाव भर जाने का कारण क्यों नहीं मान लेते ? अतः जिस वस्तु का जो कारण प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसे कारण न मानकर जो उसका कारण नहीं देखा जाता, उसे उसका कारण मानना सर्वथा अन्याय है।

इसके अतिरिक्त देवालय, भवन आदि का जो कर्ता है, वह सावयव, अव्यापक परतन्त्र और अनित्य देखा जाता है, इस दृष्टान्तानुसार तो ईश्वर यदि जगत् के पदार्थों का कर्ता माना जायेगा तो वह भी सावयव, अव्यापक, परतन्त्र और अनित्य ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत निरवयव, व्यापक और नित्य ईश्वर की सिद्धि के लिए कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, इसलिए व्याप्ति की सिद्धि न होने से निरवयव, व्यापक और नित्य ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता।

जिस प्रकार कार्यत्व हेतु ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकता, वैसे ही पूर्वोक्त अन्य हेतु भी ईश्वर के कर्मत्व सिद्धि के लिए समर्थ नहीं हैं।

यदि प्रतिवादी यों कहें कि ईश्वर अमूर्त और अदृश्य है, इसलिए कैसे दिखाई दे सकता है ? वह हमारी स्थूल आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होता, तब हम पूछते हैं कि वह ईश्वर शरीरधारी है या शरीररहित ? यदि शरीररहित है, तब तो वह सृष्टि के पदार्थों को कैसे बनाएगा ? बिना शरीर या हाथ-पैर आदि अवयव के तो वह कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा ? यदि कहें कि वह शरीरधारी है तो उसका शरीर नित्य है या अनित्य ? उसे नित्य तो नहीं कह सकते, क्योंकि वह अवयवसहित है। जो पदार्थ अवयवयुक्त (खण्ड के रूप में) होते हैं, वे सब घट-पटादि की तरह अनित्य होते हैं। ईश्वर का शरीर भी सावयव मानने पर वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है कि वह किसके द्वारा बनाया हुआ है? यदि कहें कि ईश्वर ने अपने शरीर को स्वयं ही बनाया है, तब तो उसके पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे के शरीर को पैदा करने के लिए उसके पूर्व-पूर्व के शरीर मानने पड़ेंगे। इसी तरह लगातार शरीर मानते जाने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा। ऐसी दशा में कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

'ईश्वर जीवों को अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार फल भुगताता है, वही अज्ञ जीव को फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक भेजता है, यह कथन भी असत्य सिद्ध होता है, क्योंकि पहले आप यह बतायें कि ईश्वर जब सृष्टिरचना करता है, तब जीव कर्मरहित होते हैं या कर्मसहित? यदि कहें कि वे कर्मरहित थे तो उन कर्मों को किसने बनाया? यदि कहें कि कर्म तो उन-उन आत्माओं ने स्वयं ही बनाए हैं तो आपका कार्यरूप हेतु दूषित हो जाता है। आपका मानना है कि जितने भी कार्य होते हैं, वे सब ईश्वर के किये हुए होते हैं। यदि कहें कि वे सभी कर्म भी ईश्वर ने ही बनाए हैं, तब तो ईश्वर की दयालुता पर बहुत बड़ा आक्षेप यह आता है कि ईश्वर ने उन शुद्ध और सुखी आत्माओं को व्यर्थ ही कर्मों से लिपटाकर अशुद्ध और दुःखी क्यों बना दिया? क्या यही उसकी दयालुता है?

यदि कहें कि ईश्वर ने सृष्टि की आदि में सुमार्ग पर गमन और कुमार्ग से बचने का उपदेश देकर जीवों को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी, परन्तु वह ईश्वर सर्वज्ञ और दयालु परमपिता होते हुए भी अपने पुत्र-जीव को कुमार्ग पर जाते हुए रोकता क्यों नहीं? परमदयालु ईश्वर पिता सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होते हुए भी अपने पुत्रों को अन्यायपथ पर जाते पर देखकर भी आँखें कैसे मूँद सकता है? अतः नैयायिकों का यह कथन भी सत्य से कोसों दूर है।

अतः निरंजन, निराकार, निर्लेप, निर्विकार ईश्वर को कर्मफल भुगवाने के पचड़े में या जगत् की रचना करने के पचड़े में डालने से उस पर पक्षपात, दयाहीनता, अन्याय, अविवेक आदि अनेक आक्षेप आते हैं।

इन सब युक्तियों से ईश्वरकर्तृत्ववाद की असत्यता सिद्ध हो जाती है।

प्रधानकृत लोक : असत्य मान्यता

पहले सांख्यदर्शन का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया था कि यह लोक प्रधानादिकृत है, इत्यादि कथन भी सर्वथा असंगत है। क्योंकि प्रश्न होता है वह प्रधान (प्रकृति) मूर्त है या अमूर्त है? यदि वह अमूर्त है तो उससे मूर्तिमान समुद्र पर्वत आदि उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि अमूर्त आकाश से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इसलिए मूर्त और अमूर्त का परस्पर कार्यकारण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव विरुद्ध है। यदि वह प्रधान मूर्त है तो वह स्वयं किससे उत्पन्न हुआ ? उसे स्वयं उत्पन्न तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा कहोगे तो फिर इस लोक को भी स्वयं उत्पन्न क्यों नहीं मान लेते ? यदि कहो कि वह प्रधान दूसरे से उत्पन्न है, तब तो दूसरे को उत्पन्न करने के लिए तीसरे की और तीसरे के लिए चौथे की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आ पड़ेगा। अतः जैसे उत्पन्न हुए बिना ही प्रधान को अनादिभाव से स्थित मानते हो तो, इसी तरह लोक को ही अनादिभाव से स्थित क्यों नहीं मान लेते ? सांख्यदर्शन का मानना है कि प्रधान अविकृत है, सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था ही प्रधान है, किन्तु उस अविकृत प्रधान से महत् (बुद्धि) आदि तत्त्वों की उत्पत्ति मानना तो विकृति है। इसलिए विकृत प्रधान से महद् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति मानना, सांख्यमत के लिए जैसे अभीष्ट एवं संगत नहीं है, वैसे ही अविकृत प्रधान से विकृत लोक की उत्पत्ति मानना भी अभीष्ट नहीं हो सकता।

प्रकृति अचेतन है, वह चेतन पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकती है, कैसे प्रवृत्त हो सकती है; जिससे आत्मा का भोग सिद्ध होकर सृष्टिरचना हो सके।

यदि कहें कि अचेतन होने पर भी प्रकृति का यह स्वभाव है, कि वह पुरुष (आत्मा) का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होती है, तब तो प्रकृति से स्वभाव ही बलवान ठहरा, जो प्रकृति को भी अपने नियंत्रण में रखता है।

अगर ऐसा है तो आप स्वभाव को ही जगत् का कारण क्यों नहीं मान लेते, अदृष्ट प्रकृति आदि की हवाई कल्पना करने का क्या प्रयोजन है ?

अतः इन युक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रधान जगत् का कर्ता नहीं हो सकता।

स्वभाव, नियति आदि कथञ्चित् जगत् के कारण

सांख्यदर्शन वाले यह आक्षेप करते हैं कि स्वभाववादी भी तो स्वभाव को जगत् का कारण मानते हैं ? जैनदर्शन कहता है कि एकान्तरूप से स्वभाव को जगत् का कारण मानना हमें इष्ट नहीं है, किन्तु कथञ्चित् स्वभाव को जगत् का कारण मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं। यदि स्वभाव का यह अर्थ किया जाय कि स्वयं अपनी भाव=उत्पत्ति, तो इस दृष्टि से स्वभाव को जगत् का कारण मानने में जैनदर्शन को कोई आपत्ति नहीं। तथा नियतिवादियों ने जो एकान्तरूप से जगत् को नियतिकृत माना है, वह हमें अभीष्ट नहीं है, किन्तु कथञ्चित् नियति को जगत् का कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानने में कोई दोष नहीं है। अथवा गहराई से सोचें तो नियति भी स्वभाव से अतिरिक्त नहीं, क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा होना, नियति है।

स्वयम्भूरचित लोक : असत्य मान्यता—पहले जो यह कहा गया था—'यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है', यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। अब यह है कि 'स्वयम्भू' शब्द का अर्थ क्या है? जिस समय वह स्वयम्भू होता है, उस समय वह दूसरे किसी कारण की अपेक्षा किये बिना क्या स्वतन्त्र रूप से होता है, इसलिए वह स्वयम्भू कहलाता है अथवा वह अनादि है, इसलिए स्वयम्भू कहलाता है? यदि वह अपने आप होने के कारण स्वयम्भू कहलाता है, तो इसी तरह इस लोक को भी अपने आप होना क्यों नहीं मान लेते? उस स्वयम्भू की क्या आवश्यकता है? यदि वह स्वयम्भू अनादि होने के कारण स्वयम्भू कहलाता है, तो वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि जो अनादि होता है, वह नित्य होता है और नित्य पदार्थ सदा एकरूप होता है। इसलिये वह नित्य स्वयम्भू जगत् का कर्ता नहीं हो सकता।

यदि स्वयम्भू वीतराग है, तो वह इस विचित्र जगत् का कर्ता नहीं हो सकता और यदि वह सराग है तो हम लोगों के समान होने से वह विश्व का कर्ता नहीं हो सकता। फिर वह स्वयम्भू यदि अमूर्त है तो वह मूर्त जगत् का कर्ता नहीं हो सकता, यदि वह मूर्त है तो उसके उत्पत्तिकर्ताओं की परम्परा माननी पड़ेगी, अतः अनवस्था दोष आ पड़ेगा।

मार द्वारा जगत्कर्तृत्व का खण्डन—यह जो कहा गया था कि 'स्वयम्भू ने मार (यमराज) को उत्पन्न किया, जो माया के द्वारा लोक का संहार करता है,' यह भी उन्मत्त प्रलाप के समान असंगत कथन है। जब स्वयम्भू ही जगत् का कर्ता सिद्ध नहीं हो सका तो यमराज और माया तो उसकी सन्तानें हैं, उनका अस्तित्व ही कहाँ से हो जायेगा?

अण्डे से जगत् की उत्पत्ति भी असत्य प्रलाप—जो यह मानते हैं कि 'अण्डे से जगत् की उत्पत्ति हुई है,' वह भी असंगत है। जब जगत् पंचमहाभूतों से बिलकुल रहित था, उसमें कोई भी चीज नहीं थी, तब अण्डा कहाँ से आया? और पानी भी कहाँ से आया? फिर जिस जल में उस स्वयम्भू ने अण्डा उत्पन्न किया वह जल जैसे अण्डे के बिना ही उत्पन्न हो गया था, उसी तरह यह लोक भी अण्डे के बिना उत्पन्न हुआ मान लें तो क्या हर्ज है? यदि यह कहें कि अण्डा और पानी पहले से ही थे और उनके सिवाय वहाँ और कोई चीज नहीं थी, तो भूमि और आकाश ये दो महाभूत कहाँ से टपक पड़े? और आपके कथनानुसार बाद में पंचमहाभूतों के अभाव में देव, दानव, मानव और पशु-पक्षी आदि कहाँ से पैदा हो गए?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा वह ब्रह्मा जब तक अण्डा बनाता है, तब तक वह इस लोक को ही क्यों नहीं बना देता ? अतः युक्तिविरुद्ध अण्डे की टेढ़ी-मेढ़ी कष्टदायी कल्पना से क्या मतलब ? इसलिए ये सब ऊटपटाँग कल्पनाएँ प्रमाणबाधित होने से अमत्य हैं।

ब्रह्मा द्वारा सृष्टिरचना की मान्यता भी गलत— यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मा अण्डे के बिना ही सृष्टि उत्पन्न करता है। जैसे कि उन्होंने कहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत, बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

अर्थात्—ब्रह्माजी के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

यह कथन भी अनुभवविरुद्ध होने से मिथ्या है। क्योंकि आज तक मुख से किसी की उत्पत्ति नहीं देखी गई। यदि ऐसा होने लगेगा तो ब्राह्मणादि वर्णों का परस्पर भेद नहीं रहेगा, क्योंकि वे सभी (वर्ण के) लोग एक ही ब्रह्मा से उत्पन्न होंगे। तथा ब्राह्मणों में भी कठ, तैत्तिरीयक और कलाप आदि भेद भी नहीं रहेगा, क्योंकि सभी एक ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होंगे। फिर तो ब्राह्मणों में उपनयन, विवाह आदि संस्कार नहीं हो सकेंगे। ऐसी दशा में बहन के साथ ही विवाह होने लगेंगे। इस प्रकार के अनेक दोष होने के कारण ब्रह्मा के मुख आदि से सृष्टि की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।

विष्णु द्वारा सृष्टिरचना का मत भी युक्तिहीन—विष्णु द्वारा सृष्टिरचना का मत भी युक्तिसंगत नहीं है। विष्णुकृत जगत् मानने वालों से पूछा जाय कि सृष्टि रचने से पहले जब कुछ भी नहीं था, तो विष्णु कहाँ रहे ? यदि कहें कि जल था, तो प्रश्न होता है, जल को किसने बनाया ? यदि कहें कि उसे किसी ने नहीं बनाया, वह तो स्वयमेव अनादिकाल से निर्मित है, तब पृथ्वी आदि समस्त पदार्थों को अनादिकाल से स्वयंनिर्मित क्यों नहीं मान लिया जाए ? विष्णु ने तपस्या की इससे मालूम होता है, विष्णु कर्मविशिष्ट और शक्तिविहीन थे, इसलिए कर्मक्षय करने एवं शक्ति सम्पादन करने के लिए उन्होंने तप किया। ऐसी दशा में विष्णु भी हमारे ही जैसे कर्मविशिष्ट, अल्पज्ञ और असमर्थ सिद्ध होंगे।

यह एक अनुभवयुक्त तथ्य है कि कोई भी वस्तु केवल इच्छा करने मात्र से या ज्ञानमात्र से उत्पन्न नहीं हो जाती। उसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता भी होती है। थोड़ी देर के लिए हम यों मान भी लें कि विष्णु में सृष्टिरचना के लिए इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न तीनों थे, तो भी उपादानकारण के बिना कार्य कदापि नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता। प्रत्येक वस्तु का उपादानकारण पहले सिद्ध होना चाहिए। लेकिन वह सिद्ध नहीं होता।

जब विष्णु ने ब्रह्मा को पैदा किया और ब्रह्मा ने आठ जगन्माताएँ बनाईं तथा उन माताओं ने देव, दानव आदि को जन्म दिया, तब विष्णु, ब्रह्मा आदि ने क्या उनके शरीर और आत्मा दोनों को पैदा किया था या केवल शरीर को ही? यदि आत्मा को पैदा किया तो उसका उपादानकारण कौन था? यदि कहें कि उनकी आत्माएँ तो पहले से ही थीं तो भी प्रश्न होता है, उन आत्माओं को किसने बनाया? इत्यादि रूप में उत्तरोत्तर इसी प्रकार प्रश्नों की झड़ी एक के बाद एक लगी रहेगी, जिससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि कहें कि ब्रह्मा, विष्णु आदि ने तो उनके शरीर को ही बनाया, उनकी आत्माएँ तो अनादिकाल से थीं, तब हम पूछते हैं कि उन आत्माओं के साथ कर्म लगे हुए थे या नहीं? यदि कहें कि कर्म लगे हुए नहीं थे, वे तो बिलकुल शुद्ध, कर्मरहित थीं, तब तो उनके साथ कर्म लगा कर, उन्हें अशुद्ध करके संसार में विविधयोनियों में जन्म देने वाले विष्णु, ब्रह्मा आदि दयालु कैसे हो सकते हैं? दूसरों को कर्मबन्धन के घोर संकट में डालने वाले दयालु, पूज्य और महान् कैसे हो सकते हैं?

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह होता है कि विष्णु ने सृष्टिरचना किस प्रयोजन से की? स्वभाववश की या क्रीड़ा (लीला) वश की या इच्छावश की या दयालुता से प्रेरित होकर की? यदि स्वभाववश सृष्टि रचना मानें तो यथार्थ नहीं है, क्योंकि स्वभाव से जो कार्य होता है, वह सदा होता है, एक सरीखा होता है। जैसे अग्नि स्वभाव से ही दाह उत्पन्न करती है। जब तक अग्नि रहेगी, तब तक दाह उत्पन्न करती रहेगी, वैसे ही विष्णु यदि स्वभाववश सृष्टि रचता है, तब तो वह सतत ब्रह्मा आदि की एक-सी उत्पत्ति करता रहेगा। परन्तु आप ऐसा नहीं मानते, विष्णु तो ब्रह्मा को पैदा करके शान्त हो गए। अतः स्वभाव से सृष्टिरचना मानना यथार्थ नहीं। यदि विष्णु क्रीड़ा (लीला) वश सृष्टि रचना करते हैं, ब्रह्मा आदि को बनाते हैं, तो विष्णु जो आनन्दमय परमात्मा माने जाते हैं, उन्हें क्रीड़ा करने की क्या आवश्यकता है? क्रीड़ा तो क्षुद्रप्राणा किया करते हैं। यदि वह इच्छावश जगत् की रचना करते हैं, तो इच्छा तो कर्मविशिष्ट अल्पज्ञ जीव में होती है, क्योंकि इच्छा कर्म का कार्य है। कर्मोदय के बिना इच्छा नहीं होती। विष्णु की इच्छा मान भी ले तो भी उनकी यह इच्छा नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो उसका कार्य भी नित्य निरन्तर होता रहेगा, कभी उस कार्य में विराम नहीं होगा। अगर अनित्य है, तो उसका कौन-सा कारण है? कर्म कारण है या अन्य कोई कारण है? कर्म के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य कोई वस्तु विष्णु के सिवा सृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आदि में थी नहीं। कर्म को कारण मानने पर विष्णु कर्मविशिष्ट सिद्ध होगा। इस प्रकार के पूर्वोक्त दूषण उपस्थित होंगे। यदि दयालुता से प्रेरित होकर विष्णु सृष्टि बनाते हैं, तब तो यह कथन भी उपहास का विषय होगा। सृष्टि से पहले जब कोई प्राणी था ही नहीं, तब दया किस पर की गई? मान लो, विष्णु दयालु हैं, इसलिए उन्होंने प्राणियों को पैदा किया, तब तो उन्हें दया करके सभी प्राणियों को सुखी, परस्पर सहयोगी और साधनसम्पन्न बनाना चाहिए था? उन्होंने दुःखी, कर्म-बन्धनग्रस्त तथा देव और दानव, नकुल और सर्प, गरुड़ और नाग आदि परस्पर शत्रु-जीवों को क्यों बनाया? इसलिए विष्णुकृत लोक की कल्पना सत्य से कोसों दूर है।

तत्तं ते ण विजाणंति—प्रश्न होता है, पूर्वोक्त मतवादी इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातें जगत् की रचना के सम्बन्ध में क्यों करते हैं? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**तत्तं ते ण विजाणंति**।' तात्पर्य यह है कि वे मतवादी लोग लोक के वास्तविक स्वरूप को जानते ही नहीं। '**बाबावाक्यं प्रमाणम्**' के अनुसार परम्परा से उनके पूर्वजों ने जो कुछ कह दिया, उसी को वे आँखें मूँदकर प्रमाण मानकर चलते हैं, उससे जरा-सी भी इधर-उधर की बात न सुनना चाहते हैं और न ग्रहण करना चाहते हैं। जो अपनी मानी हुई मतपरम्परा से मिल गया उसी को सत्य मान लिया। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि वे पूर्वोक्त मतवादी जो भी मन में आया या मतपरम्परा से मिला उसी की मिथ्याप्ररूपणा करते रहते हैं। लोकरचना के सम्बन्ध में भी वे असत्यप्ररूपणा करते हैं।

'**णासी कयाइ वि**'- पूर्वोक्त मतवादी लोक को किसी न किसी का कार्य मानते हैं, इस कारण वे लोक को अनित्य, विनाशी एवं अशाश्वत मानते हैं। किन्तु लोक विनाशी या अशाश्वत नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो यह लोक द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। प्रवाहरूप में यह लोक अनादि-अनन्त है। कदाचित् छठे आरे के अन्त में अधिकांश वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी, तो भी जड़ और चेतन से युक्त वस्तुएँ पूर्णरूप से नष्ट नहीं होंगी। जैसे अन्यमतवादी प्रलयकाल मानकर उस काल में जगत् का सर्वथा विनाश मानते हैं, वैसा जैनदर्शन नहीं मानता। यह पर्यायरूप से यानी जगत् की प्रत्येक वस्तु के पर्यायों (रूपों) में परि-वर्तन या क्षय मानने से क्षणक्षयी या अनित्य है। उत्पाद व्यय-ध्रौव्य (उत्पत्ति, स्थिति, ध्वंस) तीनों से युक्त होने के कारण यह लोक षट् द्रव्यस्वरूप है। वे ६ द्रव्य ये हैं— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। दूसरे शब्दों में कहें तो यह लोक षड्द्रव्यमय है। अनादिकालिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव और कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न अनेक भवप्रपंच से यह युक्त है। इस लोक में संसारी और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों का स्थान है। आठ कर्मों से रहित सिद्ध (मुक्त) जीवों का लोक इसी लोक के अन्त में है। यह लोक ऊपर और नीचे चौदह रज्जु प्रमाण वाला है। इसकी आकृति रंगशाला में कमर पर दोनों हाथ रखकर नाचने के लिए खड़े सिर-रहित हुए पुरुष की-सी है। यह लोक नीचे मुख (औंधा मुँह) करके रखे हुए सकोरे के आकार के समान आकार वाले नीचे के सात लोकों से युक्त है तथा थाली के समान आकार वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र के आधारभूत मध्यलोक से युक्त है। इसी प्रकार सीधा और उलटा मुँह किये दो सकोरों के समान यह ऊर्ध्वलोक से युक्त है।

इस प्रकार के लोक के स्वरूप से अनभिज्ञ एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि अन्यमतवादी लोग असत्य भाषण करते हैं।

अब अगली गाथा में शास्त्रकार अन्यतीर्थिक लोगों के अज्ञान को सिद्ध करके उसके फल का दिग्दर्शन कराते हैं—

मूल पाठ

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया ।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायन्ति संवरं ? ॥१०॥

संस्कृत छाया

अमनोज्ञसमुत्पादं, दुःखमेव विजानीयात् ।
समुत्पादमजानन्तः, कथं ज्ञास्यन्ति संवरम् ? ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**दुक्खं**) दुःख (**अमणुन्नसमुप्पायमेव**) अशुभ अनुष्ठान से ही उत्पन्न होता है, (**विजाणिया**) यह जानना चाहिए। (**समुप्पायं**) दुःख की उत्पत्ति का कारण (**अजाणंता**) न जानने वाले लोग (**संवरं**) दुःख को रोकने का उपाय (**कहं**) कैसे (**नायंति**) जान सकते हैं।

भावार्थ

दुःख अशुभ अनुष्ठान (प्रवृत्ति) से ही उत्पन्न होता है, यह जानना चाहिए। जो लोग दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते हैं, वे दुःख के निरोध का उपाय कैसे जान सकते हैं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

दुःखोत्पत्ति से अनभिज्ञ : दुःखनिरोध से अज्ञात

अमणुन्नसमुप्पायं दुक्खमेव—इस गाथा में शास्त्रकार उन विविध मतवादियों की अज्ञानता पर तरस खाते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम तो सभी दर्शनवालों को यह जानना चाहिए कि जब वे वैषयिक सुख प्राप्त कर लेते हैं, तब तो वे लोक-रचना के लिए अपने-अपने माने हुए इष्टदेवों (ईश्वर, विष्णु आदि) की कृपा मान लेते हैं, जब कि उनके शुभ अनुष्ठानों के फलस्वरूप ही उन्हें वह सुख प्राप्त होता है, किन्तु जब मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद आदि अशुभ अनुष्ठानों के कारण घोर पापकर्मबन्धन के फलस्वरूप दुःख आ पड़ते हैं, तब वे अपने-अपने माने हुए तथा-कथित सृष्टिकर्ता (ईश्वर, विष्णु आदि) को कोसते हैं, उन्हें उपालम्भ देते हैं, या काल, नियति, स्वभाव, कर्म तथा किसी निमित्त पर दोषारोपण करके दुःख पाते रहते हैं, मन में कुढ़ते रहते हैं; परन्तु वे दुःख के मूल कारणों को नहीं जान पाते, मतमोह या कुविचारों के पूर्वाग्रह के कारण दुःख के स्वरूप को जान व समझ नहीं पाते। उनकी बुद्धि पर मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व का घना काला पर्दा पड़ जाता है, जिससे वे दुःख के स्वरूप, दुःख की उत्पत्ति, निरोध और क्षय के कारणों को नहीं समझ पाते। इसीलिए कहा है—'"'**दुक्खमेव विजाणिया**।' आशय यह है कि पूर्वोक्त मतवादी लोगों में से दुःख आ पड़ने पर कोई यों कहने लगता है—ईश्वर ने दुःख दिया है और कोई विष्णु, ब्रह्मा या महादेव को इस दुःखोत्पत्ति का कारण मानने लगता है। इस उलटी मान्यता के कारण वह और अधिक दुःख पाता है, दुःख के कारणों को पैदा करने लगता है। परन्तु अपनी आत्मा में झांक कर अपने उपादान को नहीं देखता कि इस दुःख का मूल कर्ता मैं ही हूँ। मेरे ही द्वारा किसी समय किये हुए अशुभ अनुष्ठान (मन-वचन-काया से कृत दुष्कृत—पापाचरण) से ही ये दुःख उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति अशुभ—बुरे आचरण, अधर्मानुष्ठान करता है, उसे उसके कारण पापकर्म का बन्धन होता है और पापकर्मों का फल दुःख के रूप में मनुष्य को भोगना पड़ता है। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानवान पुरुष दुःख के इस मूलभूत कारण को भली-भाँति जानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि, स्वल्पमोह, मताग्रह आदि के कारण दुःख के कारणों को सम्यक्रूपेण नहीं जानता।

अमणुन्नसमुप्पायं—यह दुःख का विशेषण है। दुःख अमनोज्ञसमुत्पादरूप ही है। यहाँ इन दोनों शब्दों को एक करके दुःख के लक्षण के रूप में बहुव्रीहि समास करके प्रस्तुत किया है। अमनोज्ञसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार है—मनोज्ञ का अर्थ है - मन के अनुकूल, मन को प्रिय। मन के अनुकूल का तात्पर्यार्थ है शुभ अनुष्ठान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा समुत्पाद का अर्थ है—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति। जो मनोज्ञ—शुभ अनुष्ठान नहीं हैं—वे अमनोज्ञ कहलाते हैं। अमनोज्ञ का अर्थ हुआ अशोभन अनुष्ठान—बुरा आचरण, खराब प्रवृत्ति। वह जिसकी उत्पत्ति में कारण है, वही दुःख है।

समुप्पायं अजाणंता—पूर्वोक्त दुःख की उत्पत्ति के कारण जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि को बताया है, वे उसे नहीं जानते।

'कहं नायंति संवरं'—संवर का आचरण करने की बात तो दूर, वह दुःख के निरोध (संवर) रूप विचार को भी नहीं पकड़ पाता। जो व्यक्ति दुःख की उत्पत्ति के कारण को नहीं जानता, तब उस दुःख के निरोधरूप उपाय को वह कैसे जान सकता है? यहाँ प्रश्न के रूप में शास्त्रकार न्याय करने की बात विचारक सम्यग्दृष्टि भव्यजीवों पर छोड़ देते हैं।

आशय यह है कि अपने किये हुए अशुभ अनुष्ठान—दुष्कर्म से ही दुःख की उत्पत्ति होती है, किसी दूसरे से नहीं। इस स्वकर्मकृत दुःख-सुख-उत्पत्ति-व्यवस्था को पूर्वोक्त वादी नहीं जानते हुए ईश्वर आदि अन्य पदार्थ के द्वारा दुःख की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार दुःख की उत्पत्ति को मानने वाले अन्यमतवादी दुःखनाश के कारण (उपाय) को कैसे जान सकते हैं? कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। दुःख के कारण ईश्वर आदि नहीं, स्वयंकृत अशुभ कर्म हैं। उनके नाश या निरोध से ही दुःखोत्पत्तिरूप कार्य का नाश या निरोध हो सकता है। इस प्रकार दुःख के कारण को न जानकर वे दुःखनाश के लिए कैसे प्रयत्न कर सकेंगे। यदि ऊटपटाँग प्रयत्न करें तो भी दुःख का नाश नहीं कर सकेंगे, प्रत्युत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगरूप अनेक दुःखों से पीड़ित होते हुए वे अनन्तकाल तक अरहट की तरह संसारचक्र में परिभ्रमण करते रहेंगे।

अब कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त आत्मा को पुनः राग-द्वेष के कारण कर्म-बन्धन में बद्ध मानने वाले त्रैराशिक कृतवादियों के मत का निरूपण करते हैं—

मूल पाठ

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो किड्डापदोसेणं सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

संस्कृत छाया

शुद्धोऽपापक आत्मा, इहैकेषामाख्यातम्।
पुनः क्रीडाप्रद्वेषेण स तत्राऽपराध्यति ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(इह) इस जगत् में (एगेसिं) कितने ही दार्शनिकों का (आहियं) कथन—मत है कि (शुद्धे) कर्ममलरहित विशुद्ध (अपावए) पाप से—रागद्वेष से रहित (आया) आत्मा (पुणो) पुनः (किड्डापदोसेणं) रागद्वेष के कारण (तत्थ) वहीं (अवरज्झई) बँध जाता है।

भावार्थ

इस जगत् में कुछ (त्रैराशिक, आर्यसमाज, वैष्णव, बौद्ध आदि) मतवादियों का कथन है कि कर्मकलंक से रहित निष्पाप शुद्ध आत्मा भी क्रीड़ा (लीला) या रागद्वेष के कारण पुनः कर्मबन्धन से बँध जाता है—कर्मरज से लिप्त हो जाता है।

व्याख्या

निष्पाप-शुद्ध मुक्त-आत्मा पुनः कर्म के कटघरे में

'सुद्धे अपावए आया'—इस गाथा में शास्त्रकार आत्मा की एक विचित्र अवस्था को मानने वाले त्रैराशिक, वैष्णव बौद्ध, आर्यसमाज आदि मतवादियों के मत का निरूपण करते हुए कहते हैं कि कुछ मतवादियों का यह कहना है कि आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है—रागद्वेष से लिप्त, कर्मबन्धनयुक्त, पाप-सहित अशुद्ध आत्मा। किन्तु उस अवस्था से छूटने के लिए कुछ विशिष्ट आत्माएं कर्मबन्धनों के कारणों को दूर करने हेतु अहर्निश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप में पुरुषार्थ करती हैं, और उन आत्माओं को दूसरी निष्पाप अवस्था प्राप्त हो जाती है। वे मनुष्य-जन्म में रहते हुए शुद्ध, निष्पाप होकर कर्मों से सर्वथा रहित होकर मोक्ष में पहुँच जाते हैं। इसके बाद आत्मा की एक तीसरी अवस्था और आती है, जब वह शुद्ध निष्पाप आत्मा पुनः क्रीड़ा और राग-द्वेष के कारण कर्मरज से लिप्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, इसलिए उन्हें त्रैराशिक के नाम से पुकारा जाता है। इस शास्त्र के वृत्तिकार श्री शीलांकाचार्य उन्हें गोशालक मतानुयायी कहते हैं।

पुणो किड्डापदोसेणं सो तत्थ अवरज्झई—प्रश्न होता है कि जो आत्मा एक बार शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कर्मकलंकरहित, निष्पाप हो गया है, वह पुनः रागद्वेष में क्यों फँसता है? क्या कारण है पुनः कर्मरज से लिप्त होने का? इसमें तो प्रायः सभी भारतीय दर्शन एकमत हैं कि जो आत्मा शुद्ध होकर मोक्ष में चला गया है, वह पुनः लौटकर नहीं आता। जैनदर्शन में तो स्पष्ट बताया गया है कि जिसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीज जलकर नष्ट हो गया है, ऐसा धान्य पुनः अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार जिसके कर्मबीज जलकर नष्ट हो गये हैं, वे कर्मबीज पुनः उस आत्मा में अंकुरित नहीं होते। इसीलिए शक्रस्तव पाठ में सिद्ध भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा है—

'सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं।'

अर्थात्—शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति, सिद्धिगति नामक स्थान को सम्प्राप्त।

यहाँ अपुनरावृत्ति शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसका भावार्थ यह है कि सिद्धगति (मोक्ष) में जाने के बाद जहाँ से पुनः लौटकर आना नहीं होता। वैदिकधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता में भी कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

—जहाँ पर जाकर जीव पुनः लौटते नहीं हैं, वही मेरा (परमात्मा का) परम धाम (सिद्धिगति नामक स्थान) है।

क्योंकि जितनी भी धर्म-साधनाएँ की जाती हैं, वे सब इसी उद्देश्य से की जाती हैं कि साधक को मुक्ति—कर्मों से, जन्ममरण से, रागद्वेष से, मुक्ति मिले। यदि रागद्वेष, कर्ममल एवं पाप से सर्वथा मुक्त एवं शुद्ध होने के बाद भी पुनः उन्हीं में आत्मा लिप्त हो जाय तब तो सारा खाता-पीता कपास हो जाएगा, इतने जन्मों में किया-कराया सब गुड़गोबर हो जाएगा। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अपार पुरुषार्थ करने के बाद शुद्धता और अकर्मता को प्राप्त होने पर पुनः उसी अशुद्धता और कर्म के दलदल में फँसना चाहेगा? किन्तु वैराशिक या बौद्ध यह कहते हैं कि वे शुद्ध निष्पाप आत्मा स्वयं तो रागद्वेष में लिपटना नहीं चाहते, परन्तु जब वे देखते हैं कि हमारे (माने हुए) शासन की पूजा बढ़ रही है और पर-शासन का अनादर (अवहेलना) हो रहा है, तब उन्हें प्रमोद (हर्ष—क्रीड़ा) उत्पन्न होता है, तथा अपने शासन का अनादर या लाघव देखकर द्वेष होता है। इस कारण वह मोक्ष में स्थित आत्मा पुनः रागद्वेष से लिप्त हो जाता है; कर्मरज से श्लिष्ट हो जाता है। अर्थात् रागद्वेष से लिप्त आत्मा शनैःशनैः ठीक उसी तरह कर्मरज से मलिन हो जाता है, जिस तरह बार-बार उपभोग करने से स्वच्छ निर्मल वस्त्र मलिन हो जाता है। इस प्रकार से मलिन हुआ आत्मा कर्म के गुरुत्व (भार) से पुनः संसार में लौट आता है।[1]

---

१. आर्यसमाज की मान्यता भी इसी से कुछ मिलती-जुलती है। उसका भी यही कहना है कि ईश्वर मोक्ष में जाकर कुछ दिन धूमधाम कर फिर संसार में लोकोपकारार्थ आ जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार की कुछ-कुछ मान्यता बौद्धधर्म के एक सम्प्रदाय की तथा कुछ अन्य सम्प्रदायों की है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि देव मोक्षावस्था को प्राप्त करके भी अपने शासन (संघ) का लोप या तिरस्कार देखकर उसके उद्धारार्थ फिर से संसार में अवतार लेते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥

—धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थंकर (अवतार) परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करके भी अपने तीर्थ (संघ) की अवनति या तिरस्कार देखकर पुनः संसार में लौट आते हैं।

उनके संसार में वापस लौटकर आने के मूलपाठ में दो कारण बताये गये है—'**किड्डापदोसेणं**'; अर्थात क्रीड़ा और प्रद्वेष ये दो ही कारण मुक्त एवं शुद्ध आत्मा के पुनः संसार में लौटने के हैं। क्रीड़ा का अर्थ यहाँ प्रमोद या हर्ष किया गया है, जो राग का सूचक है और प्रद्वेष का अर्थ द्वेष किया गया है।

परन्तु क्रीड़ा का एक और अर्थ प्रचलित है—लीला। अवतारवादी लोगों का यह मत है कि जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब-तब भगवान अवतार लेते हैं, अपनी लीला दिखाने के लिए। उस समय सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के नाश के लिए वे ऐसी लीला भी करते हैं। ऐसी लीला में, जबकि वे दुष्टों का संहार करते हैं और जो उनका भक्त होता है, उसकी रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं, तो उनमें किंचित् राग-द्वेष भी सम्भव है। जो हो, अवतारवाद में भगवान् भक्तों के उद्धार और दुष्टों के संहार के लिए संसार में जन्म (अवतार) लेते हैं।

इसी मुक्त के पुनरागमनवाद के सम्बन्ध में अगली गाथा में शास्त्रकार पुनः कहते हैं—

मूल पाठ

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए।
वियडम्बु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

संस्कृत छाया

इह संवृतो मुनिर्जातः पश्चाद्भवत्यपापकः ।
विकटाम्बु यथा भूयो नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥१२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(इह) इस मनुष्यभव में जो जीव (संवुडे) संयम-नियमादि में रत (मुणी जाए) मुनि हो जाता है, (पच्छा अपावए होइ) वह पीछे पापरहित हो जाता है। (जहा) जैसे (अरयं) रज —मिट्टी से रहित निर्मल (वियडंबु) जल (भुज्जो) फिर (सरयं) रज—मिट्टी से युक्त गँदला—मैला हो जाता है, (तहा) वैसे ही वह निर्मल आत्मा पुनः मलिन हो जाता है ?

भावार्थ

जो जीव इस मनुष्यजन्म में संयम-नियमादि में तत्पर रहता हुआ मुनि बन जाता है, वह बाद में निष्पाप हो जाता है, किन्तु जैसे वह निर्मल जल पुनः मलिन हो जाता है वैसे ही वह निर्मल निष्पाप आत्मा भी पुनः मलिन हो जाता है।

व्याख्या

मुनि की निर्मल निष्पाप आत्मा पुनः मलिन

पूर्वोक्त गाथा में वर्णित पुनरागमनवाद का सिद्धान्त इस गाथा में पुनः स्पष्ट करते हैं—'इह संवुडे मुणी ' आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को फिटकरी आदि से स्वच्छ करके निर्मल बना लिया जाता है, वह शुद्ध पानी आँधी, अन्धड़ आदि के द्वारा उड़ाई हुई रेत के संयोग से फिर मैला हो जाता है। वैसे ही कोई जीव मनुष्यजन्म को पाकर अपनी राग-द्वेष-कषाय आदि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनिदीक्षा धारण करके शुद्ध चारित्र आराधना में अहर्निश रत रहकर निष्पाप, निर्मल एवं विशुद्ध बना लेता है, और बाद में एक दिन समस्त कर्मों से रहित हो जाता है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, इसके पश्चात् वह विशुद्ध आत्मा अपने तीर्थ (संघ) की बढ़ी हुई प्रतिष्ठा या उन्नति को देखकर रागवश अत्यन्त प्रसन्न होता है, और संघ की बदनामी या अप्रतिष्ठा अथवा अवनति देखकर रोषद्वेष से भड़क उठता है। इस प्रकार राग-द्वेष के उदय से वह विशुद्धात्मा पुनः कर्मरज से, मलिन हो जाता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**इह संवुडे मुणी जाए**'। निष्कर्ष यह है कि अनन्तकाल के पश्चात् शुद्धाचारसम्पन्न बनकर मोक्षप्राप्त आत्मा कर्म-रहित हो जाता है, वही राग-द्वेष के कारण पुनः कर्मयुक्त एवं मलिन हो जाता है।

यह है त्रैराशिक मतवाद पुनरागमनवाद या अवतारवाद; जिसको लेकर वे (अन्यतीर्थी) मुक्त होकर फिर दूसरे को मुक्ति दिलाने के लिए शूरवीर बनते हैं, स्वयं राग-द्वेष युक्त संसार में पड़कर। कितनी अटपटी मान्यता है यह ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब उन्हीं मतवादियों की इस मान्यता को दोषयुक्त सिद्ध करके शास्त्रकार सम्यग्दृष्टि एवं चारित्रवान पुरुषों को उससे बचने की प्रेरणा देते हैं—

मूल पाठ

एताणुवीति मेहावी बंभचेरे ण ते वसे ।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

संस्कृत छाया

एताननुचिन्त्य मेधावी ब्रह्मचर्ये न ते वसेयुः ।
पृथक् प्रावादुकाः सर्वे, आख्यातारः स्वकं स्वकम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**मेहावी**) बुद्धिमान साधक (**एताणुवीति**) इन पूर्वोक्त वादियों के सम्बन्ध में वस्तुस्वरूप के अनुसार विचार करके मन में यह तय करे कि (**ते**) वे अन्यतीर्थिक (**बंभचेरे**) आत्मा की चर्या में—आत्मभावों के विचरण में (**ण**) नहीं (**वसे**) स्थित है। (**सव्वे पावाउया**) वे सभी पक्के बातूनी—प्रावादुक हैं (**पुढो**) वे अलग-अलग (**सयं सयं**) अपने-अपने सिद्धान्त को (**अक्खायारो**) बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं।

भावार्थ

बुद्धिशाली साधक इन पूर्वोक्त अन्यतीर्थिकवादियों के सम्बन्ध में वस्तुस्वरूप के अनुकूल विचार करके मन में यह निश्चित कर ले कि वे पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक मतवादी आत्मा की चर्या—सेवा या आत्मभावों के विचरण में स्थित नहीं हैं। वे सभी पक्के एवं ऊँचे दर्जे के बातूनी या बकवास करने वाले (प्रावादुक) हैं। ये अलग-अलग अपने-अपने सिद्धान्त को बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं।

व्याख्या

अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग !

इस गाथा में पूर्वोक्त मतवादियों का बखिया उधेड़ते हुए दो बातें शास्त्रकार ने सूचित की हैं—(१) आत्मविचरण से रहित अन्यतीर्थिकों से सावधान रहने की और (२) सभी मतवादियों की अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापने की। परन्तु इन सब का मुक्तजीवों के विषय में संसार में पुनरागमन का जो सिद्धान्त है, वह युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि मुक्ति में गये हुए जीव का पुनः रागद्वेषयुक्त या कर्मरज से लिप्त होना कैसे सिद्ध हो सकता है ? जिसके कर्मरज सर्वथा झड़ गये या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मबीज बिलकुल जल चुके, वह कर्मरहित निर्मल आत्मा पुनः कर्मयुक्त हो ही नहीं सकता। जैसे कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य में कहा है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥[1]

"जिस तरह बीज के जल जाने पर उससे अंकुर का उत्पन्न होना अत्यन्त असम्भव है, उसी तरह कर्मरूपी बीज के भस्म हो जाने पर संसाररूप अंकुर का फूटना—संसार में पुनः जन्म लेना अत्यन्त असम्भव है।"

वास्तव में विचार किया जाय तो ऐसे पुनः अवतार लेने (संसार में आगमन करने) वाले तथाकथित ज्ञानियों को मोक्षगामी ही नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उन्होंने कर्ममल का समूल नाश नहीं किया, अन्यथा, पुनः अवतार लेना उपर्युक्त युक्ति के अनुसार असम्भव था। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने संसार में पुनः अवतार लेने वाले तथाकथित तीर्थंकरों की प्रबल मोहवृत्ति को प्रकट करते हुए कहा है—

दग्धेन्धन पुनरुपैति भवं प्रमथ्य,
निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च (कृततनुश्च) परार्थशूरस्,
त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥[2]

हे वीतराग प्रभो ! आपके शासन (संघ) को ठुकराने वाले व्यक्तियों पर मोह का प्रबल साम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते हैं कि जिन आत्माओं ने कर्मरूपी ईंधन को जलाकर संसार का नाश कर दिया है, वे भी मोक्ष को छोड़कर फिर से संसार में अवतार (जन्म) लेते हैं। मुक्त होकर भी निःशंक शरीर धारण करते हैं। वे इतनी सीधी-सी बात को नहीं समझते कि जैसे जो काष्ठ जल जाता है, वह फिर नहीं जलता है, वैसे ही संसार को मंथन करके जो जीव मुक्त हो गया है, वह फिर संसार में कैसे आ सकता है ? परन्तु अन्यतीर्थी लोग मुक्त होकर स्वयं संसार में आना मानते हैं, और दूसरों को मुक्ति दिलाने में शूरवीर बनते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अपनी आत्मा का सुधार यानी उसे पूर्णकर्ममुक्त करने में असफल रहे हैं, पर वे परोपकार के लिए संसार में अवतार लेने की शूरता दिखाते हैं। यही तो उन पर मोहनीयकर्म की प्रबल छाप है, कि वे अपना कल्याण तो कर ही नहीं पाये, लेकिन रट लगाये हुए हैं—परार्थ की।

---

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, अ० १०, सू० ७
२. सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे ध्वनित होता है कि ऐसे लोग जो अपने शुद्ध कर्ममुक्त निष्पाप आत्मा को केवल मामूली से कारण - शासनमोह को लेकर पुनः इस संसार में लौट आने के विचार के हैं, वे अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं। ऐसे लोग आत्मा के प्रति द्रोही हैं, वे ब्रह्म— शुद्ध-आत्मा में या परमात्मभाव में स्थित नहीं हैं, आत्मज्ञानी या आत्मसुधारक होने का कोरा दिखावा करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने ऐसे अपनी झोंपड़ी जलाकर दूसरे की आग बुझाने वाले परार्थशूर आत्मपतनकर्ता व्यक्तियों के लिए कहा है—'**बंभचेरे ण ते वसे**।' अर्थात् ब्रह्म यानी आत्मा की चर्या = सेवा या परमात्मविचार में स्थित — टिके हुए नहीं हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ यदि यहाँ स्पर्शेन्द्रियसंयम या कुशीलसेवन का त्याग करेंगे तो वह असंगत होगा, क्योंकि तब इसका अर्थ होगा— ऐसे पुरुष ब्रह्मचारी नहीं हैं, अर्थात् व्यभिचारी हैं, शास्त्रकार के मुख से ऐसा कथन उन पर मिथ्या आक्षेप होगा, मिथ्यादोषारोपण होगा। इसलिए उपर्युक्त अर्थ ही यहाँ संगत होगा। द्रव्यब्रह्मचर्य में स्थिर होते हुए भी वे तथाकथित ज्ञानी पुरुष भावब्रह्मचर्य— आत्मा-परमात्मा में विचरण चर्या) से या निवास से वे कोसों दूर हैं। यही अर्थ प्रसंगवश युक्तिसंगत होगा। फिर उन तथाकथित मुक्त आत्माओं के पुनः संसार में आने के जो कारण बताये गये हैं, वे भी निःसार हैं।[1] जब सारे संसार को मैत्रीभाव - आत्मौपम्यभाव से मुक्त शुद्ध आत्मा (जीव) देखने लग जाता है, तब वहाँ अपनापन या परायापन कहाँ रह जाता है? राग-द्वेष या 'यह मैं हूँ, यह मेरा है,' इस प्रकार की परिग्रहवृत्ति (ममता) उसमें कैसे रह सकती है? क्योंकि उनकी परिग्रहवृत्ति (ममता) तो सर्वथा नष्ट हो चुकी है। इसके अतिरिक्त जो समस्त कर्मकलंक को नष्ट कर चुके हैं, तथा समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानते हैं, जो कृतकृत्य हो चुके हैं, स्तुति और निन्दा में जो सम हैं, ऐसे निष्पाप शुद्ध आत्मा में रागद्वेष होना कदापि सम्भव नहीं है। और रागद्वेष न होने से उनको कर्मबन्धन कैसे हो सकता है? और कर्मबन्धन न होने से वे मुक्त-जीव फिर संसार में आ ही कैसे सकते हैं?

'अपने तीर्थ (संघ) की पूजा और तिरस्कार देखने से मुक्त जीव को कर्मबन्धन होता है,' यह कथन ही असंगत है। मान लो, उन मुक्त जीवों के भूतपूर्व संघ की उन्नति अथवा अवनति हो रही हो तो वे तथाकथित मुक्तजीव कैसे रोक सकेंगे? कोई दूसरा किसी के कर्मों का क्षय या उपचय कैसे कर सकेगा? जब तक उन-उन जीवों (संघ के सदस्यों) में स्वयं कर्मक्षय करने, कर्मरोध करने की रुचि एवं

१. गीता में भी कहा है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी, सन्तुष्टो येन केन चित्॥'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तड़फन नहीं होगी, तब तक कर्मक्षय न होने से शुद्धि नहीं हो सकेगी, शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अतः यह मत ही युक्तिसंगत नहीं है।

पुढो पावाउया सव्वे अक्खायारो सयं सयं—यहाँ एक शंका होती है कि जब वे अन्यतीर्थी कार्यकारणभाव से अनभिज्ञ हैं, तब वे चुप क्यों नहीं बैठते ? इसके उत्तर में स्वयं शास्त्रकार इस पंक्ति को प्रस्तुत करते हैं—'**पुढो पावाउया सव्वे**''''' वे सब मतवादी इस प्रकार की ऊटपटांग बकवास करने वाले हैं, प्रावादुक (अधिक बोलने वाले = वाचाल) हैं। तथा वे अपने-अपने सिद्धान्तों की सत्यता की डींग हाँकते हैं, अपने-अपने सिद्धान्त का अतिशयोक्तिपूर्ण बखान करते हैं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वे शुभ अनुष्ठान में रत नहीं रहते।

अब आगामी गाथा में शास्त्रकार उन मतवादियों की एक अपने-अपने मत के अनुसार अनुष्ठान करने से मोक्षप्राप्ति की मान्यता का दिग्दर्शन कराते हैं—

मूल पाठ

सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

संस्कृत छाया

स्वके स्वके उपस्थाने सिद्धिमेव नान्यथा ।
अथ इहैव वशवर्ती सर्वकामसमर्पितः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**सए सए**) अपने-अपने (**उवट्ठाणे एव**) अनुष्ठान में ही (**सिद्धि**) सिद्धि = मुक्ति होती है, (**न अन्नहा**) अन्यथा नहीं होती। (**अहो**) मोक्षप्राप्ति से पूर्व (**इहेव**) इसी लोक—जन्म में ही (**वसवत्ती**) जितेन्द्रिय हो, अथवा हमारे मत के अधीन हो, वह (**सव्वकामसमप्पिए**) सर्वकामनाओं से सम्पन्न = परिपूर्ण होता है।

भावार्थ

विभिन्न मतवादियों का कथन है कि अपने-अपने मत में प्ररूपित अनुष्ठानों से ही मनुष्य सिद्धि—मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, इसके सिवाय अन्य किसी प्रकार से नहीं। मोक्षप्राप्ति से पूर्व मनुष्य को जितेन्द्रिय या दीक्षागुरु के अनुशासन में रहना चाहिए, ऐसे व्यक्ति की सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

अपने-अपने अनुष्ठान से ही मुक्ति : एक विश्लेषण

इस गाथा में शास्त्रकार ने अनेक मतवादियों की मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जो अपने-अपने मत का एकान्त आग्रह रखते हैं और आम जनता को आकर्षित करने के लिए प्रायः यही कहा करते हैं —'हमारे मत की शरण में आने से, हमारे मत के अनुयायी बनने से या हमारे मत में प्रतिपादित अनुष्ठान करने से, अथवा हमारे मत के गुरुओं की चरण-सेवा से अथवा हमारे मत की दीक्षा ग्रहण करने से मनुष्य सिद्धि—मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। आशय को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार कहते हैं —'**सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव न अन्नहा।**' तात्पर्य यह है कि कुछवादी शैव[1] कहते हैं —हमारे मत में दीक्षा ग्रहण करने और गुरु-चरणों की सेवा करने से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। सांख्यमतवादी[2] एकदण्डी लोग पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति बताते हैं। आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार, इन नौ गुणों का अत्यन्त उच्छेद करके आत्मा का अपने शुद्ध रूप में लीन हो जाना मोक्ष है, यह वैशेषिक मानते हैं।[3] वेदान्तदर्शनी कहते हैं —'ध्यान, अध्ययन और समाधिमार्ग के अनुष्ठान से ही सिद्धि होती है।' बौद्धदर्शनवादी कहते हैं —'सब कुछ क्षणिक है, सभी कुछ हेय है, सभी कुछ दुःखमय है, सब कुछ शून्य है, ऐसी भावना करने वालों को मोक्ष —निर्वाण प्राप्त होता है।' योगदर्शनवादी कहते हैं —'हमारे शास्त्रानुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अनुष्ठान—आचरण करने से मुक्ति प्राप्त होती है।' इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शन से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। तथा वे कहते हैं —समस्तद्वन्द्वनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति से पूर्व हमारे दर्शन के अनुसार अनुष्ठान करने से इसी जन्म में ऐश्वर्यसूचक अष्टसिद्धियाँ[4] प्राप्त हो जाती हैं। वे अष्टसिद्धियाँ इस प्रकार हैं—अणिमा, महिमा,

---

१. 'दीक्षात एव मोक्षः'

२. 'पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥'

३. 'नवानामात्मगुणानामुच्छेदः मोक्षः' —प्रशस्तपादभाष्य

४. योगाभ्यास के प्रभाव से योगियों को आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं—
अणिमा, महिमा चैव गरिमा, लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। इसी बात को शास्त्रकार बताते हैं—'**अहो इहेव वसवत्ती सव्वकाममप्पिए**' आशय यह है कि मोक्ष से पूर्व इसी जन्म या लोक में जो पुरुष अपने वश में रहता है या जो इन्द्रियों के वश में नहीं है, जो सांसारिक स्वभाव से अभिभूत नहीं होता है, वह सर्वकामनाओं की सिद्धि से सम्पन्न हो जाता है, अर्थात् सभी कामनाएँ उसके चरणों में समर्पित हो जाती हैं।

इस प्रकार अन्यदर्शनी लोग अष्टसिद्धियों जैसी भौतिक विभूतियों का प्रलोभन देकर लोगों को अपने मत की ओर आकृष्ट करते हैं। वास्तव में वे स्वयं ऐसी भौतिक सिद्धियों के चक्कर में उलझकर आडम्बरप्रिय बन जाते हैं। इससे मुक्ति तो दूरातिदूर हो जाती है, केवल संसार के जन्ममरण के चक्र में ही वे पड़े रहते हैं। अपनी इसी प्रकार की सिद्धि के बल पर वे दूसरों को कैसे अपने वाग्जाल में फँसाते हैं, इस बात को शास्त्रकार अगली गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया नरा ॥१५॥

संस्कृत छाया

सिद्धाश्च तेऽरोगाश्च, इहैकेषामाख्यातम्।
सिद्धिमेव पुरस्कृत्य, स्वाऽऽशये ग्रथिताः नराः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**इहं**) इस संसार में (**एगेसि**) कुछ मतवादियों का (**आहियं**) कथन है कि (**सिद्धा**) जो हमारे मतानुसार अनुष्ठान से सिद्ध हुए हैं, रससिद्ध बन गये हैं, या अष्टसिद्धिप्राप्त हो चुके हैं, (**ते**) वे (**अरोगा य**) नीरोग—स्वस्थ हो जाते हैं। परन्तु (**नरा**) इस प्रकार कहने वाले वे लोग (**सिद्धिमेव**) स्वमत से प्राप्त ऐसी सिद्धि को ही (**पुरोकाउं**) आगे रखकर (**सासए**) अपने-अपने आशय (मत—अभिप्राय या दर्शन) में (**गढिया**) ग्रस्त—आसक्त हैं।

भावार्थ

इस लोक में कई मतवादियों (रससिद्धिवादियों या अष्टसिद्धिवादियों) का कथन है कि हमारे मतोक्त अनुष्ठान से जिन्होंने सिद्धि (रसायनसिद्धि या अष्टसिद्धि) प्राप्त कर ली है, वे सिद्ध और नीरोग (शरीर और मन से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थ) होते हैं। परन्तु इस प्रकार के मताग्रही वे लोग ऐसी सिद्धि का ही मुख्यरूप से प्रतिपादन करके अपने-अपने आशय (मत) में आसक्त हैं।

व्याख्या

स्वमतानुसारी सिद्धि में आसक्त सिद्धिवादी

'इहमेगेसिमाहिय'--पूर्वगाथा में जिस भौतिक सिद्धि के प्ररूपकों का मत दिया गया है, उसी प्रसंग को लेकर शास्त्रकार इस गाथा में उन सिद्धिवादियों की प्ररूपणा की पद्धति बता रहे हैं। इसलिए उन्होंने कहा **'इहमेगेसिमाहिय'**- इस संसार में कुछ लोग इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं। 'कुछ लोगों में' शास्त्रकार का संकेत उन लोगों से है, जो या तो पूर्वोक्त भौतिक अष्टसिद्धियों को प्राप्त कर लेने मात्र से सिद्धि मानते हैं या रसायनशास्त्र में पारंगत होने से रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की सिद्धि) प्राप्त हो जाती है, ऐसा मानते हैं। इसीलिए कहा है-- **'सिद्धा य ते अरोगा य'** तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त सिद्धिवादी अन्यदर्शनी कहते हैं कि हमारे दर्शन में बताई हुई विधि के अनुसार अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को इसी जन्म में ऐश्वर्यसूचक अष्टविध सिद्धि प्राप्त होती है और इसी जन्म के बाद सम्पूर्ण द्वन्द्वनिवृत्तिरूप मुक्ति प्राप्त होती है।

उनके कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि हमारे मतानुसार अनुष्ठान करके व्यक्ति इस जन्म में अष्टविध सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसके साथ ही रसायनसिद्धि भी पा लेता है, जिसके फलस्वरूप उसका शरीर यहाँ पूर्ण आरोग्य-सम्पन्न रहता है। **'अरोगा'** और **'सिद्धा'** के बाद **'य'** शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है, उसका अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त लौकिक सिद्धिप्राप्त व्यक्ति ही पारलौकिक सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते हैं और पूर्वोक्त लौकिक आरोग्य-प्राप्त व्यक्ति ही यहाँ से विशिष्ट समाधियोगपूर्वक शरीर छोड़कर पारलौकिक आरोग्य प्राप्त करते हैं। यानी शारीरिक-मानसिक समस्त दुःखों, रोगों और द्वन्द्वों से रहित पूर्ण नीरोग हो जाते हैं। उन्हें फिर किसी प्रकार के दुःख का स्पर्श नहीं होता। इस प्रकार वे शैव आदि दार्शनिक अपनी सिद्धि का बखान करते हैं।

'सिद्धिमेव पुरोकाउं'—वे तथाकथित सिद्धिवादी इतना ही करके नहीं रह जाते। वे लोग अपने कार्य-कारणभाव से रहित कपोलकल्पित मान्यता को भोले लोगों के दिमाग में भरने के लिए अपने पूर्वोक्त युक्तिविरुद्ध मत में आसक्त होकर तथाकथित सिद्धि को ही आगे रखकर उसे ही सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। चाहे उनकी युक्तियाँ विविध प्रमाणों से खण्डित हो जाती हों, फिर भी वे अपनी युक्तियों से खींचतान करके इहलौकिक और पारलौकिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि का कार्य-कारणभाव सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मतमोह कितना प्रबल होता है, यह इस बात से प्रमाणित होता है। क्योंकि अष्टसिद्धियाँ तो पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, उनका अष्टकर्मों के सर्वथा क्षय से प्राप्त होने वाली सिद्धि (मुक्ति) से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अष्टविधसिद्धि मुक्तिरूपसिद्धि का कारण नहीं बन सकती। और न ही भौतिक आरोग्य प्राप्त करने से लोकोत्तर नीरोगता—समस्त दुःख-द्वन्द्वों से रहित होने की स्थिति प्राप्त होती है। बल्कि भौतिक अष्टसिद्धियों से या रसायनसिद्धि से कई बार मनुष्य ऋद्धि, रस और साता के गर्व में या लाभमद में आसक्त होकर नये अशुभकर्मों का बन्ध कर लेता है, साथ ही अपनी अज्ञानदशा को छिपाने के लिए वह माया और मान कषाय का सेवन करता है, एवं मत के मिथ्याआग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हो जाता है, इन कषाय और मिथ्यात्व के फलस्वरूप घोर अशुभकर्मबन्ध कर लेता है।

इसी बात को इस तृतीय उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

असंवुडा अणादीयं भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिव्विसिया ॥१६॥

संस्कृत छाया

असंवृता अनादिकं भ्रमिष्यन्ति पुनः पुनः।
कल्पकालमुत्पद्यन्ते स्थाना आसुरकिल्विषिकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**असंवुडा**) इन्द्रियसंयम से रहित असंयमी वे अन्यदर्शनी (**अणादीयं**) अनादि—आदिरहित संसार में (**पुणो पुणो**) बार-बार (**भमिहिंति**) भ्रमण करेंगे। तथा (**कप्पकालं**) कल्पकालपर्यन्त चिरकाल तक, (**ठाणा आसुरकिव्विसिया**) असुर (भुवनपति देव के) स्थानों में किल्विषी देवरूप में (**उवज्जंति**) वे उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ

मन और इन्द्रियों पर संयम से रहित वे पूर्वोक्त मतवादी लोग इस अनादि संसार में बार-बार भ्रमण करते रहेंगे। तथा बालतप के प्रभाव से वे दीर्घकाल तक असुर (भुवनपति देवों के) स्थानों में किल्विषी (नीचजातीय) देव के रूप में पैदा होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

मताग्रही सिद्धिवादियों का भविष्य अन्धकारपूर्ण

पूर्ववत गाथाओं में जिन सिद्धिवादी शैवों आदि मताग्रहियों का निरूपण किया है, उनका भविष्य उनकी उक्त करणी के फलस्वरूप कितना अंधकारमय हो जाता है इस बात को सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् महावीर अपने ज्ञान में देखकर इस गाथा में बताते हैं—'**असंबुडा अणादीयं भमिहिंति पुणो पुणो**'। इसका आशय यह है कि पूर्वोक्त सिद्धिवादी दार्शनिक सिर्फ अष्टसिद्धियों से मुक्तिरूप सिद्धि मानते हैं, उनके मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वे इन भौतिक उपलब्धियों (सिद्धियों) के चक्कर में पड़कर अपने को पूर्ण मान बैठते हैं। इससे आगे की आध्यात्मिक उन्नति को पूर्णविराम लग जाता है। वे फिर इन्द्रियों और मन पर संयम करने या कषायों पर विजय पाने की आवश्यकता महसूस नहीं करते। अपने मन और इन्द्रियों को खुली छोड़कर वे कुछ हठयोग की क्रियाएँ कर लेते हैं, अज्ञानपूर्वक कुछ कठोर तप भी कर लेते हैं।

पहले तो इन्द्रियों और मन की तथा कषायों की प्रवृत्तियों को उन्मुक्तरूप से करने से उन्हें शरीर छोड़ने के बाद मुक्ति तो मिलती नहीं, उलटे कषाय और प्रमाद के फलस्वरूप तथा अपने मतीय मिथ्याग्रहरूप मिथ्यात्व के फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध होने से बार-बार मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गतियों में जन्म-मरण करते हुए भटकना पड़ता है। क्योंकि कोरे ज्ञान बघारने से या ऊटपटाँग क्रियाएँ कर लेने से या अपने मिथ्यामत का धुँआधार प्रचार करने मात्र से समस्त दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति प्राप्त नहीं होती। वे मताग्रही लोग प्रायः यही समझते हैं कि हमें तो इस लोक में भी लाभ है, और परलोक में भी। हमारे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यहाँ हमें किसी प्रकार का इन्द्रियों या मन पर संयम नहीं करना पड़ता, सभी प्रकार के विषयोपभोग की खुली छूट मिली हुई है और परलोक में हमें मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त होने की गारंटी मिल ही चुकी है। किन्तु यह बात निश्चित है कि जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र (इन्द्रियमनःसंयम, कषायविजय, हिंसादित्याग आदि) की साधना नहीं की जाएगी, तब तक सिद्धि (मुक्ति) कोसों दूर रहेगी। बल्कि वे अज्ञान, मिथ्यात्व, प्रमाद, विषय-कषाय तथा अविरति के चक्र में फँसे होने पर भी अपने को ज्ञानी, क्रियाकाण्डी, तपोधनी एवं मुक्तिदाता मानकर भोले जीवों को वाग्जाल में फँसाने के कारण अनादिसंसाररूप घोर अटवी में लगातार परिभ्रमण करते रहेंगे, उन्हें चिरकाल तक मुक्ति का द्वार या तट नहीं मिलेगा। वे अष्ट प्रकार की इहलौकिक सिद्धियों का भोली-भाली जनता को जो सब्जबाग दिखाते हैं, वह तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गूढ़माया के कारण कुगति का कारण बनता है। हाँ, बीच-बीच में वे जो कुछ हठयौगिक क्रियाएँ करते हैं, या अज्ञानपूर्वक कष्ट सहते हैं अथवा तप करते हैं, उसके फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, पर वहाँ भी उन्हें असुरकुमारों में और वह भी अत्यन्त निम्नकोटि के किल्विषीदेवों में स्थान मिलता है। किल्विषीदेव अत्यन्त अल्पऋद्धि, अल्पशक्ति और अल्पआयु वाले अधम प्रेत्यभूत (दास या नौकर के समान) देव होते हैं, वे प्रधान देव नहीं होते। इसी बात को द्योतित करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं —'**कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिब्बिसिया।**'

(**त्ति बेमि**) **इति ब्रवीमि**, शब्द का विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। इति शब्द तृतीय उद्देशक की समाप्ति के लिए है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्यासहित पूर्ण हुआ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन : चतुर्थ उद्देशक

(स्व-पर-समयवक्तव्यता)

तृतीय उद्देशक में अन्यतीर्थियों द्वारा प्ररूपित मिथ्याग्रहरूप विचारधारा एवं आचारपद्धति का विभिन्न पहलुओं से विवेचन किया गया है। इस चतुर्थ उद्देशक में भी तथाकथित अन्यतीर्थियों की आचार-विचार-धारा का विवेचन करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमण के कर्तव्यों का संक्षेप में निर्देश किया गया है। साथ ही प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ में बोध प्राप्त करने और बंधन तोड़ने का तथा बंधन के स्वरूप जानने का जो महत्वपूर्ण मार्गनिर्देश किया गया है, उसी के सन्दर्भ में इस चतुर्थ उद्देशक में भी विभिन्न अन्यमतवादियों की विचारधारा की भली-भाँति जानकारी तथा उनमें जो कर्मबन्धनहेतुभूत विचार या आचार हैं, उन्हें छोड़ने और कर्मबन्धन को काटने में कारणभूत जो विचार-आचारधारा है, उसे स्वीकार करने का कर्तव्यबोध कूट-कूट कर भरा है। अतः अध्ययन के नाम के अनुरूप इस उद्देशक में भी स्व-पर-समय का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम अन्यतीर्थिक तथाकथित संन्यासियों का गृहस्थ के सावद्य कर्मों के उपदेशरूप शिथिलाचारधारा का विवेचन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

एए जिया भो न सरणं, बाला पंडियमाणिणो।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

संस्कृत छाया

एते जिताः भोः ! न शरणं बालाः पण्डितमानिनः।
हित्वा तु पूर्वसंयोगं, सिताः कृत्योपदेशकाः ॥१॥

अन्वयार्थ

(**भो**) हे शिष्यो ! (**एते**) ये पूर्वोक्त अन्यतीर्थी (**जिया**) काम-क्रोध आदि से जीते जा चुके (पराजित) हैं, अतः (**न सरणं**) शरण लेने योग्य नहीं हैं, अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वशिष्यों की आत्मरक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। (**बाला**) क्योंकि ये स्वयं अज्ञानी हैं—मुक्ति के वास्तविक पथ से अनभिज्ञ हैं, (**पंडियमाणिणो**) तत्त्वज्ञान से रहित होने पर भी अपने आपको पण्डित —तत्त्वज्ञ मानते हैं। (**पुव्वसंजोगं हिच्चा**) ये लोग अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति, गृहस्थ के आरम्भसमारम्भयुक्त कार्यों का पूर्वसम्बन्ध (पूर्वपरिग्रह) छोड़कर भी (**सिआ**) अन्य आरम्भ-परिग्रह में आसक्त हैं, अथवा पुनः प्रबल मोहपाश में बँध गये हैं। (**किच्चोवएसगा**) क्योंकि ये लोग गृहस्थ के सावद्य-कृत्यों का उपदेश देते हैं।

भावार्थ

ये अन्यदर्शनी लोग काम-क्रोध आदि से बुरी तरह पराजित हैं, अतः शिष्यो ! ये लोग शरण के योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये न तो अपनी आत्मरक्षा कर सकते हैं, और न दूसरों की रक्षा करने में समर्थ हैं। ये लोग स्वयं अज्ञानी हैं, तत्त्वज्ञानशून्य होने पर भी अपने आपको ये पण्डित मानते हैं। ये अपने बन्धुबान्धव, धनसम्पत्ति या गृहस्थयोग्य आरम्भ परिग्रह से सम्बन्ध त्याग करके भी गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहयुक्त सावद्यकृत्यों का उपदेश देते हैं।

व्याख्या

पूर्वसंयोगत्यागी भी सावद्योपदेशक होने से अशरण्य हैं

इस गाथा में शास्त्रकार उन गृहत्यागियों को आड़े हाथों ले रहे हैं, जो घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, आरम्भ-समारम्भ आदि पूर्व-गृहसम्बद्ध संयोगों को सर्वथा छोड़छाड़कर संन्यासी-त्यागी बन गये; फिर भी पुनः उन्हीं गृहस्थ के आरम्भ-परिग्रहसम्बद्ध सावद्यकृत्यों का उपदेश देते हैं। अर्थात् वे अन्यतीर्थी धनधान्य, बन्धुबान्धव, आरम्भपरिग्रह आदि पूर्वसम्बन्धों को छोड़कर अपने आपको निःसंग और प्रव्रजित कहते हुए मोक्ष के लिए उद्यत हुए हैं, लेकिन जिन सावद्यकृत्यों को उन्होंने त्याज्य समझकर छोड़ा था, उन्हीं का उपदेश अपने भक्तों को देने लगे। इसे पकाओ, इसे पीसो, कूटो, इसे तलो, भूनो; अथवा इस जमीन को ले लो, इस प्रकार व्यापार करके रुपये कमा लो, अपना यह विशाल मकान बनवा लो, इत्यादि रूप से उन गृहस्थों को समारम्भ, आरम्भ तथा परिग्रह-रूप सावद्य प्रवृत्तियों का उपदेश देते हैं। उनका यह कार्य 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास' के समान है। अतः वे प्रव्रज्याधारी होते हुए भी गृहस्थों से भिन्न नहीं, अपितु उनके समान ही समस्त सावद्यव्यापारों के प्रवर्त्तक, अनुमोदक एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरक हैं। मनुस्मृति के अनुसार ऐसे परिव्राजक गृहस्थ के पंचसूना[1] (हिंसोत्पादक स्थान) के व्यापार से युक्त हैं। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा।**

'किच्चोवएसगा' शब्द कृत्य और उपदेशक दो शब्दों से बना है। कृत्य का अर्थ है—कार्य—सावद्य अनुष्ठान। यह सावद्य अनुष्ठान प्रधानतया गृहस्थ करते हैं, इसलिए कृत्य का उपलक्षण से गृहस्थ अर्थ भी होता है। गृहस्थों के सावद्य कृत्यों के उपदेशक **'किच्चोवएसगा'** कहलाते हैं। **'सिया'** का अर्थ सित या श्रित होता है; अर्थात् आरम्भ-परिग्रह में आसक्त; अथवा प्रबल मोहपाश में बद्ध—यह अर्थ भी होता है।

प्रश्न होता है, ऐसा वे क्यों करते हैं? किन कुसंस्कारों से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—**'एए जिया''''पंडियमाणिणो।'** आशय यह है कि उन अन्यतीर्थिक लोगों ने गृहत्याग करके प्रव्रज्या तो ले ली, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान आदि विकारों को जीत नहीं सके। उनके कुसंस्कार प्रबलरूप से उनमें विद्यमान हैं, उन्होंने वेष बदला है, जीवन अभी तक नहीं बदला। बाना तो बदल लिया, लेकिन अपनी बान (आदत) नहीं बदली।

दूसरा कारण यह है कि वे स्वयं अभी बाल हैं। जैसे बालक सत्-असत् का विवेक न होने के कारण जो मन में आये सो कह देते हैं, वैसे ही ये अन्यतीर्थिक तथाकथित परिव्राजक भी यथार्थ मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ हैं, इन्हें बालकवत् कहने-करने का भान नहीं है। साथ ही वे तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए भी अपने आपको तत्त्वज्ञ एवं पण्डित मानते हैं। प्रायः कई अन्यतीर्थी गृहत्यागी का वेष पहनते ही अपने आपको धुरंधर विद्वान्, उपदेशक और मोक्षपथिक मान बैठते हैं। परन्तु वैसी योग्यता के अभाव में वे अपना बहुत अधिक मूल्यांकन कर लेते हैं। इसीलिए किसी-किसी प्रति में **'अत्थ बालेऽवसीयइ'** पाठ भी मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस अज्ञान में पड़कर अज्ञजीव दुःखित होते हैं, उसी अज्ञान में ये अन्यतीर्थी वेषधारक पड़े हैं। **'भो न सरणं'**—सुधर्मास्वामी अपने शिष्यों को भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित बोधवाक्य को दोहराते हैं—**'भो'** हे शिष्यो! **'न सरणं'** ऐसे

---

१. पंचसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन्॥
—गृहस्थ के घर में पाँच कसाईखाने (हिंसा के उत्पत्तिस्थान) होते हैं जिन्हें निभाता हुआ वह हिंसा में प्रवृत्त होता है। वे पाँच हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखली और पानी का स्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यतीर्थी तथाकथित वेषधारक शरण्य—शरण के योग्य नहीं हैं, अथवा वे स्वयं अपना त्राण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दूसरों की आत्मा की रक्षा भी करने में समर्थ नहीं हैं।

सारांश यह है कि परिव्राजक जीवन अंगीकार करके पुनः गृहस्थ के सावद्य-कार्यों की प्रेरणा करने वाले वे लोग मोहबन्धन से बद्ध होने के कारण शीघ्र बन्धन-मुक्त नहीं हो पाते।

ऐसे तथाकथित परिव्राजक के साथ सुविहित साधु को कैसा व्यवहार रखना चाहिए इस सम्बन्ध में अगली गाथा शास्त्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मूल पाठ

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु ण मुच्छए।
अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

संस्कृत छाया

तच्च भिक्षुः परिज्ञाय, विद्वांस्तेषु न मूर्च्छेत् ।
अनुत्कर्षोऽप्रलीनो, मध्येन मुनिर्यापयेत् ॥२॥

अन्वयार्थ

(वियं भिक्खू) विद्वान् निर्ग्रन्थभिक्षु (तं च) उन अन्यतीर्थिकों को (परिन्नाय) भलीभांति जानकर (तेसु ण मुच्छए) उनमें मूर्च्छा (आसक्ति—ममता) न करे। (मुणि) अपितु वस्तुस्वभाव का मनन करने वाला मुनि (अणुक्कसे) किसी प्रकार का मद न करता हुआ, (अप्पलीणे) उन वैचारिक एवं आचारिक दृष्टि से शिथिल, प्रमत्त तथाकथित साधुओं के साथ अतिसम्पर्क न रखते हुए (मज्झेण) मध्यस्थभाव से (जावए) अपने संयम का निर्वाह करे।

भावार्थ

विद्वान् भिक्षु पूर्वोक्त प्रकार के विचार-आचार में शिथिल, अन्य-तीर्थिकों को जानकर उनके प्रति मूर्च्छित—आसक्त न हो। तथा किसी प्रकार का मद न करता हुआ, उनके साथ संसर्गरहित होकर मध्यस्थवृत्ति से रहकर संयमी जीवन यापन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

ऐसे वेषधारी से अनासक्त असंसर्ग होकर रहे

इस गाथा में सुविहित निर्ग्रन्थभिक्षु के लिए भगवान् महावीर का उपदेश—निर्देश है कि साधु ऐसे ढोंगी एवं वेषधारी प्रव्रजित के साथ अवसर आने पर मध्यस्थ रहे, न तो सर्वथा रूक्ष या उपेक्षक रहे, और न ही उसके साथ तादात्म्यभाव रखे, न मूर्च्छा-ममता रखे। बल्कि अनासक्त-सा, संसर्गरहित होकर रहे, अपने संयमी जीवन को निभाए।

परन्तु इस बोध के साथ ही शास्त्रकार ने दो खतरों से सावधान रहने का निर्देश ऐसे संयमी मुनाधु को किया है—'**अणुक्कसे परिन्नाय**'—अर्थात् वह भिक्षु पहले उन तथाकथित अन्यतीर्थिकों को देखते ही न भड़क उठे, उनका नाम सुनते ही रोष से वह आगबबूला न हो जाय, उनका साक्षात्कार होते ही वह पूर्वाग्रहवश उनके प्रति सहसा गलत धारणा न बना ले, उनके प्रति अन्यतीर्थी होने के कारण ही सहसा दोषारोपण न करे, उनके विचार-आचार को जाने बिना उन पर एकदम बरस न पड़े। ऐसे किसी भी अन्यतीर्थिक साधु से वास्ता पड़ने पर सर्वप्रथम उनसे मिले, उनके विचार-आचार के भलीभाँति जाने, उन्हें देखे परखे, तभी उनके साथ व्यवहार करने का निर्णय करे। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने '**परिन्नाय**' शब्द दिया है, जिसका अर्थ होता है ज्ञ-परिज्ञा से सर्वप्रथम उन्हें भलीभाँति जान ले—परख ले। अकसर ऐसा होता है कि अन्यतीर्थी लोगों में भी अम्बड़ परिव्राजक जैसे भव्य महान् एवं सरलात्मा मिल जाते हैं, जो विद्वान्, विचारक, अनाग्रही, तटस्थ एवं सम्यग्दर्शन के अभिमुख होते हैं। इसीलिए तो अतीर्थसिद्धा और अन्यलिंगसिद्धा कहकर वीतरागप्रभु ने अन्यतीर्थ (धर्मसंघ एवं अन्य साधुवेष) में भी मुक्त होने का विधान किया है। अतः पहले उन्हें भलीभाँति देखने-परखने के बाद ही उनके साथ व्यवहार का निर्णय करे।

दूसरा विशेषण है—'**अणुक्कसे**'। इसका अर्थ है मान लो, किसी साधु का अपना आचार-विचार उच्च है, वह वास्तव में इन्द्रिय, मन पर संयम एवं कषाय-विजय की साधना में जी-जान से जुटा हुआ है, उच्च जाति-कुल का है, और वह किसी साधु में कुछ शिथिल आचार देखता है, तो वह अपने उच्च आचार-विचार की, उच्च क्रियाकाण्ड की डींग न हांके, मिथ्याभिमान से अपने आपको ऊँचा या बड़ा कहने का प्रयत्न न करे, न ही दूसरों की निन्दा, बदनामी या नीचा दिखाने की वृत्ति से प्रेरित होकर कोई व्यवहार करे। दूसरों की निन्दा या बदनामी पर अपने आचार-विचार का सिंहासन ऊँचा जमाने का प्रयत्न न करे। न अन्य आचारवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को हीन कुल-जाति का होने से तिरस्कृत करे। अगर कोई व्यक्ति सरलतापूर्वक अपने आचारशैथिल्य का कारण बताकर स्वीकार करता है तो सिर्फ अन्यतीर्थी होने के कारण उसे बदनाम करके, अपनी बड़ाई करके उच्च आचारी होने की प्रगल्भता न करे। इसीलिए कहा है कि ऐसे समय में अनुत्कर्ष से युक्त रहे। जाति, कुल, आचार, शास्त्रज्ञान आदि के मद से दूर रहे। यानी किसी अन्यतीर्थी के साथ उक्त साधु का व्यवहार बहुत ही नम्रता, कोमलता, सरलता और क्षमा का होना चाहिए, तभी तो वह उसे सत्पथ पर ला सकता है। यदि आचारशैथिल्य देखते ही भड़क उठेगा, उसे बदनाम करने लगेगा, उससे रूखा व्यवहार करके उपेक्षापूर्वक दुरदुराने लगेगा, तो वह उसे सुधार तो सकेगा ही नहीं, उलटे दोनों ओर से तीव्रकषायवश कर्मबन्धन होगा। इसीलिए भगवान् महावीर ने नवीन कर्मबन्धन न हो, पुराने बद्धकर्म टूटें, इसी उद्देश्य से अन्यतीर्थिक साधुओं के साथ व्यवहार के लिए यह बोध-सूत्र दे दिया है।

साथ ही अन्यतीर्थिक साधु को भलीभाँति जान-परख लेने के बाद यदि ऐसा प्रतीत होता है कि वह गन्दे विचार का है, मिथ्यामूढ़मान्यताओं से युक्त है, उसके मन में क्षोभ और रोष है, तथा उसका आचार भी अत्यन्त निकृष्ट है, इतना ही नहीं, उसमें किसी प्रकार की सरलता नहीं है, मिथ्याभिमान का पुतला है, तो उसके विषय में निम्नोक्त सावधानी बरतने की शास्त्रकार ने शिक्षा दी है—(१) **वियं तेसु ण मुच्छए**, (२) **अप्पलीणे**, (३) **मज्झेण मुणि जावए**। आशय यह है कि ऐसे विचार-आचार से हीन तथाकथित परिव्राजकों के प्रति किसी प्रकार की ममता या आसक्ति न रखे, उनके साथ संसर्ग, अतिपरिचय, या अतिसम्पर्क न रखे, तथा मध्यस्थभाव से वस्तुस्वरूप का विचार करके व्यवहार करे।

आशय यह है कि तीन लोक के तत्त्व को जानने वाला मुनि आठ प्रकार के मदस्थानों में से किसी भी प्रकार का मद न करता हुआ तथाकथित परतीर्थी पार्श्वस्थ आदि के साथ संसर्गरहित होकर व्यवहार करे। परतीर्थी आदि के साथ यदि कदाचित् वास्ता पड़ जाय तो साधु अहंकाररहित होकर, भाव से उनके साथ संसर्ग न रखता हुआ, आत्मप्रशंसा एवं उनकी निन्दा न करता हुआ रागद्वेषरहित होकर संयमी जीवन यापन करे।

अब शास्त्रकार अगली गाथा में आरम्भ-परिग्रहवादी अन्यतीर्थिकों के मत का परिचय देते हुए निर्ग्रन्थभिक्षु को आरम्भ-परिग्रहरहित महान् आत्माओं की शरण ग्रहण करने का कर्तव्यनिर्देश करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं ।
अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

संस्कृत छाया

सपरिग्रहाश्च सारम्भा, इहैकेषामाख्यातम् ।
अपरिग्रहान् अनारम्भान् भिक्षुस्त्राणं परिव्रजेत् ॥३॥

अन्वयार्थ

(सपरिग्गहा) परिग्रहधारी (य) और (सारंभा) आरम्भ करने वाले जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह (इहं) मोक्ष के सम्बन्ध में (एगेसिं) कतिपय मतवादी (आहियं) कहते हैं। (भिक्खू) परन्तु भावभिक्षु निर्ग्रन्थमुनि (अपरिग्गहा अणारंभा) निष्परिग्रही और अनारम्भी पुरुषों के (ताणं) शरण में (परिव्वए) जाए।

भावार्थ

इस जगत् में आरम्भ-परिग्रहसमर्थकवादी कई अन्यतीर्थी कहते हैं कि परिग्रह रखने वाले जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थ भावभिक्षु निष्परिग्रही एवं अनारम्भी महात्माओं की शरण में जाए।

व्याख्या

आरम्भ-परिग्रहवादियों का मोक्ष

इस गाथा में एक ऐसे विचित्र मत का रहस्योद्घाटन कर रहे हैं, जिसका यह मन्तव्य है कि आरम्भ करने वाले और परिग्रह रखने वाले पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसके लिए दो शब्द शास्त्रकार ने प्रयुक्त किये हैं—**सपरिग्गहा य सारंभा**। जो धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद (दास-दासी या चौपाये जानवर), मकान, जमीन-जायदाद, शरीर के सुखसाधन एवं भोज्यसामग्री, एवं स्त्री-पुत्र आदि रखते हैं, वे 'सपरिग्रह' कहलाते हैं। धन-धान्य आदि न होने पर भी जो शरीर और भंडोपकरण आदि में ममता-मूर्च्छा रखते हैं, वे प्रव्रज्याधारी भी परिग्रही हैं। जो षट्कायिक जीवों का संहार करने वाला व्यापार (कार्य) करते हैं, वे 'सारम्भ' कहलाते हैं। जो जीवों का विनाशजनक व्यापार (प्रवृत्ति) न करते हुए भी औद्देशिक आहार खाते हैं, वे प्रव्रजित भी सारम्भ कहलाते हैं। शास्त्रकार का संकेत मोक्ष के सम्बन्ध में ऐसी विचारधारा वालों के प्रति है, जो यह मानते हैं कि आरम्भ-परिग्रह में ग्रस्त प्रव्रजित भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीनकाल में भारतवर्ष में कुछ ऐसे सम्प्रदाय थे, जो पत्नीपुत्रसहित ऋषि-मुनि बन जाते थे, वे या तो जंगलों में रहते या फिर बस्ती में रहते थे। जैनों के दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा से भ्रष्ट होकर यति और भट्टारक बने जो आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रहने लगे। इसी प्रकार संन्यासियों एवं परिव्राजकों में से भ्रष्ट होकर कुछ लोग 'महन्त' बन बैठे, जो बड़ी-बड़ी जमींदारी तथा धन-सम्पत्ति के मालिक बन गये। यहाँ तक कि गुप्तरूप से स्त्री भी रखने लगे। उनके इतने ठाठबाट के साथ नौकर-चाकर तो जुट जाने स्वाभाविक ही थे। यति लोग भी राज्याश्रित होकर पालकी, छत्र, चँवर आदि ऐश्वर्यसामग्री का उपभोग करने लगे। भिक्षाचरी नाममात्र को रह गयी, बहुधा वे पचन-पाचन, आयुर्वेदिक दवाओं तथा रसायनों के निर्माण में तथा विविध यंत्र-मंत्रों के प्रयोग में संलग्न रहने लगे। कुछ लोग जैनों में चैत्यवासी या बौद्धों में मन्दिरवासी या पुजारी बन गये। वे चैत्य या मन्दिर में पूजापाठ आदि के नाम पर जो भेंट, चढ़ावा या धन आता, उसका स्वयं उपभोग करने लगे।

ये जितने भी संन्यास, साधुत्व या मुनित्व के विकृत रूप हुए, वे सब विविध प्रकार के आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में खुलेआम जुट पड़े, परिग्रह के नाना रूपों में आसक्त हो गये। और इस प्रकार के आरम्भ-परिग्रह में लिप्त साधुनामधारी प्रव्रजित लोग अपनी उक्त चारित्रिक दुर्बलता को छिपाने के लिए कहने लगे—'आरम्भ-परिग्रह में युक्त पुरुष भी मोक्षमार्ग का आराधन कर सकते हैं। यह आरम्भ और परिग्रह हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं करते। अमुक आश्रम, मन्दिर, चैत्य, मठ, संस्थान, उपाश्रय या संस्था की जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति है। आश्रम, भोजनालय आदि को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर समारोह, अतिथि-सत्कार, प्रसादवितरण आदि करना पड़ता है, जिसमें आरम्भ-समारम्भ होता है, पर वह होता है, अमुक आश्रम आदि सार्वजनिक संस्थान के लिए।' परन्तु इतना सब होते हुए भी उसके पीछे एकत्रित होने वाली चल-अचल सारी सम्पत्ति का स्वामित्व उन्हीं तथाकथित प्रव्रजित ऋषि, मुनि, यति, योगी, भट्टारक, महन्त या पुजारी, भक्त आदि का रहता है। उन्हीं के आदेश-निर्देश से सारे आरम्भ-समारम्भ होते हैं, इसलिए ऐसे व्यक्ति आरम्भ-परिग्रह से निर्लिप्त नहीं कहे जा सकते। ऐसे मुस्टंडे साधुनामधारी लोग यह सोचते हैं और कहते रहते हैं, केवल गुरुमंत्र लेने की आवश्यकता है, न सिर मुंड़ाना है, न जटा बढ़ाना है, न कान फड़ाना है, गुरुकृपा से परमअक्षर की प्राप्ति अथवा दीक्षाप्राप्ति हो जाय तो बस बेड़ा पार हो जाता है, मोक्ष मिल जाता है। कितना सस्ता है, यह मोक्ष का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौदा ! कुछ त्याग करना-धरना नहीं है, न कोई आरम्भ-समारम्भ या परिग्रह छोड़ना है, केवल गुरु से मंत्र, वेष या अक्षर ले लो, संन्यास या साधुत्व का वेष ले लो, गुरुकृपा से दीक्षा ग्रहण कर लो, बस फिर मोक्ष रिजर्व (सुरक्षित) है। खूब अच्छा खाओ, पीओ, मौज करो।

कुछ प्रव्रजित लोग अपने मत-पंथ में आम जनता को आकर्षित करने के लिए बड़े-बड़े भोजों, भोजनसत्रों या धर्मार्थ भोजनशालाओं का आयोजन करते हैं, उन भोजनसत्रों में सारे दिन और रात प्रायः भट्टियाँ चलती रहती हैं, भोजन बनाने वगैरह का बहुत अधिक आरम्भ होता रहता है, इस प्रकार लोगों को भोजन में खिला-पिलाकर अनेक लोगों को अपने मत के अनुयायी बना लेते हैं। इस प्रकार के अनाप-सनाप आरम्भ-समारम्भजनक कार्यों में प्रत्यक्ष हाथ उन्हीं तथाकथित प्रव्रजितों का होता है। इतने बड़े-बड़े भोजनसत्रों को चलाने के लिए वे अपने भक्तों से भेंट के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें प्राप्त करते हैं। उस विशालमात्रा में संचित अर्थराशि से उन महन्तों, सन्तों, भक्तों आदि के बड़े-बड़े रंगमहल बनते हैं, प्रचुर भोग-विलास एवं ठाठबाट की सामग्री जुटाई जाती है, उत्तम भोजन और बहुमूल्य वस्त्रों का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार आरम्भ के साथ-साथ परिग्रह तो आ ही जाता है। सांस्कृतिक समारोह भी उसी धन से किये जाते हैं, जिनमें बड़े-बड़े आडम्बर रचे जाते हैं। भोले लोग प्रसादवितरण, आडम्बर एवं भव्य समारोह की चकाचौंध में पड़कर ऐसे सपरिग्रह-सारम्भ प्रव्रजित को गुरु बनाकर उनकी शरण में सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

स्त्री भी उस युग में परिग्रह मानी जाती थी इसलिए जहाँ ऐसा भोगी-विलासी वातावरण होता है, वहाँ ऐसी भोली-भाली नारियाँ उन आडम्बरियों एवं चमत्कार-प्रदर्शकों को गुरु बनाकर उन्हें सर्वस्व समर्पण कर देती हैं, सिर्फ मोक्ष के नाम पर। निगुरे को मोक्ष नहीं होता, इसलिए वे गुरुमंत्र लेकर मोक्ष की आशा में अपनी अस्मत भी लुटा देती हैं। कोई-कोई तो ऐसे महन्तों की गुप्तरूप से उपपत्नी भी बन जाती हैं। इस प्रकार की आरम्भ-परिग्रहवादियों की मोक्ष-कल्पना कितनी सुविधाजनक, सुलभ एवं सस्ती है !

अनारम्भी-अपरिग्रही की ही शरण लो

उपर्युक्त पंक्ति के द्वारा आरम्भ-परिग्रहवादियों के मोक्ष का बोध देकर शास्त्रकार ने सभी साधकों को इस मिथ्यामत से परिचित कर दिया है। उन्होंने डंके की चोट संसार के सभी साधकों की आँखें खोल दीं कि आरम्भ-परिग्रहासक्त साधक भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इस प्रलोभनकारी सुविधावादी मोक्ष की कल्पना करने वालों से बचो, ऐसे आरम्भपरिग्रहरत प्रव्रजित मुमुक्षु साधक के लिए शरणरूप नहीं हैं। इसी गाथा की निचली पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने परोक्षरूप से सूचित भी कर दिया है कि ऐसे आरम्भ-परिग्रह में ग्रस्त प्रव्रजित महानुभाव शरण के योग्य नहीं हैं, उनकी शरण में जाने से मुमुक्षु पुरुष की आत्मरक्षा नहीं हो सकती।

प्रश्न होता है कि उपरोक्त प्रव्रजित त्राण नहीं कर सकते तो त्राण पाने के लिए किसकी शरण लेनी चाहिए ? किसकी शरण में प्रव्रजित होना चाहिए ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए।**' इसका आशय यह है कि जो मुमुक्षु एवं भिक्षाजीवी साधक है, उसे उन्हीं की शरण में जाना या प्रव्रजित होना चाहिए, जो आरम्भ और परिग्रह से दूर हो। अर्थात् प्रव्रजित महापुरुष धर्मोपकरण के सिवाय अपने शरीर के भोग के लिए जरा भी परिग्रह नहीं रखते, तथा जो सावद्य आरम्भ नहीं करते, उन्हीं की छत्रछाया में जाना या प्रव्रजित होना चाहिए। वे कर्मलघु पुरुष ही संसार-सागर से भव्यजीवों को पार उतारने में नौका के समान समर्थ हैं, आरम्भपरिग्रहासक्त वेषधारी प्रव्रजित संसार-सागर से रक्षा करने या पार उतारने में समर्थ नहीं हैं। अतः औद्देशिक आदि आहार को वर्जित करके शुद्धभिक्षापरायण भावभिक्षु सर्वतोभावेन उन्हीं की शरण ग्रहण करे।

भिक्षाजीवी सुसाधु आरम्भ-परिग्रह से कैसे निर्लिप्त रह सकता है ? इसके विषय में अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

कडेसु घासमेसेज्जा विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

संस्कृत छाया

कृतेषु ग्रासमेषयेत् विद्वान् दत्तैषणां चरेत् ।
अगृद्धः विप्रमुक्तश्च अप (व) मानं परिवर्जयेत् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**विऊ**) विद्वान् सम्यग्ज्ञानवान भिक्षु (**कडेसु**) गृहस्थ द्वारा अपने लिए किये हुए चतुर्विध आहारों में से (**घासं**) ग्रास—कुछ ग्रास आहार की (**एसेज्जा**) गवेषणा करे या एषणापूर्वक ग्रहण करे। तथा वह (**दत्तेसणं**) दिये हुए आहार को विधिपूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेने की इच्छा (**चरे**) करे। फिर वह (**अगिद्धो**) गृद्धि—आसक्ति से रहित (**विप्पमुक्को**) तथा रागद्वेष (मनोज्ञ भोज्य वस्तु पर राग, अमनोज्ञ पर द्वेष व घृणा) से रहित होकर उस आहार का सेवन (उपभोग) करे। (य) और (**ओमाणं परिवज्जए**) किसी ने नहीं दिया, या खराब आहार दिया, या कम दिया या साधु को झिड़क दिया, उस समय दूसरे का अपमान करना छोड़ दे। अथवा दूसरे द्वारा किये गये अपने अपमान को मन से छोड़ दे—निकाल दे।

भावार्थ

विद्वान् सम्यग्ज्ञानी साधु दूसरों (गृहस्थों) द्वारा अपने लिए बनाये हुए आहारों की गवेषणा करे तथा दिये हुए आहार को ही ग्रहण करने की इच्छा करे। भिक्षाप्राप्त आहार में भी गृद्धि (मूर्च्छा) भाव न रखे। किसी के कुछ कह देने पर भी मुनि उसका अपमान न करे, अथवा किसी के द्वारा किये हुए अपमान को मन से निकाल दे।

व्याख्या

भिक्षाजीवी साधु को आहार के सम्बन्ध में कर्तव्यबोध

पूर्वगाथा में शास्त्रकार ने सुविहित भिक्षु को आरम्भ और परिग्रह से मुक्त महापुरुषों की शरण ग्रहण करने का निर्देश किया था परन्तु बाह्यरूप में आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देने पर भी मुनिजीवन में आरम्भ-परिग्रह कुछ नये रूप में आ जाते हैं, उनसे बचने के लिए साधु को इस गाथा में कर्तव्यबोध दिया गया है।

साधुजीवन में मुख्यतया तीन आवश्यकताएँ होती हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। इन तीनों में मुख्य समस्या भोजन की है। क्योंकि अहिंसा महाव्रत का पूर्ण पालक साधु अगर स्वयं भोजन पकाता या दूसरों से पकवाता है, अथवा जो आहार पकाता है, उसे प्रोत्साहन या अनुमोदन देता है तो इस कार्य से हिंसा होती है, हिंसाजनक कार्य का ही आरम्भ कहा जाता है। अतः साधु को आहार सम्बन्धी उक्त आरम्भ-दोष से बचना आवश्यक है। तब फिर आहार कैसे, कहाँ से प्राप्त करे, जिससे उसे आरम्भजन्य हिंसादोष न लगे? इसका समाधान शास्त्रकार प्रथम पंक्ति द्वारा देते हैं—'**कडेसु घासमेसेज्जा**।' दशवैकालिक सूत्र में संयमी साधु के लिए भिक्षाचरी करके आहार लाने का विधान है, आहार कैसा है? किसके लिए और क्यों बना है? इसकी पूरी जाँच (गवेषणा) करने का विधान है। यहाँ भी गवेषणा करने के लिए '**एसेज्जा**' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् सर्वप्रथम साधु को जो भोज्य-वस्तु लेनी है, उस घास (आहार) की गवेषणा (जाँच) करनी चाहिए कि यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोज्यवस्तु, जिसे मैं ले रहा हूँ, वह सचित्त, सचित्त पर रखी हुई या सचित्तमिश्रित या क्रीत (मेरे लिए खरीदी हुई) या कृत (मेरे निमित्त बनायी हुई औद्देशिक) आदि दोषों से युक्त तो नहीं है ? इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में 'वासैषणा' कहते हैं।

इसके पश्चात् कहा गया है—'विऊ दत्तेसणं चरे'। अर्थात् वासैषणा के बाद भिक्षु ग्रहणैषणा करे। जो चीज ग्रहण की जा रही है, उसे देने वाला कौन है ? किसी स्थिति में है, वह व्यक्ति गर्भवती बहन, लूला, अपाहिज आदि तो नहीं है, तथा मैं जो ग्रहण कर रहा हूँ, उसके पीछे कोई लौकिक स्वार्थ, लोभ, दैन्यकर्म, आजीविका, चाटुकारिता आदि दोष तो नहीं हैं ? इस प्रकार भिक्षा के रूप में ग्रहण की जाने वाली चीज की भी गवेषणा (जाँच-पड़ताल) करे। शास्त्रकार इसीलिए कहते हैं कि विद्वान् ज्ञानवान भिक्षु दी जाने वाली वस्तु की एषणा करे। इसके बाद कहा गया है—'अगिद्धो विप्पमुक्को य' अर्थात् भिक्षु भिक्षाप्राप्त उस आहार का सेवन अनासक्त एवं रागद्वेष से रहित होकर करे। यहाँ साधु को परिभोगैषणा करनी चाहिए। अर्थात् लाये हुए आहार का सेवन करते समय वह अगर आकस्मिकरूप से मनोज्ञवस्तु के प्रति रागभाव, अमनोज्ञ के प्रति द्वेष या घृणाभाव करता है अथवा खूब सराहना करके किसी सरस चीज को खाता है, या विरस आहार की निन्दा करके खाता है, स्वाद के लिए दूसरी वस्तु मिलाकर सेवन करता है तो ये भी आरम्भ एवं परिग्रह के ही प्रकार के दोष हो जाएँगे। इसलिए गृहीत आहार का उपभोग करते समय भी साधु को एषणा (सावधानी) करनी चाहिए।

अगर सुविहित भिक्षु, जो आरम्भ-परिग्रह से मुक्त रहने के लिए कृतसंकल्प है, वह यदि इन आहार से सम्बन्धित दोषों से दूर नहीं रहेगा तो पुनः आरम्भ-परिग्रह में लिपट जाने का खतरा पैदा हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार ने यहाँ आहार सम्बन्धी तीनों प्रकार की एषणाएँ करने की बात सूत्रपाठ द्वारा कर्तव्यबोध के रूप में सूचित कर दी है। इस गाथा में अन्त में जो 'ओमाणं परिवज्जए' शब्द हैं, उनका अर्थ शब्दशः करें तो 'अपमान को वर्जित करे' होता है, जो कि इसके अन्वयार्थ एवं भावार्थ में किया है। परन्तु यहाँ आहार की एषणा सम्बन्धी प्रसंग होने से 'ओमाणं' के बदले 'अइमाणं' शब्द विशेष उपयुक्त जचता है, जिसका अर्थ होता है—अतिमात्रा में आहार वर्जित करे या मात्रा से अधिक आहार न करे। 'अइमाणं' शब्द का दूसरा संस्कृतरूप 'अतिमान' भी होता है, जिसका खींचतान करने से 'प्रमाण की अधिकता का त्याग करे,' यह अर्थ भी अभिव्यक्त होता है।

निष्कर्ष यह है कि आरम्भ और परिग्रह का त्यागी साधु अपना जीवन-निर्वाह इस प्रकार करे, जिससे आरम्भ-परिग्रह में लिप्त न हो। इसीलिए शास्त्रकार कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं कि गृहस्थ ने आरम्भ एवं परिग्रह के द्वारा अपने लिए जो विविध आहार बनाया है— वह कृत (अन्य के द्वारा बनाया हुआ) आहार कहलाता है। साधु उसी कृत आहार में से कुछ आहार लेने की एषणा करे। यहाँ पर कृत आहार को ग्रहण करने का विधान करके शास्त्रकार ने १६ प्रकार के उद्गम[1] (आहार को बनाने में लगने वाले) दोषों का परिहार सूचित कर दिया है।

---

१. भिक्षाचारी के समय गृहस्थ से आहार बनाते समय लगने वाले १६ उद्गमदोष ये हैं—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोवरए य सोलसमे ॥२॥

(१) **आधाकर्म**—साधु को देने के लिए सामूहिक रूप से बनाया हुआ आहार; जिस साधु को देने के लिए वह आहार बनाया गया है, यदि वह साधु उस आहार को ले तो आधाकर्मदोष होता है और दूसरा साधु उस आहार को ले तो (२) **औद्देशिकदोष** हो जाता है। (३) **पूइकम्मे**—पवित्र आहार में यदि आधाकर्मी आहार का एक कण भी मिल जाता है, और हजार घर का अन्तर देकर भी उस आहार को लिया जाए तो वहाँ पूतिकर्मदोष होता है। (४) **मीसजाए**—जो आहार अपने तथा साधु के लिए शामिल करके बनाया गया हो, वह मिश्रजातदोष कहलाता है। (५) **ठवणा**—जो आहार साधु को देने के लिए खासतौर से रख दिया जाय, दूसरों को उसमें से जरा भी न दिया जाए, उसे स्थापनादोष कहते हैं। (६) **पाहुडिया**—मेहमानों को आगे-पीछे करके साधु के निमित्त से विशेषरूप से बनाया जाय, वहाँ प्राभृतिका दोष लगता है। (७) **पाओअर**—अन्धकारपूर्ण स्थान में प्रकाश करके साधु को आहार देना प्रादुष्करणदोष कहलाता है। (८) **क्रीय**—साधु के लिए आहार, वस्त्र आदि मोल लेकर साधु को देना क्रीतदोष है। (९) **पामिच्चे**—साधु के लिए आहार आदि उधार लाकर देना प्रामित्य दोष कहलाता है। (१०) **परियट्टिए**—साधु को देने के लिए अपनी वस्तु दूसरे को देकर उसके बदले में दूसरे की वस्तु लेकर साधु को देना परिवर्तितदोष कहलाता है। (११) **अभिहडे**—साधु के सामने ले जाकर या उनके स्थान पर या कहीं भी आहार देना अभिहृत-दोष कहलाता है। (१२) **उब्भिन्ने**—बर्तन के मुँह पर लगे हुए लेप को हटाकर उसमें से साधु को आहार देना, उद्भिन्नदोष कहलाता है। (१३) **मालोहडे**—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'**विऊ दत्तेसणं चरे**' का मतलब है—विद्वान् एवं संयमपालन करने में निपुण विवेकी मुनि दत्त यानी दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा बदले की भावना के बिना केवल कल्याणबुद्धि से जो आहार दिया जाय, उसी को गवेषणापूर्वक ग्रहण करे। इस उपदेश के द्वारा यहाँ १६ प्रकार के उत्पाददोषों[1] का परिहार करने की बात सूचित की गयी है।

पीढ़ा, निसैनी, सीढ़ी या स्थूल आदि लगाकर ऊपर, नीचे या तिरछी रखी हुई वस्तु को निकालकर साधु को देना, मालापहृतदोष कहलाता है। (१४) **अच्छिज्जे**—किसी दुर्बल से बलात् छीनकर या दबाव डालकर जबरन साधु को आहार दिलाना या देना आच्छेद्यदोष कहलाता है। (१५) **अणिसिट्ठे**—दो या अधिक मनुष्यों के साझे की वस्तु उन साझेदार की अनुमति के बिना साधु को दे देना अनिःसृष्टदोष कहलाता है। (१६) **अज्झोवरए** — साधुओं को गाँव में पधारे हुए जानकर भोजन में अधिक चावल आदि डाल देना अध्यवपूरकदोष कहलाता है। ये १६ दोष प्रायः गृहस्थ दाता के निमित्त से लगते हैं।

१. सोलह प्रकार के उत्पाददोष होते हैं, जो साधु की अनावधानी से, साधु के स्वयं के निमित्त से लगते हैं। वे इस प्रकार हैं—

धाई दुई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छाय।
कोहे माणे माया लोभे ये हवंति दस एए ॥१॥
पुव्विपच्छासंथव, विज्जा मंते य चुण्णजोगे य।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥२॥

(१) **धाई**—धात्री, धाय का काम करके आहार लेना धात्रीदोष है। (२) **दुई**—गृहस्थों का सन्देश पहुँचाना आदि दूती या दूत का कार्य करके आहार लेना दूती या दौत्यदोष है। (३) **निमित्ते**—भूत, भविष्य, वर्तमान का लाभालाभ एवं जीवन-मरण आदि का हाल बताकर आहार लेना निमित्तदोष कहलाता है। (४) **आजीव**—अपनी जाति, कुल आदि प्रकट करके या किसी प्रकार की आजीविका (हुन्नर) सिखाकर आहार लेना आजीवदोष है। (५) **वणीमगे**—भिखारी या कंगाल के समान दीनता बताकर आहार लेना वनीपकदोष कहलाता है। (६) **तिगिच्छा**—रोगी की चिकित्सा करके आहार लेना चिकित्सादोष कहलाता है। (७) **कोहे**—क्रोध करके आहार आदि लेना क्रोधदोष कहलाता है। (८) **माणे**—अभिमान के साथ आहार लेना मानदोष है। (९) **माया**—कपटपूर्वक या वेष बदलकर आहार लेना मायादोष है। (१०) **लोभे**—लोभ करके या लोभ दिखाकर अधिक या सरस आहार लेना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी उपदेश के अनुसार १० प्रकार के ग्रहणैषणा के दोषों[1] का त्याग भी यहाँ समझ लेना चाहिए। ये दस दोष गृहस्थ दाता और साधु दोनों को लगते हैं।

लोभदोष है। (११) पुव्विपच्छासंथव—आहार लेने से पहले या पीछे दाता की प्रशंसा या स्तुति (विरदावली) करके आहार लेना पूर्व-पश्चात्संस्तवदोष है। (१२) विज्जा—जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो उस मंत्र का नाम विद्या है, अथवा जो साधनों से सिद्ध की गई हो, उसे विद्या कहते हैं, उस विद्या के प्रयोग से आहार आदि लेना विद्यादोष है। (१३) मंते—जिसका अधिष्ठाता देव हो, अथवा जो साधनरहित अक्षरविन्यासमात्र हो, उसे मंत्र कहते हैं, उस मंत्र के प्रयोग से आहार आदि लेना मंत्रदोष है। (१४) चुण्ण—एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उसे चूर्ण कहते हैं, जैसे अदृष्ट-अंजन आदि चूर्ण प्रसिद्ध हैं। उन चूर्णों के प्रयोग से आहार आदि लेना चूर्ण-दोष कहलाता है। (१५) जोगे—पैरों के ऊपर लेप करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसे बताकर आहार आदि लेना योगदोष है। (१६) मूलकम्मे—गर्भ-पात आदि के लिए जड़ी-बूटी, कंद-मूल आदि बताकर आहार आदि लेना मूलकर्मदोष कहलाता है। ये १६ उत्पाददोष कहलाते हैं, जो रसलोलुप साधु-साध्वी को लगते हैं।

१. ग्रहणैषणा (या एषणा) दोष दस प्रकार के है। वे साधु और श्रावक दोनों को लगते हैं।

संकिय-मक्खिय निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्त-छड्डिय, एसणदोसा दस हवंति॥

(१) संकिय—आहार के विषय में साधु या गृहस्थ किसी को शंका हो तो भी उस आहार को ले लेना, शंकितदोष है। (२) मक्खिय - जिसके हाथ की रेखाएँ या केश सचित्त जल से भीगे हैं, उस दाता के हाथ से आहार ले लेना म्रक्षितदोष है। (३) निक्खित्त—सूझती वस्तु किसी अनूझती वस्तु पर पड़ी हो, फिर भी उसे ले लेना, निक्षिप्तदोष है। (४) पिहिय - सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु को ले लेना, पिहितदोष कहलाता है। (५) साहरिय—जिस बर्तन में अनूझती वस्तु रखी हो, उसी बर्तन में से उस अनूझती वस्तु को निकालकर दूसरे बर्तन में रखकर उस अनूझती वस्तु वाले बर्तन से आहार ले लेना संहृतदोष कहलाता है। (६) दायग—अन्धे, लूले, लंगड़े एवं अपाहिज व्यक्ति काँपते हुए हाथ-पैरों से चीज को नीचे गिराते हुए अबला (अबला)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'**अगिद्धो विप्पमुक्को य**' अर्थात् लाये हुए आहार अथवा गृहस्थ के यहाँ अथवा दूकानों में रखे हुए स्वादिष्ट आहार (स्वादिष्ट और सरस भोज्य पदार्थ) को देखकर अथवा सेवन करते हुए आसक्तिभाव या रसलोलुपता एवं रागद्वेष (मोह एवं घृणा) से रहित हो, यह कहकर यहाँ परिभोगैषणा के ५ दोषों[1] का परिहार करना भी साधु के लिए आवश्यक बताया है। इसी परिभोगैषणा के अन्तर्गत शास्त्रकार ने एक बात और सूचित कर दी—'**ओमाणं परिवज्जए।**' भिक्षा के समय साधु किसी गृहस्थ के यहाँ जाए और वह गृहस्थ उसका अपमान कर दे, झिड़क दे या गाली दे दे, तो भी साधु समताभावपूर्वक उसे दरगुजर कर दे। अथवा गृहस्थ कोई सरस चीज न दे या बहुत ही कम दे या रूखा-सूखा आहार अरुचि से दे तो उस पर झुँझलाकर बिगड़े नहीं, उस दाता का अपमान न करे। अपने तप और ज्ञान का अभिमान न करे।

से आहारादि दें, उसे ले लेना दायकदोष है। (७) **उम्मीसे**— असूझती वस्तु से मिली हुई सूझती वस्तु लेना उन्मिश्र दोष है। (८) **अपरिणय**—पूरे पके बिना वस्तु को ले लेना अपरिणतदोष है। (९) **लित्त**—तुरन्त लिपी हुई जमीन को लाँघकर आहारादि दे, उसे ले लेना, लिप्तदोष है। (१०) **छड्डिय**—आहार देने वाले दाता के हाथ से आहार की छींटें पड़ें, उस आहार को ले लेना छर्दितदोष है।

१. आहार करते समय साधु-साध्वियों के लिए जो दोष वर्जनीय हैं, उन्हें परिभोगैषणा दोष कहते हैं, वे ५ हैं—(१) **इंगाल**—सरस-स्वादिष्ट आहार की प्रशंसा करना। (२) **धूम**—बुरे, रूखे-सूखे आहार की सिर धुनते हुए निन्दा करना। (३) **कारणे**—प्रमाण (मात्रा—मर्यादा) से अधिक आहार करना। जैसे—पुरुष के लिए ३२ कौर, स्त्री के लिए २८ कौर एवं नपुंसक के लिए २४ कौर से अधिक भोजन करना प्रमाणदोष है। (४) **संजोग**—स्वाद के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाना, संयोजनादोष है। (५) **कारण**—वेदना (भूख की पीड़ा), वैयावृत्य (सेवा), ईर्यापथ, संयमनिर्वाहार्थ, धर्मचिन्तार्थ और प्राणरक्षार्थ ये साधु के आहार करने के ६ कारण हैं। इन ६ कारणों के बिना आहार करना कारणदोष है।

इस गाथा में शास्त्रकार ने आहार (भिक्षाचरी) के ४२ दोषों को वर्जित करने का उपदेश दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब अगली गाथा में शास्त्रकार लोकवाद के मिथ्या विचार श्रवण करने का निषेध करते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

लोयवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहियं ।
विवरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुयं ॥५॥

संस्कृत छाया

लोकवादं निशामयेत्, इहैकेषामाख्यातम् ।
विपरीतप्रज्ञासम्भूतमन्योक्तं तदनुगम् ॥५॥

अन्वयार्थ

(इहं) इस लोक में (एगेसिं) किन्हीं लोगों का (आहियं) कथन है कि (लोयवायं) पौराणिकों की बहुचर्चित अतिप्रचलित पुराणकथा या पौराणिक-सिद्धान्त या लौकिक लोगों द्वारा कही हुई बातें (णिसामिज्जा) सुनना चाहिए। किन्तु (विवरीयपन्नसंभूयं) वस्तुतः पौराणिकों का सिद्धान्त विपरीतबुद्धि से रचित है तथा (अन्नउत्तं तयाणुयं) अन्य अविवेकियों ने जो कहा है, उसी का अनुगामी, यह लोकवाद है।

भावार्थ

इस जगत् में कुछ लोगों का कहना है कि लोकवाद—पौराणिक कथा या सिद्धान्त को सुनना चाहिए, किन्तु यह लोकवाद परमार्थ से विपरीत बुद्धि द्वारा रचित है। दूसरे अविवेकियों ने जो अर्थ बतलाया है, उसी का अनुसरण करने वाला यह लोकवाद है।

व्याख्या

लोकवाद : कितना हेय, ज्ञेय व कितना उपादेय ?

शास्त्रकार ने इस गाथा में बहुचर्चित लोकवाद की मीमांसा की है। लोकवाद क्या है ? उसका आविर्भाव कैसे संयोगों में हुआ है ? क्या वह हेय है, ज्ञेय है अथवा उपादेय है ?

वस्तुतः लोकवाद उस युग में प्रचलित पौराणिक मान्यताएँ हैं, जिनमें लोक-परलोक के सम्बन्ध में, तथा मृत्यु के बाद के रहस्य के सम्बन्ध में तथा ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियों के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक, विसंगत एवं ऊटपटाँग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यताएँ भरी पड़ी हैं। इसलिए शास्त्रकार अपनी ओर से इस चर्चा को प्रस्तुत करके विज्ञपुरुषों का समाधान नीचे की पंक्ति से करते हैं।

वे कहते हैं—**लोयवाय णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहियं**। अर्थात् कुछ लोगों का हमसे अनुरोध है कि आप इस प्रसिद्ध लोकवाद को भी सुन लें। लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि हमने लोकवाद को सुन और देख रखा है। यह लोकवाद तो यथार्थ वस्तुस्वरूप न बताकर विपरीत वस्तुस्वरूप बताने वाले अविवेकी मतवादियों का-सा बे-सिर-पैर का विधान है। अतः लोकवाद उन्हीं अविवेकियों का पिछलग्गू है। निष्कर्ष यह है कि जिस विचारधारा का कोई सिरा नहीं है, उस लोकवाद जैसी विचारधारा को जानना-सुनना ही बेकार है। इसीलिए शास्त्रकार लोकवाद के श्रवण-मनन के प्रति उपेक्षा के विषय में कहते हैं - **विवरीयपन्नसंभूयं**। यह लोकवाद परमार्थ से, यथार्थ वस्तुस्वरूप से विपरीतबुद्धि के द्वारा रचित है।

अगली गाथा में शास्त्रकार लोकवाद को विपरीतबुद्धि से रचित होना प्रमाणित करते हैं—

मूल पाठ

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सइ।
अंतवं णिइए लोए, इति धीरोऽतिपासय ॥६॥

संस्कृत छाया

अनन्तो नित्यो लोकः, शाश्वतो न विनश्यति।
अन्तवान्नित्यो लोक इति धीरोऽतिपश्यति ॥६॥

अन्वयार्थ

(**लोए**) यह लोक (पृथ्वी आदि लोक), (**अणंते**) अनन्त अर्थात् सीमारहित —असीम, (**निइए**) नित्य और (**सासए**) शाश्वत है। (**ण विणस्सइ**) यह नष्ट नहीं होता है। यह किसी का कथन है। तथा (**लोए**) यह लोक (**अंतवं**) अन्तवान्—ससीम, (**णिइए**) और नित्य है, (**इति**) ऐसा (**धीरो**) व्यास आदि धीरपुरुष (**अतिपासइ**) विशेष देखते हैं अर्थात् कहते हैं।

भावार्थ

यह लोक अनन्त (असीम), नित्य और शाश्वत है, इसका कभी विनाश नहीं होता है; ऐसा कुछ मतवादी कहते हैं। तथा यह लोक अन्तवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ससीम—परिमित), और नित्य है, यह व्यास आदि धीरपुरुषों का अतिदर्शन है, विशेष कथन है।

व्याख्या

लोकवाद की विचित्र मान्यताएँ

पूर्वपक्ष में लोकवाद को सुनने के अनुरोध पर शास्त्रकार ने लोकवाद को विरोधोक्तिरंजित बताकर अविवेकी मतों का ही साथी बताया था। इस गाथा में लोकवाद की मान्यताओं के कुछ नमूने शास्त्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं। **'अणंते णिइए लोए'**— किन्हीं का यह मत है कि लोक अनन्त है। अनन्त का मतलब है—जिसका अन्त नहीं होता। आशय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, तथा एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं—उन सबको मिलाकर लोक कहते हैं। इस प्रकार के लोक का कभी निरन्वय नाश नहीं होता। अर्थात् इस जन्म में जो जैसा है, वह परलोक में भी, यहाँ तक कि सदा काल के लिए वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष पुरुष ही होता है, स्त्री स्त्री ही होती है। अन्वय—वंश (जन्म) के रूप में कभी उसका नाश नहीं होता। अथवा यह लोक अनन्त है अर्थात् इसकी कालकृत कोई भी अवधि नहीं है, यह तीनों कालों में विद्यमान रहता है। तथा यह लोक नित्य है, अर्थात् उत्पत्ति-विनाशरहित, सदैव स्थिर एवं एकसरीखे स्वभाव वाला है। एवं यह लोक शाश्वत है, अर्थात् बार-बार उत्पन्न नहीं होता, सदैव वर्तमान रहता है। यद्यपि द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्यों (अवयवियों) की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नहीं है, तथापि कारणद्रव्य परमाणुरूप से इसकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती इसलिए यह शाश्वत है। क्योंकि उनके मतानुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु नित्य हैं।

'अंतवं णिइए लोए'—किन्हीं पौराणिकों के मतानुसार यह लोक अन्तवान् है। जिसका अन्त यानी सीमा हो, उसे अन्तवान कहते हैं। यानी लोक ससीम है, परिमित—सीमित है। पौराणिकों बताया है कि 'यह पृथ्वी सप्तद्वीप-पर्यन्त है। लोक तीन हैं। चार लोकसंनिवेश है,'[1] इत्यादि रूप में लोकसीमा दृष्टिगोचर होती है। तथा इस प्रकार के परिमाण वाला लोक नित्य है, क्योंकि प्रवाहरूप से यह आज भी दिखाई देता है।

इति धीरोऽतिपासइ—इसका आशय यह है कि लोकवाद इस प्रकार के परस्पर विरोधी और विवादास्पद मन्तव्य व्यास आदि के समान धीरपुरुष का

---

१. 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा''' इत्यादि सिद्धान्त पुराण में बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिदर्शन है। मूल में यहाँ 'अतिपासइ' शब्द है, उसका सीधा अर्थ 'अतिदर्शन करता है,' होता है। अतिदर्शन का तात्पर्य है—दर्शन का—वस्तुस्वरूप को देखने का अतिक्रमण। वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन उसी को हो सकता है, जिसका दर्शन (दृष्टि) सम्यक् हो।

इसके अतिरिक्त लोकवादी मन्तव्य के कुछ नमूने और भी हैं। जैसे वे प्ररूपणा करते हैं—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च' (जो पुत्रहीन है, उसकी गति नहीं होती, स्वर्ग तो उसे मिलता ही नहीं) 'ब्राह्मणो हि देवता' (ब्राह्मण ही देव है) 'श्वानो यक्षाः' (कुत्ते यक्ष हैं) 'गोभि हंतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोकाः' (गाय के द्वारा मारे हुए पुरुष को या गोहत्या करने वाले को लोक नहीं मिलते)।[1] ये और इस प्रकार के एकान्तिक एवं युक्तिरहित लोकवाद के मन्तव्य हैं। व्यास आदि ने पुराणों में इस प्रकार के लोकवाद का निरूपण किया है।

अगली गाथा में शास्त्रकार पुनः पौराणिकों के लोकवाद के सन्दर्भ में ईश्वर के सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं—

मूल पाठ

अपरिमाणं वियाणाइ, इहमेगेसिमाहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासई ॥७॥

संस्कृत छाया

अपरिमाणं विजानाति, इहैकेषामाख्यातम् ।
सर्वत्र सपरिमाणमिति, धीरोऽतिपश्यति ॥७॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (एगेसिं) किन्हीं का (आहियं) यह कथन है कि पौराणिकों आदि का अवतार (भगवान् या तीर्थंकर) (अपरिमाणं) सीमातीत पदार्थ को (वियाणाइ) जानता है। किन्तु (सव्वत्थ) सर्वदेश-काल के विषय में (सपरिमाणं) परिमाणसहित जानता है, (इति) इस प्रकार (धीरो) धीरपुरुष (अतिपासइ) अतिदर्शन करता है।

---

१. ब्राह्मण देवता हैं, कुत्ते यक्ष हैं, इत्यादि बातें आलंकारिक हैं। इनको आलंकारिक रूप में न मानकर ज्यों का त्यों मानने का यहाँ खण्डन है। परन्तु आलंकारिक रूप में मानने का कोई विरोध नहीं है। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इस लोक में किन्हीं (पौराणिकों आदि) का यह मन्तव्य है कि ईश्वर या अवतार (तीर्थंकर या भगवान्) अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा होने से सीमातीत (अनन्त) पदार्थों को जानता अवश्य है, किन्तु सर्वक्षेत्र-काल में सब पदार्थों का ज्ञाता सर्वज्ञ नहीं है। वह परिमित पदार्थों का ज्ञाता पुरुष है। ऐसा धीरपुरुष का अतिदर्शन है।

व्याख्या

तीर्थंकर, ईश्वर या अवतार कितना ज्ञाता, कितना नहीं ?

इस गाथा में लोकवाद के सन्दर्भ में ईश्वर की सर्वज्ञता से सम्बन्धित चर्चा प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'अपरिमाणं वियाणइ।' यहाँ सर्वज्ञता के सम्बन्ध में पौराणिक आदि लोकवादियों की दो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—एक मान्यता तो यह है कि ईश्वर या अवतार अनन्त अपरिमित पदार्थों को जानता है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञाता है। उनकी कोई संख्या नियत नहीं है।

दूसरी मान्यता यह है कि हमारा ईश्वर या अवतारी पुरुष अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता अवश्य है, लेकिन वह सर्वज्ञ नहीं है, यानी सर्वक्षेत्रकाल के सब पदार्थों का ज्ञाता नहीं है। सीमित (अपरिमाण) क्षेत्र-काल में ही पदार्थों को जानता-देखता है। अथवा अतीन्द्रिय द्रष्टा तथाकथित तीर्थंकर अपरिमित ज्ञानी होकर भी जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हों, किसी प्रयोजन में आते हों, उन्हीं को जानता है। जैसा कि आजीवक अपने तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कहते हैं—

सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥

तीर्थंकर सभी पदार्थों को देखे या न देखे, जो अभीष्ट या मोक्षोपयोगी पदार्थ हैं, उन्हें देख ले, इतना ही काफी है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान भला हमारे किस काम का ? कीड़ों की संख्या जानने से भला मतलब भी क्या है ?

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे॥

अतएव हमें उस (तीर्थंकर) के अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्तव्य-अकर्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का ही विचार करना चाहिए। अगर दूरदर्शी को ही प्रमाण मानेंगे तो फिर हम गीधों की उपासना करने वाले माने जायेंगे। क्योंकि गीध आकाश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत दूर-दूर तक के पदार्थों को देख लेता है। वह सर्वज्ञ को पूर्णज्ञाता न मानने वाले अन्यतीर्थियों का मत है। इसी आशय को व्यक्त करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं—**'सव्वत्थ सपरिमाणं'**। अथवा दूसरों का यह कहना है कि समस्त देश-कालों में स्थित पदार्थसमूह परिमाणयुक्त है, परिमित है, अतः इस प्रकार अन्य-पौराणिकों का ईश्वर जानता-देखता है।

अथवा इस गाथा के पूर्वार्द्ध में पौराणिक मत की मान्यता प्रदर्शित की है, क्योंकि उनके मत में ईश्वर का ज्ञान सभी सत् पदार्थों को जानने वाला माना गया है। जैसे कि श्रुति में कहा है—**'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'** (जो सर्वज्ञ है, वह सब जानता है) तथा उत्तरार्द्ध में आजीवक मत में मान्य तीर्थंकर ज्ञान की सीमा बताई गई है।

अथवा सम्पूर्ण गाथा में पौराणिक मत का ही प्ररूपण है। वह इस प्रकार है – स्वयम्भू ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगों का होता है और रात्रि भी इतनी ही होती है। कहा भी है—

'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।'

ब्रह्माजी दिन के समय जब सब पदार्थों की सृष्टि करते हैं, तब उन्हें सभी पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात में जब वह सोते हैं, तो उन्हें परिमित ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने के कारण उनमें ज्ञान और अज्ञान दोनों की सम्भावना परिलक्षित होती है। अथवा वे कहते हैं—ब्रह्मा एक हजार दिव्यवर्ष तक सोये रहते हैं, उस समय वह कुछ नहीं देखते, और जब उतने ही काल तक वे जागते हैं, उस समय वह देखते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'धीरोऽतिपासई'** यानी धीर ब्रह्मा का यह लोकवादानुचिन्तन अतिदर्शन है। इस प्रकार बहुत से लोकवाद प्रचलित हैं।

अब अगली गाथा में पूर्वगाथाओं में उक्त लोकवाद की लोक की अनन्त, नित्य आदि मान्यता का खण्डन करते हैं—

मूल पाठ

जे केइ तसा पाणा चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू, जेण ते तसथावरा ॥८॥

संस्कृत छाया

ये केचित् त्रसाः प्राणास्तिष्ठन्त्यथवा स्थावराः ।
पर्यायोऽस्ति तेषामञ्जू येन ते त्रसस्थावराः ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(जे केइ) जो कोई (तसा) त्रस (अदु) अथवा (थावरा) स्थावर (पाणा) प्राणी (चिट्ठति) इस विश्व में स्थित हैं, (से) उनका (अंजू) अवश्य (परियाए) पर्याय (अत्थि) होता है। (जेण) जिससे (ते) वे (तस थावरा) त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं।

भावार्थ

इस लोक में जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, वे अवश्य एक दूसरे पर्याय में परिणत होते हैं। कारण यह है कि त्रस स्थावरपर्याय को एवं स्थावर त्रसपर्याय को प्राप्त करता है।

व्याख्या

लोकवाद का खण्डन : त्रसस्थावर पर्याय परिवर्तन

पूर्वगाथा में यह बताया गया था कि लोकवाद यह मानता है कि त्रस, त्रस ही रहता है, स्थावर, स्थावर ही। पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर भी स्त्री ही होती है। इस गाथा में उक्त मान्यता का निराकरण किया है—**'जे केइ तसा पाणा'** आशय यह है—त्रस उसे कहते हैं, जो त्रास (भय) पाते हैं। द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रस हैं। एवं जो जीव स्थितिशील हैं या जिनमें स्थावरनामकर्म का उदय है, तथा सुषुप्त चेतना है, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि स्थावर कहलाते हैं। अतः यह मान्यता कि जो जीव त्रस हैं, वे त्रस ही रहते हैं, स्थावर नहीं होते, या जो जीव स्थावर हैं, वे स्थावर ही रहते हैं, त्रस नहीं होते यह लोकवाद सत्य नहीं है।

यदि यह लोकवाद सत्य हो कि जो मनुष्य आदि इस जन्म में जैसा है, दूसरे जन्म में भी वह वैसा ही होता है तब तो दान, अध्ययन, जप, तप, यम, नियम आदि समस्त अनुष्ठान निरर्थक हो जाएँगे। क्योंकि जब यह मान्यता स्थिर हो जाएगी कि आज जो व्यक्ति सामान्य गृहस्थ है, वह यदि अगले जन्म में गृहस्थ ही रहेगा या देवगति को प्राप्त नहीं होगा, तब वह यम-नियमादि की साधना क्यों करेगा? लोकवाद के समर्थकों ने भी जीवों का एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाना स्वीकार किया है। जैसा कि वे कहते हैं—

'स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते।'

अर्थात्—'वह पुरुष शृगाल होता है, जो विष्ठा के सहित जलाया जाता है।'

तथा और भी प्रमाण लीजिए—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुं तृणीकृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्यवादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ॥

अर्थात् जो गुरु के प्रति तू या हूं कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है, तथा ब्राह्मणों को वाद में पराजित करता है, वह मरकर श्मशान में वृक्ष होता है, जो कंक, गिद्ध आदि नीच पक्षियों द्वारा सेवित होता है ।

इसलिए त्रस एवं स्थावर प्राणियों का अपने-अपने किये हुए कर्म के अनुसार पर्यायपरिवर्तन होता ही रहता है । स्मृति में भी स्पष्ट कहा है --

अन्तःप्रज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नराः ॥

अर्थात्—वे मनुष्य शरीर से होने वाले कर्म-दोषों के कारण स्थावर बन जाते हैं, वे अन्दर सुषुप्त प्रज्ञावान तथा सुख-दुःख से युक्त होते हैं ।

अतः 'पुरुष मर कर पुरुष ही होता है' इत्यादि लोकवाद का खण्डन उन्हीं के वचनों से हो जाता है ।

लोकवादियों ने जो यह कहा था कि 'यह लोक अनन्त और नित्य है,' इस विषय में हमारा मन्तव्य यह है कि अगर वे इस दृष्टि से लोक को नित्य मानते हैं कि पदार्थों की अपनी-अपनी जाति (सामान्य) का नाश नहीं होता, तब तो हमें कोई आपत्ति नहीं । क्योंकि ऐसा मानने पर तो जैनदर्शन मान्य परिणामनित्यत्व पक्ष को ही उन्होंने स्वीकार कर लिया । परन्तु यदि ऐसा न मानकर वे पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशरहित, स्थिर, एक स्वभाव वाले मानकर लोक को नित्य मानते हों तो यह सत्य नहीं है, क्योंकि जगत् में कोई भी पदार्थ उत्पत्ति-विनाशरहित, स्थिर, एक स्वभाववाला नहीं देखा जाता है । अतः ऐसी मान्यता प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है । इस जगत् में ऐसा एक भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाले पर्यायों से युक्त न हो । पदार्थ प्रतिक्षण पर्यायरूप से उत्पन्न होते हुए और विनष्ट होते हुए दिखाई देते हैं । अतएव वे पर्यायरहित कूटस्थनित्य कैसे हो सकते हैं ? और फिर एक द्रव्यविशेष की अपेक्षा से कार्यद्रव्यों को अनित्य कहना और आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को सर्वथा नित्य कहना भी असत्य है । क्योंकि सभी पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होकर विभागरहित ही प्रवृत्त होते हैं । यदि ऐसा न माना जाएगा तो आकाश-पुष्प के समान वस्तु का वस्तुत्व ही नहीं रहेगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् लोकवादियों का यह कथन भी सर्वथा असंगत है, कि 'सात द्वीपों से युक्त होने के कारण यह लोक अन्तवान्—परिमित ही है।' क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। विचारशील प्राज्ञ पुरुष प्रमाण-विरुद्ध बात को नहीं मान सकते।

लोकवादियों का यह मन्तव्य भी हास्यास्पद है कि पुत्रहीन पुरुष की कोई गति (लोक) नहीं। यह छोटे बच्चे के कथन के समान युक्तिरहित है। क्योंकि हम पूछते हैं— विशिष्ट लोक या गति की प्राप्ति क्या पुत्र की सत्तामात्र से होती है या पुत्र के द्वारा किये हुए विशिष्ट अनुष्ठान से होती है? यदि पुत्र के अस्तित्व मात्र से विशिष्ट लोक की प्राप्ति हो, तब तो समस्त लोक, कुत्तों और सूअरों से परिपूर्ण हो जाएँगे, क्योंकि इनके बहुत पुत्र होते हैं। यदि पुत्र द्वारा किये हुए शुभ अनुष्ठान से विशिष्ट लोक की प्राप्ति मानते हो तो यह कथन भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि जिस पुरुष के दो पुत्र हैं, उनमें से एक ने शुभ अनुष्ठान किया है, दूसरे ने अशुभ अनुष्ठान किया है तो बताइए वह पिता एक पुत्र के शुभ अनुष्ठान के प्रभाव से उत्तम लोक में जाएगा अथवा अथवा दूसरे पुत्र द्वारा किये गए अशुभ अनुष्ठान के कारण अशुभ लोक में जाएगा? तथा उस पिता ने जो कर्म किये हैं, वे तो निष्फल ही होंगे न? अतः पुत्ररहित के लिए कोई लोक (गति) नहीं है, यह कथन अविवेकपूर्ण है।

कुत्ते यक्ष हैं, ब्राह्मण देव हैं आदि कथन भी युक्तिशून्य होने से उपादेय नहीं हो सकता।

लोकवादियों का यह कथन भी यथार्थ नहीं है कि 'हमारे तथाकथित तीर्थंकर अपरिमित पदार्थों को तो जानते हैं, लेकिन सर्वज्ञ नहीं।' क्योंकि जो पुरुष अपरिमित पदार्थदर्शी होकर भी सर्वज्ञ नहीं है, वह हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) पदार्थों का उपदेश देने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि उसे हेय-उपादेय समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं है। सर्वज्ञ हुए बिना वह अतीन्द्रिय पदार्थों का उपदेश भी नहीं दे सकेगा। अतः यह मान्यता निराधार है।

कीटों आदि की संख्या का ज्ञान भी उसके लिए उपयोगी ही है। अन्यथा, बुद्धिमान पुरुष ऐसी शंका करेंगे कि उसे कीड़ों के विषय का ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं होगा। ऐसी आशंका के कारण वे निःशंक होकर उनके द्वारा उपदिष्ट हेय-उपादेय में निवृत्त-प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे। अतः अपरिमितपदार्थदर्शी या अतीन्द्रियपदार्थद्रष्टा को सर्वज्ञ मानना अत्यावश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ च लोकवादियों ने जो यह कहा था कि ब्रह्मा सोते समय कुछ नहीं जानता है, जागते समय सब कुछ जानता है, सो यह बात भी कोई अपूर्व नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी सोते समय कुछ नहीं जानते और जागते समय जानते हैं। यह कथन भी प्रमाणशून्य होने के कारण उपेक्षणीय है कि ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उदय (सृष्टि का सर्जन) है। वास्तव में इस जगत् में दिखाई देने वाले सभी इस पृथ्वी आदि स्वरूप वाले जगत् का एकान्तरूप से न तो उत्पाद होता है और न विनाश। द्रव्य रूप से जगत् सदैव बना रहता है। कहा भी है—**'न कदाचिदनीदृशं जगत्'** यह जगत् कभी ऐसा नहीं था, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् जगत् सदा ऐसा ही बना रहता है।

इस प्रकार 'यह जगत (लोक) अनन्त है' इत्यादि लोकवाद को छोड़कर शास्त्रकार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को गाथा के उत्तरार्ध में प्रस्तुत करते हैं—**'परियाए अत्थि से'''** अर्थात् इस संसार में जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे अपने-अपने कर्म का फल भोगने के लिए अवश्य ही एक दूसरे पर्याय (गति एवं योनि) में जाते हैं। यह बात निश्चित और आवश्यक है। त्रसप्राणी अपने कर्म का फल भोगने के लिए स्थावरपर्याय में जाते हैं और स्थावरप्राणी त्रसपर्याय में जाते हैं। परन्तु त्रस दूसरे जन्म में भी त्रस ही होते हैं और स्थावर, स्थावर ही होते हैं, अर्थात् जो इस जन्म में जैसा है, वह दूसरे जन्म में भी वैसा ही होता है, ऐसा नियम नहीं है। त्रसजीव कर्मोदयवश स्थावर हो सकते हैं, स्थावरजीव भी शुभ कर्मोदय से त्रस हो सकते हैं।

इसलिए लोकवाद की अधिकांश मान्यताएँ एकान्त तथा युक्तिविरुद्ध होने से जानने, सुनने और अपनाने योग्य नहीं हैं।

अब आगे की गाथाओं में शास्त्रकार अविरतिरूप कर्मबन्ध के कारण से बचने लिए अहिंसा, समता, कषायविजय, आदि स्वसमय का प्रतिपादन करते हैं—

मूल पाठ

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥९॥

एव खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचन।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वुसिए य विगयगेही आयाणं सं (सम्म) रक्खए ।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सततं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

समिए य सया साहू, पंचसंवरसंवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥१३॥

त्ति बेमि

संस्कृत छाया

उदारं जगतो योगं विपर्यासं पर्ययन्ति ।
सर्वे आक्रान्तदुःखाश्च, अतः सर्वेऽहिंसिताः ॥९॥

एवं खलु ज्ञानिनः सारं यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसासमताञ्चैव, एतावद् विजानीयात् ॥१०॥

व्युषितश्च विगतगृद्धिराज्ञानं सम्यग्रक्षेत् ।
चर्यासनशय्यासु भक्तपाने चान्तशः ॥११॥

एतेषु त्रिषु स्थानेषु संयतः सततं मुनिः ।
उत्कर्षं ज्वलनं मायां मध्यस्थं च विवेचयेत् ॥१२॥

समितस्तु सदा साधुः पञ्चसंवरसंवृतः ।
सितेष्वसितो भिक्षुरामोक्षाय परिव्रजेत् ॥१३॥

इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ

(**जगओ**) औदारिक त्रस-स्थावर जीवरूप जगत् का (**ओगं**) बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि संयोग—अवस्थाविशेष (**उरालं**) स्थूल (उदार) है। (**य**) और वह (**विवज्जासं**) विपर्यय को (**पल्लिति**) प्राप्त होता है। (**य**) और (**सव्वे**) सभी प्राणी (**अक्कंतदुक्खा**) दुःख से आक्रान्त-पीड़ित हैं। (**अओ**) अतः (**सव्वे**) सभी प्राणी (**अहिंसिया**) हिंसा करने योग्य नहीं हैं ॥९॥

(**नाणिणो**) विवेकी पुरुष के लिए (**एयं खु**) यही (**सारं**) सार —न्यायसंगत है (**जं**) कि (**किंचण**) स्थावर-जंगम किसी जीव को (**न हिंसइ**) न मारे। (**अहिंसा-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयं) अहिंसा के कारण सब जीवों पर समता रखना, (**च**) और उपलक्षण से सत्यादि, (**एतावंतं एव**) इतना ही (**वियाणिया**) जानना चाहिए ॥१०॥

(**वुसिए**) दस प्रकार की साधुसमाचारी में स्थित (**य**) और (**विगयगेही**) आहार आदि में गृद्धिरहित (**आयाणं**) मोक्ष प्राप्त करने के साधन—आदानभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र की (**सम्मरक्खए** या **संरक्खए**) सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (**चरिआसणसेज्जासु**) चर्या—चलने-फिरने, आसन - बैठने, और शय्या - सोने के विषय में (**अंतसो य**) और अन्ततः (**भत्तपाणे**) आहार-पानी के विषय में सदा उपयोग रखे ॥११॥

(**एतेहिं**) इन (**तिहिं ठाणेहिं**) तीन स्थानों के, (**सयय**) सतत—निरन्तर (**संजए**) संयम में रत (**मुणी**) मुनि (**उक्कसं**) उत्कर्ष—मान-अभिमान, (**जलणं**) ज्वलन—क्रोध, (**णूमं**) माया—कपट, (**च**) और (**मज्झत्थं**) लोभ का (**विगिंचए**) परित्याग करे ॥१२॥

(**भिक्खू**) भिक्षाशील (**साहू**) साधु (**सया**) सदा (**समिए उ**) समिति से युक्त और (**पंचसंवरसंवुडे**) पाँच संवर से आत्मा को आस्रव से रोकता (सुरक्षित रखता) हुआ (**सिएहिं**) गृहपाश—गृहस्थ के बन्धन में बद्ध गृहस्थों में (**असिए**) न बंधता—मूर्च्छा न रखता हुआ (**आमोक्खाय**) मोक्ष की प्राप्तिपर्यन्त (**परिव्वएज्जासि**) संयम का अनुष्ठान करे। (**त्ति बेमि**) सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—इस प्रकार मैं कहता हूँ ॥१३॥

भावार्थ

औदारिक त्रसस्थावररूप जगत् के बाल्य, यौवन एवं वृद्धत्व आदि संयोग (अवस्थाविशेष) स्थूल हैं, वे विपर्य्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते हैं। सभी प्राणी दुःखाक्रान्त हैं, या सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, इसलिए सभी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

विवेकी पुरुष के लिए यही न्यायसंगत सारभूत बात है कि त्रस-स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करे। और अहिंसा के कारण सब प्राणियों के प्रति समता रखना, इतना ही उसे जानना चाहिए।

दस प्रकार की साधुसमाचारी में स्थित आहार आदि में गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु मोक्ष के आदानभूत (कारणभूत) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भलीभाँति रक्षा करे। तथा चलने-फिरने, उठने-बैठने, सोने तथा अन्ततोगत्वा आहार-पानी आदि के विषय में सदैव उपयोग रखे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन तीन (पूर्वोक्त ईर्यासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति तथा एषणासमिति- इन तीन) स्थानों में निरन्तर संयम रखता हुआ मुनि मान, क्रोध, माया और लोभ का त्याग करे।

भिक्षणशील साधु सदा पाँच समितियों से युक्त और पाँच संवरों से आत्मा को सुरक्षित करके, गृहपाश में बद्ध गृहस्थों में मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त संयम का पालन करे।

इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—'यह मैं कहता हूँ।'

व्याख्या

सभी प्राणी अहिंस्य हैं : क्यों और कैसे ?

शास्त्रकार ने ६वीं गाथा से १३वीं गाथा तक स्वसिद्धान्त (स्वसमय) के अनुसार कर्मबन्धन के निरोध (संवर) रूप अहिंसा आदि आचारधारा (विरति, अप्रमाद, कषाय-विजय, सम्यक्चारित्र) का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। नौवीं गाथा में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन क्यों करना चाहिए ? न करें तो क्या आपत्ति है ? पूर्वगाथाओं में लोकवाद तथा सांख्य, वेदान्त आदि मतवादों की झाँकी दी गयी है कि वे आत्मा को एकान्त, कूटस्थनित्य मानते हैं; लोक को भी इसी प्रकार कूटस्थनित्य मानते हैं; कई यह भी मानते हैं कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है, दूसरी पर्याय में नहीं जाता। इन सब के विपरीत जैनदर्शन की मान्यतानुसार पर्यायदृष्टि से जीव विभिन्न पर्यायों को धारण करता है, इसलिए नाशवान् है। द्रव्यदृष्टि से वह नित्य है, अविनाशी है। यहाँ यह बताया गया है कि संसारी प्राणी विभिन्न पर्यायों को धारण करते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार दृष्टान्त देते हैं—औदारिक शरीर वाले सभी जीवों का योग यानी अवस्थाविशेष उदार अर्थात् स्थूल है। औदारिक शरीर वाले प्राणी गर्भ, कलल और अर्बुदरूप पूर्वअवस्था को छोड़कर उससे विपरीत बाल्य, यौवन एवं वृद्धत्व आदि स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि प्राणियों की कालकृत बाल्य, कौमार्य एवं वृद्धत्व आदि पर्यायें प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं। ये सब अवस्थाएँ दुःख से दुःखतर तथा दुःखतम हैं, जिन्हें संसारी जीव प्राप्त करते रहते हैं। अतएव वे दुःख से आक्रान्त हैं। परन्तु जो जैसा पहले होता है, वह सदा वैसा ही रहे, ऐसा नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्थावर-जंगम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए पाये जाते हैं। अतः संसारी प्राणिमात्र मरणधर्मा हैं, वे मरकर विभिन्न योनियों में, विविध पर्यायों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करते हैं। मृत्यु, या किसी भी प्राणी पर प्रहार करना, भय, त्रास आदि देना—हिंसा है। सभी प्राणी मृत्यु, प्रहार, भय, त्रास आदि से डरते हैं, वे इन्हें चाहते नहीं हैं। जब मारने-पीटने वाला हिंसक स्वयं अपने लिए प्रहार या संहार नहीं चाहता, तब दूसरे क्यों चाहेंगे? इस **'अप्पसमं मन्निज छप्पिकाए'** (अपनी आत्मा के समान छहों कायों के जीवों को समझे) के अनुसार यह निर्णय करे कि जब मैं अपने आपको हिंसा के योग्य (हिंस्य) नहीं समझता तो इसी प्रकार समस्त जीवों को हिंस्य न समझे, अर्थात् अहिंस्य समझे। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'सव्वे अक्कंत-दुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया।'** **'अक्कंतदुक्खा'** के दो रूप होते हैं—**'आक्रान्तदुःखा'** और **'अकान्तदुःखाः'**। आक्रान्तदुःखा का अर्थ होता है—दुःखों से आक्रान्त—व्याप्त, एवं अकान्तदुःखा का अर्थ है—जिन्हें दुःख अप्रिय है, व **'अहिंसिया'** का अर्थ है—**'अहिंस्याः'** हिंसा न करने योग्य अथवा हिंसा न करनी चाहिए। इस गाथा में शास्त्रकार ने प्राणिहिंसा न करने का कारण[1] बताया है, तथा प्राणियों को मारने से हिंसा होती है, क्योंकि प्राणी जैसे जन्म लेते हैं, वैसे मरते भी हैं, वे अजन्मा एकान्त-नित्य नहीं हैं।

ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय्य : अहिंसाचरण

दसवीं गाथा में भी अहिंसा पर जोर दिया गया है। साथ ही प्राणियों की हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**'एवं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसइ किंचन'**[2] अर्थात् विशिष्ट विवेकी यानी ज्ञानी पुरुष के इतने विपुल ज्ञान का सार या निचोड़ क्या है? किसलिए उसने इतना ज्ञान प्राप्त किया? आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझ कर तोड़ने के लिए। आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त तभी हो सकती है, जब हिंसा आदि से विरत हो। यही कारण है कि **'ज्ञानस्य सारं विरतिः'** कहा है। यहाँ भी ज्ञानी के ज्ञान का सार किसी भी प्राणी की हिंसा न करना है, उपलक्षण से यहाँ झूठ न

---

१. दशवैकालिकसूत्र एवं आचारांग में भी इसी बात का समर्थन किया है—
(क) सव्वेजीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हापाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक
(ख) सव्वेसिं जीवियं पियं···· —आचारांग

२. देखिये इसी से मिलती-जुलती एक आर्याय की गाथा —
किं तीए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
जत्थेत्तियं न नायं, परस्सपीडा न कायव्वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोलना, न दी हुई किसी चीज को न लेना, मैथुन सेवन न करना, परिग्रहवृत्ति न रखना, रात्रि-भोजन न करना, इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है। अगर ज्ञानी पुरुष इतना भी न कर सका तो उसका ज्ञान निरर्थक ही नहीं, भारभूत एवं परिग्रहरूप हो जाएगा। कहा भी है —

किं तया पठितया पदकोट्या पलालभूतया।
येनैतन्नज्ञातं परस्य पीड़ा न कर्तव्या॥

अर्थात्—भूसे के ढेर के समान उन करोड़ों पदों के पढ़ने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञान न हुआ कि दूसरों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए।

सारांश यह है कि ज्ञानी के लिए न्यायसंगत यही है कि वह कर्मबन्धन के कारणभूत हिंसा आदि अविरति में न पड़े, कर्मास्रवों में भी न पड़े।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञानी साधक अहिंसा का आचरण क्यों करे? इसके उत्तर में शास्त्रकार ने कहा—'**अहिंसासमयं चेव एतावंतं वियाणिया।**' आशय यह है साधु ने दीक्षा लेते समय '**करेमि भंते सामाइयं**' के पाठ से 'समता' की प्रतिज्ञा ली। यह अहिंसा भी एक प्रकार की समता है, अथवा समता का कारण है। जब साधक प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझता है, दूसरों की पीड़ा, दुःख, भय, त्रास आदि को अपनी पीड़ा, दुःख, भय और त्रास समझे, अथवा अपने प्राणों के समान ही दूसरे के प्राणों को समझे। जैसे मेरे देह आदि के विनाश, प्रहार आदि से मुझे दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है। कहा भी है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

अर्थात्—जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही अन्य जीवों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं।

हे अर्जुन! जो पुरुष सर्वत्र आत्मौपम्यभाव से दूसरे के सुख या दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है, वही उत्कृष्ट योगी माना गया है।

इस प्रकार की समता का जीवन में आ जाना ही अहिंसा है। भगवान् महावीर ने '**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**' कहकर दूसरों के दुःख-सुख को अपनी आत्मा की तराजू पर तौलने का निर्देश दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि जिस प्राणी को तुम मारना, पीटना, सताना, डराना, अपना गुलाम बनाकर रखना चाहते हो, सोच लो, वह तुम्हीं हो—यानी उसके स्थान पर मानो तुम ही हो—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो तुम से हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि का व्यवहार हो ही कैसे सकेगा ?[1] वह यों सोचेगा कि अगर मुझे कोई मारे, पीटे, सताए, मेरे साथ झूठ बोले, मेरी चोरी करे, या मेरा सामान अपने कब्जे में कर ले, मेरी बहन-बेटी की इज्जत लूटने लगे तो मुझे कैसा लगेगा ? क्या मुझे उससे दुःख न होगा ? अवश्य होगा । इसी प्रकार जब मैं दूसरे के साथ ऐसा ही हिंसा आदि का व्यवहार करूँगा तो उसे भी तो दुःख होगा । बस इसी समता-सूत्र से वह अहिंसा आदि का आचरण करे । अहिंसा इसी प्रकार की समता है, इतना-सा वह हृदयंगम कर ले, दिल-दिमाग में बिठा ले । यही इस गाथा का आशय है ।

कर्मबन्धनों से आत्म-रक्षा के लिए चारित्र-शुद्धि

ग्यारहवीं गाथा में शास्त्रकार चारित्र-शुद्धि के लिए कर्तव्यबोध दे रहे हैं । वास्तव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये रत्नत्रय ही मिलकर मोक्षमार्ग है—कर्मबन्धनों से मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है । ज्ञान-दर्शन की शुद्धि के लिए तो पिछली अनेक गाथाओं में बहुत सुन्दर ढंग से बताया है, अब यहाँ कुछ गाथाओं में चारित्र-शुद्धि पर खासतौर से जोर दिया है । क्योंकि हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया योग का दुरुपयोग ये सब चारित्र-दोष के कारणभूत हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो ये कर्मबन्धन के मुख्य कारण भी हैं । अतः कर्मबन्धन के निरोध; आंशिक क्षय या सर्वांशतः क्षय के लिए [2]पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दशधर्म, दश समाचारी, द्वादश अनुप्रेक्षा, तपस्या आदि चारित्र का पालन आवश्यक है । अतः शास्त्रकार ने इस बात को यहाँ बताया है—**'वुसिए य विगयगेही···· अंतसो ।'** इस गाथा में चारित्रपालन के सम्बन्ध में ७ बातें सूचित की हैं—

(१) दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे ।
(२) आहारादि में गृद्धि न रखे ।
(३) रत्नत्रयरूप चारित्र का सम्यक् पालन करे ।
(४) ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति एवं एषणासमिति का पालन करे ।

---

१. तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव हंतव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव परिघेत्तव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव अज्जावेयव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव उद्दवेयव्वं ति मन्नसि ॥····

—आचारांग सूत्र

२. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः । तपसा निर्जरा च ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, २-३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दस प्रकार की समाचारी[1] चारित्र-शुद्धि के लिए आवश्यक मानी गई है। वह इस प्रकार है - (१) **आवस्सिया**—कहीं उपाश्रय आदि से बाहर जाना हो आवस्सही आवस्सही कहना आवश्यकी है। (२) **निसीहिया**—स्थान पर वापस आकर प्रवेश करते समय निस्सिही-निस्सिही कहना नैषधिकी है। (३) **आपुच्छणा** अपना कार्य करते समय बड़ों से पूछना आपृच्छनी है। (४) **पडिपुच्छणा**—दूसरों का कार्य करने के लिए पूछना प्रतिपृच्छना है। (५) **छंदणा** दूसरे को द्रव्य आदि के लिए आमंत्रित करना छन्दना है। (६) **इच्छाकार**—अपने और दूसरे के कार्य की इच्छा बताना या दूसरों को कर्तव्य-निर्देश करने से पहले उसे कहना आपकी इच्छा हो तो अमुक कार्य करिये, अथवा दूसरों की इच्छानुसार चलना इच्छाकार है। (७) **मिच्छाकार** - जो पाप-दोष लगा हो, भूल या त्रुटि हो गई हो, तो गुरु के समक्ष उसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना या **'मिच्छामि दुक्कडं'** कहकर पश्चात्तापपूर्वक उस दोष आदि को मिथ्या (शुद्धि) करना—मिथ्याकार है। (८) **तहक्कार**—गुरु वचनों को **तहत्ति**— आप कहते हैं, वैसा ही है, यों सम्मानपूर्वक स्वीकार करना तथाकार है। (९) **अब्भुट्ठाणं**—गुरुजनों का बहुमान करने में तत्पर—उद्यत रहना या बड़ों के आने पर खड़ा होना अभ्युत्थानी समाचारी है। (१०) **उवसंपया**—ज्ञान आदि के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना उपसम्पदा समाचारी है। यह दशविध समाचारी संसार-सागर से तारने वाली है। यह चारित्र से ही सम्बन्धित है, साधक को अनुशासन में रखने वाली है। आहार आदि में गृद्धि—आसक्ति भी परिग्रह (ममत्व) के अन्तर्गत है, और साधु को परिग्रह से बचना आवश्यक है। इसलिए यहाँ **विगयगेही** शब्द प्रयुक्त किया है।

उसके बाद है **'आयाणं सम्मरक्खए'**। उसका आशय यह है कि पूर्वोक्त दोनों गुणों से युक्त मुनि जिसके जरिये मोक्ष आदान—स्वीकार या प्राप्त किया जाता है उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष-मार्ग की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। रत्नत्रय की जिस किसी भी तरह से वृद्धि हो, वैसा करे। इसके बाद साधु को गमनादि-क्रिया में लगने वाली हिंसा के परिहार के लिए तीन समितियों के पालन का संकेत

---

१. पढमा आवस्सिया नाम, बिइया च निसीहिया।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥२॥
पंचमा छंदणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ।
सत्तमो मिच्छाकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥
अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपया।
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥४॥ —उत्तरा० अ० २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। जैसे यतनापूर्वक चर्या—चलने-फिरने के लिए ईर्यासमिति का पालन करे। यानी साढ़े तीन हाथ परिमित भूमि (आगे की) देखकर गमन करे।

यतनापूर्वक प्रमार्जित भूमि पर आसन (बैठने) के लिए भी ईर्यासमिति का निर्देश है तथा शय्या (बिछौने) पट्टे आदि को भलीभांति देखकर प्रमार्जित करके उस पर स्थिति के लिए आदाननिक्षेपणासमिति बता दी है तथा आहार-पानी के विषय में सम्यक् उपयोग रखे, निर्दोष आहार का ग्रहण एवं सेवन करे, इसके लिए एषणासमिति का विधान है। उपलक्षण से यहाँ भाषासमिति और परिष्ठापनासमिति के पालन का भी संकेत समझ लेना चाहिए। यहाँ प्रकारान्तर से प्रमादत्याग का भी संकेत है। इस प्रकार यह गाथा चारित्र-शुद्धि से सम्बन्धित है।

समितियुक्त मुनि के लिए कषाय का परित्याग आवश्यक

१२वीं गाथा में शास्त्रकार ने कषाय-त्याग का निर्देश किया है। क्योंकि कर्मबन्धन के कारणों में से एक कारण कषाय भी है। साधक में कषाय रहेगा और बढ़ता रहेगा तो बाहर से क्रिया-काण्ड करता या समितियुक्त प्रतीत होता हुआ भी साधु कषायग्रस्त होने के कारण अन्दर से खोखला होगा। इसलिए इस गाथा में चारों कषायों का परित्याग करने का निर्देश किया गया। मान, क्रोध, माया और लोभ के लिए यहाँ क्रमशः **'उक्कसं'**, **'जलणं'**, **'णूमं'** और **'मज्झत्थं'** शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु इन चारों कषायों को भलीभाँति वही मुनि छोड़ सकता है, जो पूर्वोक्त तीन (ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति एवं एषणासमिति) स्थानों में सदा संयम रखता हो, संयत रहता हो। यही बात यहाँ कही है—**एतेहिं तिहिं ठाणेहिं संजए सततं मुणी**। यह कहकर शास्त्रकार ने साधु को प्रमाद से दूर रहने की बात सूचित कर दी है, क्योंकि प्रमाद भी कर्मबन्धन का कारण है। एषणासमिति के साथ भाषासमिति और परिष्ठापना समिति का विधान भी तीसरे स्थान में आ जाता है। क्योंकि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर साधु का भाषण-संभाषण करना भी सम्भव है, इसलिए यहाँ भाषा समिति का भी समावेश समझ लेना चाहिए। तथा साधु आहार करेगा तो उच्चार और प्रस्रवण भी अवश्यंभावी है। इसलिए उच्चार-प्रस्रवण के यतनापूर्वक विसर्जन के लिए उच्चारप्रस्रवणादि परिष्ठापनासमिति भी यहाँ आ जाती है। इन पाँचों समितियों का पालन कौन कर सकता है? इसके उत्तर में यहाँ **'मुणी'** शब्द प्रयुक्त है। तीनों लोकों के स्वरूप को जानने तथा मनन करने वाला मुनि है। ऐसा मुनि जिससे आत्मा अभिमानयुक्त हो, उस मान को छोड़ दे, जो आत्मा को जलाता है, उस ज्वलन- क्रोध का भी त्याग करे। जिसका मध्य (हृदय) न जाना जा सके, उसे णूम—माया कहते हैं और संसारपर्यन्त जो प्राणियों के मध्य (मन में) रहता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह मध्यस्थ—लोभ है, इन दोनों को भी मुनि छोड़ दे। क्रोध के पहले मान शब्द का प्रयोग मान होने पर क्रोध की अवश्यम्भाविता को सूचित करने के लिए किया गया है।

साधक मोक्षप्राप्ति तक संयम में डटा रहे

प्रथम अध्ययन चतुर्थ उद्देशक की इस अन्तिम (१३वीं) गाथा में शास्त्रकार साधु को कर्तव्यबोध देते हैं कि संयमी-जीवन में कई उतार-चढ़ाव आते हैं, पाँच महाव्रतों का कठोर पालन करना पड़ता है। पाँच समितियों के पालन में सदा सचेष्ट (मन-वचन-काया से सदा गुप्त) रहना पड़ता है, तथा प्रतिक्षण अप्रमत्त एवं सावधान रहना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त स्थविरकल्पी साधु आहार-पानी, निवास, प्रवचन आदि के सिलसिले में बार-बार गृहस्थवर्ग से सम्पर्क आता है, उससे वास्ता रखे बिना कोई चारा नहीं, किन्तु गृहस्थपाश में बँधे हुए गृहस्थों में साधु आसक्ति न करे, उनसे किसी प्रकार की अपेक्षा न रखे, उनकी ललोचप्पो, चाटुकारी या स्तुति प्रशंसा न करे, उनसे निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका संयम खतरे में पड़ सकता है। गृहस्थों के अतिसंसर्ग से आचार-शैथिल्य आने की सम्भावना है, प्रमाद एवं कषाय से जीवन दूषित होना सम्भव है। अतः जिस प्रकार कमल कीचड़ में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही भिक्षणशील, पंचसमितियुक्त, पंचमहाव्रतों से युक्त, पंचसंवरों से संवृत, तीन गुप्तियों से गुप्त साधु गृहस्थों में निवास करता हुआ भी उनके कर्म (व्यवसाय आदि) से लिप्त न हो।

साथ ही शास्त्रकार अन्तिम चेतावनी देते हुए कहते हैं—हे भावभिक्षो! कर्मबन्धनों का क्षय करके उनसे मुक्त होने के लिए सतत संयम के अनुष्ठान में रत रहो, अथवा मोक्ष होने तक संयम में डटे रहो, उसे किसी भी परिस्थिति या संकटापन्न स्थिति में छोड़ने का विचार मत करो। अन्यथा कर्मबन्धन काटने के लिए किया गया अब तक का पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। सारा ही काता-पींजा कपास हो जाएगा।

इति (त्ति) शब्द अध्याय की परिसमाप्ति का द्योतक है। ब्रवीमि (बेमि) का अर्थ है—मैं कहता हूँ। यह गणधर सुधर्मास्वामी कहते हैं कि श्री तीर्थंकर भगवान् ने मुझसे जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहता हूँ।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ। सूत्रकृतांगसूत्र का प्रथम अध्ययन भी सम्पूर्ण हुआ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन : वैतालीय

प्रथम उद्देशक : अनित्यता-सम्बोध

यहाँ से दूसरे अध्ययन का प्रारम्भ होता है। प्रथम समय अध्ययन में स्वसमय-परसमयवक्तव्य के सन्दर्भ से कर्मबन्धन से मुक्त होने तथा कर्मबन्धन में फँसने से बचने का उपाय बतलाया गया था। इस दूसरे वैतालीय नामक अध्ययन में भी कर्म-विदारण का उपाय बताया गया है। कर्म का नाश कैसे हो सकता है? कर्मों का बन्धन भी किन-किन परिस्थितियों में, कैसे-कैसे हो जाता है? इन सब बातों पर अत्यन्त प्रकाश डाला गया है और कर्मबन्धन से सावधान रहने का उपदेश भी दिया है।

वेयालीय नाम क्यों ?

इस अध्ययन का नाम प्राकृत में **वेयालीय** है। संस्कृत में उसके दो रूप होते हैं—वैतालीय और वैदारिक। वैतालीय नाम रखने का कारण यह है कि यह अध्ययन वैतालीय[1] नामक छन्द में है। उसी छन्द में इस अध्ययन की रचना की गयी है, इसलिए इस अध्ययन का नाम भी वैतालीय रख दिया गया। वैतालीय छन्द का लक्षण इस प्रकार है—जिस वृत्त के प्रत्येक पाद के अन्त में रगण, लघु और गुरु हों तथा प्रथम और तृतीय पाद में छह-छह मात्राएँ हों तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में आठ-आठ मात्राएँ हों। समसंख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो तथा द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में लगातार छह लघु न हों, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।

---

१. वैतालीय छन्द का लक्षण यह है—

"वैतालीयं लगनैर्धनाः षड्युक्पादेऽष्टौ समे च नः।
न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः षट् च निरन्तरा युजोः॥"

—सूत्र० वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैतालीय नाम रखने के पीछे यह आशय भी प्रतीत होता है कि मोहरूपी वैताल (पिशाच) किस-किस प्रकार से साधक को पराजित कर देता है ? उससे कहाँ कहाँ, कैसे-कैसे बचना चाहिए ? इस प्रकार मोहरूप वैताल के अधिकार को लेकर जिसमें वर्णन हो, वह वैतालीय या वैतालिक अध्ययन अन्वर्थक है।

इस अध्ययन का दूसरा रूप 'वैदारिक' होता है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दृ — विदारणे' धातु से क्रियावाचक विदारण करने के अर्थ में विदार शब्द बनता है। विदारण से सम्बन्धित विषय जिसमें हो, उसे वैदारिक कहते हैं। जहाँ क्रिया होती है, वहाँ कर्ता, कर्म और करण ये तीन अवश्य होते हैं। अतः निर्युक्तिकार कहते हैं कि यहाँ (कर्म) विदारण करने वाला, विदारण का साधन और विदारण करने योग्य पदार्थ तीनों विद्यमान हैं। जैसे— काष्ठ को विदारण करने वाला व्यक्ति, काष्ठ-विदारण का साधन कुठार, तथा विदारण करने योग्य काष्ठ होता है, वैसे ही इस अध्ययन में कर्मों को विदारण करने वाले साधक का वर्णन है, कर्म-विदारण का साधन पंचसंवर एवं निर्जरा है, तथैव विदारण करने योग्य कर्मों का भी वर्णन है। इस दृष्टि से इस अध्ययन का नाम वैदारिक रखना उचित ही है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार एवं वृत्तिकार तीनों इस अध्ययन का अर्थ वैदारिक तथा वैतालीय के रूप में करते हैं। अथवा विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ राग-द्वेषरूप संस्कारों का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन में राग-द्वेष के विदार का वर्णन हो, उसका नाम भी वैदारिक है।

द्वितीय अध्ययन की पृष्ठभूमि

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि यह है कि आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को जब अष्टापद-पर्वत पर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया था, उन्हीं दिनों भरत-चक्रवर्ती ने अपने सभी भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। इस पर विक्षुब्ध होकर भरत के द्वारा सताये गये वे ९८ भाई अपने पूज्यपिता आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की सेवा में पहुँचे और उनसे पूछा—"भगवन् ! भरत हम लोगों से अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमारा स्वाभिमान उसकी गुलामी (अधीनता) स्वीकार करने की आज्ञा नहीं देता। अतः हमें बोध दीजिए कि हमें क्या करना चाहिए ?" भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को संसार के पदार्थों की अनित्यता, विषयभोगों के कटुफल तथा संसार की असारता का उपदेश दिया तथा मोक्ष के शाश्वत राज्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दी।[1] उस वैराग्यप्रद उपदेश को सुनकर

---

१. कामं तु सासणमिणं कहियं अट्ठावयम्मि उसभेणं।
अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊण ते वि पव्वइया॥" —सूत्र० निर्युक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके ९८ पुत्रों ने संसार को असार और विषयों को अनित्य जानकर तथा आयु को पर्वतीय नदी के समान चंचल एवं यौवन को अस्थिर मानकर पिताजी (ऋषभदेव भगवान्) की आज्ञा का पालन ही श्रेयस्कर समझा और उनके पास प्रव्रज्या धारण कर ली।

भगवान् ऋषभदेव का वह उपदेश क्या था? उन्होंने किस प्रकार का बोध अपने ९८ पुत्रों को दिया था? वह उपदेश राग-द्वेष-विदारण में कितना उपयोगी था? यही इस अध्ययन में विविध पहलुओं से बताया गया है।

उद्देशकों का परिचय

इस अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में २२, दूसरे उद्देशक में ३२ और तृतीय उद्देशक में २९ गाथाएँ हैं। इस प्रकार वैतालीय अध्ययन में कुल मिलाकर ७६ गाथाएँ हैं। निम्नोक्त दो गाथाओं द्वारा निर्युक्तिकार तीनों उद्देशकों में क्या-क्या विषय है? इसका निरूपण करते हैं—

पढमे संबोहो अनिच्चया य, बीयंमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणियो।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेणं॥

प्रथम उद्देशक में हित की प्राप्ति और अहित के त्याग का बोध एवं अनित्यता का उपदेश है। दूसरे उद्देशक में अभिमानत्याग का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के शब्दादि विषयों की अनित्यता का प्रतिपादन किया है। तीसरे उद्देशक में बताया गया है कि अज्ञान के द्वारा बढ़े हुए कर्मों का नाश करना आवश्यक है। इसके लिए साधुवर्ग को सुखशीलता एवं प्रमाद का सदा त्याग करना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के अन्तिम उद्देशक की अन्तिम गाथा में बताया गया था कि **'आमोक्खाय परिव्वए'** अर्थात् मोक्षप्राप्तिपर्यन्त प्रव्रज्या का पालन करना चाहिए। इस कथन का अनुसरण करते हुए भगवान् आदिनाथ ने भरत के द्वारा पीड़ित अपने सांसारिक पुत्रों को जो उपदेश दिया था, उसे ही शास्त्रकार प्रथम गाथा से प्रारम्भ करते हैं—

मूल पाठ

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

सबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं ? सम्बोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो हूपनमन्ति रात्रयः, नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(**संबुज्झह**) हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो, (**किं न बुज्झह**) बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? (**पेच्च**) मरने के पश्चात् परलोक में (**संबोही**) बोध प्राप्त करना (**दुल्लहा खलु**) अवश्य ही दुर्लभ है। (**राइओ**) बीती हुई रात्रियाँ (**णो हु उवणमंति**) लौट कर नहीं आती हैं। (**जीवियं**) और संयमी जीवन (**पुणरावि**) फिर तो (**नो सुलभं**) सुलभ नहीं है।

भावार्थ

हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो। तुम बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? जो रातें बीत चुकी हैं वे वापस लौटकर नहीं आतीं और यह संयमी जीवन भी फिर सुलभ नहीं है।

व्याख्या

दुर्लभ बोधि प्राप्त करने का उपदेश

इस गाथा में आदितीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव भरत चक्रवर्ती के द्वारा तिरस्कृत होकर विरक्त अपने सांसारिक पुत्रों को लक्ष्य करके उपदेश देते हैं अथवा सुर-असुर, मनुष्य, नाग और तिर्यंचों के प्रति भगवान् कहते हैं—'भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो।' वास्तव में बोधि प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। यह हम पहले अध्ययन में स्पष्ट कर आए हैं। वास्तव में अनेक जन्मों के पश्चात् भी मनुष्य को बोध प्राप्त होना दुष्कर होता है। अतः आठ प्रकार के कर्मों को विदारण करने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्तमधर्म का बोध प्राप्त करना चाहिए। बोध प्राप्त करने का यही उत्तम अवसर है, इस जन्म के बाद फिर अगले जन्म में बोध-प्राप्ति की आशा नहीं रखनी चाहिए। मानलो, अनेक जन्मों के बाद मनुष्य-जन्म मिल भी गया, तो भी आर्यदेश, कर्मभूमि, उत्तम कुल, पाँचों इन्द्रियाँ, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, श्रेष्ठ धर्म आदि का प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार का उत्तम वातावरण मिले बिना धर्म का बोध करना कितना दुष्कर है ? यह समझा जा सकता है। इसीलिए भगवान् ने कहा—इस उत्तम अवसर को चूक गए और सम्बोधि प्राप्त नहीं की, तो फिर आगे सम्बोधि प्राप्त होना बहुत मुश्किल है। क्यों कठिन है ? इसके समाधान के लिए कहते हैं—'**नो हूवणमंति राइओ** !' रात्रियाँ, जो बीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुकी हैं, वे वापस लौट कर नहीं आतीं। यह तो प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। रात्रि शब्द से यहाँ उपलक्षण से दिन, पहर, घण्टा, घड़ी आदि समय के सभी विभाग समझ लेने चाहिए। इसका रहस्य यही है कि मनुष्य को यही सोचकर चलना चाहिए कि मैं अभी जो कुछ धर्माचरण कर लूँगा, वही क्षण मेरा है। इस प्रकार रात और दिन तो अपनी गति से चले जा रहे हैं। मनुष्य को चाहिए कि उत्तम जीवन सम्बन्धी सामग्री प्राप्त करके वह इसे प्रमाद, कषाय, विषय-सेवन आदि तुच्छ बातों में न खोए। वह जितना भी हो सके सद्धर्म का बोध प्राप्त करके आत्मस्वरूप का उत्तम ज्ञान पाकर अपने जीवन को आत्म-साधना या धर्माराधना में लगाए।

मनुष्य जन्म तो बहुत सस्ता है, यह जिंदगी तो फिर मिल जाएगी', ऐसा सोचना भी मूर्खता है। क्योंकि यह मालूम नहीं है कि वह मरकर किस गति या योनि में जाएगा ? इसलिए एक बार बाजी हाथ में से चली गई तो फिर हाथ आनी कठिन है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**'नो सुलभं पुणरावि जीवियं'** जिसने इस जन्म में धर्माचरण नहीं किया, उस व्यक्ति को परलोक में भी ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी धर्म का मिलना दुष्कर है। जो व्यक्ति एक बार भी विषयासक्ति में पड़कर धर्माचरण से भ्रष्ट हो जाता है, वह फिर अनन्तकाल तक इस संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए शास्त्रकार पुकार-पुकार कर कहते हैं—**'उट्ठिए नो पमायए'**। उठो, प्रमाद मत करो। जो जवानी चली गई है, क्या वह लौटकर वापस आ सकती है ? इसलिए किसी सुविज्ञ ने कहा है—

भवकोटिभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य क. प्रमादो मे ?
नहि गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ?॥

अर्थात्—करोड़ों जन्मों के बाद भी दुर्लभ मानव-जन्म को पाकर मैं क्यों प्रमाद कर रहा हूँ ? बीती हुई आयु कदापि लौटकर नहीं आती, चाहे वह इन्द्र की ही आयु क्यों न हो।

और फिर मनुष्य जीवन मिल भी जाए तो भी संयमप्रधान जीवन प्राप्त होना सुलभ नहीं है।

द्रव्यनिद्रा से जागना द्रव्यसम्बोध है, वह इतना दुर्लभ नहीं है, किन्तु भाव-निद्रा (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता) से जागना अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ शास्त्रकार का आशय द्रव्यसंबोध से नहीं है, भावसंबोध से है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-संयम का स्वीकार करने पर प्राप्त होता है। यहाँ इस भावबोध की दुर्लभता बताकर इस बोध को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है—**"संबुज्झह···संबोही ·· दुल्लहा।"** यहाँ द्रव्य और भाव के भेद से सोने और जागने की चौभंगी समझ लेनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। जैसे एक साधक द्रव्य से सोता है, भाव से जागता है, यह प्रथम भंग है, दूसरा साधक द्रव्य से जागता है, भाव से सोता है, तीसरा साधक द्रव्य और भाव दोनों से सोता है, और चौथा साधक द्रव्य और भाव दोनों से जागता है। इसमें चतुर्थ भंगवाला साधक सर्वोत्तम है जो शरीर से भी जागता है, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र से भी। दूसरे नम्बर में पहले भंगवाला साधक ठीक है, जो शरीर से सोता है, किन्तु ज्ञानादित्रय से जागता है। दूसरा और तीसरा साधक ठीक नहीं है।

अगली गाथा में फिर भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को पुनः उपदेश देते हुए जीवन की अस्थिरता का प्रतिपादन करते हैं—

मूल पाठ

डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउक्खयंमि तुट्टई ॥२॥

संस्कृत छाया

दहरा वृद्धाश्च पश्यत गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवाः।
श्येनो यथा वर्तिकां, हरेदेवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**डहरा**) छोटे बच्चे (**बुड्ढा**) बूढ़े (**य**) और (**गब्भत्था वि**) गर्भस्थ शिशु भी (**माणवा**) मानव (**चयंति**) अपने जीवन को छोड़ देते हैं। (**पासह**) यह देखो, (**जह**) जैसे (**सेणे**) श्येन—बाज (**वट्टयं**) बटेर पक्षी को (**हरे**) हर लेता (मार डालता) है। (**एवं**) इसी तरह (**आउक्खयंमि**) आयुक्षय होने पर (**तुट्टई**) जीवों का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ

भगवान् ऋषभदेव स्वामी अपने पुत्रों से कहते हैं—पुत्रो ! शिशु, वृद्ध एवं गर्भस्थ मनुष्य भी अपने जीवन को छोड़ देते हैं; यह देखो ! जैसे बाज (श्येन पक्षी) वर्तक (बटेर) पर झपटकर उसे मार डालता है, वैसे ही मृत्यु आयुक्षय होते ही प्राणियों के प्राणों को खत्म कर देता है।

व्याख्या

मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती

समस्त संसारी जीवों की (देवता, नारक एव तीर्थंकर आदि चरम-शरीरी जीवों के सिवाय) आयुष्य सोपक्रम होने के कारण कब टूट जाएगी और जीवन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घट कब फूट जाएगा, यह निश्चित नहीं है। इस बात को भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों के समक्ष दृष्टान्त सहित प्रस्तुत करते हैं—'**डहरा वुड्ढा य**''''।' आशय यह है कि मृत्यु किसी भी प्राणी को नहीं छोड़ती। चाहे वह बालक और विशेषतः राजा का पुत्र ही क्यों न हो, बूढ़े को तो मृत्यु छोड़ ही नहीं सकती। चाहे वह कितनी ही जड़ी-बूटियाँ, रसायन या भस्म खा ले, चाहे वह तलघर में, पर्वत की गुफा में या पाताल में कहीं भी जाकर छिप जाय, चाहे वह वृद्ध कायाकल्प ही क्यों न कर ले। मृत्यु उसे भी नहीं छोड़ती। मृत्यु पर उत्तम पुरुषों के सिवाय किसी ने विजय प्राप्त नहीं की। वह तो गर्भस्थ शिशु को भी आयुक्षय हो जाए तो ले जाती है। अथवा शास्त्रकार का भगवान ऋषभदेव के कथन को उट्टंकित करने का आशय यह भी हो सकता है कि साधारण मनुष्यों की आयु क्षणभंगुर है। आयुष्य की डोरी कब टूट जाएगी, यह उसे पता नहीं होता। अतः बालक, वृद्ध, युवक या गर्भस्थ सभी मानव एक न एक दिन इस शरीर को (उपलक्षण से शरीर से सम्बद्ध पुत्र, कलत्र, धन, धरा, धाम आदि सबको) छोड़कर चल देते हैं। जैसे बटेर पक्षी पर बाज हमला करके उसके जीवन को नष्ट कर देता है, वैसे ही मृत्यु आयुक्षय होते ही मनुष्य पर टूट पड़ती है और उसके जीवन को नष्ट कर देती है। इसे ही शास्त्रकार भगवान ऋषभदेव के शब्दों में कहते हैं—'**सेणे जह**''''**आउक्खयंमि तुट्टई**।'

पुत्र के द्वारा पिण्डदान या तर्पण करने पर माता-पिता को सुगति प्राप्त हो जाती है, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का खण्डन करते हुए शास्त्रकार अगली गाथा में भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में कहते हैं—

मूल पाठ

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई अ पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ।।३।।

संस्कृत छाया

मातृभिः पितृभिर्लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य ।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य, आरम्भाद् विरमेत सुव्रतः ।।३।।

अन्वयार्थ

(**मायाहिं पियाहिं**) कोई व्यक्ति माता-पिता आदि के मोह में पड़कर उन्हीं के कारण से (**लुप्पइ**) मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, संसार-भ्रमण करते हैं। (**पेच्चओ**) उनके मरने पर (परलोक में) (**सुगई**) सुगति—मनुष्यगति या देवगति, (**नो सुलहा**) सुलभ नहीं होती, आसानी से प्राप्त नहीं होती। (**सुव्वए**) सुव्रत पुरुष (**एयाइं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भयाइं) इन खतरों—भयस्थानों को (**पेहिया**) देखकर—जानकर, (**आरंभा**) पहले से ही, आरम्भ से (**विरमेज्ज**) विरत-निवृत्त हो जाय ।

भावार्थ

कोई माता-पिता आदि स्वजनों के मोह में पड़कर धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं । माता-पिता आदि उन मोहासक्त लोगों को संसार परिभ्रमण कराते हैं । ऐसे लोगों को मरने पर परलोक में सुगमता से सद्गति प्राप्त नहीं होती । सुव्रती पुरुष को इन भयस्थलों (खतरों) पर विचार करके पहले से ही आरम्भ से निवृत्त हो जाना चाहिए ।

व्याख्या

माता-पिता आदि का मोह : संसार-भ्रमण का कारण

पूर्वगाथा में मृत्यु की अनिवार्यता बताई गई थी, मृत्यु की अनिवार्यता बताने का रहस्य यह है कि मनुष्य धर्माचरण करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना करे, ताकि उसे जन्म-मृत्यु का कोई खतरा न रहे । इस पर कोई माता-पिता आदि अपनी मृत्यु को रोकने अथवा मृत्यु हो जाय तो भी दुर्गति से अपने आपको बचाने के लिए अपने पुत्र, भतीजे, भानजे आदि को अपने प्रति मोहासक्त करने का प्रयत्न करते हैं, वह इसलिए कि पुत्र आदि उनकी मृत्यु को रोकने का भरसक प्रयत्न करें, अथवा मृत्यु को न रोक सकें तो मरने के बाद उन्हें पिण्डदान दें, उनकी श्राद्धक्रिया करें, पितरों को तर्पण करें, ताकि उन पितरों (माता-पिता आदि) को सद्गति प्राप्त हो जाय ।

जैसा कि उनके धर्मग्रन्थों में उल्लेख है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च ।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा, ... ॥

अर्थात्—जो पुत्रवान नहीं है, उसकी सुगति नहीं हो सकती, क्योंकि पुत्र के बिना माता-पिता आदि को कौन पिण्डदान देगा, कौन तर्पण करेगा ? अतः पुत्रहीन को स्वर्ग नहीं मिल सकता, कदापि नहीं मिल सकता । इसलिए पुत्र का मुख देखकर मनुष्य आनन्द से मृत्यु प्राप्त करे । कितना अज्ञान और भ्रम है, इस मान्यता के पीछे ? अगली गाथा में शास्त्रकार स्वयं बताएँगे कि सुगति-दुर्गति का दाता पुत्र या और कोई नहीं हो सकता, मनुष्य के अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म ही सुगति-दुर्गति के दाता हैं । '**सयमेव कडेहिं गाहन्ति**' इस अगली गाथा के चरण में उक्त न्याय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य सुगति या दुर्गति अपने ही कृतकर्मों से प्राप्त करता है। तब पुत्र अथवा पुत्र-तुल्य कोई भी व्यक्ति अपने माता-पिता अथवा माता-पितातुल्य चाचा, मामा, दादा, दादी आदि को न तो तार सकता है, और न पितृतर्पण आदि क्रियाओं से उनकी दुर्गति को बचा सकता है। अगर सुगति प्राप्त करने का उपाय इतना सस्ता हो तो प्रत्येक व्यक्ति चाहे जितने मनमाने पापकर्म करके परलोक जाते समय अपने पुत्र को कहकर पिण्डदान आदि क्रिया कराकर सुगति प्राप्त कर सकता है। फिर तो किसी को दुर्गति होगी ही नहीं। अतः यह मान्यता भ्रमपूर्ण है।

फिर भी बहुत-से लोग अज्ञानवश अपने पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन पर स्वयं भी आसक्त होकर मोह-ममता में लीन रहते हैं और पुत्र या पुत्रतुल्य स्वजन को मोह-ममता की घुट्टी पिलाकर बार-बार मोह में प्रेरित करते हैं और मरने के बाद पिण्डदान या तर्पण के लिए उसे वचनबद्ध कर देते हैं। इस प्रकार माता-पिता आदि के अज्ञान और मोह के कारण पुत्र आदि भी माता-पिता आदि के प्रति मोहान्ध होकर नाना प्रकार के महारम्भ, आस्रवसेवन आदि करके धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। धर्माचरण के प्रति न तो माता-पिता आदि उद्यम करते हैं, और न पुत्रादि ही धर्माचरण में पुरुषार्थ करते हैं। फलतः ऐसे मोहान्ध एवं पुत्रासक्त माता-पिता आदि के निमित्त से धर्मभ्रष्ट होकर संसार में भटकते हैं।

इस गाथा के **'मायाहिं पियाहिं लुप्पई'** इस चरण में तृतीया का बहुवचनान्त प्रयोग है। माता-पिता के लिए तो एकवचन का प्रयोग ही पर्याप्त होता, किन्तु बहुवचन का प्रयोग किया गया है, इसके पीछे रहस्य यही प्रतीत होता है कि माता या पिता सिर्फ जन्म देने वाले ही नहीं कहलाते, पितामह, मातामह, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, मामा-मामी आदि भी माता-पिता के तुल्य माने जाते हैं। अथवा **'मायाहिं पियाहिं'** यह बहुवचनान्त प्रयोग अनेक जन्मों के सम्बन्ध का सूचक है। अथवा यह बहुवचनान्त प्रयोग माता-पिता के सिवाय अन्य सभी पारिवारिकजनों का भी उपलक्षण से सूचक है। मनुष्य इन सभी के अथवा इनमें से एक-एक के प्रति परस्पर गाढ़ मोहान्धता के कारण अनुचित आरम्भ-समारम्भादि या हिंसादिजन्य कार्य करता है, धर्म का आचरण नहीं करता। वह सोचता है कि इन्हें छोड़कर मैं अकेला कैसे रहूँगा? अथवा माता-पिता आदि पारिवारिकजनों के मोह में पड़कर उन्हें प्रसन्न रखने के लिए हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार उनके मोहपाश में बँधकर धर्माचरण न करके व्यर्थ ही कर्म-बन्धन के कारण उन्हीं के साथ-साथ स्वयं भी धर्मच्युत होकर संसार में भटकता रहता है। बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसता रहता है। **'मायाहिं पियाहिं'** में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीयान्त प्रयोग यह सूचित करता है कि पुत्रादि स्वजनों को माता-पिता आदि के द्वारा मोहपाश में बाँधकर धर्मपथ से भटकाकर पापकर्म के पथ पर चढ़ाकर संसार में भटकाया जाता है, गुमराह किया जाता है।

मोहान्ध को सुगति सुलभ कहाँ ?

इस प्रकार का मोहान्ध मनुष्य हिताहित के विवेक से शून्य होता है, वह अपने माता-पितादि स्वजनों के पोषण के लिए नीच से नीच कृत्य करता रहता है। इस लोक में ऐसा व्यक्ति बदनाम होता है, परलोक में भी उसे सुगति (मनुष्यगति या देवगति) प्राप्त नहीं होती। मोक्षरूप पंचमगति तो ऐसे मोहमोहित व्यक्ति को मिल ही कैसे सकती है ? या तो नरकगति में उसका डेरा होता है या फिर वह तिर्यंचगति में अत्यन्त अधम निगोद की योनि में जन्म लेता है। दोनों स्थानों में उसे सम्बोधि प्राप्त होनी अतीव दुर्लभ होती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।'**

महापुरुष द्वारा चेतावनी

इसीलिए ऋषभदेव भगवान् जैसे महापुरुष अपने पुत्रों के बहाने जगत् के भव्य प्राणियों को चेतावनी दे रहे हैं कि इस महान् खतरे को देखो, सुगति और मुक्ति के अत्यन्त विघ्नकारक इस स्वजनमोह और उससे जनित पापाचरण से प्राप्त होने वाली दुर्गति की भयंकर सजा से बचो। पानी आने से पहले पाल बाँधने की तरह मृत्यु के आगमन एवं दुर्गतिगमन से पूर्व ही सँभलकर सुव्रत (व्रतधारी) बनकर सावद्य (पापयुक्त) कर्मानुष्ठानरूप आरम्भ से विरत हो जाना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकार भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में कहते हैं—**'एयाइं भयाइं पेहिया''''सुव्वए।'** आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजनों के मोह से विवेकविकल होकर उनके निमित्त से नाना पापकर्म करने से जो खतरे पैदा होते हैं, उनसे बचे और सुव्रती बनकर उक्त निरर्थक पापकर्म से दूर रहे। यहाँ माता-पिता आदि के प्रति कर्त्तव्य-पालन का निषेध नहीं किया है, किन्तु उनके प्रति मोहान्ध होकर अन्धविश्वास, हिंसाजनक कुप्रथा एवं कुरूढ़ि में पड़कर भयंकर पापकर्म से बचने की प्रेरणा दी गयी है।

माता-पिता के प्रति मोहवश किये हुए पापकर्मों का फल न तो माता-पिता आदि स्वजन ही भोगेंगे, और पुत्रादि के प्रति मोहवश किये हुए दुष्कर्मों का फल न पुत्रादि ही भोगेंगे, स्वकृत कर्मों का फल अनिवृत्त पुरुष को ही भोगना पड़ेगा। इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में शास्त्रकार अगली गाथा में कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहंति, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।।४।।

संस्कृत छाया

यदिदं जगति पृथज्जगाः, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः ।
स्वयमेव कृतैर्गाहन्ते, नो तस्य मुच्येदस्पृष्टः ।।४।।

अन्वयार्थ

(**जमिणं**) चूँकि अनिवृत्त पुरुषों की यह दशा होती है—(**जगती**) इस संसार में (**पाणिणो**) जीव (**पुढो जगा**) अलग-अलग अपने-अपने (**कम्मेहिं**) कृतकर्मों से (**लुप्पंति**) दुःख पाते हैं। तथा (**सयमेव कडेहिं**) अपने किये हुए कर्मों के कारण ही (**गाहंति**) नरक आदि यातनास्थानों में जाते हैं। (**तस्स अपुट्ठयं**) अपने कर्मों का फल-स्पर्श (परिणाम-भोग) किये बिना (**नो मुच्चेज्ज**) वे मुक्त नहीं हो सकते—छुटकारा नहीं पा सकते।

भावार्थ

जो जीव मोहान्ध होकर सावद्य कर्मानुष्ठान नहीं छोड़ते, उनकी यह दशा होती है कि संसार में अलग-अलग रहे हुए प्राणी अपने-अपने किये हुए कर्मों के कारण स्वयमेव दुःख पाते हैं और अपने किये हुए कर्मों के फल-स्वरूप नरक-तिर्यञ्च आदि यातनास्थानों (दुर्गतियों) में जाते हैं। तथा अपने कर्मों का फल स्वयं भोगे बिना वे उनसे मुक्त नहीं हो सकते।

व्याख्या

अपने-अपने कर्म : अपने-अपने फल

जो मनुष्य मोहान्ध होकर स्वजनों को प्रसन्न करने के लिए अंधाधुन्ध पाप-कर्म करता रहता है, यह सोचकर कि 'मैं अपने स्वजनों के लिए, उनकी प्रेरणा से ये पापकर्म कर रहा हूँ, इनका फल मुझे नहीं, उनको भोगना पड़ेगा,' वह अत्यन्त भ्रम में है। संसार में कर्मों का न्याय यह है कि जो कर्म करता है, (चाहे वह अपने लिए करे या दूसरों के लिए) उसका फल उसको खुद को ही भोगना पड़ता है। पिता करेगा तो पिता को, पुत्र करेगा तो पुत्र को। एक के बदले दूसरा न तो कर्मफल भोग सकता है और न ही दूसरे को सुगति में पहुँचा सकता है। यहाँ तो 'अपनी करनी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार उतरनी' है। इसी सिद्धान्त को शास्त्रकार प्रकट करते हैं—"**जमिणं ..... पाणिणो।**"

आशय यह है कि जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं होते, वे अपने-अपने किये हुए कर्मों के फल पृथक्-पृथक् पाकर दुःखी होते हैं। वे स्वयंकृत कर्मों के कारण ही नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में अवगाहन (प्रवेश) करते हैं; ईश्वर आदि किसी अन्य के कारण से नहीं। इस कर्मसिद्धान्त के द्वारा शास्त्रकार ने अपने कर्मों के साथ अपने दुःखों का कार्य-कारणभाव बताया है। आचार्य अमितगति ने भी कहा है—

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

—जो कर्म आत्मा ने स्वयं किये हैं, उनका शुभाशुभ फल वह स्वयं पाता है। जीव यदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ फल पाता है, तो स्पष्ट है कि उसके स्वयंकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे।[1] अतः स्वयंकृत कर्मों का फल स्वयं भोगना अवश्यम्भावी है। कृतकर्मों से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्ट आराधना एवं समभाव की साधना करना आवश्यक है।

मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोचा करता है कि जिस प्राणी को जो गति, योनि या स्थान मिल गया है, वह वहीं रहेगा, मरकर भी पुनः-पुनः वहीं जन्म लेगा, परन्तु यह सिद्धान्त असत्य है, भ्रान्त है। इसे ही बताने के लिए अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा।
राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया॥५॥

संस्कृत छाया

देवाः गन्धर्वराक्षसा, असुराः भूमिचराः सरीसृपाः।
राजानो नरश्रेष्ठिब्राह्मणाः स्थानानि तेऽपि त्यजन्ति दुःखिताः॥५॥

अन्वयार्थ

(**देवा**) देवता, (**गंधवरक्खसा**) गन्धर्व, राक्षस, (**असुरा**) असुर, (**भूमिचरा**) भूमि पर चलने वाले, (**सरीसिवा**) सरककर चलने वाले तिर्यंच, (**राया**) राजा,

१. जैनागमों में कहा है—'**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।**'
अन्य धर्मों के ग्रन्थों में भी कहा है—'**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**नरसेट्ठिमाहणा**) मनुष्य, नगर के सेठ, ब्राह्मण, (**ते वि**) वे सभी (**दुक्खिया**) दुःखित होकर (**ठाणा**) अपने-अपने स्थानों को (**चयंति**) छोड़ देते हैं।

भावार्थ

देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, रेंगकर चलने वाले तिर्यञ्च, चक्रवर्ती या राजा, मनुष्य, नगर के श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण ये सभी दुःखी होकर अपने-अपने स्थानों को छोड़ते हैं। अर्थात् वे अपने स्थान का त्याग करते समय अवश्य दुःखी होते हैं, परन्तु स्थान का त्याग तो उन्हें अवश (बरबस) करना पड़ता है।

व्याख्या

सभी स्थान अनित्य हैं

मनुष्य जिस स्थिति में, जिस योनि में, जिस पद पर होता है, वह प्रायः अपने आपको वहाँ स्थायी समझ लेता है। वह सोचता है कि यह स्थिति सदैव बनी रहेगी, मैं सदा इसी पद पर रहूँगा, इसी गति में ही, इसी योनि में ही मेरा निवास रहेगा और कदाचित् यह शरीर छूट भी गया तो पुनः इसी गति और इसी योनि में मेरा जन्म होगा। यह कितनी बड़ी भ्रान्ति है मानव-मस्तिष्क की ? अगर मनुष्य एक ही स्थिति में सदैव बना रहता है तो उसे साधना करने की क्या आवश्यकता रहती ? यह गलत सिद्धान्त है। इसे ही बताने के लिए शास्त्रकार तमाम स्थानों की अनित्यता बताते हैं—'**ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया**।' इसका आशय यह है कि क्या देव, क्या दानव और क्या मानव, क्या पशु-पक्षी और क्या जलचर आदि प्राणी सभी को मृत्यु एक दिन अपना ग्रास बनाती है। जब मृत्यु आती है, तब मोहग्रस्त अज्ञानी जीव, जो उस स्थान को स्थायी समझे बैठा था, एकदम चौंकता है, सारी मोहमाया उसे आकर घेर लेती है, उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, उसे अपना यह स्थान छोड़ते हुए—विशेषतः अपने शरीर, अपने परिजन एवं धन, धरा, धाम को छोड़ते हुए अत्यन्त दुःख होता है, किन्तु बरबस भारी मन से दुःखित होते हुए उसे अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित ममत्वबद्ध समस्त जड़-चेतन पदार्थों को छोड़ना पड़ता है। यहाँ शास्त्रकार का यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि सुज्ञ मानव को अपने इस स्थान, शरीर, धन, धाम तथा परिवार आदि सबको अनित्य एवं एक दिन त्याज्य समझकर मन से इनके प्रति पहले से ही ममता-आसक्ति छोड़ देनी चाहिए, ताकि उन्हें छोड़ते समय किसी प्रकार का दुःख न हो।

शास्त्रकार ने इस गाथा में कुछ स्थानों का नामोल्लेख कर दिया है, किन्तु उपलक्षण से देवगति के सभी प्रकार के देव, तिर्यञ्चगति के सभी प्रकार के तिर्यञ्च,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरकगति के सभी नारक एवं मनुष्यगति के सभी स्थिति एवं पद वाले मानवों का यही हाल समझ लेना चाहिए। सभी प्राणियों की स्थिति अस्थायी है। मृत्यु किसी के लिए भी रियायत नहीं करती।

अगली गाथा में फिर शास्त्रकार कामासक्त एवं परिवारासक्त जीवों की अन्तिम दशा का वर्णन करते हैं---

मूल पाठ

कामेहि ण संथवेहि गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुए एवं आउक्खयंमि तुट्टती ॥६॥

संस्कृत छाया

कामेषु खलु संस्तवेषु गृद्धाः कर्मसहाः कालेन जन्तवः।
तालं यथा बन्धनाच्च्युतमेवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥६॥

अन्वयार्थ

(**कामेहि**) विषय-भोगों की तृष्णा में (**ण**) एवं (**संथवेहि**) माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि परिचितों में (**गिद्धा**) आसक्त रहने वाले (**जंतवो**) प्राणी (**कालेण**) अवसर आने पर अर्थात् कर्मविपाक के समय (**कम्मसहा**) अपने कर्मों का फल भोगते हुए (**जह**) जैसे (**बंधणच्चुए**) बन्धन से छूटा (टूटा) हुआ, (**ताले**) तालफल गिर जाता है, (**एवं**) इसी तरह (**आउक्खयंमि**) आयु समाप्त होने पर (**तुट्टती**) मर जाते हैं।

भावार्थ

विषय-भोगों की तृष्णा में, तथा माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि परिचितजनों में आसक्त रहने वाले प्राणी कर्मफल के उदय के समय (अवसर आने पर) अपने कर्मों का फल भोगते हुए आयु के टूटने पर ऐसे गिरते हैं (मर जाते हैं), जैसे बन्धन से छूटा हुआ तालफल नीचे गिर जाता है।

व्याख्या

काम-भोगों एवं परिचितों में आसक्त जीवों की दशा

मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क में ज्यों-ज्यों आता है, त्यों-त्यों उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है, इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि परिचितजनों का भी ज्यों-ज्यों अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह-ममता और आसक्ति परस्पर वृद्धिगत होती जाती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य जितना कामभोगों के सेवन में सुख मानता है, उतना ही उन परिचितजनों में मोहित होकर उनके लिए अनेक प्रकार के पापकर्मों का उपार्जन करने में सुख मानता है। और अपने पूर्व शुभकर्मों के उदय से कामभोगों का सेवन करके तृप्ति की आकांक्षा करते हैं, लेकिन वह तृप्ति क्षणिक होती है, बल्कि वे अतृप्त ही रह जाते हैं। जैसे प्यासा मानव मृगतृष्णा की ओर दौड़कर पहुँचने पर भी अपनी पिपासा शान्त नहीं कर सकता, दिवस के अवसान के समय पूर्व दिशा की ओर अपनी छाया को पकड़ने के लिए दौड़ने वाले की छाया हाथ नहीं आती, वैसे ही कामभोगों के सेवन से काम की शान्ति नहीं होती। प्रत्युत जैसे अग्नि में घी की आहुति डालने से अग्नि शान्त होने की बजाय अधिक भड़कती है, वैसे ही कामभोगों की वासना अधिकाधिक भड़कती है। कामभोगों के आसक्तिपूर्वक सेवन से कितने कर्मबन्ध होते हैं, इसी प्रकार परिचित परिजनों के प्रति गाढ़ासक्ति से कितने कर्मबन्ध होते हैं, उन अशुभ कर्मों के फलोदय के समय कितनी वेदना होगी ? इसे वह आसक्त मनुष्य सोचता ही नहीं है, परन्तु जब आयु क्षय हो जाती है और तालवृक्ष के फल के टूटकर गिरने की तरह मनुष्य निढाल होकर भूमि पर गिर जाता है उस समय न तो ये कामभोग बचा सकते हैं और न ही परिचित परिजन उसकी रक्षा कर सकते हैं। यही इस गाथा का आशय है।

अब अगली गाथा में कर्मों से पीड़ित दाम्भिक लोगों की दशा के विषय में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

जे यावि बहुस्सए सिया धम्मियमाहणभिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

संस्कृत छाया

ये चाऽपि बहुश्रुताः स्युः, धार्मिकब्राह्मणभिक्षुकाः स्युः।
अभिच्छादककृतैर्मूच्छितास्तीव्रं ते कर्मभिः कृत्यते ॥७॥

अन्वयार्थ

(**जे यावि**) जो कोई भी (**बहुस्सुए**) बहुश्रुत—अनेक शास्त्रों को सुने हुए, शास्त्रपारंगत (**सिया**) हों, तथा (**धम्मियमाहणभिक्खुए**) धार्मिक, ब्राह्मण-माहन एवं भिक्षुक—भिक्षाजीवी (**सिया**) हों, (**अभिणूमकडेहिं**) किन्तु यदि वे मायाकृत—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाम्भिक अनुष्ठानों में (**मुच्छिए**) रत या आसक्त हैं तो (**ते**) वे (**कम्मेहिं**) कर्मों के द्वारा (**तिव्वं**) अत्यन्त तीव्रता से (**किच्चती**) पीड़ित किये जाते हैं।

भावार्थ

मायामय (दम्भयुक्त) अनुष्ठानों—कृत्यों में आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत (अनेक शास्त्रपारगामी) हों, चाहे वे धर्माचरणशील हों, ब्राह्मण या माहन हों, भिक्षाजीवी हों, कर्मों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं।

व्याख्या

दाम्भिक साधकों की दशा

इस गाथा में मायाचारी साधकों की दशा का वर्णन किया गया है। कई साधक अपने को अनेक शास्त्रों में पारंगत मानते हैं, अनेक धार्मिक क्रियाकाण्डों में रत होने के कारण स्वयं को धार्मिक समझते हैं, फूंक-फूंककर कदम रखने के कारण अपने को माहन—ब्राह्मण मानते हैं या भिक्षाजीवी होने के कारण अपने को पवित्र भिक्षु समझते हैं, परन्तु यदि उनके इन विभिन्न अनुष्ठानों के साथ मायाचार है, कपटपूर्वक उत्कृष्ट क्रिया का दिखावा है, लोकवंचना है, जनता को अपनी ओर आकृष्ट करके सम्मान, प्रतिष्ठा, यश या धन बटोरने की चालबाजी है, वस्त्र, पात्र, या सरस स्वादिष्ट आहार पाने की लालसा का मायाजाल है, जनता को अपने वश में करके अपना कोई तुच्छ स्वार्थ सिद्ध करने का षड्यंत्र है, अथवा किसी उच्च पद, सत्ता या वैभव पाने या किसी लौकिक कामना को सिद्ध करने का चक्कर है तो श्रुतपारगामिता, धार्मिकता, ब्राह्मणता या भिक्षाजीविता उक्त दम्भयुक्त आचार से अत्यन्त दूषित होकर कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्धन की कारण बन जाएगी, और उक्त प्रकारों में से किसी भी प्रकार का साधक अपने मायाचार या दाम्भिक अनुष्ठान में दिनानुदिन अत्यधिक आसक्त एवं मूर्च्छित होकर अनेक प्रकार के कर्मबन्धन करके जब फल भोगने का समय आएगा, तब उन असातावेदनीय कर्मों से अत्यन्त पीड़ित—व्यथित होगा, अथवा कदाचित् उसके किसी धर्माचरण, तपश्चरण या अहिंसादि के आचरण के कारण उसे स्वर्गादि या इहलौकिक विषयसुख मिल जाएँ, तो भी वह उस सातावेदनीय कर्म के फलभोग के समय अत्यन्त गृद्ध होकर धर्माचरण से बिलकुल विमुख हो जाएगा। उसके लिए वे ही सातावेदनीय कर्म भविष्य की पीड़ा के कारण बन जाएँगे। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

आगामी गाथा में पुनः अन्यतैर्थिक साधकों की दशा का वर्णन करते हुए शास्त्रकार भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने इह भासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ परं वेहासे कम्मेहि किच्चती ॥८॥

संस्कृत छाया

अथ पश्य विवेकमुत्थितोऽवितीर्ण इह भाषते ध्रुवम् ।
ज्ञास्यस्यारं कुतः परं विहायसि कर्मभिः कृत्यते ॥८॥

अन्वयार्थ

(**अह**) इसके पश्चात् (**पास**) देखो कि (**विवेगं**) कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को त्यागकर अथवा संसार की अनित्यतता का विवेक (ज्ञान) करके (**उट्ठिए**) प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, या संयम-पालन करने के लिए उत्थित—उद्यत होते हैं, (**अवितिन्ने**) किन्तु वे संसारसागर को पार नहीं कर सकते, तथा वे (**इह**) इस संसार में (**धुवं**) मोक्ष का (**भासई**) केवल भाषण करते हैं। हे शिष्य ! तुम भी उनके मार्ग (पन्थ) में जाकर (**आरं**) इस लोक को तथा (**परं**) परलोक को (**कओ**) कैसे (**णाहिसि**) जान सकोगे ? वे अन्यतीर्थी (**वेहासे**) मध्य में—अधबिच में ही (**कम्मेहि**) कर्मों के द्वारा (**किच्चती**) पीड़ित किये जाते हैं।

भावार्थ

हे शिष्य ! (अथ)[१] इसके पश्चात् यह देखो कि (जिन अन्यतीर्थी साधकों ने) परिग्रह का त्याग करके या संसार को अनित्य जानकर प्रव्रज्या —दीक्षा अंगीकार की है, वे भलीभाँति संयम का अनुष्ठान न करने के कारण संसार-सागर को पार नहीं कर सकते हैं। वे मोक्ष का सिर्फ भाषण करते हैं, उसकी प्राप्ति का उपाय उन्हें ज्ञात नहीं है। हे शिष्य ! तुम उनका आश्रय लेकर इहलोक तथा परलोक को कैसे जान सकोगे ? वे अन्यतीर्थी लोग उभयभ्रष्ट होकर अधबिच में ही रहकर कर्मों के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं।

व्याख्या

मोक्षमार्गी या संसारमार्गी ?

जैनधर्म मानता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। इससे भिन्न और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है, न होगा, क्योंकि

---

१. यहाँ 'अथ' दूसरे प्रसंग के प्रारम्भ, अथवा अनेकों को आदेश देने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र भूत-भविष्य-वर्तमान—त्रिकालसत्य को बतलाता है। किन्तु अन्यतीर्थी रत्नत्रय से भिन्न पदार्थ को मोक्ष का मार्ग बताकर सस्ते सुलभ आसान तथाकथित मोक्षपथ (जो कि एक तरह से संसारपथ ही है) का सब्जबाग लोगों को बताते हैं। उनके जाल से बचने के लिए भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों से कहते हैं—शिष्यो ! देखो, अब उन लोगों के मायाजाल से भी तुम्हें बचना है, जो स्थूलदृष्टि से देखने वालों को वे संसार की अनित्यता जानकर विरक्त-से होकर बाहर से परिग्रह का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्ष के लिए अभ्युद्यत हुए जान पड़ते हैं परन्तु संसार-सागर को पार करना चाहते हुए भी मोक्षमार्ग का सम्यग्ज्ञान न होने के कारण उसे पार नहीं कर सकते। वे लोग यहां के लोगों के सामने मोक्ष की या उसके उपाय की कुछ छुटपुट कोरी बातें ही करते हैं। केवल तत्त्वज्ञान बघारने से उनका कल्याण कैसे हो सकता है। यह आध्यात्मिक जगत् की जानी-मानी बात है कि जो केवल बन्ध-मोक्ष की लम्बी-चौड़ी बातें ही करते हैं, बन्ध का त्यागकर मोक्ष के लिए अनुष्ठान नहीं करते या मोक्षमार्ग का सम्यग्ज्ञान न होने के कारण पशोपेश में पड़े रहते हैं। उन्हें न लोक का ज्ञान है और न मोक्ष का। ऐसी दशा में शिष्यो ! यदि तुम लोग ऐसे अनाड़ी की शरण में जाकर उनके पथ को अपना लोगे तो कैसे इहलोक और परलोक को जान सकोगे ? इहलोक-परलोक से अनभिज्ञ होकर तुम लोक से परे जो मोक्ष है, उसे भी कैसे जान सकोगे ? अथवा गृहस्थधर्म (इहलौकिक) और प्रव्रज्या-धर्म (पारलौकिक) को कैसे जान सकोगे ? अथवा **आरं** यानी संसार को और **पारं** यानी मोक्ष को तुम कैसे जान—समझ सकोगे ? अतः जो पुरुष इन संसार-मोक्ष दोनों की वास्तविकता से अनभिज्ञ साधकों के चक्कर में पड़ जाता है, वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** होकर संसारसागर के मझधार में ही डूबता-उतराता हुआ कर्मों के द्वारा पीड़ित किया जाता है।

तपस्या से तप्त और अकिंचन अन्यतैर्थिक साधकों को मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त होगा ? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार आगामी गाथा प्रस्तुत करते हैं—

मूल पाठ

जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंतसो ॥६॥

संस्कृत छाया

यद्यपि च नग्नः कृशश्चरेत्, यद्यपि च भुंजीत मासमन्तशः।
य इह मायादिना मीयते, आगन्ता गर्भायानन्तशः ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जे**) जो साधक (**इह**) इस लोक में (**मायाइ मिज्जइ**) माया आदि से अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त मिथ्यादृष्टि है, वह (**जइवि**) कदाचित् (चाहे) (**णगिणे किसे**) नंगा— निर्वस्त्र एवं तपस्या से कृश होकर (**चरे**) विचरण करे, (**जइवि य**) अथवा चाहे वह (**मासमंतसो**) एक मास के पश्चात् (एक महीने के अन्त में) (**भुंजिय**) भोजन करे; परन्तु (**णंतसो**) वह अनन्तकाल तक (**गब्भाय**) गर्भवास को (**आगंता**) प्राप्त करता है।

भावार्थ

जो पुरुष माया आदि कषायों से युक्त है, वह भले ही नग्न निर्वस्त्र एवं घोरतप से कृश होकर विचरण करे, अथवा एक-एक महीने की तपस्या के अन्त में पारणा (भोजन) करे, परन्तु वह अनन्तकाल तक गर्भवास में आता रहता है, अर्थात् उसका संसार घटता नहीं।

व्याख्या

कृश और नग्न : फिर भी संसार-संलग्न

यद्यपि कई साधक बाह्यपरिग्रह—घरबार, धन-धाम, वस्त्रादि सब छोड़कर बिलकुल नग्न निर्वस्त्र अकिंचन होकर घूमते हैं, कई तापस अतीव घोर तपस्या करके शरीर को सुखा डालते हैं, कई तो इतने उग्रतपस्वी होते हैं, एक-एक महीने की तपस्या करने के बाद भोजन करते हैं, यानी महीने तक निराहार रहते हैं। इतनी कठोर साधना करने पर भी उन साधकों को मोक्ष क्यों नहीं होता? इसी बात को शास्त्रकार इस गाथा के पूर्वार्द्ध में कहकर उत्तरार्द्ध में उसका समाधान करते हैं—**'जे इह मायाइ मिज्जइ आगंता गब्भाय णंतसो।'**—इसका आशय यह है कि इतनी कठोर साधना करने पर भी जो व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह एवं माया आदि अनन्तानुबन्धी कषायों को नहीं छोड़ता, उसे मोक्ष नहीं हो सकता, बल्कि वह माया आदि कषायों से लिपटा रहता है, इसलिए अनन्तकाल तक गर्भवास में आता रहता है।

यहाँ 'माया' शब्द से उपलक्षण से समस्त कषायों और आभ्यन्तर परिग्रहों का ग्रहण कर लेना चाहिए। तपस्या से शरीर शुष्क कर लेने या स्थूल-परिग्रह का त्याग करके नग्न हो जाने मात्र से राग-द्वेष-मोह आदि नहीं छूट जाते, उनके छूटे बिना कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता और कर्मों से मुक्त हुए बिना किसी की मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। नग्न होकर भी जो साधक राग-द्वेष-मोह-कषाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि को छोड़ता नहीं। वह इस भ्रम में रहता है कि इतना कठोर तप और क्रिया-काण्ड करने पर तो मुक्ति अवश्य हो जाएगी, परन्तु अज्ञान, मोह और माया आदि के मिल जाने से वे भी अग्निशर्मा की तरह अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण के कारण बन जाते हैं। मुक्ति की शर्त है—कषायों, रागद्वेषों एवं तज्जनित कर्मों से मुक्ति। गर्भवास में अनन्त बार आने का अर्थ ही है—अनन्तकाल तक जन्म-मरण-रूप संसार में चक्कर काटना।

अगली गाथा में पापकर्मों से विरत होने का उपदेश देते हैं—

मूल पाठ

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

संस्कृत छाया

पुरुष ! उपरम पापकर्मणा, पर्य्यन्तं मनुजानां जीवितम्।
सन्ना इह काममूर्च्छिताः, मोहं यान्ति नरा असंवृताः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**पुरिस**) हे पुरुष! (**ओरम पावकम्मुणा**) पापकर्म से उपरत—निवृत्त हो जा। (**मणुयाण**) मनुष्यों का (**जीवियं**) जीवन (**पलियंतं**) देरसबेर से अन्त होने वाला—नाशवान है। (**इह**) इस संसार में या इस जन्म में (**सन्ना**) जो आसक्त हैं तथा (**काममुच्छिया**) काम-भोगों में मूर्च्छित – गृद्ध हैं, (**असंवुडा**) तथा जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं, (**नरा**) वे मनुष्य (**मोहं**) मोह को (**जंति**) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ

हे पुरुष ! तू पापकर्मों से लिप्त है, अतः उससे निवृत्त हो जा। मनुष्यों का जीवन नाशवान है। इस संसार में या इस जन्म में जो मनुष्य आसक्त हैं तथा काम-भोगों में मूर्च्छित हैं एवं हिंसा आदि पापों से विरत नहीं हैं, वे मोह के घेरे में बन्द हो जाते हैं।

व्याख्या

पापकर्मों से निवृत्ति का उपदेश

पूर्वगाथा में बताया गया था कि मिथ्यादृष्टियों की बतायी हुई तपस्या या साधना से भी अज्ञान एवं कषायनिवृत्ति न होने के कारण पापकर्मों से निवृत्ति नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती, अतः अब इस गाथा में पापकर्मों से निवृत्ति का उपदेश दिया गया है कि हे पुरुष ! हे विवेकवान् आत्मा ! तू अब तक पापकर्मों में लिपटा रहा, क्योंकि तूने मनुष्यजीवन को शाश्वत समझा, जो कि क्षणभंगुर है, कब नष्ट हो जाएगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। मनुष्यजीवन की स्थिति अधिक से अधिक तीन पल्योपम पर्यन्त है, **'पलियंतं'** शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने यह सूचित कर दिया है। अथवा पुरुषों का संयमी जीवन पल्योपम के मध्य में ही होता है। वह भी ऊन-पूर्वकोटि-पर्यन्त ही होता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यों का जीवन नाशवान है, इसको अल्पजीवी जानकर, जब तक समाप्त नहीं होता है, तब तक मायादि कषायों से रहित होकर शुद्ध धर्मानुष्ठान करके जीवन को सफल बनाना चाहिए। परन्तु जो व्यक्ति इस मानवभव को पाकर अथवा इस संसार में आकर विषयभोगों की कीचड़ में फँस जाते हैं, तथा इच्छाकाम (कामनाओं) एवं मदनकाम की आसक्ति के जाल में फँस जाते हैं, वे मोहमोहित होकर अपने हिताहित का भान नहीं कर सकते। अथवा **'मोहं जंति'** का अर्थ यह भी हो सकता है, वे पुरुष मोहनीयकर्म का संचय करते हैं। जो पुरुष हिंसा आदि से विरत नहीं होते और इन्द्रियविषयों में गाढ़ासक्त होते हैं, वे मोहनीयकर्म का संचय करते हैं। मोहनीयकर्म के संचित होने का परिणाम यह होता है कि वे हिताहित के बोध से विकल रहते हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक्चारित्र का पालन करना तो कोसों दूर है। अतः मोह-कर्म की प्रबलता से बचने के लिए पापकर्मों से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, यही इस गाथा में उक्त उपदेश का आशय है।

पहले तो मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, उसके बाद श्रावक कुल में जन्म होना और भी कठिन है, इसलिए जब तुम्हें मानवजन्म, उत्तम कुल एवं धर्म का संयोग मिला है तो क्या करना चाहिए ? इसे ही अगली गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

जयं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेइयं ॥११॥

संस्कृत छाया

यतमानो विहर योगवान्, अनुप्राणाः पन्थानो दुरुत्तराः।
अनुशासनमेव प्रक्रामेत् वीरैः सम्यक् प्रवेदितम् ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

हे पुरुष ! (**जयं**) तू यत्न (यतना) करता हुआ, (**जोगवं**) योगवान्—पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर (**विहराहि**) विचरण कर। (**अणुपाणा**) सूक्ष्म प्राणियों से युक्त, (**पंथा**) मार्ग (**दुरुत्तरा**) उपयोग बिना दुस्तर होते हैं। (**अणुसासणमेव**) शासन—जिन-प्रवचन के अनुरूप शास्त्रोक्त रीति से ही (**पक्कमे**) संयममार्ग में कदम बढ़ाना चाहिए। (**वीरेहिं**) समस्त रागद्वेषविजेता वीर अरिहन्तों ने, (**सम्मं**) सम्यक् प्रकार से (**पवेइयं**) यही बताया है।

भावार्थ

हे पुरुष ! तू यत्न करता हुआ, पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर विचरण कर, क्योंकि सूक्ष्मप्राणियों से परिपूर्ण मार्ग को उपयोग और यतना के बिना पार करना दुष्कर है। अतः शास्त्र में या जिनशासन में संयमपालन की जो रीति बतायी है, उसके अनुसार संयमपथ पर चलना चाहिए। सभी तीर्थंकरों ने इसी का ही सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

व्याख्या

उपयोगपूर्वक संयमपथ पर चलो

जो साधक अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का सम्यक् पालन करना चाहता है, अपने जीवन का निर्वाह करते हुए संयम पालन करने की जिसमें उत्कण्ठा है, वह जब भी चलेगा, बोलेगा, बैठेगा, सोयेगा, खाये-पीयेगा या कोई भी प्रवृत्ति करेगा तो किसी न किसी जीव को क्षति पहुँचने की सम्भावना है, इसलिए जिससे जीवहिंसा, असत्य आदि दोष भी न हों और जीवननिर्वाह भी हो जाए, इसके लिए शास्त्रकार इस गाथा में तीर्थंकरों के द्वारा भाषित मार्ग का उपदेश देते हैं—**'जयं विहराहि ..... दुरुत्तरा।'** इसका तात्पर्य यह है कि यतनापूर्वक सभी कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए। पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन से यतना आ जाती है।[1] यतना धर्म की जननी है। इसीलिए पाँच समिति और तीन गुप्ति को अष्टप्रवचनमाता कहते हैं। शास्त्रों (जिनप्रवचन) में यत्र-तत्र संयमपालन की जो विधि बतायी है, उसके अनुसार चलना चाहिए। क्यों चलना चाहिए ? इस शंका के समाधानार्थ कहा है **'वीरेहिं सम्मं पवेइयं।'** तीर्थंकर नरवीरों ने इसी का जोरदार उपदेश दिया है।

---

१. "जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥" —दशवै० अ० ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वगाथा में वीरों का उल्लेख किया गया है, अतः इस गाथा में 'वीर कौन हो सकता है ?' इस सम्बन्ध में बताते हैं—

मूल पाठ

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

संस्कृत छाया

विरता वीराः समुत्थिताः, क्रोधकातरिकादिपीषणा ।
प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वशः पापाद् विरता अभिनिर्वृताः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**विरया**) जो हिंसा आदि पापों से विरत हैं, (**वीरा**) जो कर्मों को विदारण करने में वीर हैं, और (**समुट्ठिया**) आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके मोक्षपथ पर चलने के लिए समुत्थित हैं—उत्साहपूर्वक सन्नद्ध हैं, (**कोहकायरियाइपीसणा**) क्रोध और माया आदि को दूर करने वाले हैं, तथा जो (**सव्वसो**) मन-वचन-काया से सर्वथा (**पाणे**) द्वीन्द्रिय आदि किसी भी प्राणी को (**ण हणंति**) नहीं मारते, तथा (**पावाओ विरया**) पापकर्म से (**विरया**) निवृत्त हैं (**अभिनिव्वुडा**) वे पुरुष मुक्त जीवों के समान प्रशान्त हैं ।

भावार्थ

जो हिंसा आदि पापों से दूर हैं, क्रोध, माया आदि कषायों को विदारण करने के कारण वीर हैं, तथा समस्त आरम्भों को छोड़कर मोक्षमार्ग में डटे हुए हैं—संयम के लिए सन्नद्ध हैं। जो द्वीन्द्रिय आदि जीवों को मन-वचन-काया से सर्वथा नहीं मारते, ऐसे समस्त पापकर्मों से रहित पुरुष मुक्त जीवों के समान ही परिशान्त होते हैं, वे ही वीरपुरुष हैं ।

व्याख्या

वीर कौन ?

इस गाथा में वीरपुरुष का लक्षण दिया है । आध्यात्मिक जगत् में वीरपुरुष वे नहीं माने जाते, जो युद्ध में लाखों आदमियों का संहार कर देते हैं, जिनकी एक भ्रकुटि से हजारों आदमी थर्राने लगते हैं, जो अपने मौज-शौक के लिए लाखों निर्दोष प्राणियों को मार डालते हैं, अथवा जो आमोद-प्रमोद के लिए पंचेन्द्रिय वन्य जीवों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का शिकार करते हैं, किन्तु यहाँ वीर वे ही माने जाते हैं जो हिंसा आदि पापों से विरत हैं, कर्मों को विदारण करने के कारण वे साहसी वीर हैं, क्रोध-माया आदि कषायों से दूर रहते हैं, आरम्भों को छोड़कर संयमी नरवीर का बाना पहने हुए हैं, जो मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी का वध नहीं करते, पापों से निवृत्त हैं। और ऐसे वीर ही वीतरागी नरवीरों के समान प्रशान्त हैं, अर्थात् विषय-कषायों से निवृत्त होने के कारण प्रशान्तात्मा हैं। वे ही मुक्ति के समान शान्ति स्वरूप हैं।

वीर पुरुष परीषहों को कैसे सहन करे ? इसके लिए आगामी गाथा में उपदेश देते हैं—

मूल पाठ

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लोयंसि (मि) पाणिणो।
एवं सहिएहि पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

संस्कृत छाया

नाऽपि तैरहमेव लुप्ये, लुप्यन्ते लोके प्राणिनः ।
एवं सहितैः (सहितः) पश्येत्, अनिहः स स्पृष्टोऽधिसहेत ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**सहिएहि**) ज्ञान वगैरह श्री से सम्पन्न पुरुष (**एवं**) इस प्रकार (**पासए**) विचार करे, देखे, कि (**अहमेव**) केवल मैं ही (**ता**) उन शीत, उष्ण आदि के द्वारा—उनके दुःख विशेष से, (**णवि**) नहीं (**लुप्पए**) पीड़ित किया जाता, (**लोयंसि**) इस लोक में (**पाणिणो**) अन्य प्राणी भी (**लुप्पंति**) इनसे पीड़ित होते हैं या किये जाते हैं। अतः (**पुट्ठे**) परीषहों का स्पर्श पाया हुआ (**से**) वह संयमसाधक मुनि (**अणिहे**) क्रोधादि, राग-द्वेष-मोह से रहित होकर (**अहियासए**) उन्हें सहन करे।

भावार्थ

ज्ञानादि सम्पन्न पुरुष यह सोचे कि सिर्फ मैं अकेला ही सर्दी, गर्मी आदि के कष्टों से पीड़ित नहीं किया जाता, अपितु संसार में जो अन्य प्राणी हैं, वे भी इनसे पीड़ित किये जाते हैं। अतः शीतोष्ण आदि परीषह आ पड़ने पर राग-द्वेष-कषाय से रहित होकर समभावपूर्वक सहन करे।

व्याख्या

परीषह आने पर वीरपुरुष का चिन्तन

इस गाथा का आशय स्पष्ट है। साधारण व्यक्ति परीषह (शीत, उष्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि कष्ट आ पड़ने पर घबराकर हाय-तोबा मचाने लगता है, किन्तु संयमवीर पुरुष सर्दी-गर्मी आदि परीषह आने पर यह सोचे कि केवल मैं ही इनसे पीड़ित नहीं किया जाता, किन्तु संसार के सभी प्राणियों को ये पीड़ित करते हैं। अतः परीषहों का आक्रमण होने पर वह घबराए नहीं, बल्कि दृढ़तापूर्वक राग-द्वेष-कषायादि से रहित होकर समभावपूर्वक उन्हें सहन करे।

सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न पुरुष यह सोचे कि अविवेकी प्राणी कष्ट आने पर हाय-तोबा मचाते हुए लाचारी से उसे सहन करते हैं, जिससे वे कष्ट सहकर भी निर्जरारूप फल को प्राप्त नहीं कर सकते, मैं समभावपूर्वक कष्ट सहूँगा तो निर्जरा रूप फल प्राप्त कर सकूँगा। किसी सुज्ञ पुरुष ने ठीक ही कहा है—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं, त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहशीलतापपवनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न तत्त्वं परः,
तत्तत्कर्मकृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः॥

क्षमा तो की, लेकिन क्षमाधर्म समझकर नहीं की, घर में होने वाले सुख का त्याग तो किया, लेकिन संतोष से प्रेरित होकर नहीं, दुःसह सर्दी, गर्मी, हवा आदि के कष्ट तो सहे, किन्तु तपश्चरण नहीं किया, दिन-रात बिना श्वास रोके धन का ध्यान तो किया; मगर निर्द्वन्द्व होकर परमात्मतत्त्व-आत्मतत्त्व का चिन्तन नहीं किया। अहो ! इन अज्ञानी सुखाभिलाषियों ने सुख-प्राप्ति के लिए तपस्वी मुनियों की तरह वे सभी कर्म किये, लेकिन उनके फलों से वे वंचित ही रहे। क्योंकि संयमी विचारशील पुरुष जो कष्ट सहते हैं, वे उनके गुणवृद्धि के कारण होते हैं, जबकि सुखार्थी जो कष्ट सहते हैं वे उलटे कर्मबन्ध के कारण हो जाते हैं। किसी नीतिकार ने ठीक ही कहा है—

कार्श्यक्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता
पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले।
एतान्येव गृहेवहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे
दोषाश्चाऽपि गुणा भवन्ति हि नृणां योग्येपदेयोजिताः॥

भूखे रहने से शरीर में आई दुर्बलता, खराब अन्न का आहार, शीत और उष्ण के दुःख का सहना, तेल न मिलने से बालों का रूखापन, बिस्तर के बिना केवल जमीन पर सो जाना इत्यादि बातें जो गृहस्थ के लिए अवनति के चिह्न मानी जाती हैं, वे ही स्वभाव से सहने वाले, तितिक्षु संयमी मुनि के लिए उन्नतिकारक समझी जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि योग्य पद (स्थान) पर स्थापित किये (जोड़े) दोष भी गुण हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः ज्ञानादिगुणसम्पन्न और अज्ञानान्धकार से परे संयमी निर्दोषचर्या वाले पूर्वोक्त दृष्टि से गीतार्थ आचार्यादि पर विश्वास करे और धीरतापूर्वक शीतोष्णादि परीषह सहन करे। यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

आगामी गाथा में शास्त्रकार परीषह-विजय का उपदेश देते हैं—

मूल पाठ

खुणिया कुलियं व लेवसं, किसए देहमणसणादीहिं ।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

संस्कृत छाया

खुनित्वा कुड्यं च लेपवत्, कर्शयेद् देहमनशनादिभिः ।
अविहिंसामेव प्रव्रजेदनुधर्मो मुनिना प्रवेदितः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(लेवसं) जैसे लीपी हुई (कुलियं) भींत = दीवार (खुणिया) लेप गिराकर और पतली कर दी जाती है, वैसे ही (अणसणादीहि) परीषह या उपसर्ग आने पर अनशन आदि तपश्चर्या के द्वारा (देहं) शरीर को (किसए) कृश कर देना = सुखा देना चाहिए। (अविहिंसामेव) तथा अहिंसाधर्म का ही (पव्वए) पालन करना चाहिए। (अणुधम्मो) यही मोक्षानुकूल या समयानुकूल (मुणिणा) मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने (पवेदितो) कहा है।

भावार्थ

जैसे लीपी हुई दीवार पर चढ़े हुए लेप को गिराकर बहुत पतली और क्षीण कर दी जाती है, वैसे ही वर्षों से आहारादि से पुष्ट शरीर को परीषह या उपसर्ग का अवसर आने पर अनशन आदि तपश्चर्या के द्वारा कृश-दुर्बल कर देना चाहिए; क्योंकि ऐसे समय में साधक को अहिंसाधर्म का ही पालन करना चाहिए। यही समयानुकूल या मोक्षानुकूल धर्म मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया है।

व्याख्या

परीषह एवं उपसर्ग के समय मुनि का धर्म

साधक जब साधना करता है, तो शरीर बीच में आकर कई बार अपनी अनुकूल या प्रतिकूल माँग उपस्थित करता है। मुनि तो अपनी मर्यादा में रहते हुए संयम साधना करते हुए भिक्षाचरी में जो कुछ मिल जाता है, उसी में ही शरीर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषण करता है, अपना धर्म-पालन भी शरीर से करता है। किन्तु कई बार दुष्काल, रोग, कम आहारलाभ, आदि परीषहों के या देव, मनुष्य या तिर्यञ्च के द्वारा कृत उपसर्गों—कष्टों के प्रसंग आ जाते हैं। उस समय आहार-पानी तो दूर रहा, शरीर पर भी आफत आ जाती है। ऐसे समय में अहिंसाधर्म का उत्कृष्ट आराधक मुनि क्या करे? क्या वह अपने शरीर को छोड़ दे या प्रतिकूल व्यक्तियों (जीवों) का सामना करे, या प्राकृतिक प्रकोपों के समय श्रमणधर्म को छोड़कर आधाकर्मादि हिंसाजन्य आहारादि लेकर अपने शरीर को पोषण दे। इसी के उत्तर में यह गाथा प्रस्तुत की गयी है—**'धूणिया कुलियं व लेववं किसए देहमणसणाईहिं।'**

शास्त्रकार का आशय यह है कि ऐसे किसी भी परीषह या उपसर्ग के समय साधु घबराए नहीं। वह यह सोचे कि मैं इतने समय से शरीर को तो आहारादि से पोषण देता ही आ रहा हूँ। कभी यह दुष्काल या अन्य आहारादि का संकट उपस्थित हो जाए तो वह शरीर पर से ममत्व हटाकर उसे अनशन आदि (उपवास आदि) तप से ऐसे ही दुर्बल (पतला) कर दे, जैसे गोबर, मिट्टी आदि से लीपी हुई दीवार पर चढ़े हुए लेप को हटाकर वह पतली कर दी जाती है। तात्पर्य यह है कि शरीर के बढ़े हुए रुधिर, मांस को तपस्या के द्वारा सुखा डालना चाहिए और सर्दी, गर्मी आदि परीषहों को सहना चाहिए। मांस और रुधिर की शरीर में कमी करने के इस उपाय को सहिष्णुभाव से अजमाने पर शरीर के पोषण के लिए आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार (जिसमें प्रायः हिंसा की सम्भावना है) लेने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

जहाँ तक शरीर को छोड़ने का सवाल है, जैनशास्त्रों की यह आज्ञा नहीं है कि शक्ति और धर्मपालन के लिए सक्षम चलते-फिरते शरीर को यों ही आवेश में आकर त्याग दे। इसीलिए यहाँ भी शरीर को कृश करने का विधान किया है। आचारांगसूत्र में भी इसी तरह का एक विधान मिलता है—**'कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं'** (अपने शरीर को कृश कर डालो, कसो, जीर्ण कर डालो)। मतलब यह है कि साधु अगर ऐसे विकट प्रसंगों पर आहार-पानी का गुलाम बन जाएगा तो उसके जीवन में आर्तध्यान की भी सम्भावना है और आर्तध्यान भावहिंसा है। इसी प्रकार जो प्रतिकूल देव, मनुष्य या तिर्यञ्च हमला करें या अन्य किसी प्रकार की क्षति पहुँचाएं तो भी समभाव में सहन करे, उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष-रोष न करे, प्राकृतिक प्रकोपों के समय भी अहिंसाधर्म पर डटा रहे। इसी बात को शास्त्रकार द्योतित करते हैं—**'अदिहिंसामेव पव्वए।'** अर्थात् ऐसे विकट प्रसंगों पर अहिंसाधर्म का ही पालन करे, **'पव्वए'** का अर्थ प्रकर्ष रूप से गति करे—अर्थात् डटा रहे' भी होता है। अहिंसा के बदले यहाँ 'अदिहिंसा' प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार है--विविध प्रकार की या विशिष्ट हिंसा को 'विहिंसा' कहते हैं। उस विहिंसा को न करना 'अविहिंसा' है। साधु को विकट से विकट प्रसंग में भी अविहिंसाधर्म पर डटे रहना चाहिए। अन्त में साधक को परमहितैषी वीतराग प्रभु के इस आदेश को शिरोधार्य करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं कि मुमुक्षु साधकों के लिए परीषह-उपसर्ग के समय अहिंसाधर्म पर डटे रहने का आदेश हम अपनी ओर से नहीं कहते, यह मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया है कि यही अनुधर्म समयानुकूल य मोक्षानुकूल है।

अगली गाथा में अहिंसाधर्म के परिपालन के फल के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥

संस्कृत छाया

शकुनिका यथा पांसुगुण्ठिता विधूय ध्वंसयति सितं रजः।
एवं द्रव्य उपधानवान् कर्म क्षपयति तपस्वी-माहनः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**जह**) जैसे (**पंसुगुंडिया**) धूल से भरी हुई (**सउणी**) पक्षिणी (**विहुणिय**) अपने अंगों या पंखों को फड़फड़ाकर (**सियं रयं**) शरीर में लगी हुई रज को (**धंसयई**) झाड़ देती है, (**एवं**) इसी तरह (**दवि**) भव्य, (**ओवहाणवं**) उपधान आदि तप करने वाला (**तवस्सि**) तपस्वी (**माहणे**) माहन—अहिंसाव्रती पुरुष (**कम्मं**) कर्म को (**खवइ**) नाश करता है।

भावार्थ

जैसे पक्षिणी अपने शरीर पर लगी हुई धूल को अंग या पंख फड़फड़ा कर झाड़ देती है, वैसे ही अनशन आदि तप करने वाला अहिंसाप्रधान भव्यपुरुष (तपस्या एवं अहिंसाधर्म के पालन से) कर्म को झाड़ (नष्ट कर) देता है।

व्याख्या

अहिंसाधर्म के परिपालन का फल

अहिंसाधर्म के परिपालन के लिए साधक को अहिंसाभगवती के दो पाँखों—संयम और तप की आराधना करनी पड़ती है। जब अहिंसा-साधक संयम और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपरूपी पाँखें फड़फड़ाएगा तो उसके आत्मा पर लगी हुई कर्मरूपी धूल उसी तरह झड़ जाएगी, जिस तरह पक्षिणी अपने अंग पर लगी हुई धूल को पाँखें फड़फड़ाकर झाड़ देती है।

अहिंसाधर्मी साधक माहन कहलाता है, अर्थात् 'मा + हन—किसी जीव को मत मारो' इस प्रकार की जिसकी उद्घोषणा एवं प्रवृत्ति है, उसे 'माहन' कहते हैं। यहाँ तप के पर्यायवाची उपधान शब्द का प्रयोग किया गया है। उप—मोक्ष के समीप, धान - स्थापित करना, उपधान। दवि शब्द का संस्कृतरूप होता है—द्रव्य, जिसका अर्थ टीकाकार (शीलांकाचार्य) ने भव्य किया है अर्थात् मोक्षगमन के योग्य।

निष्कर्ष यह है कि मोक्षगमन के योग्य उपधान आदि तप करने वाला तपस्वी अहिंसाप्रधान साधु अपने ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को नष्ट कर देता है।

आगामी गाथाओं में अनुकूल उपसर्गों से साधक को सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूल पाठ

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥१६॥

संस्कृत छाया

उत्थितमनगारमेषणां श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विनम्।
दहरा वृद्धाश्च प्रार्थयेयुरपि शुष्येयुर्न च तं लभेरन् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**अणगारं**) गृहरहित मुनि (**एसणं**) एषणा के पालन के लिए (**उट्ठियं**) उत्थित—तत्पर, (**ठाणठियं**) अपने संयमस्थान में स्थित (**तवस्सिणं समणं**) तपस्वी श्रमण को (**डहरा**) उसके लड़के-बच्चे, (**बुड्ढा य**) उसके बूढ़े माता-पिता आदि (**पत्थए**) प्रव्रज्या छोड़ देने के लिए चाहे प्रार्थना करें, (**अवि सुस्से य**) और चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, वे थक जायँ, (**तं**) परन्तु वे उस श्रमण को (**णो लभेज्ज**) पा नहीं सकते, मना नहीं सकते, अथवा अपने अधीन नहीं कर सकते।

भावार्थ

घर-बार छोड़कर अनगार बने हुए तथा एषणा-पालन में तत्पर संयमधारी तपस्वी श्रमण के पास आकर यदि उसके बेटे-पोते या माँ-बाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि वृद्ध दीक्षा छोड़कर घर चलने की चाहे जितनी प्रार्थना करें, चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, वे भले ही थक जायँ, परन्तु वस्तुतत्त्व के ज्ञाता साधु को वे मनाकर अपने अधीन नहीं कर सकते।

व्याख्या

अनुकूल उपसर्ग : मुनि की दृढ़ता

जिसके अगार अर्थात् घर-बार नहीं है, अर्थात् गृह त्याग करके जो प्रव्रजित हो चुका है, वह अनगार कहलाता है। ऐसे अनगार तथा संयमपालनार्थ जो एषणा-समिति के पालन में उद्यत है जिसने विविध तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर को तपा डाला है, ऐसे परिपक्व श्रमण के जीवन में भी कई बार अनुकूल उपसर्ग आते हैं, उन अनुकूल उपसर्गों में उसे गाफिल नहीं रहना है। जरा-सा भी असावधान रहा तो उसके संयमधन का चोर अपहरण कर लेंगे, उसका वर्षों का तपा-तपाया जीवन शीघ्र ही मिट्टी में मिला देंगे; उसकी वर्षों की साधना उसके तथाकथित कुटुम्बीजन छिन्नभिन्न कर देंगे। कौन-से अनुकूल उपसर्ग और कौन-से उसके कुटुम्बीजन, जिनसे उसकी साधना को अतिचारग्रस्त कर सकते हैं? इसे बताने एवं तपस्वी श्रमण को पूर्ण सावधान एवं संयम में दृढ़ करने के लिए कहते हैं—'डहरा बुड्ढा य पत्थए.....' आशय यह है कि ऐसे परिपक्व श्रमण के सामने अनुकूल उपसर्ग का एक नमूना देखिये। उसके गृहस्थपक्ष के बेटे-पोते आदि या बड़े-बूढ़े माता-पिता, मामा, काका आदि उसके पास आकर विनती करें—"आपने बहुत वर्षों तक संयम-पालन कर लिया, अब तो आप यह सब छोड़छाड़ कर घर चलिए और हमारा पालन कीजिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नहीं है। एकमात्र आप ही हमारे पालक हैं। हम आपके बिना निराधार दीन-दुःखी हो रहे हैं। अतः अब देर मत करिए, झटपट घर चलिए और हमें सँभालिए।"—इस प्रकार वे बार-बार रो-रोकर, दीनता और करुणा का नाटक करके मुनि को कायल करने और अपने धर्म से विचलित करने की कोशिश करें। उस समय मुनि उसे अनुकूल परीषह जानकर सावधान हो जाए। अगर साधु सावधान और दृढ़ का मजबूत होगा तो चाहे प्रार्थना करते-करते उनका गला सूख जाय, अथवा वे थक जायँ, परन्तु परिपक्व साधक अपने लक्ष्य से एक इंच भी इधर-उधर नहीं होगा, वह उन्हें यथायोग्य उत्तर देकर विदा कर देगा, लेकिन उनके वाग्जाल में बिलकुल न फँसेगा। वे संयम में दृढ़ उस साधु को चाहे जितना प्रयत्न, अनुनय-विनय करके भी पा नहीं सकते, मना नहीं सकते।

यहाँ मूलपाठ में **'अवि सुस्से'** शब्द है, उसका संस्कृत में **'अपि श्रोष्ये'** रूप भी बनता है। जिसका अर्थ होता है, वह साधु उनकी बात सुनेगा भी, किन्तु उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाग्जाल में नहीं फँसेगा। निष्कर्ष यह है कि साधु को ये और इस प्रकार के अन्य अनुकूल उपसर्गों के आने पर सावधानी और दृढ़ता रखनी चाहिए।

मूल पाठ

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणा।
दवियं भिक्खूं समुट्ठियं, णो लभंति ण संठवित्तए ॥१७॥

संस्कृत छाया

यदि कारुणिकानि कुर्युः, यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात्।
द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं, न लभन्ते न संस्थापयितुम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(जइ) यदि वे (कालुणियाणि कासिया) करुणापूर्ण वचन बोलें या करुणाजनक कार्य करें (य) और (जइ) यदि वे (पुत्तकारणा) अपने पुत्र के लिए (रोयंति) रुदन करें, तो भी (दवियं) भव्य मुक्तिगमन के योग्य, (समुट्ठियं) मोक्ष साधना में समुद्यत (भिक्खूं) साधु को (णो लभंति) प्रव्रज्या से भ्रष्ट नहीं कर सकते, तथा (ण संठवित्तए) न वे उसे गृहस्थलिंग में स्थापित कर सकते हैं।

भावार्थ

साधु के माता-पिता आदि स्वजन उसके निकट आकर यदि करुण वचन बोलें, कातरतापूर्वक दीन-हीन स्वर में कहें, या करुणाजनक कार्य करें, तथा यदि वे अपने पुत्र के लिए रोयें-विलाप करें, तो भी साधुधर्म का पालन करने में तत्पर, मुक्तिगमन के योग्य उस परिपक्व साधु को वे साधुजीवन से भ्रष्ट नहीं कर सकते और न ही वे उसे पुनः गृहस्थवेष में स्थापित कर सकते हैं।

व्याख्या

परिपक्व एवं सावधान साधु की पहिचान

साधु की परिपक्वता, दृढ़ता एवं सावधानी का पता उस समय लगता है, जब उसके सामने अनुकूल परीषह आते हैं। उसके भूतपूर्व गृहस्थपक्ष के माता, दादी, नानी, बहिन या पिता, चाचा, मामा आदि आकर उसके सामने रोने-धोने लग जाएँ, उसके सामने करुणापूर्ण वचन बोलने लगें अथवा कोई करुणाजनक ऐसा कार्य कर बैठें, जिससे साधु झटपट पिघल जाए और अपने साधुजीवन से भ्रष्ट होकर पुनः गृहस्थजीवन में चला जाए। किन्तु परिपक्व एवं सावधान साधु ऐसे करुणाजनक प्रसंगों में मन को कठोर बनाकर दृढ़ता से प्रतिकार करता है। अगर उस मुनि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थपक्षीय पत्नी आकर कहे—"हे कन्त ! हे नाथ ! हे स्वामिन् ! हे अतिप्रिय ! प्राणवल्लभ, आप तो इतने निष्ठुर हो गए कि घर भी नहीं चलते। आपके बिना मुझे सारा घर सूना-सूना लगता है। बच्चे आपके बिना रो रहे हैं, उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मुझ पर नहीं तो, उन बच्चों पर दया करके ही घर चलो। आपके घर आ जाने से घर में चहल-पहल हो जायगी। मेरा भी जीवन आनन्द से बीतेगा। अपने बूढ़े माता-पिता की ओर देखो। वे आपके बिना बेचैन हैं। आपके घर आने से उनका भी मन हरा-भरा रहेगा।" अथवा उक्त साधु के स्वजन आकर रोते-विलाप करते कहें—"एक बार तो घर चलो। कुलदीपक पुत्र के बिना सारा कुल, घर या वंश सूना है। और कुछ नहीं तो कम से कम अपनी वंशबुद्धि के लिए एक पुत्र उत्पन्न करके फिर तुम पुनः संयम पालन करना। हम फिर तुम्हें रोकेंगे नहीं। सिर्फ एक पुत्र की हमारी प्रार्थना स्वीकार कर लो।"

ऐसे अनुकूल उपसर्ग के समय ही संयमी साधु की दृढ़ता और परिपक्वता की परीक्षा होती है। जो परिपक्व एवं सुदृढ़ श्रमण होता है, उसके सामने उसके गृहस्थ-पक्ष के घरवाले आकर चाहे जितने रोयें-धोयें, चाहे जितना करुण विलाप करें, चाहे जितना अनुनय-विनय करके उसे अपने घर ले जाने की कोशिश करें, यहाँ तक कि वे उसके सामने यह कहें कि तुम घर नहीं चलते हो तो हम तुम्हारे सामने यहीं प्राण-त्याग कर देंगे, यह नरहत्या का पाप तुम्हें लगेगा। चलो, उठो, जिद मत करो, हमारी बात मान जाओ, हम तुम्हारे लिए सब तरह की सुख-सामग्री जुटा देंगे। तुम्हारी सेवा में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। परन्तु वह जरा भी विचलित नहीं होता, न पिघलता है और न उसके झांसे में आकर अपना बाना छोड़कर घर चलने को तैयार होता है। ऐसे परिपक्व साधु के सामने चाहें जितने अनुकूल उपसर्ग देने वाले आ जाएँ, वे उसे अपनी साधना से एक इंच भी इधर-उधर नहीं कर सकते, न ही उससे वेष-परिवर्तन करा सकते हैं।

मूल पाठ

जइ वि य कामेहिं लाविया, जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घरं ।
जइ जीवियं नावकंखए णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

संस्कृत छाया

यद्यपि च कामैर्लावयेयुः, यदि नयेयुर्बध्वा गृहम् ।
यदि जीवितं नावकांक्षेत, नो लप्स्यन्ति न संस्थापयितुम् ॥१८॥

अन्वयार्थ

(जइ वि य) चाहे साधु के पारिवारिकजन (**कामेहिं लाविया**) उसे कामभोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रलोभन दें, (**जइ**) यदि वे (**बंधिउं**) उसे बाँधकर (**घरं**) घर पर (**णेज्जाहि ण**) क्यों न ले जाएँ, (**जइ**) यदि वह साधु (**जीवियं नावकंखए**) वैसा असंयमी जीवन नहीं चाहता है तो, (**णो लब्भंति**) वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते, (**ण संठवित्तए**) न उसे पुनः गृहवास या गृहस्थभाव में रख सकते हैं।

भावार्थ

साधु के परिवार के लोग उसके पास आकर उसे विषयभोगों का तरह-तरह से प्रलोभन दें, अथवा वे उसे जबरन बाँधकर घर ले जाएँ, परन्तु वह साधु असंयमी-जीवन नहीं चाहता है तो कोई भी शक्ति उसे वश में नहीं कर सकती, और न ही उसे गृहस्थभाव या गृहवास में पुनः स्थापित कर सकती है।

व्याख्या

भय और प्रलोभन में भी अविचल साधक

संयमपालन में तत्पर साधु के स्वजन उसे मनोज्ञ प्रिय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से परिपूर्ण काम-भोगों का प्रलोभन दें। वे उससे कहें - "चलो, अब हम तुम्हें बढ़िया-बढ़िया गाने सुनाएँगे, नृत्य, गीत आदि राग-रंग से तुम्हें तृप्त कर देंगे, सुन्दर-सुन्दर रूपवती नारियाँ तुम्हारी सेवा में तत्पर रहेंगी, उत्तमोत्तम सरस स्वादिष्ट पदार्थ तुम्हें खाने को देंगे, मनचाहे सुगन्धित पदार्थों से तुम्हारे मन को तृप्त कर देंगे और सुकोमल स्पर्श से तुम्हारा हृदय प्रसन्न कर देंगे। इतना सब कुछ प्रलोभन देने पर भी यदि वह साधु घर चलने को तैयार न हो तो शायद उसके स्वजन सम्बन्धी उसे मारें-पीटें और जबर्दस्ती रस्सी से बाँधकर घर ले जाएँ। परन्तु यदि उस साधु को अपना संयमी जीवन प्रिय है, वह असंयमी जीवन को नरक के समान मानकर बिलकुल नहीं चाहता है और ऐसे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग के समय भी अपने साधुत्व में दृढ़ रहता है। ऐसी दशा में घर वाले चाहे लाख कोशिश कर लें, वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते, और न ही उसे घर में या गृहस्थभाव में रखने में समर्थ हो सकते हैं। परमानन्ददायक, चन्द्रसम निर्मल, सुधातुल्य सुस्वादु क्षीरसागर के जल के समान संयम जल को पीकर भला कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो खारे और गंदे कामभोगरूपी वैषम्य जल को पीना चाहेगा ?

मूल पाठ

सेहंति य ममाइणो मायपिया य सुया य भारिया।
पोसाहि ण पासओ, तुमं लोगं परं पि जहासि पोस णो॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

शिक्षयन्ति च ममत्वबन्तः, माता पिता च सुताश्च भार्या ।
पोषय नः दर्शकस्त्वं, लोकं परं च जहासि पोषय नः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**ममाइणो**) 'यह साधु मेरा है,' ऐसा जानकर साधु से स्नेह करने वाले उसके (**मायपिया य सुया य भारिया**) माता, पिता, पुत्र और पत्नी (**सेहंति य**) साधु को शिक्षा भी देते हैं कि (**तुमं**) तुम (**पासओ**) हमारी परिस्थिति को देख रहे हो, प्रत्यक्षदर्शी हो, अथवा तुम दूरदर्शी हो, सूक्ष्मदर्शी हो (**पोसाहि णं**) हमारा भरण-पोषण करो । ऐसा न करके (**तुमं**) तुम (**लोगं परं पि**) इस लोक और परलोक को भी (**जहासि**) बिगाड़ रहे हो या कर्त्तव्य छोड़ रहे हो, अतः (**णो पोस**) हमारा पालन-पोषण करो ।

भावार्थ

साधु को ममत्ववश अपना जानकर उसके माता, पिता, पुत्र और स्त्री आदि स्वजन (कभी-कभी) ऐसी शिक्षा भी देने लगते हैं कि तुम हमारी परिस्थिति को देख रहे हो, या जानते हो, प्रत्यक्षदर्शी हो, अथवा तुम दूरदर्शी या सूक्ष्मदर्शी हो; अब हमारा भरण-पोषण करो । अन्यथा तुम इस लोक और परलोक दोनों के कर्त्तव्य को छोड़ते हो, दोनों को बिगाड़ रहे हो । अतः सौ बात की एक बात है, जिस किसी तरह से भी हमारा पालन-पोषण करो ।

व्याख्या

और भी अनुकूल उपसर्ग

जब ममत्वग्रस्त स्वजनों के पूर्वोक्त दाँव नहीं चलते और वे साधु को पुनः गृहवास में लाने असमर्थ हो जाते हैं, तब एक नया दाँव और चलाते हैं । वे मोह-ममता से लबालब भरे स्वजन (माता-पिता, पुत्र-स्त्री आदि) साधु को नवदीक्षित (अपरिपक्व) जानकर उसे संयमी जीवन से भ्रष्ट करने हेतु बहुत ही मधुर शब्दों में स्नेहपूर्वक कहते हैं—"देखो, हम तुम्हारे बिना अत्यन्त दुःखी हैं । तुम्हीं हमारे एकमात्र आधार हो । तुम्हारे सिवाय हमारा कोई पालन-पोषण करने वाला नहीं है । तुम हमारी परिस्थिति को जानते हो, तुमने हमारी स्थिति देखी है, तुम हमारी स्थिति के प्रत्यक्षदर्शी हो । अथवा तुम स्वयं दूरदर्शी या सूक्ष्मदर्शी हो । अतः घर चलकर हमारा भरण-पोषण करो । अन्यथा, प्रव्रज्या लेकर तुमने इस लोक को तो बिगाड़ ही लिया, अब हमें छोड़कर परलोक को भी बिगाड़ रहे हो । हमारा पालन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषण करना तुम्हारा धर्म है। अपने दुःखी परिवार के पालन से पुण्यलाभ होता है। इसी दृष्टि से किसी ने कहा है—

या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम्।
बिभ्रतां पुत्रदारास्तु तां गतिं व्रज, पुत्रक !

"हे पुत्र ! स्त्री, पुत्र आदि का पालन करने में क्लेश सहने वाले गृहस्थों का जो मार्ग है, उसी से तुम चलो।"

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की युक्तियों, सूक्तियों और तर्कों से युक्त उलटी-सीधी शिक्षा की बातें कहकर मोह-ममता में लिपटे हुए स्वजन अपने गृहस्थ-पक्षीय सम्बन्ध के कारण आकृष्ट करके अपने पालन-पोषण की बात को बार-बार दोहराते हैं। परन्तु साधक को अपने संयममार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए।

किन्तु जो अपरिपक्व एवं संयम में शिथिल साधु होता है, वह संयम से कैसे चलित हो जाता है, इसे आगामी गाथा में देखिए—

मूल पाठ

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोहं जंति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

संस्कृत छाया

अन्येऽन्यैर्मूर्च्छिताः, मोहं यान्ति नरा असंवृताः।
विषमं विषमैर्ग्राहिताः, ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**असंवुडा**) सर्वविरतिरूप संयमभाव से रहित (**अन्ने नरा**) दूसरे—अपरिपक्व मनुष्य—साधक (**अन्नेहिं मुच्छिया**) माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि अन्यान्य पदार्थों में मूर्च्छित—आसक्त होकर (**मोहं जंति**) मोहमूढ़ हो जाते हैं। (**विसमेहिं विसमं गाहिया**) संयमहीन पुरुषों द्वारा असंयम ग्रहण कराये हुए वे पुरुष (**पुणो पावेहिं पगब्भिया**) फिर पापकर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ

कोई संयमहीन साधक स्वजन-सम्बन्धी जनों के उपदेश से माता-पिता आदि अन्यान्य पदार्थों में आसक्त होकर मोहमूढ़ बन जाते हैं। असंयमी पुरुषों द्वारा असंयम ग्रहण कराये हुए वे भ्रष्ट साधक फिर धृष्ट होकर बेखटके पापकर्म करने में जुट जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

कायर असंयमियों का पतन

साधुजीवन में आने वाले उपसर्गों और परीषहों से घबराकर असंयम की ओर झुक जाने वाले कायर साधक सुख-सुविधाएँ ढूँढ़ते रहते हैं, जब माता-पिता आदि स्वजनवर्ग उसके समक्ष जरा-सी भी गृहवास में चलने और विषयभोगों के सेवन करने की प्रार्थना करते हैं, तब वे आगे-पीछे का विचार किये बिना फौरन लुढ़क जाते हैं, अपने जीवन में अपनाये हुए सर्वविरति-संयम से पतित हो जाते हैं और माता-पिता आदि द्वारा किये गये उक्त अनुकूल उपसर्ग के सामने घुटने टेक देते हैं। उसके बाद वे अल्पपराक्रमी, साधुता में अपरिपक्व, असंयमरुचि व्यक्ति गृहवास में जाकर अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि में अत्यन्त मोहित एवं आसक्त हो जाते हैं। अथवा वे फिर धर्मानुष्ठान करने में मूढ़ (विवेकविकल) हो जाते हैं। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं —**"अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोहं जंति नरा असंवुडा।"**

अन्य शब्द का बहुवचनान्तरूप **'अन्ने'** शब्द संयमी जीवन से विहीन होने वाले साधकों के लिए प्रयुक्त किया गया है। साधक के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थ—यहाँ तक कि मोह-माया, लोभ, काम, आदि भावात्मक एवं माता-पिता आदि स्वजन तथा शरीर, धन, धाम आदि द्रव्यात्मक सभी पदार्थ—अन्य हैं। उन अन्य पदार्थों—यानी संयमी जीवन से असम्बद्ध पदार्थों को जो अपने मान लेता है वह भी अन्य है। वास्तव में साधक के लिए सम्यग्दर्शन आदि आत्मगुण ही अपने हैं, उनसे भिन्न सभी दुर्गुण या सभी पदार्थ अन्य हैं। अन्यों को अपने मानने वाले भूतपूर्व संयमी—वर्तमान में संयमी जीवन से च्युत लोग अन्यों यानी पूर्वोक्त प्रकार के असंयमी गृहस्थों में मूर्च्छित—आसक्त होकर मोहवश विवेक-भ्रष्ट हो जाते हैं।

विसमं विसमेहिं गाहिया—यहाँ विषम शब्द असंयम का वाचक है, क्योंकि साधक के लिए संयम सम है, असंयम विषम है। उस विषम—असंयम को अपनाने वाले भी 'विषम' कहलाते हैं। अतः विषमों—असंयमीजनों द्वारा विषम—असंयम ग्रहण कराये हुए वे संयमभ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापकर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं। यानी वे फिर बे-लगाम (निरंकुश) होकर बेखटके पापकर्म करते रहते हैं।

शास्त्रकार का आशय सर्वविरति-संयममार्ग के पथिकों को अनुकूल उपसर्ग आने पर फिसल जाने वाले संयमभ्रष्टों की वास्तविक दशा बताकर सावधान करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी गाथा के सन्दर्भ में शास्त्रकार पापकर्मों से विरत होने का उपदेश अगली गाथा में देते हैं—

मूल पाठ

तम्हा दवि इक्ख पंडिए पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे ।[1]
पणए वीरे महावीहिं, सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥

संस्कृत छाया

तस्माद् द्रव्य ईक्षस्व पण्डित:, पापाद् विरतोऽभिनिर्वृत:।
प्रणता वीरा महावीथीं, सिद्धिपथं नेतारं ध्रुवम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

(तम्हा) इसलिए (**दवि**) भव्य—मोक्षगमन के योग्य अथवा राग-द्वेषरहित होकर (**इक्ख**) विचार करो—अन्तर्निरीक्षण करो। (**पंडिए**) हे पुरुष ! सद्-असद्-विवेक से युक्त तथा (**पावाओ विरते**) पापकर्म से निवृत्त होकर (**अभिनिव्वुडे**) शान्त हो जाओ। (**वीरे**) वीर—कर्मों को विदारण करने में समर्थ पुरुष (**महावीहिं**) मोक्ष की महान् पगडंडी—महामार्ग को (**पणए**) प्राप्त करते हैं, जो (**सिद्धिपहं**) ज्ञानादि से युक्त सिद्धि का पथ, (**णेआउयं**) मोक्ष की ओर ले जाने वाला और (**धुवं**) निश्चल अथवा निश्चित है।

भावार्थ

माता-पिता आदि के मोह में फंसकर संयमपथ से भ्रष्ट जीव पाप करने में धृष्ट हो जाते हैं, इसलिए हे पुरुष ! तुम मुक्तिगमन के योग्य अथवा रागद्वेषरहित होकर विचार करो। हे पुरुष ! सत् असत् के विवेक से युक्त, पापों से विरत और शान्त हो जाओ। कर्मों को विदारण (नष्ट) करने में समर्थ पुरुष मुक्ति के उस महामार्ग को प्राप्त करते हैं, अथवा उस महापथ पर चलते हैं, जो मोक्ष के पास ले जाने वाला सिद्धिमार्ग और ध्रुव है।

व्याख्या

वीर ही मोक्ष के महापथ को पाते हैं !

पूर्वगाथा में बताया गया था कि जो साधक माता-पिता आदि कुटुम्बीजनों के स्नेहबन्धन में पड़कर संयमभ्रष्ट हो जाते हैं, और फिर वे वेधड़क होकर पापकर्म

---

१. किसी-किसी प्रति में '**विरतेऽभिनिव्वुडे**' के बदले '**विरए अभिनिव्वुडे**' पाठ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, ऐसी स्थिति में मोक्ष का महापथिक साधु क्या सोचे, क्या करे ? इसे शास्त्रकार उपदेश की भाषा में कहते हैं—हे साधक पुरुष ! मुक्तिगमन के योग्य भव्य पुरुष ! राग और द्वेष से परे होकर जरा ठण्डे दिल-दिमाग से उन पापकर्मों के परिणामों पर विचार करो। वास्तव में जब मनुष्य कषाय, मोह, राग और द्वेष, अपने-पराये के विचार को छोड़कर तटस्थ एवं निष्पक्ष होकर विचार करता है, तभी उसे तथ्य-सत्य के दर्शन होते हैं। इसीलिए इस सूत्र के प्रारम्भ में कहा है—**'तम्हा दवि इक्ख पंडिए।'** पापकर्म के परिणामों और अपने जीवन के कार्यों पर पर्यालोचन करो, तभी तुम्हें असलियत का पता लगेगा।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के पर्यालोचन के बाद वह संयमी साधक क्या करे ? इसी के समाधानार्थ इस गाथा के दूसरे चरण में कहा है—**"पावाओ विरए अभिनिव्वुडे।"** पापकर्मों की इन सब प्रक्रियाओं तथा उनके परिणामों पर विचार करके शीघ्र ही साधक को पापकर्मों से विरत हो जाना चाहिए, आरम्भ-समारम्भ के या हिंसा आदि के जो भी स्थान या कार्य हों, उनसे अपना हाथ खींच लेना चाहिए और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार आदि से तथा इनके उत्तेजक वातावरण वाले कार्यों से भी निवृत्त होकर शान्ति से आत्मा की उपासना, परमात्मा के स्मरण एवं आत्मस्वभाव में रमण करना चाहिए। इस प्रकार शान्त होकर वीतरागता की उपासना में लगने से क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—**"पणया वीरे महावीहिं ' धुवं।"** इस प्रकार कर्मविदारण में समर्थ वीर पुरुषों ने ही मोक्ष के इस महामार्ग को प्राप्त किया है। **'पणया'** का अर्थ जैसे 'प्राप्त किया है' होता है, वैसे 'पणया' का अर्थ 'प्रणत—झुके हुए' है। यानी ऐसे वीर (धर्मवीर) पुरुष ही मोक्षमहामार्ग की ओर झुके हुए हैं। **'महावीहिं'** शब्द के यहाँ तीन विशेषण दिये हैं—**'सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं।'** यही सिद्धि का पथ है, यही न्याययुक्त है अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, यही निश्चल है।

आशय यह है कि शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट बता दिया है कि "परीषहों एवं उपसर्गों के समय इस प्रकार का कदम उठाना वीरों, धीरों तथा परीषह-उपसर्ग के सहने में मेरुवत् स्थिर पुरुषों या कर्मरूपी सिंह को विदारण करने में समर्थों का है, सांसारिक सुखों की आशा करने वाले कायरों का नहीं है। इसलिए तुम भी परिवार का मोह छोड़कर परीषहों एवं उपसर्गों के सहने में धीर-वीर बनकर संयमपथ पर विचरण करो।"

पुनः उसी उपदेश को दोहराकर इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

वेयालियमग्गमागओ मणवयसा कायेण संवुडो।
चिच्चा वित्तं च णायओ आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥२२॥

—त्ति बेमि

संस्कृत छाया

वैदारकमार्गमागतः मनसा वचसा कायेन संवृतः।
त्यक्त्वा वित्तं च ज्ञातिश्च आरम्भञ्च सुसंवृतश्चरेत् ॥२२॥

—इति ब्रवीमि

अन्वयार्थ

(वेयालियमग्गं) कर्मों को विदारण करने में समर्थ मार्ग में (आगओ) आया हुआ साधक (मणवयसाकायेण संवुडो) मन, वचन एवं काया से संवृत गुप्त होकर (वित्तं) धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, (णायओ) कुटुम्ब-कबीले या ज्ञातिवर्ग (आरंभं च) और आरम्भ-सावद्य अनुष्ठान को (चिच्चा) छोड़कर सुसंवुडे चरे) उत्तम इन्द्रियसंयमी होकर विचरण करना चाहिए।

भावार्थ

"हे साधको ! कर्मबन्धनों को विदारण—नष्ट करने में समर्थ वीरों के मार्ग में आ गये हो, इसलिए अब मन, वचन और काया तीनों से गुप्त होकर यानी तीनों को संवृत करके तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-कबीला या जाति के स्वजनों को एवं पापकर्मजनक आरम्भकार्यों को तथा उनके प्रति आसक्ति को सर्वथा छोड़कर इन्द्रियों से संवृत—संयमी होकर विचरण करो। ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

वैदारक पथ पर आने वालों से !

पूर्वोक्त गाथाओं में कर्मबन्धन के कारणों तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों तथा परीषहों के विभिन्न प्रसंगों में सावधान रहने का जो उपदेश भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों के बहाने समस्त साधकों को दिया था, उसी उपदेश का सार इस गाथा में दोहराकर इस उद्देशक का उपसंहार करते हैं। इस उद्देशक का नाम 'वैयालिय' है, जिसका एक रूप होता है, वैदारक। वैदारक मार्ग उसे कहते हैं, जो कर्मशत्रुओं को विदारण करने में समर्थ मार्ग हो। भगवान् ऋषभदेव के शब्दों में उपदेश का सार यह है कि "साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोड़कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरतापूर्वक कर्मविदारण करने में समर्थ (वैदारक) मार्ग पर चल पड़े हो। अब तुम्हें सर्वप्रथम अपने पास मन, वचन, काया, ये तीन जो उत्तम साधन हैं—संयमपालन करने के, उन पर नियंत्रण रखना है। अर्थात् मन को सावद्य—पापयुक्त विचारों से रोकना है, और निरवद्य, मोक्ष एवं संयम के विचारों में, आत्मभावों में लगाना है, वचन को पापजनक वचनों को प्रगट करने से रोकना है और धर्मयुक्त संवरनिर्जरा-जनक वचनों को अभिव्यक्त करने में लगाना है, अथवा मौन रखना है; एवं काया को भी पापकारी सावद्य आरम्भ-समारम्भ आदि कार्यों या प्रवृत्तियों में जाने से रोकना है, तथा धर्मानुष्ठान में लगाना है। इसके साथ ही धनसम्पत्ति, स्वजनवर्ग एवं आरम्भज सावद्य कार्यों के प्रति साधक का भूतपूर्व जीवन में जो लगाव संसर्ग या मोह रहा है, उसे अब सर्वथा छोड़ देना है, उसे बिलकुल भूल जाना है और मनोविजयी, जितेन्द्रिय एवं जागरूक संयमी रहकर इस वैदारकमार्ग पर विचरण करना है।" यही इस गाथा का आशय है।

'त्ति बेमि' (इति ब्रवीमि) का अर्थ पूर्ववत् है। श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—"ऐसा मैं कहता हूँ।"

इस प्रकार वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ द्वितीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

अभिमानादि-त्याग का उपदेश

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक को समाप्त करके अब द्वितीय उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम उद्देशक में आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को परीषह, उपसर्ग आदि पर विजय प्राप्त करने का जो बोध दिया था, उसका वर्णन है, अब दूसरे उद्देशक में उसी सन्दर्भ में जाति आदि के मद एवं मान के त्याग का उपदेश है।

द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में कहा गया था कि वैदारकपथ पर चलने वाला संयमी पुरुष धन, स्वजन एवं आरम्भ का त्याग करे अतः उसी सन्दर्भ में अब इस द्वितीय उद्देशक में साधना के आन्तरिक शत्रु अभिमान के त्याग का निरूपण किया गया है। अतः शास्त्रकार इस सम्बन्ध में द्वितीय उद्देशक की प्रथम गाथा का आरम्भ करते हैं—

मूल पाठ

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इंखिणी ॥१॥

संस्कृत छाया

त्वचमिव जहाति स रजः, इति संख्याय मुनिर्न माद्यति।
गोत्रान्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्यन्येषामीक्षिणी ॥१॥

अन्वयार्थ

(**तयसं व**) जैसे साँप अपनी त्वचा (केंचुली) को (**जहाइ**) छोड़ देता है, वैसे ही (**से**) वह साधु भी (**रयं**) आठ प्रकार के कर्मरूपी रज-मल को छोड़ देता है। (**इति संखाय**) यह जानकर (**माहणे मुणी**) अहिंसाप्रधान (माहन) मुनि (**गोयन्नतरेण**) गोत्र तथा दूसरे मद के कारणों से (**ण मज्जई**) मद नहीं करता है। (**अन्नेसी**) दूसरों की (**इंखिणी**) निन्दा (**असेयकरी**) कल्याण का नाश करने वाली है। अतः साधु दूसरे किसी की निन्दा नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जैसे सर्प अपनी केंचुली को एकदम छोड़ देता है, वैसे ही श्रेयस्कामी साधु आवरण की तरह लगे हुए अष्टकर्मरूपी मल का त्याग कर देता है। ऐसा जानकर अहिंसाव्रती (माहन) संयमी मुनि कर्मबन्ध के कारण गोत्र, जाति आदि अष्टविध मद नहीं करते। तथा वे दूसरों की निन्दा भी नहीं करते हैं, क्योंकि दूसरों की निन्दा कल्याण का नाश करती है।

व्याख्या

कर्मादानरूप मद एवं निन्दा का त्याग आवश्यक

इस शास्त्र का प्रारम्भ से ही कर्मबन्धनों के कारणों को जानकर उनका त्याग करने की शिक्षा देना उद्देश्य रहा है। प्रथम अध्ययन में भी कर्मबन्धन के कारण जानकर उनका निवारण करने का स्वर प्रायः प्रत्येक गाथा में मुखरित रहा है और इस दूसरे अध्ययन में भी यही स्वर मुख्य रहा है। दूसरे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में भी मद एवं निन्दा को भी कर्मबन्धन के विशिष्ट कारण बताकर उनका त्याग करने की प्रेरणा दी है। उसके लिए गाथा के प्रारम्भ में उपमा देकर समझाया है कि जैसे साँप अपनी केंचुली को एकदम छोड़ देता है, फिर उसकी ओर झाँकता भी नहीं, वैसे ही मोक्षाभिलाषी संयमी साधक अष्टविध कर्मों (कर्मबन्धनों) का सहसा त्याग कर दे, पुनः उनकी ओर झाँके भी नहीं। किन्तु मुनि बन जाने, घर-बार छोड़ देने और धनसम्पत्ति आदि का त्याग कर देने के बाद भी पूर्वसंस्कारवश वह अपने द्वारा त्यक्त जाति, कुल, गोत्र, वंश, धन-वैभव, रूप, शरीरबल आदि अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थों का अनित्य और कर्मबन्ध के कारणभूत पदार्थों का मद करता रहता है। साथ ही मुनि बन जाने पर शास्त्रज्ञान, पाण्डित्य, लाभ, तपस्या, अथवा उच्चपद, लब्धि या बौद्धिक ऋद्धि आदि का अहंकाररूपी सर्प उसके दिलदिमाग में फुफकारता रहता है। इन मदों के आवेश में आकर वह अपने से किसी प्रकार की शक्ति में न्यून या दुर्बल व्यक्ति को अथवा दूसरों को नीचा दिखाकर अपना उच्चत्व स्थापित करने की धुन में दूसरों की निन्दा, बदनामी करता रहता है। दूसरों को नीचा दिखाने या लोगों की दृष्टि में उन्हें गिराने की वृत्ति, या दूसरों से ईर्ष्या करने, दूसरों की तरक्की या यशकीर्ति फैलती देखकर मन ही मन कुढ़ना, जलना, दूसरों पर मिथ्यादोषारोपण करना, दूसरों की चुगली करना आदि सब निन्दा के अन्तर्गत हैं। किसी भी प्रकार की निन्दा पाप उत्पन्न करती है। किसी भी प्रकार की निन्दा करना भयंकर कर्मबन्धन का कारण है। साधक को आत्मकल्याण के बाधक निन्दा की वृत्ति से सदैव दूर रहना चाहिए। निन्दा भी अभिमानजनित होने के कारण मान कषाय के अन्तर्गत है। कषाय का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव ही कर्म के अभाव का कारण है। इसलिए क्या मद और क्या निन्दा इन सभी कषायोत्तेजक एवं तत्पश्चात् कर्मबन्धक वृत्तियों से साधक को बचना चाहिए। इसी सम्बन्ध में निर्युक्तिकार दो गाथाओं द्वारा कहते हैं---

तवसंजमणाणेसुवि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं।
अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं? ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमओ पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं।
अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥

अर्थात्---अपने उत्कर्ष को बढ़ानेवाले तप, संयम और ज्ञान के मान का भी जब महर्षियों ने त्याग कर दिया है, तब दूसरों की निन्दा छोड़ने की बात ही क्या है? उसको तो वे त्याग ही देते हैं। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधन निर्जरा है, उसका मद भी अरिहन्तों ने वर्जित किया है, फिर शेष जाति आदि मदों की तो बात ही क्या है? उनको तो प्रयत्नपूर्वक छोड़ ही देना चाहिए।

अतः ज्ञपरिज्ञा से मद एवं निन्दा का स्वरूप जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग ही साधु के लिए श्रेयस्कर है।

इसी बात को दूसरे शब्दों में फिर अगली गाथा में दोहराते हैं—

मूल पाठ

जो परिभवई परं जणं संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

संस्कृत छाया

यः परिभवति परं जनं, संसारे परिवर्तते महत्।
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**जो**) जो पुरुष (**परं जणं**) दूसरे व्यक्ति का (**परिभवई**) तिरस्कार करता है, (**संसारे**) वह संसार में (**महं**) चिरकाल तक (**परिवत्तई**) परिभ्रमण करता है। (**अदु इंखिणिया उ**) अथवा या क्योंकि परनिन्दा (**पाविया**) पापोत्पादक है, (**इति**) यह (**संखाय**) जानकर (**मुणी**) मुनिवर (**ण मज्जई**) मद नहीं करता।

भावार्थ

जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार करता है, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से निन्दा करता है, वह दीर्घकाल तक जन्ममरण के चक्ररूप संसार में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिभ्रमण करता रहता है। अथवा या क्योंकि परनिन्दा पापों की जननी है यह जानकर मुनिवर किसी प्रकार का अहंकार (मद) नहीं करता।

व्याख्या

परतिरस्कार-परनिन्दा दोषों की जननी

पूर्वगाथा में परनिन्दा और मान से बचने का उपदेश दिया गया था। इस गाथा में भी यह उपदेश है। परन्तु इसमें इन दोनों से होने वाले अनन्तर कटु परिणाम और परम्परागत अनिष्टफल बताकर इन दोनों से मुनि को बचने का उपदेश दिया है। **'जो परिभवई''''संसारे परिवत्तई महं'** इसके द्वारा शास्त्रकार ने परपरिभव एवं परनिन्दा का परम्परागत फल दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करना बताया है तथा **'अदु इंखिणी उ पाविया'** कहकर परनिन्दा का अनन्तर फल उसे अनेक पापों की जननी बताया है। अथवा इन दोनों प्रकार के कटुफलों का शास्त्रकार ने कार्य-कारणभाव सम्बन्ध बताया है। 'अदु' और 'उ' शब्द कारणवाचक हैं। अनेक पापों का उपार्जन कारण है और उससे दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण कार्य है। सचमुच परनिन्दा या दूसरे की बदनामी, तिरस्कार, अपमान, लांछित करना, चुगली आदि सब 'परपरिवाद' नामक पापस्थान के अन्तर्गत हैं। साधु बनकर यदि कोई साधक दूसरे की निन्दा करता है या दूसरे से असूया-ईर्ष्या करता है तो समझना चाहिए उसके मन में किसी न किसी प्रकार का जाति आदि का अहंकाररूपी सर्प फन फैलाये बैठा है। इस प्रकार निन्दा या तिरस्कार करना भी अपने आप में असत्य का पाप है, फिर निन्दक के मन में मानकषाय, अपने आपको अधिक गुणी समझने का मोह (राग) और दूसरों को अपमानित-तिरस्कृत करने का द्वेषरूप दोष उत्पन्न होता है। फिर ऐसा साधक अपने आपको उच्च और उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए दूसरों को बदनाम करता फिरता है, स्वयं में गुण न होते हुए भी गुण का प्रदर्शन करता है, दूसरे से जलकर उसको जनता की दृष्टि में गिराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्मचिन्तन, परमात्मस्मरण वगैरह आत्मकल्याण की चर्या का अधिकांश समय वह परनिन्दा आदि में ही बिताकर तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघनकर्त्ता होने से अदत्तादानरूप पाप का भागी तथा आज्ञाविराधक बनता है। कपटक्रिया करने से दाम्भिक और मायी मिथ्यादृष्टि बनता है। इस प्रकार रातदिन दूसरों की निन्दा करने की नये-नये दोषों को—छिद्रों को देखने की फिराक में लगा रहता है, यह रौद्रध्यानरूप महाभयंकर पाप है। यों परपरिवाद या परपराभव नामक पाप के साथ-साथ साधक के जीवन में असत्य, दम्भ, माया (कपट), मान, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, रौद्रध्यान, भगवदाज्ञाविराधना, परदोषदृष्टि, संयम का नाश आदि अनेकों पाप जुड़ जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इन्हीं पापकर्मों के बोझ से भारी बनकर वह साधक फिर मोक्ष की ओर गति-प्रगति करने के बजाय दीर्घकाल तक संसार की ओर ही गति करता है, इसलिए परपरिभव एवं परनिन्दा को अनन्तकाल जन्म-मरणरूप चक्र में भ्रमण कराने वाली तथा अनेक पापों की जननी बताया है। पाप मनुष्य को अपने स्थान से अधम स्थान में गिरा देता है। परनिन्दा भी अनेक पापों की कारण है। यहाँ '**अदु**' शब्द अथवा और '**उ**' शब्द 'ही' अर्थ में हैं। अर्थात् परनिन्दा अवश्य ही पापों की कारण है। इस सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी कहा है—'**परपरिवादात् खरो भवति, श्वा वै भवति निन्दकः।**' अर्थात् 'दूसरों का तिरस्कार करने से मनुष्य गधा बनता है और निन्दा करने वाला कुत्ता बनता है।' वृत्तिकार बताते हैं कि परनिन्दारूप पाप के फलस्वरूप परभव में सूअर की योनि में जन्म मिलता है, परभव में पुरोहित कुत्ते की योनि में जन्म लेता है। अतः मुनि चाहे कितना ही बड़ा शास्त्रज्ञ हो, आचारवान हो, क्रियाकाण्डी हो, विशिष्ट कुलोत्पन्न हो या तपस्वी आदि हो, फिर भी उसे दूसरे किसी भी व्यक्ति का अपमान, तिरस्कार नहीं करना चाहिए, और न ही किसी की निन्दा, चुगली, ईर्ष्या, असूया आदि में पड़ना चाहिए। साधक को दूसरे की पंचायत में पड़ने से हानि ही है, लाभ कुछ भी नहीं है। यही इस गाथा का आशय है।

जैसे मद (उत्कर्ष) के त्याग का उपदेश दिया है, वैसे अपकर्ष (हीनभावना) का भी त्याग करे, इस बात को आगामी गाथा में व्यक्त करते हैं—

मूल पाठ

जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥३॥

संस्कृत छाया

यश्चाप्यनायकः स्याद्, योऽपि च प्रेष्यप्रेष्यः स्यात्।
यो मौनपदमुपस्थितो, नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ॥३॥

अन्वयार्थ

(**जे यावि**) जो कोई (**अणायगे**) नायक से रहित है—अर्थात् जिस पर कोई नेता या नायक नहीं है, स्वयं सर्वेसर्वा अधिनायक है, या चक्रवर्ती आदि है तथा (**जे वि य**) जो (**पेसगपेसए**) दास का भी दास है, किन्तु अब यदि (**जे**) वह (**मोणपयं**) मुनिपद—संयम मार्ग में (**उवट्ठिए**) दीक्षित है, या उपस्थित है तो उसे (**णो लज्जे**) किसी प्रकार से लज्जित नहीं होना चाहिए, किन्तु (**सया**) उसे सदा (**समयं**) समता—समभाव का आचरण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जिस पर कोई भी अधिनायक नहीं था, अर्थात् जो एक दिन स्वयं-प्रभु चक्रवर्ती आदि था, अथवा जो एक दिन दासों का भी दास था, किन्तु अगर उसने मुनिपद ग्रहण कर लिया और वह दीक्षित होकर संयम-मार्ग में उद्यत है तो उसे लज्जित—हीनभावना से ग्रस्त नहीं होना चाहिए, अपितु समभाव में विचरण करना चाहिए।

अथवा इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो एक दिन अधिनायक चक्रवर्ती आदि था, या दासों का भी दास था, किन्तु यदि वह वर्तमान में मुनिपद में स्थित है तो दूसरे मुनि को उन दोनों को समानभाव से वन्दन करने से लज्जित नहीं होना चाहिए। उसे सदा समत्व की पगडंडी पर चलना चाहिए।

व्याख्या

उत्कर्ष और अपकर्ष में सम रहे

जैसे उत्कर्ष के कारण मनुष्य में अभिमान जागृत होता है, वैसे ही अपकर्ष के कारण उसमें हीनभावना, अपने आप को नीचा-तुच्छ मानने की वृत्ति और तज्जनित लज्जा उत्पन्न होती है। समत्व-साधक के लिए ये दोनों मनोवृत्तियाँ घातक हैं। साधु बनने से पहले कोई अगर अधिनायक या स्वयम्प्रभु चक्रवर्ती आदि था, और दीक्षित होने के बाद अपने यहाँ जो राज्य कर्मचारी का नौकर था, उसे पूर्वदीक्षित देखकर उसे वन्दन करने में अपकर्ष या हीनभावना महसूस करता है, लज्जा का अनुभव करता है तो यह ठीक नहीं। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दीक्षित होने से पूर्व किसी के नौकर के यहाँ नौकर था, लेकिन अब अपने समकक्ष उस पूर्व-दीक्षित नौकर (जो मुनिपद पर है) को वन्दना करने में कतराता है, हीनता का अनुभव करता है, अथवा कोई चक्रवर्ती आदि अधिनायक था, किन्तु अब साधु बन जाने के बाद अपने से पूर्वदीक्षित साधुओं को जाति आदि के मद के कारण उनका सम्मान या विनय करने में लज्जा महसूस करता है या दासों का दास था, किन्तु मुनि बन जाने पर भी पूर्वकालिक हीनता की मनोवृत्ति लिए बैठा रहता है। 'मैं तो तुच्छ हूँ, नीच जातीय हूँ, हीन हूँ' ऐसा सोचता रहता है, यह भी उचित नहीं। शास्त्रकार कहते हैं—'**जे खोणपदं उवट्ठिए, णो लज्जे, समयं सया चरे।**' जो मुनिपद पाकर संयम पालन में उद्यत है, वह अपने आपको न उच्च माने और न ही नीच माने।[1] स्वयं को उच्च या उत्कृष्ट मानकर वह अपने से पूर्वदीक्षित भूतपूर्व

१ आचारांग सूत्र में साधु के लिए बताया है—'**नो हीणे नो अइरित्ते**' (वह न हीन है, न अतिरिक्त—उत्कृष्ट है)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीनजातीय मुनियों का सम्मान एवं विनय करने से कतराए नहीं, इसी प्रकार अपने आपको हीन या तुच्छ मानकर मन ही मन कुढ़ता न रहे, शर्मिन्दा न हो, क्योंकि मुनिपद प्राप्त कर लेने के बाद भूतपूर्व सभी गोत्र, जाति, कुल आदि खत्म हो जाते हैं। मुनिपद विश्ववन्द्य पद है। इन्द्र भी मुनि के चरणों में वन्दन करता है। मानलो, भूतपूर्व हीनजातीय मुनि की कोई निन्दा, आलोचना या तिरस्कार करता है तो भी उसे अपने मन में कुढ़ना न चाहिए, और न ही लज्जित होना चाहिए। उसे यही सोचना चाहिए कि दूसरा कोई कुछ भी कहे, मैं मानव-जीवन के सर्वोच्च पद पर हूँ, मैं हीन, नीच या तुच्छ नहीं हूँ। परन्तु अपना यह उत्कर्ष दूसरों के सामने प्रकट करने या निन्दा या अपमान करने वालों से चिढ़कर उनको नीचा दिखाने, बदला लेने या अभिमान प्रदर्शित करने की जरूरत नहीं है। ऐसा करने से तो कर्मबन्ध अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार समभाव में विचरण करने का निर्देश करते हैं। निष्कर्ष यह है कि साधु को ऐसे समय में न मान करना चाहिए और न अपमान करना चाहिए, क्षम रहना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।

समभाव से युक्त साधक क्या करे ? इसके सम्बन्ध में अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

समे अन्नयरंमि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए दविए कालमकासी पंडिए ॥४॥

संस्कृत छाया

समोऽन्यतरस्मिन् संयमे संशुद्धः श्रमणः परिव्रजेत्।
यावत्कथा समाहितो द्रव्यःकालमकार्षीत् पण्डितः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**संसुद्धे**) सम्यक्प्रकार से शुद्ध (**समणे**) तपस्वी साधु (**जे आवकहा**) जीवनपर्यन्त (**अन्नयरंमि**) किसी भी (**संजमे**) संयमस्थान में स्थित होकर (**समे**) समभाव के साथ (**परिव्वए**) प्रव्रज्या का पालन करे, (**दविए**) वह द्रव्यभूत (**पंडिए**) सद्-असद् के विवेकवाला पुरुष (**समाहिए**) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (**कालमकासी**) मरणपर्यन्त संयम का पालन करे।

भावार्थ

सम्यक् प्रकार से शुद्ध तपस्वी साधु जीवनपर्यन्त किसी भी एक संयम-स्थान में स्थित होकर समभावपूर्वक प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(मुक्ति गमन के योग्य) सद्-असद्-विवेककुशल, शुभ अध्यवसाय से युक्त होकर मृत्युपर्यन्त संयम में तत्पर रहे।

व्याख्या

समता का आराधक क्या करे ?

पूर्वगाथाओं में मद और निन्दा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह उपदेश तभी टिक सकता है, जब जीवन में समभाव हो। इसलिए इस गाथा में समभाव का उपदेश दिया है। सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय एवं यथाख्यातचारित्र ये पाँच प्रकार के संयम हैं। इन पाँचों में से किसी एक संयमस्थान में स्थित होकर द्रव्य और भाव दोनों से शुद्ध (यानी व्यवहार एवं निश्चय दोनों से शुद्ध) श्रमण आजीवन समभाव में गति-प्रगति करे। जब वह समभाव में सुदृढ़ रहेगा तो स्वाभाविक रूप से ही मद और निन्दा दोनों ही पाप छूट जाएँगे।

जे आवकहा—समभाव का पालन कितने समय तक करे, इसके समाधानार्थ यहाँ '**यावत्कथा**' (**जे आवकहा**) शब्द का प्रयोग किया गया है। यावत्कथा का मतलब जीवनपर्यन्त है, अर्थात् जहाँ तक देवदत्त यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा लोगों में है। जब शरीर या जीवन छूट जाएगा, तब अमुक नाम की चर्चा (कथा) भी समाप्त हो जाएगी। अतः यावज्जीवन समभाव में स्थित रहना है। समभाव का आचरण किस प्रकार ठीक हो सकता है ? इसके लिए यहाँ साधु के विशेषण प्रयुक्त किए गये हैं—(१) समाहित होकर (२) भव्य बनकर (३) पंडित—सद्-असद् विवेकशील होकर। प्रथम तो जीवनपर्यन्त वह समाधिभाव में रहे। समाधिभाव यानी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सम्यक् प्रकार से स्थापित करे। तत्पश्चात् मोक्षगमन के योग्य दृढ़ स्थिति मन की रखे तथा सत्-असत् हेय-उपादेय, हिताहित का सम्यक्रूप से विवेक हो। ये तीनों गुण शुभ अध्यवसायशील साधु में मृत्युपर्यन्त रहें, तभी वह समभाव में लीन रह सकता है। '**दविए**' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—रागद्वेषरहित और मोक्षगमन के योग्य—भव्य। यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

अब आगामी गाथा में साधु पर उपसर्ग आ जाने पर वह क्या करे ? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा ।
पुट्ठे परुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

दूरमनुदृश्य मुनिरतीतं धर्ममनागतं तथा ।
स्पृष्टः परुषैर्मानिः अपि हन्यमानः समये रीयते ॥५॥

अन्वयार्थ

(**मुणी**) तीनों काल की गतिविधि पर मनन करने या शास्त्रादि द्वारा जानने वाला मुनि, (**दूरं**) मोक्ष को तथा (**तीतं**) अतीत--भूत तहा) तथा (**अणागय**) भविष्यकालीन (**धम्मं**) प्राणियों के धर्म--स्वभाव को (**अणुपस्सिया**) जान-देखकर (**परुसेहि**) कठोर वचनों अथवा लाठी आदि के प्रहारों का (**पुट्ठे**) स्पर्श होने पर अथवा (**अविहण्णू**) हनन किये जाने पर भी (**समयम्मि**) अपने सिद्धान्त अथवा संयम पर (**रीयइ**) डटा रहे या गति करे।

भावार्थ

त्रिकालदर्शी अथवा त्रिलोक मननशील अहिंसा में दृढ़ साधु दूर यानी मोक्ष को या दूर-दूर तक दीर्घदृष्टि से भूत और भविष्य का जीवों के स्वभाव का अवलोकन करके कठोर वचन या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श किये जाते हुए प्रहार को अथवा जान से मार डालने तक को भी समभाव से सहे, अपने समत्व सिद्धान्त पर डटा रहे, संयम-मार्ग में स्थिर रहे।

व्याख्या

समभावपूर्वक संयम में स्थिर रहने का उपाय

जो मुनि समभाव एवं संयम में स्थित रहना चाहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर होनी चाहिए। अगर उसकी प्रज्ञा जरा-जरा से उपसर्ग या परीषह को देखकर विचलित हो जाएगी, सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, आदि द्वन्द्वों का वास्ता पड़ते ही डगमगा जाएगी, कठोर वचन या प्रशंसात्मक वचन, प्रहार या उपहार के प्रसंगों में हर्ष-शोक या राग-द्वेष की ओर झुककर अस्थिर हो जायगी, तो वह समभाव व संयम में मजबूती से अपने कदम स्थिर नहीं रख सकेगा, इन्द्रियों और मन पर संयम नहीं रख सकेगा, इस प्रकार कर्मक्षय निर्जरा) के अवसरों को खो कर वह उन्हें कर्मबन्धन (आस्रव और बन्ध) में बदल देगा। कितनी बड़ी हानि है यह मोक्षमार्गी साधक के लिए ? इसीलिए शास्त्रकार इस गाथा में समभाव में स्थिर रहने का उपाय बताते हुए उपदेश देते हैं--'**दूरं अणुपस्सिया मुणी**'''' ··· **तहा**।' यहाँ '**दूरं**' शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं—एक तो मोक्ष, क्योंकि मोक्ष दूरवर्ती है, इसलिए इसे 'दूर' कहा गया है, इसी प्रकार दूसरा अर्थ है—सुदूर अतीत और सुदूर भविष्य क्योंकि अतीतकाल और भविष्यकाल भी बहुत दूर हैं। यहाँ '**मुणी**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द भी बहुत गम्भीर अर्थ को सूचित करता है। **'मन्ता शास्त्रार्थतत्त्वावगन्ता मुनिः' 'मन्यते यो जगत् सर्वं', 'मनुते यो उभे लोके'** ये तीन व्युत्पत्तियाँ मुनि की होती हैं। मुनि का अर्थ है—शास्त्र में उल्लिखित तत्त्वों पर मनन-चिन्तन करने वाला, जो जगत् की समस्त गतिविधियों पर मनन करता है, जानता है, अथवा दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) को जानता है, अथवा जो शास्त्ररूपी नेत्रों द्वारा तीनों काल की बातें जानता है। दूरदर्शी बनकर अतीतकाल में परीषहों और उपसर्गों के समय सुदृढ़ और सहिष्णु और क्षमाशील बनकर समभाव में स्थिर रहने वाले मुनि पुंगवों (अर्जुनमुनि, गजसुकुमार मुनि आदि) के जीवन पर दृष्टिपात करके तथा भविष्य में मुझे भी ऐसे कठोर प्रसंगों पर क्षमाभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए तथा वर्तमान में अपनी दुर्बलताओं को झाड़कर समभाव में स्थिर रहना है, ममुक्षु बनना है। इस प्रकार त्रिकालदर्शी मुनि जगत् के प्राणियों के भूतकालीन एवं भविष्यकालीन स्वभाव का मन ही मन विश्लेषण करे। अर्थात् 'प्राणी ऊँची-नीची गतियों में क्यों जाते हैं ? कर्मबन्धनों के कारण ही कर्मबन्धन क्यों होते है ? उन्हें ये जीव क्यों नहीं रोक पाते ? मैं तो मुनि हूँ, मैंने शास्त्रों से समस्त तत्त्वों को छान डाला है, मुझे कर्मबन्धन और उनके कारणों से दूर रहना चाहिए।' ये और इस प्रकार के दीर्घदर्शी विचारों के प्रकाश में मुनि कठोर परीषहों, प्रहारों या उपसर्गों के स्पर्श के अथवा मारे-पीटे जाने के समय अपने समय (समत्व या सामायिक) में अथवा सिद्धान्त पर स्थिर रहे, संयम-पथ पर ही चले। यहाँ **'समयंमि रीयइ'** के बदले **'समयाऽहियासए'** पाठान्तर भी मिलता है, जो अधिक उपयुक्त जचता है। उसका अर्थ है—समभावपूर्वक पूर्वोक्त आपत्तियों को सहन करे।

यही समभाव में स्थिर रहने का ठोस उपाय शास्त्रकार ने भगवान ऋषभदेव के शब्दों में बताया है।

अगली गाथा में पुनः इसी से सम्बन्धित उपदेश है—

मूल पाठ

पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणी माहणे ॥६॥

संस्कृत छाया

प्रज्ञासमाप्तः सदा जयेत् समताधर्ममुदाहरेन्मुनिः ।
सूक्ष्मे तु सदाऽलूषकः नो क्रुध्येन्नो मानी माहनः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**पण्णासमत्ते**) प्रज्ञा में परिपूर्ण अथवा स्थितप्रज्ञ (**मुणी**) मुनि (**सया**) सदा (**जए**) कषायों को जीते। और (**समयाधम्मं उदाहरे**) समतारूप धर्म का उपदेश दे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा समताधर्म को अपने जीवन से प्रगट करे। (**सुहुमे उ**) संयम की सूक्ष्मता—गहराई के सम्बन्ध में (**सया**) सदैव (**अलूसए**) अविराधक होकर रहे। (**णो कुज्झे**) तथा क्रोध न करे, (**णो माणी माहणे**) एवं अहिंसाधर्मी (माहन) मुनि मानी न बने।

भावार्थ

स्थितप्रज्ञ या प्रज्ञा से परिपूर्ण साधक सदा कषायों पर विजय प्राप्त करे, और समताधर्म का आदर्श स्थापित करे, समताधर्म का ही उपदेश दे। सूक्ष्म से सूक्ष्म संयम के प्रति सदा अविराधक होकर रहे। अहिंसाधर्मी मुनि किसी पर कोप न करे और न ही अहंकार करे।

व्याख्या

स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि का धर्म

शास्त्रों का अध्ययन-मनन एवं अनुशीलन-परिशीलन करने तथा साधु-जीवन के आचार-विचार के परिपालन एवं रत्नत्रय के अभ्यास से जिसकी प्रज्ञा उन्नत, स्थिर एवं परिपूर्ण हो गई है, उस स्थितप्रज्ञ समताधर्मी मुनि को कषायों एवं इन्द्रिय-विषयों के प्रसंग उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए? यही इस गाथा में शास्त्रकार ने बताया है—'**पण्णासमत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी।**' आशय यह है कि शास्त्रों के अभ्यास से परिपक्वमति एवं नौ तत्त्वों के ज्ञाता समताधर्मी मुनि कषायों के विषय में भगवद्वाणी के प्रकाश में चिन्तन करे—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाई पुणब्भवस्स॥

अर्थात्—क्रोध और मान पर यदि अंकुश न रखा जाय तथा माया और लोभ बढ़ते जाएँ तो ये चारों कषाय अपने आप में परिपूर्ण होकर पुनर्भव (बार-बार जन्ममरण) के मूल को सींचते हैं।

इस प्रकार कषायों को संसार के बीज समझकर इन पर सदा विजय प्राप्त करनी चाहिए। हमेशा जागरूक रहना चाहिए कि कहीं कषाय आकर मेरे जीवन पर हावी न हो जाए। और केवल कषाय ही नहीं, विषयों—पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों से भी सदा सावधान रहना चाहिए। ये भी साधक पर कहीं हावी न हो जाएँ, साधक को पछाड़ न दें। मनोज्ञ विषयों पर राग, आसक्ति या मोह तथा अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष, घृणा या अरुचि न करे। अर्थात् उन पर विजय पाने की कोशिश करे। कैसे विजय पाए? इसके उत्तर में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—समताधर्म का उदाहरण (नमूना) प्रस्तुत करे। यद्यपि वृत्तिकार '**समताधम्म-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुदाहरे' का अर्थ 'समतारूपी धर्म का उपदेश करे', करते हैं, परन्तु इसकी अपेक्षा 'समताधर्म का उदाहरण (नमूना) प्रस्तुत करे,' यह अर्थ अधिक संगत लगता है। उपदेश तो तभी दिया जा सकता है, जब व्यक्ति स्वयं उसका आचरण कर ले। इसलिए उपदेश की अपेक्षा पहले स्वयं मुनि समताधर्म का आदर्श प्रस्तुत करे, यही अभीष्ट है। उसके पश्चात समता का वातावरण तैयार करने के लिए भले ही वह उपदेश दे। उसके पश्चात स्वयं इन्द्रियों और मन पर कड़ा पहरा रखे। जरा-सी भी इन्द्रिय-मनःसंयम की विराधना न हो, इसकी सावधानी रखे। कोई कुछ भी प्रतिकूल कहे अथवा अनुकूल (प्रशंसात्मक) कहे दोनों ही अवस्थाओं में सम रहे। न तो प्रतिकूल कहने वालों या करने वालों पर क्रोध करे और न अनुकूल कहने या अपनी प्रशंसा करने वालों की बात सुनकर मन में फूले; गर्व न करे। मुनियों के अहिंसाधर्म का यही तकाजा है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब अगली गाथा में शास्त्रकार साधक को विश्ववन्द्य साधुधर्म में सावधान रहने का उपदेश देते हैं--

मूल पाठ

बहुजणणमणंमि संवुडो सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए।
हद इव सया अणाविले धम्मं पादुरकासी कासवं ॥७॥

संस्कृत छाया

बहुजन-नमने संवृतः सर्वार्थैर्नरोऽनिश्रितः ।
ह्रद इव सदाऽनाविलो, धर्मं प्रादुरकार्षीत् काश्यपम् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**बहुजणणमणंम्मि**) अनेक लोगों के द्वारा नमस्करणीय-वन्दनीय, यानी धर्म में (**संवुडो**) ओतप्रोत या सावधान रहने वाला (**णरे**) मनुष्य--साधक (**सव्वट्ठेहिं अणिस्सिए**) समस्त पदार्थों या इन्द्रियविषयों में अनिश्रित--अनासक्त अथवा बेलाग रहकर (**हद इव सया अणाविले**) सरोवर की तरह सदा स्वच्छ, निर्मल एवं प्रशान्त रहता हुआ (**कासवं धम्मं**) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी के धर्म को (**पादुरकासी**) प्रकट करे।

भावार्थ

बहुत से लोगों के द्वारा नमस्कार करने योग्य धर्म में सदा सावधान रहने वाला साधक (मानव) संसार के समस्त पदार्थों से अनासक्त रहकर सरोवर की तरह स्वच्छ एवं प्रशान्त रहता हुआ काश्यपगोत्री भगवान् महावीर के धर्म को प्रकट करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

बहुजन प्रशंसनीय धर्म का आचरण कैसे करे ?

धर्म मानवमात्र के द्वारा वन्दनीय एवं श्लाघ्य है, क्योंकि वह प्राणिमात्र के लिए उपकारक है। धर्म अपने पालन एवं रक्षण करने वाले का पालन एवं रक्षण करता है। धर्म के पालन से मानव-जीवन सुखी, शान्त और आनन्दमय रहता है। जैनशास्त्रों में बताया है कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है।[1] धर्म इस लोक और परलोक में हित, सुख, निःश्रेयस के लिए और समर्थ बनाने के लिए है।[2] जिस धर्म का पालन यहाँ किया जाता है, वह परलोक में भी साथ जाता है। इतने महान् उपकारी धर्म को भला कौन प्रशंसनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, मंगलमय और श्लाघ्य नहीं कहेगा ? अतः उक्त नमस्करणीय धर्म का पालन करने के लिए साधक को सदा संवृत रहना चाहिए। संवृत के यहाँ तीन अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ है—सावधान रहना। दूसरा अर्थ है अपनी आत्मा को बाह्य विषयों, कषायों से गुप्त-सुरक्षित रखना। तीसरा अर्थ है—अपने जीवन में आते हुए कर्मों (आस्रवों) का संवरण – निरोध करके रहना, रोक कर रहना। यहाँ अभिप्रेत अर्थ यह हो सकता है कि साधक नमस्करणीय धर्म में आत्मा को सुरक्षित, निरुद्ध करके रखे।

दूसरा उपाय धर्म में ओतप्रोत या तल्लीन रहने का यह बताया है कि **'सव्वट्ठेहि णरे अगिस्सिए'** अर्थात्—साधनाशील मानव संसार के समस्त मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों का विषयों में अनिश्रित रहे, उनके मोह-ममत्व से दूर रहे। वास्तव में शुद्ध साधु-धर्म का आचरण तभी हो सकता है कि धर्माचरण में उपयोगी उपकरणों या शरीर संघ गुरु आदि के प्रति भी मोहासक्ति से रहित होकर विचरण करे तथा अन्य सांसारिक या वैषयिक पदार्थों के प्रति तो बिलकुल लगाव न रखे। अपनी निश्राय में उन पदार्थों को बिलकुल न रखे।

धर्म में लीन और सुदृढ़ रहने का तीसरा उपाय शास्त्रकार ने बताया है—**'हद इव समा अणाविले'** अर्थात् ह्रद—तालाब की तरह सदा स्वच्छ, निर्मल रहे। तालाब इसलिए स्वच्छ जल से परिपूर्ण रहता है कि उसमें अनेक जलचरों का संचार होता रहता है। इसी प्रकार साधु भी संघरूपी तालाब में अनेक प्राणियों के सम्पर्क में आने पर या संघ में अनेक साधुओं के संचार के कारण स्वच्छ संघ सरोवर में निर्मल रहे। क्योंकि जब जीवन में हिंसा, असत्य आदि अधर्मों से गंदगी प्रविष्ट होगी, साधु-जीवन स्वच्छ नहीं रह सकेगा। साधु-जीवन स्वच्छ नहीं रहेगा

१ **'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'** - दशवैकालिक सूत्र।

२ इहलोग-परलोग हियाए, निस्सेस्साए, सुहाए, खम्माए, अणुगामियत्ताए भवई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो धर्म में लीनता नहीं होगी। क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म जीवन में आ नहीं सकेंगे। यह तीसरा उपाय बताया है।

धम्मं पादुरकासी कासवं—धर्म में लीनता के ये तीन उपाय बताने के बाद शास्त्रकार का उपदेश है कि इन तीनों उपायों के द्वारा शुद्ध धर्म में लीनता करके अपने जीवन से काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित दशविध श्रमण-धर्म को प्रकट करे। साधक के जीवन में जब धर्म रम जाता है, तभी वह अपने जीवन से धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है, उस साधक का धर्ममय जीवन ही स्वयं बोलता हुआ होगा। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा था—**'न धर्मो धार्मिकं विना'** धार्मिक बने बिना धर्म का प्रकटीकरण या धर्म-प्रचार-प्रसार नहीं हो सकता। इस गाथा में वर्तमान में भूतकाल के **अकासी** शब्द का प्रयोग छन्दोभंग न हो, इसलिए किया गया है।

यही इस गाथा का आशय है।

पूर्वगाथा के अन्तिम चरण में अपने जीवन से धर्म को प्रगट करने की बात कही थी, किन्तु साधक किस धर्म को प्रगट करता है? इसके लिए अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया ।
जो मोणपदं उवट्ठिए विरति तत्थ अकासी पंडिए ॥८॥

संस्कृत छाया

बहवः प्राणाः पृथक् श्रिताः, प्रत्येकं समतां समीक्ष्य ।
यो मौनपदमुपस्थितो विरतिं तत्राकार्षीत् पण्डितः ॥८॥

अन्वयार्थ

(**बहवे**) बहुत-से (**पाणा**) प्राणी (**पुढो**) पृथक्-पृथक् (**सिया**) इस जगत् में निवास करते हैं, (**पत्तेयं**) प्रत्येक प्राणी को (**समयं**) समभाव से (**समीहिया**) देखकर (**मोणपदं**) संयम में—मुनिपद में (**उवट्ठिए**) उपस्थित (**जो**) जो (**पंडिए**) पण्डित है वह (**तत्थ**) उन प्राणियों के घात से (**विरतिं**) विरति (**अकासी**) करे।

भावार्थ

इस जगत् में बहुत-से प्राणी पृथक्-पृथक् निवास करते हैं। उन सब प्राणियों में से प्रत्येक प्राणी को समभाव से देखने वाला मुनिपद में उपस्थित सद्-असद् विवेकी साधक उन प्राणियों के घात से विरत रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

प्रथम धर्म : प्राणिघात से विरति

साधुजीवन में प्रथम धर्म, जो प्रकट करना है, वह है प्राणिघात से विरति। जिसके लिए इस गाथा में संकेत किया गया है। प्राणिघात से विरति होने से पूर्व शास्त्रकार प्राणियों का स्वरूप बताते हैं—'**बहवे पाणा पुढो सिया।**' यहाँ प्राणों के साथ अभेद आरोप करके प्राणियों को प्राण कहा है। क्योंकि प्राणी दशविध प्राणों को धारण करता है। इस जगत् में अनेक प्राणी हैं। उनमें से कोई त्रस है तो कोई स्थावर है। त्रस प्राणियों में भी कोई द्वीन्द्रिय है तो कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय है तो कोई पञ्चेन्द्रिय। फिर पंचेन्द्रिय में भी कोई संज्ञी है, कोई असंज्ञी है, कोई पर्याप्तक है तो कोई अपर्याप्तक, कोई गर्भज है तो कोई सम्मूर्च्छिम, कोई मनुष्य है तो कोई देव, कोई तिर्यञ्च है तो कोई नारक। तिर्यञ्चों में भी कोई जलचर है, कोई खेचर, कोई स्थलचर है, कोई उरपरिसर्प है तो कोई भुजपरिसर्प।

स्थावर में सभी प्राणी एकेन्द्रिय होते हैं, उनमें भी कोई पृथ्वीकायिक है तो कोई जलकायिक, कोई तेजस्कायिक है, तो कोई वायुकायिक और कोई वनस्पतिकायिक है। उनमें भी कोई सूक्ष्म है, कोई बादर है। यों ४ गति और ८४ लाख जीवयोनियों के अनन्त-अनन्त प्राणी इस जगत् में निवास करते हैं। पृथक्-पृथक् आत्मा एवं प्राणों वाले इन सभी प्राणियों को सुख और जीवन समानरूप से प्रिय है, दुःख और मरण अप्रिय है।

यहाँ तक प्राणियों का स्वरूप और स्वभाव बताने के बाद शास्त्रकार उनके प्रति मुनिधर्म बताते हुए कहते हैं—'**जो मोणपदं उवट्ठिए पत्तेयं समयं समीहिया विरति तत्थ अकासी पंडिए।**' आशय यह है कि जो साधनाशील व्यक्ति मुनिधर्म-पालन के लिए उद्यत हुआ है, उस सद्असद् विवेकशाली पण्डित साधक को उन प्राणियों को समभाव से यानी आत्मौपम्य भाव से देखना चाहिए। अर्थात्—'**जह मम न पियं दुक्खं एमेव सव्वजीवाणं**'—जैसे मुझे दुःख (हिंसा आदि का) प्रिय नहीं है, वैसे सभी जीवों को प्रिय नहीं है। मुझे सुख प्रिय है, वैसे सभी प्राणियों को भी प्रिय है। इस प्रकार समत्ववृत्ति से आत्मवत्भाव से सभी प्राणियों को देखना-समझना चाहिए। यहाँ '**समय**' शब्द का '**समता**' रूप भी होता है और '**स्वमय**' रूप भी होता है, जिसका अर्थ—'आत्ममय'—अपने तुल्य होता है।

हाँ तो, साधक इस प्रकार अपनी आत्मा के तुल्य षट्कायिक जीवों को देखकर उन प्राणियों की हिंसा से दूर रहे। न उन्हें मारे-पीटे, सताए, न उन पर बोझ डाले, न उन्हें कुचले, न कैद करे या बन्धन में डाले, न डराए-धमकाए, न उन पर उच्चाटन-मारण का प्रयोग करे और न ही जीवन से रहित करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही मुनिपद में स्थित साधक का प्रथम धर्म है, जो शास्त्रकार ने इस गाथा में सूचित किया है।

मूल पाठ

धम्मस्स य पारए मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥६॥

संस्कृत छाया

धर्मस्य च पारगो मुनिः, आरम्भस्य चान्तके स्थितः ।
शोचन्ति च ममतावन्तः, नो लभन्ते निजं परिग्रहम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**धम्मस्स**) श्रुत-चारित्ररूप धर्म का (में) (**पारगो**) पारंगत (**य**) और (**आरंभस्स**) आरम्भ के (**अन्तए**) अन्त में - परे (**ठिए**) स्थित पुरुष ही वास्तव में (**मुणी**) मुनि है। (**ममाइणो**) जो पदार्थों पर ममता रखते हैं, वे (**सोयंति**) शोक-चिन्ता करते हैं, फिर भी (**णियं परिग्गह**) अपने मनमाने परिग्रहरूप पदार्थ को (**णो लब्भंति**) प्राप्त नहीं करते।

भावार्थ

जो व्यक्ति श्रुत-चारित्ररूप धर्म (धर्मसिद्धान्त) में पारंगत है, और आरम्भ (हिंसाजनक प्रवृत्ति) से दूर रहता है, वही वास्तव में मुनि है। किन्तु पदार्थों पर ममता रखने वाले व्यक्ति उनको पाने की तथा प्राप्त के वियोग की चिन्ता करते रहते हैं, फिर भी वे अपने मनोवाञ्छित पदार्थों (परिग्रह) को प्राप्त नहीं कर पाते।

व्याख्या

आरम्भ से परे धर्मपारंगत मुनि परिग्रह से दूर

पूर्वगाथा में मुनि को सर्वप्रथम हिंसा से विरतिरूप धर्म का उपदेश दिया गया है, अब इस गाथा में मुनि के दूसरे धर्म—परिग्रह से विरति—का उपदेश दिया गया है। सर्वप्रथम शास्त्रकार मुनि का लक्षण देते हैं। मुनि वह नहीं है, जो मनमाना निरंकुश चलता हो, वेश पहन लिया, किन्तु जिसे श्रुत-चारित्र रूप मुनिधर्म का ज्ञान ही न हो, आरम्भ में पड़ा हो। किन्तु मुनि वही समझा जाएगा—जो श्रुत-चारित्र रूप मुनिधर्म के सिद्धान्त और व्यवहार का पूर्ण ज्ञाता हो, पारगामी हो। जिसका धर्म सम्बन्धी अध्ययन-मनन और आचरण-ज्ञान तलस्पर्शी हो, साथ ही जो हिंसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनक आरम्भ के कार्यों से सदा दूर रहता हो। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए।'** आरम्भ का अर्थ सावद्य अनुष्ठान (कार्य) भी है। इस दृष्टि से अर्थ होता है—आरम्भ के अन्त में अर्थात् जो अभाव में स्थित रहता है, वह मुनि है।

जो साधक मुनिधर्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है, और आरम्भ-परिग्रह में आसक्त रहता है, धर्माचरण करने में अत्यन्त मन्द रहने वाला है, इष्टपदार्थों अथवा व्यक्तियों के वियोग में झूरता रहता है, रुदन और शोक करता है, इसके सिवाय साधनाकाल में भी जो तथाकथित साधक, 'यह मेरा है,' 'मैं इस पदार्थ का मालिक हूँ' इस प्रकार का ममत्व रखता है, वह मृत्युकाल निकट आने पर उन सजीव-निर्जीव पदार्थों से वियोग की सम्भावना को सोच-सोचकर विलाप करता है, शोकमग्न हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की हायतोबा के बावजूद भी वह उस ममत्व-स्थापित पदार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता।

अथवा **'सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भन्ति णियं परिग्गहं'** इस पंक्ति का यह अर्थ भी सम्भव है, जो मुनि धर्म में पारंगत और आरम्भ से परे है, उसके प्रति ममत्व और आसक्ति से युक्त स्वजन उसके पास आकर शोक, विलाप और रुदन करते हैं, उसे ले जाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं, वे उस मुनि को परिग्रह (ममत्ववश होने के कारण) समझने के बावजूद भी वे उसे प्राप्त नहीं कर पाते। अर्थात् वह मुनि धर्म में इतना सुदृढ़ और धर्मसिद्धान्त में पारंगत है तथा समस्त आरम्भ से दूर है कि स्वजनों का उसके प्रति ममत्व और ममत्व के कारण उसे अपने वश में करके ले जाने का उनका मनोरथ किसी भी प्रकार से सफल नहीं होता।

मूल पाठ

इहलोग दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं इति विज्जं कोऽगारमावसे ॥१०॥

संस्कृत छाया

इहलोकदुःखावहं विद्याः, परलोके च दुखं दुःखावहम्।
विध्वंसनधर्ममेव तद् इति विद्वान् कोऽगारमावसेत् ? ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**इहलोगदुहावहं**) सांसारिक पदार्थ और स्वजनवर्ग के प्रति परिग्रह (ममत्व) इस लोक में दुःख देने वाला है, (**परलोगे य**) और परलोक में भी (**दुहं दुहावहं**) दुःख देने वाला है। (**विऊ**) यह जानो। (**तं**) वह—परिग्रहजन्य पदार्थसमूह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**विद्धंसणधम्ममेव**) नश्वर स्वभाव है, (**इति विज्जं**) ऐसा जानने वाला (**को**) कौन साधक पुरुष (**अगार**) गृहवास में (**आवसे**) निवास कर सकता है।

भावार्थ

ममत्व किये हुए सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थ एवं स्वजनवर्गरूप परिग्रह इस लोक में दुःखप्रद हैं और परलोक में भी अत्यन्त दुःखदायक हैं; यह समझ लो। वह परिग्रहजन्य पदार्थसमूह नश्वरस्वभाव है, ऐसा जानने वाला कौन विज्ञपुरुष परिग्रह के भण्डार गृहवास में निवास कर सकता है ?

व्याख्या

उभयलोक दुःखप्रद परिग्रह में अनासक्ति ही हितावह

पूर्वगाथा में ममत्वत्याग का उपदेश दिया गया है। इस गाथा में ममत्वयुक्त सांसारिक पदार्थ और स्वजनवर्ग आदि को इहलोक-परलोक में दुःखावह बताकर उनसे दूर, निर्लिप्त एवं अनासक्त रहने का उपदेश दिया गया है। सांसारिक पदार्थ धन, स्वर्ण, चांदी आदि पदार्थ इस लोक में क्यों दुःखप्रद हैं, उनसे तो अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ जुटाई जा सकती हैं ? इसके उत्तर में नीतिकार कहते हैं—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुखं व्यये दुःखं धिगर्था दुःखभाजनम्॥

अर्थात्—धन या सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में दुःख होता है, फिर प्राप्त किये हुए धन और पदार्थों की रक्षा करने में दुःख होता है। धन की आय होने पर भी अनेक चिन्ताएँ और भय लग जाने के कारण दुःख होता है, तथा उपार्जित धन या पदार्थों के व्यय—खर्च हो जाने या नष्ट हो जाने पर दुःख होता है। धिक्कार है ऐसे सांसारिक पदार्थों को, जो कष्ट के भाजन हैं।

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥

राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि।
नित्यं धनवतां भीतिर्दृश्यते भुवि सर्वदा॥

अर्थात्—जैसे आकाश में पक्षिगण, पृथ्वी पर सिंह आदि हिंस्र प्राणी, और पानी में मगरमच्छ आदि मांस देखते ही उस पर टूट पड़ते हैं और खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को भी लोग सब जगह निगल जाना चाहते हैं। इस भूखण्ड पर धनवानों को शासनकर्त्ता से, जल से, अग्नि से, चोर से, और स्वजनों से नित्य भय बना रहता है। इस प्रकार धन, स्वर्ण, रजत, रत्न आदि सांसारिक पदार्थों का परिग्रह इस लोक में पद-पद पर दुःखदायक है। परिग्रही मनुष्य को सुख से नींद भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आती। जिन पदार्थों को लेकर मनुष्य अपने मन में सुख की कल्पना करता है, वे ही पदार्थ उसके लिए अत्यन्त दुःखदायी एवं शोक-चिन्ता के आगार बन जाते हैं।

इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि जितने भी स्वजन-सम्बन्धी हैं, उनके प्रति ममत्व भी भयंकर दुःखदायक बनता है। मनुष्य अपने स्वजन से आशा लगाए रहता है कि रोग, कष्ट, आफत, निर्धनता के समय ये मेरी सहायता करेंगे, मेरी सेवा करेंगे, मुझे मौत से बचा लेंगे, आफत से उबार लेंगे, मेरे धन-माल की रक्षा करेंगे, परन्तु स्वजनवर्ग भी समय आने पर आँखें फेर लेते हैं, वे तर्ज बदल देते हैं। जब तक धन रहेगा, तब तक स्वजन मीठे-मीठे बोलेंगे, परन्तु जहाँ धन खत्म हो गया, स्वार्थ की पूर्ति की कोई आशा न रही, वहाँ स्वजनवर्ग तुरन्त छोड़कर चले जाएँगे। इसलिए स्वजनवर्ग के प्रति ममत्व—परिग्रह भी इस लोक में दुःखदायक होता है।

इहलोक में ममत्व किये हुए सांसारिक पदार्थ, धन तथा स्वजन आदि का मोह परलोक में भी दुःखकारक होता है। क्योंकि इन पर किये हुए ममत्व से हुए कर्म-बन्धन के फलस्वरूप परलोक में नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। उन दुःखों को भोगते समय फिर नवीन कर्मबन्धन करना पड़ता है, पुनः दुःख पाना पड़ता है। इस प्रकार दुःख की परम्परा बढ़ती ही जाती है। उसका अन्त दीर्घकाल तक नहीं आता। अतः शास्त्रकार इस गाथा के चतुर्थ पाद में कहते हैं—**'इति विज्जं कोऽगारमावसे ?'** इस प्रकार के क्षणभंगुर उभयलोक-दुःखावह परिग्रह के भण्डार गृहवास को दुःखावह समझकर कौन जान-बूझकर उसमें फँसेगा ? यह गृहवास नहीं, गृहपाश है। कहा भी है—

दाराः परिभवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशाः॥

अर्थात्—दारा (स्त्री) अपमान करने वाली है, बन्धुजन बन्धनरूप हैं, विषय विषरूप हैं, तथापि मनुष्य का यह क्या मोह है कि जो शत्रुतुल्य हैं, उनसे वह मित्रवत् आचरण की आशा रखता है ?

इस बात को समझने वाला साधक समत्व को छोड़कर सांसारिक पदार्थों और स्वजनों के प्रति ममत्व के पाश में क्यों बँधेगा ?[1]

---

१. इस गाथा के बदले नागार्जुनीय वाचना में दूसरी गाथा मिलती है—

सोऊण तयं उवट्ठियं केइ गिही विग्घेण उट्ठिया।
धम्मंमि अणुत्तरे मुणी, तं पि जिणिज्ज इमेण पंडिए॥

अर्थात्—"कोई गृहस्थ मुनि को वहाँ आये हुए जानकर यदि विघ्न करने के लिए आएँ, तो अनुत्तरधर्म में स्थित मुनि उनको इस रीति से जीत ले।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगली गाथा में शास्त्रकार सांसारिक स्वजनों के परिचय तथा वन्दन-पूजन से होने वाले गर्व के त्याग का उपदेश दे रहे हैं—

मूल पाठ

महवं परिगोवं जाणिया जावि य वंदणपूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥११॥

संस्कृत छाया

महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा याऽपि च वन्दन-पूजनेह ।
सूक्ष्मे शल्ये दुरुद्धरे, विद्वान् परिजह्यात् संस्तवम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(**महवं**) सांसारिक परिजनों का परिचय—अतिसंसर्ग महान् (**परिगोवं**) पंक —कीचड़ (**जाणिया**) जानकर (**जावि य**) तथा जो (**इहं**) इस लोक में (**वन्दन-पूयणा**) वन्दन और पूजन है, उसे भी कर्म के उपशम का फल जानकर (**विउमंता**) विद्वान् पुरुष गर्व न करे; क्योंकि गर्व (**सुहुमे**) सूक्ष्म (**सल्ले**) शूल अथवा काँटा है। (**दुरुद्धरे**) उसके चुभने के बाद निकलना कठिन है। (**संथवं**) अतः परिचय का (**पयहिज्ज**) परित्याग कर दे।

भावार्थ

सांसारिक जनों का साथ—परिचय महान् कीचड़ है; यह जानकर मुनि उनके साथ परिचय न करे, तथा वन्दन-पूजन भी कर्म के उपशम का फल है, यह जानकर वन्दन-पूजन पाकर गर्व न लाए, क्योंकि गर्व सूक्ष्म शल्य है। उसका उद्धार करना (निकालना) कठिन होता है।

व्याख्या

परिजन संसर्ग एवं गर्व : मुनि के लिए त्याज्य

इस गाथा में साधक की साधना में विघ्नरूप दो बातों की ओर संकेत किया गया है —(१) सांसारिक जनों का अतिपरिचय तथा (२) वन्दन-पूजन का गर्व।

साधु के लिए सांसारिक लोगों का परिचय पंकरूप इसलिए बताया गया है कि जैसे कीचड़ में फँस जाने पर मनुष्य या हाथी आदि किसी भी प्राणी का निकलना मुश्किल होता है, वैसे ही जो साधक गृहस्थों के अतिपरिचय में आते हैं, वे **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'** इस न्याय के अनुसार वे गुण के बदले दोषों को ही अधिक बटोरते हैं। काजल की कोठरी में चाहे जितनी सावधानी रखी जाय, फिर भी कालिमा से बचना कठिन है, वैसे ही इस संसर्गरूपी कीचड़ में पड़ने पर उससे बच निकलना कठिन है। इसीलिए स्वजन-परिचय को कीचड़ कहा गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'महवं परिगोवं जाणिया ।' वृत्तिकार ने परिगोव शब्द का अर्थ 'पंक' किया है। पंक दो प्रकार का होता है द्रव्यपंक और भावपंक। द्रव्यपंक लग जाने पर तो उसे पानी आदि से धोया भी जा सकता है, परन्तु भावपंक – सांसारिक प्राणियों के साथ अतिसंसर्ग, परिचय या आसक्ति के लग जाने पर उसे तप, संयम आदि जल से धोने पर ही उसका रंग छूट सकता है। अतिसंसर्ग मुनि के ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय एवं भजन में भंग डालने वाला है। एक बार जिस साधक को अतिसंसर्ग का चस्का लग जाता है, फिर वह उस कीचड़ में फँस ही जाता है। और गृहस्थ लोग उसको अनेक प्रकार से प्रलुब्ध करके उसका पतन कर देते हैं अथवा वह स्वयं युवतियों के मोहक जाल में फँसकर अपना पतन कर लेता है। इसीलिए दीर्घदर्शी महापुरुषों ने कहा—**'विउसंता पयहिज्ज संथवं'** विद्वान् साधु को दीर्घदृष्टि से गृहस्थसंसर्ग से होने वाली हानियों पर विचार कर उसका परित्याग कर देना चाहिए।

साधना में दूसरा विघ्न है—गर्व। जब किसी साधक की प्रशंसा होने लगती है, वाहवाही के कहकहे उसके मन को गुदगुदाने लगते हैं, राजा, मंत्री आदि बड़े-बड़े लोग उसे वन्दना करते हैं, वस्त्र-पात्र, आहार आदि से उसका सत्कार करते हैं, लोगों में उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है, तो वह गर्व से फूल जाता है। अपने आपको वह बहुत महान् समझने लगता है। यह साधना के मार्ग में बहुत बड़ा विघ्न है। उसकी साधना, ज्ञान की वृद्धि वहीं रुक जाती है। फिर वह हर प्रसंग पर सत्कार-सम्मान पाने को लालायित रहता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे।'** वन्दनादि से होने वाला गर्व इतना सूक्ष्म शल्य या तीक्ष्ण काँटा है, कि चुभ जाने पर निकलना कठिन है।[1] यही इस गाथा का आशय है।

मूल पाठ

एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाणवीरिए, बइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

---

१ इस गाथा के बदले नागार्जुनीय वाचना के अनुसार यहाँ निम्न गाथा मिलती है --

पलिमंथं महं वियाणिया, जाऽविय वंदण-पूयणा इह।
सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तं पि जिणे एएण पंडिए ॥

अर्थात्---स्वाध्याय, ध्यान में तत्पर, एकान्त निःस्पृह विवेकी पुरुष दूसरे लोगों द्वारा किये जाते हुए वन्दन-पूजन आदि सत्कार को सदनुष्ठान एवं सद्गति में महान् विघ्न जानकर उसे छोड़ दे। जब वन्दनादि भी विघ्नरूप है तो शब्दादि विषयासक्ति का तो कहना ही क्या? अतः बुद्धिमान् पुरुष आगे कहे जाने वाले उपाय से उस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को निकाल दे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

एकश्चरेत् स्थानमासने, शयन एकः समाहितः स्यात् ।
भिक्षुरुपधानवीर्यः, वाग्गुप्तोऽध्यात्मसंवृतः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**वइगुत्ते**) वचन से गुप्त, (**अज्झत्तसंवुडो**) मन से भी संवृत – गुप्त, (**उवहाणवीरिए**) तपश्चर्या में शक्ति लगाने वाला साधु स्थान, आसन और शयन में एकाकी करता हुआ, धर्मध्यान से युक्त होकर अकेला विचरण करे ।

भावार्थ

वचन से गुप्त और मन से संवृत (रक्षित), तपश्चर्या में पराक्रम प्रकट करने वाला भिक्षाजीवी साधु द्रव्य से अकेला (सहायरहित) और भाव से रागद्वेषरहित - एकमात्र आत्मा या आत्मभाव को साथ लेकर एकाकी विचरण करे । तथा कायोत्सर्गादि स्थान, समाधियुक्त आसन तथा विविक्त स्थान में शयन अकेला ही करे एवं धर्मध्यान से युक्त (समाहित) होकर रहे ।

व्याख्या

योग्य मुनि को एकाकी चर्या से लाभ

इस गाथा में साधुजीवन की मस्ती और सच्चे आनन्द से लाभ उठाने का सर्वोत्तम उपाय और उसके लिए योग्यता प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है । पिछली गाथा में गृहस्थों के संसर्ग से एवं उनके द्वारा प्राप्त मान-सम्मान से उत्पन्न गर्व से दूर रहने का उपदेश दिया गया था । संसर्ग और गर्व इन दो साधनाविघ्नों को साधु तभी मिटा सकता है, जब इन विघ्नों के कारणों से दूर रहे । साधना में इन विघ्नों का सबसे बड़ा कारण है समूह में रहना, समूह के साथ विचरण करना, सामूहिक रूप से आसन, शयन एवं स्थान का उपयोग करना । क्योंकि जब साधक समूह के साथ रहेगा तो उनकी नीति-रीति के अनुसार उसे चलना पड़ेगा, उसमें गृहस्थों का सम्पर्क भी अधिक होगा और साधु को वे सम्मान, प्रतिष्ठा तथा सत्कार भी देंगे, उत्तम से उत्तम सुख-सुविधाएँ और साधन (जो कि मुनि के लिए कल्पनीय होंगे) देंगे । उस अवसर पर उक्त मुनि का मन संसर्गजनित दोषों एवं सत्कार-सम्मानजनित गर्वादि अनिष्टों से दूर रहना अत्यन्त कठिन है । इसी दृष्टि से उक्त दोनों दोषों से दूर रहने हेतु इस गाथा में एकाकी विचरण, आसन, स्थान एवं शयन का निर्देश किया है – '**एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए ।**' अर्थात् भिक्षाशील साधु इन दोनों दोषों से बचने के लिए द्रव्य से एकाकी, दूसरे साधु-श्रावकों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायता लेने में निरपेक्ष, तथा भाव से रागद्वेषादि दोषों से रहित एकमात्र आत्म-भावों या आत्मगुणों में एकाकी स्थित रहकर विचरण करे। अपना स्थान भी स्त्री-पुरुषों की जमघट से दूर ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, विविक्त और शान्त हो। **'अरतिर्जनसंसदि'** (जनसमूह में उसे अरति—अरुचि होनी चाहिए) इस सूत्र को लेकर चले। क्योंकि अधिकांश साधक सम्मान एवं प्रतिष्ठा के भूखे होते हैं, उन्हें भीड़-भड़क्के में आनन्द आता है, जनता का जमघट अधिक हो, वहीं वे अपना आसन जमाते हैं, वहीं डेरा डालते हैं। परन्तु शास्त्रकार इन सब जनसंसर्गों से होने वाले दोषों से (पूर्वगाथा में) सावधान करके उनसे बचने हेतु एकाकी स्थान में निवास की सलाह देते हैं। जनाकीर्ण स्थान में रहने से और भी अनेक दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। मानलो, साधु एकान्त स्थान में भी रहा, फिर भी अपना आसन और शयन गृहस्थों के बीच रखेगा, तो उसे अपने कायोत्सर्ग, धर्मध्यान, स्वाध्याय एवं साधना में अनेकों विक्षेप पड़ेंगे, उसे उनके झमेले से अवकाश ही नहीं मिल पाएगा, उक्त साधु को सांसारिक लोग अपने लौकिक स्वार्थ के लिए घेरे रहेंगे। इसी प्रकार अनेक साधुओं के साथ निवास, शयन और आसन रखेगा, तो भी उसकी साधना में कई विघ्न होने की सम्भावना रहेगी। वह निश्चिन्त नहीं रह सकेगा। जब उन साथी साधुओं से वह सहयोग लेगा तो बदले में उसे अनेक प्रतिकर्त्तव्यों का निर्वाह भी करना होगा, उनके सुख-दुःख की चिन्ता भी करनी होगी। फिर भिन्न-भिन्न रुचि वाले साधुओं में विभिन्न महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, वे उक्त साधु को भी उधर ही झुकाना चाहेंगे, इस प्रकार जिन संसर्गज दोषों से वह बचना चाहता है, बच नहीं सकेगा। इसलिए साधु को एकाकी विचरण, एकान्त एकाकी स्थान, आसन एवं शयन की शास्त्रकार ने सलाह दी। और साथ ही यह भी कहा कि **'एगे समाहिए सिया'** वह विचरण, स्थान, शयनासनादि में एकाकी होकर समाधिस्थ हो, समाधि में रहे। समाधि और असमाधि के अनेक कारण दशाश्रुतस्कन्ध में बताए हैं। संक्षेप में असमाधि के शास्त्रोक्त २० स्थानों से बिलकुल दूर रहे, तथा श्रुत-विनय-आचार और तप, इन चार प्रकार की समाधि में स्थित रहे। एकाकी विचरण का उद्देश्य स्वच्छन्द और स्वैराचारी होना नहीं है। यदि एकलविहारी होकर वह अपने आचरण से शिथिल हो गया, एक संघ या स्थान को छोड़कर अपना नया चौका जमा लिया, वहाँ जनता की भीड़ लगने लगी तो बिल्ली को निकालकर ऊँट को घुसाने के समान होगा, संसर्गज दोषों से एक जगह बचकर दूसरी जगह उनसे भी बढ़कर स्वेच्छाचार एवं मायाचार तथा नवीन संसर्गजनित दोषों में वह साधक पड़ जाएगा। इसलिए शास्त्रकार का आशय यह है कि एकाकी विचरण, शयन, आसन एवं स्थान का सेवन करने वाला साधु धर्मध्यान में लीन रहे तथा समाधिस्थ रहे, असमाधि के कारणों से सर्वथा दूर रहे। न नया चौका जमाए, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकसम्पर्क करे और न ही राग-द्वेषादि दोषों को उत्पन्न करने वाले अनुष्ठान करे। साथ ही एकाकी विचरण आदि के साथ शास्त्रकार ने कई शर्तें भी रखी हैं— '**भिक्खू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो।**' वह एकाकी विचरण आदि का प्रयोग करने वाला साधु अपनी भिक्षाचर्या न छोड़े, भिक्षा अवश्य करे, किन्तु दूसरों से सेवा या सहायता न ले। उपधानवीर्य हो—यानी तपश्चर्या में अपनी भरसक शक्ति लगाए। वह आहारपानी का गुलाम या शरीर या इन्द्रियों का गुलाम न रहे, यथालाभ सन्तोष की वृत्ति रखे, अधिकांश समय तपश्चर्या में व्यतीत करे। तथा वचनगुप्ति से रहे अर्थात् सम्भव हो तो मौन रखे। अधिक भाषण-सम्भाषण करने से फिर वही संसर्गजनित दोष आ धमकेंगे। भिक्षा आदि के समय बोलने की आवश्यकता हो तो बहुत नपा-तुला संयमयुक्त भाषा में बोले। तथा चौथी शर्त है—वह अध्यात्मसंवृत हो। अर्थात् अपनी आत्मा में ही लीन रहे, आत्मबहिर्भूत विषयों, कषायों, मोहमाया, रागद्वेष आदि विकारों से दूर रहकर आत्मस्वभाव में या आत्मगुणों में अपने को ओतप्रोत कर दे, अथवा अध्यात्मसंवृत का अर्थ यह भी है कि मन को बहिर्मुखी होने से रोककर आस्रवों से रोककर संवर में लगाए, मन को गुप्त रखे। एकाकी चर्या के साथ इतनी कड़ी शर्तें पालन करने की हिदायत शास्त्रकार ने दी है, उसे अवश्य ध्यान में रखे।[1]

मूल पाठ

णो पीहे ण याव पंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए।
पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ण समुच्छे, णो संथरे तणं ॥१३॥

संस्कृत छाया

नो पिदध्यान्न यावत् प्रगुणयेद् द्वारं शून्यगृहस्य संयतः।
पृष्टो नोदाहरेद् वाचं, न सम्मूर्च्छेन् (समुच्छिद्यात्) नो संस्तरेत्तृणम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**संजए**) साधु (**सुन्नघरस्स**) सूने घर का (**दारं**) द्वार (**णो पीहे**) बन्द न करे, (**ण याव पंगुणे**) और न ही बार बार हिलाए या खोले। (**पुट्ठे**) किसी के द्वारा कुछ पूछे जाने पर (**ण उदाहरे**) बोले नहीं। (**ण समुच्छे**) अपने शरीर, इन्द्रिय, या मकान आदि में मूर्च्छित न हो, अथवा बहुत दिनों से सूना पड़े होने से उसमें अनेक जीवों की उत्पत्ति होने से विराधना की सम्भावना के कारण उसका कूड़ा-कर्कट झाड़-बुहार कर निकाले नहीं, प्रमार्जन न करे। (**णो संथरे तणं**) उस मकान में तृण आदि का संस्तारक (बिछौना) भी न बिछाए।

---

१. बारहवीं और तेरहवीं गाथा जिनकल्पित आचार से सम्बन्धित प्रतीत होती है। सूत्रकृतांग के वृत्तिकार श्रीशीलांकाचार्य का भी यही अभिमत है। —**सम्पादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

अहिंसामहाव्रती साधु शून्यगृह का द्वार न तो बन्द करे और न ही खोले। किसी के पूछने पर कुछ भी न बोले, तथा उस सूने घर का कूड़ा-कर्कट भी न निकाले और न तृण भी बिछाए।

व्याख्या

शून्यगृह में निवास की साधुमर्यादा

पूर्वोक्त गाथा में एकाकी विचरण तथा एकाकी स्थान, शयन एवं आसन की समाधिवान् साधक लिए प्रेरणा थी, किन्तु इन सबके साथ जो कड़ी शर्तें रखी गयी थीं, उनके सहित इस उपदेश के अनुसार आचरण करने पर एकान्त स्थान में एकाकी निवास, आसन, शयन आदि की क्या मर्यादा होगी ? इसी के सम्बन्ध में शास्त्रकार इस गाथा में कहते हैं—'**णो छादे ..... णो संथरे तणं।**'

आशय यह है कि कदाचित् साधु एकान्त एकाकी स्थान, आसन या शयन आदि की दृष्टि से किसी सूने (जिस मकान में कोई भी व्यक्ति न रहता हो, कोई पशु आदि वहाँ न रहते हों, ऐसे जनशून्य) मकान में उसके मालिक या अधिकारी अथवा शक्रेन्द्र की अनुमति (आज्ञा) लेकर रहना चाहे, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि की दृष्टि से आसन या शयन जमाना चाहे तो वह निम्नोक्त मर्यादाओं का अहिंसा की दृष्टि से पालन करे। कदाचित् सर्दी या वर्षा के कारण उसे उक्त सूने मकान का दरवाजा (खिड़की या कपाट) बन्द करने की इच्छा हो तो उसे रोके, यानी दरवाजा बन्द न करे, अगर दरवाजा बन्द हो और गर्मी आदि के कारण साधु उसे खोलना चाहे तो न खोले, न उसे हिलाए या बार-बार धक्का दे। द्वार खोलने और बन्द करने का निषेध इसलिए किया गया है कि वर्षों या काफी अर्से से जो मकान सूना पड़ा रहता है, उसमें जाले जम जाते हैं, मकड़ी आदि कई जीव आकर वहाँ बसेरा कर लेते हैं, चिड़िया, कबूतर आदि अपना घोंसला बना लेते हैं, अन्य कई कीड़े, सर्प, बिच्छू आदि जन्तु भी वहाँ अपना डेरा जमा लेते हैं। ऐसी स्थिति में साधु यदि उस जीवों से आकीर्ण मकान के द्वार को बन्द करने खोलने या हिलाने जाएगा, तो वहाँ बैठे हुए बहुत-से जीवों की विराधना (हिंसा) होने की सम्भावना है। कदाचित् किसी जहरीले जीव को आघात पहुँचे तो वह उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उस साधु पर आक्रमण कर बैठे या उसे काट खाए तो अपने जीवन की तथा संयमी जीवन की विराधना होनी सम्भव है। इस दृष्टि से साधु उक्त परीषह (सर्दी-गर्मी-वर्षा आदि) को सहन कर ले किन्तु अहिंसाधर्म के पालन की दृष्टि से द्वार न बन्द करे, न खोले। सूने घर में साधु को कायोत्सर्ग में खड़े या बैठे देखकर बहुत-से लोग सन्देहवश उसे चोर, डाकू, लुटेरा, गुण्डा या व्यभिचारी समझ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठते हैं और उससे ऊटपटाँग प्रश्न पूछने लगते हैं, उस समय साधु क्या कहे, क्या न कहे ? इस सम्बन्ध में तो शास्त्रकार ने तो स्पष्ट कहा है—'**पुट्ठे ण उदाहरे वयं**।' अर्थात् किसी के द्वारा कुछ पूछे जाने पर बोले नहीं। किन्तु बिलकुल न बोलने पर कदाचित् लोग कुपित होकर उसे मारें, पीटें, सताएँ, उस समय समभाव से सहन करने की शक्ति न हो तो क्या करे ? इसी बात को दृष्टिगत रखकर वृत्तिकार जिनकल्पिक साधु के लिए तो बिलकुल न बोलने को उचित कहते हैं, किन्तु स्थविरकल्पिक साधु के लिए वे कहते हैं—'**तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद् धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेन्न ब्रूयात्**'—अर्थात् वहाँ या अन्यत्र स्थित साधु से यदि कोई व्यक्ति धर्म आदि के विषय में पूछे या परिचय अथवा मार्ग पूछे तो सावद्य (पापयुक्त) वचन न बोले। '**आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्**।'—किन्तु अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक आदि साधु हो तो वह निरवद्य वचन भी न बोले, अर्थात् बिलकुल न बोले।

उस सूने मकान में कूड़ा-कर्कट या मलबा पड़ा हो, घास का ढेर पड़ा हो या और कई चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी हों तो क्या साधु को उस मकान की सफाई करनी चाहिए ? क्या रजोहरण से उसका प्रमार्जन करना चाहिए या अस्त-व्यस्त पड़ी हुई चीजों को उठाकर एक जगह तरतीब से जमा देना चाहिए या क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**ण समुच्छे, णो संथरे तणं**।' अर्थात्—साधु उस सूने मकान को न तो (रजोहरण आदि से) झाड़े-बुहारे और न किन्हीं अस्त-व्यस्त पड़ी चीजों को उठाकर एकत्रित करे, न ही वहाँ तृण आदि का संथारा (बिछौना) बिछाए। इस निषेध का कारण यह है कि साधु यदि वहाँ सफाई करने लगेगा तो वर्षों से बसेरा किये हुए जीवों का सफाया होने की सम्भावना है, अस्त-व्यस्त पड़ी हुई चीजों में या घास आदि में भी बहुत-से जीव-जन्तुओं के होने की सम्भावना है, इसलिए अहिंसाधर्मी साधु न सफाई करे, न घास का संस्तारक बिछाए। घास के संस्तारक बिछाने का निषेध किया गया है, तो क्या कंबल या अन्य आसन वहाँ बिछा लेने में क्या आपत्ति है ? जिनकल्पिक साधु निर्वस्त्र रहते हैं, इसलिए वे काष्ठपट्ट या घास आदि के सिवाय और किसी चीज का संस्तारक नहीं कर सकते। शास्त्रकार यहाँ जिनकल्पिक दृष्टि से ही तृणसंस्तारक बिछाने का निषेध करते हैं। इसलिए इस गाथा का यदि स्थविरकल्पिकपरक अर्थ करते हैं तो यही हो सकता है कि घास ही क्या, किसी भी चीज का बिछौना (शयनासन) साधु वहाँ नहीं करे। वृत्तिकार कहते हैं—'कोई आभिग्रहिक साधु अपने शयन के निमित्त तृणशय्या भी न बिछाए, फिर कम्बल आदि की शय्या की तो बात ही क्या है ?'[1]

---

१. 'नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत्, तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात् किं पुनः कम्बलादिना ?' —शीलांकाचार्यकृत वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जत्थऽत्थमिए अणाउले समविसमाइं मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवावि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥१४॥

संस्कृत छाया

यत्राऽस्तमितः अनाकुलः समविषमाणि मुनिरधिसहेत ।
चरका अथवाऽपि भैरवाः, अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**मुणी**) धर्माचरणपरायण साधु (**जत्थ**) जहाँ (**अत्थमिए**) सूर्य अस्त हो, वहीं (**अणाउले**) अनाकुल—क्षोभरहित होकर रह जाए। तथा (**समविसमाइं**) अनुकूल या प्रतिकूल आसन, शयन, स्थान आदि का परीषह (**अहियासए**) सहन करे। (**चरगा**) यदि वहाँ मच्छर, डांस आदि हों, (**अदुवावि भेरवा**) अथवा भयंकर उपद्रवी प्राणी हों तो भी (**अदुवा**) अथवा (**तत्थ**) वहाँ (**सरीसिवा सिया**) साँप आदि जन्तु हों तो भी वह वहीं रहे।

भावार्थ

मुनिधर्मपालक साधु जहाँ सूर्य अस्त हो जाय, वहीं व्याकुल हुए बिना रह जाए। वहाँ जो भी अनुकूल या प्रतिकूल स्थान, शयन, आसन आदि का परीषह उपस्थित हो, उसे समभावपूर्वक सहन करे। यदि वहाँ उड़ने वाले मच्छर आदि जन्तु हों या भयंकर उपद्रवी प्राणी हों, अथवा वहाँ साँप आदि विषैले जीव हों तो भी (एक रातभर के लिए तो) वहीं रहे।

व्याख्या

जहाँ सूर्य अस्त, वहीं साधु का निवास

साधु विहरणशील होता है। वह बिना किसी शरीरादि कारण के एक जगह जमकर नहीं रह सकता। विहार करते-करते रास्ते में जहाँ भी सूर्य अस्त हो जाय, वहीं ठहर जाना चाहिए। प्रश्न हो सकता है, ऐसा नियम क्यों? सूर्यास्त हो जाने के बाद भी जहाँ तक कोई बस्ती या गाँव न आ जाए, वहाँ तक चले तो क्या आपत्ति है? जैनागम इसका यह समाधान देते हैं कि अगर साधु रात्रि को चलेगा तो अँधेरे में साँप, बिच्छू या जंगली जानवर नहीं दिखाई देंगे, अन्य छोटे-छोटे कीड़े आदि दृष्टिगोचर नहीं होंगे, ऐसी स्थिति में वे जीव उसके पैरों के नीचे कुचले जाने सम्भव हैं, उनका स्पर्श होते ही साँप आदि उसे काट भी सकते हैं, सिंह, चीते, व्याघ्र, भेड़िये आदि हिंस्र जीव उस पर आक्रमण भी कर सकते हैं, चोर आदि भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन पर हमला कर सकते हैं। अथवा चोर, डाकू आदि होने के सन्देह में कोई राजकर्मचारी उसे गिरफ्तार करके हैरान भी कर सकते हैं। इस प्रकार रात के अँधेरे में चलते रहने से अन्य जीवों की विराधना के साथ-साथ आत्मविराधना भी हो सकती है। इसी अहिंसादृष्टि के कारण रात्रिविहार साधु के लिए निषिद्ध किया गया है।

दूसरा प्रश्न होता है—सूर्य अस्त होते-होते साधु ऐसी जगह पहुँच गया, जो बड़ी ऊबड़-खाबड़ है, भयानक जंगल चारों ओर है, अथवा वहाँ मच्छरों आदि का उपद्रव है या वहाँ अच्छी तरह देखभाल करने पर भी रात्रि में चींटे या अन्य जन्तु निकल आएँ, ऐसी स्थिति में साधु क्या करे? कहाँ जाए? या साधु को जंगल में देखकर सरकारी आदमी तंग करें, अथवा कोई जंगली जानवर आकर उपद्रव करे, या कोई उस स्थान का निवासी व्यन्तरदेव आकर साधु को हैरान करे, तो वह रात्रि में अन्यत्र जाए या नहीं? शास्त्रकार इसका मुनिधर्ममर्यादा की दृष्टि से समाधान करते हुए कहते हैं—"**जत्थ अत्थमिए अणाउले**"... ..... **तत्थ सरीसिवा सिया।**" आशय यह है कि चाहे वहाँ स्थान ऊबड़-खाबड़ हो, अनुकूल या प्रतिकूल सर्दी, गर्मी, वर्षा, आँधी तथा अन्य परीषह उपस्थित हों, वहाँ मच्छर आदि भी बहुत हों, अथवा विकराल हिंस्र जन्तुओं का उपद्रव हो, या साँप, बिच्छू आदि जहरीले जन्तु भी निकल आएँ, सूर्य अस्त होने के बाद किसी भी हालत में साधु अन्यत्र न जाए, उन जीवों पर राग-द्वेष किये बिना समभावपूर्वक सहन करे। समभावपूर्वक परीषह सहन करने से कर्मों की निर्जरा ही होगी। यदि मन में विषमता या व्याकुलता लाकर हायतोबा मचाई या कष्ट सहने में कायर बनकर उन जीवों के प्रति द्वेष किया या रात में वहाँ से अन्यत्र चले गये तो कर्मबन्धन होगा, हिंसा का दोष भी होगा तथा कर्मनिर्जरा के अवसर से वह वंचित हो जाएगा। हाँ, वह दिन रहते किसी अन्य स्थान का चुनाव कर सकता है, किन्तु रात हो जाने के बाद तो वहीं रहकर अनाकुलतापूर्वक रात बितानी चाहिए।

मूल पाठ

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया।
लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥

संस्कृत छाया

तैरश्चान् मानुषांश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत।
रोमादिकमपि न हर्षयेत्, शून्यागारगतो महामुनिः ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**सुन्नागारगओ**) शून्यगृह में स्थित (पहुँचा हुआ), (**महामुणी**) महामुनि (**तिरिया**) तिर्यञ्च सम्बन्धी, (**मणुया**) मनुष्य-सम्बन्धी, (**दिव्वगा य**) और देवकृत (**तिविहा उवसग्गा**) इन तीनों प्रकार के उपसर्गों को (**अहियासिया**) सहन करे। (**लोमादीयं ण हारिसे**) भय से रोमांच (लोमहर्षण) आदि भी न करे।

भावार्थ

किसी शून्यगृह में कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करने के लिए पहुँचा हुआ धीर महामुनि,[1] वहाँ तिर्यंचकृत, मनुष्यकृत या देवकृत कोई भी प्रतिकूल या अनुकूल उपसर्ग आएँ उन्हें समभाव से सहन करे, यहाँ तक कि उन उपसर्गों के समय शरीर के रोम आदि में भी कम्पन न होने दे।

व्याख्या

शून्यागारस्थ मुनि त्रिविध उपसर्ग सहन करे

एकान्त एकाकी शयन, आसन, स्थान आदि की दृष्टि से स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि के निमित्त यदि साधु किसी सूने घर में पहुँच जाता है, वहाँ रात्रि में उस पर किसी तिर्यंच (शेर, चीते, भालू, भेड़िये आदि, या सर्पादि) का उपसर्ग (उपद्रव) हो, किसी खूँखार, चोर, भील, लुटेरे, व्यभिचारी आदि मनुष्य का अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग हो, अथवा कोई व्यन्तर आदि देव-देवी उपसर्ग करे तो महामुनि को क्या करना चाहिए? क्या उन प्राणियों पर रोष, द्वेष, प्रहार, उच्चाटन आदि क्रिया करनी चाहिए या जोर-जोर से चिल्लाकर या लोगों को आवाज देकर उनसे सहायता के लिए कहना चाहिए? शास्त्रकार कहते हैं—'**तिरिया**.....**अहियासिया, लोमादीयं ण हारिसे**।' आशय यह है—उपसर्ग चाहे तिर्यञ्च, मनुष्य या देव द्वारा कृत हो, उन पर किसी प्रकार का रोष, द्वेष, प्रहार, उच्चाटनादि किये बिना समभावपूर्वक सहना चाहिए। दूसरों को सहायता के लिए बुलाना तो दूर रहा, शरीर के किसी रोम में भी भय का संचार नहीं होना चाहिए, न कोई अंगविकार होना चाहिए।

मूल पाठ

णो अभिकंखेज्ज जीवियं णोऽवि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

---

१. 'महामुणी' से यहाँ जिनकल्पिक मुनि अर्थ सूचित होता है जो वज्रऋषभ-नाराच संहनन से युक्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

नाभिकांक्षेत जीवितं, नाऽपि च पूजनप्रार्थकः स्यात् ।
अभ्यस्ता उपयन्ति भैरवाः शून्यागारगतस्य भिक्षोः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जीवियं**) जीवन की (**णो अभिकंखेज्ज**) आकांक्षा न करे, (**नोऽवि य**) और न ही (**पूयणपत्थए**) पूजा-सत्कार का प्रार्थी —अभिलाषी (**सिया**) बने । (**सुन्नागारगयस्स**) शून्यगृह में गये (रहे) हुए (**भिक्खुणो**) साधु को (**भेरवा**) भयंकर प्राणियों के उपसर्ग—उपद्रव (**अब्भत्थं**) अभ्यस्त—परिचित (**उविंति**) हो जाते हैं ।

भावार्थ

पूर्वोक्त उपसर्गों से पीड़ित होने पर साधु (जिनकल्पिक महामुनि) जीवन की आकांक्षा न करे और न ही पूजा-सत्कार (मान-बड़ाई) का अभिलाषी (प्रार्थी) हो। इस प्रकार पूजा-प्रतिष्ठा और जीविताकांक्षा से निरपेक्ष होकर शून्यगृह में जो साधु रहता है, उसे भयानक प्राणियों के द्वारा कृत उपसर्गों को सहने का अभ्यास हो जाता है ।

व्याख्या

जीवन और पूजा-प्रतिष्ठा की आकांक्षा से दूर ही अभ्यस्त

पूर्वगाथा में शून्यगृह में उपस्थित जिनकल्पिक महामुनि द्वारा त्रिविध उपसर्गों को रोमहर्षण आदि विकारों से रहित होकर समभाव से सहन करने का निर्देश है । इस गाथा में उसी के सन्दर्भ में कहा गया है कि ऐसे त्रिविध भयंकर उपसर्गों को सहने में अभ्यस्त कैसे और कौन हो सकता है ? इसके लिए दो कड़ी शर्तें रखी गयी हैं—पहली शर्त यह है कि वह जीवन की बिलकुल परवाह न करे, और दूसरी शर्त है—पूजा-प्रतिष्ठा—मान-सम्मान की कामना न करे । इन दोनों कठोर शर्तों का पूर्णतः पालन करना सामान्य साधु के वश की बात नहीं है । वह तो उपसर्गों के कल्पित भय से ही घबराकर विचलित हो सकता है । इसलिए इन गाथाओं में जो बातें कही गयी हैं, वे जिनकल्पी मुनि से सम्बन्धित हैं । अतः जिनकल्पिक मुनि जब इन दोनों कठोर शर्तों में उत्तीर्ण हो जाएगा, तब यदि वह शून्यगृह, उपलक्षण से श्मशान आदि भयानक स्थानों में कायोत्सर्ग आदि के निमित्त जाकर निवास करेगा तो वह बिलकुल घबराएगा नहीं, वह उन भयानक उपसर्गों से अभ्यस्त हो जाएगा । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अब्भत्थमुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ।**' आशय यह है कि पूर्वोक्त दो कड़ी शर्तों का पालन करने वाला महामुनि जब बार-बार शून्यगृह, श्मशान आदि एकान्त स्थलों में जाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग के निमित्त रहेगा, तब उसे उपसर्गकर्त्ता भूत, पिशाच आदि भयंकर देव, विकराल सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच या भयंकर क्रूर मनुष्य भी परम आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेंगे तथा शीत-उष्ण आदि उपद्रव भी सुखपूर्वक सह्य हो जाएँगे। इसमें अभ्यास और विशिष्ट वैराग्यमय चिन्तन इन दो का ही प्रभाव है।

मूल पाठ

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दंसए ॥१७॥

संस्कृत छाया

उपनीततरस्य त्रायिणः, भजमानस्य विविक्तमासनम्।
सामायिकमाहुस्तस्य यद् य आत्मानं भये न दर्शयेत् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**उवणीयतरस्स**) जिसने अपने आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुँचा दिया है, (**ताइणो**) तथा जो स्व-पर का उपकार करता है अथवा षड्जीवनिकाय की रक्षा करता है, (**विविक्कमासणं**) स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित एकान्त शान्त स्थान का जो (**भयमाणस्स**) सेवन करता है, (**तस्स**) उस मुनि का (**जं सामाइयमाहु**) सर्वज्ञों ने जो सामायिकचारित्र कहा है, वह इसलिए कि (**जो अप्पाणं**) वह अपने (आत्मा) में (**भए ण दंसए**) भय प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।

भावार्थ

जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि में अतिशयरूप से स्थापित किया है, तथा जो स्वपर का उपकारी या प्राणिमात्र का रक्षक है, और जो स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित स्थान का सेवन करता है, ऐसे मुनि का सर्वज्ञों ने जो सामायिक चारित्र कहा है, वह इसलिए कि मुनि उपसर्गों के समय अपनी आत्मा को भय में स्थापित न करे।

व्याख्या

विविक्तासनी निर्भय ही सामायिकचारित्री है

जो मुनि जनसंसर्ग से दूर रहकर अपनी साधना करना चाहता है, उसे अपना निवासस्थान एकान्त और स्त्री-पशु-नपुंसक से वर्जित शान्त चुनना पड़ता है। परन्तु ऐसे स्थान में अनेक प्रकार के भयस्थल (खतरे) होते हैं, उन खतरों का वही साधक मुकाबला कर सकता है, जो अपनी आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र को अतिशयरूप से रमा लेता है, तथा जो प्राणिमात्र का रक्षक एवं उपकारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नत्रय के प्रकाश में वह उन भयों को भय ही नहीं मानेगा। जब आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश से दूर रहती है, तब वहां भय, क्रोध, काम आदि के कीटाणु आकर अड्डा जमा लेते हैं, परन्तु जब आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश को अपने अत्यन्त निकट रखती है तो भय आदि के कीटाणु आ नहीं सकते, ऐसे निर्भीक और विविक्तशयनासन के सेवन करने वाले मुनि के चारित्र को ही सर्वज्ञों ने सामायिक कहा है। शास्त्रकार इसी बात को द्योतित करते हैं—**'उवणीयतरस्स·····अप्पाणं भए ण दंसए।'**

उवणीयतरस्स—उपनीततर का अर्थ है—जिसने आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र (रत्नत्रय) के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। क्योंकि जिसकी आत्मा ज्ञानादि रत्नत्रय के प्रकाश के अतिनिकट होती है, वही उपसर्गों एवं परीषहों के समय निर्भय एवं निश्चल रह सकता है, वही जनशून्य स्थानों में रहने से नहीं कतराता।

अप्पाणं भए ण दंसए—इसका रहस्यार्थ यह है कि जो ज्ञानादि रत्नत्रय के प्रकाश को आत्मा से निकटतम कर लेता है, वह अपनी आत्मा को भय नहीं दिखाता। जिसकी आत्मा में रत्नत्रय का प्रकाश नहीं होता या दूर होता है, वह अपनी आत्मा (दिल-दिमाग) को भय का प्रदर्शन करके—अनेक भयों के विकल्पों से भरकर भय दिखाता रहता है।

मूल पाठ

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु राईहि, असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

संस्कृत छाया

उष्णोदकतप्तभोजिनो धर्मस्थितस्य मुनेर्ह्रीमतः।
संसर्गोऽसाधू राजभिरसमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**उसिणोदगतत्तभोइणो**) बिना ठण्डा किये गर्म जल पीने वाले (**धम्मट्ठियस्स**) श्रुत और चारित्रधर्म में स्थित, (**हीमतो**) असंयम में प्रवृत्ति से लज्जित होने वाले, (**मुणिस्स**) मुनि को (**राईहि**) राजा आदि से (**संसग्गि**) संसर्ग करना (**असाहु**) बुरा है। (**तहागयस्स वि**) वह शास्त्रोक्त आचार पालने वाले मुनि का भी (**असमाही उ**) समाधिभंग करता है।

भावार्थ

उष्ण किये हुए जल को गर्म ही पीने वाले, श्रुत-चारित्रधर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थित असंयम से लज्जित होने वाले मुनि को राजा आदि के साथ संसर्ग करना बुरा है, क्योंकि यह शास्त्रोक्त आचार पालन करने वाले मुनि के लिए असमाधि का कारण है।

व्याख्या

राजादि से संसर्ग : असमाधिकारक

इस गाथा में आचारवान साधु के लिए राजा आदि सत्ताधारियों के साथ संसर्ग असमाधि का कारण बताया है। वह इसलिए कि राजा आदि सत्ताधीशों के सम्पर्क में अधिक आने से दोनों प्रकार से साधु के संयमी जीवन का नाश है। राजा आदि अगर तुष्ट (प्रसन्न) हों तो साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि करते हैं, और अगर वे रुष्ट हो जायँ तो साधु को अपने राज्य से निष्कासित कर देते हैं, उसके वस्त्रपात्रादि संयमपालन में सहायक उपकरण छीन लेते हैं, यहाँ तक कि प्राणहरण तक कर लेते हैं। इसी दृष्टि से शास्त्रकार राजा आदि सत्ताधीशों से संसर्ग को असमाधि का कारण बताते हैं—'**संसग्गि ... असमाही उ तहागयस्स वि।**' इस गाथा के प्रारम्भ में साधु के जो तीन विशेषण दिये हैं, वे साध्वाचारपालन की दृष्टि से हैं। पहला विशेषण है—'**उण्णोदकतप्तभोजी**' अर्थात् गर्म किये हुए (तीन उबाल आए हुए) पानी को बिना ठण्डा किये हुए गर्म का गर्म ही पीने वाला। दूसरा विशेषण है—'**धम्मट्ठियस्स**' श्रुत-चारित्र-धर्म में स्थित और तीसरा विशेषण है—'**हीमतो**'—असंयम कार्य करने से लज्जित होने वाला। ये तीनों विशेषण साधुजीवन के आचार के सूचक हैं। जो साधु इतना आचारवान है, वह राजा आदि से संसर्ग करके अपने आचार से भ्रष्ट क्यों होना चाहेगा? असंयम और असमाधिदोष में जानबूझकर क्यों पड़ेगा?

मूल पाठ

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायती बहु अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

संस्कृत छाया

अधिकरणकरस्य भिक्षोः वदतः प्रसह्य दारुणम्।
अर्थः परिहीयते बहु अधिकरणं न कुर्यात् पण्डितः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**अहिगरणकडस्स भिक्खुणो**) जो साधु कलह करता है (**पसज्झ**) और जोर-शोर से या बुरी तरह से (**दारुणं**) भयंकर कठोर वाक्य (**वयमाणस्स**) बोलता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका (अट्ठे) संयम अथवा मोक्ष (बहु) अत्यन्त (परिहायती) नष्ट हो जाता है। इसलिए (पंडिए) सद्-असद् विवेकशील साधु (अहिगरणं) अधिकरण --कलह (न करेज्ज) न करे।

भावार्थ

जो साधु कलहकारी है, जोर-शोर से या बुरी तरह से भयंकर कठोर वचन बोलता है, उसकी मोक्ष-साधना या संयम अत्यन्त नष्ट हो जाता है। इसलिए संयमशील साधु को कलह नहीं करनी चाहिए।

व्याख्या

कलहकारी साधु संयम का नाशक

इस गाथा में संयमी साधु के लिए कलह बहुत बड़े अनर्थ को पैदा करने वाला बताया है। अधिकरण का अर्थ है—बात को बढ़ा-चढ़ाकर अधिकाधिक तूल देना—बतंगड़ बनाना और विवाद खड़ा करके कलह करना। जिसका अधिकरण करने का स्वभाव है, उसे 'अधिकरणकर' कहते हैं। वास्तव में जो साधु रातदिन कलह करता है अथवा ऐसी कठोर तानेभरी भाषा बोलता है, जिससे कलह पैदा हो, वह शुभध्यान की अपेक्षा रातदिन रौद्रध्यान में डूबा रहता है, उसकी प्रकृति छिद्रान्वेषी बन जाती है। वह जिसके साथ कलह करता है, उसकी निन्दा, चुगली, बदनामी तथा उससे ईर्ष्या, द्वेष, रोष करने लगता है। इस प्रकार कलह के स्वभाव के कारण उक्त साधु में अनेक दोष-पाप घुस जाते हैं, उसका मोक्ष अथवा मोक्ष का कारण संयम खत्म हो जाता है। जो साधु कलह करता है वह दूसरों के चित्त को व्यथित करने वाली तानेभरी तीखी वाणी बोलता है। उसकी वाणी अन्य लोगों के मर्म को छेद देती है। ऐसा साधु बहुत समय तक किये कठिन तप के द्वारा उपार्जित पुण्य को क्षय कर डालता है। कहा भी है—

जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमाइएहिं ।
मा हु तयं कलहंता छड्डे अहसणपत्तेहिं ।।

अर्थात्—चिरकाल तक कठोर तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य आदि से जो पुण्य अर्जन किया है, उसे कलह करके नष्ट मत करो, ऐसा पण्डितजन उपदेश देते हैं। अतः सद्-असद् विवेकशील विद्वान् साधु जरा-सा भी कलह न करे। श्रमणधर्म का सार उपशम है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल पाठ

सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती ।।२०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

शीतोदकप्रतिजुगुप्सकस्य अप्रतिज्ञस्य लवावसर्पिणः ।
सामायिकमाहुस्तस्य यत्, यो गृह्यमत्रेऽशनं न भुंक्ते ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**सीओदगपडिदुगुंछिणो**) जो साधु ठण्डे (कच्चे) पानी से नफरत करता तथा (**अपडिण्णस्स**) किसी प्रकार की प्रतिज्ञा – मन में किसी प्रकार की सांसारिक कामना का दुःसंकल्प—निदान नहीं करता, एवं (**लवावसप्पिणो**) लेशमात्र भी कर्म (कर्म-बन्धन) से जो दूर—परे रहता है, (**जो गिहिमत्ते ऽसणं न भुंजती**) तथा जो साधु गृहस्थ के पात्र (बर्तन) में भोजन नहीं करता, (**तस्स**) उस साधु के (**सामाइयमाहु जं**) समभाव को सर्वज्ञों ने सामायिकचारित्र कहा है ।

भावार्थ

जो साधु ठण्डे कच्चे जल से बिलकुल नफरत करता है, जो किसी प्रकार का विषयभोगप्राप्तिजनक निदान नहीं करता तथा लेशभर कर्म-बन्धन से भी दूर भागता है एवं जो साधु गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करता, उसी साधु के समभाव को सर्वज्ञों ने सामायिकचारित्र कहा है ।

व्याख्या

सामायिकचारित्री : साधुजीवन की आचारमर्यादा में दृढ़

जो साधु अप्रासुक जल के सेवन से घृणा करता है, प्रतिज्ञा यानी निदान नहीं करता, लेशमात्र भी कर्मबन्धन के कारण से दूर भागता है तथा जो मुनि गृहस्थ के काँसे, ताँबे, चाँदी, सोने या पीतल आदि के बर्तनों में भोजन नहीं करता, ऐसे ही आचारवान् साधु के समभाव को सर्वज्ञों ने सामायिकचारित्र कहा है । यही इस गाथा का आशय है ।

मूल पाठ

ण य संखयमाहु जीवियं तहवि य बालजणो पगब्भइ ।
बाले पावेहिं मिज्जती इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

संस्कृत छाया

न च संस्कार्यमाहुर्जीवितं तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते ।
बालः पापैर्मीयते इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**जीवियं**) प्राणियों का जीवन (**ण य संखयमाहु**) जीवनरहस्यज्ञों ने संस्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने (जोड़ने) योग्य नहीं कहा है, (**तह वि**) तथापि (**बालजणो**) मूर्खजन (**पगब्भइ**) पाप करने में धृष्टता करता है। (**बाले**) वह अज्ञजन (**पावेहिं**) पापीजनों में (**मिज्जती**) माना जाता है, (**इति संखाय**) यह जानकर (**मुणी**) तत्त्वचिन्तक मुनि (**ण मज्जती**) मद नहीं करता है।

भावार्थ

प्राणियों का टूटा हुआ जीवन फिर जोड़ा नहीं (संस्कृत नहीं किया) जा सकता है, यह जीवनरहस्यज्ञ सर्वज्ञों ने कहा है। तथापि मूढ़जीव पाप करने में धृष्टता करता है। वह अज्ञपुरुष माना जाता है, यह समझकर तत्त्ववेत्ता मुनिवर मद नहीं करता है।

व्याख्या

टूटता जीवन : गर्व किस पर ?

शास्त्रकार ने इस गाथा में मूर्ख लोगों की मूर्खता की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है कि प्राणियों का टूटा हुआ जीवन टूटे हुए डोरे की तरह फिर जोड़ा नहीं जा सकता है। जीवन की इतनी क्षणभंगुरता होते हुए भी मूढ़ मानव ढीठ होकर बेखटके पाप करता रहता है। वह पापकर्म करते हुए जरा भी लज्जित नहीं होता। अज्ञजीव उन कुकृत्यों से उत्पन्न पापों के गज से माप लिया जाता है कि वह पापी है। अथवा धान्य आदि के द्वारा जैसे कोठा भर दिया जाता है, वैसे ही पापों के द्वारा उसके जीवन का घड़ा भर दिया जाता है। यह जानकर पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता मुनि किसी प्रकार का मद नहीं करता। यदि वह यह समझे कि मैं ही धर्मात्मा हूँ, अमुक मनुष्य तो पापी है, मैं ही उच्चक्रियापात्र हूँ, अन्य सब शिथिलाचारी हैं, मैं ही शास्त्रज्ञ हूँ, ये सब मूढ़ हैं—इस प्रकार का गर्व करना पाप है। अल्पतम असंस्कृत जिन्दगी में मानव किस बूते पर अभिमान कर सकता है ? इसलिए मुफ्त में मद के पाप का बोझ क्यों बढ़ाए ?

मूल पाठ

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए ॥२२॥

संस्कृत छाया

छन्दसा प्रलीयन्ते इमाः प्रजाः, बहुमायाः मोहेन प्रावृताः ।
विकटेन प्रलीयते माहनः, शीतोष्णं वचसाऽधिसहेत ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**बहुमाया**) अत्यन्त माया (कपट) करने वाली (**मोहेन पाउडा**) मोह से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आच्छादित —ढकी या घिरी हुई **(इमा पया)** ये सांसारिक प्रजाएँ—(प्राणीगण) **(छंदेण)** अपने स्वच्छन्दाचार के कारण **(पले)** नरक आदि गतियों में जाती हैं, या लीन होती हैं। **(माहणे)** अहिंसामहाव्रती मुनि **(विउडेण)** कपटरहित अनुष्ठान—प्रवृत्ति के द्वारा **(पलिति)** मोक्ष या संयम में लीन होता है; और वह **(वयसा)** मन-वचन-काया से **(सीउण्हं)** शीत और उष्ण को **(अहियासए)** सहन करता है।

भावार्थ

अत्यन्त माया करने वाली मोह के आवरण से आच्छादित ये सांसारिक प्रजाएँ (जीव) अपने स्वेच्छाचार के कारण नरक आदि गतियों में जाती हैं, जाकर लीन होती हैं, किन्तु अहिंसक साधु कपटरहित आचरण के कारण मोक्ष या संयम में लीन होता है; और मन-वचन-काया से शीत एवं उष्ण को सहन करता है।

व्याख्या

मायाचार और स्वेच्छाचार से साधु दूर रहे

इस गाथा में शास्त्रकार साधु को मायाचार और स्वच्छन्दाचार से दूर रहने का उपदेश देते हुए सर्वप्रथम इनके दुष्परिणामों का निरूपण करते हैं—**'छंदेण पले····पाउडा।'** इसका आशय यह है कि इस जगत् में विभिन्न देश-काल में पैदा होने वाले प्रजाजन अपने मनमाने विचार और आचार के कारण तथा गूढ़ मायाचार के कारण, अपनी मान्यता एवं स्वच्छन्द प्रवृत्ति के प्रति आसक्त होकर उन गाढ़ पापकर्मबन्धन के कारण नरक आदि गतियों में जाते हैं।

वास्तव में दुर्गति का कारण उनका स्वच्छन्द विचार और आचार ही है। वे मोहावृतबुद्धि वाले लोग **'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत'** इत्यादि श्रुतिवाक्य को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करके बकरे आदि पशु का वध करना यज्ञ—अभीष्ट कल्याण का साधक मानते हैं। कई लोग धर्म के नाम पर या देवी-देवों के नाम से पशुओं को होमते हैं। वे लोग इस प्रकार का कार्य धृष्टतापूर्वक बेहिचक करते हैं। कई लोग अपनी मनमानी मान्यता से प्रेरित होकर अपनी तथाकथित (संस्था) संघ की रक्षा के नाम पर दासी-दास, धन-धान्य आदि का परिग्रह करते हैं। कोई-कोई भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने और क्रियाकाण्डों का सब्जबाग दिखाकर उन्हें ठगने के लिए शरीर पर बार-बार पानी छींटना, कानों को स्पर्श करना आदि वंचना—मायाप्रधान प्रवृत्ति करते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—

कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किंचित्।
तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि स कुक्कुटं कुर्यात्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—यह लोक (संसार) कपट से सिद्ध (वश) होता है। बिना कपट के संसार में कुछ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए लोकव्यवहार के लिए पिता से भी कपट करना चाहिए।

इस प्रकार स्वच्छन्दाचार और कपटाचार उसके कर्त्ता को नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में ले डूबते हैं। कपट और स्वच्छन्दता के फलस्वरूप वे बार-बार कुगतियों में चक्कर लगाते रहते हैं।

मायाचार और स्वच्छन्दाचार के दुष्परिणामों को बताकर शास्त्रकार कहते हैं—**'वियडेण पलिति···· वयसाऽहियासए।'** आशय यह है कि महान् मुनि इन दुष्परिणामों को जानकर माया एवं स्वच्छन्द से रहित शास्त्रोक्त शुद्ध आचार-विचार के द्वारा मोक्ष या संयम में लीन होते हैं। ऐसे शुभभावों से युक्त मुनि ही समस्त ठण्डे, गर्म या अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों को मन-वचन-काया से समभावपूर्वक सहते हैं।

मूल पाठ

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं ॥२३॥

संस्कृत छाया

कुजयोऽपराजितो यथाऽक्षैः कुशलो हि दीव्यन्।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं नो त्रैतं नो चैव द्वापरम् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**अपराजिए**) कभी पराजित न होने वाला (**कुसलेहिं**) कुशल (**कुजए**) जुआरी (**जहा**) जैसे (**अक्खेहिं दीवयं**) पासों से जुआ खेलता हुआ (**कडमेव गहाय**) कृत नामक चतुर्थ स्थान को ही ग्रहण करता है, (**णो कलिं**) कलि को ग्रहण नहीं करता, (**नो तीयं नो चेव दावरं**) और न तृतीय स्थान को ग्रहण करता है, न द्वितीय स्थान को।

भावार्थ

किसी से पराजित न होने वाला, जुआ खेलने में निपुण जुआरी जैसे जुआ खेलता हुआ सर्वश्रेष्ठ कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, कलि, द्वापर और त्रेता नामक स्थानों को ग्रहण नहीं करता।

व्याख्या

कुशल द्यूतकार द्वारा कृत नामक स्थान-ग्रहण

इस गाथा में चतुर जुआरी से मोक्षमार्गकुशलसाधक की उपमा देकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रकार समझाते हैं—**'कुजए अपराजिए नो चेव डावरं।'** जुआरी को यहाँ 'कुजय' कहा गया है। क्योंकि जुआरी की महान् विजय होने पर भी वह विजय निन्दित होती है, इसलिए उसे 'कुजय' कहते हैं। जुआ खेलने में निपुण होने के कारण जो जुआरी दूसरे जुआरी से जीता नहीं जाता, उसे अपराजित कहा जाता है। यहाँ जुआरी की उपमा देकर यह कहा गया है कि कुशल अपराजेय जुआरी पासा या कौड़ी फेंकता है तो कृत नामक चतुर्थ स्थान को स्वीकार करता है, क्योंकि उससे विजय पाता है, बाकी के कलि, त्रेता, द्वापर नामक प्रथम, तृतीय, द्वितीय स्थानों को वह ग्रहण नहीं करता। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि — ये वैदिक सम्प्रदाय-प्रसिद्ध चार युग माने जाते हैं। कृतयुग को सतयुग कहते हैं, वही सर्वश्रेष्ठ युग माना जाता है। ये चारों युग जैसे अमुक-अमुक अवधि के बाद आते हैं, वैसे ही ये चारों प्रतिदिन क्रमशः आते हैं और अमुक-अमुक घड़ी तक रहते हैं। जुआरी कृतयुग की श्रेष्ठ घड़ी को स्वीकार करके उस घड़ी में जुए का दाँव खेलकर विजय पा लेता है। इन चारों का नामोल्लेख करने के पीछे शास्त्रकार का यही आशय प्रतीत होता है। उपमा एकदेशीय होती है, उसे सर्वांश में ग्रहण नहीं किया जाता। यही कारण है कि कुशल द्यूतकार लोकनिन्दित होते हुए भी उसकी कुशल साधक के साथ एकदेशीय उपमा केवल उसकी निपुणता और चतुरता की दृष्टि से दी गयी है।

अब अगली गाथा में इस उपमा को उपमेय के साथ घटाते हैं—

मूल पाठ

एवं लोगम्मि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥२४॥

संस्कृत छाया

एवं लोके त्रायिणोक्तो यो धर्मोऽनुत्तरः ।
तं गृहाण हितमित्युत्तमं कृतमिव शेषमपहाय पण्डितः ॥२४॥

अन्वयार्थ

(एवं) इसी तरह (**लोगम्मि**) इस लोक में (**ताइणा**) जगत् के त्राता रक्षक सर्वज्ञ के द्वारा (**बुइए**) कथित (**जे**) जो (**अणुत्तरे धम्मे**) सर्वोत्तम धर्म है, (**तं**) उसे (**गिण्ह**) ग्रहण करना चाहिए। (**हियंति उत्तमं**) वही हितकर तथा उत्तम है। (**सेसऽवहाय**) चतुर जुआरी जैसे समस्त स्थानों को छोड़कर (**कडमिव**) कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है।

भावार्थ

इस लोक में जगत् के त्राता सर्वज्ञ प्रभु ने जो क्षमा आदि सर्वोत्तम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशविध श्रमणधर्म अथवा श्रुत-चारित्ररूप धर्म बताया है उसको ही एकान्त हितकारी तथा उत्तम समझकर इसी प्रकार स्वीकार करो, जिस प्रकार कुशल द्यूतकार शेष (तीन) स्थानों को छोड़कर सर्वोत्तम कृत नामक चतुर्थ स्थान को स्वीकार करता है।

व्याख्या

चतुर द्यूतकार की तरह सर्वोत्तम धर्म ग्रहण करो

इस गाथा में पूर्वगाथा में दिये गये उपमान के साथ उपमा (दृष्टान्त) को दार्ष्टान्तिक द्वारा घटाया गया है – जैसे चतुर जुआरी विजयप्राप्ति का साधन होने के कारण सर्वोत्तम स्थान चौक (कृत) को ही ग्रहण करके खेलता है, इसी तरह मनुष्यलोक में सर्वप्राणिरक्षक सर्वज्ञ द्वारा भाषित क्षमा आदि दशविध अथवा श्रुत-चारित्ररूप सर्वोत्तम धर्म को ही एकान्त हित समझकर उसे स्वीकार करो।

निगमन के लिए पुनः उसी दृष्टान्त को बताते हैं—जैसे चतुर जुआरी जुआ खेलते समय एक आदि स्थानों को छोड़कर कृतयुग नामक चतुर्थ स्थान को ही ग्रहण करता है, वैसे ही जिनप्रवचनकुशल साधु भी गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्मों को छोड़कर सर्वज्ञकथित सर्वोत्तम, सर्वमहान्, सर्वहितंकर धर्म को ही स्वीकार करे।

मूल पाठ

उत्तरा मणुयाण आहिया, गामधम्मा (म्म) इह मे अणुस्सुयं।
जंसी विरता समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

संस्कृत छाया

उत्तराः मनुजानामाख्याताः ग्रामधर्मा इह मयाऽनुश्रुतम्।
येभ्यो विरताः समुत्थिताः काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥२५॥

अन्वयार्थ

(**मे**) मैंने (**अणुस्सुयं**) परम्परा से यह सुना है कि (**गामधम्मा**) पाँचों इन्द्रियों के शब्द आदि विषय अथवा मैथुनसेवन (**मणुयाण**) मनुष्यों के लिए (**उत्तरा**) दुर्जेय (**आहिया**) कहे गये हैं। (**जंसी**) जिनसे (**विरता**) निवृत्त तथा (**समुट्ठिया**) संयम में स्थित पुरुष ही (**कासवस्स**) काश्यपगोत्री भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीरस्वामी के (**अणुधम्मचारिणो**) धर्मानुयायी साधक हैं।

भावार्थ

श्रीसुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग के प्रति कहते हैं कि शब्द आदि विषय अथवा मैथुनसेवन मनुष्यों के लिए दुर्जेय कहे हैं, ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैंने परम्परा से सुना है। उन शब्दादि विषयों या मैथुन के सब अंगों से निवृत्त होकर जो संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधक हैं।

व्याख्या

दुर्जेय कामनिवृत्त साधक ही अर्हद्धर्मानुयायी

इस गाथा में श्रीसुधर्मास्वामी (गणधर) जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यों को अपने पूर्वज भगवान् महावीर से परम्परागत सुनी हुई अनुभव की बात कहते हैं—"इस संसार में पंचेन्द्रियविषय अथवा काम (मैथुन) दुर्जेय हैं, ऐसा मैंने परम्परा से सुना है।" गाथा में आए **'उत्तरा'** शब्द का अर्थ यों तो प्रधान होता है, किन्तु लक्षणा से उसका अर्थ दुर्जेय किया गया है, क्योंकि काम संयमी पुरुषों को छोड़कर संसार के प्रायः सभी प्राणियों पर हावी हो जाता है। काम में पाँचों इन्द्रियों के विषयों और मैथुनांगों, सभी का समावेश हो जाता है। जिसके लिए शास्त्रकार ने यहाँ **'गामधम्मा'** शब्द का प्रयोग किया है। यों ग्राम का अर्थ इन्द्रियसमूह और धर्म का अर्थ विषय (स्वभाव) होता है। और इन्द्रियविषय ही काम हैं, इस कारण यही अर्थ सर्वसंगत है कि 'काम दुर्जेय है।'

'इह मे अणुस्सुयं'—यह सब जो पहले कहा है और आगे कहा जाने वाला है वह सब आदितीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों से कहा था। इसके पश्चात् श्रीसुधर्मास्वामी आदि गणधरों से भगवान् महावीरस्वामी ने कहा था, इसलिए गणधर सुधर्मास्वामी जो अपने शिष्यों से कह रहे हैं कि **'इह मे अणुस्सुयं'** ऐसा मैंने कर्णोपकर्ण से सुना है, यह कथन वास्तव में युक्तियुक्त है।

जंसी विरता'''अणुधम्मचारिणो—इस पंक्ति से श्रीसुधर्मास्वामी का तात्पर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यद्यपि काम दुर्जेय है, परन्तु किन आत्माओं के लिए ? जो अपने आत्मधर्म को नहीं जानते-समझते, अथवा जिन्होंने भगवान् महावीर के उत्तमधर्म को नहीं समझा, उन्हीं दुर्बल आत्माओं के लिए काम दुर्जेय है। परन्तु जिन्होंने भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्म को भलीभाँति समझ लिया है, जो संयमपालन के लिए समुद्यत हैं, अपनी आत्मशक्तियों को सर्वोपरि मानकर जो काम-भोगों से सर्वथा विरत हो चुके हैं, उनके (कामविजेता मुनि स्थूलभद्र आदि के) लिए काम-विजय दुष्कर नहीं है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा है—जो इन काम-भोगों से सर्वथा विरत होकर संयमपालन के लिए उद्यत हैं, वे ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्मानुयायी साधक हैं अर्थात् वे ही अर्हद्धर्म का अनुष्ठान करने वाले साधक हैं। तात्पर्य यह है कि जो दुर्जेय समझे जाने वाले ग्रामधर्मों (कामों) से विरत हैं, वे ही अर्हद्धर्म को ग्रहण कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जे एयं चरंति आहियं, नाएणं महया महेसिणा।
ते उट्ठिया ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

संस्कृत छाया

य एनं चरन्त्याख्यातं, ज्ञातेन महता महर्षिणा ।
ते उत्थितास्ते समुत्थिता, अन्योऽन्यं सारयन्ति धर्मतः ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**महया महेसिणा**) महान् महर्षि (**नाएणं**) ज्ञातपुत्र के द्वारा (**आहियं**) कहे हुए (**एयं**) इस धर्म का (**जे**) जो भाग्यशाली नर-नारी (**चरंति**) आचरण करते हैं, (**ते**) वे ही (**उट्ठिया**) उत्थित—उद्यत हैं, (**ते**) और वे ही (**समुट्ठिया**) सम्यक् प्रकार से उत्थित—समुद्यत हैं, तथा (**धम्मओ**) धर्म से डिगते हुए (**अन्नोन्नं**) एक-दूसरे को वे ही (**सारंति**) सँभालते हैं—पुनः धर्म में प्रवृत्त व स्थिर करते हैं।

भावार्थ

अनुकूल-प्रतिकूल परीषह सहन करने से महान् महर्षि ज्ञातपुत्र के द्वारा प्ररूपित इस अनुत्तरधर्म का जो साधक आचरण करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग में उत्थित हैं, वे ही सम्यक् प्रकार से समुत्थित हैं तथा वे ही धर्म से विचलित या भ्रष्ट होते हुए एक-दूसरे को धर्म में स्थिर या प्रवृत्त करते हैं।

व्याख्या

उत्थित-समुत्थित साधक कौन और कैसे ?

इस गाथा में मोक्षमार्ग के लिए उत्थित-समुत्थित साधक की पहचान दी गयी है। पूर्वगाथा में बताया गया था कि 'जो साधक ग्रामधर्म (काम) से विरति-रूप धर्म का आचरण करते हैं, वे ही अर्हत्-प्रतिपादित धर्म के अनुयायी हैं।' उसी गाथा के सन्दर्भ में यहाँ उत्थित-समुत्थित साधक की पहिचान बतायी गयी है कि जो साधक ग्रामधर्म विरतिरूप अर्हद्भाषित धर्म का आचरण करते हैं, वास्तव में वे ही मोक्षपथ के लिए उत्थित-समुत्थित हैं। जो स्वयं संयममार्ग में सावधान होकर उद्यत-समुद्यत हैं, वे ही धर्मपथ या संयमपथ से विचलित होते हुए एक-दूसरे को परस्पर धर्म में प्रेरित कर सकते हैं और करते हैं। उत्थित-समुत्थित शब्द का विशेष स्पष्टीकरण शीलांकाचार्य कृत वृत्ति में इस प्रकार है—जो ज्ञातपुत्र तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित ग्रामधर्मत्यागरूप धर्म का आचरण करते हैं वे ही उत्थित हैं—अर्थात् संयम में तथा कुतीर्थिक धर्म का त्यागकर सम्यक्धर्म में प्रवृत्त हैं, तथा वे ही समुत्थित हैं—अर्थात् निह्नव आदि को छोड़कर कुमार्ग-उपदेश से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भलीभाँति निवृत्त हैं। परन्तु यथोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले वे ही उन लोगों को सम्यक् धर्म में प्रवृत्त करते हैं, जो कुप्रावचनिकों एवं जामालि आदि साधकों की कुमार्गदेशना से हटे नहीं हैं। अथवा धर्म से विचलित या भ्रष्ट होते हुए को फिर वे धर्म में प्रवृत्त करते हैं। या यथोक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले ही परस्पर एक दूसरे को धर्म में प्रेरित करते हैं।

महगा महेसिणा - ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के ये दो विशेषण अन्वर्थसूचक हैं। भगवान् महान् इसलिए हैं कि वे केवलज्ञान से सम्पन्न हैं, जिस केवलज्ञान का विषय महातिमहान् है। वे महर्षि इसलिए हैं कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करते हैं।

मूल पाठ

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवधिं धुणित्तए।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

संस्कृत छाया

मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्, अभिकांक्षेद् उपधिं धूनयितुम्।
ये दुर्मनसस्तेषु नो नतास्ते जानन्ति समाधिमाहितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**पुरा**) पहले भोगे हुए (**पणामए**) शब्दादि विषयों को (**मा पेह**) हृदय में स्मरण—अन्तर्निरीक्षण मत करो। (**उवधिं**) माया को अथवा ज्ञानावरणीय आदि उपधिरूप अष्टकर्मों को (**धुणित्तए**) दूर करने की (**अभिकंखे**) इच्छा करो। (**दूमण**) मन को दूषित बनाने वाले जो शब्दादि विषय हैं, (**तेहि**) उनमें (**जे**) जो (**णो णया**) झुका हुआ—आसक्त नहीं है, (**ते**) वे पुरुष (**आहियं**) अपनी आत्मा में निहित—स्थित (**समाहिं**) समाधि—रागद्वेष से निवृत्ति या धर्मध्यान को (**जाणंति**) जानते हैं।

भावार्थ

पहले भोगे हुए शब्दादि विषयों का हृदय में निरीक्षण—स्मरण मत करो। माया को अथवा ज्ञानावरणीय आदि उपधिरूप अष्टकर्मों को नष्ट करने की इच्छा करो। मन को दूषित करने वाले शब्दादि विषयों में जो रत नहीं हैं। वे पुरुष अपनी आत्मा में निहित समाधि—रागद्वेषनिवृत्ति या धर्मध्यान को जानते हैं।

व्याख्या

समाधि के मूलमंत्र

साधुजीवन में केवल बाह्य आचार-पालन से काम नहीं चलता। साधु की आत्मसमाधि भंग करने वाले विषय, कषाय और तज्जनित कर्मोपाधि आदि से दूर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना आवश्यक है। इन्हीं से दूर रहने की प्रेरणा प्रस्तुत गाथा में दी गयी है। आत्मा को समाधिभाव में रखने के लिए साधक सर्वप्रथम पूर्वभुक्त शब्दादि विषयों का स्मरण न करे, माया या अष्टविधकर्मोपाधि से मुक्त होने का मनोरथ करे।

पणामए—जो प्राणियों को कुमार्ग की ओर झुका देते हैं, वे प्रणामक—शब्दादि विषय हैं। समाधि के आकांक्षी आत्मार्थी साधक को न तो पूर्वभुक्त विषयों का स्मरण करना चाहिए और न भविष्य में उनकी प्राप्ति की चाह रखनी चाहिए। मन को उसे ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना एवं चिन्तन में संलग्न रखना चाहिए। अन्यथा खाली मन विषय-कषायों में घुड़दौड़ लगाकर समाधि भंग कर देगा। इसलिए अष्टविधकर्मोपाधि से दूर रहने का चिन्तन व मनोरथ करना समाधि के लिए आवश्यक बताया है।

उवधि—उपधि का अर्थ माया है। अथवा अष्टविध कर्म है, जो आत्मा के लिए उपधिरूप है।

मूल पाठ

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए ॥२८॥

संस्कृत छाया

नो काथिको भवेत् संयतः नो प्राश्निको न च संप्रसारकः।
ज्ञात्वाधर्ममनुत्तरं कृतक्रियो न चापि मामकः ॥२८॥

अन्वयार्थ

(**संजए**) संयमी पुरुष (**णो काहिए**) विरुद्ध कथा न करे, (**णो पासणिए**) प्रश्नों का फल बताने वाला न हो, (**ण य संपसारए**) और न वृष्टि और धनोपार्जन के उपायों को बताने वाला हो। किन्तु (**अणुत्तरं**) सर्वोत्तम (**धम्मं**) धर्म को (**णच्चा**) जानकर (**कयकिरिए**) संयमरूप धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान करे (**ण यावि मामए**) किसी वस्तु पर ममता न करे।

भावार्थ

संयमी पुरुष विरुद्ध कथाकार न बने, न प्राश्निक—प्रश्नफल वक्ता न बने, और न हो सम्प्रसारक—यानी वर्षा, वित्तोपार्जन आदि के उपायों का निर्देशक बने, किन्तु श्रुत-चारित्ररूप या क्षमादि दशविध अनुत्तर धर्म को जानकर संयमरूप क्रिया का अनुष्ठान करे। किसी भी वस्तु पर ममता न करे।

व्याख्या

संयमी पुरुष की जीवननीति

इस गाथा में शास्त्रकार ने वाचिक एवं मानसिक संयम के लिए कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषेधात्मक सूत्र देकर संयमी पुरुष की जीवननीति स्पष्ट कर दी है। वाचिक संयम के लिए तीन सूत्र दिये हैं—

१—संयमनिष्ठ मुनि विरुद्ध कथाकार न बने।

२—संयमी साधु प्राश्निक न बने।

३—संयमप्रिय श्रमण सम्प्रसारक न बने।

मानसिक संयम के लिए एक सूत्र दिया है—

१—संयमी भिक्षु मामक—ममत्ववान न बने।

प्रश्न होता है—संयमनिष्ठ जीवननीति के लिए ये चार निषेधात्मक सूत्र क्यों दिये गये? इसका उत्तर हमें आगमों की गहराई में जाकर खोजना होगा। आगमों में साधु के लिए चार विकथाओं का निषेध है। वे विकथाएँ हैं—(१) स्त्री-विकथा, (२) भोजनविकथा, (३) राजविकथा, (४) देशविकथा।

विकथा का अर्थ होता है—विरुद्धकथा, ऐसी कथा, जिससे कामोत्तेजना भड़के, भोजनलालसा बढ़े, जिससे युद्ध, हत्या, दंगा, लड़ाई या वैमनस्य बढ़े तथा देश-विदेश के गलत आचार-विचारों के संस्कारों का जनमानस में बीजारोपण हो। ये चारों विकथाएँ संयमविरुद्ध कथाएँ हैं, जो वाचिक संयम के लिए वर्जित की गई हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा इस प्रकार के लौकिक-सांसारिक वासना सम्बन्धी प्रश्नों—जैसे कि मेरे देश में क्या होगा? मेरे कितनी सन्तान होंगी? अमुक वस्तु का भाव तेज होगा या मन्दा? इत्यादि प्रश्नों का फल ज्योतिषी के समान न बताए। क्योंकि अगर इस प्रकार से प्रश्नों का फल बताने लगेगा तो साधक की आत्मसाधना खटाई में पड़ जाएगी। फिर बताने में कभी बताये गए से उलटा फल निकला तो प्रश्नकर्ता की श्रद्धा समाप्त हो जाएगी, उसकी दृष्टि में साधु का वचन असत्य ठहरेगा। स्वयं के सत्यमहाव्रत पर भी आँच आएगी। इन सब कारणों को लेकर वाणीसंयम की दृष्टि से यह सूत्र दिया कि संयमी साधु प्राश्निक न बने। इसी प्रकार संयमी साधु वर्षा तथा धनप्राप्ति के उपाय भी न बताए, न औषध, मंत्र-तंत्रादि बताए। क्योंकि ऐसा करने से आरम्भ-समारम्भ की वृद्धि होगी, तज्जनित हिंसा का भागी उपाय बताने वाला साधु भी बनेगा। साथ ही यदि साधु के द्वारा बताया हुआ कोई उपाय यथेष्ट फल न दे सका, तो उसके प्रति अविश्वास हो जाएगा। साधु के सत्यमहाव्रत पर भी आँच आएगी। इस प्रकार की दूकानदारी लगाने से साधु दुनियादार बन जाएगा, साधनाशील नहीं रह पाएगा। तथा मानसिक संयम के लिए शास्त्रकार ने बताया कि वह किसी भी वस्तु (चाहे वह धर्मोपकरण ही क्यों न हो) पर ममत्व—यह मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का मेरापन न रखे। क्योंकि ममत्व होने में उसके वियोग में आर्तध्यान होगा, उसके न मिलने पर दुःख होगा, उसकी रक्षा की चिन्ता बढ़ेगी, उसके खत्म होने या चुराये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने पर अत्यन्त पीड़ा होगी। साधुत्व की साधना समाप्त हो जाएगी। इसलिए ममत्वधारी न बने, यह सूत्र मानसिक संयम के लिए दिया।

इस प्रकार का चतुःसूत्रात्मक संयमरूप अनुत्तरधर्म जानकर उसे क्रियान्वित करने का अहर्निश प्रयत्न करे। यह इस गाथा का आशय है।

मूल पाठ

छन्नं च पसंसं णो करे, न य उक्कोसपगासं माहणे।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिं सुजोसियं धुयं ॥२६॥

संस्कृत छाया

छन्नं च प्रशस्यं च न कुर्यान्न चोत्कर्षप्रकाशं माहनः।
तेषां सुविवेक आहितः, प्रणताः यैः संजुष्टं धुतम् ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**माहणे**) अहिंसाधर्मी साधु (**छन्नं**) माया, (**पसंसं**) लोभ, (**उक्कोस**) मान, (**पगासं च**) और क्रोध (**णो करे**) न करे। (**जेहिं**) जिन्होंने (**धुयं**) आठ प्रकार के कर्मों के नाशक संयम को (**सुजोसियं**) अच्छी तरह सेवन किया है, (**तेसिं**) उन्हीं का (**सुविवेगं आहिए**) उत्तम विवेक प्रसिद्ध हुआ है। (**पणया**) और वे ही धर्म में रत हैं, अथवा धर्म के प्रति प्रणत—धर्मनिष्ठ हैं।

भावार्थ

अहिंसाप्रधान साधक, क्रोध, मान, माया और लोभ न करे। जिन्होंने आठ प्रकार के कर्मों के नाश करने वाले संयम का अच्छी तरह सेवन किया है, उन्हीं का उत्तम विवेक जगत् में प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्मनिष्ठ पुरुष हैं।

व्याख्या

कषाय-विजयी ही धर्मनिष्ठ विवेकी संयमी

इस गाथा में सुसंयमी, सुविवेकी और धर्मनिष्ठ साधु की पहिचान के लिए कषायविजय आवश्यक बताया है।

'**छन्नं पसंसं णो करे न य उक्कोसपगासं माहणे**'—यहाँ '**छन्नं**' का अर्थ अपने अभिप्राय को छिपाना है, इसलिए माया है, **पसंसं**—प्रशस्य का अर्थ है—जिसे सभी लोग बिना किसी आपत्ति के आदर दें। इसलिए प्रशस्य यहाँ लोभ अर्थ में है। उत्कर्ष मान का नाम है, क्योंकि तुच्छ प्रकृति वाले पुरुष को यह जाति आदि मद-स्थानों के द्वारा मत्त बना देता है। प्रकाश नाम क्रोध का है, क्योंकि जब क्रोध आता है, तब वह मुख, दृष्टि, भ्रू-भंग आदि विकारों से प्रगट हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन्होंने कषायों का त्याग कर दिया है, वे ही साधक संसार में सुसंयमी, सुविवेकी और धर्मरत कहलाए हैं, वे ही साधनाजगत् में चमके हैं।

धुयं— यहाँ धुतशब्द संयम का वाचक है। अष्टविध कर्मों को जिससे दूर किया जाय वह संयम ही धुत है।

मूल पाठ

अणिहे सहिए सुसंवुडे धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइंदिए अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

संस्कृत छाया

अनीहः (अस्निहः) सहितः सुसंवृतः धर्मार्थी उपधानवीर्यः ।
विहरेत् समाहितेन्द्रियः आत्महितं दुःखेन लभ्यते ॥३०॥

अन्वयार्थ

(**अणिहे**) साधुपुरुष किसी वस्तु की स्पृहा या किसी वस्तु में स्नेह न करे। (**सहिए**) ज्ञान-दर्शन-चारित्रवृद्धि वाले हितावह कार्य करे, (**सुसंवुडे**) इन्द्रिय और मन से गुप्त रहे। (**धम्मट्ठी**) धर्मार्थी बने। (**उवहाणवीरिए**) तप में पराक्रम प्रकट करे। (**समाहिइंदिए**) इन्द्रियों को समाधि में अपने अधीन रखे। (**अत्तहियं**) अपना आत्मकल्याण (**दुहेण खु**) अवश्य दुःख से (**लब्भइ**) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ

साधु पुरुष किसी भी वस्तु की स्पृहा न करे, अथवा ममता न रखे। तथा वही कार्य करे, जिसमें अपना हित हो, इन्द्रियों तथा मन से गुप्त रह कर वह धर्मार्थी बने। तप में अपना पराक्रम प्रकट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर, संयम का अनुष्ठान करे, क्योंकि अपना कल्याण दुःख से प्राप्त होता है।

व्याख्या

आत्मकल्याण के कुछ सूत्र

इस गाथा में साधुत्व की साधना द्वारा आत्मकल्याण के निम्नोक्त सूत्र शास्त्रकार ने दिये हैं—

(१) अस्निहः	(४) धर्मार्थी
(२) सहितः	(५) उपधानवीर्य
(३) सु-संवृतः	(६) समाहितेन्द्रिय।

'**अणिहे**' शब्द प्राकृत का है, उसके संस्कृत में अस्निहः, अनिहः, अनीहः, ये तीन रूप होते हैं। दो का अर्थ हम ऊपर दे चुके हैं। तीसरे का अर्थ इस प्रकार है— जो परीषह और उपसर्गों से पराजित नहीं किया जा सकता, उसे अनिह कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ **'अणहे'** पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ है—जो अघ अथवा पाप से—पापकर्म से रहित हो।

सहिए - सहित के भी तीन अर्थ होते हैं--(१) साधु अपने हित के साथ रहे, (२) ज्ञानादि से युक्त रहे, (३) सत्कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर अपना हित सम्पादन करे।

सुसंवुडे—साधु इन्द्रियों और मन से विषयतृष्णारहित होकर रहे। अपनी आत्मा की विषयतृष्णा से रक्षा करे, बचाए।

धम्मट्ठी—श्रुत-चारित्ररूप धर्म को ही साधु अपना प्रयोजन जाने, क्योंकि सज्जन पुरुष धर्मपालन की ही इच्छा रखते हैं।

उवहाणवीरिए—जो आत्मा को मोक्ष के उप--समीप रखता है, वह उपधान—तप कहलाता है। साधु विविध बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण में अपनी शक्ति लगाए।

समाहिइंदिए--साधु अपनी इन्द्रियों को समाहित—संयमित रखे। अगर साधु सांसारिक वस्तुओं पर मोह, ममता या आसक्ति रखता है, सांसारिक वस्तुओं की स्पृहा (तमन्ना) रखता है तो वह अपनी आत्मा को परिग्रह से भारी कर देगा, वह आत्मकल्याण के बदले पतन को न्यौता दे देगा। साधु यदि अपने हित (आत्महित) को न देखकर लोकेषणा के प्रवाह में बह जाएगा तो आत्महित किनारे लग जाएगा, उसकी की-कराई तपसंयम की साधना व्यर्थ हो जाएगी। इसी प्रकार यदि साधक इन्द्रियों व मन को विषयतृष्णा से रहित नहीं करेगा, तो वह अपनी आत्मा को विषयासक्ति से बचा नहीं सकेगा। ऐसा होने पर उसकी रातदिन विषयों की ओर दौड़ होगी, आत्मकल्याण दूर-अतिदूर हो जाएगा। अगर साधक धर्म (संवरनिर्जरा-रूप) से वास्ता न रखकर पुण्य के लुभावने कार्यों में फँस जाएगा या पाप व अधर्म को धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर अपनाएगा, तो भी आत्मकल्याण स्थगित हो जाएगा। इसी प्रकार यदि आत्मार्थी साधक अपनी शक्तियों को बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या में न लगाकर निन्दा, चुगली, विवाद, कलह, प्रमाद, कषाय आदि व्यर्थ के दुर्गुणों में लगा देगा तो आत्मकल्याण का अवसर चूक जाएगा, पापकर्मों के चक्कर में फँस जाएगा। इसी प्रकार वह जितेन्द्रिय होकर १७ प्रकार के संयम का अनुष्ठान न करके अहर्निश हिंसा आदि असंयम के कृत्यों में प्रवृत्त होगा तो आत्मकल्याण के बदले आत्मपतन की ओर अग्रसर होगा। इन सब कारणकलापों को देखते हुए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि शास्त्रकार ने आत्मकल्याण के ये जो ६ सूत्र बताए हैं, वे वास्तव में उपादेय हैं, आचरणीय हैं। अगर शास्त्रकार की बात पर ध्यान न देकर साधक मनमाना चलेगा तो आत्मकल्याण की बात हवा में रह जाएगी। एक बार आत्म-कल्याण का अवसर साधक चूक गया तो फिर उसे ऐसा अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**'अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ।'** आशय यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि अगर साधक इस समय लापरवाह बनकर आत्मकल्याण की पट्सूत्री पर ध्यान न देकर इस अवसर को चूक जाता है तो फिर उसे अवसर मिलना दुर्लभ है। प्रथम तो मनुष्यजन्म ही मिलना अत्यन्त दुष्कर है। यदि मनुष्यजन्म मिल भी गया तो आर्यदेश, उत्तमकुल, स्वस्थ शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, दीर्घ आयुष्य, शरीर में बल, उत्साह, फिर उत्तमधर्म का पाना तो अत्यन्त दुर्लभ है। उत्तमधर्म के मिलने पर भी मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) और फिर संयम में पराक्रम (धर्माचरण) करना अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिए शास्त्रकार ने आत्मकल्याण को दुर्लभ बताया है। क्योंकि उपर्युक्त सभी संयोग मिलने पर ही आत्मकल्याण की प्राप्ति हो सकती है, अगर इनमें से एक भी संयोग न मिला तो फिर आत्मकल्याण का पाना दुष्कर हो जाएगा।

मूल पाठ

णहि णूणं पुरा अणुस्सुयं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

संस्कृत छाया

नहि नूनं पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम्।
मुनिना सामायिकाद्याख्यातं ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥३१॥

अन्वयार्थ

(**जगसव्वदंसिणा**) समस्त जगत् को देखने वाले (**मुणिणा**) मुनिपुंगव (**नाएणं**) ज्ञातपुत्र भगवान् वर्द्धमान प्रभु ने (**सामाइ आहियं**) सामायिक आदि का प्रतिपादन किया है। (**णूणं**) निश्चय ही जीव ने (**पुरा**) पहले (**णहि अणुस्सुयं**) नहीं सुना है; (**अदुवा**) अथवा (**तं**) उसे (**तह**) जैसा कहा है, वैसा (**णो समुट्ठियं**) अनुष्ठान नहीं किया है।

भावार्थ

समस्त जगत् को जानने वाले ज्ञातपुत्र श्रमणशिरोमणि श्री वर्द्धमान प्रभु ने सामायिक आदि का कथन किया है, वास्तव में जीव ने उसे सुना ही नहीं है, यदि सुना भी है तो उन्होंने जैसा कहा है, वैसा यथार्थ रूप से आचरण नहीं किया है।

व्याख्या

सामायिक आदि का कितना श्रवण, कितना आचरण ?

पूर्वगाथा में आत्मकल्याण की पट्सूत्री बताकर अन्त में आत्मकल्याण की दुर्लभता बतायी है। अब इस गाथा में उसी के सन्दर्भ में आत्मकल्याण के दुर्लभ होने का कारण बताते हैं—'**णहि णूणं पुरा·····तह णो समुट्ठियं**।' आशय यह है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि आत्मकल्याण तभी सम्भव है, जब आत्मकल्याण की बात पहले सुनी जाए, उस पर श्रद्धा की जाए और फिर उसका आचरण किया जाए। यद्यपि समस्त जगत् के तत्त्वों को हस्तामलकवत् देखने वाले सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर प्रभु ने जगत् के जीवों पर परम अनुग्रह और दया करके सामायिक आदि द्वादश अंगशास्त्रों का अर्थरूप से भलीभाँति निरूपण कर दिया था, किन्तु साधक उसे रुचिपूर्वक सुने तब न ? पहले तो सर्वज्ञवक्ता पर श्रद्धा ही नहीं होती, क्योंकि वे जिस मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं, वह मन्दमति, आडम्बरप्रिय एवं सरल और इन्द्रियविषयपोषक रास्ता ढूँढने वालों को अत्यन्त कठिन लगता है, इसलिए उस मार्ग को पहले तो कई साधक रुचि-पूर्वक श्रद्धासहित सुनते नहीं, अगर कदाचित् सुन भी लें तो कड़वी दवा की तरह उस पर रुचि एवं श्रद्धा नहीं होती, जिसके कारण वे सुनकर भी तदनुसार आचरण नहीं कर पाते। यही कारण है कि शास्त्रकार ने श्रवण के पश्चात् भी आचरण के बिना आत्मकल्याण प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ बताया है।

मूल पाठ

एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं सहिया बहूजणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा विरया तिन्नामहोघमाहियं ॥३२॥

त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

एवं मत्वा महदन्तरं धर्ममेनं सहिताः बहवो जनाः ।
गुरोश्छन्दानुवर्त्तकाः विरतास्तीर्णाः महौघमाख्यातम् ॥३२॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**मत्ता**) मानकर (**महंतरं**) सबसे महान् (**धम्ममिणं**) इस आर्हद्धर्म को स्वीकार करके (**सहिया**) ज्ञानादिरत्नत्रय से सम्पन्न (**गुरुणो छंदाणुवत्तगा**) गुरु के अभिप्राय —अनुमति के अनुसार चलने (व्यवहार करने) वाले (**विरया**) पाप से रहित (**बहूजणा**) अनेक जनों ने (**महोघं**) इस संसारसागर को (**तिन्ना**) पार किया है, (**आहियं**) यह भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ।

भावार्थ

प्राणियों को कल्याण की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह जानकर तथा यह आर्हद्धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है, यह समझकर ज्ञानादिसम्पन्न, गुरु के के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से चलने वाले पाप से निवृत्त बहुत-से लोगों ने इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारसागर को पार किया है, ऐसा सर्वज्ञतीर्थङ्कर ने कहा है, यह मैं तुमसे कहता हूँ।

व्याख्या

संसारसागर से कौन और कैसे पार हुए ?

पूर्वगाथा में प्ररूपित आत्मकल्याण के लिए आचरण की अनिवार्यता के सन्दर्भ में इस गाथा में बताया गया है कि किस धर्म का कैसे-कैसे आचरण किया जाय, जिससे साधक संसारसागर को पार कर सके ?—**'एवं मत्ता···· आहियं।'**

आशय यह है कि पूर्वगाथाओं द्वारा आत्मकल्याण को सुदुर्लभ मानकर इस आर्हत्प्ररूपित सर्वश्रेष्ठ धर्म को स्वीकार करके ज्ञानादि से युक्त लघुकर्मी बहुत-से व्यक्ति आचार्य आदि द्वारा या तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुष्ठान करके पापकर्म से निवृत्त हो गये और उन्होंने अपार संसारसागर को पार कर लिया, यह मैंने तुम लोगों से कहा है। तीर्थंकरों ने दूसरों से कहा है।

'इति' शब्द समाप्ति अर्थ में है, 'ब्रवीमि' शब्द पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्या सहित पूर्ण हुआ।

॥ द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन : तृतीय उद्देशक

उपसर्ग-सहन

द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक पूर्ण हो गया। अब तृतीय उद्देशक का प्रारम्भ करते हैं। द्वितीय उद्देशक के अन्त में कहा था कि पापों से विरत पुरुष संसारसागर को पार करते हैं। किन्तु पापों का अन्त तभी हो सकता है, जब साधक उपसर्गों एवं परीषहों की कसौटी में उत्तीर्ण हो जाय। अन्यथा उपसर्गों और परीषहों की सेना जब साधक पर आक्रमण करेगी, तब वह रोष, द्वेष, अभिमान, मद, काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर पापों का अन्त करने के बदले पापों की आय पहले से अधिक बढ़ा लेगा। इसलिए तीसरे उद्देशक का अर्थाधिकार बताते हुए निर्युक्तिकार ने यही कहा है कि परीषहों और उपसर्गों को सहने से अज्ञानजनित कर्मों का अपचय होता है, इसलिए साधक को इन दोनों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यही तीसरे उद्देशक में बताया गया है। जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जई, मरणं हिच्चा वयंति पंडिया ॥१॥

संस्कृत छाया

संवृतकर्मणः भिक्षोः यद्दुःखं स्पृष्टमबोधिना ।
तत्संयमतोऽवचीयते, मरणं हित्वा व्रजन्ति पण्डिताः ॥१॥

अन्वयार्थ

(**संवुडकम्मस्स**) अष्टविधकर्मों का आगमन जिसने रोक दिया है, (**भिक्खुणो**) ऐसे भिक्षाशील साधु को (**अबोहिए**) अज्ञानवश (**जं दुक्खं**) दुःख का उत्पादक कठिन कर्म (**पुट्ठं**) बँध गया है, (**तं**) वह दुःखोत्पादक कर्म (**संजमओ**) सत्रह प्रकार के संयम-पालन से (**अवचिज्जई**) क्षीण हो जाता है। (**पंडिया**) और वे पण्डित साधक (**मरणं**) मरण का त्याग करके (**वयंति**) मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मों का आगमन (आस्रव) रोक दिया है, उसको जो अज्ञानवश दुःखोत्पादक कर्मबन्ध हुआ है, वह संयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाता है। वे सद्-असद्विवेकी साधक सदा के लिए मरण का त्याग करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

अज्ञानजनित कर्मोपचय : संयम से

इस गाथा में कर्मों के आगमन को रोकने का उपाय संयमानुष्ठान बताकर साधक को उसके दूरगामी सुपरिणाम से आश्वस्त किया है। जिस भिक्षु ने आठ प्रकार के कर्मों के आगमन (आस्रव) के कारणभूत मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को रोक दिया है, उस साधु को अज्ञानवश जो दुःख—असातावेदनीय अथवा दुःख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्म स्पृष्ट, बद्ध और निधत्तरूप से उपस्थित (संचित) हुए हैं, वे तीर्थंकरोक्त १७ प्रकार के संयम के अनुष्ठान से प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। आशय यह है कि जिस तालाब में पानी के आने का मार्ग बन्द है, उसमें पहले का रहा हुआ पानी जैसे सूर्य की किरणों के सम्पर्क से या जनता द्वारा व्यय करने से प्रतिदिन घटता-घटता एक दिन सूखकर समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस साधक ने आस्रव-द्वार को बन्द कर दिया है तथा इन्द्रिय, योग और कषाय को रोकने में सदा सावधान रहता है, उस संवृतात्मा पुरुष के अनेक जन्मों के संचित अज्ञानजनित कर्म संयम के अनुष्ठान से क्षीण हो जाते हैं। वे सद्-असद्विवेकी (पण्डित) साधक कर्मक्षय होने से मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि को सर्वथा यहीं छोड़कर (जन्म-मरण का चक्र यहीं समाप्त कर) मोक्षधाम में जा पहुँचते हैं, जहाँ से वापिस लौटना नहीं होता है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल पाठ

जे विन्नवणाहिऽजोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढंति पासहा अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

संस्कृत छाया

ये विज्ञापनाभिरजुष्टाः संतीर्णैः समं व्याख्याताः।
तस्माद् ऊर्ध्वं पश्यत, अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥२॥

अन्वयार्थ

(**जे**, जो साधक (**विन्नवणाहि**) कामवाञ्छा निवेदन करने वाली कामिनियों से (**अजोसिया**) सेवित नहीं हैं, वे (**संतिन्नेहिं**) संसार-सागर को उत्तीर्ण—कर्ममुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषों के (**समं**) समान (**वियाहिया**) कहे गये हैं। (**तम्हा**) इसलिए (**उड्ढंति**) इस कामिनीपरित्याग के बाद ही (**पासहा**) मोक्षप्राप्ति होती है, यह देखो ! (**कामाइं**) कामभोगों को जिन महासत्त्व साधकों ने (**रोगवं**) आत्मा के लिए रोग के समान (**अदक्खु**) देखा है, वे मुक्त के तुल्य हैं—जीवनमुक्त हैं।

भावार्थ

जो साधक कामिनियों से संसक्त—सेवित नहीं हैं, वे संसारपारंगत मुक्तपुरुष के सदृश कहे गये हैं। सचमुच कामिनीपरित्याग के बाद ही मुक्ति होती है, यह देखो ! जिन महासत्त्व साधकों ने कामिनीसंसर्ग या कामभोगों को रोग के समान जान—देख लिया है, वे मुक्तपुरुषों के तुल्य—जीवनमुक्त-से हैं।

व्याख्या

कामिनीसंसर्गत्याग ही मुक्तसदृश बनाता है

साधक को मुक्ति प्राप्त करने में सबसे बड़ा रोड़ा है—कामिनी-संसर्ग अथवा कामवासना का संसर्ग। यह जब तक नहीं छूटता है, तब तक बाहर से चाहे कितने ही उच्च क्रियाकाण्ड कर ले, साधुवेष पहन ले, घोर तप कर ले, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। अतः शास्त्रकार इसी बात को कहते हैं—'**जे विन्नवणाहिऽजोसिया संतिन्नेहिं समं वियाहिया**।' यहाँ **विन्नवणा** (विज्ञापना) शब्द कामिनी का द्योतक है। कामीपुरुष जिसके प्रति अपनी काम-कामना प्रगट करता है, अथवा जो काम-सेवन के लिए अपना अभिप्राय प्रकट करती है, कामसेवन के लिए प्रार्थना—विज्ञ-पन—निवेदन करती है, इसलिए शास्त्रकार कामिनी को **विन्नवणा** (विज्ञापना) कहते हैं। जो महासत्त्व साधक विज्ञापनाओं—कामिनियों से संसक्त—सेवित नहीं हैं, जो कामिनियों के कामजाल से सर्वथा मुक्त हैं अथवा कामिनियों द्वारा होने वाले संयम-जीवन के नाश से जो बिलकुल असंसक्त हैं—बेलाग हैं, वे संसार-सागर को समुत्तीर्ण करने वाले मुक्तपुरुष के सदृश कहे गये हैं। यद्यपि संसार-सागर को अभी पार नहीं किये हुए हैं, तथापि वे निष्किञ्चन और कंचन-कामिनी से संसर्ग से दूर तथा शब्दादि विषयों में अनासक्त होने के कारण संसारसागर के किनारे पर ही स्थित हैं। एक वैदिक विचारक ने कहा है—

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वनासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः॥

अर्थात्—विधाता (कर्मरूपी विधाता) ने दो भ्रम (संसारभ्रमण के कारण) पैदा किये हैं—एक तो कामिनियों में और दूसरा कनक में। उन कामिनियों और उन धन-साधनों में जो आसक्त नहीं हैं, समझ लो, वह मनुष्य के आकार में वह साक्षात् परमात्मा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसने कामिनीसंसर्गरूप महासागर को पार कर लिया, समझ लो, उसने संसारसागर को ही लगभग पार कर लिया। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं —**'तम्हा उड्ढंति पासहा कामाइं रोगवं।'** अर्थात् स्त्रीसंसर्ग-त्याग के बाद ही मोक्ष (मुक्ति का सामीप्य) होता है, यह विचार करके देख लो। जिन महात्माओं ने कंचन-कामिनी के कामों (इच्छाकाम—मदनकाम) को [1]रोगसदृश जान—देख लिया है, वे भी मुक्तपुरुष के सदृश जीवनमुक्त-से ही कहे गये हैं। कहा भी है—

पुप्फफलाणं च रसं सुराइ-मंसस्स महिलियाणं च।
जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वन्दे॥

अर्थात्—जो व्यक्ति फलों एवं फलों का रस (तन्निष्पन्न), मदिरादि, मांस एवं महिलाओं (के संसर्ग) को अनर्थ का कारण जानकर इनसे सर्वथा विरत हो गये हैं, उन दुष्कर कार्य करने वाले महान् पुरुषों को मैं वन्दन करता हूँ।

यहाँ **'तम्हा उड्ढंति पासहा'** के बदले **'उड्ढं तिरियं अहे तहा'** पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अर्थ है—सौधर्म आदि ऊर्ध्व (देव) लोक में, तिर्यक्लोक में एवं भवनपति आदि अधोलोक में जो कामभोग विद्यमान हैं, उन्हें जो महाभाग रोग के सदृश जानते हैं, वे संसारसमुद्रोत्तीर्ण पुरुषों के समान कहे गये हैं।

मूल पाठ

अग्गं वणिएहि आहियं, धारंती राईणिया इहं।
एवं परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा॥३॥

संस्कृत छाया

अग्रं वणिग्भिराहृतं धारयन्ति राजान इह।
एवं परमानि महाव्रतानि आख्यातानि सरात्रिभोजनानि॥३॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (वणिएहि) व्यापारियों के द्वारा (आहियं) सुदूर देशों से लाये हुए (अग्गं) उत्तमोत्तम माल पदार्थसमूह को (राईणिया) राजा, महाराजा, आदि सत्ताधीश या धनाढ्य (धारंती) ले लेते हैं, ग्रहण कर लेते हैं —खरीद लेते हैं, (एवं) इसी प्रकार (अक्खाया) आचार्य द्वारा प्रतिपादित (सराइभोयणा) रात्रि-भोजनविरमणव्रत के सहित (परमा महव्वया) उत्कृष्ट महाव्रतों को साधुपुरुष धारण कर लेते हैं।

---

१. एक विचारक ने कहा है—

कामं कुलकलंकाय कुलजाताऽपि कामिनी।
शृङ्खला स्वर्णजाताऽपि बन्धनाय न संशयः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इस लोक में जैसे व्यापारियों द्वारा सुदूर परदेशों से लाये हुए उत्तमोत्तम वस्त्र-रत्न आदि कीमती माल को बड़े-बड़े सत्ताधीश या धनाढ्य धारण (खरीद) कर (ले) लेते हैं, वैसे ही आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रि-भोजनत्यागव्रत के सहित उत्कृष्ट पाँच महाव्रतों को उच्चसाधक धारण करते हैं।

व्याख्या

रात्रिभोजनविरतिसहित महाव्रतों का धारण क्यों और कैसे ?

पूर्वगाथा में कामिनी-संसर्ग-त्याग को मोक्ष का प्रधान कारण बताया है, अब उसी के सन्दर्भ में शास्त्रकार का आशय केवल ब्रह्मचर्य-महाव्रत ही नहीं, अन्य अहिंसा आदि महाव्रतों एवं रात्रिभोजनत्यागव्रत को भी साधक के लिए आवश्यक बताना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार वणिकों का दृष्टान्त देकर पंचमहाव्रत-धारण का महत्त्व समझाते हैं—**'अग्गं वणिएहिं''''''अक्खाया उ सराइभोयणा।'** आशय यह है कि जैसे वनियों द्वारा सुदूर देशों से लाये हुए प्रधान रत्न, वस्त्र, आभूषण, पात्र आदि को राजा-महाराजा आदि सत्ताधीश या ऐश्वर्यसम्पन्न धनाधीश लोग धारण करते हैं। इसी तरह आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनत्यागव्रत के सहित रत्नतुल्य उक्त भौतिक रत्नों से भी बढ़कर महाव्रतरत्नों को योग्य साधक धारण करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जैसे प्रधान रत्नों के भाजन राजा आदि हैं, वैसे ही महाव्रतरूपी रत्नों के भाजन (पात्र) महापराक्रमी श्रमण ही हैं, दूसरे नहीं।

मूल पाठ

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥४॥

संस्कृत छाया

ये इह सातानुगाः नराः, अध्युपपन्ना कामेषु मूर्च्छिताः ।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः, नाऽपि जानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (**जे नरा**) जो मनुष्य (**सायाणुगा**) सुखों के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए हैं, (**अज्झोववन्ना**) ऋद्धि (वैभव) रस (स्वाद) और साता (सुख-सुविधा) के गौरव में—अहंकार में डूबे हुए हैं, (**कामेहिं मुच्छिया**) इच्छाकाम एवं मदनकाम-भोगों में मूर्च्छित हैं, वे (**किवणेण समं**) इन्द्रिय-लम्पट लोगों के समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**पगब्भिया**) धृष्टतापूर्वक वेहिचक कामसेवन करते हैं। (**आहियं समाहिं**) ऐसे लोग बताए हुए समाधि के स्वरूप को (**न वि जाणंति**) भी नहीं जानते।

भावार्थ

इस संसार में जो मनुष्य (साधक बनकर भी) सुख के पीछे बेतहाशा दौड़ते हैं तथा अहर्निश ऋद्धि (वैभव), रस (स्वाद) और साता (सुख-सुविधा) के बड़प्पन के अहंकार में डूबे हुए हैं तथा पंचेन्द्रिय विषय-जनित कामभोगों में आसक्त हैं, वे इन्द्रियलोलुप लोगों के समान बेधड़क धृष्ट होकर कामसेवन करते हैं। ऐसे लोग कहने-सुनने पर भी समाधि या धर्म-ध्यान को नहीं समझते या जानना नहीं चाहते।

व्याख्या

सुख-भोगों के पीछे जीवनसमाधि को न समझने वाले !

पिछली गाथा में रात्रिभोजनत्याग के सहित पंचमहाव्रतों को धारण करने की प्रेरणा दी गई है, परन्तु पंचमहाव्रतों का पालन कौन साधक कर सकता है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार इस गाथा में महाव्रतों के अयोग्य साधकों का वर्णन करते हैं—**जे इह सायाणुगा ... समाहिमाहितं**—आशय यह है कि जो तुच्छ प्रकृति के मनुष्य इस संसार में (साधुवेश धारण करके) परीषहों और उपसर्गों (कष्टों एवं दुःखों) या इहलौकिक-पारलौकिक विपदाओं से डरकर रातदिन सुखसुविधाओं (साता) के पीछे दौड़ लगाते फिरते हैं, वैषयिक सुखों की तलाश में भागदौड़ करते रहते हैं, समृद्धि (वैभव), रस (स्वाद) और साता (सुखसुविधाओं) के बड़प्पन (गौरव) के अहंकार में डूबे रहते हैं। वे कभी अपने भविष्य के विषय में सोचते ही नहीं, न उन्हें जीवननिर्माण की कोई चिन्ता है, दिनरात इच्छामदनरूप कामभोगों की तृष्णा में मूर्च्छित रहते हैं। वे इन्द्रिय-लम्पटों के समान धृष्टतापूर्वक निःसंकोच कामसेवन में रत रहते हैं। ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद, सुख-सुविधाओं एवं रागरंग में मशगूल रहने वाले व्यक्ति महाव्रतों की साधना क्या खाक करेंगे ? वे यही समझते हैं कि जरा-सी ईर्यासमिति आदि का पालन नहीं किया तो कौन-सा पहाड़ टूट पड़ेगा ? मूलव्रत तो सुरक्षित हैं, इन बाह्य क्रियाओं को नहीं किया तो कौन-सा मेरा संयम नष्ट हो जाएगा ? इस प्रकार प्रमादवश या सुखसुविधा में ग्रस्त होकर श्वेत वस्त्र या मणिमय भूमि की तरह समस्त संयम को मलिन और सच्छिद्र कर डालते हैं। ऐसे गर्वस्फीत एवं बाह्य सुखों के पीछे पागल बने हुए साधक किसी हितैषी के कहने-सुनने पर भी आत्मसमाधि या धर्मध्यान की बात को सुनना-समझना नहीं चाहते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

वाहेण जहावविच्छए, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

संस्कृत छाया

वाहेन यथावविक्षतोऽबलो भवति गौः प्रचोदितः ।
सोऽन्तशोऽल्पस्थामा नातिवहत्यबलो विषीदति ॥५॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**वाहेण**) गाड़ीवान के द्वारा (**वविच्छए**) चाबुक मारकर (**पचोइए**) प्रेरित किया हुआ (**गवं**) बैल (**अबले**) दुर्बल (**होइ**) हो जाता है, फिर वह चलता नहीं है। (**से**) वह (**अप्पथामए**) अल्प सामर्थ्य वाला (**अबले**) दुर्बल बैल (**अंतसो**) अन्त में (**नाइवहइ**) भार वहन नहीं करता है, अपितु (**विसीयति**) थक जाता है और कीचड़ आदि में फँसकर क्लेश पाता है।

भावार्थ

जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मार-मार कर चलाया (प्रेरित किया) हुआ बैल दुर्बल हो जाता है, फिर वह कठिन मार्ग को पार नहीं कर सकता। अन्त में वह अल्पसामर्थ्यवाला दुर्बल बैल भार ढो नहीं सकता, अपितु विषममार्ग में कहीं कीचड़ आदि में फँसकर क्लेश पाता है।

मूल पाठ

एवं कामेसणं विऊ अज्जसुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए लद्धे वावि अलद्धे कण्हुई ॥६॥

संस्कृत छाया

एवं कामेषणायां विद्वान् अद्यश्वः प्रजह्यात् संस्तवम् ।
कामी कामान्न कामयेत् लब्धान् वाऽप्यलब्धान् कुतश्चित् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इसी प्रकार (**कामेसणं विऊ**) काम के अन्वेषण में निपुण पुरुष (**अज्जसुए**) आज या कल में वह (**संथवं**) काम-भोग की एषणा को (**पयहेज्ज**) छोड़ देगा, ऐसा सिर्फ विचार किया करता है, छोड़ नहीं सकता, अतः (**कामी**) कामी पुरुष (**कामे**) काम-भोगों की (**ण कामए**) कामना ही न करे और (**लद्धे वावि**) प्राप्त हुए काम-भोगों को भी (**अलद्धे कण्हुई**) अप्राप्त के समान जाने, यही अभीष्ट है।

भावार्थ

इसी प्रकार काम-भोगों के अन्वेषण में निपुण पुरुष आज या कल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम-भोगों को छोड़ देगा, ऐसा विचारमात्र करता है, मगर छोड़ नहीं सकता है। अतः कामी को कामभोगों की कामना ही न करनी चाहिए, और प्राप्त हुए काम-भोगों को भी अप्राप्त की तरह जानकर उनसे निःस्पृह हो जाना चाहिए।

व्याख्या

भार ढोने में असमर्थ मरियल बैल विषममार्ग पर नहीं चल सकता

जो बैल गाड़ी को ठीक-ठीक वहन नहीं करता, उसे गाड़ीवान चाबुक मार-कर चलने के लिए मजबूर करता है, परन्तु दुर्बल होने के कारण वह बैल विषमपथ पर चल नहीं पाता। वह मरणान्त कष्ट पाकर भी दुर्बल होने के कारण भार को ढो नहीं सकता, किन्तु वहीं कीचड़ आदि विषम स्थानों में कष्ट भोगता है। यह पाँचवीं गाथा का आशय है।

दुर्बल बैल जैसे विषममार्ग को नहीं छोड़ सकता अर्थात् उसे पार नहीं कर सकता है वैसे ही कामी पुरुष भी शब्दादि काम-भोगों को नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार पूर्वगाथा में दृष्टान्त बताकर अब इस गाथा में दार्ष्टान्त बताया गया है कि शब्दादि विषयों के अन्वेषण करने में निपुण पुरुष शब्दादि विषयपंक में फँसने पर तथा विषयासक्तिजनित रोग, दुःख या इहलौकिक-पारलौकिक कष्ट को देखकर आज छोड़ देंगे, कल छोड़ देंगे, इस प्रकार का बार-बार विचार करते हैं, लेकिन उक्त दुर्बल बैल की तरह वे शब्दादि कामों को नहीं छोड़ सकते।

कामी के लिए शास्त्रकार का उचित मार्गदर्शन

इस गाथा (नं० ६) में शास्त्रकार कामी पुरुष को कामत्याग के लिए दो ठोस उपाय बताते हैं—(१) काम-भोगों की कामना ही न करे और (२) प्राप्त काम-भोगों को भी अप्राप्त की तरह जानकर उनसे निःस्पृह हो जाए—'**कामी कामे ण कामए, लद्धे वावि अलद्धे कण्हुई**।' वास्तव में ये दोनों उपाय ठोस हैं। अगर कोई साधक अपने पूर्वजीवन (गृहस्थ-जीवन) में कदाचित् कामी रहा हो, तो उसे काम-भोगों के दुष्परिणामों पर विचार करके वज्रस्वामी या जम्बूस्वामी आदि की तरह कामभोगों की इच्छा ही न करनी चाहिए अथवा स्थूलभद्र या क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से प्रतिबोध पाए हुए पुरुष को प्राप्त विषयों को भी अप्राप्त की तरह ही जानकर तथा महासत्त्व बनकर उनसे निःस्पृह हो जाना चाहिए।

मूल पाठ

मा पच्छा असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणति परिदेवती बहु ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

मा पश्चादसाधुता भवेदत्येह्यनुशाध्यात्मानम् ।
अधिकञ्चासाधुः शोचते स स्तनति परिदेवते बहु ॥७॥

अन्वयार्थ

(पच्छा) पीछे (**मा असाधुता भवे**) दुर्गतिगमन न हो, इसलिए (**अच्चेही**) विषय-सेवन से (**अप्पगं**) अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे (**अणुसास**) शिक्षा दो (**च**) और (**असाहु**) असाधु-असंयमी पुरुष (**अहियं**) अधिक (**सोयती**) शोक करता है। (**से थणति**) वह चिल्लाता है, (**बहु परिदेवती**) वह बहुत रोता है।

भावार्थ

मृत्यु के पश्चात् दुर्गति प्राप्त न हो, इसलिए विषय-सेवन से अपनी आत्मा को हटा (बचा) लेना चाहिए और उसे अपने आपको शिक्षा देनी चाहिए कि असाधु-असंयमी पुरुष बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, रोता है।

व्याख्या

साधु काम का त्याग क्यों और कैसे करे ?

इस गाथा में पूर्वगाथा के सन्दर्भ में कामपरित्याग क्यों और कैसे करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में बताया गया है कि काम में आसक्त होने के कारण मृत्यु-काल में अथवा दूसरे जन्म में दुर्गति न हो, इसलिए पहले से ही साधक को सावधान होकर विषय-सेवन से अपना हाथ खींच लेना चाहिए, उसका चिन्तन भी न करना चाहिए, न पूर्वभुक्त विषय का स्मरण करना चाहिए तथा अपनी आत्मा को इस प्रकार की शिक्षा (उपदेश) देनी चाहिए –"हे जीव ! हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्मचर्य आदि असत्कर्म करने वाला असाधु पुरुष दुर्गति में जाकर परमाधामिकों के द्वारा बहुत यातना पाता है, तब बहुत शोक करता है, चिल्लाता है, तथा तिर्यंच होकर क्षुधा से व्याकुल वह जीव बहुत चिल्लाता है, वह रोता हुआ मन ही मन कहता है— 'हाय ! मैंने बहुत पाप किया, उसका फल भोगना पड़ रहा है। मैं अब मर रहा हूँ, लेकिन इस समय मेरा कोई रक्षक नहीं, मुझ पापी को इस समय कौन शरण दे सकता है।' इस प्रकार असत्कर्म करने वाले व्यक्ति बहुत दुःख पाते हैं, इसलिए विषयसंसर्ग नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार से आत्मा को शिक्षा दे।

मूल पाठ

इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयस्स तुट्टई।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

इहजीवितमेव पश्यत तरुणके (एव) वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्वरवासं च बुध्यध्वं गृद्धनराः कामेषु मूर्च्छिताः ॥८॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (**जीवियमेव**) जीवन को ही (**पासह**) देखो । (**वाससयस्स**) सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष का जीवन भी (**तरुणए एव**) युवावस्था में ही (**तुट्टई**) नष्ट हो जाता है । (**इत्तरवासे य बुज्झह**) इस जीवन को थोड़े दिन के निवास-तुल्य समझो । (**गिद्धनरा**) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य (**कामेसु**) कामभोगों में (**मुच्छिया**) मोहित-मूर्च्छित हो जाते है ।

भावार्थ

हे मनुष्यो ! इस मनुष्यलोक में पहले तो अपने ही जीवन को देखो । कई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्था में ही मरण-शरण हो जाते हैं । अतः इस जीवन को थोड़े काल के निवास के समान समझो । क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही विषय-भोगों में आसक्त होते हैं ।

व्याख्या

क्षणभंगुर जीवन में विषयासक्ति कैसी ?

इस गाथा में शास्त्रकार जीवन की अनित्यता बताकर साधक को यह सोचने के लिए विवश कर देते हैं कि जब जीवन इतना क्षणभंगुर है, अनित्य है, ऐसी स्थिति में क्या कोई दूरदर्शी साधक विषयासक्त होकर अपने आप को नरकादि दुर्गतियों में डालना चाहेगा ? कदापि नहीं । इस संसार में और वस्तुओं की बात तो जाने दें, जिस जीवन को तुम समस्त सुखों का स्थान मानते हो, उसको ही देखो, वह भी अनित्यता से युक्त है और प्रतिक्षण होने वाले आयुनाशरूपी मरण—आवीचिमरण की दृष्टि से प्रतिक्षणविनाशी है । आयु दो प्रकार की होती है—सोपक्रमी और निरुपक्रमी । निरुपक्रमी आयुष्य बीच में टूटता नहीं, पूरा भोगने के बाद ही छूटता है, ऐसा आयुष्य नारकी, देवता तथा तीर्थंकर आदि उत्तम पुरुषों का होता है । सोपक्रमी आयुष्य किसी न किसी निमित्त (लाठी, डण्डा, बन्दूक, तलवार, ऊपर से गिरने या चोट लगने आदि निमित्त) से या किसी अध्यवसान (अत्यन्त हर्ष, विषाद के कारण अति चिन्ता करना अध्यवसाय कहलाता है, इसके होने पर आयु नष्ट हो जाती है क्योंकि अतिचिन्ता से हृदयगति रुक जाती है । अथवा राग-द्वेषभय के कारण अतिचिन्ता उत्पन्न होती है, उससे भी आयु नष्ट हो जाती है ।) से सोपक्रमी आयु होने के कारण कोई शतायु पुरुष भी अकाल में ही काल-कवलित हो जाता है । अथवा आयुष्य क्षीण हो जाए तो भी युवावस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जवानी में ही मर जाता है। अथवा इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में सौ वर्ष की बहुत बड़ी आयु मानी जाती है, वह भी सौ वर्ष के अन्त में समाप्त हो ही जाती है। तथा वह आयु सागरोपमकाल की अपेक्षा कुछ एक निमिष के समान ही है। इसलिए उसे भी थोड़े दिन के निवास के समान ही समझें। आयु की ऐसी अनित्यता जानकर क्षुद्र प्रकृति के जीव ही शब्दादि विषयों में आसक्त हो सकते हैं, बुद्धिमान साधक नहीं। जो तुच्छ प्रकृति के अविवेकी जीव शब्दादि विषयों में फँस जाते हैं, वे मृत्यु के बाद दुर्गति में जाकर अनेक यातनाएँ सहते हैं।

मूल पाठ

जे इह आरंभनिस्सिया अत्तदंडा एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥८॥

संस्कृत छाया

ये इह आरम्भनिश्रिता आत्मदण्डा एकान्तलूषकाः।
गन्तारस्ते पापलोकं चिररात्रमासुरीं दिशम् ॥९॥

अन्वयार्थ

(**इह**) इस लोक में (**जे**) जो मनुष्य (साधक) (**आरम्भनिस्सिया**) आरम्भ में संसक्त रचे-पचे रहते हैं। जो (**अत्तदण्डा**) अपनी आत्मा को दण्ड देते हैं, (**एगंतलूसगा**) एकान्तरूप से प्राणियों की हिंसा करते हैं, (**ते**) वे (**चिरराय**) दीर्घकाल तक (**पावलोगयं**) नरक आदि पापलोकों में (**गता**) जाते हैं। तथा वे (**आसुरियं**) असुरसम्बन्धी (**दिसं**) दिशा को भी जाते हैं।

भावार्थ

जो साधक इस लोक में आरम्भ में आसक्त, अपनी आत्मा को दण्ड देने वाले तथा एकान्तरूप से जीवहिंसक हैं, वे चिरकाल तक के लिए नरकादि पापलोकों में जाते हैं। यदि बालतप आदि से वे देवता बने भी तो अधम असुरसंज्ञक देव बनकर आसुरीयोनि में जाते हैं।

व्याख्या

आरम्भासक्त साधकों के कुकृत्यों का दुष्परिणाम

इस गाथा में आरम्भ में संसक्त रहने वाले साधकों के दुष्कर्मों का दुष्परिणाम बताकर सुविहित साधकों को सावधान रहने के लिए सूचित किया गया है—**'जे इह आरम्भनिस्सिया ... आसुरियं दिसं।'**

आशय यह है कि महामोह के प्रभाव से जिनका चित्त आकुल है वे लोग इस मनुष्य लोक में साधकजीवन स्वीकार करने के बाद भी सावद्यानुष्ठानरूप हिंसाजनक कुकृत्यों में अहर्निश रचे-पचे रहते हैं, इस प्रकार वे अपनी आत्मा को ही दण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं, स्वपरघातक हैं। वे एकान्तरूप से प्राणियों के हिंसक हैं अथवा सत्कर्म के विध्वंसक हैं। वे मरकर अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप पापियों के लोक—नरक तिर्यंच आदि स्थानों में जाते हैं और वहाँ चिरकाल तक निवास करते हैं। यदि बालतप आदि के प्रभाव से वे देवलोक में भी चले जाएँ तो भी वहाँ असुरसम्बन्धी दिशा को ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे दासरूप अधम किल्विषी देव होते हैं।

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने सुविहित साधकों को आरम्भ से बचने तथा अपनी आत्मा को उसके भारी दण्ड से बचाने के लिए सूचित कर दिया है।

मूल पाठ

ण य संखयमाहु जीवितं तहवि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोयमागते ॥१०॥

संस्कृत छाया

न च संस्कार्यमाहुर्जीवितं, तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते।
प्रत्युत्पन्नेन कार्य्यं को दृष्ट्वा परलोकमागतः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**जीवितं**) यह जीवन (**ण य संखयमाहु**) संस्कार करने योग्य नहीं है, टूटे हुए धागे के समान पुनः जोड़े नहीं जा सकने योग्य है, ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है। (**तहवि य**) तथापि (**बालजणो**) अज्ञानी पामरजन (**पगब्भई**) इस पर अत्यन्त इतराते हैं, और पाप करने में धृष्टता करते हैं। वे कहते हैं कि (**पच्चुप्पन्नेन कारियं**) हमें तो वर्तमान सुख से प्रयोजन है। (**को**) कौन (**परलोयं दट्ठुं**) परलोक देखकर (**आगते**) आया है।

भावार्थ

सर्वज्ञपुरुषों ने कहा है कि यह जीवन संस्कार-योग्य—टूटे हुए धागे के समान फिर से जुड़ने योग्य नहीं है, तथापि मूर्ख पामरजन बेहिचक पापकर्म करने की धृष्टता करते हैं। वे कहते हैं कि हमें तो वर्तमानकालीन सुख से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन आया है ?

व्याख्या

असंस्कृत जीवन होने पर भी पाप करने की धृष्टता

इस गाथा में जीवन का धागा टूटने के बाद जुड़ नहीं सकता, यह बताकर शास्त्रकार ने उन पामर स्वपरहित से अज्ञजनों की करतूत पर व्यंग्य करते हुए सुविहित साधकों को इससे बोधपाठ लेने को सूचित किया है—**ण य संखयमाहु जीवितं··· परलोयमागते।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी महापुरुषों ने कहा है कि टूटी हुई आयु टूटी हुई डोरी के समान जोड़ी नहीं जा सकती है। कहा भी है—

दंडकलियं करिता वच्चंति हु राइओ य दिवसा य ।
आउं संवेल्लंता गता य ण पुणो निवत्तंति ॥

जैसे रेतघड़ी में से रेत क्षण-क्षण में कम होती जाती है, वैसे ही दिन और रात की आयु की घड़ी - अवधि में से क्षीण होती हुई व्यतीत हो रही है। जो दिन-रात्रि व्यतीत हो जाती हैं, वे फिर लौटकर नहीं आतीं। आयु का एक क्षण भी अरबों स्वर्णमुद्राओं से भी खरीदा नहीं जा सकता। यदि वह निरर्थक चला गया तो उससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है? तेजी से बहता हुआ पानी क्या कभी लौटकर आता है? इसी प्रकार आयु के क्षण कभी लौटकर नहीं आते। जीवन की अनित्यता अनिश्चितता इतनी युक्तितर्कसंगत और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होते हुए भी पामर अज्ञ जीव अपने हिताहित का विचार न करके धृष्टतापूर्वक वेखटके पाप-कर्म—सावद्यानुष्ठान में प्रवृत्ति करते रहते हैं। वे पाप करते हुए जरा भी नहीं हिचकते। कदाचित् कोई हितैषी पुरुष उन पापकर्ताओं को पापकर्म करते देखकर पाप न करने के लिए उपदेश देता है तो वे मिथ्यापाण्डित्य के गर्व से सना उत्तर देते हैं कि "हमें तो वर्तमानकाल से मतलब है, क्योंकि वर्तमानकाल में होने वाले पदार्थ ही वस्तुतः सत् हैं, अतीत और अनागत पदार्थ नहीं। वे तो विनष्ट और अनुत्पन्न होने के कारण अविद्यमान हैं। बुद्धिमान पुरुष तो वर्तमानकालीन पदार्थों को ही स्वीकार करते हैं। परलोक की और भूतकाल की कल्पनाएँ मिथ्या हैं, मन-गढ़ंत हैं। भला कौन परलोक देखकर यहाँ कहने को आया है, जिस पर विश्वास किया जाए कि परलोक है, भूतकाल है? कोई भी तो नहीं आया। इसलिए हम तो वर्तमान में इस लोक में जितना सुखभोग कर सकते हैं, करते हैं।"

मूल पाठ

अदक्खुव दक्खुवाहियं, (त) सद्दहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

संस्कृत छाया

अपश्यवत् पश्यव्याहृतं श्रद्धत्स्व अपश्यदर्शन !
गृहाण सुनिरुद्धदर्शनः मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥११॥

अन्वयार्थ

(**अदक्खुव**) हे अन्धे के समान पुरुष ! (**दक्खुवाहियं**) सर्वज्ञ द्वारा कथित सिद्धान्त या आगम पर (**सद्दहसु**) श्रद्धा करो—विश्वास रखो। (**अदक्खुदंसणा**) हे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असर्वज्ञ दर्शन वालो ! (**मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा**) स्वयंकृत मोहनीयकर्म से (**सुनिरुद्धदंसणे**) जिसकी ज्ञानदृष्टि बन्द हो गयी है, वह सर्वज्ञोक्त आगम को नहीं मानता, (**हंदि हु**) यह जानो।

भावार्थ

हे अन्धतुल्य पुरुष ! तुम सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त या आगम पर श्रद्धाशील बनो। हे असर्वज्ञोक्त दर्शन को मानने वालो ! यह समझ लो कि स्वकृत मोहकर्म के कारण जिसकी ज्ञानदृष्टि बिलकुल बन्द हो गयी है, वही सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम पर श्रद्धा नहीं करता।

व्याख्या

अन्धतुल्य नास्तिकों के मन्तव्य का खण्डन

इस गाथा में पूर्वगाथा में उक्त ऐहिक सुख की तृष्णा में डूबे हुए तथा परलोक को मिथ्या कहने वाले नास्तिकों की मान्यता का खण्डन करते हुए तीखी वाणी में व्यंग करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**अदक्खुव ··· कडेण कम्मुणा।**' '**अदक्खुव**' का अर्थ इस प्रकार है—जो देखता है वह 'पश्य' है। जो नहीं देखता, वह अन्धा कहलाता है, संस्कृत में उसे '**अपश्य**' कहते हैं। जो व्यक्ति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विचार से शून्य हैं, वे अन्धपुरुष के सदृश हैं। उसी का सम्बोधन का रूप प्रयुक्त करके कहा गया है—"हे अन्धतुल्य पुरुष ! एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से रहित पुरुष ! तुम सर्वज्ञपुरुष के वचनों (प्रवचनों) पर श्रद्धा रखो।" सर्वज्ञकथित आगमों पर श्रद्धा न करने का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे··· कम्मुणा**' अर्थात् यह निश्चित समझो कि सर्वज्ञोक्त दर्शन पर श्रद्धा न करने का कारण यह है कि स्वयंकृत मोहनीयकर्म के फलस्वरूप तुम्हारी ज्ञानदृष्टि लुप्त या बन्द हो गयी है। जिस पुरुष का दर्शन यानी सम्यग्ज्ञान अत्यन्त रुक गया है, उसे निरुद्धदर्शन (**सुनिरुद्धदंसणे**) कहते हैं।

उसका ज्ञान किससे रुक गया इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा।**' जीवों को मोहित करने वाले मिथ्यादर्शन अथवा ज्ञानावरणीय आदि स्वकृत कर्मों के कारण उसका ज्ञान रुक गया है, अतः वह प्राणी सर्वज्ञोक्तमार्ग में श्रद्धा नहीं करता है। मोहनीयकर्म के कारण ही उन्हें सर्वज्ञोक्त आगमों पर विश्वास नहीं होता। और इसी कारण वे लोग एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। इससे समस्त व्यवहार का लोप हो जाता है। व्यवहार लोप हो जाने से उनका अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा। क्योंकि एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने पर कौन किसका पिता है ? कौन किसका पुत्र है ? इत्यादि व्यवहार भी नहीं हो सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना होने पर भी यदि तुम सर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार नहीं करोगे तो अन्धपुरुष के समान कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो जाओगे।

अथवा इस गाथा का अर्थ यह भी सम्भव है—हे अन्यदर्शन वाले पुरुष! चाहे तुम अदक्ष (अनिपुण) हो या दक्ष (निपुण) हो, जैसे भी हो, तुम्हें अचक्षु-दर्शन—केवलज्ञानी सर्वज्ञपुरुष द्वारा जो हित की प्राप्ति होती है, उनमें श्रद्धा करनी चाहिए।

तात्पर्यार्थ यह है कि अपने आग्रह को छोड़कर सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा करो, इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है।

मूल पाठ

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोगपूयणं।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुले पाणेहि संजए ॥१२॥

संस्कृत छाया

दुःखी मोहं पुनः पुनर्निर्विन्देत श्लोकपूजनम्।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आत्मतुल्यान् प्राणान् संयतः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**दुक्खी**) दुःखी जीव (**पुणो पुणो**) बार-बार (**मोहे**) मोह—विवेकमूढ़ता को प्राप्त करता है। (**सिलोगपूयणं**) अतः साधक अपनी स्तुति और पूजा को (**निव्विदेज्ज**) त्याग दे। (**एवं**) इस प्रकार (**सहिते**) ज्ञानादिसम्पन्न (**संजए**) संयमी साधु (**पाणेहि**) प्राणियों को (**आयतुलं**) आत्मतुल्य—अपने समान (**अहिपासए**) देखे।

भावार्थ

दुःखी जीव बार-बार मोह (विवेक) मूढ़ होते हैं। अतः साधक स्तुति से विरक्त रहे। इस प्रकार ज्ञानादि से सम्पन्न साधु समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य (अपने समान) देखे।

व्याख्या

सब प्राणियों को आत्मवत् समझे

इस गाथा में मोहमोहित जीवों की दशा बतलाकर ज्ञानादिसम्पन्न सुविहित साधक को स्वत्वमोह छोड़कर सभी जीवों को आत्मवत् देखने का उपदेश दिया गया है।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को दुःख कहते हैं अथवा असातावेदनीय के कारण का नाम दुःख है। जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नहीं, उसे भी दुःख कहते हैं। जिसको दुःख हो रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, उस प्राणी को दुःखी कहते हैं। दुःखी प्राणी दुःख में भान भूल जाता है। क्या करना और क्या न करना, इस बात का उसे विवेक नहीं रहता। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मनमानी करता रहता है। जो हितैषी उसे दुःख (आर्तध्यान) के समय उपदेश देता है, उसके उपदेश को भी वह मूढ़ ठुकरा देता है। सर्वज्ञ के उपदेश पर भी उसे विश्वास नहीं होता। और वह दुःख के आवेश में लगातार ऊटपटाँग कुकृत्य करके बार-बार मोहकर्मबन्धन कर लेता है। दूसरी बात यह है कि जो मानसिक दुःखी होता है, वह अपने को दूसरों की तुलना में नीची कोटि का मानकर जरा-जरा-सी बात में अपना अपमान समझ लेता है। वह अपने आपको उच्च स्थिति में एवं प्रतिष्ठित कहलाने के लिए पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कई हथकंडे अपनाता है। जरा-सी प्रतिष्ठा प्राप्त होते ही, समाज या राष्ट्र में एक दफा जरा-सा नाम चमकते ही वह दूसरों को अपने से तुच्छ, हीन, नीच समझने लगता है। इस प्रकार उच्च-नीच, छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे आदि विषमता की भावना का शिकार होकर वह विवेक-मूढ़ पुनः-पुनः मोहकर्मवश दुष्कर्म करता है, जिसके कारण दुःखी होता रहता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार इस गाथा के द्वितीय चरण में सुविहित साधुओं के लिए प्रेरणा देते हैं—**'निव्विदेज्ज सिलोगपूयणं।'** अपनी स्तुति-पूजा से दूर रहो। जहाँ एक बार भी पूजा, प्रतिष्ठा और यशकीर्ति की चाट लग गयी कि विवेकमूढ़ होकर तुम भी पुनः जरा-जरा-सी बात में अपमान, तिरस्कार समझकर मानसिक दुःखी बन जाओगे। इसलिए विवेकी बनकर सदैव प्रति आत्मवत् भावना रखो। अपने लिए उच्चता की भावना होगी, तो दूसरों को नीच और तुच्छ समझने की गलत वृत्ति पैदा होगी। इसीलिए नीचे की पंक्ति में कहा—**'एवं सहिते''' आयतुले पाणेहिं संजए।'** ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न (भरा-पूरा) साधु सबको आत्मतुल्य समझता है, वह किसी की निन्दा, अपकीर्ति, अपमान या बेइज्जती नहीं करता, और न ही अपने लिए पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा करता है। स्वपर-कल्याण में प्रवृत्त साधु सुख चाहने वाले दूसरे प्राणियों को अपने ही समान सुख को प्रिय तथा दुःख को अप्रिय मानने वाले समझे।

मूल पाठ

अगारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

संस्कृत छाया

अगारमप्यावसन्नर आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः।
समतां सर्वत्र सुव्रतो देवानां गच्छेत् स लोकम् ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अगारं पि य**) घर (गृहस्थ) में भी (**आवसे**) निवास करता हुआ (**नरे**) मनुष्य (**अणुपुव्वं**) क्रमशः (**पाणेहिं संजए**) प्राणियों पर संयम दयाभाव रखकर तथा (**सव्वत्थ**) सब प्राणियों पर (**समता**) समभाव रखता हुआ (**स**) वह (**सुव्वते**) व्रती श्रावक (**देवाणं**) देवों के (**लोगं**) लोक को (**गच्छे**) जाता है।

भावार्थ

जो पुरुष गृह (घर) में निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावकधर्म को प्राप्त करके प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हो जाता है तथा सर्वत्र समता रखता है, वह सुव्रती गृहस्थ भी देवों के लोक में चला जाता है।

व्याख्या

व्रतधारी गृहस्थ भी सुगति प्राप्त करता है

इस गाथा में सुव्रती गृहस्थ को भी देवलोक में सुगति बताकर प्रकारान्तर से महाव्रती साधु को अहिंसा और समता के उच्च आचरण की प्रेरणा दी गयी है—'**अगारं पि य आवसे ..... देवाणं गच्छे स लोगयं।**' आशय यह है कि गृहस्थ में रहता हुआ भी जो मनुष्य क्रमशः श्रावकधर्म को अंगीकार करके यथाशक्ति मर्यादानुसार प्राणिहिंसा पर संयम रखता है, तथा आर्हतप्रवचनोक्त समस्त एकेन्द्रियादि प्राणियों के प्रति समभाव रखकर अन्य प्राणियों को भी आत्मवत् मानता है, वह सुव्रती श्रावक गृहस्थ होकर भी इन्द्रादि देवों के लोक में जाता है, तो फिर पंचमहाव्रतधारी उत्कृष्ट संयमी महासत्त्व साधुओं की तो बात ही क्या ?

मूल पाठ

सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

संस्कृत छाया

श्रुत्वा भगवदनुशासनं सत्ये तत्र कुर्यादुपक्रमम्।
सर्वत्र विनीतमत्सरः उञ्छं भिक्षुर्विशुद्धमाहरेत् ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**भगवाणुसासणं**) भगवान् के अनुशासन—आगम को (**सोच्चा**) सुनकर (**तत्थ सच्चे**) उस प्रवचन (आगम) में कहे गए सत्य सिद्धान्त—संयम में अथवा उक्त आगमोक्त तथ्य-सत्य में (**उवक्कमं करेज्ज**) उद्योग—पराक्रम करे। (**सव्वत्थ**) सर्वत्र (**विणीयमच्छरे**) मत्सररहित होकर (**भिक्खु**) भिक्षाजीवी साधु (**विसुद्धं**) शुद्ध (**उंछं**) भिक्षा (**आहरे**) लाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

भगवान् के द्वारा प्ररूपित अनुशासन—आगम को सुनकर उसमें कहे गए सत्य—संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए। भिक्षाजीवी साधु को सर्वत्र मत्सर रहित रहना चाहिए और शुद्ध भिक्षा लानी चाहिए।

व्याख्या

भगवदनुशासन और भिक्षु का कर्तव्य

इस गाथा में तीन बातें साधुजीवन की चर्या से सम्बन्धित बताई हैं—(क) सर्वज्ञोक्त अनुशासन का श्रवण (२) तदनुसार सत्य में पुरुषार्थ और (३) समभावपूर्वक विशुद्ध भिक्षाचर्या।

सचमुच साधु को अपनी दिनचर्या उज्ज्वल रखने के लिए उक्त तीनों बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, समग्र ऐश्वर्य एवं मोक्ष इन विभूतियों से सम्पन्न वीतराग भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाते हैं। उनके द्वारा उक्त अनुशासन यानी उनकी आज्ञा को अपने गुरु या आचार्य से श्रवण करना भिक्षु की दिनचर्या का प्रधान अंग होना चाहिए। तत्पश्चात् उक्त अनुशासन के अनुसार जो सत्य—सिद्धान्त है, उसमें तथा संयम प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। वह पुरुषार्थ सभी पदार्थों के प्रति मत्सररहित एवं क्षेत्र, गृह, उपधि तथा शरीर आदि के प्रति ममता-तृष्णारहित, रागद्वेषरहित होकर करे। भिक्षाचर्या भी ४२ दोषों से रहित करनी चाहिए।

मूल पाठ

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

संस्कृत छाया

सर्वं ज्ञात्वाऽधितिष्ठेत् धर्मार्थ्युपधानवीर्यः ।
गुप्तो युक्तः सदा यतेतात्मपरयोः परमायतस्थितः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**सव्वं**) समस्त पदार्थों को (**नच्चा**) जानकर साधु (**अहिट्ठए**) सर्वज्ञोक्त संवर का अधिष्ठान—आधार ले। (**धम्मट्ठी**) धर्म का प्रयोजन रखे। (**उवहाणवीरिए**) तप में अपनी शक्ति लगाए, (**गुत्ते जुत्ते**) मन-वचन-काया की गुप्ति—रक्षा से युक्त होकर रहे (**सया**) सदा (**आयपरे**) स्वपर-कल्याण के विषय में अथवा आत्मपरक होकर (**जए**) प्रयत्न करे। (**परमायतट्ठिए**) और परमायत—मोक्ष के लक्ष्य में स्थित हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

साधु आगमों से, ग्रन्थों से तथा अन्य अनुभवों से समस्त पदार्थों को जान कर आश्रय—आधार सर्वज्ञोक्त संवर का ही ले। वह धर्म को अपना प्रयोजन समझे और बाह्य-आभ्यन्तर तप में ही अपनी समस्त शक्तियाँ लगाए तथा मन-वचन-काया की गुप्ति—रक्षा से युक्त होकर स्वपर-कल्याण के विषय में अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे; और परमायत —परमधाम—मोक्ष के लक्ष्य में स्थित रहे।

व्याख्या

साधु की मोक्षयात्रा के पाथेय

इस गाथा में पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने साधक की मोक्षयात्रा के कुछ पाथेयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है— (१) जाने सब कुछ, किन्तु आधार सर्वज्ञोक्त संवर का ले, (२) धर्म से ही अपना प्रयोजन रखे, (३) तपश्चर्या में ही अपनी शक्तियाँ लगाए, (४) तीन गुप्तियों से युक्त होकर रहे, (५) स्वपरकल्याण में अथवा आत्मपरक यत्न करे, (६) मोक्ष के लक्ष्य में डटा रहे। कितने सुन्दर और हितकर पाथेय बताए हैं मोक्षयात्री के लिए! इन्हें पाथेय के रूप में लेकर साधु अपनी मोक्षयात्रा करे तो सचमुच एक दिन मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इन छहों पर कुछ विचार कर लें—साधक बहुत-से पदार्थों को जानता है, उनमें से कुछ हेय होते हैं, कुछ उपादेय और कुछ ज्ञेय। इन सबका विश्लेषण करके छाँटने में छद्मस्थतावश कदाचित् साधु गड़बड़ा जाय, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—सर्वज्ञोक्त संवररूप अधिष्ठान—आधार में उनका मिलान करके चले। दूसरे नम्बर में वह धर्म को ही एक मात्र परम पदार्थ (मोक्ष प्राप्ति का उपादेय पदार्थ) समझे, शेष सबको अनर्थ समझे। तीसरे नम्बर में बाह्य-आभ्यन्तर द्वादश प्रकार के तप में ही अपनी शक्तियाँ लगाए, व्यर्थ के कार्यों में नहीं। चौथे नम्बर में त्रिगुप्तियों से युक्त रहे, ताकि आत्मा पापकर्मों से बच सके। पाँचवें नम्बर में स्वपर-कल्याण में या आत्मपरक होकर यत्न करे, अन्य अकल्याण या अहितकर प्रपंच में न लगे। तथा मोक्ष के सिवाय और कोई लक्ष्य न रखे। वही परम + आयतन = श्रेष्ठधाम है—आत्मा का।

मूल पाठ

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१६॥

संस्कृत छाया

वित्तं पशवश्च ज्ञातयस्तद् बालः शरणमिति मन्यते।
एते मम तेष्वप्यहं नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**बाले**) अज्ञानी जीव (**वित्तं**) धन (**य**) और (**पसवो**) पशुगण (**नाइयो**) तथा ज्ञाति (**तं**) इन्हें (**सरणंति**) अपना शरण (**मन्नइ**) मानता है। (**एते**) ये (**मम**) मेरे हैं, (**तेसु वी अहं**) और मैं इनका हूँ। (**नो ताणं**) वस्तुतः ये सब त्राण-रक्षक और (**सरणं**) शरण (**न विज्जई**) नहीं हैं।

भावार्थ

अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनों को अपना शरणभूत समझता है। ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, ऐसा समझता है। किन्तु वास्तव में ये उसके लिए न त्राणरूप हैं और न शरणरूप हैं।

व्याख्या

धन आदि पदार्थ शरणभूत नहीं

इस गाथा में अज्ञानी जीव की सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्ववृत्ति का वर्णन करके शास्त्रकार ने सुविहित साधक के लिए ममत्वत्याग ध्वनित कर दिया है।

वित्तं पसवो य·····सरणं ति मन्नइ—धन, धान्य, सोना, चाँदी, रत्न आदि को वित्त कहते हैं। हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि को पशु कहते हैं। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहन आदि स्वजन वर्ग को ज्ञातिजन कहते हैं। अज्ञानी जीव मोह-विकल होकर धन आदि सजीव-निर्जीव पदार्थों को अपने शरणभूत मानता है। वह समझता है कि ये धन, पशु और ज्ञातिजन मेरे परिभोग में सहायक, उपयोगी, रक्षण-दाता, और शरणदाता होंगे मैं इनके उपार्जन और पालन द्वारा सब उपद्रवों को नष्ट कर दूँगा। यही शास्त्रकार कहते हैं—'**एते मम तेसु वी अहं।**'

इसका निराकरण करते हुए यथार्थ वस्तुस्वरूप बताते हैं—'**नो ताणं सरणं न विज्जई।**' आशय यह है कि ये सभी पदार्थ न तो उसकी रक्षा कर सकते हैं और न शरण दे सकते हैं। क्योंकि जिस शरीर के लिए धनोपार्जन की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशी है। विद्वानों ने कहा है—

रिद्धी सहावचरला रोगजराभंगुरं हयसरीरं ।
दोण्हंपि गमणसीलाणं किच्चिरं होज्ज सम्बन्धो ?

अर्थात्—ऋद्धि स्वभाव से ही चंचल है, यह निकृष्ट शरीर रोग और बुढ़ापे से नश्वर है। इन दोनों गमनशील—नाशवान पदार्थों का सम्बन्ध कब तक रह सकता है?

मातापितृ सहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
प्रतिजन्मनि वर्त्तन्ते, कस्य मातापिताऽपि वा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—माता-पिता हजारों हुए और पुत्र-कलत्र (स्त्री) भी सैकड़ों हुए। ये तो प्रत्येक जन्म में होते हैं। वस्तुतः कौन माता है, कौन पिता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते हैं—नरक में गिरते हुए प्राणी की ये पिता आदि किसी प्रकार भी रक्षा नहीं कर सकते। जो पुरुष राग आदि से युक्त है, उसके लिए कहीं भी शरण नहीं है।

मूल पाठ

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

संस्कृत छाया

अभ्यागते वा दुःखेऽथवोत्क्रान्ते भवान्तिके।
एकस्य गतिश्चागतिः विद्वान् शरणं न मन्यते ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**अब्भागमितंमि दुहे**) दुःख आने पर (**अहवा**) अथवा (**उक्कमिते**) उपक्रम के कारणों से आयु नष्ट होने पर (**भवंतिए**) अथवा देहान्त (मृत्यु) होने पर (**एगस्स**) अकेले का ही (**गई य आगई**) जाना या आना होता है। (**विदुमंता**) अतः विद्वान् पुरुष (**सरणं**) धन आदि को अपना शरण (**ण मन्नई**) नहीं मानता है।

भावार्थ

जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दुःख आ पड़ता है, तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणों से आयु नष्ट होने पर या मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक में जाता है तथा वहाँ से मरकर पुनः आता है। इसलिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नहीं मानते।

व्याख्या

दुःखभोग तथा परलोक-गमनागमन अकेले का हो !

पूर्वगाथा में शास्त्रकार ने स्पष्टतः यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी पदार्थ किसी की रक्षा नहीं कर सकता एवं शरण नहीं दे सकता। इस गाथा में उसी के सन्दर्भ में यह बताया है कि कोई किसी का शरणदाता इसलिए नहीं है कि जीव अकेला (स्वयं) ही कर्म करता है, स्वयं ही उसका फल भोगता है, परलोक में भी अकेला ही जाता है, वहाँ से आयु पूर्ण कर पुनः अकेला ही आता है। तब कौन किसी को शरण दे सकता है ? इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**अब्भागमितंमि····सरणं ण मन्नई**।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि पूर्वजन्म में उपार्जित असातावेदनीयकर्म के उदय से जीव पर दुःख (रोग, बुढ़ापे आदि का) आ पड़ता है, तो वह उसे अकेला ही भोगता है। इसीलिए किसी विचारक ने कहा है :—

सयणस्स वि मज्झगओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो ।
सयणो विय से रोगं न विरंचइ नेव नासेइ ॥

अर्थात्—अपने स्वजनवर्ग के बीच में रहा हुआ भी व्यक्ति जब रोग से पीड़ित होता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है। स्वजनवर्ग उसके रोग को न तो घटा सकते हैं और न ही नष्ट कर सकते हैं। अथवा उपक्रम के कारणों से जब प्राणी की आयु नष्ट हो जाती है, अथवा आयु की अवधि पूर्ण होने पर जब मृत्यु-काल उपस्थित होता है, तब क्या कोई स्वजन उसकी मृत्यु को रोक सकता है या मृत्यु होने पर उसके साथ परलोक में जा सकता है या वहाँ से इस लोक में पुनः आ सकता है ? कदापि नहीं। प्राणी अकेला ही परलोक में जाता है और वहाँ से इस लोक में भी अकेला ही आता है। उस समय उसका कोई भी साथी नहीं होता। इसलिए विवेकी पुरुष, जो संसार के वस्तु स्वरूप को जानता है, वह धन आदि को अपना रक्षक या शरणरूप नहीं मानता। कहा भी है :—

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभाः भवावर्ते ।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥

अर्थात्—इस जगत् में जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है। तथा इस संसार चक्र में वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। इसलिए मरणपर्यन्त जीव को अकेले ही अपना हित सम्पादन करना चाहिए।

मूल पाठ

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुता ॥१८॥

संस्कृत छाया

सर्वे स्वकर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः ।
हिण्डन्ति भयाकुलाः शठाः, जाति-जरा-मरणैरभिद्रुताः ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**सव्वे पाणिणो**) समस्त प्राणिगण (**सयकम्मकप्पिया**) अपने-अपने कर्मों के कारण नाना अवस्थाओं से युक्त हैं और (**अवियत्तेण दुहेण**) सब अव्यक्त-अलक्षित दुःखों से दुःखी हैं। (**जाइ-जरा-मरणेहि**) जन्म जरा और मृत्यु से (**अभिद्दुता**) पीड़ित और (**भयाउला**) भय से आकुल (**सढा**) शठ—दुष्ट जीव (**हिंडंति**) बार-बार संसार चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओं से युक्त हैं। तथा सभी किसी न किसी अव्यक्त दुःख से दुःखित हैं। वे अनेक दोषों से दूषित (शठ) प्राणी जन्म-जरा-मरण से पीड़ित एवं भयाकुल होकर बार-बार संसार चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं।

व्याख्या

जीव का स्वकर्मसूत्र ग्रथित संसारभ्रमण

इस गाथा में पूर्वोक्त बात को सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार कर्मसिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—'**सव्वे सयकम्म ... अभिद्दुता।**' आशय यह है कि इस संसाररूपी गर्त में पड़े हुए समस्त प्राणिगण संसार में पर्यटन करते हुए स्वकृत ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के प्रभाव से सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, सम्मूर्छिम, गर्भज तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक नाना अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं में ये प्राणी शिरोवेदना आदि अनेक शारीरिक तथा अपमान, आपत्ति आदि मानसिक अलक्षित दुःखों से दुःखी होते हैं। यहाँ अव्यक्त दुःख उपलक्षण है, असाता-वेदनीयस्वरूप स्पष्ट प्रतीत होने वाले दुःखों से भी दुःखी होते हैं। वे अरहटयंत्र की तरह बार-बार उन्हीं योनियों में आते-जाते रहते हैं। यहाँ 'शठ' इसलिए कहा है कि वे शठ (दुष्ट) की तरह अनेक दुष्टकर्म करते हैं। किन्तु फल भोगते समय अत्यन्त भयाकुल होते हैं। बार-बार जन्म-जरा-मृत्यु से पीड़ित रहते हैं। इस प्रकार बार-बार संसारचक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं।

मूल पाठ

इणमेव खणं विजाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं।
एवं सहिएऽहिपासए आह जिणो इणमेव सेसगा ॥१६॥

संस्कृत छाया

इममेव क्षणं विज्ञाय, नो सुलभं बोधिं च आख्यातम्।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आह जिन इदमेव शेषकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**इणमेव**) यही (**खणं**) क्षण—अवसर है, (**बोहिं च**) बोधि—ज्ञान भी (**णो सुलभं**) सुलभ नहीं है, (**आहियं**) ऐसा कहा है, (**विजाणिया**) इस बात को जानकर (**सहिए**) ज्ञानादि सम्पन्न अथवा अपने हित को समझने वाला मुनि (**एवं**) इस प्रकार (**अहिपासए**) विचार करे (**जिणो**) तीर्थंकर ऋषभदेव ने कहा है, (**सेसगा**) और शेष तीर्थंकरों ने भी (**इणमेव**) यही कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

ज्ञानादि सम्पन्न अथवा स्वहितचिन्तक मुनि यह सोचे कि मोक्ष-साधन का यही उत्तम अवसर है। और सर्वज्ञों ने कहा है कि बोध प्राप्त करना सुलभ नहीं है। इस बात को विशेषरूप से साधक जान-समझ ले। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को यह उपदेश दिया था और शेष तीर्थंकरों ने भी यही कहा है।

व्याख्या

मोक्ष-साधना एवं बोधप्राप्ति का दुर्लभ अवसर मत खोओ

इस गाथा में मोक्ष साधना बोधि प्राप्ति के दुर्लभ अवसर की चर्चा करके शास्त्रकार ने अव्यक्त रूप से साधक को अवसर न खोने का संकेत कर दिया है—**'इणमेव खणं विजाणिया''''इणमेव सेसगा।'**

इणमेव खणं—यह क्षण (इदं क्षणं) में 'इणं' शब्द प्रत्यक्ष और समीप का वाचक है। क्षण शब्द यहाँ अवसर अर्थ में है। इसलिए साधक द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को मोक्ष साधना का यही और यहीं, इसी क्षेत्र और काल को उचित व श्रेष्ठ अवसर समझे। इन चारों में जंगम होना, पंचेन्द्रिय होना और उत्तम कुलोत्पत्ति तथा मनुष्यता प्राप्त होना यह द्रव्य-अवसर है, साढ़े पच्चीस जनपद रूप आर्यदेश प्राप्त होना, क्षेत्र-अवसर है। एवं अवसर्पिणी कालचक्र का चौथा, पाँचवाँ आरा आदि धर्मप्राप्ति के योग्य काल-अवसर है तथा उसमें श्रद्धान तथा चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विरति स्वीकार करने में उत्साहरूपभाव अनुकूलता भाव-अवसर है। शास्त्रकथन से ऐसे अवसर को तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को दुर्लभ जानकर तदनुरूप (यानी प्राप्त श्रेष्ठ अवसर तथा बोधि के अनुरूप) उचित कार्य सम्पादन करना चाहिए। अगर ऐसा अवसर प्राप्त होने पर भी साधक धर्माचरण नहीं करेगा तो बोधि प्राप्त करना सुलभ नहीं होगा। कहा भी है—

लद्धे हिलयं च बोहिं अकरेंतो अणागयं च पत्थेंतो।
अन्नं दाइं बोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?

अर्थात्—जो पुरुष प्राप्त बोधि का सदुपयोग नहीं करता, अर्थात् उसके अनुसार अनुष्ठान नहीं करता और भविष्यत्कालीन बोधि की अभिलाषा रखता है, अर्थात् यह चाहता है कि भविष्य में मुझे पुनः बोधि प्राप्त हो, वह दूसरों को बोधि देकर क्या मूल्य चुकाकर पुनः बोधिलाभ करेगा ?

अतः ज्ञानादिसम्पन्न साधक को दीर्घदृष्टि से यह सोचना चाहिए कि एक बार बोधिलाभ का अवसर खो दिया तो फिर उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक फिर बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करना दुष्कर होगा। अतः मुनि सदैव बोधि-दुर्लभता का ध्यान रखे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह उपदेश रागद्वेषविजेता भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापदपर्वत पर अपने पुत्रों को दिया था, अन्य जिनेश्वरों ने भी यही बात कही है।

मूल पाठ

अभविंसु पुरावि भिक्खवो, आएसावि भवंति सुव्वया।
एयाइं गुणाइं आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

संस्कृत छाया

अभवन् पुराऽपि भिक्षवः ! आगामिनश्च भवन्ति सुव्रताः।
एतान् गुणान् आहुस्ते काश्यपस्याऽनुधर्मचारिणः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खवो**) हे साधुओ ! (**पुरावि**) पूर्वकाल में भी (**अभविंसु**) जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, और (**आएसावि**) भविष्य में भी (**भवंति**) जो होंगे, (**ते सुव्वया**) उन सुव्रत पुरुषों ने (**एयाइं गुणाइं**) इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधन (**आहु**) कहा है, (**कासवस्स अणुधम्मचारिणो**) काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधकों ने भी यही कहा है।

भावार्थ

भिक्षुओ ! पूर्वकाल में जो सर्वज्ञ हो चुके हैं और भविष्य में जो होंगे, उन सभी सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधन बताया है, तथा भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर के धर्मानुगामी साधकों ने भी इन्हीं गुणों को मोक्ष के साधक कहा है।

व्याख्या

मोक्षसाधक गुणों के सम्बन्ध में सभी तीर्थंकर एकमत

इस गाथा में पूर्वोक्त सभी गाथाओं में निरूपित मोक्षसाधक गुणों के सम्बन्ध में भूत, भविष्य के समस्त तीर्थंकरों तथा वर्तमानकालीन आदितीर्थंकर तथा चरम-तीर्थंकर के समस्त धर्मानुयायी साधकों का एकमत बताया है। शास्त्रकार भिक्षुओं को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे भिक्षुओ ! ये जो पूर्वोक्त गाथाओं में मोक्ष-साधक गुणों का कथन किया है, वे सब मेरे द्वारा ही कथित नहीं हैं, पूर्वकाल में जितने भी सर्वज्ञ हो चुके हैं या भविष्य में होंगे, उन सबका इन मोक्षसाधक गुणों के सम्बन्ध में एकमत है। यहाँ '**सुव्वया**' शब्द से यह भी ध्वनित कर दिया है कि उन पुरुषों को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, तथा होगी, वह उत्तम व्रतों के पालन से हुई थी तथा होगी। पूर्वोक्त गुण ही मोक्षसाधक हैं, इस विषय में सर्वज्ञों का कोई मतभेद नहीं है। वे सब काश्यपगोत्रीय आदितीर्थंकर एवं अन्तिम तीर्थंकर द्वारा आचरित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का ही आचरण करने वाले थे, उन्होंने भी इन्हीं गुणों को मोक्षसाधक बताया है। मोक्षसाधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, अन्य नहीं।

मूल पाठ

तिविहेणवि पाण मा हणे, आयहिते अणियाणसंवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे य अणागयावरे ॥२१॥

संस्कृत छाया

त्रिविधेनाऽपि प्राणान् माहन्यादात्महितोऽनिदानसंवृतः।
एव सिद्धा अनन्तशः सम्प्रति ये चाऽनागता अपरे ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**तिविहेणवि**) मन, वचन और काया, इन तीनों से (**पाण मा हणे**) प्राणियों का हनन नहीं करना चाहिए। तथा (**आयहिते**) अपने हित में प्रवृत्त एवं (**अणियाणसंवुडे**) स्वर्गादि सुखों के निदान (भोगेच्छा) से रहित गुप्त रहना चाहिए। (**एवं**) इस प्रकार (**अणंतसो**) अनन्तजीव (**सिद्धा**) सिद्ध—मुक्त हुए हैं तथा (**संपइ जे य अवरे अणागया**) वर्तमानकाल में और भविष्य में भी दूसरे अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।

भावार्थ

साधक को मन-वचन-काया, इन तीनों योगों से प्राणियों का प्राण-हनन नहीं करना चाहिए। तथा अपने हित में संलग्न रहकर, स्वर्गादि सुख-भोगों के निदान से रहित होकर संयम पालन करना चाहिए। इस प्रकार की साधना से ही अतीत में अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है, वर्तमान काल में भी मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा भविष्य में करेंगे।

व्याख्या

त्रैकालिक मुक्त साधकों का मोक्षप्राप्ति में एकमत

पूर्वगाथाओं में प्रतिपादित मोक्षसाधक गुणों का निरूपण करके शास्त्रकार ने तीनों काल में मुक्तात्माओं का इस सम्बन्ध में एकमत बताया है। '**तिविहेणवि ..... जे य अणागयावरे।**' अर्थात् मन-वचन-काया इन तीन योगों से तथा कृत-कारित-अनुमोदित, इन तीन करणों से प्राणियों के दशविध प्राणों में से किसी भी प्राण का हनन नहीं करना चाहिए, यह प्रथम महाव्रत का स्वरूप है। उपलक्षण से यहाँ शेष सभी महाव्रतों का पालन समझ लेना चाहिए। आत्महित में संलग्न तथा मन-वचन-काया की तीन गुप्तियों से गुप्त-संवरयुक्त रहता है एवं स्वर्गादि सुखभोग के निदान से दूर रहता है, वह साधक अवश्य ही मुक्ति-सिद्धि प्राप्त करता है। पूर्वोक्त मार्ग का अनुष्ठान करके भूतकाल में अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, भविष्य में भी पूर्वोक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग का अनुष्ठान करके ही अनन्त जीव सर्व कर्मक्षय करके सिद्ध होंगे तथा वर्तमान काल में भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्र से पूर्वोक्त उपाय से अनन्त जीव सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धि-मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है।

मूल पाठ

एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी, अणुत्तरदंसी, अणुत्तरणाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥२२॥

त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

एवं स उदाहृतवान्ननुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान् वैशालिको व्याख्यातवान् ॥२२॥

इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**से**) उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने (**उदाहु**) कहा था, जिसे (**अणुत्तरणाणी**) उत्तम ज्ञानी, (**अणुत्तरदंसी**) श्रेष्ठ दर्शन वाले, (**अणुत्तरणाणदंसणधरे**) सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक (**अरहा**) इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (**नायपुत्ते**) ज्ञातपुत्र (**भगवं**) ऐश्वर्यादिगुणयुक्त भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने (**वेसालिए**) विशालानगरी में (**आहिए**) कहा था, (**त्ति बेमि**) सो मैं तुमसे कहता हूँ।

भावार्थ

इस प्रकार उन भगवान् ऋषभदेव स्वामी ने अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रों से कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, उत्तमदर्शन वाले, सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक, इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य अर्हन् ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था, सो मैं (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

व्याख्या

यह उपदेश किसने, कहाँ और किससे कहा ?

इस गाथा में इस द्वितीय अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार यह बताते हैं कि यह उपदेश किस-किस ने, कहाँ-कहाँ, किस-किस से कहा था ? '**ऐवं से···· वेसालिए वियाहिए।**' आशय यह है कि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीन उद्देशकों में जो उपदेश दिया गया है, वह भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को लक्ष्य करके अष्टापद पर दिया था। उसे भगवान् महावीर स्वामी ने हमें (गणधरों को) विशालानगरी में फरमाया था, उसी को मैं (सुधर्मास्वामी) तुमसे (जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से) कहता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे उत्तम कोई ज्ञान तथा दर्शन नहीं है, उसे क्रमशः अनुत्तरज्ञान एवं अनुत्तरदर्शन कहते हैं। भगवान् को यहाँ अनुत्तरज्ञानी एवं अनुत्तरदर्शी कहा गया है। अर्थात् भगवान् अपने से कथंचित् भिन्न ज्ञान-दर्शन के आधार थे। **अरहा** का अर्थ है—पूज्य। भगवान् इन्द्र आदि देवों द्वारा ही नहीं, समस्त मनुष्य एवं तिर्यंचों द्वारा पूजनीय थे। '**वेसालिए**' के दो अर्थ निकलते हैं—(१) विशालानगरी में कहा गया प्रवचन, (२) विशाला कुल में उत्पन्न वैशालिक। अथवा वैशालिक शब्द से यहाँ भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर दोनों अर्थ निकाले जाते हैं। जैसे कि कहा है—

विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः॥

अर्थात्—जिनकी माता विशाला थी, कुल भी विशाल था, जिनका प्रवचन भी विशाल था, इस कारण जिनेश्वरदेव को वैशालिक कहते हैं।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ।

॥ सूत्रकृतांगसूत्र का द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

उपसर्गपरिज्ञा

इससे पूर्व पहले और दूसरे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। पहले अध्ययन में स्व-समय-परसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ में यह बताया गया था कि कर्म-बन्धन और उनके कारणों को स्वसिद्धान्त की दृष्टि से ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से तोड़े। तदनन्तर द्वितीय अध्ययन में उसी के सन्दर्भ में कर्म-विदारण (कर्मबन्धनों को तोड़ने) के लिए साधना के विभिन्न पहलुओं को लेकर उपदेश (भगवान् ऋषभदेव की भाषा में) दिया गया था। अब तृतीय अध्ययन में यह बताया गया है कि कर्म-विदारण करते समय प्रसंगवश '**सम्बुद्धस्सुवसग्गा०**' इस पूर्व गाथानुसार सम्बुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक के सामने कई अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग आने सम्भव हैं। अतः 'बोधसम्पन्न एवं संयमपरायण मुनि उपसर्ग आने पर समभावपूर्वक सहन करे;' यह बताया है।

इस अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

'उपसर्गपरिज्ञा' नामक इस अध्ययन में श्रमणधर्म का पालन करते समय आने वाले कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का निरूपण है। यहाँ अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। अध्ययन अर्थाधिकार तो '**सम्बुद्धस्सुवसग्गा०**' इत्यादि गाथा के द्वारा निर्युक्तिकार ने पहले ही बता दिया है। उद्देशार्थाधिकार इस प्रकार है—इस अध्ययन में चार उद्देशक हैं। इस सम्बन्ध में निर्युक्ति की गाथाएँ इस प्रकार हैं—

पढमंमि य पडिलोमा हुंती, अणुलोमगा य बितीयंमि।
तइए अज्झत्तविसीअणं च परवादिवयणं च ॥४९॥
हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समयपडिएहिं णिउणेहिं।
सीलखलितपण्णवणा, कया चउत्थंमि उद्देसे ॥५०॥

अर्थात्—प्रथम उद्देशक में प्रतिलोम—प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है, द्वितीय उद्देशक में अनुलोम—स्वजनकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है, तदनन्तर तृतीय उद्देशक में आत्मा में विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिकों के तीक्ष्णवचनरूप उपसर्गों का विवेचन है। इसके पश्चात् चतुर्थ उद्देशक में अन्यतीर्थिकों के हेतुसदृश प्रतीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने वाले हेत्वाभासों से वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप में ग्रहण करने से जिनका चित्त मोहित एवं शीलभ्रष्ट हो जाता है, उन्हें स्वसिद्धान्तप्रसिद्ध युक्तिसंगत हेतुओं द्वारा यथार्थ बोध देकर उक्त उपसर्ग में स्थिर रहने का उपदेश दिया गया है।

उपसर्ग : स्वरूप, अर्थ, प्रकार और विश्लेषण

उपसर्ग का स्वरूप बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—

'आगंतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।'

जो किसी देवता, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थों से आता है तथा जो देह को अथवा संयम को पीड़ित करता है, वह उपसर्ग कहलाता है। उपताप, शरीरपीड़ोत्पादक, इत्यादि शब्द उपसर्ग के पर्यायवाची हैं। उपसर्ग या तो देवकृत होते हैं, या मनुष्यकृत होते हैं, अथवा तिर्यंचकृत होते हैं अथवा आत्मसंवेदनरूप होते हैं।

उपसर्ग को विभिन्न दृष्टियों से समझने के लिए उसके अर्थ निरूपक ६ निक्षेप किये जाते हैं—नाम-उपसर्ग, स्थापना-उपसर्ग, द्रव्य-उपसर्ग, क्षेत्र-उपसर्ग, काल-उपसर्ग और भाव-उपसर्ग। किसी का गुणशून्य उपसर्ग नाम रख देना नाम-उपसर्ग है। उपसर्ग सहन करने वाले की या उपसर्ग को सहन करते समय की अवस्था (पोज) चित्रित करना या उसका कोई प्रतीक रखना स्थापना-उपसर्ग है। द्रव्य-उपसर्ग उपसर्ग करने वाले या यों कहें कि उपसर्ग करने के साधनों के रूप में दो प्रकार का होता है—सचेतन द्रव्य का और अचेतन द्रव्य का। चेतन प्राणी तिर्यञ्च और मनुष्य अपने अंगों का घात करके जो उपसर्ग (देहपीड़ा) उत्पन्न करते हैं, वह सचित्त-द्रव्यकृत उपसर्ग है तथा काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यों के द्वारा किया हुआ अपने अंगों का घात आदि अचित्तद्रव्यकृत उपसर्ग है। जिस क्षेत्र में क्रूर जीव तथा चोर आदि के द्वारा शरीर पीड़ा आदि होती है या कोई वस्तु किसी क्षेत्र में दुःख उत्पन्न करती है, उसे क्षेत्रोपसर्ग कहते हैं। ऐसे क्षेत्र लाढ़ आदि अनार्य देश हैं। क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघमयरूप' भी होता है। इसके अनुसार जिस क्षेत्र में समूह रूप से बहुत-से भयस्थान या खतरे होते हैं, वह क्षेत्रोपसर्ग 'बह्वोघमय' होता है। जिस काल में एकान्तरूप से दुःख ही होता है, वह दुःषम आदि काल कालोपसर्ग है। ग्रीष्म, शीत आदि भी अपने-अपने समय में दुःख उत्पन्न करते हैं, उसे भी कालोपसर्ग कहा जा सकता है। ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मों का उदय होना, भावोपसर्ग है।

नाम-स्थापना को छोड़कर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग औधिक और औपक्रमिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अशुभ कर्मप्रकृति से उत्पन्न भाव-उपसर्ग को औधिक उपसर्ग कहते हैं तथा डंडा, चाबुक, शस्त्र आदि के द्वारा दुःख की उत्पत्ति करने वाला उपसर्ग औपक्रमिक उपसर्ग कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कर्म उदय को प्राप्त नहीं है, उसका उदय होना, उपक्रम कहलाता है। जिस द्रव्य के उपयोग करने से अथवा जिस वस्तु के द्वारा असातावेदनीय आदि अशुभ कर्म का उदय (उपक्रम) होता है और जिसके उदय होने से अल्पपराक्रमी साधक के संयम का विनाश—विघात हो जाता है, या संयम में विघ्न पैदा हो जाता है, उस द्रव्य के द्वारा उत्पन्न संयम-विघातक उपसर्ग को औपक्रमिक उपसर्ग कहते हैं।

इस जगत् में मोक्षप्राप्ति के लिए प्रवृत्त मुनियों का संयम ही मोक्ष का प्रधान कारण है। अतः इस संयम में विघ्न पैदा करने का जो कारण है, उस औपक्रमिक उपसर्ग का ही यहाँ वर्णन है, औधिक उपसर्ग का नहीं।[1]

वह औपक्रमिक उपसर्ग द्रव्य रूप से चार प्रकार का है—देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत एवं आत्मसंवेदनकृत।

देवकृत आदि उपसर्गों के प्रत्येक के चार-चार प्रकार होते हैं। देवकृत (दिव्य) उपसर्ग हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए तथा नाना कारणों से होता है। मनुष्यकृत उपसर्ग भी हास्य से, द्वेष से, परीक्षार्थ तथा कुशील-सेवनार्थ होता है। तिर्यञ्चकृत उपसर्ग भी चार प्रकार के होते हैं—भय के कारण, द्वेष के कारण, आहार करने के लिए तथा अपने बच्चे आदि की रक्षा के लिए। आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग भी चार प्रकार के होते हैं—नेत्र आदि अंगों को रगड़ने (घर्षण) से, अंगुलि आदि अंगों के कट जाने या सट जाने से, स्तम्भन—रक्त आदि का संचार रुक जाने से तथा ऊपर से गिर जाने से। अथवा वात, पित्त, कफ और इनके समूह से उत्पन्न चतुर्विध उपसर्ग भी आत्मसंवेदनरूप कहलाते हैं।

पूर्वोक्त देवकृत आदि चारों प्रकार के उपसर्ग अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से ८ प्रकार के हैं। देवकृत आदि चारों उपसर्गों के साथ प्रत्येक के पूर्वोक्त चार-चार प्रकारों को जोड़ने से या परस्पर मिलाने से उपसर्गों के १६ भेद होते हैं। ये उपसर्ग किस-किस तरीके से प्राप्त होते हैं, और प्राप्त हुए इन उपसर्गों को सहन करने में क्या-क्या पीड़ा होती है ? इस अध्ययन में उन्हीं का वर्णन किया जायगा। यही इस अध्ययन का अर्थाधिकार है।

---

१. देखिए निर्युक्तिकार का कथन—

उवक्कमिओ संजमविग्घकरे, तत्थ उवक्कमे पगयं।
दव्वे चउव्विहो देव-मणुय-तिरियायसंवेत्तो ॥४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम उद्देशक : प्रतिकूल उपसर्गाधिकार

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रथम उद्देशक में प्रतिकूल उपसर्ग का अर्थाधिकार है। अतः इस उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥ ॥

संस्कृत छाया

शूरं मन्यत आत्मानं यावज्जेतारं न पश्यति ।
युध्यन्तं दृढधर्माणं, शिशुपाल इव महारथम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(**जाव**) जब तक (**जेयं**) विजेता पुरुष को (**न पस्सती**) नहीं देखता है, तब तक कायर (**अप्पाणं**) अपने आपको (**सूरं**) शूरवीर (**मण्णइ**) मानता है। (**जुज्झंतं**) युद्ध करते हुए (**महारहं**) महारथी (**दढधम्माणं**) दृढ़धर्मा—अपने प्रण पर दृढ़ कृष्ण को देखकर (**सिसुपालो व**) जैसे शिशुपाल क्षोभ को प्राप्त हुआ था।

भावार्थ

कायर पुरुष तब तक ही अपने आपको संग्रामवीर मानता है, जब तक अपने सामने विजयी वीर को नहीं देख लेता। जैसे शिशुपाल स्वयं को शूरवीर मान रहा था, लेकिन जब उसने युद्ध करते हुए महारथी एवं दृढ़धर्मा कृष्ण को देखा तो उसके छक्के छूट गये थे।

व्याख्या

कायर तभी तक अपने को शूरवीर मानता है·····

इस गाथा में अपनी शेखी बघारने और झूठी डींग हाँकने वाले अल्पसत्त्व साधक को संयमपालन के समय उपस्थित होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को सहने में अपनी शक्ति को तौलने और अगर मनोबल कम हो, तो उसे अच्छी तरह भरने की दृष्टि से दृष्टान्त देकर प्रेरित किया गया है। क्योंकि दृष्टान्त के माध्यम से सर्वसाधारण व्यक्ति शीघ्र वस्तुतत्त्व को समझ सकता है। इसी हेतु से कहा है—'**सूरं मण्णइ** ·· ····**महारहं**।' तात्पर्य यह है कि रणक्षेत्र में कायर पुरुष तभी तक बिना बरसने वाले बादलों की तरह गर्जता है, और अपनी बड़ी लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकता है—"मेरे बाप-दादा ऐसे थे, मैं ऐसा हूँ, मैंने अमुक को हरा दिया, अमुक को छठी का दूध याद दिला दिया, शत्रु की सेना में मेरे सरीखा कोई बहादुर नहीं है। मैं अकेला ही संपूर्ण शत्रु-समूह को चारों खाने चित्त कर दूंगा," जब तक कि शस्त्र ऊँचा उठाये हुए युद्ध के लिए सामने उपस्थित विजेता प्रतियोद्धा को नहीं देख लेता। कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तावद्गजः प्रस्रुतदानगण्डः करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि ।
यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु लांगूलविस्फोटरवं शृणोति ।।

अर्थात्—मदोन्मत्त हाथी तभी तक बेमौसम के बादलों के समान घोर गर्जना करता है जब तक गुफा में स्थित केसरीसिंह की दहाड़ और पूँछ की फटकार नहीं सुन लेता ।

इस सम्बन्ध में शिशुपाल और श्रीकृष्ण का दृष्टान्त देखकर शास्त्रकार वस्तु-तत्त्व को समझाते हैं—

वसुदेव की बहन के गर्भ से दमघोष राजा का पुत्र शिशुपाल उत्पन्न हुआ । उसके चार भुजाएँ थीं । इस कारण उसकी माता ने उसकी चार भुजाएँ एवं उसके अद्भुत पराक्रम तथा कलहकारी स्वभाव को देखकर उसके जीवन का भविष्य जानने के लिए ज्योतिषी को बुलाया । ज्योतिषी ने उसकी जन्मपत्री पर से ग्रहगोचर देख-कर प्रसन्नहृदया माद्री से भविष्यफल बताते हुए कहा—"तुम्हारा पुत्र अत्यन्त बलवान् और युद्ध में अजेय होगा, परन्तु जिसे देखकर तुम्हारे पुत्र की स्वाभाविकरूप से दो ही भुजाएँ रह जायँ, समझ लेना निःसन्देह उसी पुरुष से इसे भय होगा ।" इसके पश्चात् भयभीत माद्री (कृष्ण की फूफी) ने अपने पुत्र को कृष्ण को दिखाया । ज्यों ही कृष्ण ने माद्रीसुत शिशुपाल को देखा, त्यों ही उसकी स्वाभाविक दो ही भुजाएं रह गयीं । यह जानकर माद्री (कृष्ण की फूफी) ने अपने पुत्र को श्रीकृष्ण के चरणों में झुकाकर प्रार्थना की—"श्रीकृष्ण ! यह लड़का यदि अपमान कर दे तो नादान समझकर क्षमा कर देना ।" श्रीकृष्ण ने भी उसके सौ अपराध क्षमा करने की प्रतिज्ञा की । इसके पश्चात् शिशुपाल जब जवान हुआ तो यौवनमद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गाली देने लगा । यद्यपि श्रीकृष्ण दण्ड देने में समर्थ थे, तथापि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसके अपराधों को सहन करते रहे । जब शिशुपाल के सौ अपराध पूर्ण हो गये, तब श्रीकृष्ण ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं माना ।

एक बार किसी बात को लेकर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के साथ युद्ध छेड़ दिया । जब तक श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध के मैदान में नहीं आये थे, तब तक वह अपने और प्रतिपक्षी सैन्य के लोगों के सामने बढ़चढ़कर अपनी शेखी बघारने लगा । किन्तु ज्यों ही शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए युद्ध में दृढ़ स्वभाव वाले श्रीकृष्ण को सामने उप-स्थित देखा, त्यों ही उसके हौंसले पस्त हो गये । वह घबराकर पानी-पानी हो गया । किन्तु अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए वह श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा । अन्ततः उसके सौ अपराध पूरे हुए देख श्रीकृष्ण ने चक्र के द्वारा उसका सिर काट दिया ।

अब इसी बात को शास्त्रकार दैनन्दिन अनुभवसिद्ध उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिविच्छए ॥२॥

संस्कृत छाया

प्रयाताः शूरा रणशीर्षे संग्रामे उपस्थिते ।
माता पुत्रं न जानाति, जेत्रा परिविक्षितः ॥२॥

अन्वयार्थ

(**संगामम्मि**) युद्ध (**उवट्ठिते**) छिड़ने पर (**रणसीसे**) युद्ध के अग्रभाग में (**पयाता**) गये हुए (**सूरा**) वीराभिमानी पुरुष (**माया**) माता (**पुत्तं**) अपने पुत्र को (**न जाणाइ**) गोद से गिरता हुआ नहीं जानती है। तब ऐसे व्यग्रताजनक युद्ध में वे (**जेएण**) विजेता पुरुष के द्वारा (**परिविच्छए**) क्षत-विक्षत होकर दीन हो जाते हैं।

भावार्थ

युद्ध छिड़ने पर वीराभिमानी कायर पुरुष भी युद्ध के मोर्चे पर चले जाते हैं, किन्तु दिल दहलाने वाला युद्ध जब प्रारम्भ होता है, जिस युद्ध में घबराहट के कारण माँ अपने गोद से गिरते हुए बच्चे को नहीं जानती, ऐसे कलेजा कँपाने वाले भयंकर युद्ध में, जब वे विजेता पुरुष के द्वारा बुरी तरह क्षतविक्षत (घायल) कर दिये जाते हैं, तब दीन हो जाते हैं।

व्याख्या

वीराभिमानी युद्ध के मोर्चे पर तो चला जाता है, पर·····

इस गाथा में पूर्ववत् वही बात दुहराकर दूसरे पहलू से उठायी गयी है—'**पयाता सूरा····· जेएण परिविच्छए**।' आशय यह है कि पूर्वगाथा में उक्त वीराभिमानी के तो प्रतिसुभट को देखते ही छक्के छूट जाते हैं, परन्तु वह युद्ध के मोर्चे पर डट जाता है, रण में दो हाथ भी बताता है, किन्तु जब घायल हो जाता है तब दीन हो जाता है। अर्थात् संग्राम छिड़ने पर वीरत्वाभिमानी पुरुष अपनी प्रशंसापूर्वक गर्जते हुए तेजी से चल कर युद्ध के मोर्चे (अग्रभाग) पर तो चले जाते हैं, किन्तु जब उनके साहस को चुनौती वाला युद्ध प्रारम्भ होता है और शत्रुदल के वीर पुरुष शस्त्र-अस्त्र की वर्षा करने लगते हैं, तब वे भय के मारे घबरा उठते हैं। वह युद्ध कैसा भीषण होता है, इसे सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। उस युद्ध की भयंकरता से घबराहट में आयी हुई माता को अपनी गोद से गिरते हुए प्यारे पुत्र का भी ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार शत्रुदल के सुभटों द्वारा चलाये हुए अस्त्र-शस्त्रादि से वे घायल एवं दीन होकर गिर जाते हैं, उन अल्पसत्त्व पुरुषों का साहस टूट जाता है।

अगली गाथा में इन्हीं दृष्टान्तों पर दार्ष्टान्तिक घटाते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

संस्कृत छाया

एवं शैक्षोऽप्यस्पृष्टो, भिक्षाचर्याऽकोविदः ।
शूरं मन्यत आत्मानं, यावद् रूक्षं न सेवते ॥३॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इसी तरह (**भिक्खायरिया अकोविए**) भिक्षाचरी में अनिपुण तथा (**अप्पुट्ठे**) परीषहों व उपसर्गों का स्पर्श नहीं पाया हुआ (**सेहेवि**) नवदीक्षित साधु भी (**अप्पाणं**) अपने आपको तब तक (**सूरं**) शूर (**मण्णति**) मानता है, (**जाव**) जब तक वह (**लूहं**) कर्म चिपकने के कारण अभावरूप संयम का (**न सेवए**) सेवन नहीं करता है ।

भावार्थ

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रुदल के वीरों से घायल नहीं किया जाता, तब तक अपने को वीर मानता है, वैसे ही भिक्षाचरी में अनिपुण तथा परीषहों एवं उपसर्गों का स्पर्श नहीं पाया हुआ (इनसे अछूता) नवदीक्षित साधक भी तभी तक अपने को वीर मानता है, जब तक वह संयम का सेवन —आचरण नहीं करता ।

व्याख्या

नवदीक्षित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है

इस गाथा में पूर्व गाथाद्वय में प्रस्तुत किये हुए दृष्टान्तों को नवदीक्षित एवं उपसर्गों का सामना करने में अनभ्यस्त साधक पर घटाते हैं—'**एवं सेहेवि ··· लूहं न सेवए ।**"

'**एवं**' शब्द यहाँ पूर्वोक्त दृष्टान्तों को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जैसे स्वयं को शूर मानने वाला वह पुरुष बड़े जोर-शोर से सिंहनाद करता हुआ संग्राम के मोर्चे पर चला जाता है, वहाँ वह युद्ध करते हुए वज्रसंकल्प प्रतियोद्धा या किसी वीरपुरुष को देखकर जैसे हतोत्साह या घायल होकर दीन हो जाता है, इसी तरह परीषहों एवं उपसर्गों से अपरिचित -अछूता तथा भिक्षाचरी एवं अन्य साध्वाचार में नवदीक्षित होने के कारण अनिपुण साधक गर्जता है —"अरे ! संयम-पालन करना क्या दुष्कर है ? वह तो मेरे लिए बांये हाथ का खेल है ।" वह शिशुपाल की तरह तभी तक स्वयं को उपसर्गों का सामना करने में वीर मानता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक विजयी पुरुष की तरह वह संयम का सेवन नहीं करता है। यहाँ संयम को रूक्ष इसलिए कहा गया है कि उसके होने पर कर्म नहीं चिपकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रूक्ष संयम को प्राप्त करके भी उपसर्गों का सामना करने में अनभ्यस्त नौसिखिये साधक अपराक्रमी ही सिद्ध होते हैं, वे हतोत्साह होकर मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं।

उपसर्ग सहने में अनभ्यस्त साधक कैसे घबरा जाता है, इसे ही अगली गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

जया हेमंतमासंमि सीतं फुसइ सव्वंगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ॥४॥

संस्कृत छाया

यदा हेमंतमासे शीतं स्पृशति सर्वांगम् ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति राज्यहीना इव क्षत्रियाः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**जया**) जब (**हेमंतमासंमि**) हेमन्तऋतु में (**सीतं**) भयंकर शीत—ठण्ड (**सव्वंगं**) समस्त अंगों को (**फुसइ**) स्पर्श करती है, (**तत्थ**) तब (**मंदा**) मन्द—विवेकमूढ़ या अल्पपराक्रमी साधक (**रज्जहीणा**) राज्यभ्रष्ट (**खत्तिया व**) क्षत्रिय की तरह (**विसीयंति**) विषाद (खेद) पाते हैं।

भावार्थ

जब हेमंतऋतु के महीनों में कड़कड़ाती ठण्ड सारे अंगों को स्पर्श करती, कंपा देती है, तब मन्द—अल्पसत्त्व साधक राज्यभ्रष्ट क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते हैं।

व्याख्या

भयंकर शीतस्पर्श से मन्द साधक को विषाद

इस गाथा में शीत-उपसर्ग का सामना करने में कायर साधक की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा है—'**जया हेमंतमासंमि ..... खत्तिया।**' आशय यह है कि कायर साधक हेमन्तऋतु में—पौष, माघ आदि महीनों में जब कि बर्फीली ठण्डी हवाएँ कलेजे को चीरने लगती हैं, तब उस असह्य शीत के स्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी गुरुकर्मी साधक इस प्रकार का विषाद अनुभव करते हैं, जैसे राज्य से च्युत क्षत्रिय-शासक विषाद अनुभव करते हैं। जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन में खेद करता है कि लड़ाई भी लड़ी, इतने आदमी भी मारे गये और राज्य भी खोया, वैसे ही उपसर्ग सहने में कायर साधक भी कड़ाके की ठण्ड का उपसर्ग आने पर इस प्रकार सोचकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खिन्न होता है कि "मैंने घरबार भी छोड़ा, सुख-सुविधाएँ भी छोड़ीं, परिवार वालों को भी रुष्ट किया, फिर भी ऐसी असह्य सर्दी का सामना करना पड़ रहा है।"

अब उष्ण परीषह के विषय में कहते हैं—

मूल पाठ

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

संस्कृत छाया

स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन विमनाः सुपिपासितः।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्या अल्पोदके यथा ॥५॥

अन्वयार्थ

(**गिम्हाहितावेणं**) ग्रीष्मऋतु के अभिताप—गर्मी से (**पुट्ठे**) स्पर्श पाया हुआ साधक (**विमणे**) उदास और (**सुपिवासिए**) प्यास से व्याकुल एवं दीन हो जाता है। (**तत्थ**) उस समय (**मंदा**) मन्द—अल्पशक्तिमान साधक (**विसीयंति**) इस प्रकार विषाद पाते हैं, (**जहा**) जैसे (**अप्पोदए**) थोड़े-से पानी में (**मच्छा**) मछलियाँ तड़पती हैं।

भावार्थ

ज्येष्ठ-आषाढ़ महीनों में जब भयंकर गर्मी का परीषह नवदीक्षित साधक को स्पर्श करता है, तब गर्मी से पीड़ित और प्यास से व्याकुल साधक उदास हो जाता है। उस समय अल्पपराक्रमी विवेकमूढ़ साधक इस प्रकार तड़पते हैं, जैसे थोड़े-से पानी में मछलियाँ तड़पती हैं।

व्याख्या

ग्रीष्मताप से पीड़ित साधक की मनोदशा

इस गाथा में ग्रीष्म के ताप से उपसर्गों एवं परीषहों को सहने में कायर, अनभ्यस्त नवदीक्षित साधक की मनोदशा का चित्रण किया है कि जब ज्येष्ठ एवं आषाढ़ मास में भयंकर गर्मी पड़ती है, लू चलती है, सनसनाती हुई गर्म हवाएँ शरीर को स्पर्श करती हैं, उस समय कच्चा नौसिखिया अल्पपराक्रमी साधक उदास, खिन्न एवं प्यास से व्याकुल हो जाता है। विवेकमूढ़ अल्पसत्त्व नवदीक्षित साधक एकदम तड़प उठते हैं। उनको किस प्रकार का विषाद होता है, इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—**'मच्छा अप्पोदए जहा।'** जब किसी जलाशय में पानी सूखने लगता है, तब अत्यन्त अल्प पानी में मछलियाँ गर्मी से तप्त होकर तड़प उठती हैं, वहाँ से हटने में असमर्थ होकर वे वहीं मरणशील हो जाती हैं। इसी प्रकार परीषह का सामना करने में शक्तिहीन, अल्पसत्त्व नवदीक्षित साधक चारित्र ग्रहण करके भी पसीने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लथपथ, मैल से क्लिन्न, बाहर की गर्मी और लू से तप्त होने के कारण शीतल जल, चन्दन आदि शीतल पदार्थों को याद करके तड़पते रहते हैं।

अब याच्चापरीषह के विषय में कहते हैं—

मूल पाठ

सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥६॥

संस्कृत छाया

सदा दत्तैषणा दुःखं, याचना दुष्प्रणोद्या।
कर्मार्त्ताः दुर्भगाश्चैवेत्याहुः पृथक्जनाः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**दत्तेसणा**) दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तु की ही गवेषणा करना (**सया**) हमेशा साधु के लिए (**दुक्खा**) दुःखदायिनी होती है। क्योंकि (**जायणा**) भिक्षा माँगने की पीड़ा (**दुप्पणोल्लिया**) असह्य होती है। (**पुढोजणा**) प्राकृत—अज्ञ लोग (**इच्चाहंसु**) यह कहते हैं कि (**कम्मत्ता**) ये लोग पूर्वकृत कर्मों के फल भोग से पीड़ित हैं, (**दुब्भगा चेव**) और ये लोग अभागे हैं।

भावार्थ

साधु को सदा दूसरे के द्वारा दी गयी वस्तु की ही गवेषणा—याचना करनी पड़ती है, यह याचना का दुसह्य दुःख सदैव जिन्दगीभर साधु को बना रहता है। उस पर भी साधारण गँवार लोग साधु को देखकर कहते हैं—ये लोग अपने पहले किये हुए कर्मों का फल भोग रहे हैं, तथा ये भाग्यहीन हैं, तब तो मन को असह्य वेदना होती है।

व्याख्या

याचना का परीषह अत्यन्त दुःसह

इस गाथा में भिक्षाजीवी साधु के लिए याचना का परीषह तथा साथ ही प्रतिकूल व्यंगबाणों का उपसर्ग कितना दुःसह एवं मर्मस्पर्शी होता है, यह बताया गया है—'**सया दत्तेसणा**..... **पुढोजणा**।' साधु को दाँत साफ करने की छोटी-सी कूँची (दतौन) भी दूसरे के द्वारा दी हुई ही ग्राह्य होती है, तब भिक्षाचर्या के लिए घर-घर घूमना और कल्पनीय वस्तु की गवेषणा करके निर्दोष आहारादि की याचना बहुत ही असह्य होती है। क्षुधा आदि की वेदना से पीड़ित भिक्षु जब किसी के द्वार पर निर्दोष आहारादि की याचना करने जाता है तो अल्पपराक्रमी तथा मिथ्याभिमानी होने के कारण उसके मुख से किसी से कुछ माँगा नहीं जाता। उस समय भिक्षु की मनःस्थिति का वर्णन विद्वानों ने इस प्रकार किया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खिज्जइ मुखलावण्णं, वाया धोलेइ कंठमज्झंमि ।
कहकहकहेइ हिययं, देहित्ति परं भणंतस्स ।।

गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता ।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ।।

अर्थात्—भिक्षाजीवी साधु जब किसी के द्वार पर याचना करने जाता है, तब उसका गौरव समाप्त हो जाता है। इसलिए मुँह की कान्ति फीकी पड़ जाती है। वाणी कण्ठ के बीच में ही डोलती रहती है, सहसा यह नहीं कहा जाता कि 'अमुक वस्तु मुझे दो'। उसका हृदय धक-धक करने लगता है। फिर माँगने के लिए जाते समय ही उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, उसका मुख दीन हो जाता है, शरीर में पसीना छूटने लगता है, चेहरा फीका पड़ जाता है, इस प्रकार मरने के समय जो चिह्न दिखाई देते हैं, वे सब याचक पुरुष में परिलक्षित होते हैं।

कवि रहीम ने एक दोहे में कह दिया है—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मांगन जांहि ।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नांहि ।।

इस प्रकार दुःसह याचना परीषह को सहकर निरभिमानी महासत्त्व साधक ही ज्ञानादि की वृद्धि के लिए महापुरुषों द्वारा आचरित मार्ग के अनुगामी बनते हैं।

अब शास्त्रकार गाथा के उत्तरार्द्ध में आक्रोश परीषह अथवा एक प्रकार का मनुष्यकृत उपसर्ग के समय कच्चे साधक की मनोदशा बताते हैं। साधारण गंवार आदमी भिक्षा के लिए जाते हुए साधु को देखकर ताना मारते हुए कहते हैं—"अरे! ये मैले-कुचैले कपड़ों वाले, दुर्गन्धपूर्ण शरीर, मुंडे हुए मस्तक वाले, भूखे-प्यासे बेचारे भिखमंगे साधु अपने पूर्वकृत कर्मों से पीड़ित हैं। ये अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोग रहे हैं। अथवा ये लोग निकम्मे हैं, आलसी हैं। इनसे काम-धाम होता नहीं है, इसलिए साधु बन गये हैं। ये लोग अभागे और भिखारी हैं। घर में इन्हें कोई पूछता नहीं था, ये आश्रयहीन तथा सभी पदार्थों से तंग थे, इसलिए साधु का वेष पहन लिया है।" अनाड़ी लोगों की इन अंटसंट बातों को सुनकर नौसिखिये कच्चे साधक का तो दिमाग चकरा जाता है। वह मन में दीन-हीन, विषण्ण हो जाता है। परन्तु परिपक्व साधक इन अपमानों को समभावपूर्वक सहते हैं।

मूल पाठ

एते सद्दे अचायंता, गामेसु नयरेसु वा ।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव भीरुया ।।७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

एतान् शब्दान् अशक्नुवन्तो ग्रामेषु नगरेषु वा ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति, संग्रामे इव भीरुकाः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**गामेसु**) गाँवों में (**नयरेसु वा**) अथवा नगरों में (**एते सद्दे**) इन आक्रोशकारी शब्दों को (**अचायंता**) सहन न कर सकते हुए (**मंदा**) अल्पसत्त्व कच्चे साधक, (**तत्थ**) उन तीखे व्यंग्यबाणों को न सहने के कारण (**विसीयंति**) इस प्रकार विषाद पाते हैं, (**संगामंमिव**) जैसे संग्राम में (**भीरुया**) डरपोक लोग विषाद पाते हैं ।

भावार्थ

गाँव-गाँव में या नगर-नगर में जहाँ भी अल्पसत्त्व साधक इन आक्रोशजनक शब्दों को सुनकर सहन नहीं कर सकने के कारण इस तरह विषाद पाते हैं, जिस तरह युद्ध में कायर पुरुष विषाद पाता है ।

व्याख्या

ये आक्रोश परीषह एवं उपसर्ग सहने में कायर साधक !

जो नाजुक एवं तुच्छ प्रकृति के कच्चे साधक होते हैं, वे नगरों और गाँवों में गँवार लोगों के ताने और आक्रोशभरे शब्दों को सुनकर झुँझला उठते हैं, वे उनके निन्दा और आक्षेप से युक्त व्यंग्यबाणों को सुनकर उन्हें सहने में असमर्थ होकर या तो खिन्न होकर बैठ जाते हैं, या फिर वे गुस्से से आगबबूला होकर उन लोगों से वादविवाद करने लग जाते हैं, कभी-कभी गाली-गलौज पर भी उतर आते हैं । इस प्रकार उन अपरिपक्व एवं कायर साधकों की स्थिति ऐसी हास्यास्पद एवं विकट हो जाती है, जैसी कायर और भगोड़े सैनिकों की युद्धक्षेत्र में पहुँचकर संग्राम में जब तलवारें चमकती हैं, भाले, बाण आदि शस्त्रास्त्र उछलने लगते हैं तथा जुझारू बाजे बजने लगते हैं, तब होती है । इसी प्रकार नवदीक्षित साधक भी कलेजे में तीर-से चुभने वाले आक्रोशजनक शब्दों को सुनकर अपयश स्वीकार करके भी अपने संयम-क्षेत्र से भाग खड़े होते हैं ।

अब सूत्रकार वध परीषह अथवा उपसर्ग के बारे में कहते हैं—

मूल पाठ

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

संस्कृत छाया

अप्येकः क्षुधितं भिक्षुं, शुनी दशति लूषकः ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति, तेजःस्पृष्टाः इव प्राणिनः ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**) यदि कोई (**सुणी**) कुत्ती आदि (**लूसए**) क्रूर प्राणी, (**खुधियं भिक्खुं**) भूखे साधु को भिक्षा के लिए जाते समय (**डंसति**) काटने लगता है, (**तत्थ**) उस मौके पर (**मंदा**) विवेकमूढ़ अल्पपराक्रमी साधक (**विसीयंति**) इस प्रकार झल्ला उठते हैं, जैसे (**तेउपुट्ठा**) अग्नि का स्पर्श होते ही (**पाणिणो**) प्राणी झल्ला जाते हैं।

भावार्थ

भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भूखे साधु को यदि कोई कुत्ती आदि क्रूर प्राणी काट खाता है तो उस मौके पर जो कच्चे अल्पपराक्रमी साधक होते हैं, वे एकदम घबरा जाते हैं, जैसे आग का स्पर्श होते ही प्राणी घबरा उठते हैं।

व्याख्या

क्रूर प्राणियों द्वारा उपसर्ग आने पर

इस गाथा में भिक्षार्थ जाते हुए साधक पर क्रूर प्राणियों द्वारा हमला करने पर उसकी मनोव्यथा कितनी असह्य हो उठती है ? इसका चित्रण करते हैं 'अप्पेगे खुधियं·····तेउपुट्ठा व पाणिणो।' आशय यह है—एक तो बेचारा साधु भूखा होता है, फिर भिक्षा के लिए घूमते-घूमते कहीं कुत्ते आदि उसके अजीब वेष को देखकर भौंकने लगते हैं, उस पर हमला करके काट भी खाते हैं, दाँतों से उसके अंग को क्षत-विक्षत कर डालते हैं। ऐसे समय में जो साधक अभी नये-नये साधु संस्था में भर्ती हुए हैं, वे अल्पसत्त्व साधक एकदम झल्ला उठते हैं या अपने अंगों को सिकोड़ते हुए आर्त होकर उसी तरह विषाद करते हैं, जिस तरह आग से जलते हुए प्राणी आर्तनाद करते हैं। कई दफा ऐसे क्रूर प्राणियों के आक्रमण से पीड़ित होकर वे संयम को भी छोड़ बैठते हैं, क्योंकि ऐसे ग्रामकण्टकों का सहना अत्यन्त दुष्कर होता है।

मूल पाठ

अप्पेगे पडिभासंति पडिपंथियमागता ।
पडियारगया एते, जे एते एवं जीविणो ॥६॥

संस्कृत छाया

अप्येके प्रतिभाषन्ते प्रातिपथिकतामागताः ।
प्रतिकारगता एते, य एते एवंजीविनः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**पडिपंथियमागया**) साधुओं के साथ शत्रुता या द्वेषभाव पर उतरे हुए (**अप्पेगे**) कई लोग (**पडिभासंति**) इस प्रकार प्रतिकूल बोलते हैं कि (**जे एते**) जो ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षु लोग (**एवंजीविणो**) इस प्रकार भिक्षुवृत्ति से जी रहे हैं, (**एते**) ये लोग (**पडियारगता**) अपने पूर्वकृत पापकर्मों का बदला चुका रहे हैं।

भावार्थ

साधुजनों के प्रति द्रोह करने पर उतरे हुए कुछ लोग उन्हें देखकर इस प्रकार विपरीत बोलने लगते हैं कि ये घर-घर घूमकर भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करते हैं, यह इसलिए कि ये लोग अपने पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोग रहे हैं।

व्याख्या

साधु-विद्वेषीजनों द्वारा वाक्प्रहार के समय···

इस गाथा में फिर विद्वेषी लोगों द्वारा कृत उपसर्गों के समय कच्चे साधक की मनःस्थिति का वर्णन करते हैं - '**अप्पेगे····· एवं जीविणो।**' आशय यह है कि गाँव में कई लोग साधुओं के प्रति द्वेषवश विद्रोह पर उतर आते हैं और उन्हें छेड़ने के लिहाज से यों कहने लगते हैं—"अजी, देखो, इन भिखमंगों को, ये भिक्षा के लिए घर-घर क्यों घूमते हैं, और क्यों गृहस्थ द्वारा दिया हुआ रूखा-सूखा आहार लेते हैं। ये मुंडित मस्तक साधु भोगों से वञ्चित रहकर क्यों दुःखमय जीवनयापन करते हैं? हमें पता है, ये लोग अपने पूर्वजन्मों में या पहले किये हुए पापकर्मों का फल भोगकर बदला चुका रहे हैं।" इस प्रकार उक्त अनार्यों तथा विद्वेषी लोगों के आक्षेपात्मक कटुवचन या वाक्प्रहार साधुओं के प्रति सम्भव है। 'अपि' शब्द यहाँ सम्भावना अर्थ में है।

मूल पाठ

अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाऽहमा।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जल्ला असमाहिया ॥१०॥

संस्कृत छाया

अप्येके वचो युजन्ति नग्नाः पिण्डोलगा अधमाः।
मुण्डा कण्डूविनष्टांगा उज्जल्ला असमाहिताः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**) कोई-कोई (**वइ जुंजंति**) ऐसा वचन प्रयोग करते हैं कि ये लोग (**नगिणा**) नंगे हैं, (**पिंडोलगा**) परपिण्ड पर पलने वाले—टुकड़ैल हैं, (**अहमा**) तथा अधम हैं, (**मुंडा**) ये मुण्डित हैं, (**कंडूविणट्ठंगा**) खुजली से इनके अंग गल गए हैं, (**उज्जल्ला**) सूखे पसीने से युक्त और (**असमाहिया**) असुहावने—वीभत्स हैं।

भावार्थ

कोई-कोई पुरुष जिनकल्पी आदि साधुओं को देखकर कहते हैं—'ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नंगे हैं, दूसरों के पिण्ड पर पलते हैं—टुकड़ैल हैं, अधम हैं, सिर मुंड़े हुए हैं, खुजली से इनके अंग क्षतविक्षत हैं, सूखा पसीना शरीर पर जम जाने के कारण बदबू से भरे, वीभत्स-भद्दे हैं।

व्याख्या

अनार्यों द्वारा प्रयुक्त ये कठोर वाक्य !

कई अनाड़ी और साधुजनों की चर्या से अनभिज्ञ लोग कहते हैं—ये जिनकल्पी आदि लोग नंगे हैं, पराये अन्न पर जीते हैं, पेटू हैं, बड़े नीच हैं, सिर-मुंडे हैं, खुजली से इनके अंग-अंग गल गए हैं, स्नान न करने के कारण सूखे पसीने के कारण शरीर पर मैल जमा है, ये गंदे और घिनौने हैं। प्राणियों को असमाधि पैदा करने वाले हैं।

जो लोग साधु के लिए ऐसी बातें करते हैं, उनको इसका क्या फल प्राप्त होता है ? इसे शास्त्रकार अगली गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥११॥

संस्कृत छाया

एवं विप्रतिपन्ना एक आत्मनात्वज्ञकाः ।
तमसस्ते तमो यान्ति, मन्दाः मोहेन प्रावृताः ॥११॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**विप्पडिवन्ना**) साधु और सन्मार्ग के द्रोही, (**एगे**) कोई (**अप्पणा उ अजाणया**) स्वयं अज्ञ जीव (**मोहेण पाउडा**) मोह से घिरे हुए हैं, (**मंदा**) विवेकमूढ़ हैं, (**ते**) वे (**तमाओ**) अज्ञानान्धकार से निकलकर (**तमं**) फिर अज्ञानतिमिर में ही (**जंति**) जाते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार साधुजन और धर्ममार्ग से द्रोह करने वाले स्वयं अज्ञानी जीव मोह से घिरे हुए विवेकमूढ़ हैं। वे एक अज्ञानान्धकार से निकलकर दूसरे अज्ञानतिमिर में जाकर गिरते हैं।

व्याख्या

साधुविद्रोहीजनों के कुकृत्यों के फल

जो पापात्मा तथा साधुसन्त एवं सन्मार्ग के विरोधी लोग जो द्रोह करते हैं, वे स्वयं साधुजीवन एवं धर्मपथ से बिलकुल अज्ञ हैं। वे स्वयं तो विवेकमूढ़ एवं मोह से घिरे हुए होते हैं, दूसरे ज्ञानी पुरुषों के कथन को भी नहीं मानते हैं। ऐसे मूढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग अज्ञानरूप अन्धकार से निकलकर उससे भी गाढ़ अज्ञानान्धकार में चले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे लोग ज्ञानावरणीय कर्म से ढके हुए मिथ्यादर्शनरूपी मोह से आच्छादित हो जाते हैं, इस कारण वे अन्ध (विवेकान्ध) होकर साधु और सद्धर्म से द्वेष करने के कारण कुमार्ग का सेवन करके और अधिक मोहावृत होकर अधमाधम गति में जाते हैं। विद्वानों ने कहा है—

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः तद्वद्द्वितीयमिह संवसतिर्द्वितीयम् ।
एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धः तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥

अर्थात्—एक पवित्र आँख तो सहजविवेक है, और दूसरी आँख है, विवेकवानों के साथ निवास। मगर जिसके पास ये दोनों नेत्र नहीं हैं, वह वस्तुतः अन्धा है, अगर वह बेचारा कुमार्ग पर चलता है तो उसका क्या दोष है ?

यही बात उन साधु एवं सन्मार्ग के द्रोही अज्ञों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

मूल पाठ

पुट्ठो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥१२॥

संस्कृत छाया

स्पृष्टश्च दंश-मशकैस्तृणस्पर्शमशक्नुवन् ।
न मया दृष्टः परो लोकः, यदि परं मरणं स्यात् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**दंसमसएहिं**) डांस और मच्छरों द्वारा (**पुट्ठो**) स्पर्श पाकर या काटे जाने पर तथा (**य तणफासमचाइया**) तृणस्पर्श को भी नहीं सह सकता हुआ साधु (यह भी सोच सकता है कि) (**मे**) मैंने (**परे लोए**) परलोक को तो (**न दिट्ठे**) नहीं देखा, (**परं जइ**) परन्तु यदि कदाचित् (**मरणं**) इस कष्ट से मृत्यु (**सिया**) तो सम्भव ही है।

भावार्थ

डांस और मच्छरों का तीखा स्पर्श पाकर तथा तृण की शय्या का खुर्दरा स्पर्श पाकर उसे सहन न करता हुआ नवीन साधु यह भी सोचता है कि मैंने परलोक को तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है, परन्तु इस कष्ट से मरण तो साक्षात् दीखता है।

व्याख्या

दंशमशक आदि परीषहों के समय कायर साधक का चिन्तन

साधक-जीवन में साधु अनेक देशों में विचरण करता है। सिन्धु, ताम्रलिप्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोंकण आदि देशों में बहुत मच्छरों एवं डांसों से वास्ता पड़ता है। वे साधु के शरीर पर हमला करते हैं, साथ ही घास की शय्या पर नवदीक्षित साधु सोता है तो उसका खुर्दरा स्पर्श चुभता है। उस तीक्ष्ण स्पर्श एवं मच्छरों के उपद्रव के कारण नया-नया साधु झुँझला उठता है। वह प्रायः ऐसा सोचता है कि "आखिरकार यह सब कष्ट मैं क्यों सहन कर रहा हूँ ? व्यर्थ ही अपने आपको क्यों कष्ट में डाला जाय ? यह कष्ट-सहन भी तभी सार्थक है, जब परलोक हो। परलोक तो मैंने देखा ही नहीं और न कोई अभी तक परलोक से लौटकर मुझे वहाँ की बातें बताने ही आया है ? प्रत्यक्ष से जब परलोक को नहीं देखा, तो परलोक का अनुमान भी नहीं हो सकता। इसलिए मेरे इस व्यर्थ कष्टसहन का नतीजा सिर्फ मेरी मृत्यु के सिवाय और कोई नहीं हो सकता।" इस प्रकार सोचकर अल्पसत्त्व कायर साधक परीषहसहन का मार्ग छोड़कर सुकुमार एवं असंयमी बन जाता है।

मूल पाठ

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा विद्धा[1] व केयणे ॥१३॥

संस्कृत छाया

संतप्ताः केशलुञ्चनेन ब्रह्मचर्य-पराजिताः ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्या विद्धा इव केतने ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**केसलोएणं**) केशलुञ्चन से (**संतत्ता**) पीड़ित (**बंभचेरपराइया**) ब्रह्मचर्य-पालन में हार खाये हुए (**मंदा**) अल्पपराक्रमी मूढ़ साधक (**केयणे**) जाल में (**विद्धा**) फँसी हुई (**मच्छा**) मछलियों की तरह (**तत्थ विसीयंति**) मुनिधर्म में क्लेश का अनुभव करते हैं।

भावार्थ

केशलोंच से पीड़ित और ब्रह्मचर्यपालन में असमर्थ अल्पसत्त्व साधक प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछलियाँ तड़पती हैं।

व्याख्या

कितना दुष्कर है केशलोंच और ब्रह्मचर्य-पालन !

नवदीक्षित साधक के सामने सर्वप्रथम दीक्षा के बाद सबसे कठोर परीक्षा का समय आता है तो केशलोंच का ! केशों को जब जड़ से उखाड़ा जाता है, तो कई

---

१. यहाँ 'विद्धा' के बदले 'विट्ठा' पाठ भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार रक्त बह निकलता है। कायर और कच्चा साधक वहीं घबरा जाता है। साधु-जीवन की दूसरी कठोर परीक्षा है—ब्रह्मचर्य-पालन की। कहने को तो दीक्षा लेते समय प्रत्येक साधक कह देता है—'ब्रह्मचर्य-पालन क्या कठिन है, मेरे लिए ?' परन्तु जब यौवन के उन्माद के साथ दुर्जय काम का उभार आता है तो बड़े-बड़े साधक शिथिल हो जाते हैं, मानसिक रूप से भी काम के ज्वार को रोकना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**बंभचेरपराजिया, तत्थ मंदा विसीयंति।**' कच्चे नवदीक्षित साधक ब्रह्मचर्य-पालन से हार खा जाते हैं। और इन दोनों उपसर्गों या परीषहों से बार-बार उसी तरह क्लेश का अनुभव करते हैं, जैसे जाल में फँसी हुई मछलियाँ क्लेश पाती हैं। वे अन्दर ही अन्दर प्रायः संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

मूल पाठ

आयदंडसमायारे मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना केई लूसंतिऽनारिया ॥१४॥

संस्कृत छाया

आत्मदण्डसमाचाराः मिथ्यासंस्थितभावनाः ।
हर्ष-प्रद्वेषमापन्नाः केऽपि लूषयन्त्यनार्याः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**आयदंडसमायारे**) जिस आचार से आत्मा दण्डित होता है वैसा कल्याण से भ्रष्ट आचरण वाले (**मिच्छासंठियभावणा**) जिनकी भावनाएँ मिथ्या बातों में जमी हुई हैं, (**हरिसप्पओसमावन्ना**) जो बात-बात में हर्ष-शोक या राग-द्वेष से युक्त हो जाते हैं, ऐसे (**केई**) कई (**अनारिया**) अनार्य—धर्मद्रोहीजन (**लूसंति**) साधु को पीड़ा-तकलीफ देते हैं।

भावार्थ

जिससे आत्मा दण्डभागी बनती हो, ऐसे दूषित आचार वाले, कल्याणमार्ग से भ्रष्ट, जिनकी भावना मिथ्या बातों में टिकी हुई है, तथा जो बात-बात में हर्ष (राग) द्वेष से युक्त हो जाते हैं ऐसे कई अनार्य धर्म-द्रोही जन साधु को तकलीफ देते हैं।

व्याख्या

साधु को उपसर्ग (पीड़ा) देने वाले !

साधु को अपनी संयमयात्रा के दौरान कई प्रकार के कड़वे-मीठे अनुभव होते हैं। कई बार तो बहुत जहरीली घूँटें उसे पीनी पड़ती हैं। साधु को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि जो धर्मात्मा या, आर्यपुरुष होगा वह सहसा साधु को पीड़ित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करेगा। परन्तु निःस्पृही त्यागी साधु को वही लोग पीड़ित करेंगे जिनके आचार आत्मा के लिए अहितकर—यानी दण्ड के योग्य होते हैं, जिनकी मनोवृत्ति मिथ्या भावनाओं में डूबी हुई है, जो जरा-जरा-सी बात में रुष्ट-तुष्ट या राग-द्वेषयुक्त हो जाते हैं, ऐसे ही प्रकार के कई अनार्य लोग साधु को उपसर्ग-पीड़ा देते हैं।

'आयदंडसमायारे'—जिससे आत्मा दण्ड का भागी बनता है, अर्थात् स्व-कल्याण से भ्रष्ट हो जाता है, ऐसे आचार को आत्मदण्ड तथा उसका अनुष्ठान करने वालों को 'आत्मदण्डसमाचाराः' कहते हैं।

'मिच्छासंठियभावणा'—उलटे रूप में जिसने अपनी चित्तवृत्ति जमा दी है, अर्थात् जो अपने असत् आग्रह में है, ऐसे मिथ्यादृष्टि पुरुष **'मिथ्या संस्थितभावनाः'** कहलाते हैं।

'हरिसप्पओसमावन्ने'—जो हर्ष और द्वेष अर्थात् राग-द्वेष से भरे हैं, जिनकी रग-रग में राग-द्वेष समाया हुआ है, वे हर्षप्रद्वेषसमापन्न होते हैं।

'लूसंति'—ऐसे अनार्य लोग अपने मनोविनोद या द्वेष के कारण या क्रूर-कर्मा होने से लाठी आदि के प्रहार से या गालीगलौज करके सदाचारी साधु को तंग किया करते हैं।

मूल पाठ

अप्पेगे पलियंतेसिं चारो चोरोत्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला कसायवयणेहि य॥१५॥

संस्कृत छाया

अप्येके पर्यन्ते चारश्चौर इति सुव्रतम्।
बध्नन्ति भिक्षुकं बालाः कषायवचनैश्च॥१५॥

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**) कई (**बाला**) अज्ञानी अनार्यजन, (**पलियंतेसि**) अनार्यदेश की सरहद (सीमा) पर विचरते हुए (**सुव्वयं**) सुव्रती साधु को (**चारो चोरोत्ति**) यह खुफिया है, यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह मे पकड़कर (**बंधंति**) रस्सी आदि से बाँध देते हैं (**कसायवयणेहि य**) और कटुवचन कहकर उसे पीड़ित करते हैं।

भावार्थ

कई अनार्य लोग अनार्यदेश के परिपार्श्व में विचरते हुए सुव्रती साधु को देखकर रोष-द्वेषवश उसे चार (गुप्तचर) या चोर समझकर पकड़कर रस्सी से बाँध देते हैं, उसे कठोर वचन कहकर हैरान करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

चोर या खुफिया समझकर साधु को बाँध देना

ऐसे अनार्य लोग हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त है, और जो राग-द्वेष से भरे हैं, वे अनार्यदेश की सीमा पर या आस-पास विचरण करते हुए सुव्रती साधु को देखकर 'यह जासूस है, खुफिया या चोर है', इस संदेह में गिरफ्तार करके रस्सी से बाँध देते हैं। वे साधु को पीटते हैं, क्रोधवश गालियाँ भी देते हैं, कड़वे वचन भी कहते हैं। सद्-असद्विवेक से रहित वे मूढ़ उसे धमकाते हैं। परन्तु सुव्रती साधु यही सोचे कि यह मेरी परीक्षा का समय है। इस समय मुझे जरा-सा भी घबराना नहीं चाहिए। समभावपूर्वक परीक्षा देकर उसमें उत्तीर्ण होना चाहिए।

मूल पाठ

तत्थ दंडेण संवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

संस्कृत छाया

तत्रः दण्डेन संवीतो, मुष्टिनाऽथवा फलेन वा ।
ज्ञातीनां स्मरति बालः, स्त्रीवत् क्रुद्धगामिनी ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ**) उस अनार्यदेश की सरहद पर विचरणशील साधु को (**दंडेण**) डंडों से (**मुट्ठिणा**) मुक्कों से (**अदु**) अथवा (**फलेन**) बिजौरा आदि कठोर फल से या तलवार या भाले आदि के अग्रभाग से (**संवीते**) प्रहार किया जाता—पीटा जाता हुआ (**बाले**) वह बालसाधु (**कुद्धगामिणी इत्थी वा**) क्रोधित होकर घर से निकल भागने वाली स्त्री की तरह (**नातीण**) अपने ज्ञातिजनों स्वजनों को (**सरती**) याद करता है।

भावार्थ

जब अनार्यदेश की सीमा पर विचरता हुआ साधु अनार्यपुरुषों द्वारा लाठी, डंडे, मुक्के या लोहफलक के द्वारा पीटा जाता है, तब वह अपने बन्धु-बान्धवों को उसी तरह स्मरण करता है, जैसे क्रोधित होकर घर से भागी हुई स्त्री अपने ज्ञातिजनों को स्मरण करती है।

व्याख्या

शस्त्रास्त्रों से प्रहार : ज्ञातिजनों की याद

अनार्यदेश की सीमा पर विचरण करते हुए साधु को चोर, गुप्तचर आदि के सन्देह में पकड़कर डंडों, मुक्कों या लोह-फलकों या बीजोरा आदि फलों से मारने-पीटने लगते हैं, तब वह कच्चा बालसाधक अपने सम्बन्धियों को याद करके मन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झूरता है—"हाय ! अगर मेरा कोई सम्बन्धी यहाँ मौजूद होता तो क्या मेरी ऐसी दुर्दशा होती ?"

शास्त्रकार इस सम्बन्ध में दृष्टान्त देते हैं—**'इत्थी वा कुद्धगामिणी।'** आशय यह है कि जैसे कोई स्त्री घर से रूठकर निकल भागती है, किन्तु मांस की तरह कामी लोगों के लिए लोभ का पात्र होने से वह चोर-जार आदि के द्वारा पीछा करके बलात् पकड़ ली जाती है, उस समय वह पश्चात्ताप करती हुई अपने स्वजनों को याद करती है, उसी तरह अज्ञानीजनों के द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर संयम से भाग छूटने वाला कच्चा साधक भी अपने स्वजनों को याद करता है।

मूल पाठ

एते भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवाऽवसा गया गिहं ॥१७॥
त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

एते भोः ! कृत्स्नाः स्पर्शाः परुषाः दुरधिसह्याः ।
हस्तिन इव शरसंवीताः क्लीवाः अवशाः गता गृहम् ॥१७॥
इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(भो) हे शिष्यो ! (एते) ये पूर्वोक्त (कसिणा) सब के सब (फासा) परीषहों व उपसर्गों के स्पर्श (फरुसा) अवश्य ही कठोर हैं, (दुरहियासया) दुःसह हैं। किन्तु (सरसंवित्ता) बाणों से पीड़ित—घायल (हत्थी वा) हाथियों की तरह (अवसा) विवश—लाचार होकर (गिहं गया) वे ही घर को चले जाते हैं, (कीवा) जो नामर्द—नपुंसक हैं। (त्ति बेमि) यह मैं कहता हूँ।

भावार्थ

हे शिष्यो ! पूर्वगाथाओं में कहे हुए सबके सब उपसर्गों या परीषहों के स्पर्श अवश्य ही कठोर एवं दुःसह हैं, लेकिन जैसे बाण से पीड़ित हाथी युद्ध के मैदान को छोड़कर भाग जाते हैं, वैसे ही इन स्पर्शों से पीड़ित होकर कायर और नामर्द साधक ही संयम का मैदान छोड़कर पुनः घर को लौट जाते हैं। यह मैं कहता हूँ।

व्याख्या

संयमक्षेत्र छोड़कर नामर्द वापस घर को लौट जाते हैं

वास्तव में संयमक्षेत्र में साधक की कड़ी परीक्षा होती है। संयम के मैदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पूर्व गाथाओं में शुरू से लेकर आखिर तक कहे गए सभी उपसर्ग और परीषह (दंशमशक आदि) कठोर एवं असह्य हैं। ये सभी स्पर्शेन्द्रिय से अनुभव किये जाते हैं, इसलिए 'फासा' (स्पर्श) कहलाते हैं। ये सबके सब उपसर्ग व परीषह पीड़ाकारी हैं और प्रायः अनार्यपुरुषों या क्रूर तिर्यंचों द्वारा ये उपसर्ग उत्पन्न किये जाते हैं। ये कलेजा कँपा देने वाले पीड़ाकारी उपसर्ग अल्पपराक्रमी नपुंसक लोगों द्वारा दुःसह्य होते हैं।

कई तुच्छप्रकृति के अल्पसत्त्व साधक अपने मुँह से शेखी बघारते हुए पहले तो आवेश में आकर दीक्षा ले लेते हैं, किन्तु बाद में उपसर्गों व परीषहों की मार से पीड़ित होकर वे पुनः उसी तरह संयम के मैदान को छोड़कर अपने गृहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं, जिस तरह युद्धभूमि में बाणों के प्रहार से पीड़ित हाथी मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं। वस्तुतः वे साधक अपरिपक्व और गुरुकर्मी हैं। कहीं-कहीं **'तिव्वसड्ढे'** पाठ है, जिसका अर्थ होता है—तीव्र उपसर्गों से पीड़ित तथा असत् अनुष्ठान करने वाले कच्चे साधक शठों ने संयम छोड़कर घर की ओर प्रस्थान कर दिया था। 'यह मैं कहता हूँ' इसका निरूपण पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ सूत्रकृतांग सूत्र के तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

अनुकूल-उपसर्गाधिकार

प्रथम उद्देशक में प्रतिकूल उपसर्गों, विशेषतः परीषहों से सम्बद्ध उपसर्गों के सम्बन्ध में वर्णन किया गया था, अब इस द्वितीय उद्देशक में अनुकूल उपसर्गों के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं, जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
तत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

संस्कृत छाया

अथैके सूक्ष्माः संगाः, भिक्षूणां ये दुरुत्तराः ।
तत्रैके विषीदन्ति, न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (इमे) ये (सुहुमा) सूक्ष्म, स्थूल रूप से नहीं प्रतीत होने वाले (संगा) बान्धव आदि के साथ सम्बन्धरूप उपसर्ग होते हैं, (जे) जो (भिक्खूणं) साधुओं के लिए (दुरुत्तरा) दुस्तर हैं—दुरतिक्रमणीय हैं। (तत्थ) उन सम्बन्धरूप उपसर्गों के आने पर (एगे) कुछ कच्चे साधक (विसीयंति) बिगड़ जाते हैं, संयम को विषाक्त कर देते हैं, (जवित्तए) वे संयमी जीवन का निर्वाह करने में (ण चयंति) समर्थ नहीं होते।

भावार्थ

प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किये जाने के बाद अब अनुकूल उपसर्गों का वर्णन करते हैं। ये अनुकूल उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं। साधक इन उपसर्गों को बड़ी मुश्किल से पार कर पाते हैं। कई कच्चे साधक तो ऐसे संसर्गरूप उपसर्गों के आने पर झटपट फिसल जाते हैं, संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे संयमी जीवन का निर्वाह करने में असमर्थ हो जाते हैं।

व्याख्या

अनुकूल उपसर्ग : बड़े सूक्ष्म, अत्यन्त दुष्कर

अब शास्त्रकार इस गाथा से शुरू करके ऐसे अनुकूल उपसर्गों का वर्णन कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे हैं, जो इतने बारीक हैं कि स्थूलदृष्टि से देखने वाला उन्हें उपसर्ग कहने को तैयार नहीं होगा, बल्कि यह कहेगा कि इन उपसर्गों में सहन क्या करना है ? ये उपसर्ग तो बड़े मजे से सहे जा सकते हैं, इनमें मन, वचन, काया को कोई जोर नहीं पड़ता। परन्तु शास्त्रकार साधक को सावधान करने हेतु कहते हैं—साधको ! सावधान रहो। ये उपसर्ग इतने सूक्ष्म हैं कि तुम्हें पता ही नहीं लगने पायेगा और ये चुपचाप तुम्हारी जीवनचर्या में घुस जायेंगे। अगर एक बार ये घुस गये तो फिर इनको निकालना बड़ा मुश्किल हो जाएगा। ये बड़े मीठे बनकर आते हैं। इनके शस्त्र बड़े तेज हैं। प्रतिकूल उपसर्गों में तो साधक सावधान रह सकता है, पर अनुकूल उपसर्ग को पार करना आसान समझकर वह गाफिल रहता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं— **'अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा।'** आशय यह है कि बन्धु-बान्धवों का मधुर-मधुर स्नेहस्निग्ध संसर्ग इतना सूक्ष्म होता है कि वह शरीर पर हमला नहीं करता, किन्तु साधक के मन पर कातिलाना हमला करता है। उसके चित्त को विकृत कर देता है। इसीलिए इस संसर्गरूप अनुकूल उपसर्ग को सूक्ष्म यानी आन्तरिक बताया है। प्रतिकूल उपसर्ग तो प्रकटरूप से बाह्यशरीर को विकृत करते हैं। किन्तु यह (अनुकूल) उपसर्ग बाह्यशरीर को विकृत नहीं करता। यहाँ **'संगा'** शब्द माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सम्बन्धियों के संसर्ग—सम्बन्ध का बोधक है। यह अनुकूल सूक्ष्म उपसर्ग अत्यन्त दुरुत्तर—दुस्तर इसलिए बताया गया है कि जीवन को संकट में डालने वाले प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर तो साधक सावधान होकर मध्यस्थ-वृत्ति धारण कर सकते हैं, जबकि अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थवृत्ति धारण करना अति कठिन होता है। अनुकूल उपसर्ग बड़े-बड़े साधकों को छल-बल से धर्म-भ्रष्ट कर देते हैं। जब अनुकूल उपसर्ग आता है, तब सुकुमार एवं सुखसुविधापरायण कच्चे साधक बहुत जल्दी अपने संयम से फिसल जाते हैं, धर्माराधना से विचलित हो जाते हैं, संयमपालन में शिथिल हो जाते हैं अथवा संयम से सर्वथा भ्रष्ट हो जाते हैं। वे संयम के साथ अपनी जीवनयात्रा करने में समर्थ नहीं होते। वे सदनुष्ठान के प्रति विषण्ण हो जाते हैं, संयमपालन उन्हें दुःखदायी लगने लगता है। इसीलिए इन उपसर्गों को जीतना बड़ा कठिन बताया है। इन्हें जीतने में बड़े-बड़े साधकों का भी धैर्य छूट जाता है।

मूल पाठ

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोस णे ताय ! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय ! जहासि णे ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

अप्येके ज्ञातयो दृष्ट्वा रुदन्ति परिवार्य च ।
पोषय नस्तात ! पोषितोऽसि, कस्य तात ! जहासि नः ॥२॥

अन्वयार्थ

(**अप्पेगे**) कई-कई (**नायओ**) ज्ञातिजन (**दिस्स**) साधु को देखकर (**परिवारिया**) उसे घेरकर (**रोयंति**) रोते हैं—विलाप करते हैं। वे कहते हैं—(**ताय**) तात ! (**णे पोस**) आप हमारा पालन-पोषण करें। (**पुट्ठोऽसि**) हमने आपका पालन-पोषण किया है। (**ताय**) हे तात ! (**णे**) अब हमको (**कस्स**) आप क्यों (किसलिए) (**जहासि**) छोड़ते हैं ?

भावार्थ

साधु के पारिवारिकजन उसे देखकर रोते हैं, आँसू बहाते हैं, और कहते हैं—तात ! अब आप हमारा पालन-पोषण करें, हमने बचपन से आपका पालन-पोषण किया है, अब आप हमें किसलिए छोड़ रहे हैं ?

व्याख्या

पारिवारिकजनों का अपने भरण-पोषण के लिए अनुरोध

इस गाथा में स्वजन सम्बन्धी उपसर्ग कैसे-कैसे होते हैं ? किस रूप में आते हैं ? इसे बताने के लिए कहा है—"**अप्पेगे नायओ ... जहासि णे।**" आशय यह है कि कुछ ज्ञातिजन—माता-पिता आदि स्वजनवर्ग साधु को साधुधर्म में दीक्षित होते हुए या दीक्षित हुए देखकर उसे घेरकर जोर-जोर से रोने लगते हैं। स्वजनों का रुदन कच्चे साधक के मन को पिघला देता है। उन स्वजनों की आँखों में आँसू देखकर उसके मन में आता है—चलो, इनकी भी बात सुन लें। इस प्रकार जब वह साधु उनकी मोहगर्भित पुकार सुनने के लिए उत्सुक होता है तो वे आँखों से अश्रु बहाते हुए कहते हैं बेटा ! हमने बचपन से तुम्हारा इसलिए पालन-पोषण किया था कि बड़े होकर तुम हमारी वृद्धावस्था में सेवा करोगे, हमारा भरण-पोषण करोगे, मगर तुम तो हमें अधबिच में ही छिटकाकर जा रहे हो। चलो, पुत्र ! हमारा भरण-पोषण करो। अब हमें छोड़कर क्यों जा रहे हो ? तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई हमारा रक्षक-पोषक नहीं है। इस प्रकार का पारिवारिकजनों का मोहगर्भित अनुरोध सुनकर बहुत-से साधकों का दिल वापस घर लौटने को मचल उठता है।

मूल पाठ

पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा (सवा) ताय ! सोयरा कि जहासि णे ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

पिता ते स्थविरस्तात ! स्वसा ते क्षुल्लिकेयम् ।
भ्रातरस्ते स्वकास्तात ! सोदराः किं जहासि नः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**ताय**) हे पुत्र ! (**ते पिया**) तुम्हारे पिता (**थेरओ**) अत्यन्त बूढ़े हैं (**इमा**) और यह (**ते ससा**) तुम्हारी बहन (**खुड्डिया**) अभी छोटी है। (**ताय**) हे पुत्र ! (**ते सगा**) ये तुम्हारे अपने (**सोयरा भायरो**) सहोदर भाई हैं। (**णे किं जहासि**) फिर तू हमें क्यों छोड़ रहा है ?

भावार्थ

पारिवारिकजन साधु से कहते हैं—"हे पुत्र ! तुम्हारे पिता अत्यन्त वृद्ध हैं और यह तुम्हारी बहन अभी बच्ची है, तथा ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं। फिर तू हमें क्यों छोड़ रहा है ?

व्याख्या

स्वजनों के द्वारा मोह में फँसाने का एक और प्रकार

साधु के पारिवारिकजन उससे कहते हैं—"हे तात ! हे पुत्र ! देखो तो सही, ये तुम्हारे पिता सौ वर्ष को पार कर चुके हैं, अत्यन्त बूढ़े हैं, इनको तुम्हारी सेवा की आवश्यकता है। यह देखो, तुम्हारी बहन अभी छोटी-सी बच्ची है। ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं, इनकी ओर भी देखो। हम तुमसे इतना अनुरोध करते हैं, फिर हमें छोड़कर क्यों जा रहे हो ?"

मूल पाठ

मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय ! जे पालंति य मायरं ॥४॥

संस्कृत छाया

मातरं पितरं पोषय, एवं लोको भविष्यति ।
एवं खलु लौकिकं तात ! ये पालयन्ति च मातरम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**ताय**) हे पुत्र ! (**मायरं पियरं**) अपने माता-पिता का (**पोस**) पालन करो। (**एवं**) माता-पिता के भरण-पोषण करने से ही (**लोगो**) इहलोक-परलोक (**भविस्सति**) सुधरेगा—बनेगा। (**ताय**) हे तात ! (**एवं खु**) यह निश्चय ही (**लोइयं**) लोकाचार है कि (**जे पालंति य मायरं**) ये पुत्र अपनी माता का पोषण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

हे पुत्र ! अपने माता-पिता का भरण-पोषण करो। माता-पिता के भरण-पोषण से ही तुम्हारा यह लोक और परलोक सुधरेगा—बनेगा। यही लौकिक आचार है। इसीलिए ये (पुत्र) अपनी माता का पालन करते हैं।

व्याख्या

लौकिक राग में फँसाने का स्वजनों का तरीका

मोही पारिवारिकजनों द्वारा साधक को मोह में फँसाने का एक और तरीका और है वह यह है कि वृद्धजन उससे कहते हैं—"बेटा ! माँ-बाप का भरण-पोषण करो। इसी से ही यह लोक और आगामी लोक बनेगा—सुधरेगा। और यह भी तो लोक में प्रसिद्ध मार्ग है कि जो पुत्र होते हैं, वे अपनी जन्मदात्री माँ का तो पालन करते ही हैं, उसके साथ-साथ सभी गुरुजनों का भी पालन करते हैं। माता-पिता के उपकारों से वे तभी उऋण हो सकते हैं। लौकिक आचारशास्त्र में यह बात स्पष्ट कही है।

मूल पाठ

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डया।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥

संस्कृत छाया

उत्तराः मधुरालापाः पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रकाः।
भार्या ते नवा तात ! मा साऽन्यं जनं गच्छेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(**तात**) हे तात ! (**ते उत्तरा पुत्ता**) तुम्हारे उत्तरोत्तर—एक के बाद एक जन्मे हुए पुत्र (**महुरुल्लावा**) अभी तुतलाती हुई मीठी बोली में बोलते हैं, (**खुड्डया**) वे अभी बहुत छोटे हैं। (**तात**) हे तात ! (**ते भारिया णवा**) तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है, (**सा**) वह (**अन्नं जणं**) दूसरे पुरुष के पास (**मा गमे**) न चली जाए।

भावार्थ

एक-एक करके आगे-पीछे जन्मे हुए ये तुम्हारे बच्चे अभी तो दुध-मुँहे और मधुरभाषी हैं। हे तात ! तुम्हारी पत्नी भी अभी नवयुवती है, वह किसी दूसरे के पास न चली जाए।

व्याख्या

साधक को फुसलाने का तरीका

वे कहते हैं—"पुत्र ! तुम्हारे बहुत सुन्दर सलोने (उत्तम) और मधुरभाषी (पुत्र) बच्चे हैं अथवा एक के बाद एक उत्तरोत्तर पैदा हुए तुम्हारे पुत्र मीठी-मीठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुतलाती बोली में बोलते हैं, अभी तो वे दुधमुँहे बच्चे हैं। हे तात ! तुम्हारी गृहिणी भी अभी नवयुवती है। वह तुम्हारे द्वारा छोड़ी हुई कहीं दूसरे पुरुष के पास चली गयी तो वह उन्मार्गगामिनी, स्वच्छन्दाचारिणी हो जाएगी, यह महान् लोकापवाद होगा। इन सब बातों पर विचार करके, अपने स्त्री-पुत्रों की ओर देखकर तुम घर चलो तो अच्छा रहेगा।

मूल पाठ

एहि ताय ! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं।
वितियंपि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

संस्कृत छाया

एहि तात ! गृहं यामो, मा त्वं कर्मसहा वयम्।
द्वितीयमपि तात ! पश्यामो, यामस्तावत् स्वकं गृहम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**ताय**) हे तात ! (**एहि**) आओ, (**घरं जामो**) घर चलें। (**मा य**) अब से तुम कोई काम मत करना (**कम्मे सहा वयं**) हम लोग तुम्हारा सब काम करेंगे। (**ताय**) हे तात ! (**वितियंपि**) अब दूसरी बार (**पासामो**) तुम्हारा काम हम देखेंगे। (**ताव सयं गिहं जामु**) अतः चलो, हम लोग अपने घर चलें।

भावार्थ

हे तात ! आओ, घर को चलें। अब से तुम कोई भी काम मत करना। हम लोग तुम्हारा सब काम कर दिया करेंगे। इसलिए झटपट चलो, हम लोग अपने घर चलें।

व्याख्या

कामचोर साधक को घर चलने का आमंत्रण

पारिवारिक जन अब एक और पासा फेंकते हैं। वे साधक की किसी कमजोरी को लक्ष्य करके कहते हैं—"तात ! हम जानते हैं, तुम घर के काम-धन्धों से कतराते हो। घर के कामों से घबराकर ही तुमने घर छोड़ा है। तो कोई बात नहीं, चलो, अपने घर चलें। तुम अब से कोई काम मत करना। अगर कोई काम होगा तो तुम्हारे बदले हम सब काम करेंगे। एक बार घर चलकर देखो तो सही कि किस प्रकार हम तुम्हारी सहायता करते हैं। अतः हमारा कहना मानकर घर चलो, उठो, अब हम लोग अपने घर चलें।"

मूल पाठ

गंतुं ताय ! पुणो गच्छे, ण तेणासमणो सिया।
अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

गत्वा तात ! पुनरागच्छेः, न तेनाश्रमणः स्याः ।
अकामकं पराक्रमन्तं, कस्त्वां वारयितुमर्हति ? ॥७॥

अन्वयार्थ

(**ताय**) हे तात ! (**गंतुं**) एक बार घर जाकर (**पुणो गच्छे**) फिर आ जाना। (**तेण**) इससे (**ण असमणो सिया**) तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे। (**अकामगं**) घर के कामकाज में इच्छारहित होकर (**परिक्कम्म**) अपनी इच्छानुसार कार्य करते हुए (**ते**) तुमको (**को वारेउमरिहति**) कौन रोक सकता है ?

भावार्थ

हे तात ! तुम एक बार घर चलकर फिर आ जाना। ऐसा करने से तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे। घर के काम में इच्छारहित रहकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से तुम्हें कौन रोक सकता है ?

व्याख्या

घर चलने का दूसरी तरह से अनुरोध

"हे प्रिय पुत्र ! तुम एक बार घर चलकर अपने स्वजनवर्ग से मिलकर, उन्हें देखकर फिर लौट आना। एक बार घर चलने मात्र से तुम असाधु नहीं हो जाओगे। केवल घर जाने से क्या कोई असाधु हो जाता है ? अगर घर में रहना रुचिकर न हो तो पुनः यहीं आ जाना। यदि तुम्हारी इच्छा गृहकार्य करने की न हो तो तुम्हें अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है ? तुम्हारी इच्छा वृद्धावस्था में कामेच्छा से निवृत्त होने पर संयमानुष्ठान करने की हो तो तुम्हें कौन मना करता है ? संयमानुष्ठान के योग्य अवसर आने पर तुम्हें कोई रोक-टोक नहीं करेगा। लोकव्यवहार में भी कहा जाता है—**'वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्'**—वृद्धावस्था में ही मुनिवृत्ति अंगीकार करना चाहिए। अतः हमारा साग्रह अनुरोध है कि एक बार तुम घर चलो।"

मूल पाठ

जं किंचि अणगं तात ! तंपि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहाराइ, तंपि दाहामु ते वयं ॥८॥

संस्कृत छाया

यत्किंचिद् ऋणं तात ! तत् सर्वं समीकृतम् ।
हिरण्यं व्यवहारादि, तदपि दास्यामस्ते वयं ॥८॥

अन्वयार्थ

(**ताते**) हे तात ! (**जं किंचि अणगं**) जो कुछ ऋण था, (**तंपि सव्वं**) वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सब (**समीकतं**) हमने बाँट-बाँटकर बराबर कर दिया है—उतार दिया है। (**ववहाराइ**) व्यवहार के योग्य (**हिरण्णं**) जो सोना-चाँदी आदि हैं, (**तं पि**) वह भी (**ते**) तुम्हें (**वयं**) हम लोग (**दाहामु**) देंगे।

भावार्थ

हे तात ! तुम पर जो ऋण था, वह भी हम लोगों ने बराबर बाँटकर उतार दिया है। तथा तुम्हारे व्यवहार के लिए जितने भी हिरण्य (सोना-चाँदी) आदि द्रव्य की आवश्यकता होगी, वह भी हम लोग तुम्हें देंगे।

व्याख्या

द्रव्य का लोभ देकर गृहवास का अनुरोध

इस गाथा में साधक को उसके स्वजन द्रव्यलोभ देकर गृहवास का अनुरोध करते हैं—बेटा ! तुम पर जो कर्ज था, वह भी हम लोगों ने अपने-अपने हिस्से में बराबर बँटवारा करके चुका दिया है, अथवा तुम पर जो भारी ऋण था, जिसके चुकाने के भय से तुमने घरबार छोड़ा था, हम लोगों ने सुगमता से चुकाने की व्यवस्था कर दी। ऋण के भय से यहाँ आए हो तो उस भय को दूर कर दो। इसके अतिरिक्त तुम्हें अगर यह चिन्ता हो कि मेरा व्यापार, घरखर्च आदि व्यवहार कैसे चलेगा ? तो यह चिन्ता करने की भी जरूरत नहीं है। व्यापार आदि व्यवहार के लिए जो हिरण्य (सोना, चाँदी) आदि द्रव्य घर में है, वह हम तुम्हें देंगे। अतएव तुम अवश्य घर चलो। जिस निर्धनता के डर से तुमने घर छोड़ा था, वह डर अब दूर हो गया है। अब घर पर रहने में तुम्हारे लिए कोई विघ्नबाधा नहीं है।

मूल पाठ

इच्चेव णं सुसेहंति कालुणीयसमुट्ठिया।
विबद्धो नाइसंगेहिं ततोऽगारं पहावइ ॥ ॥

संस्कृत छाया

इत्येव सुशिक्षयन्ति कारुण्यसमुपस्थिताः।
विबद्धो ज्ञातिसंगैस्ततोऽगारं प्रधावति ॥९॥

अन्वयार्थ

(**कालुणीयसमुट्ठिया**) करुणा से युक्त बन्धु-बान्धव, (**इच्चेव**) इसी प्रकार (**णं सुसेहंति**) साधु को शिक्षा देते हैं। (**नाइसंगेहिं**) ज्ञातिजनों के संगों—संसर्गों से (**विबद्धो**) विशेषरूप से जकड़ा हुआ—स्नेह बंधन में बंधा हुआ साधक (**ततो**) उस निमित्त से (**अगारं**) घर की ओर (**पहावइ**) दौड़ पड़ता है।

भावार्थ

करुणा से परिपूर्ण बन्धु-बान्धव साधु को पूर्वोक्त प्रकार से शिक्षा देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—समझाते हैं। तत्पश्चात् अपने उन ज्ञातिजनों-कुटुम्बीजनों की आसक्तियों के बन्धनों से विशेषरूप से बँधा हुआ गुरुकर्मी साधक उस निमित्त को लेकर प्रव्रज्या छोड़कर घर की ओर शीघ्र जाने लगता है।

व्याख्या

प्रव्रज्या छोड़कर घर की ओर दौड़

इस गाथा में अपरिपक्व एवं गुरुकर्मी साधक की स्वजनों के प्रति मोहबन्धनों के कारण होने वाली मनोदशा का क्रम बताया गया है—'इच्चेव णं ....पहावइ।'

आशय यह है कि पूर्वगाथाओं में बताया गया है कि स्वजनों द्वारा किस-किस तरीके से साधक को अपनी ओर खींचा जाता है। इस गाथा में उन सबका परिणाम अथवा कच्चे साधक पर होने वाला प्रभाव बताते हुए कहा है कि स्वजनों के पूर्वोक्त करुणोत्पादक वचनों को सुन-सुनकर साधु का हृदय करुणा से विह्वल हो जाता है, पूर्व संस्कारवश वह भी उन स्वजनों के मोहबन्धन में बँधकर संयमपालन से फिसल जाता है। साधक के हृदय में स्वजन लोग एक ही बात को विभिन्न पहलुओं से समझाकर ठसा देते हैं। अतः वह प्रव्रज्या को छोड़कर पुनः गृहपाश में बँध जाता है।

मूल पाठ

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा ॥१०॥

संस्कृत छाया

यथा वृक्षं वने जातं, मालुका प्रतिबध्नाति ।
एवं प्रतिबध्नन्ति, ज्ञातयोऽसमाधिना ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**वणे जायं**) वन में उत्पन्न (**रुक्खं**) वृक्ष को (**मालुआ**) लता (**पडिबंधइ**) बाँध लेती है, (**एवं**) इसी तरह (**णातओ**) ज्ञाति वाले स्वजन (**असमाहिणा**) साधक के चित्त की समाधि भंग करके—असमाधि उत्पन्न करके (**पडिबंधंति**) बाँध लेते हैं।

भावार्थ

जैसे जंगल में पैदा हुए वृक्ष को बेल लिपटकर बाँध लेती है, वैसे ही ज्ञातिजन—कौटुम्बिक लोग साधक के चित्त में असमाधि पैदा करके उसे बाँध लेते हैं।

व्याख्या

वन्यवृक्ष को लता और साधक को स्वजन बाँध लेते हैं

जैसे जंगल में पैदा हुए पेड़ के चारों ओर लिपटकर बेल उसे बाँध लेती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैसे ही साधक के माता, पिता, भाई-भाभी, पत्नी-पुत्र आदि करुणाजनक एवं मोहोत्पादक वचनों से उसके चित्त में संयम एवं साधुधर्म के प्रति असमाधि—अरुचि—उद्विग्नता पैदा कर देते हैं और उसी असमाधि के द्वारा उसे बाँध लेते हैं। वास्तव में देखा जाय तो स्वजन सम्बन्धी उक्त साधु के मित्र नहीं, अमित्र हैं। जैसे कि एक अनुभवी ने कहा है—

अमित्तो मित्तवेसेणं कंठे घेत्तूण रोयइ ।
मा मित्ता! सोग्गइं जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं ।।

अर्थात्—वस्तुतः परिवारवर्ग मित्र नहीं, अमित्र है। वह मित्र की तरह कण्ठ में लिपट कर रोता है। मानो वह कहता है कि मित्र ! तुम सद्गति में मत जाओ, हम दोनों ही साथ-साथ दुर्गति में चलें।

मूल पाठ

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थीवावी नवग्गहे ;
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगोव्व अदूरए ।।११।।

संस्कृत छाया

विबद्धो ज्ञातिसंगैर्हस्ती वाऽपि नवग्रहे ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति सूतगौरिवादूरगा ।।११।।

अन्वयार्थ

(**नाइसंगेहिं**) माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के सम्बन्ध द्वारा (**विबद्धो**) बँधे हुए (**पिट्ठतो**) पीछे-पीछे (**परिसप्पंति**) स्वजनवर्ग चलते हैं और (**नवग्गहे हत्थीव**) नवीन ग्रहण किये हुए हाथी के समान उसके अनुकूल आचरण करते हैं। तथा (**सुयगोव्वअदूरए**) नई ब्याई हुई गाय जैसे अपने बछड़े के पास ही रहती है, उसी तरह परिवारवर्ग उसके पास ही रहते हैं।

भावार्थ

जो पुरुष माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के मोह में पड़कर प्रव्रज्या छोड़कर फिर घर में चला जाता है, उसके पारिवारिक जन नये पकड़े हुए हाथी के समान बहुत ही खातिरदारी करते हैं और उसके पीछे-पीछे फिरते हैं। तथा जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पास ही पास रहती है, वैसे परिवारवाले भी उसके पास ही रहते हैं। उसे जरा-सा भी इधर-उधर अकेला नहीं छोड़ते।

व्याख्या

गृहस्थ में फँस जाने के बाद साधक की स्थिति

जब साधक संयम को तिलांजलि देकर माता-पिता आदि स्वजनों के पूर्वोक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविध अनुरोधों से उनके मोह सम्बन्ध में बँध जाता है, तब पहले उसका मन पुनः गृहवास में लगाने के लिए उसके मनोनुकूल आचरण करते हैं, उसे सन्तुष्ट करते हैं। जैसे नये-नये पकड़े हुए हाथी को सन्तुष्ट करने के लिए लोग ईख का टुकड़ा आदि मधुर आहार देकर उसकी सेवा करते हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टान्त देकर शास्त्रकार समझाते हैं—जैसे नई ब्याई हुई (प्रसूता) गाय अपने बछड़े के पास ही पास रहती है, उसके पीछे-पीछे भागती रहती है, इसी प्रकार प्रव्रज्या छोड़कर आए हुए नये गृहस्थ को परिवार वाले नया जन्मा हुआ मानकर उसके अनुकूल व्यवहार करते हैं, उसके पीछे-पीछे फिरते हैं। वह जिस मार्ग से जाता है, उसी से वे भी जाते हैं। मतलब यह है कि परिवार के लोग उसको अकेला नहीं छोड़ते, ताकि उसके परिणाम बदल न जाएँ।

मूल पाठ

एते संगा मणुस्साणं पाताला इव अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

संस्कृत छाया

एते संगाः मनुष्याणां पाताला इवाऽतार्याः ।
क्लीवाः यत्र क्लिश्यन्ति, ज्ञातिसंगैर्मूर्च्छिताः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**एते**) ये (**संगा**) माता-पिता आदि स्वजनों के संग (**मणुस्साणं**) मनुष्यों के लिए (**पाताला इव अतारिमा**) समुद्र के समान दुस्तर हैं। (**जत्थ**) जिसमें (**नाइसंगेहिं**) ज्ञातिजनों के संसर्ग में (**मुच्छिया**) आसक्त होकर (**कीवा**) अल्पसत्त्वसाधक (**किस्संति**) क्लेश पाते हैं।

भावार्थ

ये माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति आसक्ति समुद्र के समान मनुष्य के द्वारा दुस्तर होती है। इस संग में पड़कर अल्पपराक्रमी सुख-सुविधा-परायण व्यक्ति क्लेश पाते हैं।

व्याख्या

समुद्रवत् दुस्तर संग में पड़ा हुआ साधक

एते संगा मणुस्साणं—'**सज्यन्ते इति संगाः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो जीव को बाँध लेता है, फँसा लेता है, उसे संग कहते हैं। माता-पिता आदि स्वजनवर्ग के सम्बन्ध—संसर्ग को संग कहते हैं। यह संग कर्मबन्ध के जाल में फँसाता है। इसी-लिए इसे अतल समुद्र के समान मनुष्यों द्वारा दुस्तर कहा है। इस प्रकार के संग में एक बार फँस जाने के बाद फिर साधक का उसके चंगुल से छूटना अत्यन्त दुष्कर होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। फिर तो माता-पिता आदि स्वजनों के संग में ग्रस्त असमर्थ व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में फँसकर फिर उसी क्लेश परम्परा में पड़ा रहता है। उसे अपनी आत्मा के कल्याण की बात ही नहीं सूझती।

मूल पाठ

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥१३॥

संस्कृत छाया

तं च भिक्षुः परिज्ञाय, सर्वे संगाः महाश्रवाः।
जीवितं नावकांक्षेत, श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू**) साधु (**तं च**) उस ज्ञाति सम्बन्ध को (**परिन्नाय**) भली-भाँति जान कर छोड़ देते हैं। क्योंकि (**सव्वे संगा**) सभी संग (**महासवा**) कर्म के महान् आस्रव-द्वार हैं। (**अणुत्तरंधम्मं**) सर्वोत्तम धर्म को (**सोच्चा**) सुनकर साधु (**जीवियं**) असंयमी जीवन की (**नावकंखिज्जा**) इच्छा न करे।

भावार्थ

साधु उक्त ज्ञातिजनों के संग (सम्बन्ध) को संसार का कारण जान कर छोड़ दे। क्योंकि सभी संग-संसर्ग सम्बन्ध, कर्मबन्ध के महान् आस्रव-द्वार होते हैं। अतः साधु इस सर्वोत्तम आर्हद्धर्म को सुनकर असंयमी जीवन की इच्छा न करे।

व्याख्या

संगों से बचो, असंयमी जीवन में मत पड़ो

स्वजनों का संसर्ग संसार का प्रधान कारण है। इस बात को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे, क्योंकि जितने भी संग हैं, वे सभी कर्मों के महान् आस्रव (आगमन) द्वार हैं।

इस प्रकार के स्वजन संसर्गरूप अनुकूल उपसर्ग से छूटने के लिए साधक को क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं---'**जीवियं नावकंखिज्जा।**' अर्थात् अनुकूल उपसर्ग आने पर साधक असंयमी जीवन की यानी गृहवासरूप पाश-बंधन की इच्छा न करे तथा प्रतिकूल उपसर्ग आने पर जीवन की इच्छा न करे। अथवा साधु श्रुत-चारित्ररूप धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट एवं मुनीन्द्र प्रतिपादित है, उसे सुनकर असत्कर्म के अनुष्ठानपूर्वक सांसारिक जीवन की आकांक्षा न करे।

निष्कर्ष यह है कि जब से ये और इस प्रकार के स्वजन आदि द्वारा कृत अनुकूल उपसर्ग आएँ साधक एकदम सावधान हो जाय, एक ही झटके में उसे या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वजनों के प्रस्ताव को ठुकरा दे, किसी भी मूल्य पर गृहवास या सांसारिक मार्ग को स्वीकार न करे।

मूल पाठ

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

संस्कृत छाया

अथेमे सन्त्यावर्ताः, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
बुद्धाः यत्रावसर्पन्ति, सीदन्त्यबुधाः यत्र ॥१४॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके बाद (**कासवेण**) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर ने (**पवेइया**) यह खासतौर से बता दिया कि (**इमे**) ये संग-संसर्ग (**आवट्टा संति**) आवर्त—भँवर जाल—चक्कर हैं। (जत्थ) जिनके आने पर (बुद्धा) तत्त्वज्ञ पुरुष (**अवसप्पंति**) झटपट इनसे अलग हट जाते हैं, इनसे दूर से ही किनाराकशी कर लेते हैं। (**अबुद्धा जहिं**) जहाँ कि अज्ञानी अदूरदर्शी विवेकमूढ़ (**सीयंति**) इनमें फँसकर दुःख पाते हैं।

भावार्थ

इसके अनन्तर काश्यपगोत्री भगवान् महावीर ने विशेषतः निरूपण किया है कि ये पूर्ववर्णित संग आवर्त भँवरजाल या चक्कर हैं। विद्वान् पुरुष इन आवर्तों से दूर रहते हैं, जबकि अज्ञानी निर्विवेकी व्यक्ति इनमें बुरी तरह फँसकर दुःख पाते हैं।

व्याख्या

ज्ञानी साधक संग के चक्करों से दूर

इस गाथा में संग को आवर्त कहकर उनसे दूर रहने की प्रेरणा दी है—**'अहिमेसंति..... अबुहा जहिं।'** यहाँ 'अह' (अथ) शब्द अनन्तर अर्थ में है। अर्थात् यहाँ से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है। अथवा यहाँ पाठान्तर है—**'अहो'**, जो विस्मयादि बोधक शब्द है। यह पाठ अधिक संगत है। आशय यह है कि अहो आश्चर्य है कि भगवान् महावीर के द्वारा इन स्वजनाश्रित संगों को आवर्त (भंवरजाल) बताये जाने पर भी अज्ञानीपुरुष इसी में ही बार-बार फँसकर अपना जीवन दुःखी बना लेता है, जबकि तत्त्वज्ञानी साधक इससे दूर से ही किनाराकशी कर लेता है।

आवर्त दो प्रकार का होता है द्रव्यावर्त और भावावर्त। द्रव्य-आवर्त नदी, समुद्र आदि में होने वाले भँवरलाल को कहते हैं, जबकि भावावर्त उत्कट महामोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न सांसारिक विषयभोगों की इच्छा को सिद्ध करने वाली सम्पत्ति, सुख-सुविधाएँ या कामसेवन की विशिष्ट प्रार्थना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान महावीर ने आवर्त का स्वरूप बताया है। इसलिए जो विवेकी एवं दूरदर्शी साधक इन आवर्तों का फल जानते हैं, वे साधक इनके उपस्थित होने पर झटपट वहाँ से दूर हट जाते हैं, परन्तु अज्ञानी इनमें आसक्त होकर महादुःख पाते हैं।

इन्हीं आवर्तों को बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

रायाणो रायऽमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं ॥१५॥

संस्कृत छाया

राजानो राजामात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः।
निमंत्रयन्ति भोगैर्भिक्षुकं साधुजीविनम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**रायाणो**) राजा, महाराजा आदि, (**रायऽमच्चा य**) और राजमंत्रीगण (**माहणा**) ब्राह्मण (**अदुवा**) अथवा (**खत्तिया**) क्षत्रिय (**साहुजीविणं**) उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले (**भिक्खुयं**) भिक्षु को (**भोगेहिं**) विविध भोग भोगने के लिए (**निमंतयंति**) निमंत्रित करते हैं।

भावार्थ

राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और राजमंत्री तथा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले साधु को कामभोग भोगने के लिए आमंत्रित करते हैं।

व्याख्या

राजाओं आदि द्वारा भोगों का आमंत्रण मिलने पर

भोगों का किसी सत्ताधीश या धनाधीश द्वारा आमंत्रण मिलना भी अनुकूल उपसर्ग है। और ऐसे अनुकूल उपसर्गों के मिलने पर बड़े-बड़े धर्मधुरंधर आचार्य एवं साधु भी उसे स्वीकार करते देखे गए हैं। उस युग के महान् प्रभावक आचार्य तक भी राजा, बादशाह या किसी सत्ताधीश द्वारा दी गई पालकी, छत्र, चामर, तथा विविध सुख-सुविधाएँ, भोगसामग्री स्वीकार करते देखे गए हैं, तब सामान्य साधु की तो बिसात ही क्या ? कई रूपयौवन सम्पन्न साधओं को मगधाधीश श्रेणिक जैसे भी आमंत्रित करते हैं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्त नामक साधु को विविध प्रकार के विषय-भोगों और सुख-सुविधाओं का प्रलोभन दिया था। इसीलिए शास्त्रकार इस अनुभवसिद्ध बात को कहते हैं—**'रायाणो रायऽमच्चा य''''भिक्खूयं साहुजीविणं।'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि सामान्य शासक से लेकर चक्रवर्ती तक जो भी छोटा-बड़ा शासक है, वह राजा पद से समझ लेना चाहिए। राजामात्य यानी मंत्री, पुरोहित, प्रधान आदि, एवं ब्राह्मण तथा इक्ष्वाकु आदि कुलों में उत्पन्न क्षत्रिय या आदि पद से अन्य कोई धनाढ्य वैभवशाली व्यक्ति सुविहित आचारवान साधु को शब्दादि विविध विषयोपभोगों के लिए आमंत्रित कर सकते हैं, परन्तु ऐसे अवसर को साधु परीक्षाकाल समझ कर किसी भी मूल्य पर अपने साधु-धर्म से फिसले नहीं, यह इस गाथा में ध्वनित किया गया है।

मूल पाठ

हत्थऽस्सरहजाणेहिं विहारगमणेहिं य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु तं ॥१६॥

संस्कृत छाया

हस्त्यश्वरथयानैर्विहारगमनैश्च ।
भुंक्ष्व भोगानिमान् श्लाघ्यान् महर्षे ! पूजयामस्त्वाम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**महरिसी**) हे महर्षि ! (**हत्थऽस्सरहजाणेहिं**) ये हाथी, घोड़ा, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने (**विहारगमणेहिं य**) और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के हेतु ये बाग-बगीचे आपके सैर-सपाटे करने के लिए हैं। (**इमे सग्घे भोगे**) इन उत्तमोत्तम भोगों का मनचाहा उपभोग कीजिए। (**तं पूजयामु**) हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त चक्रवर्ती राजा आदि मुनि के पास आकर कहते हैं—हे महाभाग ऋषिवर ! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके बैठने के लिए हैं और आपके आमोद-प्रमोद या क्रीड़ा के एवं सैर-सपाटे हेतु ये बाग-बगीचे हैं। आप इन उत्तमोत्तम भोगों का जी चाहा उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

व्याख्या

किन विषयोपभोगों का प्रलोभन दिया जाता है ?

सत्ताधीश या धनाधीश आदि अपनी किसी न किसी लौकिक स्वार्थपूर्ति के लिए या किसी स्वार्थसिद्धि के हो जाने पर पहले तो समुच्चयरूप में साधु को भोगों के लिए आमंत्रित करते हैं—"आइए, आप हमारे घर को पावन कीजिए, जितने दिन आपकी इच्छा हो, रहिए। आपके लिए यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं।" परन्तु इस पर सुविहित साधु जब संकोच करता है, अथवा सुख-सुविधाप्रिय साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोचता है कि "इसमें क्या धरा है ? ये मकान तो वैसे ही बने हुए हैं, अन्य सुख-सामग्री न हो तो केवल किसी के मकान में जाने से क्या लाभ ?" अतः वे सत्ताधीश या धनाढ्य लोग साधु को आकृष्ट करने या खरीद लेने के लिए उसे खुल्लमखुल्ला प्रलोभन अपने यहाँ लाकर देते हैं—"देखिये, महात्मन् ! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आपके लिए प्रस्तुत हैं। आपको मेरे गुरु होकर पैदल नहीं चलना है। इनमें से जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका जी चाहा उपयोग करें। और जब कभी आपका मन उचट जाय, सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे हैं, इनमें आप मनचाहा भ्रमण करें, ताजे फूलों की सुगन्ध लें, प्राकृतिक सौन्दर्य को निहारें। 'च' शब्द से इन्द्रियों को सुख देने वाले अन्यान्य विषयों के उपभोग के लिए भी आमंत्रित कर सकते हैं। वे यह भी कह सकते हैं कि यह सब उत्तमोत्तम विषयभोग सामग्री आपके चरणों में समर्पित है। आप इनका मनचाहा उपभोग करें। हम भी आपके भक्त हैं। आप जो भी आज्ञा देंगे, हम उसे सहर्ष शिरोधार्य करेंगे। हम आपकी प्रतिष्ठा में कोई कमी न आने देंगे। हम आपका सत्कार-सम्मान करते हैं।"

मूल पाठ

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो ! पूजयामु तं ॥१७॥

संस्कृत छाया

वस्त्र-गन्धमलंकारं स्त्रियः शयनानि च ।
भुंक्ष्वेमान् भोगान्, आयुष्मन् ! पूजयामस्त्वाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**आउसो**) हे आयुष्मन् ! (**वत्थगन्धं**) वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, (**अलंकारं**) आभूषण (**इत्थीओ**) अंगनाएँ (**य**) और (**सयणाणि**) शय्या तथा शयनसामग्री, (**इमाइं भोगाइं**) इन भोगों— भोगसामग्री का (**भुंज**) मनचाहा उपभोग करें। (**तं**) आपकी हम (**पूजयामु**) पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

भावार्थ

हे आयुष्मन् ! उत्तमोत्तम वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, विविध आभूषण, नवयौवना अंगनाएँ और शय्या आदि शयनीय सामग्री, इन भोगों का आप जी चाहा उपभोग करें। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

व्याख्या

अन्य भोग्यसामग्री का आमंत्रण

पूर्वगाथा में भी कुछ भोग्य सामग्री के आमन्त्रण का उल्लेख है और इसमें भी। परन्तु इस गाथा में कुछ विशिष्ट सामग्रियों के आमन्त्रण का उल्लेख किया गया है। इसका रहस्य यह है कि पूर्वगाथा में जिस भोग्यसामग्री का उल्लेख है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस भोग्य सामग्री को लेने में साधु इतना कतराता नहीं। परन्तु जब सत्ताधीश या धनाढ्य देखते हैं कि अब यह साधु इतनी भोग्यसामग्री एवं सुख-सुविधाओं का उपभोग करने लग गया है और इसके साथ हमारा दिल खुल गया है तो वे फिर उनके अन्तरंग मित्र (जिगरी दोस्त) बनकर संयम-विघातक अन्यान्य भोगसामग्री के लिए आमंत्रण करते हैं— "हे महाभाग ! आयुष्मन् ! आप हमारे पूज्य हैं। आपके चरणों में दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ भोग्यसामग्री प्रस्तुत हैं। ये चीनांशुक आदि रेशमी कपड़े हैं। ये इत्र, तेल-फुलेल, सुगन्धिपूर्ण, पुटपाक, सेंट, लवेंडर आदि सुगन्धि युक्त पदार्थ हैं। ये कड़े, बजूबन्द, हार, अंगूठी आदि आभूषण हैं। ये नवयुवती गौर-वर्णा मृगनयनी सुन्दरियाँ हैं। ये गद्दे, तकिये, पलंगपोश, पलंग आदि शय्या सामग्री है। ये सब इन्द्रियों और मन को प्रसन्न करने वाले उत्तमोत्तम भोग-साधन आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। हम इन्हें आपके चरणों में समर्पित करते हैं। आप इनका यथेष्ट उपयोग करके जीवन सफल करें। हम इन भोग्य पदार्थों के द्वारा आपका सत्कार करते हैं। **'पूजयामु तं'** यह वाक्य दोनों गाथाओं में आया है, इसका रहस्य यह प्रतीत होता है कि सुविहित साधक साधुजीवन में त्याज्य भोग्यपदार्थों का सेवन करने में जब प्रवृत्त होता है, तब उसके मन में सहसा यह विचार भी उपस्थित होता है कि मेरे भक्त जब इन पदार्थों का उपभोग करते हुए मुझे देखेंगे तो उनके मन में मेरे प्रति अप्रतिष्ठा—अश्रद्धा का भाव पैदा होगा। अतः मेरी प्रतिष्ठा, मेरी इज्जत भी मेरे भक्तवर्ग में बरकरार रहे, इस चिन्ता के निवारण के लिए दोनों गाथाओं में यह बात कही गई है कि राजा आदि नये भक्त बने हुए लोग ऐसे भोग-साधनों के उपभोग की ओर झुकने वाले साधु को कहते हैं—हे पूज्य, आप निश्चिन्त रहें। इन चीजों के उपभोग से आपकी पूजा-प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आएगी। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं, सम्मान देते हैं। जब राजा सम्मान देता है तो प्रजा तो अवश्य ही देगी, क्योंकि प्रजा तो राजा का अनुसरण करती है। इस प्रकार साधु को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की ओर से आश्वस्त करने के लिए दो जगह एक से वाक्यों का प्रयोग किया गया है।

साधु को भोगों का खुलकर उपभोग करने की दृष्टि से फिर वे क्या कहते हैं ? इसे बताते हैं—

मूल पाठ

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया।
आगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ॥१८॥

संस्कृत छाया

यस्त्वया नियमश्चीर्णो भिक्षुभावे सुव्रत !।
आगारमावसतस्तव सर्वः संविद्यते तथा ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**सुव्वया**) हे सुन्दर व्रत वाले मुनिवर ! (**तुमे**) तुमने (**भिक्खुभावंमि**) मुनि भाव में रहते हुये (**जो**) जिस (**नियमो**) नियम का (**चिण्णो**) आचरण-अनुष्ठान किया है । (**आगारभावेऽतस्स**) घर में निवास करने पर भी (**सव्वो**) तुम्हारा वह सब व्रतनियम (**तहा**) उसी तरह—पूर्ववत् (**संविज्जए**) बना रहेगा ।

भावार्थ

हे सुन्दर व्रतधारी साधक ! मुनि भाव में रहते हुये तुमने जिन महाव्रत आदि यम-नियमों का अनुष्ठान किया है, वह सब गृहनिवास करने पर भी पूर्ववत् बने रहेंगे ।

व्याख्या

साधक को गृहवास में रहने का आश्वासन

कई लज्जाशील संयमप्रिय साधक जब गृहवास में जाने में इसलिए कतराते हैं कि वहां जाने पर हमारे महाव्रत यम-नियम आदि सब भंग हो जाएँगे, हमारी आज तक की सारी साधना मिट्टी में मिल जाएगी, बेकार हो जाएगी । अतः ऐसे साधुओं को गृहवास में फँसाने के हेतु उद्यत स्वजन या अन्य हितैषी-मोहीजन उनसे कहते हैं — मुनिवरो ! आपने जिन महाव्रत आदि यम-नियमों का पालन किया है, गृहवास में जाने पर वे उसी तरह रहेंगे, उनका फल कभी समाप्त नहीं होगा । गृहवास में वे नियम पूर्ववत् पाले जा सकेंगे, उनका फल भी पूर्ववत् मिलता रहेगा, क्योंकि मनुष्य के द्वारा किये गए पुण्य-पाप तथा उनके फल का कभी नाश नहीं होता । अतः नियम भंग के भय से पूर्वोक्त सुखोपभोग करने में संकोच मत करो; यह तात्पर्य है ।

मूल पाठ

चिरं दुइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव ? ।
इच्चेव णं निमंतेन्ति नीवारेण व सूयरं ॥१९॥

संस्कृत छाया

चिरं विहरतो दोष इदानीकुतस्तव ? ।
इत्येव निमंत्रयन्ति नीवारेणेव सूकरम् ॥१९॥

अन्वयार्थ

हे साधकवर ! (**चिरं**) चिरकाल से (**दुइज्जमाणस्स**) संयम के आचरण-पूर्वक विहार करते हुए (**तव**) आपको (**दाणिं**) इस समय (**दोसो**) दोष (**कुओ**) कैसे हो सकता है ? (**निवारेण व सूयरं**) जैसे लोग चावलों के दानों का प्रलोभन देकर सूअर को फँसा लेते हैं, (**इच्चेव**) इसी प्रकार (**णं निमंतेन्ति**) विविध भोगोप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोगों का प्रलोभन देकर गृहवास में फँसाने के लिए मुनि को तथाकथित लोग निमंत्रित करते हैं।

भावार्थ

हे साधकवर ! आपने चिरकाल तक संयम का आचरण करते हुए ग्रामानुग्राम विहार किया है। अब आपको इन भोगों को भोग लेने में कोई भी दोष कैसे हो सकता है ? इस प्रकार भोगों के उपभोग का आमंत्रण देकर लोग साधु को गृहवास में उसी तरह फँसा लेते हैं, जिस तरह चावल के दानों का प्रलोभन देकर सूअर को फँसाते हैं।

व्याख्या

सुसंयमी साधक को गृहवास में फँसाने का दुश्चक्र

इतने आश्वासन देने के बावजूद भी जब सुसंयमी साधक ऐसे संकोच के कारण गृहवास में जाने को तैयार नहीं होता कि गृहस्थवास में मेरे पूर्वस्वीकृत महाव्रत, संयमनियमों को भंग करने का भयंकर दोष लगेगा। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्वोक्त स्वजन या सत्ताधीश आदि साधु के मन को आश्वस्त करने के लिए कहते हैं---"साधकप्रवर ! आपने बहुत वर्षों तक संयम-नियमों का पालन किया है, अब इन भोगों को भोगने में कोई दोष नहीं हो सकता है।" इस प्रकार कहकर वे पूर्वोक्त समस्त भोग्यसामग्री प्रस्तुत करके उसके उपभोग की चाट लगाकर संयमजीवी साधु के हृदय में भोगबुद्धि उत्पन्न कर देते हैं। उसे उसी तरह असंयम में या गृहवास में फँसा लेते हैं, जिस तरह चावलों के दाने डालकर सूअर को फँसा लेते हैं।

मूल पाठ

चोइया भिक्खुचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

संस्कृत छाया

चोदिताः भिक्षुचर्य्यायाञ्चक्नुवन्तो यापयितुम् ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति उद्यान इव दुर्बलाः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खुचरियाए**) संयमी साधुओं की चर्या--समाचारी पालन करने के लिए (**चोइया**) आचार्य आदि के द्वारा प्रेरित (**जवित्तए अचयंता**) साधुसमाचारी के पालन-पूर्वक संयमी जीवनयापन करने में असमर्थ (**मंदा**) अल्पसत्त्व साधक (**तत्थ**) उस समय में (**विसीयंति**) शिथिल होकर उसी तरह बैठ जाते हैं (**उज्जाणंसि व दुब्बला**) जैसे चढ़ाव के ऊँचे मार्ग में दुर्बल बैल ढीले होकर बैठ जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

साधुसमाचारी के लिए आचार्य आदि द्वारा बार-बार प्रेरणा दिये जाने पर भी अल्पसत्त्व साधक उस साधुसमाचारी का पालन करते हुए संयमी जीवन यापन करने में अपने आपको असमर्थ जानकर संयम में शिथिल होकर या संयमभार छोड़कर उसी तरह ढीले होकर बैठ जाते हैं जिस तरह ऊँचे चढ़ाव वाले मार्ग में दुर्बल बैल ढीले होकर पड़ जाते हैं।

व्याख्या

संयम से विचलित साधकों की दशा

जो साधक पूर्वोक्त भोगों का निमंत्रण पाकर एक बार संयम में शिथिल हो जाता है, अपनी साधुसमाचारी के अनुसार नहीं चलता, उसे आचार्य, गुरु आदि साधुसमाचारी पर चलने को प्रेरित करते हैं, उसको भी सहन करने में असमर्थ और संयमपालनपूर्वक जीवनयापन करने में अशक्त अल्पसत्त्व साधक मोक्षप्राप्ति के प्रधान साधन तथा करोड़ों जन्मों के पश्चात् मिले हुए संयमरत्न के पालन में शिथिल हो जाता है। यह बात दृष्टान्त द्वारा समझायी गयी है—जैसे उद्यान यानी मार्ग के ऊँचे भाग पर अत्यन्त बोझ से दबे हुए तथा लदे हुए भार को ढोने में असमर्थ दुर्बल बैल गर्दन नीची करके निढाल होकर धप्प से बैठ जाते हैं, उसी तरह अल्पसत्त्व बुद्धिमन्द अदूरदर्शी साधक भी अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग को सहन करने का संयम की चढ़ाई वाला ऊँचा मार्ग आता है तो मरियल बैल की तरह पंचमहाव्रत तथा साधुसमाचारी रूपी भार को वहन करने में अशक्त, दुर्बलमना होकर संयम से शिथिल होकर या संयम का त्याग करके नीची गर्दन किये बैठ जाते हैं। स्त्री आदि संगों या भोगासक्ति रूपी भावावर्त साधक को संयम से गिराने में निमित्त बनते हैं।

भिक्खुचरियाए—साधुचर्या के यहाँ दो अर्थ हैं—एक तो यह है कि ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति आदि साधुजीवन की चर्या। दूसरा अर्थ है—इच्छाकार, मिच्छाकार आदि दस प्रकार की समाचारी, जो उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित है।

मूल पाठ

अचयंता व लूहेणं उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

संस्कृत छाया

अशक्नुवन्तो रूक्षेण, उपधानेन तर्जिताः ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति, उद्याने जरद्गवाः ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**लूहेणं**) रूक्ष - नीरस कठोर संयम का पालन (**अचयंता**) नहीं कर सकने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले तथा (**उवहाणेण तज्जिया**) तप से पीड़ित (**मंदा**) अदूरदर्शी अल्पसत्त्व साधक (**उज्जाणंसि जरग्गवा**) ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग में बूढ़े बैल के समान (**तत्थ**) उस संयम में (**विसीयंति**) क्लेश पाते हैं।

भावार्थ

नीरस संयम का पालन करने में असमर्थ एवं तपस्या के नाम से काँपने वाले अदूरदर्शी अल्पसत्त्व अज्ञ साधक संयममार्ग में उसी तरह क्लेश पाते हैं, जिस तरह बूढ़े—जराजीर्ण बैल ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग में कष्ट पाते हैं।

व्याख्या

उपसर्ग उपस्थित होने पर विषाद पाने वाले साधक

इस गाथा में संयममार्ग में क्लेश पाने के दो कारण प्रस्तुत किये गये हैं—(१) पूर्वोक्त भोगप्रलोभनों के चक्कर में आने से जिन्हें संयम रूखा-सूखा, नीरस और भारभूत लगता है, (२) जो १२ प्रकार की बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या से कतराता है, तपस्या का नाम सुनते ही पीड़ा पाता है। ऐसे मन्द पराक्रमी अज्ञ साधक संयम की उच्च साधना के मार्ग में किस प्रकार कष्ट पाते हैं? यह बताने के लिए दृष्टान्त दिया है—जैसे जीर्णशीर्ण बूढ़ा हारा-थका बैल ऊपर चढ़ाई वाले मार्ग में कष्ट पाता है। ऊँची चढ़ाई वाले मार्ग में तो जवान बैल को भी कष्ट होता है, फिर वृद्ध बैल की तो बात ही क्या? वैसे ही साधना की ऊँचाइयों पर चढ़ने में मन्दसत्त्व साधक पद-पद पर कष्ट पाता है। शास्त्रकार का आशय यह है कि जो साधक धीरता और संहनन (दृढ़ता) से युक्त एवं विवेकी हैं, उनका ऐसे अनुकूल उपसर्गरूपी आवर्तों के बिना भी संयम से भ्रष्ट होना सम्भव है, तब फिर जो विवेकमूढ़ हैं, आवर्तों के द्वारा उपसर्ग के चक्कर में पड़े हैं, उनका तो कहना ही क्या?

मूल पाठ

एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्धा इत्थीसु।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं ॥२२॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

एवं निमंत्रणं लब्ध्वा मूर्च्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु।
अध्युपपन्नाः कामेषु चोद्यमानाः गता गृहम् ॥२२॥

॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) पूर्वोक्त प्रकार से (**निमंतणं**) भोग भोगने के लिए निमंत्रण (**लद्धुं**) पाकर (**मुच्छिया**) कामभोगों में आसक्त (**इत्थीसु गिद्धा**) स्त्रियों में आसक्त—मोहित,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**कामेहिं**) कामभोगों में (**अज्झोववन्ना**) दत्तचित्त पुरुष (**चोइज्जंता**) संयमपालन के लिए प्रेरित किये जाने पर भी (**गिहं** घर को (**गया**) चले गये।

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार से काम-भोगों के सेवन का आमंत्रण पाकर काम-भोगों में आसक्त, कामिनियों में मोहित, एवं कामभोगों में दत्तचित्त पुरुष संयम-पालन के लिए आचार्य, गुरु आदि के द्वारा प्रेरणा दिये जाने पर भी गृहवासी हो चुके हैं।

व्याख्या

उपसर्ग-पराजित साधकों की दशा

द्वितीय उद्देशक की इस अन्तिम गाथा में शास्त्रकार ने उपसंहार करते हुए यह बताया है कि पूर्वोक्त अनुकूल उपसर्गों से पराजित साधकों की क्या दशा होती है? यहाँ उनकी तीन विकट दशाओं का वर्णन किया गया है—

(१) वे विषयभोगों में मूर्च्छित हो जाते हैं।

(२) वे स्त्रियों में मोहित हो जाते हैं।

(३) वे काम-भोगों में दत्तचित्त हो जाते हैं।

सर्वप्रथम तो पूर्वोक्त रीति से शासकों या वैभवसम्पन्नों तथा कदाचित् स्वजनों द्वारा उन्हें विविध प्रकार के आर्थिक, सुख-सुविधाजन्य, कामजन्य एवं विविध भोग्य-साधनों (हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनसामग्री आदि) के प्रलोभन दिये जाते हैं, विविध प्रकार से उलटे-सीधे ढंग से उन्हें समझाया जाता है, (जिसका वर्णन पूर्वगाथाओं में किया जा चुका है) आखिरी दाँव तक समझाने पर धीरता और दृढ़ता के धनी साधकों में इतना दम नहीं होता कि इतने प्रलोभनों के बाद वे फिसलें नहीं। वे फिसलने लगते हैं और क्रमशः उपर्युक्त तीन अवस्थाओं से पार होते हैं। बीच-बीच में उनके गुरु अथवा आचार्य उन्हें उक्त पतन के गर्त में गिरने से बार-बार रोकते हैं, टोकते हैं, समझाते हैं, असंयम के परिणाम बताते हैं, पर काममोहित वे साधक उन प्रेरकों की बात पर कान नहीं देते, वे अपनी मोहदशा के कारण धुन ही धुन में तीसरी स्टेज पार कर जाते हैं। इसके बाद रुकते नहीं। बदनाम और भ्रष्ट हो जाने के बाद उन्हें पतन के गड्ढे में गिरने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। आखिरकार वे अल्पपराक्रमी व्यक्ति प्रव्रज्या को छोड़कर पुनः गृहस्थवास में चले जाते हैं। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'**चोइज्जंता गया गिहं।**'

इति शब्द समाप्ति का द्योतक है। **ब्रवीमि** का अर्थ पूर्ववत् है।

तृतीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन : तृतीय उद्देशक

विषादयुक्त वचनोपसर्गाधिकार

अब तीसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम और द्वितीय उद्देशक में क्रमशः प्रतिकूल और अनुकूल उपसर्गों का वर्णन किया गया है, अब तीसरे उद्देशक में उक्त दोनों उपसर्गों की प्रतिक्रियास्वरूप साधक में जो आध्यात्मविषाद या ज्ञान-वैराग्य का नाश होता है, वह बताया गया है। इसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है---

मूल पाठ

जहा संगामकालंमि, पिट्ठतो भीरु वेहइ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ? ॥१॥

संस्कृत छाया

यथा संग्रामकाले, पृष्ठतः भीरुः प्रेक्षते ।
वलयं गहनमाच्छादकं को जानाति पराजयम् ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**संगामकालंमि**) युद्ध के समय (**भीरु**) कायर पुरुष (**पिट्ठतो**) पीछे की ओर (**वलयं**) गोलाकार गड्ढा, (**गहणं णूमं**) वृक्ष बेल आदि से आच्छादित छिपा हुआ स्थान (**वेहइ**) देखता है। वह सोचता है कि (**पराजयं**) किसका पराजय होगा, (**को जाणइ**) यह कौन जानता है ?

भावार्थ

जैसे युद्ध के समय कायर व्यक्ति पहले आत्मरक्षा के लिए पीछे की ओर कोई गोलाकार गड्ढा, वृक्षों और बेलों से ढका हुआ सघन एवं छिपा हुआ बीहड़ आदि स्थान देखता है। वह सोचता है कि न जाने इस युद्ध में किसकी हार होगी, किसकी जीत ? अतः संकट आने पर उक्त स्थानों में आत्मरक्षा हो सकती है। इसलिए पहले छिपने के स्थान देख लेने चाहिए।

व्याख्या

संग्राम में कायर पहले छिपने के स्थान देखता है

इस गाथा में संग्राम में भीरु व्यक्ति का दृष्टान्त देकर शास्त्रकार वस्तु तत्त्व समझाते हैं---'**जहा संगामकालंमि ···· को जाणइ पराजयं ?**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि कायर और वीर का पता युद्धकाल में लग जाता है। जिस समय युद्ध प्रारम्भ होता है, उससे पूर्व युद्धविद्या में अकुशल कायर व्यक्ति शत्रुसेना के साथ युद्ध के मौके पर बचने के लिए ऐसे दुर्गम स्थानों की तलाश कर लेता है, जहाँ अच्छी तरह छिपा जा सके या शत्रुसेना के प्रहारों से बचा जा सके। वे दुर्गम स्थान कौन-कौन से हो सकते हैं ? इसे मोटे तौर पर शास्त्रकार बताते हैं—'वलय' यानी जहाँ मंडलाकार पानी विद्यमान हो, वह स्थान अथवा जलरहित गहरा गोल गड्ढा आदि स्थान, जहाँ से निकलना और घुसना कठिन हो। अथवा **'गहणं'** यानी वृक्षों और बेलों से कमर तक ढका हुआ सघन स्थान, **'णूमं'** अर्थात् छिपा हुआ गुफा, बीहड़ आदि स्थान। वह कायर पुरुष इन स्थानों को पहले क्यों देखता है ? इसका समाधान है—**'को जाणइ पराजयं ?'** अर्थात् वह समझता है कि इस युद्ध में बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा एकत्रित हुए हैं, कौन जानता है, किसकी हार होगी, किसकी जीत ? मान लो, दुर्भाग्य से हार हो गयी तो फिर अपने प्राण बचाने मुश्किल होंगे। अतः प्राण बचाने के लिए पहले से स्थान ढूँढ लेना अच्छा रहेगा।

मूल पाठ

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहई ॥२॥

संस्कृत छाया

मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तस्य, मुहूर्त्तो भवति तादृशः।
पराजिता अवसर्पामः, इति भीरुरुपेक्षते ॥२॥

अन्वयार्थ

(**मुहुत्ताणं**) बहुत मुहूर्तों का (**मुहुत्तस्स**) अथवा एक मुहूर्त का (**तारिसो**) कोई ऐसा (**मुहुत्तो होइ**) अवसर होता है, (जिसमें जय या पराजय सम्भव है) (**पराजिया**) अतः शत्रु से हारे हुए हम (**अवसप्पामो**) जहाँ भागकर छिप सकें (**इति**) ऐसे स्थान को (**भीरु**) कायर पुरुष (**उवेहइ**) सोचता है।

भावार्थ

बहुत मुहूर्तों का अथवा एक ही मूहूर्त का कोई ऐसा अवसर विशेष होता है, जिसमें जय या पराजय की सम्भावना रहती है। इसलिए "हम पराजित होकर जहाँ छिप सकें," ऐसे स्थान को कायर पुरुष पहले ही सोचता है, तलाशता है।

व्याख्या

कायर पुरुष का भीरुतापूर्ण चिन्तन

इस गाथा में पुनः युद्धभीरु व्यक्ति का कायरतापूर्ण चिन्तन दिया गया है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायरपुरुष युद्ध के नगाड़े बज रहे हों, उस समय सर्वप्रथम यह सोचता है कि बहुत-से मुहूर्तों या एक ही मुहूर्त का कोई ऐसा क्षण होता है, जिसमें जय-पराजय के फैसले की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में पराजित होकर किसी गुप्त स्थान में छिपना पड़े, यह भी सम्भव है। ऐसा विचार करके कायर पुरुष पहले ही विपत्ति के प्रतिकार के लिए स्थान ढूंढ़ लेता है।

इन दो गाथाओं में दृष्टान्त देकर अब इस गाथा में दार्ष्टान्तिक प्रस्तुत करते हैं—

मूल पाठ

एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स, अविकप्पंतिमं सुयं ॥३॥

संस्कृत छाया

एवं तु श्रमणा एके, अबलं ज्ञात्वाऽऽत्मानम्।
अनागतं भयं दृष्ट्वाऽवकल्पयन्तीदं श्रुतम् ॥३॥

अन्वयार्थ

(**एवं** तु) इस प्रकार (**एगे समणा**) कोई श्रमण (**अप्पगं**) अपने आपको (**अबलं**) जीवनपर्यन्त संयमपालन करने में असमर्थ (**नच्चाण**) जानकर (**अणागयं**) भविष्यकालीन (**भयं दिस्स**) भय (खतरा) देखकर (**इमं सुयं**) इस व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक आदि शास्त्रों को (**अविकप्पंति**) अपने निर्वाह के साधन बनाते हैं।

भावार्थ

इसी प्रकार कोई श्रमण अपने आपको जीवनभर संयम-पालन करने में अपने को असमर्थ जानकर भविष्य में आने वाले खतरों से बचने के लिए व्याकरण और ज्योतिष आदि शास्त्रों को अपने जीवन-निर्वाह के साधन बनाते हैं।

व्याख्या

मन्दपराक्रमी साधक की भावी कल्पना

इस गाथा में पूर्व दृष्टान्तों के साथ दार्ष्टान्तिक घटाते हैं—'**एवं तु ... अविकप्पंति।**' आशय यह है कि युद्ध में प्रवेश करने से पहले जैसे कायर पुरुष यह देखता है, कि कदाचित् हमारी पराजय हुई तो मेरी रक्षा के लिए उपयुक्त स्थान कौन-सा होगा? इसी प्रकार कोई मन्दपराक्रमी साधक अपने आपको जिन्दगीभर चारित्रपालन करने में असमर्थ जानकर भविष्य में संयमत्याग करने से उपस्थित होने वाले खतरों से बचने के लिए सोचता है—अभी मेरे पास न तो धन है, न जीविका का कोई साधन है; रोग, बुढ़ापा, दुर्भिक्ष आदि आकस्मिक संकट के समय मेरी जिन्दगी बचाने या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख से जीवनयापन करने का कौन-सा साधन होगा ? अतः वह संयमपालन में असमर्थ अल्पसत्त्व साधक उक्त खतरे से बचने के लिए यह सोचता है कि "मेरे लिए गणित, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और होराशास्त्र आदि जो मैंने पढ़े हैं, उन्हीं से दुःख के समय मेरी रक्षा हो सकेगी।"

मूल पाठ

को जाणइ विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

संस्कृत छाया

को जानाति व्यापातं, स्त्रीत उदकाद्वा ।
चोद्यमाना प्रवक्ष्यामो, न नोऽस्ति प्रकल्पितम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**इत्थीओ**) स्त्री से (**उदगाउ वा**) अथवा उदक—कच्चे पानी से (**विऊवातं**) मेरा संयम भ्रष्ट हो जाएगा, (**को जाणइ**) यह कौन जानता है ? (**णो**) मेरे पास (**पकप्पियं**) पहले का उपार्जित द्रव्य भी (**ण अत्थि**) नहीं है। इसलिए (**चोइज्जंता**) किसी के पूछने पर हम हस्तिशिक्षा और धनुर्वेद आदि विद्याओं को (**पवक्खामो**) बताएँगे।

भावार्थ

संयमपालन में अस्थिरचित्त पुरुष यह सोचता है कि स्त्रीसेवन से अथवा कच्चे पानी के स्नान से मैं संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा, यह कौन जानता है ? मेरे पास पहले का कमाया हुआ धन भी नहीं है, किन्तु हमने जो हस्तिविद्या और धनुर्वेद आदि विद्याएँ सीख रखी हैं, इनको ही बता (सिखा) कर संकट के समय जीवननिर्वाह कर सकेंगे।

व्याख्या

अल्पसत्त्व साधकों का ऊटपटांग चिन्तन

संयमपालन में असमर्थ साधक यों ऊटपटांग विचार करते हैं कि प्राणियों की शक्ति अल्प होती है और कर्मों की गति भी विचित्र है। प्रमाद के अनेक स्थान हैं। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ के सिवाय कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मैं किस उपद्रव (उपसर्ग) से हार खाकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा ? सम्भव है; स्त्रीपरीषह से मेरा संयम नष्ट हो जाए, अथवा स्नान के लिए कच्चे (सचित्त) पानी के सेवन से मेरा पतन हो जाए ! वे अदूरदर्शी अज्ञ साधक यों भी सोचते हैं—संयम से पतित हो जाने पर मेरे पास कोई पहले का कमाया हुआ धन भी नहीं है जो काम दे सके। किसी के पूछने पर मैं हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ (जो मैंने पहले सीखी हुई हैं)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताकर अपना निर्वाह कर लूँगा। ऐसा निश्चय करके वे अल्पपराक्रमी व्यक्ति व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि लौकिक विद्याओं के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि वे निर्वाह के लिए व्याकरण आदि विद्याएँ सीखते हैं, तथापि इन विद्याओं से उन अभागों का अभीष्ट मनोरथ सिद्ध नहीं होता। एक अनुभवी ने कहा है—

उपशमफलाद् विद्याबीजात् फलं धनमिच्छताम्।
भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्॥

अर्थात्—उपशमरूप को उत्पन्न करने वाले विद्याबीज से धन प्राप्त करना चाहने वालों का श्रम यदि निष्फल होता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

मोक्षविद्यारूपी बीज शान्तिरूपी फल को उत्पन्न करता है। उस विद्याबीज से यदि कोई मनुष्य धनरूपी फल की अभिलाषा करता है, और उसका परिश्रम यदि व्यर्थ होता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। प्रत्येक वस्तु का फल नियत होता है। जिस वस्तु का जो फल है, उससे भिन्न फल वह अपने कर्त्ता को नहीं दे सकती। जैसे चावल के बीज से जौ का अंकुर कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

अतः उन अल्पसत्त्व साधकों का अज्ञान और मोह से प्रेरित संयमविरुद्ध विपरीत चिन्तन उनकी बुद्धि को तामसिक और राजसिक अवश्य बना देता है, मगर यथार्थ चिन्तन, तदनुरूप कार्य और तदनुसार फललाभ नहीं होता।

मूल पाठ

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥५॥

संस्कृत छाया

इत्येवं प्रतिलेखन्ति, वलय-प्रतिलेखिनः।
विचिकित्सासमापन्नाः पथश्चाकोविदाः ॥५॥

अन्वयार्थ

(**वितिगिच्छसमावन्ना**) इस संयम का पालन मैं कर सकूँगा या नहीं, इस प्रकार के संशय में पड़े हुए (**पंथाणं च अकोविया**) और मोक्षमार्ग को नहीं जानने वाले (**वलया पडिलेहिणो**) युद्ध के समय गड्ढे आदि ढूँढने वाले कायर पुरुषों के समान (**इच्चेव पडिलेहंति**) अल्पपराक्रमी कच्चे साधक भी इसी प्रकार के अंटसंट विचार करते हैं।

भावार्थ

मैं इस संयम का पालन कर सकूँगा या नहीं? इस प्रकार के संशय में पड़े हुए और मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ जीव युद्ध के मौके पर छिपने का स्थान ढूँढने वाले कायर के समान तथा मार्ग न जानने वाले मूर्ख के समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही सोचते रहते हैं कि संयम से भ्रष्ट होने पर जीवननिर्वाह व्याकरण आदि विद्याओं से करके अपनी रक्षा कर सकूँगा।

व्याख्या

संयमपालन में संशयशील साधक

पूर्वगाथाओं में अल्पपराक्रमी साधु की संयमपालन में कायरता की मनोवृत्ति का चित्रण किया है, इस गाथा में उनकी अस्थिर मनोवृत्ति का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'इच्चेव पडिलेहंति ... अकोविया।'** कच्चे एवं अल्पसत्त्व साधक के मन में संशय बना रहता है कि इस कठोर संयम का मैं आजीवन पालन कर भी सकूँगा या नहीं ? संयम कठोर क्यों है ? इसके लिए कहा है —

लुक्खमणुण्हमणिययं, कालाइक्कंत-भोयणं विरसं।
भूमीसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च॥

अर्थात्—यहाँ रूखा और ठण्डा आहार मिलता है, वह भी कभी मिलता है, कभी नहीं। और वह भोजन का समय बीत जाने पर मिलता है और वह भी नीरस। प्रव्रजित पुरुष को भूमि पर सोना पड़ता है, लोच करना, स्नान न करना तथा ब्रह्मचर्य पालन करना, यह कितना कठोर एवं कठिन संयम है ?

संयम की कठोर क्रियाओं को देखकर ही वह संशय करता है। जैसे मार्ग को न जानने वाला संशय करता है कि यह मार्ग जिस स्थान पर जाना है, वहाँ जाता भी है या नहीं ? और वह चंचलचित्त हो उठता है, इसी तरह लिये हुए संयमभार को अन्त तक वहन कर सकने में संशयशील कायर साधक निमित्तशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रों से अपनी आजीविका चलाने की आशा रखते हैं।

अब शूरवीर योद्धाओं का दृष्टान्त देकर महासत्त्व साधक की मनोदशा बताते हैं—

मूल पाठ

जे उ संगामकालंमि नाया सूरपुरंगमा।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया॥६॥

संस्कृत छाया

ये तु संग्रामकाले, ज्ञाताः शूरपुरंगमाः।
नो ते पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते, किं परं मरणं स्यात्॥६॥

अन्वयार्थ

(उ) परन्तु (जे) जो पुरुष (**नाया**) जगत्प्रसिद्ध (**सूरपुरंगमा**) शूरवीरों में अग्रगण्य हैं, (**ते**) वे (**संगामकालम्मि**) युद्ध का समय आने पर (**णो पिट्ठमुवेहिंति**) पीछे की बात पर ध्यान नहीं देते हैं, वे समझते हैं कि (**किं परं मरणं सिया**) मरण के सिवाय और क्या हो सकता है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जो पुरुष संसार में प्रसिद्ध वीरों में अग्रगण्य हैं, वे तो युद्ध के मौके पर आगा-पीछा नहीं सोचते कि विपत्ति के समय मेरी रक्षा कैसे होगी ? वे समझते हैं कि अधिक से अधिक मृत्यु के सिवाय और क्या हो सकता है ?

व्याख्या

वीर पीछे नहीं, आगे ही देखते हैं

युद्ध के मोर्चे पर वीर की मनोवृत्ति कैसी होती है, इसका सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते हैं—**'जे उ संगामकालंमि·····मरणं सिया।'** अर्थात् जो पुरुष महा-पराक्रमी, जगत्प्रसिद्ध वीरों में अग्रणी हैं, वे युद्ध के समय पीछे होने वाली बात का विचार तक नहीं करते और न ही दुर्गम स्थानों में छिपकर अपनी रक्षा करने के लिए पीछे की ओर झाँकते हैं। वे युद्ध के समय आगे रहते हैं। युद्ध का मैदान छोड़कर भागने का उनका विचार होता ही नहीं। वे समझते हैं कि इस युद्ध में हमारी अगर अधिक से अधिक हानि होगी तो यही हो सकती है कि हम मौत के मेहमान हो जाएँ। किन्तु वह मृत्यु सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तो हमारी दृष्टि में तुच्छ है। कहा भी है—

विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम्।
प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम् ॥

अर्थात्—मनुष्यों के प्राण नाशवान और चंचल हैं, उन्हें देकर अविनाशी, स्थिर और शुद्ध युद्ध के अभिलाषी वीरों को यदि प्राणों के बदले यश मिलता है, तो क्या वह प्राणों से बढ़कर मूल्यवान् नहीं है ?

सुभटों की मनोवृत्ति का दृष्टान्त देकर अब दार्ष्टान्ति बतलाते हैं—

मूल पाठ

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

संस्कृत छाया

एवं समुत्थितो भिक्षुः, व्युत्सृज्यागारबन्धनम्।
आरम्भं तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**अगारबंधण**) गृहबन्धन को (**वोसिज्जा**) त्याग करके (**आरंभं**) तथा आरम्भ को (**तिरियं कट्टु**) तिलांजलि देकर (**समुट्ठिए**) संयमपालन के लिए समुत्थित—समुद्यत (**भिक्खू**) साधु (**अत्तत्ताए**) आत्मभाव—मोक्ष की प्राप्ति के लिए (**परिव्वए**) संयम का अनुष्ठान करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इसी प्रकार (पूर्वोक्त शूरवीरों की तरह) जो साधु गृहबन्धन का व्युत्सर्ग (त्याग) करके तथा सावद्य-अनुष्ठान को छोड़कर निरवद्य संयम-पालन करने के लिए उद्यत हुआ है, वह मोक्षप्राप्ति या आत्मभाव के लिए संयम का पालन करे।

व्याख्या

संयमपालन में सुदृढ़ साधक की मनःस्थिति

सुभटों की मनोवृत्ति का परिचय देने के बाद अब उस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त पर घटाते हैं — **'एवं समुट्ठिए''''' परिव्वए।'**

आशय यह है कि जो लोग नाम, कुल, शिक्षा और शूरवीरता में विश्व-विख्यात हैं, वे शत्रुसेना को भेदन करने वाले पुरुष जब कमर कसकर एवं हाथों में शस्त्रास्त्र लेकर युद्ध के लिए तैयार होते हैं, तब वे पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखते, इसी तरह जो पराक्रमशाली महान् साधु कषायों और इन्द्रियविषयोंरूपी शत्रुओं पर विजय पाने के लिए तथा परीषहों और उपसर्गों का सामना करने एवं जन्म-मरण के चक्र को भेदन करने हेतु जब संयमभार को लेकर उद्यत—उत्थित होते हैं, तब वे भी पीछे की ओर मुड़कर नहीं झाँकते कि हमारे घरवालों का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन नहीं मिलेंगे तो क्या होगा ? मैं संयम नहीं पाल सका तो भविष्य में क्या होगा ? उनके मन में ये दुर्विकल्प उठते ही नहीं। वह सोचता है कि एक बार जब मैंने गार्हस्थ्यबन्धनों को काटकर फेंक दिया है और आरम्भ-समारम्भों को तिलांजलि दे दी है तथा संयम के लिए उद्यत हुआ हूँ तो फिर वापिस पीछे मुड़कर उन्हें अपनाने का कोई सवाल ही नहीं उठता। वीर का प्रत्येक कदम आगे होता है, पीछे नहीं। उसकी विजययात्रा का मूलमंत्र यही होता है—

'कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्।

अर्थात् —या तो कार्य (मोक्षप्राप्तिरूप) सिद्ध करके छोड़ूंगा, या वहीं देहत्याग कर दूंगा।'

अत्तत्ताए परिव्वए—आत्मा के स्वभाव को आत्मतत्त्व कहते हैं। वह पूर्णतया समस्त कर्मकलंक से रहित होने पर होता है, उस आत्मतत्त्व के लिए सुविहित साधु को सावधान होकर विजययात्रा के लिए आगे कूच करना चाहिए। अथवा साधुजीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या संयम है, उसका भाव आत्मभाव है, उक्त आत्मभाव के लिए चारों ओर से संयमानुष्ठान क्रिया में दत्तचित्त होकर जुट जाना चाहिए। क्योंकि शास्त्र में बताया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोहं माणं च मायं च लोहं पंचेंदियाणि य ।
दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पेजए जियं ।।

अर्थात्—आत्मा के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पांचों इन्द्रिय ये दुर्जय हैं। एक अपनी आत्मा को जीत लेने पर सभी जीत लिये जाते हैं।

ऐसे सुविहित उत्तम आचारवान साधुओं पर भी आक्षेपरूपी उपसर्ग कैसे आते हैं ? इसे आगामी गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ।।८।।

संस्कृत छाया

तमेके परिभाषन्ते, भिक्षुकं साधुजीविनम् ।
य एवं परिभाषन्ते, अन्तके ते समाधेः ।।८।।

अन्वयार्थ

(साहुजीविणं) परोपकार आदिरूप सम्यक् आचरणपूर्वक अथवा उत्तम आचार-विचारपूर्वक जीवन जीने वाले **(तं भिक्खूयं)** उस साधु के विषय में **(एगे)** कोई-कोई अन्यदर्शनी **(परिभासंति)** आगे कहे जाने वाले आक्षेपात्मक वचन कहते हैं। परन्तु **(जे)** जो नासमझ लोग **(एवं)** इस प्रकार के आक्षेपयुक्त वचन **(परिभासंति)** कहते हैं, बकते हैं, **(ते)** वे **(समाहिए अंतए)** समाधि से बहुत दूर हैं।

भावार्थ

स्वपरकल्याणरूप उत्तम साध्वाचारपूर्वक जीवन जीने वाले उस सुविहित साधु के विषय में कई अन्यदर्शनी आक्षेपात्मक वचन कहते हैं। परन्तु इस प्रकार बकवास करने वाले राग-द्वेष-कषाय-उपशान्तिरूप समाधि से कोसों दूर हैं।

व्याख्या

आक्षेपात्मक वचनरूप उपसर्ग

निरवद्य संयमानुष्ठानपूर्वक स्वपरकल्याणरूप उत्तम आचार पालन करके जीने वाले सुविहित साधु पर भी कई अन्यदर्शनी कई प्रकार के आक्षेपात्मक वाक्यों द्वारा कीचड़ उछालते हैं, उस समय सुविहित, शान्त, समाधिस्थ साधु क्या चिन्तन करे ? यही **'अंतए ते समाहिए'** इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने इस गाथा में उपसर्ग का स्वरूप बताकर अभिव्यक्त कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अपने पर आक्षेप करने वाले आजीवक मतानुयायी आदि अन्यतीर्थियों के प्रति उत्तम साधु यही तटस्थ (रागद्वेष से रहित) चिन्तन करे कि ये बेचारे रा-द्वेष-कषाय-उपशान्ति या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तिरूप समाधि से काफी दूर हैं। जैसे लोहे की सलाइयाँ आपस में नहीं मिलती हैं, अलग-अलग रहती हैं, वैसे ही ये अन्य मतावलम्बी आक्षेपक परस्पर उपकार से दूर-दूर रहते हैं। अथवा यों समझना चाहिए कि जो साधुओं के उत्तम आचार की निन्दा करते हैं या आक्षेपात्मक वचन बोलते हैं, उनका धर्म पुष्ट नहीं है तथा वे समाधि-मोक्षरूप सम्यक् ध्यान या सम्यक् अनुष्ठान से दूर हैं। उनका मन-वचन-काया के संयम से कोई वास्ता नहीं है। उन बेचारों के प्रति सुविहित साधु तरस खाए। यों ही सोच ले कि हाथी अपनी चाल से चलता है, उसके पीछे कुत्ते भौंकते रहते हैं, उन पर वह कोई ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार वीतरागता का पथिक साधु उनकी आक्षेपात्मक बातों पर कोई ध्यान न दे। हाँ, अपने संयमाचरण में कोई गलती हो या भूल हो तो उसे अवश्य सुधार ले। आक्षेपक या निन्दक लोगों द्वारा कहे गये वचन सुनकर सावधानी रखे। यही इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने ध्वनित कर दिया है।

अगली गाथा में शास्त्रकार अन्यतीर्थियों द्वारा किये जाते हुए आक्षेपों का निरूपण करते हैं—

मूल पाठ

सम्बद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया।
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥९॥

संस्कृत छाया

सम्बद्धसमकल्पास्तु, अन्योऽन्येषु मूर्च्छिताः।
पिण्डपातं ग्लानस्य, यत्सारयत ददध्वञ्च ॥९॥

अन्वयार्थ

(**सम्बद्धसमकप्पा उ**) ये लोग गृहस्थ सम्बन्धियों के समान व्यवहार करते हैं। (**अन्नमन्नेसु मुच्छिया**) ये परस्पर एक-दूसरे के प्रति आसक्त रहते हैं। (**जं**) क्योंकि ये (**गिलाणस्स**) रोगी साधु के लिए (**पिंडवायं**) भोजन (**सारेह**) लाते हैं (**य**) और (**दलाह**) उसे देते हैं।

भावार्थ

अन्यतीर्थी लोग सम्यग्दृष्टि सुविहित साधुओं के विषय में यह आक्षेप करते हैं कि इन साधुओं का व्यवहार तो गृहस्थ सम्बन्धियों का सा है। जैसे गृहस्थ अपने कुटुम्ब में परस्पर आसक्त रहते हैं, वैसे ही ये साधु भी परस्पर आसक्त रहते हैं। रोगी साधु के लिए ये भोजन लाते हैं और उसे देते हैं।

व्याख्या

गृहस्थों का-सा व्यवहार है इन साधुओं का !

अन्यमतावलम्बी किस-किस प्रकार का आक्षेप सुविहित साधुओं पर करते हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका एक नमूना इस गाथा में बताया है—'**सम्बद्धसमकप्पा उ ... ...**' अर्थात्—वे सुविहित साधुओं पर आक्षेप करते हैं—देखो तो सही, ये लोग घर-बार, कुटुम्ब-कबीला और सभी नाते-रिश्ते छोड़कर साधु बने हैं, लेकिन इनमें भी परस्पर एक-दूसरे साधुओं के साथ पुत्र-कलत्र आदि स्नेहपाशों से सम्बद्ध (परस्पर उपकार्य-उपकारकरूप से बँधे हुए) गृहस्थों का सा व्यवहार है। जैसे गृहस्थ माता-पिता, पत्नी आदि के मोहबन्धन में बँधे होते हैं, और परस्पर एक-दूसरे के सहायक होते हैं, उसी प्रकार ये साधु भी आपस में किसी न किसी नाते-रिश्ते से बँध जाते हैं। जैसे गृहस्थजीवन में पिता पुत्रों पर आसक्त होता है, पत्नी पति पर अनुराग करती है और पति पत्नी पर अनुरक्त होता है, इसी प्रकार इन साधुओं में भी गुरु का शिष्य पर और शिष्य का गुरु पर गाढ़ अनुराग होता है। गुरुभाइयों में भी परस्पर रागभाव होता है। इन्होंने गृहस्थी के नाते-रिश्ते छोड़े, किन्तु यहां नये नाते-रिश्ते बना लिये। आसक्ति तो वैसी की वैसी बनी रही है, केवल आसक्ति के पात्र बदल गये हैं। फिर इनमें और गृहस्थों में क्या अन्तर रहा? इनका व्यवहार गृहस्थों जैसा ही तो है! फिर ये परस्पर आसक्त होकर एक-दूसरे का उपकार भी करते हैं। जब कोई साधु बीमार हो जाता है तो ये उस रोगी साधु के प्रति अनुरागवश उसके योग्य पथ्ययुक्त आहार अन्वेषण करके लाते हैं और उसे देते हैं। यह गृहस्थ के समान व्यवहार नहीं तो क्या है?

इस प्रकार परोक्षरूप से आक्षेपवचन के बाद वे प्रत्यक्षरूप में कैसे आक्षेप पर उतर आते हैं? इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।
नट्ठसप्पहसब्भावा संसारस्स अपारगा ॥१०॥

संस्कृत छाया

एवं यूयं सरागस्था, अन्योऽन्यमनुवशाः।
नष्टसत्पथसद्भावाः संसारस्यापारगाः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार (**तुब्भे**) आप साधु लोग (**सरागत्था**) स्पष्टतः सरागी हैं और (**अन्नमन्नमणुव्वसा**) परस्पर एक-दूसरे के वश में रहते हैं। अतः (**नट्ठसप्पहसब्भावा**) आप लोग सन्मार्ग और सद्भाव से रहित हैं, इसलिए (**संसारस्स**) संसार को (**अपारगा**) पार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ

अन्यतीर्थी लोग सम्यग्दृष्टि सुविहित साधुओं पर आक्षेप करते हुए कहते हैं—पूर्वोक्त प्रकार से आप लोग सराग हैं, एक दूसरे के वशीभूत रहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अतः आप लोग सत्पथ और सद्भाव से रहित हैं। इसलिए संसार को पार नहीं कर सकते।

व्याख्या

सुविहित साधुओं पर प्रत्यक्ष आक्षेप

इस गाथा में पूर्वगाथा में उक्त परोक्ष आक्षेप को अन्यतीर्थी लोगों द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष आक्षेप के रूप में प्रस्तुत करते हैं—**'एवं तुब्भे सरागत्था ..... अपारगा।'** इससे पहली गाथा में किये गये आक्षेप साधुओं के प्रति सीधे नहीं थे। वे साधुओं के विषय में किसी अन्य के सामने कानाफूसी करते या उनकी निन्दा दूसरों के समक्ष करते हैं, कर्णोपकर्ण से साधुओं के कानों में वे आक्षेपात्मक शब्द आकर टकराते हैं। जबकि इस गाथा में अन्यतीर्थियों द्वारा साधुओं पर सीधे आक्षेप पर उतर आने का वर्णन है। वे साधुओं से कहते हैं "अजी! आप लोग गृहस्थों की तरह परस्पर एक दूसरे से रागभाव से बँधे हुए हैं, अपने और अपनों का परस्पर उपकार करते हैं, इसलिए रागयुक्त हैं।" रागसहित स्वभाव को सराग कहते हैं और सराग में स्थित को सरागस्थ (**सरागत्था**) कहते हैं। फिर वे कहते हैं— आप काहे के साधु हैं? आप तो परस्पर एक-दूसरे के प्रति आसक्तिवश हैं। जैसे गृहस्थों में आसक्ति के कारण परस्पर अधीनता रहती है, वैसी ही आप में है। साधु को निःसंग रहना चाहिए, किसी के वश में रहना तो ठीक नहीं। वश में रहना तो गृहस्थों का व्यवहार है। अतः आप लोग सन्मार्ग—मोक्ष के यथार्थ मार्ग तथा सद्भाव—परमार्थ से भ्रष्ट हैं। इसलिए आप लोग चार गतियों में भ्रमणरूप संसार को पार नहीं कर सकते मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते।

पूर्वपक्ष बताकर अब इसका खण्डन करने के लिए आगामी गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए।
एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥ १॥

संस्कृत छाया

अथ तान् परिभाषेत भिक्षुर्मोक्षविशारदः।
एवं यूयं प्रभाषमाणाः दुष्पक्षञ्चैव सेवध्वम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(**अह**) इसके पश्चात् (**मोक्खविसारए**) मोक्षविशारद— अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्ररूपणा करने में निपुण (**भिक्खु**) साधु (**ते**) उन अन्यतीर्थियों से (**परिभासेज्जा**) कहे कि (**एवं**) इस प्रकार (**पभासंता**) कहते हुए (**तुब्भे**) आप लोग (**दुपक्खं**) दुष्पक्ष— मिथ्यापक्ष का (**सेवह**) सेवन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

अन्यतीर्थियों द्वारा पूर्वोक्त पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के पश्चात् मोक्ष-विशारद—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्ररूपणा करने में निपुण साधु उन अन्यतीर्थियों से यह कहे कि आप जो इस प्रकार आक्षेपयुक्त वचन कहते हैं, सो आप असत्पक्ष का सेवन करते हैं।

व्याख्या

मोक्षविशारद साधु द्वारा अन्यतीर्थिकों को उत्तर

पूर्वगाथाओं में सुविहित साधुओं पर अन्यतीर्थियों द्वारा किये गए आक्षेपात्मक वचनों के उत्तर में शास्त्रकार उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं—**'अह ते परिभासेज्जा····· चेव सेवह।'**

प्रश्न होता है, सुविहित साधुओं पर अन्यतीर्थिक लोग गलत आक्षेप लगाएँ या लोगों में साधुओं की या साधुधर्म की निन्दा करें तो क्या उसे वह चुपचाप सहन कर ले या उसका प्रतिवाद करे, भ्रान्ति में पड़े हुए उन लोगों को यथार्थ वस्तुस्थिति समझाए ? शास्त्रकार का आशय यही प्रतीत होता है कि अगर साधु मोक्षमार्ग का प्ररूपण करने में निपुण (मोक्षविशारद) है तो उसे अवश्य ही अन्यतीर्थिकों से प्रतिवाद करना चाहिए।

इसका रहस्य यह है कि अगर विद्वान् एवं वस्तुतत्त्वप्रतिपादन में निपुण साधु अन्यतीर्थियों द्वारा लगाये गये ऐसे मिथ्या आक्षेपों को चुपचाप समभावपूर्वक सह लेता है, बदले में कुछ नहीं कहता है तो उसकी स्वयं की आत्मा के लिए तो ठीक है, कर्मों की निर्जरा होनी सम्भव है, किन्तु संघीय दृष्टि से ऐसा करना उचित नहीं होता। हो सकता है, चुपचाप रहने से आम जनता, जो कि वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ होती है, वह यही समझ लेती है कि इनके धर्म में या साधुवर्ग में कोई दम नहीं है। ये तो गृहस्थों जैसे ही अपने-अपने दायरे में अपने-अपने गुरुशिष्यों में मोहवश बँधे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर संघ (धर्मतीर्थ) की अवहेलना हो, और दूसरी ओर साधु संस्था के प्रति जनता की अश्रद्धा बढ़े, यह दोहरी हानि है। इससे संघ में नये मुमुक्षु साधुओं का प्रवेश तथा सद्गृहस्थों का व्रतधारण रुक जाएगा। इस लिए शास्त्रकार ने दूरदर्शिता से सोचकर इस गाथा के द्वारा मार्गदर्शन दिया है कि ऐसे समय में मोक्षविशारद साधु चुपचाप न बैठे, वह उन आक्षेपकर्ताओं से प्रतिवाद के रूप में कहे कि आपने जो हमारे साधुवर्ग पर सरागस्थ एवं परस्पर आसक्त होने का आक्षेप लगाया, वह सरासर गलत है, दुष्पक्ष (मिथ्यापूर्वपक्ष) से युक्त है। अथवा आप ऐसा कहकर राग और द्वेषरूप दो पक्षों का सेवन करते हैं। आपको अपने पक्ष के प्रति राग—लगाव है, जो कि दोषयुक्त है, फिर भी आप उसका समर्थन करते हैं। हमारा सिद्धान्त दोषरहित है, तथापि आप उसे दूषित बतलाते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए आपका उस पर द्वेष है। अथवा आप लोग स्वयं ही एक ओर बीज, कच्चा पानी और उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करने के कारण गृहस्थ हैं, और दूसरी ओर साधु का वेष रखने के कारण साधु कहलाते हैं, इस प्रकार आप लोग दो पक्षों का सेवन करते हैं। अथवा यह अर्थ भी सम्भव है कि "आप लोग स्वयं असद् अनुष्ठान करते हैं और सद्-अनुष्ठान करने वाले दूसरे सुविहित साधुओं की निन्दा करते हैं। इसलिए आप लोग दो पक्षों का सेवन करते हैं।"

मूल पाठ

तुब्भे भुंजह पाएसु गिलाणो अभिहडंमि या ।
तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं ॥१२॥

संस्कृत छाया

यूयं भुंध्वं पात्रेषु ग्लान अभ्याहृते यत् ।
तच्च बीजोदकं भुक्त्वा तमुद्दिश्यादि यत् कृतम् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**तुब्भे**) आप संत लोग (**पाएसु**) काँसा, ताँबा आदि धातु के बर्तनों में (**भुंजह**) भोजन करते हैं। (**गिलाणो**) रोगी संत के लिए (**अभिहडंमि या**) गृहस्थों के द्वारा भोजन मँगाते हैं (**तं च**) तथा आप (**बीओदगं**) बीज और सचित्त—कच्चे जल का (**भोच्चा**) उपभोग करते हैं, तथा (**जं कडं तम्मुद्दिसादि**) किसी संत के निमित्त से बने या बनाये हुए उद्देश्य आदि दोषों से युक्त आहार का सेवन करते हैं।

भावार्थ

आप लोग काँसा, ताँबा, पीतल, चाँदी आदि धातु के बर्तनों में भोजन करते हैं तथा रोगी साधु के लिए गृहस्थों से भोजन मँगवा कर लेते हैं, इसी प्रकार आप लोग कच्चा पानी, उगने लायक सचित्त बीज आदि का उपभोग करते हैं तथा जो आहार किसी साधु के निमित्त से बना है, उस औद्देशिक आदि दोषों से युक्त आहार का बेखटके सेवन करते हैं।

व्याख्या

अन्यतीर्थियों के आक्षेप का प्रत्याक्षेप

इस गाथा में पूर्वगाथाओं में अन्यमतावलम्बी आजीवक आदि के द्वारा किये गए आक्षेप का और तरह से प्रतिवाद करने की बात शास्त्रकार ने उठाई है। अर्थात् आक्षेप के बदले प्रत्याक्षेप किया गया है।

आप लोग (साधु) परिग्रहरहित होने के कारण निष्किंचन कहलाते हैं, लेकिन इसके बावजूद भी आप काँसा, ताँबा, चाँदी आदि धातुओं के बर्तनों में भोजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करने के कारण आपको परिग्रह लगता ही है तथा आप लोग आहार में भी मूर्च्छा करते हैं। इसलिए अपने आपको अपरिग्रही मानना कैसे उचित कहा जा सकता है। फिर आप भिक्षा लाने में असमर्थ रुग्ण साधु के लिए गृहस्थों के यहाँ से स्वयं भिक्षा न लाकर गृहस्थों से मँगाते हैं, किन्तु साधु को गृहस्थों से भोजन मँगाने का अधिकार (नियम) नहीं है। इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाए हुए आहार के खाने में जो दोष होता है वह भी आपको जरूर लगता है। गृहस्थ लोग सचित्त बीज और कच्चे जल का उपमर्दन करके आहार बनाते हैं तथा रोगी साधु के लिए तो विशेषतः आहार तैयार करते हैं, उस आहार को आप स्वयं गृहस्थों के घरों में जाकर करते हैं, तथा गृहस्थों के द्वारा लाया हुआ आहार रुग्ण साधु को देते हैं। इस प्रकार आप गृहस्थों द्वारा सेवा कराते हुए कच्चे जल और सचित्त बीज का उपभोग करते हैं, एवं उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करते हैं। इन सब बातों को देखते हुए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि आप साधुवेष में होते हुए भी गृहस्थ पक्ष का सेवन कर रहे हैं। अथवा आप स्वयं तो असत् आचरण करते हैं, किन्तु सत् आचरण करने वालों की निन्दा करते हैं, इस कारण आप द्विपक्ष सेवी हैं। इस प्रकार प्राज्ञ एवं मोक्षमार्ग विशारद साधु उक्त आक्षेपकर्ताओं को उत्तर दे।

मूल पाठ

लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिया असमाहिया।
नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

संस्कृत छाया

लिप्तास्तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिताः।
नातिकण्डूयितं श्रेयोऽरुषोऽपराध्यति ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**तिव्वाभितावेणं**) आप लोग तीव्र कषायों या तीव्रबन्धवाले कर्मों से (**लित्ता**) लिप्त (**उज्झिया**) सद्विवेक से रहित तथा (**असमाहिया**) शुभ अध्यवसाय से रहित हैं। (**अरुयस्स**) घाव-व्रण का (**अतिकंडूइयं**) अधिक खुजलाना (**न सेयं**) अच्छा नहीं है, (**अवरज्झती**) क्योंकि वह दोष उत्पन्न करता है।

भावार्थ

आप लोग तीव्रकषायों या तीव्रबन्ध वाले कर्मों से लिप्त हैं, सद्विवेक से रहित हैं और शुभ अध्यवसाय से भी दूर हैं। अतः हमारी राय में घाव का अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं हैं। क्योंकि उससे घाव में विकार ही उत्पन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

आक्षेपकर्त्ताओं को युक्तिसंगत उत्तर

षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करके आप लोगों के निमित्त से जो आहार तैयार किया जाता है उसके सेवन करने से, हठपूर्वक झूठी बात को पूर्वाग्रहवश पकड़ने से, मिथ्यादृष्टित्व के स्वीकार से एवं सुविहित साधुओं की निन्दा करने से आप लोग तीव्रकषाय या तीव्रबन्धन के अभिताप से लिप्त हैं, सुविवेक से हीन हैं, क्योंकि आप भिक्षापात्र न रखकर दूसरे के घरों में भोजन करने के कारण उद्दिष्ट आहार का सेवन करते हैं एवं उत्तम साधुओं के प्रति द्वेष करने के कारण शुभ अध्यवसाय से रहित हैं।

अन्यतीर्थियों के दोष बतलाने हेतु शास्त्रकार कहते हैं—"हमारी मानो तो हम एक नैतिक सिद्धान्त बताते हैं कि घाव को अधिक खुजलाना अच्छा नहीं होता, इसलिए हम लोग आपके दोषों को अधिक कुरेदना अच्छा नहीं समझते। आप लोग बाह्यपरिग्रह रहित अपरिग्रही कहलाते हुए भी षट्कायिक जीवों की रक्षा के साधन रूप जो भिक्षापात्र आदि हैं, उन्हें भी छोड़ बैठे। उसके कारण आपको अपने निमित्त कच्चे पानी एवं वनस्पति आदि का आरम्भ करके बनाया हुआ अशुद्ध, औद्देशिक आदि दोषों से युक्त आहार सेवन करना पड़ता है। अतः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की उपेक्षा करके घाव को अत्यन्त खुजलाने के समान संयम के उपकरणों को त्यागकर गृहस्थों को बार-बार अपने लिए आहार बनाने के लिए परेशान करना श्रेयस्कर नहीं है। और न ही घावों को बार-बार कुरेदने के समान मिथ्या-आक्षेपात्मक प्रश्नों को जिनसे कि आप अनभिज्ञ हैं, बारबार छेड़ना अच्छा है। इससे राग-द्वेषवृद्धिरूप दोष उत्पन्न होने के सिवाय और कुछ अच्छाई नहीं हो सकती।

मूल पाठ

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिण्णेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥१४॥

संस्कृत छाया

तत्त्वेनानुशिष्टास्तेऽप्रतिज्ञेन जानता ।
न एष नियतो मार्गोऽसमीक्ष्य वाक्कृतिः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**अपडिण्णेण**) जो प्रतिकूल ज्ञाता नहीं है अथवा जिसे मिथ्या अर्थ बताने की प्रतिज्ञा नहीं है, या रागद्वेषरहित अप्रतिज्ञ एवं (**जाणया**) उपादेय और हेय का ज्ञाता साधु (**ते**) उन आक्षेपकर्त्ता अन्यदर्शनियों को (**तत्तेण अणुसिट्ठा**) सत्य (वास्तविक) बात की शिक्षा देता है कि (**एस मग्गे**) आप लोगों के द्वारा स्वीकृत यह मार्ग (पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निन्दा का रास्ता) **(ण णियए)** नियत—युक्तिसंगत नहीं है **(वती)** आपने जो सम्यग्दृष्टि सुविहित साधुओं के लिए आक्षेपात्मक वचन कहा है, वह भी **(असमिक्ख)** बिना विचारे कहा है, **(किती)** एवं आप लोग जो कार्य कर रहे हैं, वह भी विवेकशून्य है।

भावार्थ

हेय और उपादेय पदार्थों को यथार्थरूप से जानने वाला साधक जो भी बात अन्यदर्शनी आक्षेपकर्त्ताओं को बताता है, वह यथार्थ ही बताता है, अयथार्थ नहीं। इस दृष्टि से अन्यतीर्थियों को ईमानदारी से यथार्थ बात की शिक्षा देता हुआ कहता है—आप लोगों ने जो रवैया या रास्ता अख्तियार किया है, वह युक्तिसंगत नहीं है। तथा आप जो सच्चरित्र साधुओं पर आक्षेप करते हैं, वह भी बिना विचारे करते हैं, एवं आपका जो कार्य या व्यवहार है, वह भी विवेकरहित है।

व्याख्या

प्रेम से सच्ची और साफ-साफ बातें कहें

जो साधक त्याज्य और ग्राह्य पदार्थों का ज्ञाता है तथा रोष-द्वेषरहित होकर सत्य बातें कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह अन्यदर्शनी लोगों से तू-तू-मैं-मैं, व्यर्थ विवाद, झगड़ा या वाक्कलह करने की अपेक्षा उन्हें बहुत ही मधुर शब्दों में, नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बातें समझा दे—उन्हें हितकर तथा वास्तविक सत्य बातों की शिक्षा दे कि आपने जो मार्ग या रवैया अपनाया है, कि निष्किंचन होने के कारण साधु को उपकरण कतई रखने नहीं चाहिए, इसी प्रकार परस्पर एक-दूसरे की सेवा भी नहीं करनी चाहिए, आपका यह रास्ता युक्तिसंगत व निरापद नहीं है। तथा आप लोग जो यह कहते हैं कि जो रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं, वे गृहस्थ के समान हैं, यह भी आप बिना विचारे कहते हैं तथा आप जो कार्य या व्यवहार करते हैं, वह भी विवेकशून्य है। अतः आप हमारी बात पर दीर्घदृष्टि से सोचें-विचारें और वैसा करने पर आपको हमारी बात की सचाई स्वतः ज्ञात हो जाएगी। हम आपके हितैषी हैं, द्वेषी नहीं। हमारा आपसे यह नम्र सुझाव है कि घाव को अत्यधिक खुजलाने की तरह बात को बतंगड़ बनाना श्रेयस्कर नहीं है।

मूल पाठ

एरिसा जा वई एसा अग्गवेणु व्व करिसिता।
गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥१५॥

संस्कृत छाया

ईदृशी या वागेषा, अग्रवेणुरिव कर्षिता ।
गृहिणोऽभ्याहृतं श्रेयः भोक्तुं न तु भिक्षूणाम् ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**एरिसा**) इस तरह की (**जा**) जो (**वई**) कथन है कि (**गिहिणो अभिहडं**) "गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार (**भुंजिउं सेयं**) साधु को खाना श्रेयस्कर है। (**ण उ भिक्खुणं**) किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," (**एसा**) यह बात (**अग्गवेणु व्व**) बांस के अग्रभाग की तरह (**करिसिता**) कमजोर है, वजनदार नहीं है।

भावार्थ

साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार खाना श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ आहार खाना श्रेयस्कर नहीं, इस तरह का जो आपका कथन है, वह युक्तिरहित होने के कारण बांस के अग्रभाग की तरह दमदार नहीं है।

व्याख्या

बांस के अग्रभाग की तरह युक्तिरहित पोचा कथन

इस गाथा में 'गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार सेवन करना साधु के लिए श्रेयस्कर है,' अन्यतीर्थिकों के इस वाक्य का खण्डन किया है—'**एरिसा···भिक्खुणं**।' इसका आशय यह है कि अन्यतीर्थियों के इस कथन में कोई प्राचीन प्रमाण, कोई तर्कसंगत तथ्य, कोई हेतुसहित युक्ति, या कोई वजनदार प्राचीन वीतराग महर्षियों द्वारा चलायी हुई परम्परा से सम्मत नहीं है, जिसके बल पर इस बात को सिद्ध किया जा सके। इसलिए इस कथन को शास्त्रकार ने '**अग्गवेणु व्व करिसिता**' कहकर बाँस के अग्रभाग की तरह दुर्बल बताया है। अर्थात् इस कथन में कोई दम नहीं है। इसलिए दम नहीं है कि गृहस्थों द्वारा साधुओं के लिए आरम्भ-समारम्भ करके बनाकर लाये हुए आहार में सरासर छह काया के जीवों का घात सम्भव है, साथ ही आधाकर्म, औद्देशिक आदि अनेक दोषों से युक्त अशुद्ध आहार होता है, जब कि साधुओं के द्वारा अनेक गृहस्थगृहों में गवेषणा करके लाया हुआ भुक्तशिष्ट आहार उद्गमादि दोषों से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एवं अमृत भोजन होता है। भगवद्गीता में भी कहा है—"**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः**।" इसलिए गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार यज्ञशिष्ट नहीं, अमृत नहीं, वह तो दोषों का भण्डार होता है।

मूल पाठ

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभाण विसोहिआ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पगप्पियं ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

धर्मप्रज्ञापना या सा सारम्भाणां विशोधिका।
न त्वेताभिर्दृष्टिभिः पूर्वमासीत् प्रकल्पितम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जा धम्मपन्नवणा**) 'साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए, यह जो धर्मदेशना है, (**सा**) वह (**सारंभाण विसोहिआ**) गृहस्थों को विशुद्ध करने वाली है, साधुओं को नहीं।' (**एयाहिं दिट्ठीहिं**) इन दृष्टियों से (**पुव्वं**) पहले (**ण उ पगप्पिअं आसि**) यह देशना नहीं की गई थी।

भावार्थ

"साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए, यह जो धर्मदेशना है, वह गृहस्थों को ही पवित्र करने वाली है, साधुओं को नहीं।" इस अभिप्राय से पहले यह धर्म की देशना नहीं दी गई थी।

व्याख्या

सर्वज्ञप्रदत्त धर्मदेशना का विपरीत अर्थ

इस गाथा में सर्वज्ञप्ररूपित धर्मदेशना का जो अन्यतीर्थियों द्वारा उलटा अर्थ लगाया जाता है, उसका खण्डन किया गया है—'**धम्मपन्नवणा**''''**विसोहिआ**'। अर्थात्—यह जो धर्मदेशना है कि साधुओं को दान देकर उपकार करना चाहिए, वह गृहस्थों की ही शुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, क्योंकि साधु तो अपने तप-संयम का आचरण करके ही शुद्ध होते हैं। अतः दान देने का साधु को अधिकार नहीं है। यदि साधु भी गृहस्थों को आहारादि देने लगेंगे तो उन्हें सदोष आहार स्वीकार करना पड़ेगा, संयम में भी बाधा उपस्थित होगी। इस कारण साधु गृहस्थों को दान नहीं देते। यदि वे दान देने लगेंगे तो याचकों की भीड़ लग जाएगी। सबको दान देने से साधु की भिक्षा ही दुर्लभ हो जाएगी। वह अपनी संयममात्रा के लिए याचना करके आहार लाता है, उसमें से दान देने का अधिकार नहीं। देता है तो मृषावाद एवं अदत्तादान का दोष लगता है। सर्वज्ञ द्वारा प्रदत्त धर्मदेशना के गलत अर्थ लगाये जाने का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**ण उ एयाहिं**''''**पगप्पियं**'। अर्थात—रोगादि अवस्था में साधु को आहारादि लाकर देने का, साधु के प्रति उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओं को परस्पर ऐसा नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की आपकी (अन्यतीर्थियों की) विपरीत दृष्टि के अनुसार पूर्वकाल में सर्वज्ञों ने धर्मदेशना नहीं दी थी। क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष इस प्रकार के तुच्छ या विपरीत अर्थ की प्ररूपणा नहीं करते। रोगी आदि साधु की एषणादि के दोषों में उपयोग न रखने वाले असंयमी पुरुष ही वैयावृत्य-सेवा करें मगर उपयोग रखने वाले संयमी साधु स्वयं रोगी आदि साधु की वैयावृत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न करें, ऐसी दोषजनक तुच्छ देशना सर्वज्ञ की नहीं हो सकती। अतः रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नहीं करनी चाहिए इत्यादि अन्यतीर्थियों का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्तिविरुद्ध एवं अयथार्थ है। वस्तु स्थिति यह है कि आप लोग भी अपने रोगी साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ को प्रेरणा देते हैं, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रोगी साधु का उपकार करना अंगीकार भी करते हैं, इसलिए आप रोगी साधु का उपकार भी करते हैं और इस कार्य से द्वेष भी करते हैं। यह तो **'वदतो व्याघात'** जैसा है।

मूल पाठ

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं अचयंता जविंत्तए ।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया ॥१७॥

संस्कृत छाया

सर्वाभिरनुयुक्तिभिरशक्नुवन्तो यापयितुम् ।
ततो वादं निराकृत्य ते भूयोऽपि प्रगल्भिताः ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं**) समस्त युक्तियों के द्वारा (**जवित्तए अचयंता**) अपने पक्ष की सिद्धि न कर सकते हुए (**ते**) वे अन्यतीर्थी (**वायं णिराकिच्चा**) वाद को छोड़कर (**भुज्जोवि पगब्भिया**) पुनः दूसरी तरह से अपने पक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

भावार्थ

समस्त युक्तियों के द्वारा अन्यतीर्थी जब अपने पक्ष की स्थापना (सिद्धि) करने में असमर्थ रहते हैं, तब वादविवाद को छोड़कर फिर वे दूसरी तरह से स्वपक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

व्याख्या

स्वपक्ष सिद्धि में परास्त अन्यतीर्थी पुनः उसी धृष्टता पर

आजीवक (गोशालक) मतावलम्बी आदि अन्य मतानुयायी जब अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तदनुसार समस्त हेतु, दृष्टान्त, प्रमाण आदि युक्तियों से एड़ी से लगाकर चोटी तक जोर लगा लिया, फिर भी वे अपनी बात को सिद्ध करने में असमर्थ रहे तब वे सम्यक् हेतु और दृष्टान्तों से ओतप्रोत युक्ति-प्रमाण पुरःसर वाद का मार्ग त्यागकर पुनः दूसरे दुर्बल तरीके से अपने पक्ष की सिद्धि करने की दृष्टता करते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—

पुराणं मानवो धर्मः, सांगो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराण, मनुप्रणीत धर्मशास्त्र, सांगोपांग वेद और चिकित्साशास्त्र ये चार ईश्वरीय आज्ञा से सिद्ध हैं, इसलिए तर्कों द्वारा उनका खण्डन नहीं किया जा सकता। तब फिर धर्म परीक्षा के लिए युक्ति, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों की क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहुसंख्यक लोगों द्वारा स्वीकृत तथा राजा-महाराजा आदि महान् लोगों द्वारा मान्य होने से स्पष्ट है कि हमारा धर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरा धर्म नहीं। हम जो बात कहते हैं, वह पुराणों आदि से सिद्ध है, फिर हमें अन्य प्रमाणों को प्रस्तुत करने की क्या जरूरत है? इस प्रकार ऊटपटांग धृष्टतापूर्वक विवाद करते हुए अन्य तीर्थीजनों को क्या उत्तर देना चाहिए? इस सम्बन्ध में वृत्तिकार कहते हैं—'ज्ञान आदि सार से रहित बहुत-से लोग कोई बात कहते हों तो उससे कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। एरंड की लकड़ियों का ढेर गिनती में चाहे जितनी अधिक हो, फिर भी उसकी कीमत थोड़े-से चन्दन के बराबर भी नहीं होती। इसी तरह ज्ञान-विज्ञान से हीन पुरुषों की संख्या या उनके द्वारा दिये गए अभिमत का मूल्य थोड़े-से भी ज्ञान-विज्ञान वालों के बराबर नहीं हो सकता। जैसे आँख वाला एक पुरुष भी सैकड़ों अंधों से श्रेष्ठ होता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष एक भी हो तो वह उन सैकड़ों अज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है। जो सांसारिक जीवों के बन्ध, मोक्ष तथा गति-आगति एवं उनके कारणों को नहीं जानते, वे अज्ञमानव बहुत हों तो भी उनका अभिमत धर्म के विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता।"[1]

जिनके पास कोई युक्तिप्रमाणपुरःसर उत्तर नहीं होता, वे लोग इधर-उधर बगलें झाँकते हैं या विवाद में न टिकने पर गाली गलौज का सहारा लेते हैं। इसी बात को अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

---

१. एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीस चंदनपलस्स ।
मोल्ले न होज्ज सरिसो, कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥
तह वि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदनसरिच्छो ।
तह निविण्णाणमहाजणोवि सोज्झे विसंवयति ॥२॥
एको सच्चक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं ।
होइ वरं दट्ठव्वो णहु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३॥
एंवं बहुगावि मूढा ण पमाणं जे गई ण जाणंति ।
संसारगमणगुविलं णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

रागद्वेषाभिभूतात्मानः मिथ्यात्वेनाभिद्रुताः।
आक्रोशान् शरणं यान्ति, टंकणा इव पर्वतम् ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**रागदोसाभिभूयप्पा**) जिनकी आत्मा राग और द्वेष से दबी हुई है तथा (**मिच्छत्तेण अभिदुता**) जो व्यक्ति मिथ्यात्व से घिरे हुए हैं, वे अन्यतीर्थी शास्त्रार्थ में हार जाने पर (**आउस्से**) गालियों, आक्षेपों आदि का (**सरणं जंति**) सहारा लेते है, (**टंकणा पव्वयं इव**) जैसे टंकण जाति के पर्वतनिवासी म्लेच्छ युद्ध में हार जाने पर पहाड़ का आश्रय लेते हैं।

भावार्थ

राग और द्वेष से जिनका हृदय दबा हुआ है तथा जो मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, वे अन्यतीर्थी जब शास्त्रार्थ में परास्त हो जाते हैं, तब गाली-गलौज, आक्षेप और मार-पीट आदि का सहारा लेते हैं, जैसे पहाड़ पर रहने वाले टंकण जाति के म्लेच्छ युद्ध में हार जाने पर पहाड़ का ही आश्रय लेते हैं।

व्याख्या

विवाद में हार जाने पर अन्यतीर्थियों द्वारा आक्रोश का आश्रय

पूर्वगाथा (नं० ११) में शास्त्रकार ने अन्यतीर्थियों के युक्तिविरुद्ध आक्षेपों का नम्रतापूर्वक यथार्थ उत्तर देने का परामर्श दिया था, किन्तु जब विद्वान साधु यह देखे कि प्रतिपक्षी विवाद में नहीं टिक रहा है, और अपनी पराजय की प्रतिक्रिया-स्वरूप साधुओं पर आक्षेप, गाली-गलौज या मारपीट आदि पर उतर आया है तब वह क्या करे? इसे बताने के लिए शास्त्रकार यह गाथा प्रस्तुत करते हैं—'**रागदोसाभिभूयप्पा ··· टंकणा इव पव्वयं।**' शास्त्रकार ने दो विशेषण उक्त प्रतिपक्षियों के लिए प्रयुक्त करके यह संकेत कर दिया है कि धीर शान्तात्मा मुनि उनको इन अध्यात्म रोगों के शिकार समझकर उन पर तरस खाए, मौन रहे; उनसे विवाद में न उलझे। यही समझे कि इनका हृदय राग-द्वेष आदि विकारों से अत्यन्त दबा हुआ है, ये मिथ्यात्वमोह (विपरीत बोध के कारण, अतत्त्व—अयथार्थ अध्यवसायों) से परिपूर्ण हैं। उत्तम युक्तियों द्वारा विवाद करने में जब ऐसे लोग असमर्थ हो जाते हैं, तब उनका स्वभाव ऐसा चिड़चिड़ा हो जाता है कि वे बात-बात में गाली-गलौज, असभ्य शब्दों, डंडों, मुक्कों आदि उद्दण्ड व्यवहार का प्रयोग करने पर उतारू हो जाते हैं।

इस बात को दृष्टान्त द्वारा शास्त्रकार समझाते हैं—'**टंकणा इव पव्वयं।**' पहाड़ में रहने वाली म्लेच्छों की एक जाति विशेष 'टंकण' कहलाती है। दुर्जेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टंकण जाति के म्लेच्छ जब किसी प्रबल शक्तिशाली पुरुष की सेना द्वारा हरा कर खदेड़ दिये जाते हैं, तब वे आखिर पर्वत का ही आश्रय लेते हैं, इसी प्रकार अन्यतीर्थी लोग वाद-विवाद में परास्त हो जाते हैं, तब वे और कोई उपाय अपनी खीझ उतारने का न देखकर गाली-गलौज, आक्षेप, असभ्य शब्दों की बौछार या लाठी आदि से प्रहार का ही सहारा लेने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे समय में उन अन्यतीर्थियों के साथ प्रत्याक्रमण या हिंसक प्रतिकार, आक्रोश आदि का आश्रय लेना सुविहित विश्वबन्धु साधु के लिए जरा भी उचित नहीं है। वृत्तिकार कहते हैं—

अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥

अर्थात्—गाली देना, मारपीट करना, प्रहार करना या धर्म भ्रष्ट करना, ये सब कार्य नादान निपट अज्ञानी बच्चों के से हैं, धीर पुरुष इन बातों का उत्तर न देना ही लाभदायी समझते हैं।

मूल पाठ

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥१९॥

संस्कृत छाया

बहुगुणप्रकल्पानि कुर्यादात्मसमाधिकः ।
येनाऽन्यो न विरुध्येत, तेन तत्तत् समाचरेत ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**अत्तसमाहिए**) जिनकी चित्तवृत्ति समाधियुक्त—प्रसन्न है, वह मुनि (**बहुगुणप्पगप्पाइं**) अन्यतीर्थी के साथ विवाद के समय अनेक गुण उत्पन्न हों, इस प्रकार के अनुष्ठान (**कुज्जा**) करे। (**जेण**) जिससे (**अन्ने**) दूसरा—प्रतिपक्षी व्यक्ति (**णो विरुज्झेज्जा**) अपना विरोधी न बने, (**तं तं समायरे**) उस कार्य को करे।

भावार्थ

अन्यतीर्थिकों के साथ विवाद करते समय प्रशान्तचित्त मुनि अपनी चित्तवृत्ति को प्रसन्न रखता हुआ ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि का प्रयोग करे, जिससे अनेक गुणों—स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता, धर्म के प्रति आकर्षण, साधुसंस्था के प्रति श्रद्धा, वीतराग देवों के प्रति बहुमान (आदरभाव) को प्राप्ति हो, अथवा स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण हो। मुनि अपना आचरण और व्यवहार ऐसा रखे, जिससे प्रतिपक्षी व्यक्ति विरोधी न बन जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

दूसरों के साथ विवाद के समय मुनि का धर्म

पूर्वगाथा में विवाद में हार जाने के बाद अन्यतीर्थियों की मनोवृत्ति या बाल चेष्टा का निरूपण किया है, साथ ही विवादकारियों के दो विशेषणों द्वारा उनकी वैसी चेष्टा होने के कारण बताकर साधु को उनके साथ विवाद न करने में ही लाभ का निर्देश ध्वनित कर दिया है। किन्तु मान लो, कोई अन्यतीर्थी साधु के साथ विवाद करने आए और वह पूर्वगाथा में बताए हुए ढंग की सी बाल चेष्टाएँ तो न करता हो, किन्तु प्रसन्नहृदय, शान्तमुनि को ऐसा प्रतीत हो कि विवाद में प्रतिपक्षी दल हारता जा रहा है, और आत्मीयता, सद्भावना, स्नेह, मैत्री, सद्गुरु-देव-धर्म के प्रति श्रद्धा आदि गुण बढ़ने के बजाय रोष, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिक्रिया, घृणा, अश्रद्धा आदि दोष ही बढ़ने की सम्भावना है, प्रतिपक्षी के मन में धर्मादि श्रवण या आकर्षण बढ़ने की अपेक्षा लगातार विरोधभाव, दुःख के कारण भयंकर प्रतिरोध या द्वेषभाव ही बढ़ता जा रहा है, तो वह प्रशान्तात्मा साधु क्या करे? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—**'बहुगुणप्पगप्पाइं कुज्जा ..... तं तं समायरे।'** अर्थात्—जिन बातों से पूर्वोक्त बहुत-से गुण निष्पन्न होते हों, उसे बहुगुणप्रकल्प कहते हैं। वृत्तिकार की दृष्टि से जिन अनुष्ठानों के करने से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष-निराकरण आदि हो, या अपने में पक्षपातरहित मध्यस्थता आदि उत्पन्न हों, ऐसे अनुष्ठानों को बहुगुणप्रकल्प कहते हैं। वह अनुष्ठान प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि हैं। अथवा मध्यस्थ के समान वचन बोलना भी बहुगुणप्रकल्प है। अतः प्रसन्नचित्त साधु किसी के साथ विवाद करते समय या दूसरे समय में आत्मसमाधियुक्त होकर पूर्वोक्त अनुष्ठानों को ही करे। अथवा जिस मध्यस्थवचन के कहने से दूसरे के चित्त में किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न न हो, वह-वह कार्य साधु करे। तथा धर्म को श्रवण करने आदि सद्भावों में प्रवृत्त अन्यतीर्थी या दूसरा कोई व्यक्ति जिस अनुष्ठान या भाषण से अपना विरोधी, विद्वेषी या प्रतिक्रियावादी न बने, वह अनुष्ठान साधु करे, अथवा वैसा वचन बोले।

निष्कर्ष यह है कि अपनी चित्तसमाधि खोकर, या दूसरे में विद्वेष या विरोध उत्पन्न करने वाला कोई भी विवाद न करे।

मूल पाठ

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्याद् भिक्षुर्ग्लानस्य अग्लान्या समाहितः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**कासवेण पवेइयं**) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा कहे हुए (**इमं च धम्ममादाय**) इस धर्म को स्वीकार करके (**समाहिए**) प्रसन्नचित्त (**भिक्खू**) साधु (**गिलाणस्स**) रुग्ण साधु का (**अगिलाए**) ग्लानिरहित होकर (**कुज्जा**) वैयावृत्य—सेवा करे।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस धर्म को अंगीकार करके प्रसन्नचित्त मुनि रोगी साधु की ग्लानिरहित होकर सेवा करे।

व्याख्या

रुग्ण साधु की सेवा : प्रसन्नचित्त मुनि का धर्म

इस गाथा में शास्त्रकार ने स्वमत-पक्ष की स्थापना करते हुए रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूषा करना साधु का अनिवार्य धर्म बताया है।

प्रश्न होता है कि साधु के इस सेवाधर्म का प्रतिपादन किसने और किसके लिए किया है ? इसका समाधान शास्त्रकार इसी गाथा के पूर्वार्द्ध में करते हैं—'**इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेइयं।**' धर्म का अर्थ है—जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखता और सद्गति में स्थापन करता है। इसे केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् महावीर ने देवता, मनुष्य आदि की सभा में सत्य अर्थ की प्ररूपणा द्वारा कहा था। उस धर्म को स्वीकार करके भिक्षाशील साधु दूसरे असमर्थ रुग्ण साधु की सेवा-शुश्रूषा करे। किस प्रकार सेवा करे ? यह बताते हैं—"स्वयं ग्लानिरहित होकर तथा यथाशक्ति समाधियुक्त होकर करे।" आशय यह है कि अगर साधु स्वयं समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नहीं करेगा, सेवा करने से जी चुराएगा तो भविष्य में कदाचित् वह भी किसी समय रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतरायेंगे, तब उक्त साधु के मन में असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अतः रुग्ण साधु को जिस प्रकार समाधि उत्पन्न हो, उस प्रकार से आहारादि लाकर उसे देना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।

मूल पाठ

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥२१॥

॥त्ति बेमि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

संख्याय पेशलं धर्मं, दृष्टिमान् परिनिवृतः ।
उपसर्गान् नियम्य, आमोक्षाय परिव्रजेद् ॥२१॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**दिट्ठिमं**) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला दृष्टिसम्पन्न (**परिनिव्वुडे**) रागद्वेषरहित शान्त मुनि (**पेसलं धम्मं**) उत्तम-सुन्दर धर्म को (**संखाय**) जानकर (**उवसग्गे**) उपसर्गों पर (**नियामित्ता**) नियंत्रण करके (**आमोक्खाय**) मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त (**परिव्वए**) संयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता दृष्टिसम्पन्न रागद्वेषरहित शान्त मुनि इस उत्तम धर्म को जानकर मोक्षप्राप्ति तक संयम का अनुष्ठान करे।

व्याख्या

उपसर्गों को सहते हुए मोक्षपर्यन्त संयमपालन करे

इस गाथा में इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार मुनि के लिए प्रेरणात्मक उपदेश देते हैं—'**संखाय पेसलं धम्मं ..... आमोक्खाय परिव्वए।**' तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक जीवन में पुरुषार्थ के धर्म और मोक्ष दो सिरे हैं। धर्म से पुरुषार्थ की शुरूआत होती है, और मोक्ष पुरुषार्थ की अन्तिम मंजिल है। इसलिए इस गाथा में मुनि के लिए सर्वप्रथम यह निर्देश किया गया है कि वह वीतरागप्ररूपित मुनिधर्म को सभी पहलुओं से अंगोपांगसहित समझे, जाने, परखे और प्रत्येक प्रवृत्ति में धर्म की दृष्टि रखे, यानी धर्मदृष्टि या पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को देखने की दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) का अभ्यासी दृष्टिमान हो, तथा वीतरागतारूप धर्म की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से दूर, कषायनिवृत्त—शान्त हो। इस प्रकार धर्म को इस तरह रग-रग में रमा ले कि उपसर्गों पर नियमन करने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई न हो। साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों से घबराकर अब तक आचरित किये हुए धर्म को न छोड़े, यहाँ तक कि जब तक समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक उस धर्ममार्ग –संयम पर डटा रहे। 'इति' शब्द समाप्तिसूचक है, 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

॥ तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन : चतुर्थ उद्देशक

उपसर्ग-स्थैर्य अधिकार

पूर्व उद्देशकों में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किया गया है। इन उपसर्गों के द्वारा कदाचित् साधु विचार-आचार से भ्रष्ट हो सकता है। अतः इस उद्देशक में उपसर्ग में स्थिरता का उपदेश दिया जाता है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम गाथा यह है—

मूल पाठ

आहंसु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

संस्कृत छाया

आहुर्महापुरुषाः पूर्वं तप्ततपोधनाः ।
उदकेन सिद्धिमापन्नास्तत्र मन्दो विषीदति ॥१॥

अन्वयार्थ

(**आहंसु**) कोई अज्ञानी कहते हैं कि (**पुव्वि**) प्राचीनकाल में (**तत्ततवोधणा**) तप करना ही जिनका धन है ऐसे तपेतपाए तपोधनी (**महापुरिसा**) महापुरुष (**उदएण**) कच्चेपानी का सेवन करके (**सिद्धिमावन्ना**) मुक्ति को प्राप्त हो गये थे। (**मंदो**) बुद्धिमंद अपरिपक्व बुद्धि का साधक यह सुनकर (**तत्थ**) शीत (कच्चे) जल के सेवन आदि में (**विसीयति**) प्रवृत्त हो जाता है।

भावार्थ

कई अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि प्राचीनकाल में तपेतपाए तपोधन महापुरुषों ने शीतल (कच्चे) जल का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी, अपरिपक्व बुद्धि का साधक यह सुनकर शीतल जल के सेवन आदि में प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या

शीतोदकसेवन से मोक्षप्राप्ति : एक भ्रान्ति

इस अध्ययन का नाम उपसर्गपरिज्ञा है। अतः उपसर्ग आने पर साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे गाफिल हो जाता है, किस-किस प्रकार की भ्रान्ति में डालने वाले उपसर्ग आते हैं और साधक उनके प्रवाह में कैसे बह जाता है ? इन बातों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस उद्देशक में कराया गया है ।

इस गाथा में बताया गया है कि शीत-उदक के सेवन से प्राचीन काल के कई तपोधनी महापुरुषों को मोक्ष हो गया था, इस प्रकार की अफवाहें परमार्थ को न जानने वाले अज्ञानियों द्वारा फैलाई जाती हैं और उनके चक्कर में कई कच्ची स्थूलबुद्धि के साधक आ जाते हैं तथा उसी भ्रान्ति के शिकार होकर शीतलजल सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं । उन अफवाह फैलाने वाले अज्ञ पुरुषों का कहना है कि प्राचीन काल में वल्कलचीरी नारायण ऋषि आदि महापुरुषों ने तपरूपी धन का अनुष्ठान किया था, तथा पंचाग्नि सेवन आदि तपश्चर्याओं के द्वारा देह को खूब तपाया था । उन महापुरुषों ने शीतल (कच्चे) जल तथा कंद-मूल, फल आदि का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त कर ली थी ।

इस बात को सुनकर तथा सत्य मानकर प्रासुक जल पीने से तथा स्नान न करने से घबराया हुआ कोई अपरिपक्व बुद्धि साधक संयमाचरण में दुःख महसूस करता है अथवा वह पूर्वापर का विचार किये बिना झटपट शीतलजल का उपयोग करने लग जाता है । वे मंदमति यह नहीं सोचते कि वे लोग तापस आदि के व्रतों का पालन करते थे । उन्हें किसी कारणवश जातिस्मरण ज्ञान होने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई थी । और मौनीन्द्र सम्बन्धी भाव-संयम की प्राप्ति होने से उनके ज्ञानावरणीय आदि कर्म नष्ट हो गये थे । इस कारण से भरत चक्रवर्ती आदि के समान उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था, किन्तु शीतल जल का उपभोग करने से नहीं ।

अपरिपक्वबुद्धि के साधक को इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार बनकर अपनी संयमचर्या में झटपट रद्दोबदल नहीं करना चाहिए, यह संकेत शास्त्रकार ने इस गाथा में ध्वनित कर दिया है ।

मूल पाठ

अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ ।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥२॥
आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥३॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सुअ ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥५॥

संस्कृत छाया

अभुक्त्वा नमिर्वैदेही, रामगुप्तश्च भुक्त्वा ।
बाहुक उदकं भुक्त्वा, तथा नारायण ऋषिः ॥२॥
आसिलो देवलश्चैव, द्वैपायनो महाऋषिः ।
पराशर उदकं भुक्त्वा बीजानि हरितानि च ॥३॥
एते पूर्वं महापुरुषा आख्याता इह सम्मताः ।
भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धा इति मयानुश्रुतम् ॥४॥
तत्र मन्दाः विषीदन्ति, बाहच्छिन्ना इव गर्दभाः।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति, पृष्ठसर्पी च संभ्रमे ॥५॥

अन्वयार्थ

(**नमी विदेही अभुंजिया**) विदेह देश के राजा नमिराज ने आहार छोड़ करके (**य**) और (**रामगुत्ते**) रामगुप्त ने (**भुंजिया**) आहार खाकर, तथा (**बाहुए**) बाहुक ने (**तहा**) तथा (**नारायणे रिसी**) नारायण ऋषि ने (**उदगंभोच्चा**) शीतल जल का सेवन करके सिद्धिलाभ किया था।

(**आसिले**) आसिल ऋषि, (**देविले**) देवलऋषि (**महारिसी दीवायण**) तथा महर्षि द्वैपायन एवं (**पारासरे**) पाराशर ऋषि इन लोगों ने (**दगंबीयाणि हरियाणि भोच्चा**) शीतलजल, बीज एवं हरी वनस्पतियों का उपभोग करके मोक्ष पाया था।

(**पुव्वं**) प्राचीन काल में (**एतेमहापुरिसा**) ये महापुरुष (**आहिया**) समस्त विश्व में विख्यात थे (**इह**) तथा इस जैन आगम में भी (**संमता**) सम्मत—मान्य हैं। (**बीओदगं भोच्चा**) इन महापुरुषों ने बीज और सचित्त जल का उपभोग करके (**सिद्धा**) मोक्ष प्राप्त किया था। (**इति**) यह (**मेयमणुस्सुअं**) मैंने (महाभारत आदि में) परम्परा से सुना है।

(**तत्थ**) इस प्रकार की भ्रान्तिजनक दुःशिक्षा के उपसर्ग होने पर (**मंदा**) कच्ची बुद्धि के मंद साधक (**वाहच्छिन्ना**) भार से पीड़ित (**गद्दभा व**) गधों की तरह (**विसीयंति**) संयमभार वहन करने में दुःख महसूस करते हैं। (**संभमे**) जैसे अग्नि आदि का उपद्रव होने पर (**पिट्ठसप्पी**) लकड़ी के टुकड़े की सहायता से चलने वाला पैरों से रहित पुरुष (लँगड़ा) (**पिट्ठंतो**) भागने वाले लोगों के पीछे-पीछे (**परिसप्पंति**) चलता है। उसी तरह वह मंदमति भी संयम में सबसे पीछे हो जाता है, अथवा उक्त लालबुझक्कड़ों का पिछलग्गू बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

कोई अज्ञानी पुरुष अपरिपक्व बुद्धि के साधु को संयम भ्रष्ट करने के लिए कहता है—अजी, विदेहदेश के शासक नमिराजा ने आहार किये बिना सिद्धि प्राप्त की थी तथा रामगुप्त ने आहार करके मुक्ति पाई थी, एवं बाहुक ने शीतल जल पीकर सिद्धि प्राप्त की थी और नारायण ऋषि ने शीतोदक पीकर मोक्ष पाया था।

आसिल ऋषि, देवलऋषि, महर्षि द्वैपायन एवं पाराशर ऋषि ने शीतल जल, बीज और हरी वनस्पतियाँ सेवन करके मोक्ष प्राप्त किया था।

कोई अन्यतीर्थी सुसाधुओं को संयम से पतित करने के लिए उनसे कहता है—अजी, सुनो तो सही, पूर्वकाल में हुए ये महापुरुष जगत्प्रसिद्ध थे और जैन आगमों में भी इन्हें माना गया है। इन लोगों ने तो शीतल जल और बीज का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी।

मिथ्यादृष्टि लालबुझक्कड़ों की पूर्वोक्त भ्रान्तिजनक बातें सुनकर अपरिपक्व बुद्धि के कई मूढ़ साधक संयम-पालन में इस प्रकार दुःख का अनुभव करते हैं, जैसे बोझ से पीड़ित गधे उस भार को लेकर चलने में दुःख का अनुभव करते हैं। तथा जैसे लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में पकड़कर सरक-सरक कर चलने वाला लंगड़ा मनुष्य आग आदि का उपद्रव होने पर तेजी से भागने में असमर्थ होने से भागने वालों के पीछे-पीछे चलता है, इसी तरह संयम पालन करने में दुःख अनुभव करने वाले वे मंदपराक्रमी साधक उत्साहपूर्वक शीघ्रता से मोक्ष की ओर दौड़ लगाने में असमर्थ होने से संयम पालन करने वालों के पीछे-पीछे रेंगते हुए—रोते-झींकते मंदगति से चलते हैं। अतः ऐसे लोग मोक्ष तक न पहुँचकर रास्ते में ही संसार की रंगीनियों में भटकते रहते हैं।

व्याख्या

अपरिपक्वबुद्धि साधु : भ्रान्ति-उत्पादकों के चक्कर में

इस उद्देशक की प्रथम गाथा में प्राचीन तपोधनी महापुरुषों की दुहाई देकर कच्ची बुद्धि के साधकों को संयम से डिगाने की बात—उपसर्ग के सन्दर्भ में कही गयी थी। दूसरी गाथा से पाँचवीं गाथा तक भी उसी के अनुसन्धान में बताया गया है कि ये भ्रान्तिउत्पादक अन्यतीर्थिक या बुद्धिप्रवञ्चक लोग विभिन्न ऋषियों के नाम ले-लेकर उनकी दुहाई देकर किस-किस तरह से कच्चे सुसाधक को पथभ्रष्ट कर देते हैं ? वे कहते हैं - देखो, जो लोग कहते हैं कि कच्चे शीतल जल पीने वालों को तथा सचित्त बीज एवं हरी वनस्पति खाने वाले साधकों को मुक्ति नहीं मिल सकती, वे लोग आँखें खोलकर महाभारत आदि पुराण पढ़ें। उनमें स्पष्ट लिखा है—वैदेही नमिराज ने आहारादि का त्याग करके, रामगुप्त ने आहार सेवन करके तथा बाहुक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं नारायणऋषि ने शीतलजल का सेवन करके मुक्ति प्राप्त की थी। आसिल, देवल, महर्षि द्वैपायन एवं पाराशर तो कच्चा पानी, बीज एवं हरी वनस्पतियाँ सेवन करके भी मोक्ष पा सके थे। ये सब महापुरुष समस्त भूमण्डल में विख्यात थे, जैन-आगमों में भी ये माने गये हैं, ये लोग ठंडे जल और बीज का उपभोग करके सिद्ध हुए हैं, यह मैंने महाभारत आदि पुराणों से सुना है, अथवा अपनी संघीय प्राचीन परम्परा से सुना है। ऐसे कोई कुतीर्थिक अथवा अपने संघ के लोग अपरिपक्व साधुओं को फुसलाकर उन्हें संयमपालन में शिथिल कर देते हैं, अथवा संयमभ्रष्ट कर देते हैं।

अपरिपक्व एवं स्थूल बुद्धि वाले साधक अथवा संयम की कठोर चर्या के पालन में दुःख अनुभव करने वाले साधक इन और ऐसे ही अन्य भ्रान्ति-उत्पादकों या भ्रान्तिजनक दुःशिक्षकों के चक्कर में पड़कर झटपट शीतलजल के सेवन आदि संयम-विरुद्ध प्रवृत्ति में पड़ने का फैसला कर लेते हैं। ऐसे बहकाने या फुसलाने वाले लोग इस ढंग से मीठी-मीठी बातें करके और पुराणों में वर्णित कुछ तापसों के जीवन की तथा मोक्षलाभ की दुहाई देते हैं, जिससे अदूरदर्शी भोलाभाला साधक उनके चक्कर में आ जाता है। ऐसे लोगों के कुचक्र में पड़कर वे अपने संयम को कैसे खो बैठते हैं ? यह बात पाँचवीं गाथा में स्पष्ट की है **'तत्थ मंदा विसीयंति·····पिट्ठसप्पी य संभमे।'**

आशय यह है कि ऐसे लालबुझक्कड़ों के वाग्जाल में फँसना भी एक बहुत बड़ा उपसर्ग है। और भोले-भाले मंदपराक्रमी साधक ऐसे उपसर्ग आने पर बहुत जल्दी फिसल जाते हैं। ऐसे फिसड्डी साधकों की मनोवृत्ति को दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है—ऐसे संयमभार को सहन करने में पीड़ा अनुभव करने वाले मूर्ख साधक इसी प्रकार तीव्र दुःख अनुभव करते हैं, जिस प्रकार बोझे से पीड़ित गधे चलने में दुःख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे संयम में शिथिल एवं हतोत्साह साधक लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में लेकर अग्निकाण्ड आदि का आतंक उपस्थित होने पर भागने वालों के पीछे-पीछे सरक-सरककर चलने वाले उस लँगड़े की तरह हैं, जो तेजी से सरपट मोक्ष की ओर दौड़ लगाने वाले साधकों के पीछे-पीछे रेंगते हुए रोते-पीटते त्रेमन से चलते हैं। ऐसे कच्चीबुद्धि के साधक ठेठ मोक्ष तक नहीं पहुँच पाते हैं, किन्तु बीच में ही विषयसुखों की भूलभुलैया में फँसकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

वे मंदमति बुरी शिक्षा देकर झटपट बहका देने वाली मिथ्यादृष्टियों की प्ररूपणारूप उपसर्ग के उदय होने पर संयमपालन में तो पीड़ा महसूस करते हैं, किन्तु रोते-पीटते निरुत्साहित होकर संयम पालकर दीर्घकाल तक सांसारिक परिभ्रमण के महादुःख का ख्याल नहीं करते। वे मूढ़ यह नहीं जानते कि जिन लोगों को भी मोक्ष की प्राप्ति हुई थी, उन्हें किसी कारणवश जातिस्मरणज्ञान के उदय होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के कारण ही हुई थी। जैसे—वल्कलचीरी तापस आदि को मुक्ति प्राप्त हुई थी। सर्वविरति-परिणाम तथा भावलिंग के बिना जीवों के विघातक शीतलजल के पान और बीज आदि के सेवन से कर्मक्षयरूपी मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है। अगर इस प्रकार से शीतोदक एवं हरी सब्जी आदि के सेवन से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता तो, ऐसे अनेक तापस भूतकाल में हुए हैं वर्तमान में भी हैं, उन्हें कंद-मूल, फल, एवं शीतलजल के सेवनमात्र से मुक्ति क्यों नहीं और प्राप्त हुई या होती है? कौन-सा बाधक कारण है? किन्तु नहीं, जिन्हें भी मुक्ति प्राप्त होती है, उन्हें हिंसा आदि आस्रवों से तथा कषाय-विषयत्याग, रागद्वेषादि-त्याग एवं सर्वकर्मक्षय से ही होती है; सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की प्राप्ति से ही होती है। जो साधक इस बात को न समझकर उन्मार्गदर्शकों के चक्कर में फँस जाता है, वह उक्त उपसर्ग से पराजित होकर संयमभ्रष्ट हो जाता है। अतः शास्त्रकार ने इस गाथा के द्वारा प्रकारान्तर से ऐसे प्रवंचकों के चक्कर में न आने और संयमानुष्ठान को न छोड़ने का संकेत कर दिया है।

अब उपसर्ग के सन्दर्भ में 'सुख से सुख की प्राप्ति होती है' इस भ्रान्तिजनक मान्यता का शास्त्रकार निराकरण करते हैं—

मूल पाठ

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥६॥

संस्कृत छाया

इहैके तु भाषन्ते, सातं सातेन विद्यते ।
ये तत्र आर्यमार्गं तु परमं च समाधिकम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**इह**) इस मोक्षप्राप्ति के विषय में (**एगे**) कोई (**भासंति**) कहते हैं कि (**सातं**) सुख (**सातेण**) सुख से ही (**विज्जती**) प्राप्त होता है। (**तत्थ**) परन्तु इस मोक्ष के सम्बन्ध में (**आरियं मग्गं**) समस्त हेय धर्मों से दूर रहने वाला जो मोक्ष-मार्ग है, (**परमं समाहिए**) जो परमशान्ति को देने वाला ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है, उसे (**जं**) जो लोग छोड़ते हैं, वे मंदबुद्धि मूढ़ हैं।

भावार्थ

कई मिथ्यादृष्टि (उत्तरकालीन बौद्ध या अन्य शिथिलाचारी साधक) कहते हैं कि सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु इस मोक्ष के विषय में परमशान्ति को देने वाला तीर्थंकर प्रतिपादित, जो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आर्य (मोक्ष) मार्ग है, उसे जो छोड़ते हैं, वे एक प्रकार से अनार्य्य हैं, मन्द-पराक्रमी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सुख से सुख की प्राप्ति की मान्यता आर्यमार्ग के विरुद्ध है

इस गाथा में तथागत बुद्ध के बाद बौद्धभिक्षुओं द्वारा प्रवर्तित 'सुख से सुख की प्राप्ति होती है'---इस भ्रान्त मान्यता का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके निराकरण किया गया है। यह भ्रान्त मान्यता यहाँ उपसर्ग के सन्दर्भ में इसलिए प्रस्तुत की गयी है कि बहुत-से अल्पपराक्रमी एवं संयमचर्या में शिथिल साधक इस भ्रान्तमान्यतारूपी उपसर्ग के शिकार हो जाते हैं और परमशान्तिदायक ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप वीतराग प्रतिपादित आर्य-- मोक्षमार्ग को छोड़ बैठते हैं---**'जे तत्थ आरियं मग्गं·····परमं च समाहिए।'**

मोक्षप्राप्ति के विचार प्रसंग में बौद्ध तथा लोच आदि से पीड़ित कोई स्वयूथिक यह कहते हैं कि सुख से ही सुख प्राप्त होता है। जैसा कि वे कहते हैं—

सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि॥

अर्थात्—सभी प्राणी सुख में रत रहते हैं और सभी दुःख से डरते हैं। इसलिए सुख चाहने वाले पुरुष को सुख ही देना चाहिए। क्योंकि सुख देने वाला ही सुख पाता है।

'सातं सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते हैं कि 'कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।' जिस प्रकार शालिधान के बीज से शालि का ही अंकुर उत्पन्न होता है, जौ का अंकुर नहीं, उसी प्रकार इस लोक के सुख से ही परलोक मुक्ति का सुख मिल सकता है, किन्तु लोच आदि दुःख से मुक्ति नहीं मिलती। जैसा कि बौद्धागम में भी कहा है—

मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी॥

अर्थात्—मुनि को मनोज्ञ भोजन करके मनोज्ञ शय्या और आसन का सेवन करके मनोज्ञ घर में सुखभोग करना चाहिए। तथा मनोज्ञ पदार्थ का ही ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए।[1]

इसके अतिरिक्त बौद्धभिक्षुओं की दिनचर्या बताते हुए भी इसी बात का समर्थन किया है, और इसी सुखयुक्त दिनचर्या से मुक्तिप्राप्ति मानी गयी है—

---

१. ये उल्लेख शीलांकाचार्य ने किस ग्रन्थ से किये हैं, यह अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है तो और भी महत्त्वपूर्ण है, यह असम्भव भी नहीं। उत्तरकाल में बौद्धों ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। 'धम्मपद' इसका प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृद्वी शय्या, प्रातरुत्थाय पेया; भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे; मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ।।

अर्थात्—भिक्षु को मुलायम शय्या पर सोना चाहिए और प्रातःकाल उठकर दुग्ध आदि पदार्थ पीना चाहिए। एवं दोपहर में भोजन (भात आदि का) करना चाहिए, सायंकाल में फिर कोई शरबत, दूध आदि पेय पदार्थ पीना चाहिए। इसके बाद आधीरात में द्राक्षा (किशमिश) और मिश्री खाना चाहिए। इस प्रकार की सुखपूर्वक दिनचर्या से अन्त में शाक्यपुत्र (तथागत बुद्ध) ने मोक्ष देखा है।[1]

"मनोज्ञ आहार, विहार आदि करने से चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है। चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता पैदा होती है और एकाग्रता से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सुख से ही सुख की प्राप्ति (**सातं सातेण विज्जती**) होती है, परन्तु लोच आदि कायाकष्ट से कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।"

इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले बौद्ध आदि का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके शास्त्रकार ने इसका खण्डन किया है—'**जे तत्थ आरियं मग्गं.....परमं च समाहिए।**'

---

१. बौद्धसाधुओं का यह आचार निश्चय ही उत्तरकालीन बौद्धभिक्षुओं का आचार रहा होगा। जिसका उल्लेख शीलांकाचार्य ने इस सूत्र की वृत्ति में विशेष रूप से किया है। यह नौवीं-दसवीं सदी के बौद्धजीवन का आँखों देखा वर्णन भी हो सकता है। उस समय बौद्धधर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अतः यह आचार असम्भव नहीं। थेरगाथा में भविष्य के भिक्षुओं की आस्था व दिनचर्या का वर्णन मिलता है, जो इसी से मिलता-जुलता है। सम्भव है, थेरगाथा के प्रणयनकाल में बौद्धभिक्षुओं में यह शिथिलता आ चुकी होगी, जिसकी चरमपरिणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि थेरगाथा में वर्णन है—

अञ्ञथा लोयनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे ।
इरियं असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानिदिस्सति ।। थेरगाथा ६११
सब्बासपरिक्खीणा महाझायी महाहिता ।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि लादिसा ।। थेरगाथा ६२८

अर्थात्—पुरुषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओं की चर्या दूसरी थी, पर अब कुछ और ही हो गयी है। पहले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्मास्रव को दूर करते थे, महान् ध्यानी थे, स्वपरहित में तत्पर रहते थे। पापों से निवृत्त रहते थे। परन्तु इस समय वैसे भिक्षु बहुत ही अल्प हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्यमार्ग, जो कि परम समाधि से युक्त है, आर्य का अर्थ है—जो समस्त त्याज्य बातों से दूर हो। ऐसा जो मार्ग है, वह आर्यमार्ग है। अर्थात् जो जैनेन्द्र-शासनप्रतिपादित परमशान्ति का उत्पादक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग - आर्यमार्ग है। यह आर्यमार्ग ही मोक्षसुख का कारण है, एकान्त शान्ति का उत्पादक है, इससे बढ़कर सुख का मार्ग और कौन-सा हो सकता है ? मनोज्ञ आहार आदि को जो सुख का कारण कहा है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि मनोज्ञ आहार से कभी-कभी हैजा (विशूचिका) आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्तरूप से सुख का कारण नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो विषयजन्य सुख दुःख के प्रतिकार का हेतु होने से वह सुख का आभासमात्र है, वास्तविक सुख नहीं है। वह तो दुःख का ही कारण होता है। वैषयिक सुख में दुःखों का मिश्रण रहता है, अतः वह विषमिश्रित भोजन के समान वस्तुतः दुःखरूप ही है। मूढ़पुरुष ही उसे सुख मानते हैं। जो सुख इन्द्रिय या पदार्थों के आश्रित है, वह पराधीन है। इन्द्रियों के विकृत हो जाने या पदार्थों के मिलने, न मिलने पर आधारित होने से पराधीन है, दुःखरूप है। त्याग, तप, वैराग्य, ध्यान, साधना एवं भोजन आदि की परतंत्रता से मुक्ति आदि स्वाधीन सुखात्मक हैं। अतः दुःखरूप, इन्द्रियविषयों को सुखरूप मानना मृगमरीचिका के समान सुखभ्रम है। कहा भी है—

दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमान, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः।
उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥

—अज्ञानी विवेकमूढ़ व्यक्तियों की गति, मति व दृष्टि कैसी विपरीत होती है ? यह देखिये—जो पंचेन्द्रियविषय दुःखरूप हैं, उन्हें वे सुखरूप मानते हैं, और जो यम, नियम, तप, संयम आदि सुखरूप हैं, उन्हें दुःखरूप समझते हैं। जैसे किसी धातु पर खुदे हुए अक्षरों की पंक्ति अंकित की जाती है, तो वह देखने पर उलटी दिखाई देती है, लेकिन जब उसे मुद्रित किया जाता है, तब वह सीधी हो जाती है। इसी तरह संसारी जीवों की सुख-दुःख के विषय में उलटी समझ होती है। विषयभोग को दुःख और नियमादि को सुख समझने से उनका रूप ठीक प्रतीत होता है। अतः दुःखरूप विषयभोग परमानन्दस्वरूप एकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्ष सुख का कारण कैसे हो सकता है ? तथा केश का लुंचन, पृथ्वी पर शयन, भिक्षा माँगना, दूसरे द्वारा किया गया अपमान सहन करना, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दंशमशक आदि परीषह-सहन आदि को जो दुःख का कारण बताया है; वह भी उनके लिए है, जो लोग परमार्थदर्शी नहीं हैं, अत्यन्त दुर्बल हृदय हैं, परन्तु जो महान् दृढ़धर्मी साधक हैं, परमार्थदर्शी हैं, आत्मस्वभाव में लीन हैं, स्वपरकल्याण में प्रवृत्त हैं, उनके लिए ये सब साधनाएँ दुःखरूप नहीं हैं, बल्कि आत्मस्वाधीनतारूप सुख की जननी हैं। उनकी महान् शक्ति के प्रभाव से ये सब सुखसाधनस्वरूप हैं, दुःखरूप नहीं। अतः सम्यग्ज्ञान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक की हुई साधना, संयमपालन, परीषहसहन, तप, ध्यान आदि सब मोक्षसुख के साधन हैं। परमार्थचिन्तक महापुरुष के लिए कष्ट भी सुख का कारण है, दुःखदायक नहीं। कहा भी है—

तणसंथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्ट रागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ?

अर्थात्—राग, मद और मोह से रहित मुनि तृण की शय्या पर सोया हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्तिसुख का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती के भी भाग्य में नसीब कहाँ ?

दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः,
कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा।
सर्वत्याग महोत्सवाय मरणं, जातिः सुहृत्प्रीतये,
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ?

अर्थात्—दुःख होने से महान् व्यक्ति दुःखित नहीं होते। वे यह जानकर सुखी होते हैं कि यह दुःख आया है तो हमारे दुष्कर्मों के क्षय के लिए आया है। क्षमा करने से वैर की शान्ति है, शरीर की मलिनता वैराग्य की उत्पत्ति के लिए है, बुढ़ापा वैराग्य संवेग का कारण है तथा मरण समस्त वस्तुओं के सर्वत्यागरूप महोत्सव के लिए है। अतः ज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् सुखसमृद्धि, स्वर्गसामग्री एवं सारभूत तत्त्वों से भरा हुआ है, इसमें दुःख को स्थान ही कहाँ है ?

बौद्धों का यह तर्क भी सर्वथा एकान्तरूप से यथार्थ नहीं है कि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। कभी-कभी कारण के विपरीत भी कार्य देखा जाता है। जैसे नीम से शर नामक वनस्पति की उत्पत्ति होती है, गोबर से बिच्छू पैदा होता है, गाय और भेड़ के बालों से दूब उत्पन्न होती है। ये सब कारणों से विपरीत कार्यों की उत्पत्ति के नमूने हैं। इसलिए सुख से एकान्तरूप से सुख की ही उत्पत्ति होती है, यह एकान्तिक कथन है।

एकान्तरूप से सुख से सुख की ही उत्पत्ति मानने पर विचित्र संसार का होना नहीं बन सकता; क्योंकि स्वर्ग में निवास करने वाले जो जीव सदा सुख का ही उपभोग किया करते हैं, उनकी उत्पत्ति सुखभोग के कारण फिर स्वर्ग में ही होगी, तथा नरक में रहने वाले जीवों की उत्पत्ति दुःखभोग के कारण फिर नरक में ही होगी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गतियों में जाने के कारण जो जगत् की विचित्रता होती है, वह नहीं हो सकेगी। परन्तु यह शास्त्र एवं सिद्धान्त से सम्मत नहीं और न ही अभीष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ सुखभोग करने से परलोक में भी सुख मिलता है, और अन्त में मोक्षसुख भी मिलता है, यह वैषयिकसुखग्रस्त भवाभिनन्दी जीवों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कपोलकल्पना है। अतः सुविहित साधु को ऐसे मिथ्यादृष्टियों के भ्रान्तिजनक वचनों के बहकावे में आकर स्वधर्म और मोक्षमार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसी भ्रान्तियों को मोक्षमार्ग में विघ्नरूप उपसर्ग मानकर उनसे बचना चाहिए। यही इस गाथा का सारांश है।

मूल पाठ

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं ।
एतस्स उ अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥७॥

संस्कृत छाया

मैनमवमन्यमाना अल्पेन लुम्पथ बहु ।
एतस्य त्वमोक्षे अयोहारीव जूरयथ ॥७॥

अन्वयार्थ

(**एयं**) इस जिनमार्ग का (**अवमन्नंता**) तिरस्कार करके—ठुकराकर तुम लोग (**अप्पेणं**) तुच्छ—अल्प विषयसुख के लोभ से (**बहु**) अतिमूल्यवान् मोक्षसुख को (**मा**) मत (**लुंपह**) बिगाड़ो। (**एतस्स**) 'सुख से सुख प्राप्त होता है,' इस मिथ्यापक्ष को (**अमोक्खाए**) नहीं छोड़ने पर (**अओहारिव्व**) सोना छोड़कर लोहा लेने वाले वाणिक् की तरह (**जूरह**) पछताओगे।

भावार्थ

'सुख से ही सुख होता है,' इस मिथ्यापक्ष की भ्रान्ति में पड़कर वीतराग प्ररूपित उत्तमधर्म का परित्याग करने वाले अन्यदर्शनी के कल्याणार्थ शास्त्रकार उपदेश देते हैं—"तुम लोग इस जिनशासन (जिनधर्म) को ठुकराकर तुच्छ विषयसुख के लोभ में पड़कर अतिदुर्लभ मोक्षसुख को हाथ से मत खोओ। 'सुख से ही सुख होता है,' इस भ्रान्तियुक्त असत्पक्ष को नहीं छोड़ोगे तो उसी तरह पछताओगे, जैसे सोना आदि बहुमूल्य धातु छोड़कर केवल लोहा खरीदने वाला बनिया पश्चात्ताप करता है।"

व्याख्या

भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगों को उपदेश

'यहाँ सुखभोग से ही आगे सुख मिलता है,' यह मान्यता कितनी भ्रान्त और आपातरमणीय है, परिणाम में कितनी दुःखदायिनी, विषम एवं भवभ्रमण की कारण है, इसका विवेचन पिछली गाथा में बताकर अब शास्त्रकार इस गाथा में इस भ्रान्त मान्यता के शिकार लोगों को अनुकम्पा बुद्धि से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं—"बन्धुओ ! तुम लोग मिथ्यापूर्वाग्रहवश वीतरागप्ररूपित उत्तम मोक्षमार्ग या पवित्र जिन-सिद्धान्त का तिरस्कार करके सिर्फ तुच्छ व क्षणिक विषयसुखों के प्रलोभन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़कर अत्यन्त दुर्लभ जो मोक्षसुख मिल सकता है, उसका अवसर मत गँवाओ। मोक्षसुख की बाजी अभी तक तुम्हारे हाथ में है। अभी कुछ नहीं बिगड़ा, थोड़ी-सी भूल हुई है, उसे सुधार लो और अल्पकालिक वैषयिकसुखों की मृगमरीचिका को छोड़कर मोक्षसुख के लिए पुरुषार्थ करो। इससे तुम्हें भविष्य में मोक्षसुख ही नहीं, इस लोक में भी धर्मपालन से सातावेदनीय के फलस्वरूप स्वाधीनसुख प्राप्त होगा। दोनों लोक सुधर जाएँगे। अन्यथा, उक्त मिथ्यामत की पूँछ पकड़कर चलोगे और अपने पकड़े हुए झूठे पक्ष को नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारी भी हालत उस बनिये की-सी होगी, जो लोहे का भार लेकर दूर से आ रहा था, किन्तु रास्ते में सोना और चाँदी मिलने पर हठाग्रहवश उन्हें इसलिए नहीं लिया, कि मैं इतनी दूर से इस लोहे को लाया हूँ, इसे कैसे छोड़ दूँ? किन्तु जब घर पहुँचा तो लोहे का दाम कम पाकर खूब रोया-पीटा, पछताया। इसी तरह तुम्हें बाद में पछताना न पड़े, इसलिए हम तुम्हें सावधान करते हैं कि इस गलत मान्यता के चक्कर में पड़कर अपना जीवन बर्बाद मत करो। देखो, मनोज्ञ आहारादि करने से काम की वृद्धि होती है, और कामवृद्धि होने पर चित्त स्थिर नहीं रह सकता। अतः मनोज्ञ आहार करने वाले के चित्त में समाधि नहीं रह सकती। उससे दुःखदायक कटु परिणाम भोगने पड़ते हैं।

मूल पाठ

पाणाइवाते वट्टंता मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

संस्कृत छाया

प्राणातिपाते वर्तमानाः मृषावादेऽसंयताः।
अदत्तादाने वर्तमानाः, मैथुने च परिग्रहे ॥८॥

अन्वयार्थ

(**पाणाइवाते**) आप लोग जीवहिंसा में (**वट्टंता**) प्रवृत्त रहते हैं, (**मुसावादे**) मृषावाद में, (**अदिन्नादाणे**) अदत्तादान—चोरी में, (**मेहुणे य परिग्गहे**) मैथुन और परिग्रह में भी (**वट्टंता**) प्रवृत्त रहते हैं। इस कारण आप लोग (**असंजता**) असंयमी हैं, संयमी नहीं।[1]

भावार्थ

'सुख-भोग से भविष्य में सुख मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्त के

---

१. तथाकथित बौद्धों पर यह जो आरोपण है, वह ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यथार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि तथागत बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्धधर्म की एक शाखा के भिक्षुओं में यह आचारशैथिल्य आ गया था, वे अत्यन्त असंयत हो गये थे। थेरगाथा में उसकी प्रतिध्वनि मिलती है। —**सम्पादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्कर में पड़े हुए बौद्ध आदि साधकों को शास्त्रकार कहते हैं—आप लोग इस मिथ्या मान्यता के कारण जीवहिंसा में प्रवृत्त होते हैं, झूठ बोलते हैं, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण कर लेते हैं, मैथुन (कामसेवन) और परिग्रह (ममत्वपूर्वक भोग्यसाधनों के संग्रह) में रत रहते हैं। इस कारण आप असंयमी ही कहलाएँगे, संयमी नहीं।

व्याख्या

मिथ्यामान्यता के चक्कर में पंचाश्रवसेवन

पूर्वगाथा में शास्त्रकार ने शाक्यादि साधकों को पूर्वोक्त मिथ्यामान्यता छोड़ने की जोरदार प्रेरणा दी, किन्तु दुराग्रही व्यक्ति अपनी पकड़ी हुई मिथ्यामान्यता को सहसा नहीं छोड़ता। इसका नतीजा क्या होता है ? इसे बताते हुए शास्त्रकार पुनः उनके हृदय की आँखें खोलते है—बन्धुओ ! सुखभोग से भविष्य में भी सुख प्राप्त होता है, इस मिथ्यामान्यता के कारण बहककर आप लोग कितना नीचे उतर आये हैं ! ध्यान से सोचिए ! जब आप लोग यही झूठी जिद ठान लेते हैं कि हमें तो येन-केन-प्रकारेण सुखभोग ही करना है, तब आप हिंसा, झूठ, बेईमानी, अन्याय, अनीति, मैथुनसेवन और परिग्रहवृत्ति आदि पापों का सेवन करते रहते हैं। आप अपने शरीर को पुष्ट करने और उससे इन्द्रियसुख भोगने के लिए स्वादिष्ट भोजन के पचन-पाचन आदि में स्वच्छन्दरूप से प्रवृत्त होते हैं, इस झूठी मान्यता का प्रचार करके झूठ बोलते हैं, अथवा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठी बात भी कह देते हैं। अपने आपको प्रव्रजित कहकर भिक्षु के आचार-विचार के पालन में उद्यत हुए आप लोग गृहस्थों का-सा आचरण करते हैं, इसलिए आप मिथ्याभाषण भी करते हैं। अपनी सुखवृद्धि के लिए आप नानाप्रकार के सुखसाधनों को जुटाते हैं, उन्हें ममत्व-पूर्वक रखते हैं, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं को रखते हैं, धन भी रखते हैं या फिर रखाते हैं। इस तरह परिग्रह के दोष से भी आप बच नहीं पाते। और जब सुखप्राप्ति की धुन में ही रहते हैं तो रतियाचना करने वाली स्त्री के साथ कामसेवन भी कर लेते हों, यह भी सम्भव है। फिर आप सुख के लिए जिन जीवों के शरीर का उपभोग मांसाहार आदि या सवारी आदि के रूप में करते हैं, वे शरीर उनके स्वामियों द्वारा आपको मिले नहीं, किन्तु आप उनकी अनुमति के बिना जबरन उनका उपभोग करते हैं, यह सरासर अदत्तादान का दोष है। इस प्रकार आप सुख-भोग की मान्यता के कारण बेखटके जगत्प्रसिद्ध पाँचों पापों में प्रवृत्त होते हैं। भला बताइए, कोई आपको संयमी कैसे कहेगा ? बल्कि जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका में बैठकर समुद्र पार करना चाहता है, तो समुद्र में ही डूब जाता है;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्मास्रव की अधिकता से नरक आदि के दुःख प्राप्त करते हैं। वे मुक्तिपथ से विमुख हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार बौद्ध आदि साधकों के पंचास्रव में पड़ने के कारण पूर्वोक्त सुख-भोग की मिथ्यामान्यता बनती है।

मूल पाठ

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थीवसंगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥
जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥

---

१. बौद्ध साधुओं के इस प्रकार के आचारशैथिल्य की प्रतिध्वनि थेरगाथा में अंकित है। वहाँ यह शंका भी व्यक्त की गयी है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्धशासन विनष्ट हो जाएगा। ये पापवासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसों जैसी खेल रही हैं। वासनाओं के वश होकर वे सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में यत्र-तत्र दौड़ लगा रहे हैं। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं और गृहस्थों से अधिकाधिक प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। देखिए थेरगाथा में उनके जीवन का कच्चा चिट्ठा—

भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिहो ।
गणिका व विभूसायं, इस्सरे खत्तिओ यथा ॥९३८॥
नेकतिका वंचनिका कूटसक्खा अपाटुका ।
बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे ॥९३९॥

अर्थात्—वे भिक्षु औषधों के विषय में वैद्यों की तरह हैं, काम-धाम में गृहस्थों की तरह हैं, विभूषा करने में गणिका की तरह हैं, ऐश्वर्य (प्रभुत्व) में क्षत्रियों की तरह हैं। वे धूर्त हैं, प्रवंचनिक हैं, ठग हैं, और असंयमी हैं। बहुत-से संस्कार किये हुए मांस का उपभोग करते हैं।

आगे उसी थेरगाथा (९४०-९४२) में कहा गया है कि वे भिक्षु लोभवश धनसंग्रह करते हैं, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते हैं, संघ के भीतर संघर्ष करते हैं तथा परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नहीं होते।

यह सारा शिथिलाचार सूत्रकृतांग (अ० ३, उ० ४, गा० ८) में उक्त पंच-पापों के आक्षेप की यथार्थता सूचित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥११॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१२॥
एवमेगे उ पासत्था मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥१३॥

संस्कृत छाया

एवमेके तु पार्श्वस्थाः प्रज्ञापयन्त्यनार्याः ।
स्त्रीवशंगता बालाः जिनशासनपराङ्मुखाः ॥९॥
यथा गण्डं पिटकं वा परिपीड्येत मुहूर्त्तकम् ।
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥१०॥
यथा मन्धादनो नाम स्तिमितं भुंक्ते दकम् ।
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥११॥
यथा विहंगमा पिंगा स्तिमितं भुंक्ते दकम् ।
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ? ॥१२॥
एवमेके तु पार्श्वस्थाः, मिथ्यादृष्ट्योऽनार्याः ।
अध्युपपन्नाः कामेषु, पूतना इव तरुणके ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**इत्थीवसंगया**) स्त्री के वश में रहने वाले (**बाला**) अज्ञानी (**जिणसासण-परम्मुहा**) जिनशासन (जैनधर्म) से पराङ्मुख (**अणारिया**) अनार्य (**एगेपासत्था**) कई पार्श्वस्थ या पाशस्थ (**एवं**) इस प्रकार (**पन्नवंति**) प्ररूपणा करते हैं।

(**जहा**) जैसे (**गंडं**) फुंसी (**पिलागं वा**) अथवा फोड़े को (**मुहुत्तगं**) मुहूर्त्तभर (**परिपीलेज्ज**) दबाकर मवाद निकाल देना चाहिए, इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) सहवास की प्रार्थना करने वाली स्त्रियों के साथ समागम कर लेना चाहिए। (**तत्थ**) इस कार्य में (**दोसो कओ सिया**) दोष कहाँ से हो सकता है ?

(**जहा**) जैसे (**मंधादए नाम**) भेड़ (**थिमिअं**) बिना हिलाये (**दगं**) पानी (**भुंजती**) पीती है, (**एवं**) इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्रियों के साथ समागम कर लिया जाय तो (**तत्थ**) इसमें (**दोसो कओ सिया**) कौन-सा दोष है ?

(**जहा**) जैसे (**पिंगा**) पिंगा नामक (**विहंगमा**) पक्षिणी (**थिमिअं**) बिना हिलाए (**दगं**) पानी (**भुंजती**) पी लेती है, (**एवं**) इसी तरह (**विन्नवणित्थीसु**) समागम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए प्रार्थना करने वाली स्त्रियों से समागम कर लिया जाय तो (**तत्थ**) उसमें (**कओ दोसो सिया**) कौन-सा दोष हो जाएगा ?

(**एवं**) पूर्वोक्तरूप से मैथुनसेवन को निर्दोष मानने वाले (**एगे उ**) कई (**पासत्था**) पार्श्वस्थ या पाशस्थ (**मिच्छदिट्ठी**) मिथ्यादृष्टि हैं, (**अणारिया**) अनार्य हैं। (**कामेहिं**) कामभोगों में वे (**अज्झोववन्ना**) अत्यन्त मूर्च्छित हैं। (**तरुणए पूयणा इव**) जैसे पूतना नामक डाकिनी बालकों पर आसक्त रहती है।

भावार्थ

स्त्रियों के वश में रहने वाले अज्ञानी जैनसिद्धान्तों से विमुख कई पार्श्वस्थ या पाशस्थ इस प्रकार (आगे कही जाने वाली बातों) की प्ररूपणा करते हैं।

वे अन्यतीर्थी कहते हैं—"जैसे फुंसी या फोड़े को दबाकर उसका मवाद निकाल देने से कुछ देर बाद ही पीड़ा शान्त हो जाती है, इसी प्रकार सहवास के लिए प्रार्थना करने वाली कामिनियों के साथ समागम से थोड़ी देर के बाद कामपीड़ा शान्त हो जाती है; अतः इस कार्य में क्या दोष है ?"

"जैसे भेड़ पानी को बिना हिलाये ही पी लेती है, ऐसा करने से किसी जीव का उपघात न होने से उसको कोई दोष नहीं होता है, इसी तरह रति-प्रार्थना करने वाली युवती स्त्री के साथ समागम करने से किसी को पीड़ा न होने के कारण उसमें कोई दोष कैसे हो सकता है ?"

कामासक्त अन्यतीर्थी कहते हैं—"जैसे पिंगा नाम की मादा पक्षी बिना हिलाये जल पी लेती है, किसी जीव को उसके जल पीने से कोई दुःख नहीं होता, वैसे ही अगर कोई तरुणी कामसेवन के लिए प्रार्थना करे तो उसके साथ समागम कर लेने से किसी जीव को भी दुःख नहीं होता और अपनी भी तृप्ति हो जाती है। भला, इस कार्य में क्या दोष हो सकता है ?"

पूर्वोक्त प्रकार से मैथुन-सेवन को निर्दोष मानने वाले व्यक्ति पार्श्वस्थ या पाशस्थ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अनार्य हैं। वे कामभोगों में ऐसे अत्यन्त आसक्त—मूर्च्छित हैं, जैसे पूतना नाम की डाकिनी छोटे बच्चों पर आसक्त रहती है।

व्याख्या

स्त्रीसेवन में दोष ही क्या ? : एक मिथ्यामान्यता

अब शास्त्रकार ९वीं गाथा से लेकर १३वीं गाथा तक एक विचित्र मान्यता का रहस्योद्घाटन करते हैं, जो उस युग में नीलवस्त्रधारी बौद्ध विशेष या नाथवादी मण्डल में रहने वाले शैवविशेष में प्रचलित थी, वह मान्यता थी—"रति-प्रार्थना करने वाली अंगना के साथ सम्पर्क करने में कोई दोष नहीं है।" शास्त्रकार ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामासक्त लोगों के लिए ५ विशेषण नौवीं गाथा में प्रयुक्त करते हैं—'**पासत्था, अणारिया, इत्थीवसंगया, बाला** और **जिणसासणपरम्मुहा**।' इन सबका अर्थ क्रमशः समझ लेना चाहिए।

पासत्था – **पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः**, जो मूल सम्प्रदाय या तीर्थ में न रहकर पार्श्व—यानी पड़ौसी सम्प्रदाय या तीर्थ में रहते हों, उन्हें पार्श्वस्थ कहा जाता है। यहाँ पार्श्वस्थों में आचार्य शीलांक ने बौद्धों को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ कुशीलसेवन तथा स्त्री-परीषह से पराजित रहते थे। इसलिए पासत्थ का एक रूप **पाशस्थ** भी होता है, यानी जो स्त्री आदि के मोहपाश में फँसे हुए हों। पार्श्वस्थ की अपेक्षा **पाशस्थ** अर्थ यहाँ अधिक संगत है।

अणारिया—अनार्य कर्म करने वाले अनार्य कहलाते हैं। इन पूर्वोक्त तथाकथित बौद्धों को ८वीं गाथा में हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में प्रवृत्त होने वाले बताया गया था। ये सभी कर्म अनार्य कर्म कहलाते हैं, इसलिए इन कर्मों के कर्त्ता तथाकथित बौद्धविशेषों को अनार्य कहा है।

इत्थीवसंगया[1]—जो युवती कामिनियों की गुलामी करते हों, उनके आज्ञावर्ती रहते हों, उनके इशारे पर नाचते हों, उन्हें स्त्रीवशंगत कहते हैं।

बाला—बाल अज्ञानी को कहते हैं। अध्यात्मशास्त्र में बाल वह है, जो बात-बात में राग, द्वेष, कषाय, मोह आदि से भड़क उठते हों, जो हिंसा आदि पापकर्म करने की नादानी करके अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हों, जो हिताहित के विचार से शून्य हों।

जिणसासणपरम्मुहा[2]—रागद्वेष-विजेता जिन कहलाते हैं। उनके शासन का अर्थ है—उनकी आज्ञा—कषाय, मोह, रागद्वेष को उपशान्त करने की आज्ञा, उससे जो पराङ्मुख—विमुख हैं, संसाराभिसक्त हैं एवं जैनमार्ग से द्वेष करने वाले हैं, वे

---

१. स्त्रियों के वे कितने अधिक चाटुकार थे, इसका नमूना उन्हीं के ग्रन्थ में देखिये—

प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ।
प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चेतसा ॥

—"मुझे प्रिया का दर्शन होना चाहिए, फिर अन्य दर्शनों से क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रिया के दर्शन से सरागचित्त के द्वारा भी निर्वाणसुख प्राप्त होता है।"

२. **भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।**
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

—इस प्रकार जिन शब्द यहाँ व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक है, जिसके रागादि विकार नष्ट हो गये हों, वे फिर किसी भी नाम से पुकारे जाते हों, वे नमस्करणीय—वन्दनीय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनशासन-पराङ्मुख कहलाते हैं। जिन शब्द यहाँ किसी व्यक्तिविशेष के अर्थ में नहीं है। जो भी राग-द्वेषविजेता हो, उसका नाम कुछ भी हो, वह जिन है।

इससे पूर्व की ८वीं गाथा में उल्लिखित प्राणातिपात आदि पाँच पापों में प्रवृत्त लोग भी इस गाथा में उक्त पाँच विशेषणों वाले हैं। यानी पूर्व गाथा से ये सम्बद्ध हैं। इस गाथा में पाँच विशेषणों से युक्त पार्श्वस्थ आदि के साथ जो **'एगे'** शब्द है, उसका अर्थ शीलांकाचार्य (वृत्तिकार) ने किया है—एके अर्थात् प्राणातिपात आदि में प्रवर्तमान रहने वाले कोई बौद्धविशेष नीलवस्त्रधारी[1] या नाथवादी मण्डल में प्रविष्ट होकर रहने वाले शैवविशेष, जो उत्तम अनुष्ठान से दूर रहने के कारण पार्श्वस्थ हैं या अवसन्न और कुशील आदि स्वयूथिक पार्श्वस्थ हैं।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे पार्श्वस्थ, अनार्य, स्त्रीवशंगत, बाल एवं जिनशासनविमुख साधक आगे की तीन गाथाओं (१०वीं, ११वीं एवं १२वीं) में तीन दृष्टान्त देते हैं। तीनों दृष्टान्तों द्वारा उन्होंने रतिप्रार्थना करने वाली कामिनी के साथ समागम करने को निर्दोष सिद्ध करने की कोशिश की है। वे तीनों दृष्टान्त क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—जैसे किसी के शरीर में फुंसी या फोड़ा हो जाता है तो उसकी पीड़ा को शान्त करने के लिए वह फोड़े-फुंसी को थोड़ी देर तक दबाकर उसका मवाद व दूषित रक्त निकाल देता है, जिससे थोड़ी देर में ही उसे सुख-शान्ति हो जाती है। ऐसा करने में कोई दोष नहीं माना जाता, वैसे ही कोई कामिनी अपनी कामपीड़ा शान्त करने के लिए समागम की प्रार्थना करती है, तो उस स्त्री के साथ समागम करके फोड़े आदि को फोड़कर शान्ति प्राप्त करने के समान कामपीड़ा शान्त करता है, तो इसमें क्या दोष हो सकता है? बलात्कार करना दोष है, किन्तु स्वतः सहवास-प्रार्थना करने वाली ललना के साथ समागम करके पीड़ा शान्त करने में कोई दोष नहीं हो सकता। यह किन्हीं अज्ञानियों का मत है।

२—समागम की प्रार्थना करने वाली किसी युवती के साथ समागम करने से यदि किसी को कोई पीड़ा होती तो अवश्य ही इस कार्य में दोष होता, परन्तु इस प्रवृत्ति में किसी को जरा भी पीड़ा नहीं होती। जैसे मन्थादन यानी भेड़ घुटनों को पानी में झुकाकर पानी को गंदा किये या हिलाये बिना ही स्थिरतापूर्वक धीरे-से

---

१. वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने यह मान्यता नीलवस्त्र वाले आदि बौद्धविशेषों की मानी है। बौद्धों में कौन-सा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, यह अज्ञात है। सम्भव है, कोई वज्रयान आदि बौद्धशाखा रही हो। जैसे—**"एके इति बौद्धविशेषाः नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः।"**

—सूत्रकृतांग वृत्ति १।३।४।९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुपचाप पानी पीकर अपनी तृप्ति कर लेती है। उसकी इस क्रिया से किसी जीव को पीड़ा नहीं होती, इसी तरह सम्भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने से किसी दूसरे जीव को कोई पीड़ा नहीं होती और स्वतृप्ति भी हो जाती है, इसलिए इस कार्य में भी कोई दोष कैसे हो सकता है? मतलब यह है कि जैसे भेड़ का दूसरे को पीड़ा न देते हुए जल पीना निर्दोष है, वैसे ही दूसरे को पीड़ा न देने वाला मैथुन एक-दूसरे का सुखोत्पादक मैथुन है, वह निर्दोष है। यह दूसरे अज्ञानी की मान्यता है।

३—इसी तरह तीसरे की मान्यता है कि जैसे कपिंजल नामक चिड़िया केवल अपनी चोंच के अग्रभाग के सिवाय, दूसरे अंगों द्वारा जलाशय के जल को स्पर्श न करती हुई, आकाश में उड़ती हुई, जल का पान कर लेती है। ऐसा करते समय वह न तो जल को हिला-डुलाकर कष्ट देती है, और न जलाश्रित किसी जीव को कष्ट देती है, इसलिए उसका जलपान निर्दोष है; वैसे ही किसी नारी द्वारा समागम की प्रार्थना करने पर कोई पुरुष राग-द्वेषरहित बुद्धि से उस स्त्री के शरीर को कुशा से ढककर उसके शरीर को न छूते हुए पुत्रोत्पत्ति के निमित्त से, (काम के निमित्त से नहीं) शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ऋतुकाल में समागम करता है तो उसमें उसको कोई जीवघातरूप दोष नहीं होता। उसका तथारूप मैथुनसेवन निर्दोष ही है। जैसा कि उनके धर्मशास्त्र में कहा है—

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेस्वधिकारिणः।
ऋतुकालं विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते ॥

अर्थात्—धर्मरक्षा के लिए, पुत्रोत्पत्ति के निमित्त, अपनी स्त्री में अधिकार रखने वाले पुरुष के लिए ऋतुकाल में स्त्री-समागम का शास्त्रीय विधान होने से इसमें कोई दोष नहीं है।

तीनों दृष्टान्तों में तथाकथित बौद्धों की उक्त तीनों मान्यताओं का मूलस्वर एक ही है। वह है—'रतिप्रार्थिनी स्त्री के साथ समागम निर्दोष है।' यही कारण है कि प्रत्येक दृष्टान्त के उपसंहार में गाथा में **'एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कओ सिआ ?'** इसी वाक्य को दुहराया गया है। किन्तु यह मान्यता भ्रान्त है। उक्त भ्रान्त मान्यता वालों द्वारा प्रयुक्त तीनों दृष्टान्तों का निर्युक्तिकार तीन गाथाओं से निराकरण करते हैं—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तूण कस्सइ मणुस्सो।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम तओ ण विप्पेज्जा ? ॥५३॥
जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ! ॥५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहा नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि घेत्तूणं ।
अच्छेज्ज पराहुतो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ? ॥५५॥

अर्थात्—जैसे कोई व्यक्ति तलवार से किसी का सिर काटकर कहीं चुपचाप पराङ्मुख होकर या छिपकर बैठ जाय, तो क्या इस प्रकार उदासीनता धारण कर लेने से उसे अपराधी मानकर पकड़ा नहीं जाता ? तथा कोई मनुष्य यदि जहर की घूँट पीकर चुपचाप रहे या उसे कोई देखे नहीं, तो क्या दूसरे के न देखने से वह विषपान का फल मृत्यु प्राप्त नहीं करेगा ? इसी तरह यदि कोई व्यक्ति किसी धनाढ्य के भण्डार से बहुमूल्य रत्नों को चुराकर पराङ्मुख हो छिपकर बैठ जाए तो क्या वह चोर समझकर पकड़ा नहीं जाएगा ?

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई मनुष्य दुष्टतापूर्वक या मूर्खतावश किसी का सिर काटकर, या विष पीकर या रत्न चुराकर मध्यस्थ वृत्ति धारण कर ले तो भी वह निर्दोष नहीं हो सकता। दोष या अपराध करने का विचार तो उसने उस अकृत्य के करने से पहले कर ही लिया था, फिर उस कुकृत्य को करने में प्रवृत्त हुआ, तब दोष-संलग्न हो गया और फिर उस दोष को छिपाने के लिए वह छिपकर या चुपचाप एक कोने में उदासीन होकर बैठ गया, यह भी दोष है, इसलिए दोष तो कुकार्य करने से पूर्व, करते समय और करने के पश्चात्—यों तीनों समय में है। फिर उसे निर्दोष कैसे कहा जा सकता है; उसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी स्त्री की मैथुनसेवन करने की प्रार्थना-मात्र से उस कुकृत्य में प्रवृत्त हो जाता है तो उस समय उसे रागभाव व मैथुन का विचार (जो कि पापरूप है) आये बिना न रहेगा, तत्पश्चात् मैथुन में प्रवृत्ति करते समय भी उसमें तीव्र रागभाव होना अवश्यम्भावी है। चाहे वह स्त्री के अंगों को स्पर्श करे या न करे, चाहे अन्य अंगों को ढक दे, फिर भी मन से तो तीव्र रागभाव के कारण कामोदय होगा ही। एक बार कामभोग का सेवन करने के बाद बार-बार उस स्त्री के साथ कामसेवन में प्रवृत्त होना सम्भव है। इस तरह पुनः-पुनः मैथुनसेवन, तीव्र रागभाव, स्त्री के प्रति मोह, उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-पोषण आदि मोहराजा का विषचक्र चलता रहेगा। इसीलिए मैथुनसेवन के विषय में महर्षियों ने अनेक दोष बतलाये हैं[1]—

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः ।
नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥

---

१. दशवैकालिकसूत्र में भी कहा है—

मूलमेयंमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंतिणं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलं चैतदधर्मस्य भव-भावप्रवर्धनम् ।
तस्माद् विषान्नवत् त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥

अर्थात्—शास्त्र में महर्षियों ने मैथुन को प्राणियों का विघातक बताया है। जैसे नली के भीतर तपे हुए अत्यन्त गर्म अग्निकणों को डालने से उसके अन्दर की चीजों का तत्काल नाश हो जाता है, वैसे ही मैथुनसेवन से स्त्री की योनि में स्थित सजीव शुक्राणुओं का नाश हो जाता है, आत्मिक शक्तियों का तो शीघ्र ही खात्मा हो जाता है। मैथुनसेवन अधर्म का मूल है, संसार (जन्म-मरणरूप) को बढ़ाने वाला है। अतः पाप की इच्छा न करने वाले पुरुष को विपाक्त अन्न की तरह इसका त्याग कर देना चाहिए।

अतः राग होने पर ही उत्पन्न होने वाले, समस्त दोषों के स्थान एवं संसार-वर्द्धक मैथुनसेवन फिर वह स्त्री-पुरुष की इच्छाजन्य हो या अनिच्छाजन्य हो, कथमपि निर्दोष नहीं हो सकता।

बच्चों पर आसक्त पूतना की तरह ये कामासक्त अनार्य !

तेरहवीं गाथा में पूर्वोक्त रतिप्रार्थिनी स्त्रीसहवास की घोरअनर्थकर एवं भ्रान्तमान्यता वाले तथाकथित मतवादी कैसे हैं? इसे बताते हैं—**'एवमेगे उ पासत्था पूयणा इव तरुणए।'**[1] आशय यह है कि फोड़े को फोड़कर उसका

---

१. शीलांकाचार्य का संकेत बौद्धविशेषों के प्रति है, जो नीलवस्त्रधारी आदि होते थे। क्योंकि सूत्रकृतांगसूत्र में ही आगे शाक्य (बौद्धविशेष) साधुओं के लिए इस प्रकार का दुर्ध्यान करने का उल्लेख किया है। निम्नोक्त गाथाएँ प्रमाण के लिए प्रस्तुत हैं—

ते अ बीओदगं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्ना असमाहिया ॥ सूत्र० ११।२६
मणुण्णं भोयणं भुज्जे..... ...।
मंसनिवति कार्ड सेवइ दंतिवकगंति धगिमेया ।
इय च चइउणारभं, परववएसा कुणइ बालो ॥ सू० ११।२७-२८

इसका अर्थ शीलांकाचार्य ने इस प्रकार किया है—"वे शाक्य आदि सचित्त जलपान, बीज (सचित्त) तथा उद्दिष्ट भोजन करके आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म के अवेदज्ञ तथा असमाधिवान हैं। शाक्यभिक्षु मनोज्ञ आहार, वसति, शय्या, आसन आदि राग के कारणों का ध्यान करते हैं—उपभोग करते हैं। संज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं। जैसे ढंक, कंक, कुलल, मंगु आदि पक्षी मत्स्य-गवेषणा के लिए कलुषतायुक्त ध्यान करते हैं, वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्यसाधु दुष्टध्यान करते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मवाद बाहर निकालने के समान जो तथाकथित मतवादी मैथुनसेवन को निरवद्य—निर्दोष मानते हैं, वे स्त्रीपरीषह से हारे हुए हैं, शुभ अनुष्ठानों से कोसों दूर हैं, उनकी दृष्टि विपरीत है, वस्तुस्वरूप को ग्रहण करने वाली नहीं है। वे समस्त पापकर्मों में लिप्त होने के कारण अनार्य हैं तथा इस प्रकार की आध्यात्मिक जगत् से सर्वथा विपरीत मिथ्यामान्यता को मानने और उसकी प्ररूपणा करने वाले व्यक्ति कामभोगों में इतने तीव्र आसक्त हैं, जितनी पूतना नामक डाकिनी बच्चों पर आसक्त रहती है। जैसे पूतना डाकिनी को रात-दिन स्तनपान करने वाले बच्चों के बिना चैन नहीं पड़ती, वैसे ही इन इच्छारूप एवं मदनरूप कामों में आसक्त काम के कीड़ों को भी बिलकुल चैन नहीं पड़ती।

अथवा पूतना भेड़ का नाम है, वह अपने बच्चों पर अत्यधिक आसक्त रहती है इसी तरह वे आर्य कामभोगों अत्यासक्त रहते हैं। इस विषय में एक कहानी भी प्रसिद्ध है—

पशुओं में से किसमें अपनी सन्तान के प्रति अधिक स्नेह होता है ? इसकी परीक्षा करने का एक बार एक व्यक्ति ने बीड़ा उठाया। उसने सब पशुओं के बच्चे किसी जलरहित कुँए में रख दिये। अतः और तो सब बच्चों की माताएँ अपने-अपने बच्चों की रोने-चिल्लाने की आवाज सुनकर उस कुँए के किनारे खड़ी-खड़ी रोने लगीं। किन्तु भेड़ अपने बच्चों के प्रेम में अंधी होकर मृत्यु की परवाह न करके कुँए में कूद पड़ी। अतः परीक्षक ने निश्चय कर लिया कि समस्त पशुओं में से भेड़ का अपने बच्चों के प्रति अधिक स्नेह होता है। इसी तरह पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यता वालों का कामभोग में अत्यधिक मोह होता है।

अगली गाथा में उन कामासक्त पुरुषों की मनोवृत्ति और उसके परिणाम के विषय में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउंमि जोव्वणे ॥१४॥

संस्कृत छाया

अनागतमपश्यन्तः प्रत्युत्पन्नगवेषकाः ।
ते पश्चात् परितप्यन्ते क्षीणे आयुषि यौवने ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**अणागयमपस्संता**) भविष्य में होने वाले दुःख को न देखते हुए (**पच्चुप्पन्नगवेसगा**) जो लोग वर्तमान सुख की खोज में रत रहते हैं, (**ते**) वे (**पच्छा**) पीछे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**आउंमि जोव्वणे खीणे**) आयु और युवावस्था के क्षीण होने पर (**परितप्पंति**) पश्चात्ताप करते हैं।

भावार्थ

असत्कर्म के करने से भविष्य में मिलने वाले दुःखों को न देखते हुए जो लोग केवल वर्तमान सुख की खोज में लगे रहते हैं, वे जवानी बीत जाने पर और आयुष्य क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

व्याख्या

दुष्कर्मी लोग पछताते हैं ? क्यों और कब ?

जो लोग पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर कामासक्त रहते हैं, हिंसा, झूठ, व्यभिचार, चोरी, परिग्रह आदि पापकर्मों में या अन्य प्रपंचों में रात-दिन लगे रहते हैं। वे उन दुष्कर्मों को करते समय भविष्य में उनके कारण नरकादि में मिलने वाली यातनाओं का कोई विचार नहीं करते, उनकी दृष्टि केवल वर्तमान सुख, ऐश-आराम, विषयभोगों के मनमाने सेवन आदि पर ही टिकी रहती है। उन क्षणिक सुखोपभोगों के आवेश में वे अपने भविष्य का कोई विचार नहीं करते, न अपनी अनमोल जिन्दगी की कोई परवाह करते हैं। किन्तु जब यौवन ढल जाता है, बुढ़ापा आकर झाँकने लगता है, मृत्युदूत सिरहाने आकर खड़े हो जाते हैं, सारा शरीर जर्जर हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, आँख, कान, जीभ, नाक आदि इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं, कोई न कोई बीमारी आकर घर दबोचती है, तब उनको जिन्दगी का खयाल आता है और वे पछताते हैं—"हाय ! हमने अपनी अमूल्य जिंदगी यों ही बेकार खो दी। कुछ भी धर्माचरण नहीं किया। संसार की मोहमाया में उलझे रहे। साधक का वेष पहनकर जनता को धोखा देते रहे, जनता में धर्मात्मा कहलाते रहे।" वे इस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं—

हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम्।
यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः॥

अर्थात्—मैंने मनुष्य-जन्म पाकर अच्छी बातों को नहीं अपनाया, सदाचरण नहीं किया। यों मुट्ठियों से आकाश को पीटता रहा और चावलों का भुस्सा कूटता रहा।

विहवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं।
वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति॥

अर्थात्—वैभव के नशे में, यौवन के मद में, जो कार्य नहीं करने चाहिए, वे किये, किन्तु जब उम्र ढल जाती है और वे अकृत्य याद आते हैं, तब मनुष्य के हृदय में काँटे-से खटकने लगते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष यह है कि उन कामासक्त जीवों को समय रहते चेत जाना चाहिए, जिससे बाद में पछताना न पड़े।

मूल पाठ

जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का नावकंखंति जीविअं ॥१५॥

संस्कृत छाया

यैः काले पराक्रान्तं, न पश्चात् परितप्यन्ते ।
ते धीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**जेहिं**) जिन साधकों ने (**काले**) धर्मोपार्जनकाल में (**परक्कंतं**) धर्माचरण में पुरुषार्थ किया है, (**ते**) वे (**पच्छा**) बाद में—यौवन बीत जाने पर (**न परितप्पए**) पश्चात्ताप नहीं करते हैं। (**बंधणुम्मुक्का**) बन्धन से छूटे हुए (**ते धीरा**) वे धीर पुरुष (**जीविअं**) असंयमी जीवन की (**नावकंखंति**) इच्छा नहीं करते हैं।

भावार्थ

धर्मोपार्जन के समय में जिन पुरुषों ने धर्मोपार्जन किया है, वे वृद्धावस्था (पिछली उम्र) में पश्चात्ताप नहीं करते। बन्धन से उन्मुक्त वे धीर पुरुष असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते।

व्याख्या

समय पर चेतने वाले साधक बाद में पछताते नहीं

पूर्व गाथा में बताया है कि भविष्य का विचार न करके केवल वर्तमान सुखों में ही रमण करने वाले लोग आयु क्षीण होने पर पछताते हैं और इस गाथा में इसके विपरीत जो समय रहते सावधान होकर धर्मोपार्जन करते हैं, वे बाद में पछताते नहीं, यह बताया गया है।

आशय यह है कि जो साधक उत्तम पराक्रमी होने के कारण पहले से ही तप, संयम आदि का आचरण करते हैं, उन्हें यौवन ढल जाने पर और बुढ़ापा आने पर कभी पश्चात्ताप नहीं होता। वे मृत्युकाल के समय या वृद्धावस्था में क्यों पश्चात्ताप करेंगे, जिन साधकों ने धर्मोपार्जनकाल में आत्महितसम्पादन के लिए इन्द्रियविषयों और कषायों पर विजय करने में खूब पुरुषार्थ किया है।

काले परक्कंतं—काल—समय पर पराक्रम करने वाला। यद्यपि जो पुरुष विवेकसम्पन्न हैं, उनके लिए प्रायः सभी समय धर्मोपार्जन का काल है; क्योंकि उनके लिए धर्मोपार्जन ही मुख्य पुरुषार्थ है। वे जो भी प्रवृत्ति करेंगे, उसमें धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर ही करेंगे। इसलिए विवेकी साधकों का एक भी क्षण धर्मरहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जाता। वे धर्मरूप प्रधान पुरुषार्थ में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं।

जिन साधकों का समय धर्मपुरुषार्थ में व्यतीत होता है, वे धर्म में इतने अभ्यस्त होते हैं कि विघ्नबाधाएँ या विपत्तियाँ आने पर भी वे धर्माचरण छोड़ते नहीं, बल्कि परीषह और उपसर्ग को भी धीरतापूर्वक सहन करते हैं। क्योंकि वे बाल्यकाल से ही विषयभोगों का संसर्ग न करते हुए तपस्या में प्रवृत्त रह चुके हैं, इसलिए कर्मविदारण करने में समर्थ धीर हैं। चाहे कितने ही संकट में पड़े हों, अथवा उनके सामने स्नेहबन्धन में फँसाने के कितने ही अनुकूल उपसर्ग हों, किन्तु स्नेहबन्धन से उन्मुक्त वे साधक असंयमी जीवन की कदापि इच्छा नहीं करते। अथवा वे जीवन-मरण में निःस्पृह रहकर संयमानुष्ठान में दत्तचित्त रहते हैं। यही बात शास्त्रकार ने गाथा के उत्तरार्ध में कह दी है—**'ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं।'**

मूल पाठ

जहा नई वेयरणी दुत्तरा इह संमता ।
एवं लोगंसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया ॥१६॥

संस्कृत छाया

यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता ।
एवं लोके नार्य्यो दुस्तरा अमतिमता ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**इह**) इस लोक में (**वेयरणी नई**) वैतरणी नदी (**दुत्तरा संमता**) दुस्तर मानी गयी है, (**एवं**) इसी तरह (**लोगंसि**) लोक में (**नारीओ**) स्त्रियाँ (**अमईमया**) अविवेकी मनुष्य द्वारा (**दुरुत्तरा**) दुस्तर मानी गयी हैं।

भावार्थ

जैसे इस लोक में अत्यन्त वेग वाली वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त दुष्कर माना गया है, वैसे ही इस संसार में कामिनियाँ अविवेकी साधक पुरुष के लिए अत्यन्त दुस्तर मानी गयी हैं।

व्याख्या

अविवेकी साधक के लिए स्त्रीपरीषह दुर्लंघ्य

इस गाथा में एक अनुकूल उपसर्ग—स्त्रीपरीषह को साधक के लिए पार करना दुष्कर बताया है—**'एवं लोगंसि नारीओ दुरुत्तरा अमईमया।'**

वास्तव में मोक्षार्थी साधक के लिए स्त्रीमोहरूप उपसर्ग पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। बड़े-बड़े पहुँचे हुए साधक भी स्त्रीमोह पर विजय पाने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लड़खड़ा जाते हैं। वे चाहे संग्राम में बहुत ही बहादुरी दिखा सकते हों, परन्तु स्त्री के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते हैं। कामिनियाँ हावभाव, कटाक्ष, भ्रूभंग, अंगन्यास आदि के द्वारा कच्चे साधक के मन को विचलित कर देती हैं। नीतिकार कहते हैं—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम् ।
लज्जां तावद् विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।।
भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते ।
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ।।

अर्थात्—पुरुष सन्मार्ग पर तभी तक टिकता है, और इन्द्रियों पर भी तभी तक अपना प्रभुत्व रखता है, तथा लज्जा भी तभी तक करता है, एवं विनय भी तभी तक रखता है, जब तक लीलावती स्त्रियों के द्वारा भ्रूकुटिरूपी धनुष को कान तक खींचकर चलाये हुए नीलपक्ष वाले दृष्टिबाण उस पर नहीं गिरे हैं।

इसीलिए शास्त्रकार इस बात को एक दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे इस लोक में वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त कठिन माना जाता है, वैसे ही जो अविवेकी (असावधान या गाफिल) साधक है, उसके लिए नारी (नारी-मोहरूप) के उपसर्ग नद का पार करना अत्यन्त दुष्कर है, अत्यन्त दुस्तर है।

मूल पाठ

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

संस्कृत छाया

यैर्नारीणां संयोगाः पूजना पृष्ठतः कृता ।
सर्वमेतन्निराकृत्य ते स्थिताः सुसमाधिना ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**जेहिं**) जिन पुरुषों ने (**नारीणं संजोगा**) स्त्रियों का संसर्ग (**पूयणा**) कामशृंगार की ओर (**पिट्ठतो कता**) पीठ फेर ली है, मुख मोड़ लिया है, (**ते**) वे साधक (**एयं सव्वं निराकिच्चा**) समस्त उपसर्गों का निराकरण—उन्हें पराजित करके (**सुसमाहिए ठिया**) प्रसन्नचित्त होकर रहते हैं।

भावार्थ

जिन साधकों ने स्त्री-संसर्ग और कामशृङ्गार से मुख मोड़ लिया है, वे समस्त उपसर्गों को जीतकर उत्तम समाधि में लीन रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

स्त्रीसंसर्ग विमुख : सर्व-उपसर्ग विजेता

जिन साधकों ने स्त्रीसंसर्ग को अनर्थकर तथा परिणाम में कटुफल देने वाला समझकर तिलांजलि दे दी है, तथा कामोत्तेजक वस्त्र, अलंकार, पुष्पमाला, सुगन्धित पदार्थ आदि कामशृङ्गारों का भी त्याग कर दिया है, वे क्षुधा, पिपासा, अरति, स्त्रीचर्या आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को मिनटों में जीत लेते हैं। इतना ही नहीं, उपसर्गों के आने पर भी वे उनको अपने पर हावी नहीं होने देते, न अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों के समय क्षुब्ध होते हैं और न ही धर्माचरण का त्याग करते हैं। वे साधक प्रसन्नतापूर्वक सुसमाधि में स्थिर रहते हैं। इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**'जेहिं नारीण·····ठिआ सुसमाहिए।'** जो कामभोगासक्त एवं स्त्रीसंसर्ग आदि परीषहों एवं उपसर्गों से पराजित हो जाते हैं, वे आग पर पड़ी हुई मछली की तरह राग की आग में जलते-तड़पते हुए अशान्तिपूर्वक रहते हैं।

मूल पाठ

एए ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

संस्कृत छाया

एते ओघं तरिष्यन्ति समुद्रं व्यवहारिणः ।
यत्र प्राणा विषण्णाः कृत्यन्ते स्वकर्मणा ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**एए**) अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को जीतने वाले ये पूर्वोक्त पुरुष (**ओघं**) संसार को (**तरिस्संति**) पार करेंगे (**समुद्दं ववहारिणो**) जैसे समुद्र के आश्रय से व्यापार करने वाले वणिक् समुद्र को पार करते हैं। (**जत्थ**) जिस संसार में (**विसन्नासि**) पड़े हुए (**पाणा**) प्राणी (**सयकम्मुणा**) अपने-अपने कर्मों से (**किच्चंती**) पीड़ित किये जाते हैं।

भावार्थ

अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को जीतकर महापुरुषों द्वारा आचरित मार्ग का अनुसरण करने वाले धीर साधक, जिस संसारसागर में पड़े हुए प्राणी अपने कर्मों के प्रभाव से नाना प्रकार की पीड़ा पाते हैं, उस संसारसागर को पार करेंगे, जिस तरह समुद्रयात्रा करके दूसरे पार जाकर व्यापार करने वाले वणिक् समुद्र आदि को पार कर लेते हैं।

व्याख्या

उपसर्ग-विजेता साधक ही संसारसागर-पारगामी होता है

इस गाथा में बताया गया है कि अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को जीतने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि संसारसागर पार कर लेते हैं। कैसे ? इसी को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—
'एए ओघं तरिस्संति समुद्दं ववहारिणो।'

आशय यह है कि जैसे सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की छाती पर अपनी माल से लदी जहाजें चलाकर लवणसमुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही मोक्षयात्री साधक भी भावरूपी ओघ—संसारसागर को संयम या धर्मरूपी जहाज के द्वारा पार कर लेंगे।

परन्तु जो लोग स्त्रीसंसर्ग के कारण संसारसागर में पड़े हुए हैं, वे जीव अपने किये हुए असातावेदनीय के उदयरूप पापकर्मों के प्रभाव से दुःख भोगते हैं।

मूल पाठ

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ॥१६॥

संस्कृत छाया

तच्च भिक्षुः परिज्ञाय सुव्रतः समितश्चरेत् ।
मृषावादञ्च वर्जयेत्, अदत्तादानं च व्युत्सृजेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू**) साधु (**तं च परिण्णाय**) पूर्वोक्त बातों को जानकर (**सुव्वते**) उत्तम व्रतों से युक्त तथा (**समिते**) पंचसमितियों से युक्त रहकर (**चरे**) विचरण करे। (**मुसावायं च वज्जिज्जा**) मृषावाद को छोड़ दे (**अदिन्नादाणं च वोसिरे**) और अदत्तादान का त्याग कर दे।

भावार्थ

पूर्वोक्त गाथाओं में जो बातें (अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग के सम्बन्ध में) कही गयी हैं, उन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मृषावाद एवं अदत्तादान के त्याग के साथ ही उत्तम सुव्रती एवं समितियुक्त साधक उपसर्गों की गुलामी या पराजितता का त्याग करे।

व्याख्या

उपसर्गविजयी साधु कौन, क्या करे ?

पहले कहा जा चुका है कि "स्त्रियाँ वैतरणी की तरह दुस्तर हैं, अतः जो स्त्रीसंसर्ग का त्याग कर देते हैं, वे संसारसागर को पार कर लेते हैं, किन्तु जो स्त्रीसंसर्गी हैं, वे स्वकर्मों से पीड़ित किये जाते हैं।" इन सब बातों को सुव्रती और पंचसमितिधर साधु भलीभाँति जानकर- अर्थात् स्त्रीसंसर्ग को त्याग करने योग्य तथा संयम को अपनाने योग्य समझकर संयम का अनुष्ठान करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुव्वते समिते चरे—यहाँ साधु के मूलगुणों और उत्तरगुणों, दोनों का पालन--आचरण करना बताकर शास्त्रकार ने जिन व्रतों में साधक फिसल जाता है, उनके विषय में संकेत किया है—**मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे।** अर्थात् वह साधक मृषावाद और अदत्तादान दोनों से अच्छी तरह दूर रहे। इन दोनों से दूर रहेगा तथा महाव्रतों और समितियों का पालन भलीभाँति करेगा, तभी वह साधक उपसर्गों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन्हें छोड़ेगा, अर्थात् आने वाले उपसर्गों के वश में नहीं होगा, उन्हें जीत लेगा। यहाँ बीच में '**च**' शब्द पड़ा है, उससे मैथुनविरमण महाव्रत तथा अपरिग्रह महाव्रत का भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् साधु अपना कल्याण समझकर पंच महाव्रतों एवं समितियों के पालन में दत्तचित्त रहे।

मूल पाठ

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥२०॥

संस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्य्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**उड्ढं**) ऊर्ध्व—ऊपर, (**अहे**) नीचे तथा (**तिरियं**) तिरछे (**जे केई तसथावरा**) जो कोई भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, (**सव्वत्थ**) सर्वकाल में (**विरतिं**) उनकी हिंसा से विरति-निवृत्ति (**कुज्जा**) करनी चाहिए। (**संति निव्वाणं**) ऐसा करने से शान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति (**आहियं**) कही गई है।

भावार्थ

ऊपर, नीचे अथवा तिरछे लोक में जो त्रस या स्थावर जीव निवास करते हैं, उनकी हिंसा से सर्वदा निवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से साधक को परमशान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति होती है, ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है।

व्याख्या

सर्वत्र सर्वदा अहिंसा पालन से ही निर्वाणप्राप्ति

पूर्वगाथा में मृषावाद, अदत्तादान और उपलक्षण से मैथुन तथा परिग्रह से विरति की प्रेरणा दी गई थी, इस गाथा में शास्त्रकार हिंसात्याग की प्रेरणा दे रहे हैं—'**उड्ढमहे····संति निव्वाणमाहियं।**'

आशय यह है कि ऊपर के क्षेत्र में हो, या नीचे के क्षेत्र में हो, या तिरछे क्षेत्र में हो, जो भी जीव हो, उसकी हिंसा से साधक को निवृत्त होना चाहिए। यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उड्ढं अहे वा तिरियं शब्द क्षेत्र का सूचक है। संसार में मुख्यतया दो प्रकार के प्राणी होते हैं—त्रस और स्थावर। जो प्राणी स्वयं चलते-फिरते स्थूल आँखों से दिखाई देते हैं—अथवा जो भय पाते हैं, वे त्रस हैं। और जो प्राणी चलते-फिरते नहीं, किन्तु सदा स्थित रहते हैं तथा एक ही इन्द्रिय—स्पर्शेन्द्रिय से युक्त सुषुप्त चेतना वाले हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। त्रस द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक हैं। उनमें से पंचेन्द्रिय जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प, फिर देवता, नारक और तिर्यञ्च भी हैं, तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक, गर्भज और सम्मूर्च्छिम, आदि भेद भी होते हैं। स्थावर प्राणियों के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये ५ भेद हैं, फिर इनके सूक्ष्म-बादर, पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये भेद भी होते हैं। यहाँ त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध करके द्रव्यप्राणातिपात का ग्रहण किया गया है। तथा '**सव्वत्थ**' शब्द से सर्वकाल में अर्थात् सभी अवस्थाओं में किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए, यह कहकर काल और भाव के भेद से युक्त प्राणातिपात का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार १४ ही जीवस्थानों में तीन करण और तीन योग (करना-कराना-अनुमोदन, तथा मन-वचन-काया) से प्राणातिपात से निवृत्त हो जाना चाहिए।

'**संतिनिव्वाणमाहियं**' पूर्वगाथा तथा इस गाथा के द्वारा प्राणातिपातविरति आदि पाँचों मूलगुणों—महाव्रतों तथा समिति आदि उत्तरगुणों का फल नाम लेकर बताने के लिए शास्त्रकार इस गाथा के चौथे चरण में कहते हैं कि शान्ति ही निर्वाणपद कहा गया है। शान्ति का अर्थ है—कर्मरूपी दाह का उपशमन—शान्त हो जाना। वह समस्त दुःखों की निवृत्तिस्वरूप है। अतः चरणकरण (मूलगुण—उत्तरगुण) का आचरण करने वाले साधक को वह शान्तिरूपी निर्वाणपद की प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसा कहा गया है।

मूल पाठ

[1]इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥
संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥२२॥

॥त्ति बेमि॥

---

१. ये दोनों गाथाएँ इसी अध्ययन के तीसरे उद्देशक की समाप्ति में दी गयी हैं। अतः ये दोनों दुबारा ज्यों की त्यों यहाँ प्रस्तुत की गयी हैं। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

इमं च धर्ममादाय, कासवेण प्रवेदितम् ।
कुर्यात् भिक्षुर्ग्लानस्याग्लानतया समाहितः ॥२१॥
संख्याय पेशलं धर्मं, दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२२॥

॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**कासवेण पवेइयं**) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीरस्वामी द्वारा कहे गये (**इमं च धम्ममादाय**) इस धर्म को स्वीकार करके (**समाहिए**) समाधियुक्त (**भिक्खू**) साधु (**अगिलाए**) अग्लानभाव से (**गिलाणस्स**) रुग्ण साधु की (**कुज्जा**) सेवा करे।

(**दिट्ठिमं**) सम्यग्दृष्टि (**परिनिव्वुडे**) रागद्वेषादि से निवृत्त—शान्त साधु (**पेसलं धम्मं संखाय**) मुक्ति प्रदान करने में कुशल इस धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर (**उवसग्गे**) समस्त उपसर्गों पर (**नियामित्ता**) नियंत्रण—विजय प्राप्त करके या समभावपूर्वक सहन करके (**आमोक्खाय**) मोक्षप्राप्ति तक (**परिव्वए**) संयम का अनुष्ठान करे।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित इस मोक्ष-प्राप्ति-कुशल धर्म को स्वीकार करके समाधियुक्त रहता हुआ अग्लानभाव से रुग्ण (ग्लान) साधु की सेवा करे।

सम्यग्दृष्टि शान्त साधक को मोक्ष प्रदान करने में कुशल इस धर्म को अच्छी तरह जानकर उपसर्गों को सहन करता हुआ मोक्षप्राप्तिपर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

व्याख्या

उपसर्गों पर विजय, धर्माचरण : मोक्षप्राप्ति तक

तीसरे अध्ययन की समाप्ति में शास्त्रकार ने इन दो गाथाओं की पुनरावृत्ति करके भी मोक्षप्राप्तिपर्यन्त उपसर्गों पर विजय एवं धर्म का भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण करके धर्माचरण की बात कूट-कूट कर भर दी है। २१वीं गाथा में पूर्ववत् दुर्गति में गिरते हुए जीव को धारण करने वाले श्रुतचारित्ररूप या मूल-उत्तरगुणरूप धर्म को आचार्य आदि के उपदेश से ग्रहण—स्वीकार करके अग्लानसाधु प्रसन्नचित्त से स्वयं को कृतकृत्य एवं धन्य मानता हुआ रोगी साधु की सेवा करे। ऐसा करते समय परीषह-उपसर्गों से न घबराए। उत्पन्न केवल-दिव्यज्ञान भव्यजीवोद्धारक भगवान् महावीर स्वामी ने इस धर्म को कहा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी बुद्धि से या दूसरे से सुनकर मोक्ष प्रदान करने में अनुकूल इस श्रुत-चारित्रधर्म को सुन-समझकर सम्यग्दृष्टि, शान्त या मुक्ततुल्य साधक मोक्षप्राप्ति-पर्यन्त संयम का आचरण भलीभाँति करे।

'इति' शब्द समाप्ति अर्थ में है। 'ब्रवीमि' का अर्थ भी पूर्ववत् है।

इस प्रकार तृतीय अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ सूत्रकृतांगसूत्र का तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्ययन : स्त्रीपरिज्ञा

तृतीय अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है, अब चतुर्थ अध्ययन प्रारम्भ हो रहा है। तीसरे अध्ययन के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध यह है कि पूर्व अध्ययन में अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किया गया है, उसमें यह बताया गया था कि अनुकूल उपसर्ग प्रायः दुःसह होते हैं और उन उपसर्गों में भी स्त्रीकृत उपसर्ग अत्यन्त दुस्तर होता है। अतः चतुर्थ अध्ययन में स्त्रीकृत उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने के लिए उपदेश दिया गया है। इसी सन्दर्भ में इस अध्ययन—**स्त्रीपरिज्ञा** के उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार होते हैं। उपक्रम में अर्थाधिकार यहाँ दो प्रकार का होना सम्भव है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार।

चतुर्थ अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

अध्ययन-अर्थाधिकार तो यहाँ स्पष्ट है। इस स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन में बताया गया है कि साधुओं पर किस-किस प्रकार से स्त्रीजन्य-उपसर्ग आता है? साधु जब किसी स्त्री के अधीन (गुलाम) हो जाता है, तब स्त्री उस साधु के सिर पर पाद-प्रहार करती, रूठ जाती है, कभी उसे अपने पैरों को रचाने, कमर दबवाने, अन्न-वस्त्र लाने, तिलक और अंजन लाने तथा पंखा झलने का आदेश देती है। कभी बच्चे के खेलने के लिए खिलौने लाने तथा उसे गोद में लेकर खिलाने का आदेश देती है। कभी कपड़े धुलवाती है, कभी पानी भरवाती है, इत्यादि विविध पहलुओं से स्त्रीजन्य उपसर्गों का वर्णन किया गया है। अध्ययन-अर्थाधिकार के सम्बन्ध में निर्युक्तिकार ने प्रथम अध्ययन की प्रस्तावना में '**थीदोसविवज्जणा चेव**' इस गाथा के द्वारा पहले ही बता दिया है।

उद्देशार्थाधिकार इस प्रकार है—इस अध्ययन में दो उद्देशक हैं। इनके अर्थाधिकार के सम्बन्ध में निर्युक्ति गाथाएँ इस प्रकार हैं—

पढमे संथव-संलवमाइहि खलणा उ होति सीलस्स।
बितिए इहेव खलियस्स अवत्थाकम्मबंधो य ॥५८॥
सूरा मो मन्नंता कइतवियाहि उवहिप्पाहाणाहि।
गहिया हु अभय-पज्जोय-कूलवालादिणो बहवे ॥५९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तम्हा ण उ वीसंभो गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसु ।
पढमुद्देसे भणिया जे दोसा ते गणंतेणं ॥६०॥
सुसमत्थाऽवऽसमत्था कीरंती अप्पसत्तिया पुरिसा ।
दीसंती सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥६१॥
धम्मंमि जो दढा मई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ।
ण हु धम्मणिरुस्साहो पुरिमो सूरो सुबलिओऽवि ॥६२॥
एते चेव य दोसा पुरिससमाएवि इत्थीयाणंपि ।
तम्हा उ अप्पमाओ विरागमग्गंमि तासिं तु ॥६३॥

प्रथम उद्देशक में स्त्रीजन्य-उपसर्ग के सिलसिले में यह बताया गया है कि स्त्रियों के साथ संसर्ग रखने, उनके साथ चारित्रनाशक बातें करने से, स्त्रियों के कामोत्तेजक अंगोपांगों को विकारभाव से देखने आदि से अल्पपराक्रमी साधक का शील (चारित्र) भंग हो जाता है। कभी वाचिक रूप से तो कभी मानसिक रूप से और प्रसंगवश कायिक रूप से भी वह शीलभ्रष्ट हो जाता है। संयमपालन में शिथिल होकर दीक्षा तक को छोड़ बैठता है।

द्वितीय उद्देशक में यह बताया है कि शीलभ्रष्ट साधु को इसी जन्म में स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे तिरस्कार आदि दुःखों के प्रसंग आते हैं? शीलभंग से हुए अशुभकर्मबन्ध के कारण अगले जन्मों में उसे दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। स्त्रियां बड़े-बड़े बुद्धिमानों, शूरवीरों और तपस्वियों को कैसे शीलभ्रष्ट करके अपने वश में कर लेती हैं? इसके सम्बन्ध में अत्यन्त बुद्धिमान अभयकुमार का, प्रचण्ड शूरवीर चन्द्रप्रद्योत का, महान् तपस्वी कूलबाल का दृष्टान्त देकर समझाया है कि ये तीनों कृत्रिमभाव वाली तथा कपट की खान कामिनियों के द्वारा कैसे वश में किये जा चुके हैं। कई तो स्त्रियों के द्वारा कपट से राज्यभ्रष्ट, शीलभ्रष्ट एवं तपोभ्रष्ट किये गये हैं। कई शीलभ्रष्ट किये जाकर इसी जन्म में तिरस्कृत, अपमानित एवं पददलित हुए हैं।

इसलिए स्त्रियों को सुगतिमार्ग की अर्गला—विघ्नकारिणी, कपट से भरी हुई, पुरुष को ठगने में अतिनिपुण जानकर विवेकी साधक को उनका कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि प्रथम उद्देशक में जो स्त्रियों के दूषण बताये हैं तथा उसी सन्दर्भ में द्वितीय उद्देशक में जो दोष शीलभ्रष्टता के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हें बताकर विचारशील साधक को मार्गदर्शन दिया है कि स्त्रियों को कपटराशि की मूर्ति समझकर स्वपर-हितैषी साधक को सहसा उनके विश्वास में नहीं बह जाना चाहिए।

शत्रुसैन्य को जीतने आदि में अत्यन्त समर्थ पुरुषों को भी स्त्रियों ने पलभर में अपने नेत्रों के कटाक्ष से ही वशीभूत करके डरपोक और असमर्थ बना दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे बहादुर आदमी भी अल्पपराक्रमी बनकर स्त्रियों की खुशामद करते हुए अशक्त बना दिये जाते हैं। अपने को शूरवीर मानने वाले पुरुष भी स्त्री के वश में होकर दीन होते देखे गये हैं। इसलिए साधक को स्त्रियों पर सहसा विश्वास कर लेना खतरे से खाली नहीं है। कहा भी है—

को वीससेज्ज तासिं कतिवयभरियाण दुव्वियड्ढाणं ! ।
खणरत्तविरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥
अण्णं भणंति पुरओ अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ ।
अन्नं तासिं हियए जं च खमं ते करिंति पुणो ॥
महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखंडं च सक्करा चेव ।
सा पुण विरत्तमित्ता णिंबंकूरे विसेसेइ ॥
असयारंभाण तहा सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं ।
परलोगवेरियाणं कारणयं चेव इत्थीओ ॥
अहवा को जुवईणं जाणइ चरियं सहावकुडिलाणं ।
दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥
मूलं दुच्चरियाणं हवइ उ णरयस्स वत्तणी विउला ।
मोक्खस्स महाविग्घं वज्जेयव्वा सया णारी ॥
धण्णा ते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ ।
पव्वइया कयनियमा सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥

अर्थात्—कपट से भरी हुई और दुःख से समझाने योग्य तथा क्षणमात्र में अनुराग करने वाली और क्षणभर में विरक्त होने वाली स्त्रियों पर कौन विश्वास कर सकता है? पूर्वोक्त दुर्गुणों से भरे हुए स्त्रीहृदय को धिक्कार है! स्त्रियाँ सामने कुछ और कहती हैं, दूसरे के पास कुछ और करती हैं। उनके हृदय में कुछ और बात होती है, किन्तु मन में जो ठानती हैं, वही करती हैं। अनुरक्त होने पर स्त्री गन्ने या शक्कर की तरह मीठी होती है, किन्तु विरक्त होने पर वही स्त्री नीम के अंकुर से भी अधिक कड़वी हो जाती है। लोक में निन्दा के योग्य तथा परलोक में शत्रु के समान जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबकी कारण स्त्रियाँ हैं। अथवा स्वभाव से ही कुटिल युवतियों के चरित्र को कौन जान सकता है, क्योंकि दोषों का भण्डार कामदेव उनके शरीर में वास करता है। स्त्रियाँ दुष्टआचरण की मूल हैं, नरक की विशाल राजमार्ग हैं, मोक्ष जाने में महाविघ्नकारिणी हैं तथा स्त्रियाँ सदैव त्याज्य हैं। वे श्रेष्ठपुरुष धन्य हैं, जो अपनी सुन्दरी स्त्री को छोड़कर दीक्षा धारण करके यम-नियम का पालन करके अचल अनुत्तर कल्याणस्थान मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं।

शूरवीर वही है, जिसकी बुद्धि श्रुतचारित्रधर्म में निश्चल है, तथा जो इन्द्रियों और मनरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पुरुष धर्माचरण करने में उत्साही नहीं है, इसलिए शुभ अनुष्ठान में उद्यम नहीं करता, तथा सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग से भ्रष्ट होता है, वह चाहे कितना ही बलवान् हो, उसे शूरवीर नहीं कहा जा सकता।

स्त्रियों के सम्बन्ध से पुरुष में उत्पन्न होने वाले जितने दोष बताये गये हैं, उतने ही पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री में भी उत्पन्न होते हैं। इसी से निर्युक्तिकार कहते हैं—ये (पूर्वोक्त शीलनाश आदि) सभी दोष, उतने ही (कम-ज्यादा नहीं) पुरुषों के सम्बन्ध से स्त्रियों में उत्पन्न होते हैं। अतः दीक्षा धारण की हुई साध्वियों को भी पुरुषों के साथ परिचय आदि के त्याग में अप्रमत्त रहना ही श्रेयस्कर है। इस अध्ययन में स्त्री के संसर्ग से पुरुष में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम '**पुरुषपरिज्ञा**' न रखकर '**स्त्रीपरिज्ञा**' रखा गया है। उसका कारण है, अधिकतर दोष स्त्री-सम्पर्क से ही पैदा होते हैं।

निक्षेप की दृष्टि से स्त्री के विभिन्न अर्थ

इस अध्ययन का नाम स्त्रीपरिज्ञा है। इसमें स्त्री शब्द के नाम और स्थापना निक्षेप को छोड़कर द्रव्य आदि निक्षेप पर विचार करते हैं—द्रव्यस्त्री दो प्रकार की है—आगम (ज्ञान) से और नोआगम से। जो पुरुष स्त्रीपदार्थ को जानता है, परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता, वह द्रव्य-स्त्री है, क्योंकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार हैं—एक है एक-भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्रीभव को प्राप्त करने वाला है), दूसरी है—बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बाँध ली है), तथा तीसरी है—अभिमुखनामगोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनामगोत्र अभिमुख हो)।

इसके अतिरिक्त चिह्नस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री ये भी स्त्री अर्थ के द्योतक हैं। जो चिह्नमात्र से स्त्री है अथवा स्त्री के स्तन आदि अंगोपांग तथा स्त्री की तरह की पोशाक आदि का धारण करना, अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, ऐसा छद्मस्थ या केवली अथवा अन्य कोई जीव जो स्त्री का वेष धारण करता है, वह चिह्नस्त्री है। पुरुष भोगने की इच्छारूप स्त्रीवेद के उदय को वेदस्त्री कहते हैं। जो कहा जाता है, उसे अभिलाप कहते हैं। स्त्रीलिंग को कहने वाला शब्द अभिलापस्त्री है। जैसे माला, मैना, सीता, गीता आदि शब्द।

भावस्त्री दो प्रकार की है आगम से और नोआगम से। जो जीव स्त्री-पदार्थ को जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है, वह आगम से भावस्त्री है। नोआगम से भावस्त्री वह है, जो स्त्रीवेदरूप वस्तु में उपयोग रखता है, क्योंकि उपयोग उस जीव से भिन्न नहीं होता। जैसे अग्नि में उपयोग रखने वाला बालक भी अग्नि कहलाता है। अथवा स्त्रीवेद को उत्पन्न करने वाले उदयप्राप्त जो कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, उनमें जो उपयोग रखता है, अर्थात् स्त्रीवेदनीय कर्मों को जो अनुभव करता है, वह नोआगम से भावस्त्री है। यह स्त्री शब्द का निक्षेप है।

स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के निक्षेपदृष्टि से अर्थ

स्त्री के विपक्षभूत पुरुष के भी निक्षेपदृष्टि से विभिन्न अर्थ समझ लेने चाहिए। संज्ञा को नाम कहते हैं। जो संज्ञामात्र से पुरुष है, वह नामपुरुष है। लकड़ी आदि की बनायी हुई पुरुषाकृति स्थापनापुरुष है। द्रव्यपुरुष ज्ञशरीर, भव्य-शरीर और तद्व्यतिरिक्त नोआगम से तीन प्रकार का है—एकभविक, बद्धायुष्क एवं अभिमुखनामगोत्र।

अथवा द्रव्य (धन) में जिसका मन अत्यन्त आसक्त है, उस द्रव्यप्रधान पुरुष को द्रव्यपुरुष कहते हैं। जैसे—मम्मण वणिक् इत्यादि। क्षेत्रपुरुष वह है, जो जिस क्षेत्र में जन्मा है, जैसे सौराष्ट्र देश में जन्मा हुआ पुरुष सौराष्ट्रिक कहलाता है। अथवा जिसको जिस क्षेत्र के आश्रय से पुरुषत्व प्राप्त होता है, वह उस क्षेत्र का क्षेत्रपुरुष है। जो जितने काल तक पुरुषवेदनीय कर्मों को भोगता है, वह कालपुरुष कहलाता है। जिसके पुरुषचिह्न (प्रजननलिंग) हो, वह प्रजननपुरुष है। अनुष्ठान को कर्म कहते है, जिसमें कर्म प्रधान है, उसे कर्मपुरुष कहते हैं। भोगप्रधान पुरुष को भोगपुरुष (चक्रवर्ती आदि) कहते हैं। धैर्य आदि गुणप्रधान पुरुष को गुणपुरुष कहते हैं। भावपुरुष वह है, जो पुरुषवेदनीय कर्मों को अनुभव कर रहा है। इस प्रकार पुरुष के दश निक्षेप होते हैं।

प्रथम उद्देशक : स्त्रीसंसर्ग से शीलनाश

जैसा कि प्रथम उद्देशक के अर्थाधिकार में बताया गया है कि स्त्रियों के साथ अतिसंसर्ग रखने से तथा चारित्रविघातक बातें करने आदि से शीलनाश कैसे-कैसे हो जाता है? इसी सन्दर्भ में प्राप्त प्रसंगानुसार इस उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

जे मायरं च पियरं च विप्पजहाय पुव्वसंजोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥
सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा ।
उव्वायंपि ताउ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे॥२॥

संस्कृत छाया

यः मातरं च पितरं च, विप्रहाय पूर्वसंयोगम् ।
एकः सहितश्चरिष्यामि आरतमैथुनो विविक्तेषु ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्मेण तं परिक्रम्य छद्मपदेन स्त्रियो मन्दाः ।
उपायमपि ताः जानन्ति यथा श्लिष्यन्ति भिक्षव एके ।।२।।

अन्वयार्थ

(**जे**) जो पुरुष इस विचार से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं (**मायरं पियरं**) माता-पिता तथा (**पुव्वसंजोगं**) पूर्वसम्बन्ध को (**विप्पजहाय**) छोड़कर (**आरतमेहुणो**) एवं मैथुनरहित होकर तथा (**एगे सहिए**) अकेले ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त रहता हुआ (**विवित्तेसु**) स्त्री, पशु और नपुंसकरहित स्थानों में (**चरिस्सामि**) विचरण करूँगा।

(**मंदा इत्थिओ**) अविवेकिनी स्त्रियाँ (**सुहुमेणं**) छल से (**तं परिक्कम्म**) साधु के पास आकर (**छन्नपएण**) गूढार्थ वाले शब्द से या कपट से साधु को शील-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। (**ताउ उव्वायंपि जाणंसु**) स्त्रियाँ वह उपाय भी जानती हैं, (**जहा एगे भिक्खुणो लिस्संति**) जिससे कोई साधु उनके साथ संग कर ले।

भावार्थ

जो व्यक्ति इस आशय से दीक्षा अंगीकार करता है कि मैं माता-पिता तथा समस्त पूर्वसम्बन्धों का परित्याग करके एवं मैथुन से दूर रहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र (रत्नत्रय) का पालन करता हुआ अकेला स्त्रीपशुनपुंसक-रहित एकान्त, शान्त, पवित्र स्थानों में विचरण करूँगा।...

अविवेकिनी स्त्रियाँ किसी छल से उस साधु के निकट आकर कपट से अथवा गूढ़ अर्थ वाले शब्दों द्वारा साधु को शील से भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। वे यह उपाय भी जानती हैं, जिससे कोई साधु उनका संग कर लें।

व्याख्या

दीक्षा के समय साधक का संकल्प

इस गाथा में स्त्रीपरिज्ञा के सम्बन्ध में साधक को अपनी दीक्षा के समय के संकल्प का स्मरण कराया गया है—'**जे मायरं·····विवित्तेसु।**'

पूर्व अध्ययन की अन्तिम गाथा के साथ इस अध्ययन की पहली गाथा का सम्बन्ध यह है कि पूर्व अध्ययन की अन्तिम गाथा में कहा गया था—'**आमोक्खाय परिव्वए**' अर्थात् मोक्षप्राप्तिपर्यन्त दीक्षा का पालन करे। और मोक्ष तभी और उसी को प्राप्त हो सकता है, जब मोह का त्याग हो। इसलिए इस अध्ययन में मोह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। मोह में सर्वशिरोमणि है—स्त्रीजन्य मोह। अतः इसी सिलसिले में सबसे प्रथम गाथा में साधु को दीक्षा-बेला में ली हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराया गया है कि कोई उत्तम साधु जब दीक्षा ग्रहण करता है, तब माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री तथा सास-ससुर आदि सम्बन्धियों के जितने भी पिछले सम्बन्ध थे, उन्हें छोड़कर माता-पिता आदि सम्बन्धों से रहित अकेला अथवा कषायरहित एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न अथवा स्वहित यानी परमार्थ का अनुष्ठान करने वाला होकर ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि "मैं संयम का पालन करूँगा।" यह प्रतिज्ञा ही सर्वप्रधान है। उसी प्रतिज्ञा का एक अंश इस प्रकार है कि "कामवासना से बिलकुल निवृत्त होने के कारण मैं स्त्री-पशु-नपुंसकरहित पवित्र स्थानों में विचरण करूँगा।"

इस प्रतिज्ञांश को स्मरण कराने का हेतु यह है कि जब साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा ले लेता है, तब वह ऐसे स्थान में, ऐसे वातावरण में रात्रिनिवास नहीं कर सकता, जहाँ स्त्री रहती हो। तथा ऐसी गली, मोहल्ले में भी वह चल-फिर नहीं सकता, जहाँ दुश्चरित्र स्त्रियाँ रहती हों, और न ही सिर्फ स्त्रियों या अकेली एक स्त्री के पास बैठ सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यरक्षा की नौ गुप्तियाँ स्त्रीजन्य उपसर्ग को जीतने के सम्बन्ध में हैं। अतः इस प्रतिज्ञा को स्मरण कराने का आशय भी यही है कि साधु अपनी दीक्षाग्रहण के समय की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण करके स्त्रीजन्य उपसर्ग से अपने आप को सुरक्षित रख सके। किन्तु ऐसे पवित्र, शान्त, स्त्री-पशु-नपुंसकरहित एकान्त स्थान में भी साधु के समक्ष अविवेकी स्त्रियों द्वारा कैसे-कैसे उपसर्ग किये जाते हैं? यह अगली गाथाओं में शास्त्रकार क्रमशः बताते हैं—

अविवेकी स्त्रियों द्वारा साधु को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न

इस गाथा में स्त्रीजन्य उपसर्ग का एक पहलू दिया गया है। शास्त्रकार ने साधु को अविवेकिनी स्त्रियों द्वारा शीलभ्रष्ट करने की एक झाँकी प्रस्तुत की है। कई अविवेकिनी रमणियाँ किसी दूसरे कार्य के बहाने से शीलवान साधु के पास आकर बैठ जाती हैं अथवा इधर-उधर के पुराने गार्हस्थ्य या दाम्पत्य-संस्मरण याद दिलाकर साधक को शीलभ्रष्ट कर देती हैं या शीलभ्रष्ट होने योग्य बना देती हैं। जैसे नानाप्रकार के छल-कपट करने में निपुण, अनेक प्रकार कामविलासों को पैदा करने वाली, काम-वासना की प्रबलता के कारण हिताहित-विचारशून्य मूढ़ मागध वेश्या आदि रमणियों ने कूलबालुक आदि तपस्वियों को शीलभ्रष्ट कर डाला था। इसी तरह रमणियाँ साधु को शीलभ्रष्ट कर डालती हैं। तात्पर्य यह है कि कई कामुक स्त्रियाँ भाई, पुत्र आदि के बहाने से साधु के पास आकर धीरे-धीरे उसे संयम से पतित कर देती हैं। किसी अनुभवी ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पियपुत्तभाइकिडगा, णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य ।
एते जोव्वणकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं ॥

अर्थात्—प्रिय पुत्र, भाई, प्रिय नाती, तथा किसी स्वजन आदि संसारी सम्बन्ध के बहाने से गुप्त पति बना लेना तो स्त्रियों की नीति है।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सुहुमेणं तं परिक्कम्म ।'**

छन्नपएण—उन कामिनियों का साधु को शीलभ्रष्ट करने का दूसरा तरीका गूढ़ अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग से फँसाने का है। इस प्रकार का कोई श्लोक, कविता या भजन बनाकर वे साधु के पास आकर सुनाती हैं, जिससे उस श्लोक, कविता या भजन आदि में उक्त कामिनी का मनोभाव झलक सके। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ऐसा गुप्त अर्थ वाला एक श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु ।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे ! ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों की योजना करने से **'कामेमि ते'** (मैं तुम्हें चाहती हूँ) यह वाक्य बनता है। अथवा गुप्त नाम के द्वारा या गूढ़ार्थक मधुर वार्तालाप करके वे अपना जाल रचती हैं। स्त्रियां यह कामजाल कैसे बिछाती हैं, और साधु कैसे फँस जाता है? इसके सम्बन्ध में उत्तरार्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**'उव्वायंपि ताउ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो ।'** वे चालाक स्त्रियाँ साधु को अपने कामजाल में फँसाने के अनेक तरीके जानती हैं, जिससे भोलेभाले साधक भी वेदमोहनीय कर्मोदयवश उनके कपटजाल में फँसकर उन स्त्रियों में आसक्त हो जाते हैं।

वे चालाक स्त्रियाँ शीलवान् और सावधान साधक को भी किस प्रकार मोहित कर लेती हैं, यह अगली गाथा में शास्त्रकार बताते हैं—

मूल पाठ

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहेवि दंसंति, बाहूं उद्धट्टु कक्खमणुव्वज्जे ॥३॥

संस्कृत छाया

पार्श्वे भृशं निषीदन्ति, अभीक्ष्णं पोषवस्त्रं परिदधति ।
कायमधोऽपि दर्शयन्ति, बाहुमुद्धृत्य कक्षमनुव्रजेयुः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**पासे**) साधु के पास (**भिसं णिसीयंति**) बहुत अधिक बैठती हैं, (**अभिक्खणं**) बार-बार (**पोसवत्थं**) सुन्दर कामोत्पादक वस्त्रों को ढीला होने का बहाना बनाकर (**परिहिंति**) पहनती हैं। (**कायं अहेवि दंसंति**) शरीर के निचले भाग (गुप्तांग) को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी काम-उद्दीपित करने के लिए साधु को दिखलाती हैं (**बाहू उद्धट्टु**) तथा भुजा ऊँची करके (**कक्खमणुव्वज्जे**) कांख दिखाती हुई साधु के सामने से जाती हैं।

भावार्थ

स्त्रियाँ साधु को कामजाल में फँसाने के लिए उसके निकट अत्यन्त (बहुत देर तक या बहुत सटकर) बैठती हैं और कामपोषक सुन्दर बारीक वस्त्र को ढीला होने का बहाना बनाकर या अपने अंग से फिसल जाने के बहाने बार-बार पहनती हैं। तथा वे अपने जंघा आदि निचले भागों (गुप्तांगों) को भी दिखाती हैं। कभी बांहें ऊँची करके अपने कांख दिखाती हुई साधु के सामने से जाती हैं।

व्याख्या

स्त्रियों द्वारा कामजाल में फँसाने के लिए अंग प्रदर्शन

मायावती स्त्रियाँ साधु को अपने चंगुल में फँसाकर शीलभ्रष्ट करने के लिए जो मोहक तरीके अपनाती हैं, उसे शास्त्रकार इस गाथा में बताते हैं। यहाँ सर्वत्र लिङ्लकार सम्भावना अर्थ में है। अर्थात् साधु के सामने कामुक स्त्रियों द्वारा शीलभ्रष्ट करने के ये उपाय अजमाये जा सकते हैं। कई स्त्रियाँ तो बहुत देर-देर तक साधु के पास बैठ जाया करती हैं, या बहुत ही निकट सटकर बैठ जाती हैं। वे पास बैठकर धीरे-धीरे अपना मोहक जाल बिछाती हैं। साधु के प्रति स्नेह प्रगट करती हुई मीठी-मीठी बातें बनाकर विश्वास पैदा करने हेतु वे उसके अत्यन्त निकट आकर बैठ जाती हैं। अथवा एकान्त में कोई बात कहने के लिए बैठ जाती हैं।

कभी-कभी वे कामवृद्धिकारक बारीक सुन्दर कपड़ों को बार-बार सिर से नीचे उतर जाने, फिसल जाने या ढीले हो जाने के बहाने से बार-बार ऊपर करती हैं, बाँधती हैं या पहनती हैं। वे साधु को अपनी कामेच्छा प्रकट करने के लिए प्रायः ऐसा करती हैं। फिर साधु के मन में कामवासना भड़काने के लिए वे जांघ, आदि नीचे के गुप्त अंगों को दिखाती हैं। कभी-कभी अपनी बांहें ऊँची उठाकर काँख दिखलाती हुई साधु के सामने से होकर जाती हैं; ताकि उसके पुष्ट शरीर, लचकीली कमर, एवं मांसल भुजा को देखकर साधु में कामवासना जाग जाय। निष्कर्ष यह है कि साधु को मोहित करने के लिए स्त्रियाँ इस प्रकार के विविध तरीके अपनाती हैं।

मूल पाठ

सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति।
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

शयनासनेन योग्येन स्त्रिय एकदा निमंत्रयन्ति ।
एतानि चैव स जानीयात् पाशान् विरूपरूपान् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**एगता**) किसी समय (**इत्थिओ**) चालाक स्त्रियाँ (**जोगेहिं**) उपभोग करने योग्य (**सयणासणेहिं**) पलंग, शय्या, आसन आदि का उपभोग करने के लिए (**णिमंतंति**) साधु को एकान्त में आमंत्रित करती हैं। (**से**) वह साधु (**एयाणि**) इन सब बातों को (**विरूवरूवाणि**) नाना प्रकार के (**पासाणि**) पाशबन्धन—कामजाल में फँसाने बन्धन (**जाणे**) समझे।

भावार्थ

कभी-कभी चालाक स्त्रियाँ साधु को उपभोग्य सुन्दर पलंग, शय्या, आसन आदि पर बैठने के लिए एकान्त में आमंत्रित करती हैं, मनुहार करती हैं। लेकिन विवेकी साधु इन सब बातों को कामजाल में फँसाने के नाना प्रकार के बन्धन समझे।

व्याख्या

एकान्त में भोग्य पदार्थों की मनुहार : कामपाश के बन्धन

साधु कभी कभी इतना बहक जाता है कि उसे होश ही नहीं रहता कि अमुक महिला द्वारा इतनी भक्ति क्यों की जा रही है ? वह भक्ति के बहाने वाग्जाल में फँसकर उसके आमंत्रण पर उसके घर पर या एकान्त में चला जाता है, फिर वह धूर्त नारी साधु को एकान्त में मौका देखकर कामजाल में फँसाने हेतु कहती है—महात्मन् ! इस पलंग पर, इस गद्दे पर या शय्या पर विराजिए। इसमें कोई सजीव वस्तु नहीं है, प्रासुक है। अच्छा, और कुछ नहीं तो कम से कम इस कुर्सी पर या आरामकुर्सी पर जरा बैठ जाइए। इतनी दूर से चलकर पधारे हैं, जरा इस गलीचे पर बैठकर सुस्ता लीजिए।

इस प्रकार चालाक रमणियाँ शयन (शय्या पलंग आदि), आसन (गलीचा, कुर्सी आदि) इत्यादि का उपभोग करने की प्रार्थना करती हैं। परन्तु परमार्थदर्शी, ज्ञेय बातों का ज्ञाता, अनुभवी साधक इन शयन, आसन आदि की प्रार्थना—मनुहार को स्त्री के मोहपाश में फँसाने वाले बन्धन समझे। साधु उन प्रलोभनों को स्त्रियों का छलावा समझकर उन स्त्रियों के संग से दूर रहे। कई बार चालाक स्त्रियों की अतीव सेवाभक्ति के प्रलोभनों के कारण उनका संग दुस्त्यज्य होता है, लेकिन विवेकी साधु इन लुभावने फंदों से अपने को बचाए।

मूल पाठ

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोवि य साहसं समभिजाणे ।
णो सहियंपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

न तासु चक्षुः संदध्यात्, नाऽपि च साहसं समभिजानीयात् ।
न सहितोऽपि विहरेद्, एवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥५॥

अन्वयार्थ

(**तासु**) उन स्त्रियों पर टकटकी लगाकर (**चक्खु नो संधेज्जा**) आँख न लगाए, न गड़ाए, आँख से आँख न मिलाए। (**नोवि य साहसं समभिजाणे**) उनके साथ कुकर्म करने की सम्मति—स्वीकृति भी न दे। (**सहियंपि नो विहरेज्जा**) उनके साथ ग्राम-नगर आदि में विहार न करे, (**एव**) इस प्रकार (**अप्पा सुरक्खिओ होइ**) साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

भावार्थ

साधु स्त्रियों पर अपनी दृष्टि न गड़ावे, न टकटकी लगाकर देखे या आँख से आँख न मिलाए तथा उनके साथ कुकर्म करने का साहस न करे, न ही कुकर्म करने की स्वीकृति दे। उनके साथ ग्राम आदि में विहार न करे, इस प्रकार साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

व्याख्या

स्त्रियों के वशीभूत न होने के नुस्खे

इस गाथा में उन बातों का निषेध साधु के लिए किया गया है, जो उसके शील को भ्रष्ट कर देती हैं। और खास तौर से स्त्रीजन्य उपसर्ग हैं। ऐसे अनुकूल उपसर्गों में कभी तो स्त्री स्वयं किसी चीज का प्रलोभन देती है, कुकर्म में प्रवृत्त करती है, कभी साधु उसे देखकर स्वयं शील से डिगने लगता है। ऐसी लड़खड़ाती अवस्था से साधु को कौन उबार सकता है? उसकी आत्मा की कौन रक्षा कर सकता है? शास्त्रकार कहते हैं—'**एवमप्पा सुरक्खिओ होइ**।' अर्थात् ये और इनके समान अन्य कई प्रकार के कामोत्तेजक या शीलनाशक कामजाल हैं, जिनसे साधु को स्वयं बचना चाहिए। आशय यह है कि साधु स्त्रियों द्वारा की जाने वाली पूर्वोक्त प्रार्थनाओं को मोहपाश समझे, ऐसी स्त्रियों पर अपनी दृष्टि न दे, या उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिलावे। प्रयोजनवश यदि उनकी ओर देखना पड़े तो क्या करे? इसके लिए कहा है—

कार्येऽपीक्षेत मतिमान् निरीक्षते योषिदंगमस्थिरया।
अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥

अर्थात् काम पड़ने पर बुद्धिमान् स्त्री के अंग की ओर जरा-सी अस्थिर, अस्निग्ध, रूखी एवं अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे, ताकि अकुपित होते हुए भी बाहर से कुपित-सा प्रतीत हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी युवती की प्रार्थना पर साधु उसके साथ कुकर्म करना हर्गिज स्वीकार न करे। कारण, नरकगमन आदि कुशीलसेवन के परिणामों का ज्ञाता साधु यह भलीभाँति समझ ले कि स्त्री के साथ संसर्ग करना संग्राम में उतरने के समान अति-साहस का कार्य है।

साधु स्त्रियों के साथ ग्रामानुग्राम विहार न करे, न उनके साथ एकान्त में बैठे। स्त्रियों की एकान्त संगति करना साधु के लिए लोकापवाद, निन्द्य एवं पाप-जनक है। कहा भी है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसाऽप्यत्र मुह्यति ॥

अर्थात्—माँ, बहन एवं पुत्री के साथ भी एकान्त स्थान में नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं, बड़े-बड़े विद्वानों को भी अकार्य में प्रवृत्त कर देती हैं।

इस प्रकार स्त्रीसंसर्गों को हर हालत में टालने से और आत्मभावों में रमण करने से आत्मा सुरक्षित हो जाता है। स्त्रीसंसर्ग समस्त अनर्थों का कारण है, यह जानकर आत्महितैषी साधक को इसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

मूल पाठ

आमंतिय उस्सविया भिक्खुं आयसा निमंतंति।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

संस्कृत छाया

आमंत्र्य उच्छ्राय्य भिक्षुमात्मना निमंत्रयन्ति।
एतांश्चैव स जानीयात् शब्दान् विरूपरूपान् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**आमंतिय**) स्त्रियाँ साधु को संकेत देकर अर्थात् मैं आपके पास अमुक समय आऊँगी, इत्यादि प्रकार से आमंत्रण देकर (**उस्सविया**) तथा अनेक प्रकार के वार्तालापों से विश्वास देकर (**भिक्खुं**) साधु को (**आयसा**) अपने साथ सम्भोग करने या भोग भोगने के लिए (**निमंतंति**) आमंत्रित—प्रार्थना करती हैं। अतः (**से**) वह (**एयाणि सद्दाणि**) स्त्री सम्बन्धी इन शब्दों—बातों को (**विरूवरूवाणि जाणे**) नाना-प्रकार के पाशबन्धन समझे।

भावार्थ

स्त्रियाँ साधु को संकेत देती हैं, कि 'मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी,' तथा विविध प्रकार की इधर-उधर की बातों से साधु को विश्वास दिलाती हैं। इसके पश्चात् वे अपने साथ सम्भोग करने के लिए साधु को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमंत्रित करती हैं, प्रार्थना करती हैं। अतः विवेकी साधु स्त्री सम्बन्धी इन शब्दों—बातों को नाना प्रकार के पाशबन्धन समझे।

व्याख्या

स्त्रियों के मधुर शब्दों को मोहबन्धन माने

इस गाथा में स्त्रीजन्य उपसर्ग का दूसरे पहलू से चित्रण किया गया है। स्त्रियाँ किसी पुरुष को अपने वाग्जाल में कैसे फँसा लेती हैं ? इसे शास्त्रकार बहुत ही नपे-तुले शब्दों में कहते हैं—'**आमंतिय ··· विरूवरूवाणि।**'

आशय यह है कि कामिनियाँ स्वभाव से अकार्य करने को सहसा उद्यत रहती हैं। वे पहले साधु को इशारा करती हैं या वचन देती हैं कि "मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी। आप भी वहाँ तैयार रहना।" इस प्रकार का आमंत्रण देकर, फिर इधर-उधर के अनेक विश्वसनीय वचनों से वे साधु को विश्वास दिलाती हैं, ताकि वह संकोच छोड़ दे। वे साधु का भय मिटाने के लिए झूठ-मूठ कहती हैं—"मैं अपने पति से पूछकर आपके पास आयी हूँ। अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर एवं उन्हें सुलाकर यहाँ आयी हूँ। आप मेरे पर विश्वास कीजिए और मेरे पति की शंका छोड़कर निर्भय एवं निश्चिन्त होकर मेरे साथ समागम कीजिए। निःसंकोच होकर यह कार्य कीजिए। मेरा यह शरीर, हृदय, ये आभूषण, यह धन वगैरह सब आपका है। इस शरीर को आप चाहें जिस कार्य में लगाएँ, आनन्द लूटें। मेरा शरीर आदि सब आपके चरणों में समर्पित है। मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ, मुझे अंकशायिनी बनाइए।" यों विविध वाग्जाल बिछाकर स्त्रियाँ साधु को विश्वस्त करके अपने साथ सम्भोग के लिए प्रार्थना करती हैं। नाना प्रकार के प्रलोभन के सब्जबाग दिखाती हैं। परन्तु परमार्थ को जानने वाला साधु स्त्री सम्बन्धी इन नाना शब्दादि विषयों को पाशस्वरूप समझे, क्योंकि निश्चय ही ये स्त्री सम्बन्धी शब्दादि विषय दुर्गतिगमन के कारण हैं, मोक्षमार्ग में अर्गला हैं। इनका परिणाम अत्यन्त बुरा है, यह जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से इन्हें त्याग दे।

मूल पाठ

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

संस्कृत छाया

मनोबन्धनैरनेकैः करुणविनीतमुपश्लिष्य ।
अथ मंजुलानि भाषन्ते, आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभिः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**णेगेहिं मणबंधणेहिं**) अनेक प्रकार के चित्ताकर्षक मनोहारी उपायों के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**कलुणविणीयमुवगसित्ताणं**) तथा करुणोत्पादक वाक्यों और विनीतभाव से साधु के पास आकर (**अदु मंजुलाइं भासंति**) वे रमणियाँ मधुर-मधुर भाषण करती हैं, (**भिन्नकहाहिं आणवयंति**) और कामसम्बन्धी वार्तालाप के द्वारा साधु को अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा देती हैं।

भावार्थ

चालाक नारियाँ साधु के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार के मनोहारी उपाय आजमाती हैं। कभी वे करुणाजनक वाक्य बोलकर अनुनय-विनय करती हुई साधु के पास आती हैं। कभी साधु के पास आकर मधुर-मधुर बातें करती हैं। वे कामोत्तेजक वार्तालाप के द्वारा साधु को अपने साथ सम्भोग करने की आज्ञा दे देती हैं।

व्याख्या

चालाक स्त्रियों के द्वारा साधु को आकर्षित करने के उपाय

इस गाथा में भी यह बताया गया है कि चालाक स्त्रियाँ किस प्रकार साधु को विविध मधुर उपायों से अपने साथ समागम के लिए मना लेती हैं, यहाँ तक कि अपना गुलाम बनाकर उसे समागम के लिए मजबूर कर देती हैं—'**मणबंधणेहिं णेगेहिं**।' अर्थात् सर्वप्रथम वे चतुर नारियाँ मन को कामपाश में बाँध देने वाले विविध आकर्षणकारी दृश्यों, संगीतों, रसों, सुगन्धियों एवं कोमल गुदगुदाने वाले स्पर्शों से लुभाकर अपनी ओर खींचती हैं। इसके लिए वे मधुर-मधुर वचन कहती हैं, आकर्षक शब्दों से सम्बोधित करती हैं, उस साधक की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष फैंककर अथवा आँखें या मुँह मटकाकर देखती हैं, कभी अपने स्तन, नाभि, कमर, जंघा आदि अंगों को दिखाती हैं, कभी मनोहर हावभाव, अभिनय या अंग-विन्यास करती हैं, जिससे कि साधु उन पर मोहित हो जाय। कभी वे करुणा पैदा करने वाले मधुर आलाप करती हैं—"हे नाथ! हे प्रिय! हे कान्त! हे स्वामी! हे दयित! हे जीवनाधार! हे प्राणप्यारे! आप मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय हैं। मैं तो आपके जीने से जीती हूँ, आप ही मेरे शरीर के मालिक हैं। मुझे आपने बहुत रुलाया, बहुत प्रतीक्षा करायी। अब तो बहुत हो चुकी। अब इन्कार करोगे तो मैं यहीं प्राण दे दूंगी। आपको मेरी सौगन्ध है। आप मुझे नहीं अपनाओगे तो मैं मर जाऊँगी। आपको नारीहत्या का पाप लगेगा। बस अब तो मुझे अपने चरणों की चेरी बना लें। मैं आपकी दासी बनकर आपकी हर तरह से सेवा करूँगी। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। निश्चिंत होकर सहवास करें।" इत्यादि करुणाजनक, विश्वासोत्पादक मधुर वचनों से साधक के हृदय में आकर्षण पैदा करके कामवासना भड़का देती हैं। कभी वे साधु के पास आकर अनुनय-विनय करती हैं और साधु के हृदय में काम का प्रबल ज्वर उत्पन्न कर देती हैं। कभी मधुर वचनों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहती हैं—"प्रिय ! अब तो मान जाइये न ! आप रूठिए मत। आप रूठेंगे तो मैं भी रूठ जाऊँगी।" कभी वे मन्द हास्य करती हैं—"नाथ ! अब तो आपको मैं जाने न दूँगी। आप मुझे निराधार छोड़कर कहाँ जाएँगे ?" कभी एकान्त में कामवासना भड़काने वाली बातों से साधु के चित्त में विकृति पैदा कर देती हैं। इस प्रकार साधु को किसी प्रकार मोहित एवं वशीभूत करके वे स्त्रियाँ उसकी दुर्बलता को जानकर उसे गुलाम बना लेती हैं। फिर तो उसे इतना बाध्य कर देती हैं कि उसे मजबूर होकर उक्त कामिनियों के कहे अनुसार सहवास आदि करना पड़ता है।

वे चतुर स्त्रियाँ किस प्रकार साधु को अपने मोहपाश में बाँध लेती हैं ? इसे आगामी गाथा में कहते हैं—

मूल पाठ

सीहं जहा व कुणिमेणं निब्भयमेगचरंति पासेणं।
एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥८॥

संस्कृत छाया

सिंहं यथाहि कुणिमेन निर्भयमेकचरं पाशेन।
एवं स्त्रियो बध्नन्ति संवृतमेकतयमनगारम् ॥८॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**निब्भयं**) निर्भय (**एगचरं**) अकेले वन में विचरण करने वाले (**सीहं**) सिंह को (**कुणिमेणं**) मांस खिलाकर (**पासेणं**) पाश से (**बंधंति**) सिंह पकड़ने वाले लोग बाँध लेते हैं। (**एवं**) इसी तरह (**इत्थियाउ**) स्त्रियाँ (**संवुडं**) मन-वचन-काया से गुप्त—संवृत रहने वाले शान्त (**एगतियं अणगारं**) किसी अनगार को (**बंधंति**) अपने मोहपाश में जकड़ लेती हैं।

भावार्थ

जैसे सिंह को पकड़ने वाले शिकारी मांस का लोभ देकर अकेले निर्भय विचरण करने वाले सिंह (वनराज) को अपने पाशबन्धन में बाँध लेते हैं, वैसे ही चतुर स्त्रियाँ मन-वचन-काया को संवृत—गुप्त रखने वाले शान्त उक्त अनगार को भी अपने मोहपाश में जकड़ लेती हैं। जब वे मन-वचन-काया से गुप्त रहने वाले साधु को भी वश में कर लेती हैं, तब सामान्य पुरुष की तो बिसात ही क्या ?

व्याख्या

सिंह की तरह संवृत पुरुषसिंह को भी वश में कर लेती हैं

इस गाथा में उन चतुर नारियों का सामर्थ्य दृष्टान्त देकर बताया है कि किस प्रकार वे कठोर संयमी साधु को भी अपने मोहपाश में जकड़ लेती हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सीहं जहा ·····एगतियमणगारं ।' आशय यह है कि वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाला एकाकी वनराज कितना पराक्रमी होता है ? किन्तु सिंह को पकड़ने वाले चतुर शिकारी उसे मांस आदि का लोभ देकर विविध उपायों से उसके गले में किसी प्रकार से फंदा डालकर बाँध लेते हैं । वे उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर पालतू पशु की तरह काबू में कर लेते हैं । ठीक इसी प्रकार कामकला-चतुर स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक प्रकार के उपायों से मन-वचन-काया को गुप्त—सुरक्षित रखने वाले कठोर संयमी साधु को भी अपने वश में कर लेती हैं, मोहपाश में बाँध लेती हैं । यहाँ **'संवुड'** पद देकर शास्त्रकार ने स्त्रियों की शक्ति का दिग्दर्शन किया है कि जब वे इतने सुसंवृत साधु को भी अपना पथ बदलने को विवश कर सकती हैं, तब जिनके मन-वचन-काया सुरक्षित—गुप्त नहीं है, उनका तो कहना ही क्या ?

मूल पाठ

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमिं आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं फंदंते वि ण मुच्चए ताहे ॥९॥

संस्कृत छाया

अथ तत्र पुनर्नमयन्ति, रथकार इव नेमिमानुपूर्व्या ।
बद्धो मृग इव पाशेन स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तस्मात् ॥९॥

अन्वयार्थ

(**रहकारो**) रथकार (**णेमिं व**) जैसे नेमि—चक्र को (**आणुपुव्वीए**) क्रमशः नमा (झुका) देता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को (**अह**) अपने वश में करने के पश्चात् (**तत्थ**) अपने इष्ट अर्थ में क्रमशः (**णमयंती**) झुका लेती हैं । (**मिए व**) मृग की तरह (**पासेणं**) पाश से (**बद्धे**) बँधा हुआ साधु (**फंदंते वि**) पाश से छूटने के लिए उछल-कूद मचाता हुआ भी (**ताहे**) उससे (**ण मुच्चए**) छूटता नहीं है ।

भावार्थ

जैसे रथकार रथ की नेमि (पुट्ठी) को क्रमशः नमा देता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को अपने वश में करके क्रमशः अपने अभीष्ट अर्थ में झुका लेती हैं । जैसे पाश में बँधा हुआ मृग पाश से मुक्त होने के लिए बहुत छटपटाता है, पर छूट नहीं सकता, वैसे ही कामकलादक्ष ललनाओं के मोह-पाश में बँधा हुआ साधु कितनी ही उछलकूद मचा ले, वह पाश से मुक्त नहीं हो सकता ।

व्याख्या

एक बार मोहपाशबद्ध साधु छूट नहीं सकता

इस गाथा में मोहपाशबद्ध साधु की कैसी दशा होती है ? इसे दृष्टान्त द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझाते हैं—'**अह तत्थ पुणो णमयंती ···· मुच्चए ताहे।**' अर्थात्– अपने वश में कर लेने के पश्चात् कामकलादक्ष नारियाँ साधु को अपने अभीष्ट अर्थ में झुका लेती हैं। जिस तरह एक बढ़ई रथ के चक्र के बाहर की गोलाकार पुट्ठी (नेमि) को क्रमशः नमा देता है, उसी तरह साधु को भी वे नारियाँ अनुकूल कार्यों में प्रेरित करती हैं। स्त्री के पाश में एक बार बँध जाने के बाद वह साधु पाशबद्ध मृग की तरह छूटना चाहने पर भी तथा भरसक प्रयत्न कर लेने पर भी छूट नहीं सकता। कितना जबर्दस्त मोहपाश का बन्धन है। एक कवि ने ठीक कहा है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥

अर्थात्— संसार में बहुत से बन्धन हैं, पर प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही है। देखो, कठोर काष्ठ को भेदन करने में निपुण भौंरा कमल के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष में ही निष्क्रिय होकर स्वयं बन्द हो जाता है।

मूल पाठ

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवेगमादाय, संवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

संस्कृत छाया

अथ सोऽनुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम्।
एवं विवेकमादाय संवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये ॥१०॥

अन्वयार्थ

(अह) स्त्री के वश में होने के पश्चात् (**से**) वह साधु (**पच्छा अणुतप्पई**) बाद में पश्चात्ताप करता है। (**विसमिस्सं**) जैसे विष मिली हुई (**पायसं**) खीर (**भोच्चा**) खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। (**एवं**) इसी प्रकार (**विवेगमादाय**) विवेक को अपनाकर (**दविए**) मुक्तिगमनयोग्य साधु को (**संवासो**) स्त्रियों के साथ एक स्थान में निवास या संसर्ग करना (**नवि कप्पए**) उचित नहीं है—कल्पनीय नहीं है।

भावार्थ

जैसे विषमिश्रित खीर का सेवन करके मनुष्य बाद में पछताता है, वैसे ही स्त्री के वश में होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है। अतः इस बात का विवेक करके मुक्तिगमन के योग्य साधक का स्त्री के साथ एक स्थान में रहना योग्य नहीं है।

व्याख्या

स्त्री के मोहपाश में बँधने से पश्चात्ताप

स्त्री के मोहपाश में बद्ध अनगार कूटपाश में बँधे हुए मृग की तरह रात-दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छटपटाता है। वह अपने परिवार के भरणपोषण के लिए अहर्निश चिन्तित रहता है, मन में क्लेश पाता रहता है। कारण यह है कि गृहस्थवास स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए निम्नोक्त चिन्ताएँ हरदम लगी रहती हैं—"कौन क्रोधी है? कौन समचित्त है? कैसे उसे वश में करूँ? यह मुझे धन कैसे दे? किस दानी को मैंने छोड़ दिया है? कौन विवाहित है? और कौन कुंआरा है?"[1] ये और इस प्रकार की चिन्ता करता हुआ व्यक्ति नाना प्रकार के पापकर्मों का बन्ध करता है तथा वह व्यक्ति पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—"मैंने कुटुम्ब का भरण-पोषण करने हेतु अनेक कुकर्म किये। उन कुकृत्यों के कारण मैं अकेला दुःख भोग रहा हूँ, दूसरे फल भोगने वाले तो अन्यत्र चले गये।"[2] इस प्रकार महामोहात्मक कुटुम्बपाश में पड़ा हुआ व्यक्ति पश्चात्ताप करता है।

इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे कोई विषमिश्रित अन्न खाकर बाद में विष के वेग से व्याकुल होकर पश्चात्ताप करता है—हाय! वर्तमान सुखरसिक बनकर मुझ पापी ने परिणाम में दुःखदायी ऐसा भोजन क्यों कर लिया? इसी प्रकार स्त्री के मोहपाश में बद्ध व्यक्ति भी पुत्र, पौत्र, कन्या, दामाद, बहन, भतीजे और भानजे आदि के भोजन, वस्त्र, आभूषण, विवाह, जातकर्म और मृतकर्म आदि एवं उनकी बीमारी की चिकित्सा आदि कई चिन्ताओं से व्याकुल होकर अपने शरीर का कर्त्तव्य भी भूल जाता है। वह इस लोक एवं परलोक के लिए जो कुछ धर्माचरण करना है, उससे विमुख होकर केवल अपने परिवार के पालन-पोषण में ही व्याकुलचित्त से संलग्न रहता हुआ पश्चात्ताप करता है। अतः विवेक को अपनाकर चारित्र में विघ्नकारिणी स्त्रियों के साथ एक स्थान में निवास करना मुक्तिगमनयोग्य या रागद्वेषवर्जित साधु के लिए उचित नहीं है, क्योंकि स्त्रियों के साथ संवास करना विवेकी साधक के उत्तम अनुष्ठानों में विघातक होता है।

स्त्री-संसर्ग से उत्पन्न दोषों को बताकर उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा।
ओए कुलाणि वसवत्ती आघाते ण से वि णिग्गंथे ॥११॥

---

१. कोद्धयओ को समचित्तु, काहोवणाहिं काहो दिज्जउ वित्त? को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियत्तो जीव खडप्फडेहि परं बंधइ पावह भारओ।

२. मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

तस्मात्तु वर्जयेत् स्त्रीः विषलिप्तमिव कण्टकं ज्ञात्वा ।
ओजः कुलानि वशवर्त्ती, आख्याति न सोऽपि निर्ग्रन्थः ॥११॥

अन्वयार्थ

(**तम्हाउ**) इसलिए (**विसलित्तं व कंटगं णच्चा**) स्त्री को विष से लिप्त काँटे के समान समझकर (**इत्थी वज्जए**) साधु स्त्री-संसर्ग से दूर रहे। (**वसवत्ती**) स्त्री के वश में रहने वाला जो साधक (**ओए कुलाणि**) अकेला किसी अकेली स्त्री के घर में जाकर (**आघाते**) धर्म का कथन—उपदेश करता है, (**ण से वि णिग्गंथे**) वह भी निर्ग्रन्थ नहीं है।

भावार्थ

स्त्रियों को विष से लिपटे हुए काँटे के समान जानकर साधु दूर से ही उनके संसर्ग का त्याग करे। जो व्यक्ति स्त्री के वश (गुलाम) होकर गृहस्थों के घर में जाकर अकेला किसी अकेली स्त्री को धर्मकथा सुनाता है, वह भी निर्ग्रन्थ साधक नहीं है।

व्याख्या

स्त्रीसंसर्ग विषलिप्तकण्टकसम त्याज्य

एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, वह चुभने पर केवल पीड़ा ही नहीं करता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी भी अंग में चुभकर टूट जाय तो अनर्थ पैदा करता है। इसी तरह पहले तो स्त्री का स्मरण ही अनर्थकारी है, फिर उसका संसर्ग किया जाय तो वह विषलिप्त काँटे की तरह एक ही बार प्राण नहीं लेता, किन्तु अनेक जन्मों तक जन्म-मरण और नाना प्रकार के दुःख देता रहता हैं। किसी विद्वान् ने विष और विषय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है—

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥

अर्थात्—विष और विषय (कामसेवन) में परस्पर बहुत अन्तर है। विष तो खाने पर प्राण हरण करता है, किन्तु विषय (कामभोग) स्मरण करने से ही प्राणनाश करते हैं।

एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

वरि विसखइयं, न विसयसुहु इक्कसि विसिणि मरंति ।
विसयामिस पुण घारिया णर णरएहिं पडंति ॥

अर्थात्—विष खाना अच्छा है, किन्तु विषय का सेवन अच्छा नहीं; क्योंकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषयरूपी मांस के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे में गिरकर बार-बार कष्ट पाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब एक दूसरे पहलू से बताया गया है कि अकेली स्त्री के साथ अकेले साधु का संसर्ग, चाहे वह धर्मकथा के निमित्त से ही क्यों न हो, उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा साधु स्त्री का गुलाम या वशीभूत होकर ही बार-बार किसी न किसी बहाने से स्त्रीसम्पर्क करने का प्रयत्न करेगा और स्पष्ट कहें तो वह उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करेगा। निःसन्देह ऐसा करने वाला साधु साधुधर्म से भ्रष्ट हो जाता है, वह यथार्थ साधु, बाह्य-अभ्यन्तर ग्रन्थों (परिग्रहों) से रहित मुनि नहीं माना जा सकता। क्योंकि निषिद्ध आचरण के सेवन से उसका पतित हो जाना बहुत सम्भव है।

हाँ, यदि कोई स्त्री बीमारी या किसी अन्य गाढ़ कारणवश साधु के स्थान पर आने में असमर्थ हो, अतिवृद्ध हो, अशक्त हो और दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हों तो अकेला साधु भी उसके पास जाकर दूसरी स्त्रियों से वेष्टित या पुरुषों से युक्त उक्त स्त्री को वैराग्योत्पादक धर्मकथा कहे या मंगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

मूल पाठ

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

संस्कृत छाया

य एतदुंच्छमनुगृद्धा अन्यतरास्ते भवन्ति कुशीलानाम् ।
सुतपस्व्यपि स भिक्षुर्न विहरेत् सार्धं खलु स्त्रीभिः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**जे**) जो पुरुष (**एयं**) इस स्त्रीसंसर्गरूपी (**उंछं**) झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म में (**अणुगिद्धा**) अत्यन्त आसक्त हैं, (**ते**) वे (**कुसीलाणं**) कुशीलों—पार्श्वस्थ आदि लोगों में से (**अन्नयरा**) कोई एक (**हुंति**) हैं। (**से भिक्खू**) इसलिए वह साधु चाहे (**सुतवस्सिए वि**) उत्तम तपस्वी हो तो भी (**इत्थीसु सह**) स्त्रियों के साथ (**नो विहरे**) विहार न करे।

भावार्थ

जो पुरुष स्त्रीसंसर्गरूपी त्याज्य निन्दनीय कुकृत्य—झूठन में अत्यन्त आसक्त हैं, वे पाशस्थ, अवसन्न आदि कुशीलों में से कोई एक हैं। अतः साधु चाहे कितना ही उत्तम तपस्वी क्यों न हो, स्त्रियों के साथ विहार (क्रीड़ा, गमन आदि) न करे।

व्याख्या

स्त्रीसंसर्गरूप निन्द्यकर्म में आसक्त कुशील हैं

जिन मंदबुद्धि अदूरदर्शी साधकों की दृष्टि उत्तम संयमानुष्ठान छोड़कर सिर्फ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान सुख की ओर ही है, वे पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार से स्त्रीसंसर्गरूप त्याज्य निन्दनीय कर्म या झूठन के सेवन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शास्त्रकार पाशस्थ या पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और अपच्छन्दरूप कुशीलों में कोई एक कुशील कहते हैं। अथवा काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और मामकरूप कुशीलों में से वे कोई एक कुशील हैं। यह निश्चित है कि स्त्रीसम्पर्क आदि निन्द्य कृत्यों के करने से साधु कुशील हो जाता है।

अतः उत्तम तपस्या के द्वारा जिन्होंने अपने मन-वचन काया को तपाया है, वे तपस्वी यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो चारित्र को नष्ट करने वाली स्त्रियों के साथ न रहें, न कहीं जावें और न कहीं क्रीड़ा करें, न बैठें, विहार न करें। साधु स्त्री को जलते हुए अंगारे के समान समझकर दूर से ही त्याग करे।

मूल पाठ

अवि धूयराहिं सुण्हाहिं धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

संस्कृत छाया

अपि दुहितृभिः स्नुषाभिः धात्रीभिरथवा दासीभिः ।
महतीभिर्वा कुमारीभिः संस्तवं स न कुर्यादनगारः ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**अवि धूयराहिं**) अपनी कन्याओं के भी साथ, (**सुण्हाहिं**) पुत्रवधुओं, (**धातीहिं**) दूध पिलाने वाली धायमाताओं (**अदुव**) अथवा (**दासीहिं**) दासियों, (**महतीहिं**) बड़ी उम्र की स्त्रियों अथवा (**कुमारीहिं**) कुँआरी कन्याओं के साथ (**से अणगारे**) वह अनगार (**संथवं**) संसर्ग—परिचय (**न कुज्जा**) न करे।

भावार्थ

अपनी पुत्रियाँ हों, पुत्रवधुएँ हों, दूध पिलाने वाली धायमाताएँ हों, अथवा दासियाँ या नौकरानियाँ हों, बड़ी उम्र की स्त्रियाँ हों, अथवा कुँआरी कन्याएँ हों, उनके साथ भी साधु को संसर्ग नहीं करना चाहिए।

व्याख्या

इन स्त्रियों के साथ भी साधु संसर्ग न करे

इस गाथा में शास्त्रकार ने उन स्त्रियों का उल्लेख किया जिनके पास बैठने या जिनके साथ संसर्ग करने से साधु पर किसी को सहसा अविश्वास नहीं हो सकता। फिर भी इन स्त्रियों के साथ साधु को परिचय, संसर्ग या अत्यधिक उठ-बैठ करना निषिद्ध बताया है। इसके लिए अवि (अपि) शब्द का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है। इन पदों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धूयरार्हि—दुहिता या पुत्री का नाम है। चाहे अपनी पुत्री ही क्यों न हों, उसके साथ भी कहीं एकान्त में बैठने, उठने, विहार करने या वार्तालाप करने वगैरह के रूप में संसर्ग या परिचय करना उचित नहीं है। **सुण्हार्हि** – स्नुषा—पुत्रवधू को कहते हैं, उसके साथ भी एकान्त स्थान आदि में न बैठे। **धातीहि**—धात्री, धायमाता को कहते हैं। धायें पाँच प्रकार की होती हैं—क्षीरधात्री, मज्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीड़ा-धात्री आदि। धायें भी माता के तुल्य होती हैं। उनके साथ भी साधु एकान्त में किसी प्रकार का संसर्ग न करे। दूसरी स्त्रियों को जाने दीजिए, सबसे नीच जो पानी भरने वाली या घर का काम करने वाली दासियाँ या नौकरानियाँ हैं, उनके साथ भी साधु सम्पर्क न रखे। बड़ी स्त्री हो, या कुमारी हो अथवा शब्द से कोई साध्वी हो, उनके साथ भी साधु अपना सम्पर्करूप परिचय न करे। यद्यपि अपनी कन्या या पुत्रवधू के साथ एकान्त स्थान में रहने से साधु का चित्त सहसा विकृत नहीं हो सकता, तथापि लोगों को स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे या रहते देखकर शंका उत्पन्न हो सकती है अथवा नीतिकार भी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमप्यत्र कर्षति ॥

अर्थात्—माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवान होती हैं, वे विद्वान् पुरुष को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

इन कारणों से किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में सम्पर्क करना वर्जित किया गया है।

साधु को स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे देखकर लोगों मन में किस प्रकार की शंका एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसे बताते हैं—

मूल पाठ

अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति।
गिद्धा सत्ता कामेहि, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

संस्कृत छाया

अथ ज्ञातीनां सुहृदां वा अप्रियं दृष्ट्वा एकदा भवति।
गृद्धाः सत्त्वाः कामेषु, रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**एगता**) किसी समय (**दट्ठु**) एकान्त स्थान में स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को देखकर (**णाइणं च सुहीणं वा**) उस स्त्री के ज्ञाति (स्व) जनों अथवा सुहृदों-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रजनों या हितैषियों को (**अप्पियं होति**) दुःख उत्पन्न होता है। वे कहते हैं—(**सत्ता कामेहिं गिद्धा**) जैसे दूसरे प्राणी काम में आसक्त हैं, इसी तरह यह साधु भी है। (**रक्खणपोसणे मणुस्सोसि**) तथा वे कहते हैं कि तुम इसका भरण-पोषण भी करो, क्योंकि तुम इसके आदमी हो।

भावार्थ

किसी स्त्री के साथ साधु को एकान्त स्थान में बैठे देखकर उस स्त्री के ज्ञातिजनों और मित्रजनों-स्नेहीजनों के चित्त में दुःख उत्पन्न होता है। वे कहते हैं कि जैसे दूसरे लोग काम में आसक्त होते हैं, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे रुष्ट होकर कहते हैं—"तुम इसके आदमी हो तो इसका भरण-पोषण क्यों नहीं करते ?"

व्याख्या

एकान्त स्थान में स्त्री सम्पर्क के कारण शंका और प्रतिक्रिया

पूर्वगाथा में कन्या, पुत्रवधू आदि किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में परिचय-संसर्ग करना वर्जित बताया गया था। उसी सन्दर्भ में इस गाथा में यह बताया गया है कि साधु को एकान्त स्थान में किसी स्त्री के पास बैठे देखकर उसके स्वजनों एवं स्नेहीजनों के मन में कैसी प्रतिक्रिया होती है ?

'**अदु णाइणं·····मणुस्सोऽसि**' आशय यह है कि किसी भी अकेली स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए या वार्तालाप करते हुए और उस प्रकार की प्रवृत्ति बार-बार करने से उस स्त्री के परिवार वालों और स्नेहीजनों के हृदय में दुःख उत्पन्न होता है, उन्हें उस अकेली स्त्री का साधु के पास बैठना बहुत अखरता है, उन्हें बहुत बुरा लगता है। इसे वे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलंक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर अनेक प्रकार की शंका-कुशंकाएँ उसके सम्बन्ध में करते हैं कि यह साधु अपने ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय, या साधना की समस्त धर्माचरणरूप प्रवृत्तियों को छोड़कर जब देखो तब इस स्त्री के पास निर्लज्ज होकर बैठा रहता है, इसके मुँह की ओर ताकता रहता है। जैसे दूसरे लोग काम-भोग में आसक्त रहते हैं, वैसे ही यह साधु भी कामासक्त है। फिर उनमें और इसमें क्या अन्तर रहा ? कभी-कभी वे इस साधु पर ताना भी कसते हैं—

मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धम्,
भिक्षाशनेन भरणं च हतोदरस्य।
गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभम्,
चित्रं तथाऽपि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा॥

अर्थात्—इस साधु का सिर तो मुंडा हुआ है, इसके मुँह से बदबू आ रही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, भीख माँगकर पापी पेट को भरता है, इसका शरीर मैल से गंदा हो रहा है, और शोभा से रहित भद्दा तथा भौंड़ा है। फिर भी आश्चर्य है कि इसके मन की इच्छा काम-भोगों में लगी है।

साधु के इस रवैये को देखकर तथा उस स्त्री के स्वजनों द्वारा बार-बार रोक-टोक करने एवं समझाने पर भी जब साधु अपना प्रतिकूल रवैया नहीं छोड़ता, तब वे क्रुद्ध होकर उस साधु से कहते हैं—"अब तो आप ही इस स्त्री का भरण-पोषण करिए, क्योंकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, इसलिए आप ही इसके स्वामी हैं।" अथवा **'रक्खणपोसणं'** में समाहारद्वन्द्वसमास है, इसलिए ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि उस स्त्री के जाति वाले उस साधु पर ताना मारते हुए कहते हैं—"हम लोग तो इस स्त्री का भरण-पोषण करने वाले हैं, इसके पति तो तुम हो, क्योंकि यह अपने सब कामकाज छोड़कर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।"

मूल पाठ

समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति ॥१५॥

संस्कृत छाया

श्रमणमपि दृष्ट्वोदासीनं, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति ।
अथवा भोजनैर्न्यस्तैः स्त्रीदोषशंकिनो भवन्ति ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**दासीणं पि समणं**) रागद्वेषवर्जित उदासीन तपस्वी साधु को भी (**दट्ठु**) स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करते या बैठे देखकर (**तत्थ वि एगे कुप्पंति**) इस सम्बन्ध में कोई-कोई एक क्रुद्ध हो जाते हैं। (**इत्थीदोसं संकिणो होंति**) और वे उस स्त्री में दोष की शंका करते हैं। (**अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं**) अथवा वे यह समझते हैं कि यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसलिए यह नाना प्रकार का आहार तैयार करके साधु को देती है।

भावार्थ

राग-द्वेष से वर्जित, उदासीन एवं तपस्वी श्रमण को भी स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति आगबबूला (क्रोधित) हो उठते हैं और वे उस स्त्री में (बदचलनी या दुश्चरित्रता) दोष की आशंका करने लगते हैं। वे समझते हैं—यह स्त्री इस साधु की प्रेमिका है, इसीलिए तो यह नाना प्रकार का स्वादिष्ट आहार बनाकर साधु को दिया करती है।

व्याख्या

श्रमण एवं स्त्री के प्रति लोगों का क्रोध और आशंका

इस गाथा में तपस्या से खिन्न शरीर वाले श्रमण को भी स्त्री के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकान्त में बैठे या वार्तालाप करते देखकर होने वाली जन-प्रतिक्रिया का अनुभव-सिद्ध वर्णन है—'**समणं पि दट्ठु····संकिणो होंति ।**' एक लोकश्रुति है—'**यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं, नाचरणीयम् ।**' इसका अर्थ है—यद्यपि किसी व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध और निर्दोष है, किन्तु लोक-व्यवहार की दृष्टि से विरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए और उस प्रकार आचरण भी नहीं करना चाहिए । यही बात दूसरी दृष्टि से शास्त्रकार कहते हैं कि यद्यपि साधु पवित्र है, तपश्चर्या से उसका तन-मन परिपूत हो चुका है, वह राग-द्वेष से वर्जित है, इसलिए सांसारिक प्रपंचों से उदासीन या मध्यस्थ रहता है, तपस्या से शरीर खिन्न एवं रूखा-सूखा, जीर्ण हो रहा है तथा जो विषयसुख का विरोधी है, इतने पवित्र निर्दोष श्रमण को भी यदि किसी स्त्री के साथ लोग एकान्त में बैठे या वार्तालाप करते देखते हैं तो एकदम आगबबूला हो जाते हैं, उसकी खरीखोटी आलोचना करने लगते हैं, उसकी ओर अँगुली उठाने लगते हैं, उसे भला-बुरा कहते हैं । तात्पर्य यह है कि ऐसे तपोमूर्ति तटस्थ साधु को भी एकान्त में स्त्री के साथ वार्तालाप करते देखकर कई लोग सहन नहीं करते और एकदम क्रोधित हो जाते हैं, तो फिर जिस साधु में स्त्रीसंसर्ग से विकार उत्पन्न हो गया है, उसकी तो बात ही क्या है ? अथवा यहाँ '**समणं दट्ठुदासीणं**' का यह अर्थ भी हो सकता है --'जो साधु अपना स्वाध्याय, ध्यान, संयमक्रिया आदि प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर जब देखो तब किसी स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करता रहता है, उसे देखकर भी कई लोगों में रोष पैदा हो जाता है ।

अथवा स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप करते हुए साधु को देखकर लोग उस स्त्री के प्रति चरित्रहीन या वदचलन होने की शंका करते हैं । वे स्त्री सम्बन्धी दोष ये हैं—वे समझते हैं कि यह स्त्री भाँति-भाँति के पकवान बनाकर इस साधु को देती है । इसलिए यह साधु प्रतिदिन यहाँ आया करता है । अथवा यह स्त्री ससुर आदि को आधा आहार परोसकर साधु के आने पर चंचलचित्त होती हुई श्वसुर आदि को एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु परोस देती है । इसलिए वे उस स्त्री के प्रति एकदम शंकाशील हो जाते हैं कि यह स्त्री अवश्य ही उस साधु का संग करती है । इसी कारण साधु को विशिष्ट आहार देती है और उसके साथ अन्य पुरुषों से रहित एकान्त स्थान में बैठती है । यह अवश्य ही चरित्रभ्रष्ट हो गयी है, नहीं तो परपुरुष के प्रति इतना प्रेम क्यों दिखलाती ?

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण भी है । एक स्त्री भोजन की थाली पर बैठे हुए अपने पति व श्वसुर को भोजन परोस रही । परन्तु उसका चित्त उस समय गाँव में होने वाले नट के नृत्य को देखने में था । अतः अन्यमनस्क होने के कारण चावल के बदले रायता परोस दिया । उसका ससुर इस बात को ताड़ गया । पति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने क्रोधित होकर उसे पीटा और अन्य पुरुष में आसक्त जानकर घर से बाहर निकाल दिया।

निष्कर्ष यह कि स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठने आदि से स्त्री पर भी लांछन आता है और साधु पर भी लांछन आता है। इसलिए स्त्रीसंसर्ग से साधु सदा दूर रहे।

मूल पाठ

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ।। ६।।

संस्कृत छाया

कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः प्रभ्रष्टा समाधियोगेभ्यः ।
तस्मात् श्रमणाः न संयन्ति आत्महिताय सन्निषद्याः ।।१६।।

अन्वयार्थ

(**समाहिजोगेहिं**) समाधियोग—धर्मध्यान से (**पब्भट्ठा**) भ्रष्ट पुरुष ही (**ताहिं संथवं कुव्वंति**) उन स्त्रियों के साथ संसर्ग करते हैं। (**तम्हा**) इसलिए (**समणा**) श्रमण (**आयहियाए**) आत्मकल्याण के लिए (**सण्णिसेज्जाओ**) स्त्रियों के स्थान पर (**न समेंति**) नहीं जाते हैं।

भावार्थ

समाधियोग—धर्मध्यान से भ्रष्ट पुरुष ही स्त्रियों से परिचय करते हैं। परन्तु श्रमण आत्मकल्याण की दृष्टि से स्त्रियों के स्थान पर नहीं जाते।

व्याख्या

स्त्रीपरिचयी श्रमण समाधियोग से भ्रष्ट हैं

आशय यह है कि जो साधु संयममार्ग से भ्रष्ट होकर स्त्रियों के साथ संस्तव करते हैं, वे प्रभ्रष्ट हैं। स्त्रियों के घर पर बार-बार जाना, उनके साथ पुरुषों की साक्षी के बिना बैठना, संलाप करना, उनको रागभाव से देखना, इत्यादि संस्तव—परिचय वेदमोहनीयकर्मोदय के कारण साधु करते हैं। जो श्रमण स्त्रियों के साथ परिचय (संस्तव) करते हैं, वे समाधियोग यानी जिसमें धर्मध्यान प्रधान है, ऐसे मन-वचन-काया के व्यापारों से भ्रष्ट हैं, शिथिल विहारी हैं। स्त्रियों के साथ अत्यधिक परिचय करने से समाधियोग का नाश होता है। इसलिए उत्तम साधक स्त्रियों की माया को पास नहीं फटकने नहीं देते।

सण्णिसेज्जाए—संनिषद्या उसे कहते हैं, जो सुख का उत्पादक होने से तथा अनुकूल होने के कारण निषद्या अर्थात् निवास स्थान के समान है। स्त्रियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवासस्थान को भी सन्निषद्या कहते हैं। आत्मकल्याण चाहने वाले साधु जहाँ ऐसी सन्निषद्या हो, वहाँ नहीं जाते।

यहाँ जो स्त्री-संसर्ग छोड़ने का उपदेश दिया गया है, वह स्त्रियों को भी इहलोक परलोक में होने वाली हानि से बचाने के कारण हितकर है। इस गाथा के उत्तरार्द्ध में कहीं-कहीं ऐसा पाठ भी पाया जाता हैं—'**तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ।**' इसका भावार्थ यह है कि स्त्री सम्पर्क अहितकर है, इसलिए हे श्रमणो ! विशेष रूप से स्त्रियों के निवास स्थानों की तथा स्त्रियों द्वारा की गई सेवाभक्ति रूप माया को स्वकल्याण के निमित्त छोड़ दो। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

मूल पाठ

बहवे गिहाइं अवहट्टु मिस्सीभावं पत्थुया य एगे।
धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

संस्कृत छाया

बहवो गृहाणि अवहृत्य मिश्रीभावं प्रस्तुताश्च एके।
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति वाचा वीर्यं कुशीलानाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**बहवे एगे**) बहुत-से लोग (**गिहाई अवहट्टु**) घर से निकलकर अर्थात् प्रव्रजित होकर भी (**मिस्सीभावं पत्थुया**) मिश्रमार्ग अर्थात् कुछ गृहस्थ और कुछ साधु का आचार स्वीकार कर लेते हैं। (**धुवमग्गमेव पवयंति**) इसे वे मोक्ष का ही मार्ग कहते हैं, किन्तु (**वाया वीरियं कुसीलाणं**) यह कुशील लोगों की वाणी की शूर-वीरता है, अनुष्ठान में नहीं।

भावार्थ

बहुत-से लोग प्रव्रज्या लेकर (गृहवास छोड़कर) भी कुछ गृहस्थ और कुछ साधु के मिले-जुले आचार को सेवन करने में उद्यत होते हैं। वे अपने इस आचार को ही ध्रुव-मोक्ष का मार्ग कहते हैं। किन्तु यह उन कुशीलों की केवल वाणी की ही शूरवीरता है, आचरण की नहीं।

व्याख्या

मिश्रमार्गी प्रव्रजितों का बकवास

इस गाथा में शास्त्रकार ऐसे साधकों का परिचय दे रहे हैं, जो साधु और गृहस्थ के मिलेजुले आचार का पालन करते हैं और उसी को मोक्षपथ के नाम से प्ररूपण करते हैं, उसी की विशेषता बताते हैं, उसी के समर्थन में तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, उसी को सिद्ध करने के लिए एड़ी से चोटी तक पसीना बहाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु वे द्रव्यसाधु ऐसा क्यों करते हैं ? इसका कारण यह है कि घरबार, कुटुम्ब-कबीला एवं धन-सम्पत्ति छोड़ देने के बाद भी मोह के उदयवश वे पुनः उसी चक्कर में पड़ते जाते हैं। स्त्रियों के संसर्ग, भक्त-भक्ताओं से अतिपरिचय, परिजनों से मोह सम्बन्ध आदि के कारण वे न तो पूरे साधु-जीवन के मौलिक आचार का पालन करते हैं, और न ही गृहस्थजीवन के आचार-पालक कहलाते हैं। वे ऐसे मध्यममार्ग को अपना लेते हैं, जो गृहस्थ और साधु दोनों के कुछ-कुछ आचारों का मिला-जुला रूप होता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'मिस्सीभावं पत्थुया य एगे।'** अर्थात् वे साधु और गृहस्थ की मिश्रित अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। वे साधुवेश को ग्रहण करने से साधु और गृहस्थ के समान आचरण करने से गृहस्थ होते हैं। वे न तो एकान्त गृहस्थ ही हैं और न एकान्त साधु ही हैं। इतना होने के बावजूद भी वे अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग को ही ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयम का मार्ग कहते हैं। और कहते हैं कि हमने जिस मध्यममार्ग का आचरण करना प्रारम्भ किया है, वही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इस मार्ग से प्रवृत्ति करने के द्वारा प्रव्रज्या अच्छी तरह पाली जा सकती है।

'वाया वीरियं कुसीलाणं'—शास्त्रकार कहते हैं कि यह उन कुशीलों के वाणी का वीर्य-पराक्रम ही समझना चाहिए, उसके पीछे शास्त्र-सम्मत आचार का बल नहीं है। क्योंकि वे द्रव्यलिंगी पुरुष वचनमात्र से अपने को प्रव्रजित कहते हैं, परन्तु उनमें उत्तम संयमानुष्ठान का पराक्रम (वीर्य) नहीं हैं। उन्होंने तो एकमात्र वैषयिक सुख और तज्जनित सातागौरव में आसक्ति के कारण ही इस प्रकार का सुखसुविधापूर्ण मार्ग अपनाया है। अपने शिथिलाचार को छिपाने के लिए उन्होंने इस प्रकार का मिश्र मार्ग अंगीकार किया है।

मूल पाठ

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेति।
जाणंति, य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयं ति ॥१८॥

संस्कृत छाया

शुद्धं रौति परिषदि, अथ रहसि दुष्कृतं करोति।
जानन्ति च तथाविदो, मायावी महाशठोऽयमिति ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**परिसाए**) वह कुशील पुरुष सभा में (**सुद्धं रवति**) अपने आप को शुद्ध कहता है, (**अह रहस्संमि**) परन्तु एकान्त में (**दुक्कडं करेति**) वह पाप करता है। (**तहाविहा**) ऐसे व्यक्ति की अङ्गचेष्टाओं, आचार-विचारों एवं व्यवहारों को जानने वाले पुरुष उन्हें (**जाणंति**) जान लेते हैं कि (**माइल्ले महासढेऽयं ति**) यह मायावी और महाधूर्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

वह कुशील पुरुष सभा में अपने आपको शुद्ध बतलाता है, परन्तु एकान्त में छिपकर दुष्कर्म-पापकर्म करता है। परन्तु उसकी अंगचेष्टाओं, आचार-विचार तथा व्यवहारों को जानने वाले व्यक्ति उसे जान लेते हैं कि यह मायावी और महान् शठ है।

व्याख्या

ये शुद्धता की दुहाई देने वाले प्रच्छन्न पापी !

जो व्यक्ति पूर्वगाथा में उक्त मिश्रमार्गी कुशील, जो वाणी से ही शूरवीर है, वह अशुद्ध एवं पाप दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा में अपने आप को पवित्र, शुद्ध, दूध का धोया, निर्दोष कहता है और डंके की चोट कहता है। इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते हैं—'**सुद्धं रवति·····महासढेऽयंति**' अर्थात् वह भरी सभा में जोर-शोर से गरजता हुआ कहता है—"मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है।" परन्तु उसके कारनामों का पता लगाया जाय तो आश्चर्य होगा कि उसकी शुद्धता की दुहाई वंचनामात्र है, छलावा है, धोखे की टट्टी है, क्योंकि वह छिप-छिपकर एकान्त में पापकर्म करता है, दोषों का सेवन करता है, अनाचार करता है, मिथ्याचार या दिखावटी आचार का पालन करता है। उसके काले कारनामों को जानने वाले या उसके सम्पर्क में आने वाले जानते हैं कि वह कितने गहरे पानी में है। वे उसकी अटपटी दिनचर्या से, उसके व्यवहार से, उसके आचार-विचारों से, उसकी अंगचेष्टाओं पर से यह भली-भाँति जान लेते हैं कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है, यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण में उतना ही दूर एवं विपरीत है। अन्य कोई नहीं तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुष तो उसके दुष्कर्मों को जान लेते हैं। उस कुशील के अकर्तव्य या पापकर्म की कहानी उनसे तो जरा भी छिपी नहीं रह पाती। मोहान्ध पुरुष अँधेरे में छिपकर असद् अनुष्ठान करता है, और मन में सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है? किसी को जरा भी पता नहीं लग सकता, मेरे कारनामों का। मेरे हथकंडे मैं ही जानता हूँ। परन्तु नीतिकार कहते हैं—

आकारैरिंगितैर्गत्यां चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥

अर्थात्—आकृति से, इशारों से, चाल-ढाल से, चेष्टा से, भाषण से, आँख और मुख के विकार से, किसी व्यक्ति के अन्तर्मन में छिपी हुई बात परिलक्षित हो जाती है।

साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियों या सतत सम्पर्क में रहने वालों से उस व्यक्ति से दुष्कर्म छिपे नहीं रह सकते। उसे जानने वाले जानते हैं। एक लौकिक उक्ति है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप छिपाये ना छिपै, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई-लपेटी आग ॥

एक अनुभवी का कहना है—

न य लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घयं वा तेल्लं वा।
किह सक्को वंचेउं अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥

अर्थात्—नमक का खारापन और तेल-घी का चिकनापन छिपाया नहीं जा सकता, इसी तरह बुरा कर्म करने वाला अपनी आत्मा को धोखा नहीं दे सकता।

मूल पाठ

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१६॥

संस्कृत छाया

स्वयं दुष्कृतं च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बालः।
वेदानुवीचि मा कार्षीः, चोद्यमानो ग्लायति स भूयः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**बाले**) अज्ञानी जीव (**सयं दुक्कडं**) अपने दुष्कृत-पाप को स्वयं (**न वदति**) नहीं कहता है। (**आइट्ठोवि पकत्थति**) जब दूसरा कोई (गुरु आदि) उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश या प्रेरणा देता है, तब वह स्वयं अपनी बड़ाई करने लगता है। (**वेयाणुवीइ मा कासी**) 'तुम मैथुन-सेवन की इच्छा मत करो' इस प्रकार आचार्य, गुरु आदि के द्वारा (**भुज्जो**) बार-बार (**चोइज्जंतो**) प्रेरित किया जाने पर भी (**से**) वह कुशील (**गिलाइ**) ग्लान-नाराज या उदास हो जाता है।

भावार्थ

द्रव्यलिंगी अज्ञानी पुरुष अपने दुष्कर्म—पाप को स्वयं गुरु या आचार्य के सामने नहीं कहता। जब आचार्य, गुरु आदि कोई दूसरा हितैषी साधक उसे अपना पाप प्रकट करने का आदेश, उपदेश या निर्देश (प्रेरणा) करता है, तब वह स्वयं अपनी प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है। 'तुम मैथुन की इच्छा भी मत करो' इस प्रकार आचार्य आदि द्वारा बार-बार उसे प्रेरणा दिये जाने पर वह मुर्झा जाता है, झेंप जाता है या नाराज हो जाता है।

व्याख्या

प्रच्छन्नपापी कुशील द्रव्यलिंगी की दुश्चेष्टाएँ

यह मनोविज्ञानसम्मत बात है कि जगत् में कोई भी अपने आप को पापी नहीं कहलाना चाहता, चाहे वह कितना भी पापकर्म क्यों न करता हो? प्रत्येक पुरुष में अपने आप को धर्मात्मा कहलाने की इच्छा रहती है और वह अपनी इस इच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पूर्ति के लिए गुप्तरूप से पाप करता है या कुशीलसेवन करता है, ताकि कोई उसे पापी न कह सके। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सयं दुक्कडं च न वदति'**। अर्थात् कुशील पुरुष अपने किए हुए प्रच्छन्न पाप को किसी के पूछने या न पूछने पर भी स्वयं प्रगट नहीं करता कि मैंने अमुक दुष्कार्य किया है।

प्रश्न होता है कि प्रच्छन्न पापी मायावी स्वयं तो कहता नहीं, मगर जो लोग उसके काले कारनामों को जानते हैं, जो उसके सम्पर्क में सतत रहकर उसकी दुश्चेष्टाओं से अनभिज्ञ नहीं हैं, उनके सामने भी वह कैसे छिपा सकता है? इसके समाधान के लिए शास्त्रकार उसकी दुश्चेष्टाओं को व्यक्त करते हैं—**'आइट्ठोवि पकत्थति बाले'** अर्थात् उसके प्रच्छन्न पापों के जानकार गुरु, आचार्य या कोई हितैषी उससे अपने पापों या दुष्कृत्यों को प्रकट करने या कहने के लिए आदेश या प्रेरणा देते हैं तो वह उनकी बात को ऊपर ही ऊपर उड़ा देता है, उनकी खरी-खरी बातों को सुनी-अनसुनी कर देता है। वह कहने लगता है—"कौन कहता है, मैंने अमुक दुष्कृत्य किया है? कहने वाले झूठे हैं। भला मैं ऐसा खानदानी (कुलीन) व्यक्ति ऐसा दुराचरण कर सकता हूँ?" और फिर धृष्टतापूर्वक अपनी प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है – "मैं जितने अपनी और दूसरों की भलाई के कार्य करता हूँ, शायद ही कोई करता हो। मेरे जैसा परोपकारी, धर्मवीर, पूजनीय पुरुष और कौन है? मैंने कुछ ही वर्षों में अपने हजारों भक्त बनाए हैं। अगर मैं दुश्चरित्र होता तो मेरे इतने भक्त कैसे बन जाते? मैं जगत् में कर्मयोगी हूँ, आदरणीय-वन्दनीय बन गया हूँ, इसलिए कुछ ईर्ष्यालु लोग मुझसे ईर्ष्या करके मुझे इस प्रकार से बदनाम करके लोगों की दृष्टि में गिराना चाहते हैं। मेरी कीर्ति उनकी आँखों में खटकती है, इसलिए वे मेरी निन्दा करके मुझे बदनाम करते हैं, मेरे विरुद्ध झूठा प्रचार करते हैं।"

'वेयाणुवीइ मा कासी' वेदानुवीचि में 'वेद' शब्द पुरुषवेद के उदय का द्योतक है। उसके अनुकूल मैथुन की इच्छा वेदानुवीचि कहलाता है। इसके पश्चात् जब आचार्य या गुरु उसकी थोथी बातें तथा मनगढ़न्त विचार सुनते हैं तो खिन्न होकर उसे बार-बार प्रेरणा देते हैं कि "सौ बात की एक बात है, तुम मैथुन-सेवन की मन से भी इच्छा न करो, उसे सदा के लिए मन-वचन-काया से तिलांजलि दे दो।" इस प्रकार बार-बार कहासुनी करने पर वह अत्यन्त ग्लानि को प्राप्त हो जाता है। ग्लानि का अर्थ है—एकदम झेंप जाना, मुर्झा जाना, या मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लग जाना, चेहरा फीका हो जाना। अथवा वह उस बात को सुनी-अनसुनी कर देता है। या वह उनकी बात सुनकर मर्मस्थान में विद्ध-सा या मर्माहत-सा खेदयुक्त होकर कहता है—"मुझ पर पाप की आशंका की जाती है, तब मुझे पापरहित होने से भी क्या लाभ? क्योंकि निर्विष सर्प से भी लोग बहुत डरते हैं।" इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'चोइज्जंतो·····से भुज्जो।'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।
पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥२०॥

संस्कृत छाया

उषिता अपि स्त्रीपोषेषु पुरुषाः स्त्रीवेदखेदज्ञाः ।
प्रज्ञासमन्विता एके नारीणां वशमुपकषन्ति ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**इत्थिपोसेसु उसिया वि पुरिसा**) जो पुरुष स्त्रियों का पोषण कर चुके हैं, (**इत्थिवेयखेयन्ना**) अतएव स्त्रियों के कारण होने वाले खेदों के ज्ञाता हैं, (**पण्णासमन्निता**) एवं प्रज्ञा-बुद्धि से युक्त हैं (**वेगे**) ऐसे भी कोई (**नारीणं वसं उवकसंति**) स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं ।

भावार्थ

स्त्रियों का पोषण करने के लिए पुरुष को जो-जो प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं, उनका सम्पादन करके जो पुरुष मुक्तभोगी हो चुके हैं तथा स्त्रीवेद (स्त्री जाति) माया प्रधान होती है, उससे उत्पन्न होने वाले क्लेशों के जो अनुभवी हैं, तथा औत्पातिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न हैं, ऐसे भी कोई पुरुष स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं ।

व्याख्या

स्त्रीपोषण के अनुभवी बुद्धिशील भी स्त्री के वशीभूत हो जाते हैं

स्त्री का आकर्षण कितना प्रबल होता है ? यह इस गाथा में बताया गया है । जो व्यक्ति इस बात के अनुभवी हैं, भुक्तभोगी हैं, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि स्त्रियों का पोषण करने में क्या-क्या दोष पैदा होते हैं ? किस-किस प्रकार के उतार-चढ़ाव स्त्रियों के पोषण में आते हैं ? क्योंकि वे पहले स्त्री-पोषक प्रवृत्तियों को सम्पादन कर चुके हैं । तथा जो स्त्रीवेद के खेद को जानते हैं, अर्थात् स्त्रीवेद प्रायः मायाप्रधान होता है यह जानने में जो निपुण हैं, एवं औत्पातिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कार्मिकी आदि बुद्धि अथवा शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, ऊहापोह आदि बुद्धि के अष्टगुणों से समन्वित हैं, ऐसे कई लोग भी महामोहान्ध होकर स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं । जब इतने बुद्धिनिधान, भुक्तभोगी और स्त्रीविषयक अनुभव में पक्के मनुष्य भी स्त्रियों के गुलाम बन जाते हैं, तब सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या ?

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस प्रकार के स्त्री मनोविज्ञान में निपुण व्यक्ति जानते-बूझते हुए भी जैसे पतंगा प्रकाश पर टूट पड़ता है, वैसे ही वे स्त्री-मोह में टूट पड़ते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री स्वभाव के विषय में नीतिकार कहते हैं—

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥१॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥२॥

हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत् पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत् ।
अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् ॥३॥

स्त्रियाँ किसी कार्यवश हँसती हैं, कभी रोती हैं, कभी पुरुष को विश्वास देती हैं, परन्तु स्वयं उस पर विश्वास नहीं करतीं। अतः कुल एवं शील से युक्त पुरुष मरघट की घटिकाओं के समान स्त्रियों को त्याज्य समझे। समुद्र की तरंगें जिस प्रकार चंचल होती हैं, उसी तरह स्त्रियों का स्वभाव भी चंचल होता है। जैसे सन्ध्याकाल के बादलों में थोड़ी देर तक राग (लालिमा) टिकता है, वैसे ही स्त्रियों राग भी थोड़ी देर तक रहता है। स्त्रियाँ जब अपना प्रयोजन पुरुष से सिद्ध कर लेती हैं, तब जैसे लोग महावर का रंग निकाल कर उसकी रूई को फैंक देते हैं, वैसे ही वे पुरुष को मन से फैंक देती हैं। स्त्रियों के हृदय में और बात होती है, वाणी में और बात तथा करती कुछ और ही हैं। सामने अन्य बात होती है, पीछे अन्य। तुम्हारे लिए अन्य होता है, मेरे लिए अन्य होता है। वस्तुतः स्त्रियों का सब कुछ अन्य ही होता है।

स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में वृत्तिकार ने एक कथानक प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

एक युवक वैशिक कामशास्त्र (स्त्री स्वभाव को बताने वाले शास्त्र) के अध्ययन के लिए घर से पाटलिपुत्र रवाना हुआ। रास्ते में वह एक गाँव में एक स्त्री के यहाँ टिका। उसने युवक का रूप-रंग देखकर पूछा—"तुम्हारे हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमार हैं, तुम्हारा चेहरा भी सुन्दर है, तुम हृष्टपुष्ट युवक हो, फिर अपना गाँव और घर छोड़कर कहाँ जा रहे हो?" युवक ने अपने जाने का प्रयोजन यथार्थरूप से उस स्त्री को कह सुनाया। यह सुनकर स्त्री ने कहा—"अच्छा, खुशी से जाओ, पर वैशिक कामशास्त्र पढ़कर लौटते समय इस गाँव से होकर ही जाना।" युवक ने उक्त स्त्री की बात मानकर उसे वचन दिया। अतः अपने वचन के अनुसार युवक वैशिक कामशास्त्र पढ़कर लौटते समय उसी मार्ग से होकर उस गाँव में पहुँचा। उस स्त्री के यहाँ जब वह पहुँचा, तो उसने स्नान-भोजन आदि के द्वारा युवक की बड़ी आवभगत की। साथ ही उस स्त्री ने अपने हावभावों, कटाक्षों, अंगविन्यास एवं बोलचाल से उस युवक का मन इतना हर लिया कि वह उस स्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर मोहित हो गया। मोहित युवक ने ज्यों ही उस स्त्री का हाथ पकड़ना चाहा त्यों ही उसने जोर से चिल्लाकर अपना हाथ छुड़ा लिया और लोगों की भीड़ जमा होने का अवसर देखकर चट से उसके सिर पर पानी का भरा घड़ा उड़ेल दिया। जब आगन्तुक लोगों ने पूछा कि 'तुमने ऐसा क्यों किया ?' तब उसने बनावटी बात बनाते हुए कहा—इसके गले में पानी लग गया था, अतः इसके मरने में जरा-सी कसर रह गई थी। इसकी ऐसी स्थिति देखकर मैंने इसे बचाने के लिए दया लाकर इसको पानी से नहला दिया। सब लोग जब 'बहुत अच्छा किया', कहकर चले गए तब उस स्त्री ने युवक से कहा—"वैशिक कामशास्त्र पढ़कर तुमने स्त्री स्वभाव का क्या खाक ज्ञान प्राप्त किया है ?" वस्तुतः स्त्री चरित्र दुर्विज्ञेय होता है। इसलिए पुरुष को, खासकर साधक को स्त्री के स्वभाव पर सहसा विश्वास नहीं करना चाहिए।

मूल पाठ

अवि हत्थपायछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते ।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥२१॥

संस्कृत छाया

अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्धमांसोत्कर्त्तनम् ।
अपि तेजसाऽभितापनानि तक्षयित्वा क्षारसिंचनानि च ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**अवि हत्थपायछेदाए**) इस लोक में परस्त्री के साथ सम्पर्क करना हाथ-पैर के छेदनरूप दण्ड के लिए होता है (**अदुवा वद्धमंसउक्कंते**) अथवा चमड़ी और मांस काटने का दण्ड मिलता है (**अवि तेयसाभितावणाणि**) अथवा आग से जलने का दण्ड मिलता है। (**तच्छियखारसिंचणाइं**) अथवा अंग काटकर उस पर खार छिड़कने का दण्ड मिलता है।

भावार्थ

जो लोग परस्त्रीसेवन करते हैं, उनके हाथ-पैर काट लिए जाते हैं, चमड़ी उधेड़ ली जाती है, मांस नोंच लिया जाता है तथा आग में जलाया जाता है, एवं उनके अंग काटकर उन पर खार छिड़का जाता है। इस प्रकार का भयंकर दण्ड उन्हें इस लोक में मिलता है।

व्याख्या

परस्त्रीसंसर्ग का इहलौकिक भयंकर दण्ड

इस गाथा में परस्त्रीसंसर्ग करने वाले व्यक्तियों के भयंकर दण्ड का शास्त्रकार उल्लेख करते हैं। यहाँ '**अवि**' (अपि) शब्द सम्भावना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह सभी प्रकार के दण्डों के साथ समझ लेना चाहिए। अर्थात् परस्त्री में मोहित एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसक्त लोगों के हाथ-पैर काट लिए जाने की सम्भावना है, उनकी चमड़ी उधेड़ ली जानी सम्भव है, मांस भी नोंचा जा सकता है, उस स्त्री के स्वजनों द्वारा उत्तेजित राजपुरुष पारदारिकों को भट्टी पर चढ़ाकर उन्हें तपा भी सकते हैं, परस्त्रीलम्पट शरीर को बसूला आदि से छीलकर उस पर खार छिड़का जा सकता है। ये सब दण्ड कितने भयंकर हैं ! परस्त्रीगामी को प्रतिष्ठाहानि, अपकीर्ति आदि मानसिक दण्ड भी कम नहीं होता। उसकी निन्दा, भर्त्सना, अपशब्दों एवं गालियों की बौछार आदि वाचिक दण्ड भी भयंकर होता है।

मूल पाठ

अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंती ।
इति इत्थ पावसंतत्ता, न य बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

संस्कृत छाया

अथ कर्णनासिकाच्छेदं, कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्तो ।
इत्यत्र पापसंतप्ताः, न च ब्रुवते न पुनः करिष्यामः ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**पावसंतत्ता**) पाप की आग में जलते हुए पुरुष (**इत्थ**) इस लोक में (**कण्णणासच्छेदं**) कान और नाक का छेदन एवं (**कंठच्छेदणं**) कण्ठ का छेदन (**तितिक्खंती**) सहन कर लेते हैं। (**न य बिंति**) परन्तु यह नहीं कहते कि (**पुणो न काहिंति**) अब हम फिर पाप नहीं करेंगे।

भावार्थ

पाप से सन्तप्त पुरुष इस लोक में कान और नाक के छेदन एवं कण्ठ का छेदन तो सह लेते हैं, लेकिन वे मूढ़ यह वादा नहीं करते कि अब भविष्य में हम पाप नहीं करेंगे।

व्याख्या

परस्त्रीगामी द्वारा भयंकर दण्ड सहन, किन्तु पाप से विरत नहीं

इस गाथा में परस्त्रीगामी की कठोर मनोवृत्ति और साहस का परिचय दिया गया है कि वे अपने पापकर्म से सन्तप्त होकर नरक के सिवाय इस लोक में किये हुए पाप के दण्डस्वरूप कान और नाक तथा कण्ठ का छेदन तो सह लेते हैं, परन्तु मन में ऐसा दृढ़ संकल्प करके कभी वचनबद्ध नहीं होते कि भविष्य में हम ऐसा कुकृत्य नहीं करेंगे। सच है, पापी पुरुष इस लोक और परलोक में मिलने वाली भयंकर सजा एवं यातना तो स्वीकार कर लेते हैं, पर पापकर्म से निवृत्त नहीं होते।

मूल पाठ

सुयमेयमेवेगेसिं इत्थीवेदेति हु सुयक्खायं ।
एवं पि ता वदित्तावि, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

श्रुतमेतदेवमेकेषां स्त्रीवेद इति हु स्वाख्यातम् ।
एवमपि ता उक्त्वाऽपि, अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थ

(एयं एवं सुतं) हमने यह सुना है कि ऐसा पाप (स्त्रीसम्पर्क का कुकृत्य) बहुत बुरा होता है, (एगेसिं सुयक्खायं) कुछ लोगों ने यह ठीक ही कहा है कि (इत्थीवेदेति हु) वैशिक कामशास्त्र (स्त्री-वेद) का भी यह कथन है कि (ता एवं पि वदित्ताणि कम्मुणा अवकरेंति) अब पुनः मैं ऐसा नहीं करूँगी, यह कहकर भी स्त्रियाँ (कामुक नारियाँ) पुनः कर्म से अपकार्य करती हैं ।

भावार्थ

यह हमने सुना है कि ऐसा पाप (स्त्रीसंसक्ति का दुष्कार्य) बहुत ही बुरा है तथा कोई ऐसा ठीक ही कहते भी हैं और वैशिक कामशास्त्र (स्त्री-स्वभाव निरूपक वेद) का भी यह कथन है कि स्त्रियाँ पुनः पापकर्म न करने का वचन देकर भी कर्म से अपकर्म करती जाती हैं ।

व्याख्या

श्रुति, युक्ति और अनुभूति से काम बुरा, किन्तु दुस्त्याज्य

शास्त्रकार केवल अपनी बात न कहकर अन्य कामशास्त्र आदि से तथा युक्ति और अनुभूति से यह प्रमाणित करते हैं कि हमने सुना है तथा वैशिक कामशास्त्र में भी कथन है और कुछ लोगों ने युक्ति से भी सिद्ध कर दिया है कि स्त्री के साथ संसर्ग बुरा है, किन्तु स्त्रियाँ ऐसा कहकर भी कि अब हम अपने साथ संसर्ग नहीं होने देंगी, फिर भी पुनः इस अपकर्म को करती रहती हैं ।

यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'सुयमेयमेवेगेसि.....कम्मुणा अवकरेंति' । अर्थात् पूर्वगाथाओं में जो कहा गया है, वह सब हमने गुरुपरम्परा से, लोकश्रुति-परम्परा से तथा किन्हीं अनुभवी सज्जनों से सुना है कि स्त्रीसंसर्ग निन्दनीय है । क्योंकि स्त्री का चित्त दुर्विज्ञेय, स्वभाव चंचल और उनका सेवन कठिन होता है । उनके साथ सम्पर्क का नतीजा बहुत बुरा होता है । कई तो बहुत ही अदूरदर्शिनी और तुच्छ स्वभाव की होती हैं । उनमें अभिमान बहुत अधिक होता है । इस प्रकार कोई कहते हैं । यह बात लौकिक श्रुति परम्परा से तथा पुरानी आख्यायिकाओं से भी ज्ञात होती है । स्त्रियों के स्वभाव और उनके साथ संसर्ग का फल बताने वाले वैशिक कामशास्त्र को 'स्त्री-वेद' कहते हैं । इसमें भी कहा है—

दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्,
भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।
चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते,
नार्यो नाम विषांकुरैरिव लता दोषैःसमं वर्धिताः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जैसे दर्पण पर पड़ी हुई मुख की छाया दुर्ग्राह्य होती है, वैसे ही स्त्रियों का हृदय दुर्ग्राह्य (जल्दी से पकड़ में न आने वाला) होता है। स्त्रियों का अभिप्राय पर्वत के दुर्गम मार्ग के समान गहन होने के कारण सहसा विज्ञात नहीं होता। उनका चित्त कमलपत्र पर पड़े हुए जलबिन्दु के समान अति चंचल होता है, इसलिए वह एक जगह नहीं टिकता। नारियाँ क्या हैं? ये विष के अंकुरों के साथ उत्पन्न हुई विषलता के समान विभिन्न दोषों से पालित-पोषित होती हैं।

वृत्तिकार ने किसी अनुभवी की गाथाओं भी इस सम्बन्ध में दी हैं—

सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि य लद्धपसरासु ।
अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्वो ॥१॥
उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो, सयलंमि जीवलोयंमि ।
कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥२॥
अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं ।
तस्स ण करेंति णवरं जस्स अलं चेव कामेहिं ॥३॥

अर्थात्—अच्छी तरह जीती हुई, अच्छी तरह प्रसन्न की हुई, अच्छी तरह परिचय की हुई अटवी और स्त्री का विश्वास नहीं करना चाहिए। क्या इस समग्र जीवलोक में कोई अंगुलि उठाकर कह सकता है, जिसने स्त्री की कामना करके दुःख न पाया हो? स्त्रियों का स्वभाव है कि वे सबका तिरस्कार करती हैं, केवल उसका तिरस्कार नहीं करती, जिसे स्त्री की कामना नहीं है।

अतः अन्त में शास्त्रकार कहते हैं—'अब हम ऐसा नहीं करेंगी', इस प्रकार वचन द्वारा कहकर भी स्त्रियाँ कर्म द्वारा विपरीत आचरण करती जाती हैं। अथवा सामने स्वीकार करके भी शिक्षा (उपदेश) देने वाले का ही अपकार करती हैं।

आगामी गाथा में स्वयं शास्त्रकार स्त्री-स्वभाव का परिचय देते हैं—

मूल पाठ

अन्नं मणेण चिंतेंति वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थीओ णच्चा ॥२४॥

संस्कृत छाया

अन्यन्मनसा चिन्तयन्ति, वाचा अन्यच्च कर्मणाऽन्यत् ।
तस्मान्न श्रद्दधीत भिक्षुः बहुमायाः स्त्रियोः ज्ञात्वा ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**मणेण अन्नं चिंतेंति**) स्त्रियाँ मन से कुछ और सोचती हैं, (**वाया अन्ने च**) और वचन से और कहती हैं, तथा (**कम्मुणा अन्नं**) कर्म से और कुछ करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(तम्हा) इसलिए (बहुमायाओ इत्थीओ णच्चा) स्त्रियों को अतिमाया वाली जान कर (भिक्खू ण सद्दहे) साधु उन पर विश्वास न करे।

भावार्थ

स्त्रियाँ मन में कुछ और विचार करती हैं, एवं वाणी से कुछ और प्रगट करती हैं तथा कर्म से कुछ और ही करती हैं। इसलिए साधु स्त्रियों को अत्यन्त मायाविनी जानकर उन पर भरोसा न करे।

व्याख्या

स्त्रियों के मन, वचन, कर्म से विभिन्न रूप

इस गाथा में शास्त्रकार स्त्री-स्वभाव का चित्रण करते हैं—'अन्नं मणेण''' इत्थीओ णच्चा।' तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अति गम्भीर होती हैं, वे मन से कुछ और ही विचार करती हैं, तथा सुनने में मधुर प्रतीत होने वाले, किन्तु परिणाम में भयंकर अपनी वाणी द्वारा भाषण और ही तरह का करती हैं, और उसके कर्म का रूप इन दोनों से भी न्यारा है। साधु यह निश्चित समझ ले कि स्त्रियाँ माया करने में अति निपुण होती हैं, उनका कोई भरोसा नहीं है। अतः उनकी माया से अपनी आत्मा को लिप्त न होने दे।

इस सम्बन्ध में वृत्तिकार एक कथा देते हैं। एक युवक था—दत्तावैशिक। उसे ठगने के लिए एक वेश्या ने अनेक उपाय किये। परन्तु उन्होंने मन से उसकी कामना नहीं की। उसे दृढ़ देखकर वेश्या ने कहा—मैं दुर्भाग्यरूपी कलंक से कलंकित हूँ, अब मुझे जीने से क्या प्रयोजन है। मुझे आपने छोड़ दिया है, अतः मैं अब अग्नि में प्रवेश करके जल मरूँगी। यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा—"स्त्रियाँ माया करके अग्नि में भी प्रवेश कर सकती हैं।" इस पर उस वेश्या ने सुरंग के पूर्व द्वार के पास लकड़ियों का ढेर इकट्ठा करके उसे जला दिया और सुरंग मार्ग से अपने घर चली आई। इसके बाद दत्तावैशिक ने कहा—"स्त्रियों के लिए ऐसी माया करना तो बाएँ हाथ का खेल है।" वह ऐसा कह रहे थे कि उन्हें विश्वास दिलाने के लिए धूर्तों ने उन्हें चिता पर फैंक दिया। इतने पर भी उन्होंने स्त्रियों पर विश्वास नहीं किया। इसी प्रकार अन्य साधकों को भी स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

मूल पाठ

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता।
विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥२५॥

संस्कृत छाया

युवतिः श्रमणं ब्रूयात् विचित्रालंकारवस्त्रकाणि परिधाय।
विरता चरिष्याम्यहं रुक्षं, धर्ममाचक्ष्व नः भयत्रातः ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जुवती**) कोई जवान स्त्री (**विचित्तलंकारवत्थगाणि**) विचित्र आभूषण और वस्त्र (**परिहित्ता**) पहनकर (**समणं बूया**) साधु से कहे कि (**अहं विरताचरिस्स रुक्खं**) मैं गृहबन्धन से विरत होकर संयम पालन करूँगी (**भयंतारो**) हे भयत्राता साधो ! (**णे धम्ममाइक्ख**) आप मुझे धर्म के सम्बन्ध में उपदेश दें, कहें।

भावार्थ

कोई युवती नारी विचित्र अलंकार और वस्त्र पहनकर साधु से कहे कि मैं विरक्त होकर संयम का पालन करूँगी, इसलिए आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए।

व्याख्या

नारी : साध्वी बनने के बहाने साधु को ठगने वाली

कोई नवयौवना नारी वस्त्रालंकारों से सुसज्ज होकर साधु से कहे कि "मुनिवर ! मैं अब इस गृहबन्धन से विरक्त हो चुकी हूँ। मेरा पति मुझे पसन्द नहीं है, या वह मेरे अनुकूल नहीं है, उसने मुझे छोड़ दिया है अतः मैं तो अब संयम का पालन करूँगी। कहीं-कहीं '**रुक्खं**' के बदले '**मोणं**' शब्द है, वहाँ भी मौन (मुनि का भाव—मुनित्व) का अर्थ संयम ही होता है। अतः हे भय से रक्षक साधो ! मुझे आप धर्म सुनाइए, ताकि मैं इस दुःख की भागिनी न बनूँ।"

इस प्रकार धर्मध्वजी बनकर महिलाएँ साधु को अपने चक्कर में फँसा लेती हैं।

अगली गाथा में बताया है कि इससे भी आगे बढ़कर वे और भी विश्वस्त वेष धरकर साधु के समक्ष आती हैं –

मूल पाठ

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा ॥२६॥

संस्कृत छाया

अथ श्राविकाप्रवादेन, अहमस्मि साधर्मिणी श्रमणानाम् ।
जतुकुम्भो यथा उपज्योति, संवासे विद्वान् विषीदेत ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**अदु**) इसके पश्चात् (**साविया पवाएणं**) श्राविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आकर कहती है – (**अहमंसि साहम्मिणी समणाणं**) मैं श्रमणों की साधर्मिणी हूँ, यह कहकर भी वह साधुओं के पास आती है। (**जहा उवज्जोइ जतुकुंभे**) जैसे आग के पास लाख का घड़ा जल जाता है। इसी तरह (**विदू**) विद्वान् पुरुष भी (**संवासे**) स्त्री संसर्ग से शिथिलाचारी हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

इसके पश्चात्—स्त्री कभी श्राविका होने के बहाने से साधु के निकट आती है और कहती है—मैं श्रमणों की सहधर्मिणी हूँ, यह कहकर वह बार-बार साधु के पास आती है, बैठती है और साधु को ठगने का उपक्रम करती है। जैसे आग के पास रखा हुआ लाख का घड़ा जलकर कुछ ही क्षणों में स्वाहा हो जाता है इसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्रियों से संसर्ग करके भ्रष्ट हो जाता है।

व्याख्या

स्त्री, श्राविका के बहाने साधु को फँसाती है

इस गाथा में प्रस्तुत किया गया है कि मायाविनी स्त्री किस प्रकार साधु को श्राविका बनकर फँसा लेती है। मायाविनी नारी साधु के पास इस बहाने से आती है कि मैं श्राविका हूँ, इसलिए साधु की साधर्मिणी हूँ। ऐसा प्रपंच रचकर वह स्त्री बार-बार साधु के सम्पर्क में आती है। घण्टों उसके पास बैठती है और धीरे-धीरे कूलबालुक तपस्वी की तरह साधु को धर्म से भ्रष्ट कर देती है।

वास्तव में स्त्री का संसर्ग ब्रह्मचारियों के लिए महान् अनर्थ का कारण होता है। कहा भी है—

तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः।
सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः॥

वह ज्ञान, वह विज्ञान, वह तप और वह संयम सब स्त्री को विकार दृष्टि से देखते ही नष्ट हो जाते हैं, अगर सर्वांगरूप से उसे मोहदृष्टि से देखकर उसके साथ सम्पर्क कर ले, तब वह महान् अनर्थ का कारण बन जाती है। शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा इस बात को समझाते हैं—**'जतुकुंभे जहा उवज्जोई'** जिस तरह लाख का घड़ा आग के पास रखते ही पिघल जाता है वैसे ही ब्रह्मचारी का स्त्री के साथ निवास करने से वह भ्रष्ट हो जाता है। बड़े-बड़े विद्वान् भी जब स्त्रियों के साथ संवाद करने से धर्माचरण में शिथिल हो जाते हैं, तब साधारण आदमियों की तो बात ही क्या ?

इसी दृष्टान्त द्वारा अगली गाथा में फिर शास्त्रकार समझाते हैं—

मूल पाठ

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

संस्कृत छाया

जतुकुम्भो ज्योतिरुपगूढः आश्वभितप्तो नाशमुपयाति।
एवं स्त्रीभिरनगाराः संवासेन नाशमुपयान्ति ॥२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जोइउवगूढे जतुकुंभे**) अग्नि के साथ आलिंगन किया हुआ लाख का घड़ा (**आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ**) शीघ्र ही तपकर नष्ट हो जाता है, (**एवित्थियाहिं संवासेण अणगारा**) इसी तरह स्त्रियों के संसर्ग से अनगार साधक (**णासमुवयंति**) नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ

जैसे अग्नि को छूता (आलिंगित किया) हुआ लाख का घड़ा चारों ओर से तपकर शीघ्र ही पिघल जाता है, इसी तरह अनगार पुरुष स्त्रियों के संसर्ग से शीघ्र ही संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या

स्त्री के स्पर्श से भी कितना अनर्थ !

स्त्री का संसर्ग तो दूर रहा, सिर्फ स्त्री के स्मरण मात्र से ही कितना अनर्थ होता है ? यह इस गाथा में बताया है। इस सम्बन्ध में पूर्व गाथा में उक्त दृष्टान्त द्वारा पुनः समझाया गया है। जैसे अग्नि में आलिंगित लाख का घड़ा शीघ्र ही सब ओर से तपकर पिघल कर नष्ट हो जाता है, इसी तरह ब्रह्मचारी साधु भी स्त्री के स्मरणमात्र से यानी मन में विचारमात्र से ही संयम से भ्रष्ट हो जाता है।

मूल पाठ

कुव्वंति पावगं कम्मं पुट्ठा वेगेवमाहिंसु ।
नोऽहं करेमि पावंति अंकेसाइणी ममेसत्ति ॥२८॥

संस्कृत छाया

कुर्वन्ति पापकं कर्म पृष्ठा एके एवमाहुः ।
नाऽहं करोमि पापमिति अङ्कशायिनी ममैषेति ॥२८॥

अन्वयार्थ

(**एगे पावगं कम्मं कुव्वंति**) कई भ्रष्टाचारी साधुवेषी पापकर्म करते हैं, (**पुट्ठा वा एवमाहंसु**) किन्तु पूछने पर ऐसा कहते हैं कि (**अहं पावं नो करेमि**) मैं पापकर्म नहीं करता हूँ (**एसा मम अंकेसाइणी त्ति**) किन्तु यह स्त्री बचपन से मेरी अंकशायिनी रही है।

भावार्थ

कई भ्रष्टाचारी साधुवेषधारी पापकर्म करते हैं, किन्तु आचार्य आदि के पूछने पर ऐसा कह देते हैं, "अजी ! मैं तो पापकर्म करता ही नहीं। यह स्त्री बचपन में मेरे अंक में सोती थी, इसी कारण यह ऐसा करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

स्त्री-मोहित सदनुष्ठानभ्रष्ट साधकों की माया

इस गाथा में शास्त्रकार उन भ्रष्ट साधकों का उल्लेख करते हैं, जो संसार में फँसाने वाली नारी में आसक्त एवं उत्तम अनुष्ठान से भ्रष्ट एवं इहलोक परलोक के नाश से न डरने वाले कुछ वेषधारी पापकर्म करते हैं। परन्तु उत्कट मोह से मूढ बने वे वेषधारी पुरुष आचार्य, गुरु आदि के पूछने पर बिलकुल इन्कार करते हुए कहते हैं — "मैं कोई ऐसे-वैसे कुल में उत्पन्न ऐरा-गैरा साधु नहीं हूँ, जो पाप कर्म के कारणस्वरूप अनुचित कर्म करूँ। यह तो मेरी पुत्री के समान है। यह बाल्यकाल में मेरी गोदी में सोती थी। अतः उस पूर्व अभ्यास के कारण ही मेरे साथ ऐसा आचरण करती है। वस्तुतः मैं तो संसार के स्वरूप को भलीभाँति जानता हूँ। प्राण चले जायँ, पर मैं ऐसा व्रतभंग कदापि न करूँगा।"

इस प्रकार कपट करके अपने पाप को छिपाने वाला और अधिक मोहकर्म के वश हो जाता है।

मूल पाठ

बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२६॥

संस्कृत छाया

बालस्य मान्द्यं द्वितीयं, यच्च कृतमपजानीते भूयः ।
द्विगुणं करोति स पापं, पूजनकामो विषण्णैषी ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**बालस्स**) उस मूर्ख पुरुष की (**बीयं मंदयं**) दूसरी मूर्खता यह है कि (**जं च कडं भुज्जो अवजाणई**) वह किये हुए पापकर्म को, नहीं किया कहता है (**से दुगुणं पावं करेइ**) इस प्रकार वह दुगुना पाप करता है। (**पूयणकामो विसन्नेसी**) वह जगत् में अपनी पूजा प्रतिष्ठा चाहता है, लेकिन असंयम की इच्छा करता है।

भावार्थ

उस मूढ़ पुरुष की दूसरी विवेकमूढ़ता यह है कि उसने जो पापकर्म किया है, उससे फिर इन्कार करता है। इस प्रकार वह दुगुना पाप करता है। वह ऐसा इसलिए करता है कि वह जगत् में अपनी पूजा-प्रतिष्ठा चाहता है, किन्तु दूसरी ओर असंयम में लिपटा रहना चाहता है।

व्याख्या

पापकर्म करना और उसे छिपाना दोहरा पाप है

इस गाथा में पूर्व गाथा में उक्त वेषधारी पापकर्मसेवी की वृत्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्लेषण किया है—'**बालस्स मंदयं बीयं ....पूयणकामो विसन्नेसी** ।' आशय यह है कि राग-द्वेष से आकुल बुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ़ साधक की यह दूसरी मूढ़ता है, एक तो अकार्य करने से चतुर्थ व्रत का भंग होता है, फिर वह उस अकार्य को स्वीकार न करके मिथ्याभाषण का पाप और करता है। एक तो उक्त मूढ़ ने धृष्टतापूर्वक असदनुष्ठान किया। फिर उसके विषय में दूसरे के पूछने पर वह उससे इन्कार करता हुआ कहता है—"राम-राम ! मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज नहीं किया है। भला मैं ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत है।" वह इस प्रकार का मायाचार और दम्भ क्यों करता है ? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—'**पूयणकामो विसन्नेसी** ।' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह तथ्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बुरा कर्म करता हो, पर वह समाज में सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है, इसलिए वह अपनी तसवीर समाज में अच्छी प्रस्तुत करने हेतु एवं सदाचारी, त्यागी, तपस्वी, संयमी न होते हुए भी सदाचारी, त्यागी, तपस्वी और संयमी कहलाने हेतु मायाचार करता है। वह अपने पापकर्म को छिपाकर ऐसा दबदबा रखता है कि कोई उस पर उंगली न उठा सके, साथ ही वह अपनी असंयमीवृत्तिजनित दुष्कर्मों को छोड़ना भी नहीं चाहता। 'थोथा चना, बाजे घना' वाली कहावत को वह चरितार्थ करता है।

मूल पाठ

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥

संस्कृत छाया

संलोकनीयमनगारमात्मगतं निमंत्रणेनाहुः ।
वस्त्रं च त्रायिन् ! पात्रंवा, अन्नं पानकं प्रतिगृहाण ॥३०॥

अन्वयार्थ

(**संलोकणिज्जं**) देखने में सुन्दर (**आयगयं**) आत्मज्ञानी (**अणगारं**) साधु को (**निमंतणेणाहंसु**) स्त्रियाँ निमंत्रण देती हुई कहती हैं—(**ताइ**) हे भवसागर से रक्षा करने वाले साधुवर ! (**वत्थं च पायं वा अन्नं पाणगं पडिग्गाहे**) वस्त्र, पात्र, अन्न और पान आप मेरे यहाँ से स्वीकार करें।

भावार्थ

देखने में सुन्दर साधु को स्त्रियाँ प्रार्थना करती हुई कहती हैं—हे भवसागरत्राता मुनिवर ! आप मेरे यहाँ पधार कर वस्त्र, पात्र और अन्न-पान ग्रहण करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

व्यभिचारिणी स्त्रियों द्वारा साधु को जाल में फँसाने का प्रयत्न

इस गाथा में एक और पहलू से साधु को सावधान किया गया है कि किस प्रकार से व्यभिचारिणी स्त्रियाँ भद्र एवं संयमी साधु को अपने कामजाल में फँसा लेती हैं—**"संलोकणिज्ज"·····" पडिग्गाहे।"** आशय यह है कि कई कामुक नारियाँ सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एवं सुरूप आत्मज्ञानी अनगार को सभ्य तरीके से कामजाल में फँसाने का प्रयत्न करती हैं। वे उक्त साधु को प्रार्थना करती हैं—"संसार सागर से रक्षा करने वाले मुनिवर ! वस्त्र पात्र, अन्न-पान आदि जिस वस्तु की आपको आवश्यकता हो तो आपको और कहीं पधारने की जरूरत नहीं, आप मेरे यहाँ पधारें। मैं आपको सब कुछ दूँगी।"

अगर साधु उनके वाग्जाल में फँसकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उनके यहाँ आवागमन करेगा और वस्त्रादि स्वीकार कर लेगा तो फिर उसके भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना है।

मूल पाठ

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे विसयपासेहिं मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥३१॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

नीवारमेवं बुध्येत, नेच्छेदगारमागन्तुम् ।
बद्धो विषयपाशेन मोहमाप्नुते पुनर्मन्दः ॥३१॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार के प्रलोभन को साधु (**णीवारं बुज्झेज्जा**) सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। (**अगारमागंतु णो इच्छे**) ऐसी स्त्रियों की प्रार्थना पर उनके घर बार-बार जाने की इच्छा न करें। (**विसयपासेहिं बद्धे मंदे**) विषयपाश में बँधा हुआ मूढ़ साधक (**पुणो मोहमावज्जइ**) पुनः-पुनः मोह को प्राप्त होता है। (**त्ति बेमि**) "यह मैं कहता हूँ।"

भावार्थ

पूर्वोक्त प्रकार के प्रलोभनों को साधु सूअर को लुभाकर फँसाने वाले चावलों के दाने के समान समझे। विषयरूपी पाश से बँधा हुआ वह मूर्ख व्यक्ति बार-बार मोह को प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

साधक उन प्रलोभनों से दूर रहे

इस गाथा में पूर्वगाथा में वर्णित प्रलोभनों के सन्दर्भ में साधु को सावधान किया गया है कि जब भी उसके सामने ये और इस प्रकार के अन्य प्रलोभन आवें तो वह बिलकुल न ललचाए। वह दीर्घदृष्टि से उस पर विचार करे कि यह जो अमुक-अमुक वस्तुओं को देने की प्रार्थना इन महिलाओं द्वारा की जा रही है, वह स्वाभाविक है या कृत्रिम ? स्वार्थ से लिप्त है, मोहयुक्त है या परमार्थ से प्रेरित है ? मान लो, कदाचित् साधु को किसी वस्तु की आवश्यकता भी हो तो वह अपने साथी साधु को साथ लेकर किसी पुरुष या अन्य स्त्री की उपस्थिति में उस स्त्री के यहाँ प्रवेश करे और प्रासुक, कल्पनीय और ऐषणीय वस्तु जानकर ग्रहण करे। लेकिन अगर कोई शक हो और उक्त प्रार्थी महिला दुश्चरित्र प्रतीत हो तो वह उस स्त्री के यहाँ न जाए। क्योंकि इस प्रकार की दुश्चरित्र स्त्रियाँ साधु को वस्त्रपात्रादि का आमंत्रण देकर तथा थोड़ा-बहुत देकर पहले वश कर लेती हैं, फिर उसको अपने कामजाल में फँसाकर संयमभ्रष्ट कर देती हैं। कदाचित् साधु अनायास ही उसके यहाँ पहुँच गया हो तो वह अपने कल्पानुसार थोड़ा-सा कुछ लेकर वहाँ से तुरन्त वापस लौट जाए। दुबारा फिर उस स्त्री के घर जाने की इच्छा न करे। अथवा एक बार संयम लेने के बाद साधु गृहरूपी भंवर में पड़ने की फिर इच्छा न करे। उन दुश्चरित्र स्त्रियों की प्रार्थना को धोखाधड़ी समझे उसी प्रकार जैसे सूअर को चावल के दाने फैलाकर वश में कर लेते हैं। किन्तु पाश के समान शब्दादि विषयों के द्वारा बँधा हुआ अज्ञजीव स्नेहपाश को तोड़ने में समर्थ नहीं होता, बार-बार उसका चित्त व्याकुल होता है। उसे अपने कर्त्तव्य का भान नहीं होता। इति शब्द समाप्ति के अर्थ में आया है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार चतुर्थ अध्ययन का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

शीलभ्रष्ट पुरुष की दशा

प्रथम उद्देशक में बताया गया था कि स्त्री-सम्पर्क करने से साधक किस प्रकार चारित्रभ्रष्ट हो जाता है। अब दूसरे उद्देशक में उस चारित्रभ्रष्ट पुरुष की दशा तथा चरित्रभ्रष्टता से होने वाले कर्मबन्ध का वर्णन किया जा रहा है। इस सम्बन्ध से दूसरे उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

संस्कृत छाया

ओजः सदा न रज्येत, भोगकामी पुनर्विरज्येत ।
भोगे श्रमणानां शृणुत, यथा भुंजंति भिक्षव एके ॥१॥

अन्वयार्थ

(**ओए सया ण रज्जेज्जा**) ओज अर्थात् राग-द्वेषरहित अकेला साधु भोगों में सदा (कदापि) अनुरक्त न हो, चित्त न लगाए। (**भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा**) कदाचित् भोगों की चित्त में कामना प्रादुर्भूत हो जाय तो उसे ज्ञानबल द्वारा हटा दे, ज्ञान के द्वारा उससे विरक्त हो जाय। (**भोगे समणाणं**) भोगों का सेवन करने से श्रमणों की जो हानि या हँसी होती है, तथा (**जह एगे भिक्खुणो भुंजंति सुणेह**) कई साधु किस प्रकार भोग भोगते हैं, उसे सुनो।

भावार्थ

हे शिष्यो ! राग-द्वेष से रहित साधु कदापि भोगों में अनुरक्त न हो। यदि मोहोदयवश भोग-कामना की लहर मन में उठे तो ज्ञानबल से उसे वहीं रोक दे। भोगों के सेवन से साधुओं की कितनी हानि या हँसी होती है, तथा कई भिक्षु किस प्रकार भोग भोगते हैं, यह सुनो।

व्याख्या

भोगकामना ज्ञानबल से हटाए

इससे पूर्वगाथाओं में बताया गया था कि साधु को कोई नारी किसी भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहाने से अपने मोहजाल में फँसा कर कामभोगों में लुभाना चाहे तो साधु उसमें लुभा न जाए, सावधान रहे। उसी सन्दर्भ में इस गाथा में तथा यहाँ आगे की गाथाओं में बताई जाने वाली बातों के सम्बन्ध में संकेत किया गया है कि साधु सदैव काम-भोगों से दूर रहे। क्यों दूर रहे? कैसे दूर रहे? दूर नहीं रहता है तो क्या हानि उठानी पड़ती है? भोगों से दूर न रहने वाला साधु किस प्रकार कामभोगों में फँस कर दुःख पाता है? ये सब बातें हम अगली गाथाओं में कहेंगे।

कामभोगों से दूर रहने का कारण श्रमण का एक **'ओए'** (ओज) विशेषण देकर बताया गया है। वृत्तिकार ओज शब्द के दो अर्थ करते हैं। एक द्रव्य-ओज और दूसरा भाव-ओज। द्रव्य-ओज का अर्थ परमाणु है और भाव-ओज का मतलब है—राग-द्वेष से रहित पुरुष। जैसे परमाणु अकेला होता है, वैसे ही साधु भी राग-द्वेषादि विकारों के परिवार से रहित (भावतः) एकाकी है। जब साधु वीतरागता के पथ पर तीव्रगति से चलने वाला पथिक है तो उसे स्त्रीविषयक राग तो सर्वथा और सर्वदा छोड़ना अनिवार्य है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'ओए सया ण रज्जेज्जा'** अर्थात् रागद्वेषरहित होकर साधु सर्वथा अनर्थ की खान स्त्रियों में अनुरक्त न हों।

कदाचित् मोहकर्म के उदय से साधु में भोग की कामना प्रादुर्भूत हो जाय तो वह कैसे दूर रहे? इसके लिए गाथा के दूसरे चरण में बताया है—**'भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।'** आशय यह है कि ऐसी परिस्थिति में साधु ज्ञानरूपी अंकुश द्वारा कामभोगों से विरक्ति प्राप्त करे। यानी वह इस प्रकार का चिन्तन करे कि त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों में से कौन-से पदार्थ हैं? त्याज्य हैं तो क्यों? कामभोग त्याज्य इसलिए हैं कि ये गृहस्थों के लिए भी अनर्थकारक हैं, विडम्बनाप्राय हैं। तो फिर साधुओं के लिए तो कहना ही क्या? कामभोग किम्पाकफल के समान भयंकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो बाह्य जीवन का नाश कर देता है, लेकिन यह भोग जन्म-जन्मान्तर में जीवन को नष्ट करते हैं। अन्य विचारकों ने भी कहा है—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः,
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरक-कपालार्पितगलः।
व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैरावृततनुः,
शुनी मन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥

अर्थात्—दुर्बल, काना, लंगड़ा, कान और पूँछ से रहित, भूख से व्याकुल, शिथिल अंगों वाला, गले में पड़े हुए ठीकरे के कारण पीड़ित, मवाद से भरे हुए घावों, सैकड़ों कीड़ों से भरा हुआ शरीर वाला कुत्ता कुतिया के पीछे-पीछे भागता फिरता है। सच है, कामदेव मरे हुए को भी मारता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि से श्रमण को ज्ञानबल द्वारा भोग की इच्छा एकदम रोकनी चाहिए।

श्रमण के चित्त में पूर्वसंस्कारवश कदाचित् भोगवासना आ जाने पर उसको ज्ञानबल से न रोककर वह उसमें दिलचस्पी लेता हुआ यदि आसक्तिपूर्वक कामभोगों के प्रवाह में बह जाता है, तो वह उसके लिए हास्यास्पद है। लोग उसकी मजाक उड़ाते हुए कहेंगे—'वाह रे साधु ! कल तो हमें काम-भोगों को छोड़ने के लिए बढ़-चढ़कर कह रहा था, काम-भोगों की निन्दा कर रहा था, आज स्वयं ही कामभोगों में लिपट गया। यह कैसा साधु है ? इस पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं करना चाहिए। इसे अपने घर में प्रवेश नहीं करने देना चाहिए।' इस प्रकार वह श्रमण लोगों के लिए अविश्वसनीय, अनादरणीय और अश्रद्धेय बन जाता है। उसके साथ ही प्रायः समस्त साधुओं के प्रति लोगों की अश्रद्धा, अविश्वास और अनादरबुद्धि हो जाती है। वह समस्त श्रमणसंघ के लिए, साथ ही संघनायक के लिए भी लोकविडम्बना, लोकनिन्दा और घोर आशातना का कारण बन जाता है। इसी आशय को घोषित करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमण शब्द एकवचन में प्रयुक्त न करके **'समणाणं'** बहुवचन में प्रयुक्त किया है।

अन्तिम चरण में यह बताया गया है कि जो साधु कामभोगसेवन से इस प्रकार की घोर हानि की उपेक्षा करके भोग-सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी क्या-क्या दशा या विडम्बना होती है ? अथवा वे इस उत्तम हितशिक्षा को मानकर भोग-भोगने में कैसे प्रवृत्त होकर जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं ? यह बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'जह भुञ्जंति भिक्खुणो एगे।'**

अतः शास्त्रकार स्त्रीसम्बन्धी भोगों में आसक्त उन भिक्षुओं का आँखों देखा, कानों सुना हाल अगली गाथाओं में क्रमशः बताते हैं—

मूल पाठ

अह तं तु भेदमावन्नं मुच्छियं भिक्खुं काममतिवट्टं।
परिभिंदिया णं तो पच्छा, पादद्धट्ठु मुद्धि पहणंति ॥२॥

संस्कृत छाया

अथ तं तु भेदमापन्नं मूर्च्छितं भिक्षुं काममतिवर्तम्।
परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुद्धृत्य मूर्ध्नि प्रघ्नन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**अह भेदमावन्नं**) इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट हुए, (**मुच्छियं**) स्त्रियों में आसक्त (**काममतिवट्टं**) कामभोगों में दत्तचित्त या कामभोगों में अतिप्रवृत्त (**तं तु भिक्खुं**) उस साधु को वे स्त्रियाँ (**पच्छा परिभिंदिया**) बाद में अपने वशीभूत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानकर (**तो पादुद्धट्टु**) अपना पैर उठाकर (**मुद्धि पहणंति**) उसके सिर पर प्रहार करती हैं।

भावार्थ

इसके पश्चात् उस साधु को चारित्र से छिन्न-भिन्न नष्ट-भ्रष्ट, स्त्रियों में आसक्त, कामभोगों (विषयों) में अतिप्रवृत्त - दत्तचित्त एवं अपने वशवर्ती (गुलाम) जानकर वे स्त्रियाँ उस साधु के सिर पर अपना पैर उठाकर लात मारती हैं।

व्याख्या

भोगों में मूर्च्छित स्त्रीआसक्त साधु की विडम्बना

इस गाथा में शास्त्रकार उन साधुवेषी लोगों की विडम्बना का सम्भावनात्मक वर्णन करते हैं—'**अह तं तु भेदमावन्नं ....मुद्धि पहणंति।**' यहाँ उक्त साधु के चार विशेषण दिये हैं— चारित्र से नष्ट-भ्रष्ट, महिलाओं में अत्यासक्त, कामभोगों में अतिप्रवृत्त एवं स्त्रीवशवर्ती। यह एक मनोविज्ञानसम्मत तथ्य है कि जब स्त्रियाँ उक्त साधु को उसके रंग-ढंग, चाल-ढाल, वृत्ति-प्रवृत्ति एवं मनोभावों पर से जान लेती हैं कि यह अब हमारे वश में हो गया है, हम इसे जैसे कहेंगी, वैसे यह स्वीकार कर लेगा; जो कुछ कहा जायेगा, उसे उसी तरह मान लेगा। तब कभी तो वे अपने किये हुए कार्य के प्रति खूब आभार प्रकट करती हैं --"तुम तो आजकल बड़े नटखट हो गये हो, हम तुमसे बोलेंगी नहीं। हम तुम्हारे पास नहीं आएँगी, क्योंकि तुम्हारा सिर मुंडा हुआ होने से तुम बड़े भद्दे मालूम होते हो, तुम्हारा शरीर पसीने से तरबतर रहता है, मैलाकुचैला है, इस कारण तुम्हारे मुँह, काँख, छाती और बस्ति-स्थान आदि बदबू से भरे हैं। हमने तो यह न देखकर तुम्हारे प्रेम में पागल होकर अपने कुल, शील, धर्म और लज्जा की मर्यादा आदि छोड़कर तुम्हें अपना शरीर समर्पित कर दिया, परन्तु तुम इतने निष्ठुर हो कि हमारे लिए कुछ भी नहीं करते, हमारा कहना भी नहीं मानते।" इस प्रकार जब वे महिलाएँ रूठने का-सा स्वाँग करके नाराजी दिखाती हैं, तो स्त्रियों का गुलाम वह साधु उन रुष्ट स्त्रियों को मनाने, प्रसन्न करने लिए उनके चरणों में गिरता है, मधुर-मधुर वचनों से उनकी प्रशंसा करता है। कहा भी है—

व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा,
नागाश्च दानमदराजि कृशैः कपोलैः।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः,
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥

अर्थात्—सिर पर घने बालों वाले केसरी सिंह, मदजल के झरने से दुर्बल कपोल वाले हाथी, तथा बुद्धिशाली और युद्ध में शूरवीर पुरुष भी स्त्री के सामने अत्यन्त कायर और दीन बन जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जब वे स्त्रियां उक्त साधु की वशवर्तिता तथा चारित्रदुर्बलता जान लेती हैं, तब नाराज होकर अपना पैर उठाकर उसके सिर पर लात दे मारती हैं। स्त्रीमोहित मूढ़ साधक उन कुपित स्त्रियों की मार भी हँसकर सह लेता है, यह काम की ही विडम्बना है।

मूल पाठ

जइ केसिआ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

संस्कृत छाया

यदि केशिकया मया भिक्षो ! नो विहरे सह स्त्रिया।
केशानिह लुञ्चिष्यामि, नान्यत्र मया चरेः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**जइ**) यदि (**केसिया मए इत्थीए**) मुझ केशों वाली स्त्री के साथ (**भिक्खू**) हे साधो ! (**णो विहरे**) विहार—रमण नहीं करोगे, तो (**इह**) मैं यहीं इसी जगह (**केसाणं लुंचिस्सं**) केशों को नोंच डालूंगी। (**मए नन्नत्थ चरेज्जासि**) मेरे सिवाय किसी दूसरी जगह विचरण मत करना।

भावार्थ

कामुक महिला कहती है—हे साधुवर ! यदि तुम मुझ केशों वाली नारी के साथ रमण करने में लज्जित होते हो तो मैं इसी जगह अभी इन केशों को उखाड़ फैंकूंगी, परन्तु शर्त यह है कि तुम मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं विहरण नहीं करोगे।

व्याख्या

कामुक स्त्री द्वारा साधु को वचनबद्ध करने का तरीका

इस गाथा में यह बताया गया है कि कामुक कामिनी साधु को किस प्रकार अनुनय-विनय का झूठा प्रदर्शन करके अपने साथ विहरण करने के लिए मनाती है और अपने साथ रहने के लिए वचनबद्ध कर लेती है—'**जइ केसिआ णं मए चरिज्जासि**।'

यहाँ '**केसिआ**' विशेषण से साधु को मोहित करने का कामुक स्त्रियों का ढंग बताया है। स्त्रियों के सिर के बाल पुरुष को सहसा मोहित और आकर्षित कर लेते हैं। अतः केशिका (केशवाली) कामुक स्त्री अपने केशों की लटें दिखलाकर साधु से कहती हैं—अगर मेरे ये लम्बे-लम्बे काले-कजरारे बाल तुम्हें नहीं सुहाते हैं और तुम मेरे साथ रमण करने में लज्जित होते हो तो लो, मैं अभी इसी जगह इन केशों को नोंच डालती हूँ, फिर दूसरे आभूषणों की तो बात ही क्या है ? यहाँ केशों का लुंचन तो उपलक्षण मात्र है, कामिनी साधु को वचनबद्ध करने के लिए कहती है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"ये केश भी उखाड़ डालूँगी, और इन आभूषणों को भी उतारने में नहीं हिचकूँगी, और भी विदेशगमन, धनार्जन आदि कठोर से कठोर दुष्कर काम भी मैं तुम्हारे लिए कर लूंगी, सब कष्ट भी सह लूंगी, परन्तु मेरी एक प्रार्थना है, जो तुम्हें स्वीकार करनी होगी, उसके लिए मुझे वचन देना होगा कि तुम मुझे छोड़कर कहीं दूसरी स्त्रियों के साथ विहरण नहीं करोगे, मेरे सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं जाओगे। मैं तुम्हारा वियोग क्षणभर भी नहीं सह सकूंगी। तुम मुझे जो आज्ञा दोगे, उसका पालन मैं निःसंकोच करूंगी।" इस प्रकार कामुक नारी भद्र साधु को अपने माया-जाल में फँसा लेती है।

मूल पाठ

अह णं से होई उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहि।
अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥४॥

संस्कृत छाया

अथ स भवत्युपलब्धस्ततः प्रेषयन्ति तथाभूतैः।
अलाबूच्छेदं प्रेक्षस्व, वल्गुफलान्याहर इति ॥४॥

अन्वयार्थ

(**अह**) इसके पश्चात् (**से उवलद्धो होई**) यह साधु मेरे साथ घुलमिल गया है, या मेरे वश में हो गया है, इस बात को जब स्त्री जान लेती है, (**तो पेसंति तहाभूएहि**) तब वह उस साधु को दास के समान अपने उन-उन कार्यों के लिए प्रेरित करती है—भेजती है। वह कहती है - (**अलाबुच्छेदं पेहेहि**) तुम्बा काटने के लिए छुरी आदि ले आओ, (**वग्गुफलाइं आहराहित्ति**) मेरे लिए अच्छे-अच्छे फल ले आओ।

भावार्थ

साधु की चेष्टा अ र चेहरे आदि से जब स्त्रियाँ यह भाँप लेती हैं कि अब यह साधु हमारे साथ घुलमिल गया है, हमारे वश में हो गया है, तब वे एक नौकर को तरह अमुक-अमुक कार्य करने के लिए उसे प्रेरणा देकर भेजती हैं। वह कहती हैं—देखो जी, तुम्बा काटने के लिए छुरी या और कोई शस्त्र चाहिए, उसे बाजार से देखकर ले आओ तथा साथ-साथ मेरे लिए अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

व्याख्या

नारीवशीभूत साधु के साथ नौकर का सा व्यवहार

इस गाथा में नारी के वश में हुए साधु के साथ स्त्रियों के व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है—'**अलाउच्छेदं ..... वग्गुफलाइं आहराहित्ति।**' आशय यह है कि पूर्वगाथा में कहे अनुसार स्त्रियाँ जब अपने पर मोहित साधु को अत्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोमल, नम्र, मनोहर, ललित वचनों से दुलारकर आश्वस्त-विश्वस्त करके वचन में अच्छी तरह बाँध लेती हैं, और जब वे यह भलीभाँति जान लेती हैं कि अब यह साधु मेरे प्रति पक्का अनुरागी हो गया है, मेरे साथ घुलमिल गया है, अब यह कहीं अन्यत्र नहीं जाएगा, तब वह उस साधु के साथ नौकर का-सा व्यवहार करने लगती हैं। वह कहती हैं—बाजार में तूम्बा काटने का चाकू या छुरी (अलाबुच्छेदक) देखो तो खरीदकर ले आओ, ताकि मैं उसे ठीक काटकर पात्र का मुख बना सकूँ, और देखो, लगे हाथों नारियल, केले, अंगूर आदि अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

अथवा '**वग्गुफलाइं आहराहित्ति**' इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि तुम जो धर्मकथा या दर्शनशास्त्र आदि पर व्याख्यान देते हो, उस वाणी (वल्गु) का फल, जो वस्त्र या नकद रूप में आदि का लाभ है, उसे भी ले आना।

मूल पाठ

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सति राओ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे ॥५॥

संस्कृत छाया

दारूणि शाकपाकाय, प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ ।
पात्राणि (पादौ) च मे रंजय, एहि तावन्मे पृष्ठं मर्दय ॥५॥

अन्वयार्थ

(**सागपागाए**[1]) सागभाजी पकाने के लिए (**दारूणि**) ईंधन-लकड़ियाँ ले आओ। (**राओ**) रात्रि के निविड़ अन्धकार में (**पज्जोओ**) तेल आदि होगा तो प्रकाश (**भविस्सति**) होगा। (**मे पाताणि य रयावेहि**) और जरा मेरे पात्रों (बर्तनों) को रंग दो, या मेरे पैरों को महावर आदि से रंग दो। (**एहि ता मे पिट्ठओ मद्दे**) 'इधर आओ, जरा मेरी पीठ मल दो।'

भावार्थ

स्त्री उस साधु को नौकर की तरह आज्ञा देती है—"देखो, साग-भाजी पकाने के लिए लकड़ियाँ नहीं हैं, लकड़ियाँ ले आओ। रात में प्रकाश के लिए तेल भी नहीं रहा, अतः तेल लाओगे तो प्रकाश होगा। और जरा मेरे पैरों को महावर आदि से रंग दो या मेरे पात्रों (बर्तनों) को रंग से रंग दो, और जरा इधर आओ, मेरी पीठ में दर्द हो रहा है, उसे मल दो।"

व्याख्या

स्त्री नौकर की तरह तुच्छ कार्यों में जुटाए रखती है

स्त्री के गुलाम बने हुए साधु को वह स्त्री नौकर की तरह तुच्छ कार्यों में

---

१. कहीं-कहीं 'अन्नपागाए' (अन्नपाकाय) पाठ भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरित करती रहती है। कभी कहती है—देखो, आज रसोई बनाने के लिए घर में ईंधन नहीं है, अतः बाजार से लकड़ियाँ ले आओ। कभी आज्ञा देती है—आज रात को उजाला तभी होगा, जब दीपक या दीवट जलाने के लिए तेल होगा, अतः तेल ले आओ। अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि 'रात में प्रकाश के लिए जंगल से लकड़ियाँ ले आओ।' कभी कहती है—'मेरे पात्रों को रंग दो, ताकि मैं भी सुखपूर्वक भिक्षाचरी कर लूँगी अथवा मेरे पैरों को महावर आदि से रंग दो।' कभी कहती है—प्रिय! अन्य सब कामों को छोड़कर मेरे पास आओ, मेरी पीठ में या मेरे अंगों में बहुत पीड़ा हो रही है, इसलिए पहले मेरी पीठ या अंगों पर मालिश कर दो।

ये और इस प्रकार के अन्यान्य तुच्छ कार्यों में उक्त वेषधारी कामकिंकर को जोतकर नारी विविध नाच नचाया करती है।

मूल पाठ

वत्थाणि य मे पडलेहेहि, अन्नं पाणं च आहराहित्ति।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च मे समणुजाणाहि ॥६॥

संस्कृत छाया

वस्त्राणि च मे प्रत्युपेक्षस्व, अन्नं पानं च आहर इति।
गन्धं च रजोहरणं च, काश्यपकं च मे समनुजानीहि ॥६॥

अन्वयार्थ

(**वत्थाणि य मे पडिलेहेहि**) साधो! मेरे वस्त्रों को तो देखो, कितने जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, इसलिए दूसरे नये कपड़े लाओ, अथवा देखो, ये मेरे वस्त्र बहुत मैले हो गये हैं, इन्हें धोबी को दे दो, अथवा मेरे वस्त्रों की अच्छी तरह देखभाल करो, इन्हें सुरक्षित स्थान में रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि न काट खाएँ। (**अन्नं पाणं च आहराहित्ति**) मेरे लिए अन्न और जल – पेय पदार्थ माँग लाओ। (**गंधं च रओहरणं च**) मेरे लिए कपूर आदि सुगन्धित पदार्थ एवं ब्रुश, झाड़न, बुहारी, रजोहरण आदि धूल झाड़ने का साधन लाओ। (**कासवगं च मे समणुजाणाहि**) मैं लोच की पीड़ा नहीं सह सकती, इसलिए मुझे नाई से बाल कटाने की अनुज्ञा दो।

भावार्थ

हे साधो! मेरे वस्त्रों को देखो, फट गये हैं, नये कप लाकर दो, अथवा मेरे कपड़े मैले हो रहे हैं, इन्हें धुलने दे दो। अथवा मेरे वस्त्र आदि सामग्री को चूहों से बचाकर सँभाल कर रखो। मेरे लिए अन्न-पानी आदि लाकर दो। तथा सुगन्धित पदार्थ एवं सुन्दर रजोहरण या धूल झाड़ने का साधन (ब्रुश या बुहारी आदि) लाकर दो। मैं लोंच की पीड़ा नहीं सह सकती। अतः मुझे नाई से बाल कटाने की आज्ञा दो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

स्त्री-मोहित की विडम्बना

कामिनी स्त्री-वशीभूत वेशधारी पुरुष की कैसी दुर्गति करती है ? इसे दूसरे पहलू से इस गाथा में बताया गया हैं—'**वत्थाणि मे** ·· आहराहित्ति।' स्त्री अपने वशीभूत साधक को नये वस्त्र लाने या वस्त्र धुलाने अथवा वस्त्रों की देखभाल कर रखने की, अन्न-जल लाकर देने की, तथा सुगन्धित पदार्थ एवं रजोहरण ला देने की प्रेरणा करती है। साथ ही वह अपने केशों का नापित से मुण्डन कराने की अनुमति भी ले लेती है।

इस गाथा में स्त्री की मनोवृत्ति अपने प्रति आसक्त पुरुष के प्रति किस-किस प्रकार की बन जाती है ? यह विश्लेषण करके बता दिया है।

मूल पाठ

अदु अंजणिं अलंकारं कुक्कयय मे पयच्छाहि ।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च मुलियं च ॥७॥
कुट्ठं तगरं च अगरुं, संपिट्ठं सम्मं उसिरेणं ।
तेल्लं मुहभिलिजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥८॥
नंदीचूण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि ।
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणील च वत्थयं रयावेहि ॥९॥
सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च ।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिसु मे विहूणयं विजाणेहि॥१०॥
संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।
आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥११॥
पूयफलं तंबोलयं सूईसुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालण च ॥१२॥
चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो ! खणाहि ।
सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥
घडिगं च सडिडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए ।
वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए आणप्पा हवंति दासा व ॥१५॥

संस्कृत छाया

अथाञ्जनिकामलंकारं, खुंखुणकं मे प्रयच्छ ।
लोध्रं च लोध्रकुसुमं च, वेणुपलाशिकां च गुलिकां च ॥७॥
कुष्टं तगरं चागुरुं संपिष्टं सममुशीरेण ।
तैलं मुखाभ्यंगाय वेणुफलानि सन्निधानाय ॥८॥
नन्दीचूर्णं प्राहर छत्रोपानहौ च जानीहि ।
शस्त्रञ्च सूपच्छेदाय आनीलञ्च वस्त्रं रञ्जय ॥९॥
सृफणिं च शाकपाकाय आमलकान्युदकाहरणञ्च ।
तिलककरण्यञ्जनशलाकां, ग्रीष्मे मे विधूनकमपि जानीहि ॥१०॥
संडासिकं (संदशकं) च फणिहं च, सीहलिपाशकञ्चानय ।
आदर्शकं च प्रयच्छ दन्तप्रक्षालनकं प्रवेशय ॥११॥
पूगीफलं ताम्बूलकं सूचीसूत्रकं च जानीहि ।
कोशञ्च मोचमेहाय शूर्पं खलञ्च क्षारगालनकम् ॥१२॥
चन्दालकञ्च करकं वर्चोगृहञ्च आयुष्मन् खन ।
शरपातञ्च जाताय, गोरथकं च श्रामणये ॥१३॥
घटिकां च सडिडिमकं च, चेलगोलकं च कुमारक्रीडाय ।
वर्षञ्च समभ्यापन्नमावसथञ्च जानीहि भक्तञ्च ॥१४॥
आसन्दिकां च नवसूत्रां पादुकाः संक्रमणार्थाय ।
अय पुत्रदोहदार्थाय, आज्ञप्ता भवन्ति दासा इव ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**अदु अंजणिं अलंकारं कुवक्कयं मे पयच्छाहि**) हे साधो ! मेरे लिए अंजन का पात्र (सुरमादानी), आभूषण, घंघरूदार वीणा लाकर दो, (**लोद्धं च लोद्धकुसुमं च**) लोध्र का फल और फूल लाओ, तथा (**वेणुपलासियं च गुलियं च**) बाँस से बना हुआ वाद्य बंशी या बांसुरी लाकर दो, एवं पौष्टिक औषध की गोली भी लाकर दो ॥७॥

(**कुट्ठं तगरं च अगरुं**) कुष्ट, तगर और अगरु (**उसीरेण समं संपिट्ठं**) खसखस के साथ पीसे हुए मुझे लाकर दो। तथा (**मुहभिंलिजाए तेल्लं**) मुख पर लगाने के लिए तेल एवं (**सन्निधानाए वेणुफलाइं**) वस्त्र आदि रखने के लिए बांस की बनी हुई एक सन्दूक लाओ ॥८॥

फिर वह कहती है—प्रियतम ! (**नंदीचूण्णगाइं**) मुझे ओठ रंगने के लिए चूर्ण (**पाहराहि**) लाकर दो। (**छत्तापानहं च जाणाहि**) यह भी समझ लो कि छाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जूता भी लाना है। (**सूवच्छेज्जाए सत्थं च**) और सागभाजी काटने के लिए एक शस्त्र छुरी या चाकू लाओ। (**वत्थं च आणीलं रयावेहि**) तथा नीले रंग से मेरा कपड़ा रंगवा दो ॥९॥

(**सागपाकाए सुफणिं**) प्रियवर ! सागभाजी आदि पकाने के लिए तपेली या बटलोई लाओ, (**आमलगाइं दगाहरणं च**) आँवले ला दो, साथ ही पानी रखने का पात्र (घड़ा आदि) लाकर दो। (**तिलगकरणिमंजनसलागं**) तिलक लगाने और अंजन लगाने की सलाई भी लेते आना। तथा (**विसुं मे विहूणयं जाणीहि**) ग्रीष्मकाल में हवा करने के लिए एक पंखा भी ला दो ॥१०॥

(**संडासगं च**) नाक के बालों को उखाड़ने के लिए चींपिया लाओ। (**फणिहं च**) और केशों को संवारने के लिए कंघी भी लाओ। (**सीहलिपासगं च आणाहि**) तथा चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली (सीहलिपाशक) लाकर दो। (**आदंसगं च पयच्छाहि**) एक दर्पण (चेहरा देखने का शीशा) भी ला दो। (**दंतपक्खालणं पवेसाहि**) दाँत साफ करने के लिए दंतमंजन या दतौन भी लाकर दो ॥११॥

(**पूयफलं**) सुपारी, (**तंबोलयं**) पान, (**सूईसुत्तगं च जाणीहि**) और सूई-धागा लाकर दो। (**कोसं च मोयमेहाए**) तथा पेशाब करने के लिए एक बड़ा प्याला (भाजन), (**सुप्पुखलगं च खारगालणं च**) और सूप (छाजला) तथा ऊखली एवं खार गालने के लिए बर्तन लाकर शीघ्र दो ॥१२॥

(**आउसो**) हे आयुष्मन् ! (**चंदालगं**) देवपूजन करने के लिए ताँबे का बर्तन, (**करगं च**) और जलपात्र (करवा) अथवा मधु रखने का पात्र लाओ। (**वच्चघरं च खणाहि**) और एक शौचालय (पाखाना) भी मेरे लिए खुदवा दो। (**जायाए सरपायगं च**) और अपने पुत्र के खेलने के लिए एक धनुष भी ला दो। (**सामणेराए गोरहगं च**) तथा अपने श्रमणपुत्र (श्रामणेर) के लिए एक तीन वर्ष का बैल ला दो ॥१३॥

(**घडियं च सडिडिमयं**) मिट्टी की बनी गुड़िया और झुनझुना बाजा, (**चेलगोलकं च कुमारभूयाए**) अपने कुमार (पुत्र) के खेलने के लिए कपड़े की बनी हुई गेंद ले आओ। (**वासं च समभियावण्णं**) और देखो, वर्षाऋतु निकट आ गयी है। (**आवसहं भत्तं च जाण**) इसलिए वर्षा से बचने के लिए मकान (आवास) और अन्न का प्रबन्ध करो ॥१४॥

(**नवसुत्तं च आसंदियं**) नये सूत से बनी हुई एक मंचिया या कुर्सी लाओ। (**संकमट्ठाए पाउल्लाइं**) और चलने-फिरने के लिए एक जोड़ी खड़ाऊँ भी लाओ। (**अदु पुत्तदोहलट्ठाए**) और देखिए, मेरे पुत्रदोहद के लिए अमुक वस्तु लाओ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**दासा वा आणप्पा हवंति**) इस प्रकार स्त्रियाँ दास की तरह पुरुषों पर आज्ञा चलाती हैं ॥१५॥

भावार्थ

स्त्री में अनुरक्त साधु से फिर वह स्त्री कहती है—हे साधो ! मेरे लिए अंजनपात्र (सुरमादानी), आभूषण, घुंघरूदार वीणा लाकर दो। तथा लोध्र का फल और फूल लाओ एवं सुन्दर बांसुरी तथा पौष्टिक औषध की गोली लाकर दो ॥७॥

स्त्री कहती है—प्रियतम ! खसखस के साथ अच्छी तरह पीसे हुए अगरु, तगर और कुष्ट आदि सुगन्धित द्रव्य मुझे लाकर दो। मुँह पर लगाने के लिए तेल तथा कपड़े आदि रखने के लिए बांस की बनी हुई एक पेटी भी मुझे ला दो ॥८॥

फिर वह कहती है—प्रियतम ! मेरे लिए ओठ रंगने का चूर्ण ले आइए, तथा छाता, जूता एवं सागभाजी सुधारने के लिए चाकू या छुरी भी लेते आना। मेरा वस्त्र नीले रंग से रंगवा दें ॥९॥

स्त्री शीलभ्रष्ट पुरुष से कहती है—प्राणवल्लभ ! सागभाजी आदि पकाने के लिए एक तपेली या बटलोई लेते आना। आँवला और पानी रखने का एक बर्तन (घड़ा, मटका आदि), तिलक और अंजन लगाने की सलाई एवं गर्मी में हवा करने के लिए एक पंखा भी ला दें ॥१०॥

फिर वह प्रिया कहती है - जीवनधन ! नाक के केशों को उखाड़ने के लिए एक चिमटी (चींपिया) ला दो, बालों को संवारने के लिए एक कंघी भी लेते आएँ। मेरी चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई एक जाली या आँटी ला दीजिए तथा दाँत साफ करने के लिए दंतमंजन या दतौन भी ला दें ॥११॥

आगे वह फरमाइश करती है—प्रियतम ! पान, सुपारी, सूई-धागा लाना याद रखना। पेशाब के लिए एक बड़ा प्याला (भाजन), एक सूप, एक ऊखल और एक खार गालने का बर्तन शीघ्र लाकर दें ॥१२॥

हे आयुष्मन् ! देवता का पूजन करने के लिए तांबे का बर्तन तथा जल या मद्य रखने का पात्र ला दें। तथा मेरे लिए एक शौचालय (पाखाना) खुदवा दें। अपने लाल के खेलने के लिए एक धनुष भी ला दें और तीन वर्ष का एक बैल ला दें, जिसे आपका पुत्र (श्रमणपुत्र) बैलगाड़ी में जोतेगा ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रेमिका कहती है—प्रियतम ! अपने राजकुमार से नौनिहाल बच्चे के खेलने के लिए एक मिट्टी की गुड़िया, एक बाजा, झुनझुना और एक कपड़े की गोलाकार बनी गेंद ला दो। वर्षाकाल शीघ्र ही आने वाला है। अतः वर्षा से सुरक्षा के लिए आवास (मकान) और चार मास के हेतु अनाज का प्रबन्ध कर लीजिए ॥१४॥

फिर वह कहती है—प्राणप्रिय ! सोने-बैठने के लिए नये सूत से बनी हुई एक सुन्दर मंचिया या खटिया ले आओ तथा घर में इधर-उधर घूमने के लिए एक जोड़ी खड़ाऊं लेते आएँ। मैं गर्भवती हूँ। मेरे गर्भ के दोहद की पूर्ति के लिए अमुक-अमुक वस्तुएं लाकर दें।

इस प्रकार मोहमूढ़ करने वाली कामिनियाँ दास की तरह अपने वशवर्ती पुरुषों पर आज्ञा चलाती हैं। अगर वे काम नहीं करते हैं तो झिड़कती हैं, कभी मीठे शब्दों में उपालम्भ देती हैं, कभी आँखें दिखाती हैं तो कभी झूठी प्रशंसा करके उनसे काम करवाती हैं। इस प्रकार तेली के बैल की तरह ललनासक्त पुरुष रातदिन गृहकार्य में जुटे रहते हैं। साधना को ताक में रख दिया जाता है ॥१५॥

व्याख्या

वशीभूत साधु से स्त्री की माँग पर माँग

एक बार जब स्त्री किसी पुरुष की दुर्बलता को जान लेती है और खुल जाती है तो फिर वह बेखटके अपने प्रति अनुरक्त पुरुष से बार-बार नयी-नयी फरमाइश करती रहती है। एक फरमाइश पूरी होते, न होते दूसरी फरमाइश तैयार रखती है। यहाँ शास्त्रकार उसी सम्भावना को प्रगट करते हैं—'**अदु अंजणि' गुलियं च ॥**'

इस गाथा में नारी की ६ माँगें आसक्त पुरुष से है, जो कि सामान्य गृहस्थ नारी की अपने पति से होती हैं। कभी वह कहती है—मेरे पास काजल रखने की डिबिया नहीं है, उसे ला दो। कभी वह फरमाइश करती है—अजी, मेरे लिए कड़े, बाजूबन्द, हार आदि आभूषण तो ला दो, ताकि मैं शृंगार कर सकूं। कभी कहती है—मेरे मनोरंजन के लिए घुंघरूदार वीणा ला दीजिए, ताकि मैं अपना और आपका मनोरंजन कर सकूं। मैं जब अंजन आदि शृंगारप्रसाधन सामग्री और अलंकारों से सुसज्जित होकर घुंघरूदार वीणा बजाऊँगी तो आपका मन प्रसन्न हो उठेगा। कभी कहती है—प्रिय ! आज तो मुझे लोध्र और लोध्र के फूल लाकर दो, जिससे मैं केशों का शृंगार कर सकूँ। तथा मुझे चिकने बांस से बनी एक बांसुरी ला दो, जिससे मैं अपना मनोरंजन कर सकूं। और फिर वह कहती है—मेरे लिए एक सिद्धगुलिका ला दो, ताकि मेरा यौवन अजर-अमर रहे।

इसके बाद आठवीं गाथा में बताया गया है कि स्त्री फिर उस शीलभ्रष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष से क्या माँगें करती है ? वह कहती है—प्रियतम ! खसखस के दानों के साथ पीसे हुए कमलकुष्ट, अगरु और तगर इन सुगन्धित द्रव्यों को ला दो, अथवा कमलकुष्ट, अगरु और तगर इन्हें लाकर खसखस के साथ अच्छी तरह पीसें। मेरे चेहरे की सुन्दरता बढ़ाने के लिए मुख पर लगाने हेतु कोई अच्छा-सा तेल लेते आएँ। मेरे कपड़े आदि अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं, इन्हें तरतीब से जमाकर रखने के लिये बाँस की बनी हुई एक पेटी (सन्दूक) ले आएँ।

इसके पश्चात् स्त्री की माँग होती है - प्रियवर ! मुझे अपने ओठ रंगने के लिए अनेक द्रव्यों के संयोग से बना हुआ नन्दीचूर्णक चाहिए, उसे बाजार से ले आना और छाता तथा जूते लाना भी याद रखना। साथ ही साग आदि सुधारने के लिए चाकू या छुरी ले आना। मेरे पहनने का वस्त्र हलके नीले रंग का रंगवा दो।

शीलभ्रष्ट पुरुष को फिर वह दास्यकर्म में प्रेरित करती हुई कहती है—प्राणनाथ ! सागभाजी पकाने के लिए एक तपेली या बटलोई लेते आना। जिसमें तक्र आदि पदार्थों को सुखपूर्वक पकाया जाय, उसे सुफणि (तपेली, बटलोई या पतीली) कहते हैं। स्नान करने या पित्तशान्ति के निमित्त खाने के लिए आँवले भी लेते आना। जल रखने का बर्तन (घड़ा, मटकी आदि) लाओ। यहाँ उपलक्षण से घी, तेल तथा घर की अन्य सामग्री रखने के लिए पात्र (बर्तन) लाने की सूचना भी गर्भित है। जिससे तिलक किया जाता है, उसे तिलककरणी कहते हैं। अथवा जिससे गोरोचना आदि लगाकर तिलक किया जाता है या गोरोचना को तिलककरणी कहते हैं। अथवा जिसमें तिलक करने के द्रव्य पीसे जाते हैं, उसे भी तिलककरणी कहते हैं। सलाई सोने की या हाथीदाँत की बनी हुई होती है। आँख में अंजन लगाने की जो सलाई होती है, उसे अंजनशलाका कहते हैं। अर्थात् इन सब चीजों को ले आओ। ग्रीष्मकाल की भयंकर गर्मी की शान्ति के लिए मुझे एक पंखा लाकर दो।

इसके बाद वह प्रिया कहती है—"प्राणवल्लभ ! मेरी नाक में बहुत-से फालतू बाल हो गये हैं, उन्हें उखाड़ने के लिए एक संडासक—चींपिया या चिमटी अवश्य लावें। साथ ही केश संवारने के लिए एक कंघा, चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली या आँटी, चेहरा देखने के लिए एक दर्पण, तथा दाँत साफ करने के लिए दन्तमंजन या दतौन लाना मत भूलिएगा। आदर्शक शब्द दर्पण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिससे दाँतों का मैल साफ किया जाता है, उसे **'दंतपक्खालणं'** (दंतप्रक्षालनक) कहते हैं। वर्तमान युग की भाषा में इसे दंतमंजन या दतौन अथवा दाँत साफ करने का ब्रुश—टुथब्रुश कहा जा सकता है। चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली या आँटी को **सीहलिपासग** (सीहलिपाशक) कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री की माँग इतने पर भी रुकती नहीं, उसकी नित नयी माँग जारी रहती है। कभी वह कहती है—प्रियतम ! मुखवास के लिए मुझे पान और सुपारी (ताम्बूल और पूंगीफल) चाहिए। कपड़े बहुत फट गये हैं। इन्हें सीने के लिए सूई-धागा भी चाहिए। और हाँ, लगे हाथों पेशाब करने के लिए एक बड़ा प्याला (भाजन), एक सूप, एक ऊखल तथा एक खार गलाने का बर्तन भी लेते आएँ।

यहाँ पूगीफल का अर्थ सुपारी, ताम्बूल का अर्थ नागरबेल के पत्ते—पान है।

'कोसं च मोयमेहाए'—मोक (**मोय**) पेशाब को कहते हैं। यानी मूत्रविसर्जन करने के लिए कोश यानी भाजन। स्त्री का कहने का आशय यह है कि रात में भय के कारण मैं उठकर बाहर जाने में असमर्थ हूँ। इसलिए पेशाब का भाजन मेरे लिए लाना आवश्यक है।

'सुप्पुक्खलगं'—चावल आदि को साफ करने तथा भुस्सा वगैरह अलग करने के साधन को सूर्प (शूर्प) कहते हैं और धान आदि के कूटने के साधन को ऊखल कहते हैं।

'चंदालगं च करगं च'—देवपूजन करने के पात्र को चन्दालक कहते हैं। मथुरा में इस पात्र को 'चंदालक' कहा जाता है। जल रखने के एक बर्तन को करक (करवा) कहते हैं। ये दोनों चीजें मुझे अवश्य ला दीजिए।

फिर वह स्त्री आज्ञा देती है—देखो जी ! मैं शौच के लिए बाहर नहीं जा सकती, इसलिए मेरे लिए एक पाखाना यहीं बनवा दें। शौचस्थान (पाखाना) को **'वच्चघर'** (वर्चोगृह) कहते हैं। जिस पर रखकर बाण फैंकते हैं, उसे शरपात—धनुष कहते हैं। ऐसा एक धनुष अपने लाल के खेलने के लिए ला दो। साथ ही **'गोरहगं च सामणेराए'**—गोरथक तीन वर्ष के बैल को कहते हैं, जो बैल रथ में जुत सके व सन्तान का भार वहन कर सके। **'सामणेराए'** का अर्थ है—श्रमणपुत्र के लिए। भूतपूर्व श्रमण वह शीलभ्रष्ट साधु है, स्त्रीसंग से हुए उसके पुत्र को यहाँ श्रमणपुत्र कह दिया गया है। आशय यह है कि वह कहती है, एक तीन वर्ष का ऐसा बैल लाओ, जो गाड़ी में या गोरथ में जुत सके और भार भी खींच सके।

इसके पश्चात् ढीठ होकर वह नायिका कहती है—प्राणवल्लभ ! राजकुमार के समान सुन्दर-सलौने मेरे नन्हे पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की गुड़िया, अन्य खिलौने, एक बाजा और एक कपड़े की बनी हुई गोल गेंद चाहिए, इन सब वस्तुओं को लेते आएँ। और देखिए, वर्षाकाल शीघ्र ही आने वाला है, उससे पहले आप दो काम कर लीजिए, एक तो एक अच्छा-सा मकान वर्षा से रक्षा के लिए बना लें, दूसरे, चार महीने के खाने के लिए अनाज, दाल आदि का प्रबन्ध कर लें। कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मासैरष्टभिरर्द्धा च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा।
तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥

अर्थात्—वर्षाकाल के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में मनुष्य को ऐसा कार्य कर लेना चाहिए, जिससे वर्षाकाल के ४ महीनों में सुख प्राप्त हो, तथा दिन में वह कार्य कर लेना चाहिए, जिससे रात्रि में आनन्द प्राप्त हो एवं आयुष्य के पूर्वभाग में मनुष्य को ऐसे कार्य करने चाहिए, जिससे आयुष्य के अन्त में सुख मिले।

कभी-कभी निर्लज्ज होकर स्त्री कामासक्त पुरुष को डाँटते हुए कहती है—बैठे-बैठे क्या कर रहे हो? बाजार से जाकर नये सूत से बनी हुई एक मंचिया या खटिया ले आओ। मैं नंगे पैरों इधर-उधर नहीं घूम सकती, इसलिए मेरे लिए मूँज या काष्ठ की बनी हुई खड़ाऊँ भी लेते आना। और देख रहे हो न! मैं आजकल गर्भवती हूँ, मुझे अनेक प्रकार दोहद उत्पन्न होते हैं। उनकी पूर्ति के लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ जरूर लानी हैं। इस प्रकार स्नेहपाश में बँधे हुए कामासक्त पुरुष पर स्त्रियाँ निर्लज्ज होकर दास की तरह आज्ञा चलाती हैं, नित नयी माँगें करती हैं। बेचारा पुरुष पशु की तरह सारे कार्यभार को रातदिन ढोता रहता है।

मूल पाठ

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

संस्कृत छाया

जाते फले समुत्पन्ने, गृहाणैनमथवा जहाहि ।
अथ पुत्रपोषिण एके, भारवहा भवन्ति उष्ट्रा इव ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जाए फले समुप्पन्ने**) पुत्र उत्पन्न होना गार्हस्थ्य का फल है, उसके होने पर (**गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि**) स्त्री रुष्ट होकर कहती है—इस पुत्र को गोद में लो अथवा छोड़ दो। (**अह एगे पुत्तपोसिणो उट्टा वा भारवहा हवंति**) कोई पुरुष पुत्र के पालन-पोषण में इतने रक्त हो जाते हैं कि वे ऊँट की तरह जीवन-भर (गार्हस्थ्य) भार ढोते रहते हैं।

भावार्थ

पुत्र का जन्म होना गृहस्थ-जीवन का फल है। उस फल के उत्पन्न होने पर स्त्री झिड़कती हुई पुरुष से कहती है—लो, अपने लाल को, या तो इसे रखो, गोद में लेकर खिलाओ अथवा इसे छोड़ दो, मैं नहीं जानती। इससे प्रेरित होकर सन्तान के पालन-पोषण में आसक्त कई पुरुष जिंदगीभर ऊँट की तरह गार्हस्थ्यभार ढोते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

पुत्र उत्पन्न होने पर तो और अधिक गुलाम

इस गाथा में पुत्रोत्पत्ति होने पर स्त्री-आसक्त पुरुष की अधमदशा का वर्णन किया है—'**जाए फले ·····भारवहा हवंति उट्टा वा**' आशय यह है कि गृहस्थ जीवन में एक गृहस्थ दम्पती के लिए पुत्र का जन्म होना ही गार्हस्थ्यफल माना जाता है। नर-नारी के संसर्ग का फल कामसुखभोग करना है, और कामभोग-सेवन का प्रधान फल पुत्र-जन्म है। पुत्र गृहस्थ के लिए कितना प्यारा होता है, यह कवि के शब्दों में पढ़िए—

इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥
यत्तच्छपनिकेत्युक्तं बालेनाव्यक्तभाषिणा।
हित्वा सांख्यं च योगं च तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥

अर्थात्— धनवान और निर्धन दोनों के लिए पुत्रजन्म होना समान रूप से स्नेह का सर्वस्व है। यह चन्दन और खसखस के बिना ही हृदय को शीतलता पहुँचाने वाला लेप है। तुतलाते हुए नन्हे-मुन्ने ने शयनिका शब्द के बदले शपनिका शब्द कहा था, वह शब्द सांख्य और योग के अतिरिक्त मेरे हृदय में विद्यमान रहता है।

लोक व्यवहार में पुत्रसुख को ही पहला सुख माना है, उसके बाद दूसरा सुख अपने शरीर का है। इसलिए पुरुषों के लिए पुत्र ही परम अभ्युदय का कारण इस मोहमय संसार में माना जाता है। इस दृष्टि से पुत्रजन्म होने के बाद पुरुषों को क्या-क्या कष्ट सहने पड़ते हैं? इसे ही शास्त्रकार संक्षेप में बताते हैं—'**गेण्हसु वा णं अथवा जहाहि**'। सर्वप्रथम तो स्त्री ही झिड़कती हुई कहती है "प्रियतम! तुम्हारे इस लाल को लो, सँभालो, मैं अन्यान्य गृहकार्यों में लगी हूँ। इसे लेने का मुझे अवकाश नहीं है। अगर तुम इसे नहीं सम्भालते हो तो मत सम्भालो। मैं इसको नहीं रखूँगी। मेरी ओर भी तो देखो। मैंने तो इसे नौ महीने तक पेट में रखा है, मगर तुम थोड़ी सी देर भी इस बच्चे को रखने से घबराते हो। तुम बैठे-बैठे करते क्या हो? इसे सम्भालो, मैं जाती हूँ।"

स्त्रीवशीभूत पुरुष की दशा स्त्री के सामने नौकर से भी बदतर हो जाती है। नौकर तो अपने मालिक से डरकर उसकी आज्ञा का पालन करता है, लेकिन स्त्री-वशीभूत पुरुष स्त्री के प्रति मोह, पुत्र के प्रति ममत्व एवं आसक्ति के कारण उसकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करता है, हृदय से उसका पालन करता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष स्त्री की हर आज्ञा को अपने पर कृपा मानकर सहर्ष पालन करता है। कहा भी है—

यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ददाति प्रार्थितः प्राणान् मातरं हन्ति तत्कृते ।
किं न दद्यात्, न किं कुर्यात्, स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥
ददाति शौचमानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि ।
श्लेष्माणमपि गृह्णीत, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥

अर्थात्—वह समझता है कि मुझे जो रुचिकर लगता है, वही मेरी प्रिया करती है। वस्तुतः यही उस (स्त्री) का प्रिय करता है, इसे वह नहीं जानता। पुरुष स्त्री के द्वारा प्रार्थना करने पर अपने प्राण तक दे देता है। उसके लिए अपनी माता को भी मार डालता है। वस्तुतः स्त्री की प्रार्थना पर पुरुष उसे क्या नहीं दे देता, और क्या नहीं कर डालता? स्त्री का गुलाम पुरुष शौचक्रिया के लिए उसे जल देता है, उसके पैर भी धोता है, उसका थूक भी अपनी हथेली पर ले लेता है।

इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुष को अपने पर गाढ़ अनुरक्त देखकर कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनों से एक नौकर समझकर जब-तब आदेश देती रहती हैं और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुष महामोहकर्म के उदय से इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञाकारी बनकर सब आज्ञाओं का यथावत् पालन करता है। यों जिन्दगीभर ऊँट की तरह वह पुरुष गार्हस्थ्यभार ढोता रहता है।

और भी वह क्या-क्या करता है? इसे अगली गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाईव ।
सुहिरामणा वि ते संता वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

संस्कृत छाया

रात्रावप्युत्थिताः सन्तः दारकं संस्थापयन्ति धात्रीव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्तः वस्त्रधावका भवन्ति हंसा वा ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**राओ वि**) रात में भी वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष (**उट्ठिया संता**) उठकर (**धाई वा दारगं च संठवंति**) धाय की तरह बालक को गोद से चिपकाये रहते हैं, (**ते सुहिरामणा वि संता**) वे पुरुष अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (**हंसा वा वत्थधोवा हवंति**) धोबी की तरह स्त्री और बच्चे के वस्त्र तक धोते हैं।

भावार्थ

स्त्रीवशीभूत एवं पुत्रपोषक पुरुष रात में भी जागकर धाय की तरह बच्चे को गोद में चिपकाए रहते हैं। वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी स्त्री का मन प्रसन्न रखने के लिए धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपड़े भी धो डालते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

स्त्री-दास कौन-सा तुच्छ कार्य नहीं करते ?

इस गाथा में स्त्री के वशवर्ती गुलाम पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्ति की एक झांकी देकर शास्त्रकार इस प्रसंग का अगली गाथा में उपसंहार कर देते हैं—**'राओ वि उट्ठिया ···· हवंति हंसा वा।'**

आशय यह है कि स्त्रीवशंगत पुरुष स्त्री के समक्ष इतने दीन-हीन-कायर हो जाते हैं कि स्त्री के किसी भी वचन को सुनकर चूँ भी नहीं कर सकते। रात को भी ज्यों ही बच्चा रोता है, वे स्त्री को न जगाकर स्वयं चुपचाप उठ जाते हैं, और धाय की तरह बच्चे को गोद से चिपटा लेते हैं। वे बालक को किस प्रकार के मधुर-मधुर आलापों से खेलाते हैं ? इसे एक विचारक के शब्दों में देखिए --

"सामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीह-पुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुब्ज आयामुह सोरियपुरस्स य।"

अर्थात् हे पुत्र! तुम नगर का स्वामी हो। तुम नक्कपुर, हस्तिपत्तन, कल्पपत्तन, सिंहपुर, उन्नत-स्थान, निम्नस्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज, पितामहमुख एवं शौरिपुर के स्वामी हो।

इस प्रकार स्त्रीवशीभूत पुरुष ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं, जिनसे वे हँसी के पात्र बनते हैं। यद्यपि ऐसे नीच एवं निन्द्य करते हुए वे लज्जित होते हैं, फिर भी वे स्त्रीमोहवश लज्जा को ताक में रखकर उसके वचन के अनुसार तुच्छ से तुच्छ कर्म करते हैं। यही सूत्रकार कहते हैं—**'वत्थधोवा हवंति हंसा वा।'** अर्थात् ऐसे पुरुष धोबी की तरह स्त्री के मैले-कुचैले कपड़े धोते हैं, यहाँ तक कि वे बच्चे के पोतड़े भी धोते हैं। वस्त्र धोना तो उपलक्षण है। पानी लाना, अनाज पीसना, रोटी बनाना आदि अन्य कार्य भी वे पुरुष करते हैं। कितनी दीन-हीन मनोवृत्ति हो जाती है, ऐसे पुरुष की ! इसे अगली गाथा में देखिए—

मूल पाठ

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥१८॥

संस्कृत छाया

एवं बहुभिः कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्नाः ।
दासमृगाविव प्रेष्य इव पशुभूत इव स न वा कश्चित् ॥१८॥

अन्वयार्थ

(एवं बहुहिं कयपुव्वं) इस प्रकार पूर्वोक्त काल में बहुत-से लोगों ने किया है। **(भोगत्थाए जेऽभियावन्ना)** जो पुरुष भोगों के लिए सावद्यकर्म में आसक्त हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**दासे मिइव पेसे वा पसुभूतेव से ण वा केई**) वे पुरुष या तो दासों की तरह हैं, या मृग की तरह भोलेभाले नौकर हैं अथवा वे पशु के समान हैं अथवा वे कुछ भी नहीं हैं।

भावार्थ

स्त्रीवशीभूत होकर बहुत-से लोगों ने भूतकाल में भी स्त्रियों की आज्ञा का पालन किया है। जो पुरुष भोग के निमित्त सावद्य कार्यों में आसक्त हैं, वे या तो खरीदे हुए गुलामों की तरह हैं, या वे बेचारे (मृग) नौकर के समान हैं, या फिर वे पशु के समान हैं, अथवा वे सबसे अधम—तुच्छ—नगण्य हैं।

व्याख्या

स्त्रीदास अतीत में कैसे थे, क्या थे ?

प्रश्न होता है कि शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओं में स्त्रीवशीभूत पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्ति के जिस निकृष्ट चित्र का अंकन किया है, क्या वे भूतकाल में भी इसी प्रकार करते थे ? वे भूतकाल में भी आम जनता की नजरों में क्या और किसके तुल्य समझे जाते थे ? इसी का समाधान इस गाथा में शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है—'**एवं बहुहिं कयपुव्वं·····से ण वा केई**।' शास्त्रकार का आशय यह है कि जिस प्रकार का हमने स्त्रीवशीभूत पुरुष की वृत्ति-प्रवृत्तियों का निरूपण किया है, उस प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति भूतकाल में भी उन लोगों में पायी जाती थी, जो लोग काम-भोग के लिए सावद्यकार्यों में रचेपचे रहते थे। ऐसे लोग जो कामभोगों की प्राप्ति के लिए इहलोक-परलोक के अनिष्टों एवं खतरों को नहीं सोचकर बेखटके हाथ धोकर सावद्य-अनुष्ठानों में जी-जान से जुटे रहते थे, उन्होंने भूतकाल में भी स्त्री के गुलाम बनकर पूर्वोक्त तुच्छ कार्य किये थे, वर्तमान में भी करते हैं और भविष्य में भी करेंगे। तथा यह बात भी पूर्ण रूप से सत्य है कि जो पुरुष मोहान्ध तथा स्त्री-वशीभूत हैं, चतुर स्त्रियाँ उनसे पूर्वोक्त तुच्छ कार्य निःशंक होकर कराती हैं।

ऐसे स्त्रीवशीभूत पुरुष अतीत में व वर्तमान में कैसे व किसके समान समझे जाते थे ? इसके लिए उन पुरुषों की तुलना पाँच प्रकार से की गयी है—(१) दास के समान, (२) मृग के समान, (३) प्रेष्य (नौकर) के समान, (४) पशु के समान तथा (५) सबसे अधम नगण्य।

उन्हें दास के समान इसलिए कहा गया है कि स्त्रियाँ निःशंक होकर उन्हें दास (गुलाम) की तरह पूर्वगाथाओं में उक्त कर्मों में लगाती हैं। मृग की तरह इसलिए कहा गया है कि जैसे जाल में पड़ा हुआ मृग परवश होता है, इसी प्रकार स्त्रीवशीभूत पुरुष इतना परवश हो जाता है कि वह अपनी इच्छा से भोजन आदि क्रियाएँ भी नहीं कर पाता। स्त्रीवशीभूत पुरुष को क्रीतदास या प्रेष्य—नौकर की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमा इसलिए दी जाती है कि उसे मलमूत्र फैंकने के काम में भी लगाया जाता है। स्त्रीवशीभूत पुरुष कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य तथा हित की प्राप्ति तथा अहित के त्याग से रहित होने के कारण पशुतुल्य होता है। जैसे पशु केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं, वैसे ही स्त्री-वशीभूत पुरुष भी रात-दिन भोगप्राप्ति, सुखसुविधाओं के अन्वेषण, कामभोग के लिए स्त्री की गुलामी, ऊँट की तरह रात-दिन तुच्छ सांसारिक कार्यों में जुटे रहने तथा उत्तम अनुष्ठानों से दूर रहने के कारण पशु-सा ही है। अथवा स्त्रीवशीभूत पुरुष दास, मृग, प्रेष्य (क्रीतदास) तथा पशु से भी गया बीता अधम एवं निकृष्ट होने के कारण कुछ भी नहीं है, नगण्य है। आशय यह है कि वह पुरुष इतना अधम है कि उसके समान कोई नीच है ही नहीं, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। अथवा उभयभ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष किसी भी कोटि में नहीं है, कुछ भी नहीं है। उत्तम निरवद्य अनुष्ठान से रहित होने के कारण वह प्रव्रजित नहीं है तथा ताम्बूल आदि का सेवन करने से तथा लोचमात्र करने से वह गृहस्थ भी नहीं है। अथवा इस लोक और परलोक का सम्पादन करने वाले पुरुषों में से वह किसी में भी नहीं है।

अब शास्त्रकार इस अध्ययन को परिसमाप्त करते हुए स्त्रीसंग करने के त्याग की प्रेरणा देते हैं—

मूल पाठ

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

संस्कृत छाया

एवं खलु तासु विज्ञप्तं, संस्तवं संवासं च वर्जयेत्।
तज्जातिका इमे कामा, अवद्यकरा एवमाख्याताः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(तासु) स्त्रियों के विषय में (**एवं विन्नप्पं**) इस प्रकार की बातें बताई गई हैं (**संथवं संवासं च वज्जेज्जा**) इसलिए साधु स्त्रियों के साथ संसर्ग (परिचय) सहवास का त्याग करे। (**तज्जातिया इमे कामा अवज्जकरा एवमक्खाए**) स्त्री संसर्ग से उत्पन्न होने वाले ये कामभोग पाप को पैदा करते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

भावार्थ

स्त्रीसंसर्ग के सम्बन्ध में जो पूर्वोक्त शिक्षाएँ दी गई हैं, उन्हें देखते हुए साधु स्त्री के साथ संसर्ग और संवास से बिलकुल दूर रहे। स्त्रीसंसर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से उत्पन्न होने वाले ये कामभोग पाप को उत्पन्न करते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

व्याख्या

स्त्रीसंसर्ग-त्याग की प्रेरणा

इस गाथा में शास्त्रकार ने स्त्री-संसर्ग और संवास से दूर रहने की प्रेरणा दी है। इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार ने तीर्थंकरों, गणधरों आदि के कथन का हवाला देते हुए कह दिया कि ये पूर्वोक्त प्रकार के कामभोग अनेक प्रकार के पापों को उत्पन्न करते हैं। खासतौर से इस बात पर जोर दिया गया है कि पूर्व-गाथाओं में जो कहा गया था कि स्त्री यह कहती है कि यदि केशवाली स्त्री के साथ तुम्हारा मन नहीं लगता है तो मैं केशों को उखाड़ डालूं, आदि; वाहियात बातों के वाग्जाल में कल्याणकामी साधक न आए। सौ बातों की एक बात यह है कि वह अपने अमूल्य संयमी जीवन की रक्षा के लिए हर सम्भव तरीके से स्त्री-संसर्ग एवं स्त्री-संवास से दूर रहे। यही इस गाथा का रहस्य है।

मूल पाठ

एयं भयं ण सेयाय, इइ से अप्पगं निरुंभित्ता।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

संस्कृत छाया

एतद् भयं न श्रेयसे, इति स आत्मानं निरुध्य।
नो स्त्रीं नो पशुं भिक्षुः नो स्वयं पाणिना निलीयेत ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**एयं भयं न सेयाय**) स्त्री-संसर्ग से जो खतरे पैदा होते हैं, वह कल्याण के लिए नहीं होते, (**इइ से अप्पगं निरुंभित्ता**) इसलिये साधु अपने आपको स्त्री-संसर्ग से रोक कर (**णो इत्थिं णो पसुं णो सयं पाणिणा भिक्खू णिलिज्जेज्जा**) न तो स्त्री को, और न ही पशु को अपने हाथ से स्पर्श करे।

भावार्थ

स्त्री-संसर्ग से पूर्वोक्त अनेक भय पैदा होते हैं, इस कारण स्त्री-संसर्ग कल्याणकारी नहीं होते हैं। अतः साधु स्त्री एवं पशु का अपने हाथ से संस्पर्श न करे।

व्याख्या

स्त्री-संसर्ग ही नहीं स्त्री-पशु संस्पर्श से भी दूर रहे

इस गाथा में स्त्री-संसर्ग से होने वाले खतरों और अकल्याण की ओर इंगित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए शस्त्रकार स्त्री-संसर्ग ही नहीं, स्त्री-पशु-स्पर्श से भी संयमी साधु को बचने का निर्देश करते हैं—**णो इत्थि'''पाणिणा णिलिज्जेज्जा**।

आशय यह है कि पूर्वोक्त कथनानुसार स्त्रियों को प्रार्थना तथा उनके साथ परिचय भय का कारण है, इसलिए कहा है—**एयं भयं**। साथ ही यह भी कहा है कि स्त्रीसम्पर्क अशुभ-अनुष्ठान का कारण है, इसलिए वह श्रेयस्कर नहीं है। इन सब बातों को भली-भाँति हृदयंगम करके संयमी साधु स्त्री-संसर्ग से अपने को रोक कर उत्तम मार्ग में स्वयं को स्थापित करे। स्त्री तथा पशु के साथ संवास-संवसति नरक ले जाने का कारण है। इसीलिए शास्त्र में साधु की शय्या स्त्री, पशु और नपुंसकवर्जित होने का विधान है। इसी कारण स्त्री-पशु का संस्पर्श भी यहाँ वर्जित बताया है।

णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा—इसका एक अर्थ यह भी है कि अपने हाथ से अपनी गुप्तेन्द्रिय का पीड़न न करे, क्योंकि ऐसा करने से भी चारित्र बिगड़ जाता है। कामोत्तेजना साधक के लिए महामोहकर्मबन्ध—पापकर्मबन्ध का कारण है, इसलिए इसके जो भी निमित्त हैं, उनका त्याग साधु के लिए अनिवार्य है।

मूल पाठ

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरियं च वज्जए नाणी।
मणसा वयसा काएणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

संस्कृत छाया

सुविशुद्धलेश्यः मेधावी, परक्रियाञ्च वर्जयेद् ज्ञानी।
मनसा वचसा कायेन सर्वस्पर्शसहोऽनगारः ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सुविसुद्धलेसे**) विशुद्ध लेश्या (चित्तवृत्ति) वाला (**मेहावी नाणी**) मर्यादा में स्थित ज्ञानी पुरुष (**मणसा वयसा काएणं**) मन, वचन और काया से (**परकिरियं च वज्जए**) आत्महित में बाधक—परभाव या दूसरे की क्रिया को वर्जित करे। क्योंकि (**सव्वफाससहे अणगारे**) जो शीत, उष्ण आदि समस्त स्पर्शों को सहन करता है, वही साधु—अनगार है।

भावार्थ

विशुद्ध लेश्या—चित्त की परिणति वाला साधु-मर्यादा में स्थित ज्ञानी साधक मन, वचन एवं काया से आत्मभावों से पर अनात्मभावों की या विषयोपभोग द्वारा तथाकथित परोपकार क्रिया का त्याग करे। वास्तव में अनगार वही है जो स्त्री-स्पर्श परीषह या शीत, उष्ण, दंश, मशक, तृण आदि के समस्त स्पर्शों को समभाव से सहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

अनगार पर-क्रिया का त्रियोग से त्याग करे

इस गाथा में साधु को अपनी मौलिक मर्यादाओं का भान कराकर मन-वचन काया तीनों योगों से पर-क्रिया से विरत होने की प्रेरणा दी गई है। साधु को अपनी मौलिक मर्यादाओं का भान कराने के लिए शास्त्रकार ने साधु के लिए यहाँ पाँच विशेषणों का प्रयोग किया है—'**सुविशुद्धलेश्यावान्, मेधावी, ज्ञानी, सर्वस्पर्शसह, और अनगार।**'

सुविशुद्ध-लेश्यावान् का अर्थ है—जिसकी चित्तवृत्ति विशेष रूप से स्त्रीसंसर्ग के त्यागरूप होने के कारण निष्कलंक—सुविशुद्ध है। मेधावी का अर्थ है—जो मर्यादा में स्थित है। ज्ञानी का अर्थ है—जो स्व-पर, या हेय-ज्ञेय-उपादेय को या जानने योग्य पदार्थों को भली-भाँति जानता है। सर्वस्पर्शसह का अर्थ है स्त्री-स्पर्शपरीषह से लेकर अन्य सभी शीत-उष्ण, दंश-मशक, तृण आदि जितने भी स्पर्श हैं, उन सबको जो समभाव से सहता है। और अनगार का अर्थ है—जो घरबार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, गृह सम्बन्धी समस्त सांसारिक रिश्ते-नाते, लेन-देन, व्यवहार, एवं स्त्री-बालक आदि का मोहजनित सम्पर्क छोड़कर संयम में स्थित है।

इन पाँच विशेषणों द्वारा साधु जीवन की मर्यादाएँ समझाकर शास्त्रकार मूल मुद्दे की बात कहते हैं—'**मणसा वयसा कायेणं परिकिरियं च वज्जए।**' यहाँ परक्रिया का मन-वचन-काया इन त्रियोग से, तथा उपलक्षण से तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन तीनों) से त्याग करने का निर्देश किया है। परक्रिया के यहाँ लगभग चार अर्थ प्रतीत होते हैं—(१) आत्मभावों से अन्य परभावों अनात्मभावों की क्रिया, अथवा आत्महित में बाधक क्रिया; (२) स्त्री आदि आत्मगुणबाधक पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात् विषय का उपभोग देकर जो दूसरे का उपकार किया जाता है, वह परक्रिया है। (३) विषय-भोग की सामग्री देकर दूसरे की कुछ सहायता करना भी परक्रिया है; (४) दूसरे—गृहस्थ नर-नारी से अपने पैर दबवाना, पैर धुलाना आदि सेवा कराना भी परक्रिया है।

इन चारों प्रकार के अर्थों की छाया में पूर्वोक्त पाँच विशेषणों से युक्त साधु मन, वचन और शरीर से परक्रिया का सर्वथा त्याग करे।

तात्पर्य यह है कि साधु परक्रिया (एक अर्थ के अनुसार)—औदारिक एवं दिव्य कामभोग के लिए मन से भी विचार न करे, दूसरे को भी मन से प्रेरित न करे, मन से ऐसा विचार करने को अच्छा न समझे। इसी प्रकार वचन से एवं शरीर से भी समझ लेना चाहिए। औदारिक काम-भोग के नौ भेद होते हैं, वैसे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिव्य (वैक्रियक) कामभोग के भी नौ भेद हैं । इन अठारह प्रकार की परक्रिया (अब्रह्मचर्य) का साधु त्याग करे, और १८ प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखे ।

मूल पाठ

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्तविसुद्धे सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वज्जासि ॥२२॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

इत्येवमाहुः स वीरः धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः ।
तस्मादध्यात्मविशुद्धः सविमुक्तः आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२२॥

॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**धुअरए धुअमोहे**) जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था तथा जो रागद्वेषमोहरहित थे, (**से वीरे इच्चेवमाहु**) उन वीर प्रभु ने यह कहा है । (**तम्हा अज्झत्तविसुद्धे**) इसलिए विशुद्धात्मा या निर्मलचित्त (**सुविमुक्के**) और स्त्रीसम्पर्क से वर्जित (**से भिक्खू**) वह साधु (**आमोक्खाए**) मोक्षपर्यन्त (**परिव्वज्जाए**) संयम के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहे । (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ

जिसने स्त्रीसम्पर्कजनित कर्मरज दूर कर दिया था, तथा जो राग-द्वेषरहित थे, उन वीर प्रभु ने पूर्वोक्त बातें कही हैं, इसलिए विशुद्धात्मा या विशुद्धचित्त एवं स्त्रीसम्पर्क से अच्छी तरह विमुक्त साधु मोक्षप्राप्तिपर्यन्त संयमानुष्ठान में उद्यत रहे ।

व्याख्या

अन्तिम उपदेश

इस गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए यह सूचित किया है कि इस अध्ययन में जो भी स्त्रीपरिज्ञा सम्बन्धी बातें कही गयी हैं, वे सब परहिततत्पर, दिव्यज्ञानी, स्त्रीसम्पर्कजनित कर्मरज से मुक्त, रागद्वेष-मोहविजेता भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है । अतः प्रत्येक संयमी साधु को, जो विशुद्धचेता है, स्त्रीसम्पर्क से मुक्त है, वह समस्त कर्मों के क्षय (मोक्ष) होने तक संयमपालन में उद्यम करे ।

इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है । **बेमि** (ब्रवीमि) का अर्थ पूर्ववत् है ।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र के चतुर्थ अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुख-बोधिनी व्याख्यासहित समाप्त हुआ ।

॥ स्त्रीपरिज्ञा नामक चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्ययन : नरकविभक्ति

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब पंचम अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इसका पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन में स्वसमय-परसमय-प्ररूपणा की गयी है। इसके पश्चात् स्वसमय में बोध प्राप्त करना चाहिए, यह दूसरे अध्ययन में कहा है। सम्यक् प्रकार से बोध पाये हुए पुरुष को अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को भलीभाँति सहन करना चाहिए, यह तृतीय अध्ययन में बताया गया है। इसके पश्चात् चतुर्थ अध्ययन में यह बताया गया है कि बोधप्राप्त साधक को स्त्रीपरीषह भी अच्छी तरह सहन करना चाहिए। अब पाँचवें अध्ययन में यह बताया जायेगा कि जो साधक उपसर्गों एवं परीषहों से भय खाता है तथा स्त्री के वश में हो जाता है, वह अवश्य नरक में जाता है। वहाँ कैसी-कैसी भयंकर वेदनाएँ होती हैं, किस-किस प्रकार से जीवों को पीड़ा पहुँचायी जाती है और उनकी प्रतिक्रिया नारकीय जीवों पर कैसी-कैसी होती है? इसलिए इस अध्ययन का नाम नरकविभक्ति रखा गया है। यह इस अध्ययन का अर्थाधिकार है, जिसमें नरक के घोर दुःखों का वर्णन है। उपक्रम के सन्दर्भ में यहाँ अर्थाधिकार दो प्रकार का है—अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार। इस अध्ययन का अर्थाधिकार अभी-अभी हम बता चुके हैं। इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं। दोनों उद्देशकों में नरक के दुःखों तथा नरकपालों द्वारा दी जाने वाली भयंकर यातनाओं का हृदयस्पर्शी वर्णन है।

नरक : क्या, क्यों और कैसे ?

इस संसार में प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार सुख या दुःख पाता है, साथ ही सुखों और दुःखों को भोगने के लिए कोई न कोई गति, योनि या वातावरण अवश्य प्राप्त करता है। ईश्वर कर्तृत्ववादियों के अनुसार सोचें तो ईश्वर भी प्रत्येक जीव के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही उसे विभिन्न गति, या योनि में पहुँचाता या प्राप्त कराता है। इसमें किसी भी प्रकार की रियायत नहीं होती, न रिश्वत चल सकती है। अतः जब अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलेगा, यह निश्चित है, तब जिन लोगों ने अच्छे कर्म किये हैं, उन्हें तो उनके शुभकर्मानुसार स्वर्ग (देवगति) या मनुष्यलोक में स्थान मिल जाता है। परन्तु जिन लोगों ने जिन्दगीभर झूठ बोला है, चोरियाँ की हैं, हत्याएँ और कत्लें की हैं, कुशीलसेवन किया है, ममत्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके अनापशनाप परिग्रह रखा है, उसे उन-उन कुकृत्यों का दण्ड यदि न मिले तो जगत् में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। अतः जगत् की सुव्यवस्था के लिए पुण्य और पाप का फल भोगने हेतु स्वर्ग (देवगति) और नरक (नरकगति) मानना अनिवार्य है। यदि ये दोनों गतियाँ न मानी जाएँगी तो कोई भी व्यक्ति शुभकार्य—पुण्यकार्य करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होगा। सभी बेखटके पापकर्म में प्रवृत्त होंगे। किसी को कोई न तो पाप करने से टोक सकेगा और न ही कोई रोक सकेगा। इसलिए स्वर्ग और नरक की व्यवस्था मानना अनिवार्य है।

निक्षेप की दृष्टि से नरक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ६ भेद हैं। नाम नरक और स्थापना नरक सुगम हैं। द्रव्यनरक आगमतः और नोआगमतः होने के कारण दो प्रकार का है। आगम द्रव्यनरक वह है, जो पुरुष नरक को जानता है, किन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता। नोआगम से द्रव्य-नरक वह है, जो ज्ञशरीर और भव्यशरीर से अतिरिक्त इसी लोक में मनुष्यभव या तिर्यञ्चभव में अशुभकर्म करने के कारण जो प्राणी अशुभ हैं, जैसे कालसौकरिक (कसाई) आदि। ये सब द्रव्यनरक कहलाते हैं। अथवा जेल, बन्दीगृह आदि जो बुरे स्थान हैं, जहाँ रहकर जीव अत्यन्त कष्ट पाता है, अथवा जहाँ नरक की-सी वेदनाएँ मिलती हैं, वे सब द्रव्यनरक हैं। अथवा कर्मद्रव्य और नोकर्मद्रव्य के भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है। उनमें जो नरकवेदनीय कर्म बाँध चुके हैं, वे एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र की दृष्टि से द्रव्यनरक हैं। नोकर्मद्रव्य की दृष्टि से द्रव्यनरक तो इसी लोक में अशुभ रूप, रस, गन्ध और शब्द हैं। क्षेत्रनरक नरकों का स्थान है, जो ८४ लाख संख्या वाले काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान नामक नरकों का विशिष्ट भूभाग है। कालनरक वहाँ है, जहाँ जिस नरक की जितनी स्थिति है। जो जीव नरक की आयु भोगते हैं, वे भावनरक हैं। तथा नरक के योग्य कर्म के उदय को भी भावनरक कहते हैं। अर्थात् नरक में स्थित जीव और नरकायु के उदय से उत्पन्न असातावेदनीय आदि कर्म के उदय वाले जीव, ये दोनों ही 'भाव-नरक' कहे जा सकते हैं।

नरकविभक्ति नामक अध्ययन की रचना करके नरक एवं नरक में दिये जाने वाले भयंकर दुःखों का वर्णन शास्त्रकार ने इसलिए किया है कि शास्त्र के प्रारम्भ में बन्धन को जानकर उसका त्याग करने पर जोर दिया है। इसलिए नरकायु के कर्म-बन्धन को तथा उक्त कर्मबन्धन से होने वाले कर्मविपाक (कर्मफल) को जानना साधक के लिए अत्यावश्यक है, ताकि वह नरक के दारुण दुःखों को सुन-समझकर नरकगति की कारणभूत निम्नोक्त बातों से दूर रहे और स्वपरकल्याणरूप संयम साधना में अहर्निश संलग्न रहे। स्थानांग सूत्र में नरकगति के चार कारण बताये गये हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'महारंभेण, महापरिग्गहेण पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं ।'[1]

अर्थात्—चार कारणों से जीव नरकगति का बन्ध करता है—महारम्भ से, महापरिग्रह से, पंचेन्द्रिय जीवों के वध से एवं मांसाहार से ।

नरक का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—नरक का पर्यायवाची निरय शब्द है—**निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफलं देवं कर्म सातवेदनीयाऽऽदिरूपं येभ्यस्ते निरयाः, निर्गतमयंशुभमस्मादिति निरयः** । अथवा **नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरकाः** । अर्थात्—सातावेदनीयादि-रूप इष्टफल या शुभ जिनमें से निकल गये हैं, उन्हें निरय कहते हैं । अथवा प्राणियों को अपने-अपने स्थान में दुर्लंघ्यरूप से दूर से ही बुला लेते हैं, अथवा जहाँ वेदना के मारे जीव एक-दूसरे को सम्बोधन करके सहायता के लिए बुलाते हैं, वह नरक है।

नरक सात हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा । इनके क्रमशः ७ रूढ़िगत नाम हैं - धम्मा, वंशा, शैला, अंजना, अरिष्टा, मघा और माघवी । ये सात नरकभूमियाँ हैं, जो एक दूसरी के नीचे घनोदधि (घनाम्बु), घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित हैं । ये आपस में सटकर नहीं हैं । एक दूसरी भूमि के बीच में असंख्य योजनों का अन्तर है । उन नरकभूमियों में केवल ५ महालय नरक हैं, वे क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पाँच कम एक लाख और ५ आवासों में विभक्त हैं । ये सब भूमि के अन्दर हैं और अनेक पटलों में बँटे हुए हैं । प्रथम भूमि में १३ पटल हैं, आगे की भूमियों में क्रमशः दो-दो पटल कम होते गये हैं । सातवीं भूमि में केवल केवल एक पटल है । रत्नप्रभा १ लाख ८० हजार योजन, शर्कराप्रभा ३२ हजार योजन, बालुकाप्रभा २८ हजार योजन, पंकप्रभा २४ हजार योजन, धूम्रप्रभा २० हजार योजन, तमःप्रभा १६ हजार योजन और महातमःप्रभा ८ हजार योजन मोटी हैं ।

उन नरकों में रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाइस और तैंतीस सागरोपमकाल की है । वे नरक के प्राणी निरन्तर अशुभतर लेश्या, दुष्परिणाम, बुरे, बेडौल, भौंडे, भद्दे, कुरूप शरीर, असह्यतर वेदना और विक्रिया वाले होते हैं । वे एक दूसरे के लिए परस्पर दुःख उत्पन्न करते हैं । चौथी नरकभूमि से पहले-पहले यानी तीन नरकभूमियों तक संक्लिष्ट परिणामी असुर (परमाधार्मिक) दुःख उत्पन्न करते हैं, पीड़ा देते हैं । नारक लोग प्रायः एक दूसरे के

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में नरक के दो कारण बताये गये हैं—"**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः** ।" महारम्भ और महापरिग्रह ये दो नरकायुबन्ध के कारण हैं । —देखो तत्त्वार्थ सूत्र अ० ३ में ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ हुए वैर का स्मरण करके परस्पर कुत्तों की तरह लड़ते हैं। पूर्वजन्म का स्मरण करके उनकी यह वैर की गांठ और सुदृढ़ हो जाती है, जिससे वे अपनी विक्रिया से तलवार, भाला, बसूला, फरसा आदि शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ, पैर, दांतों और नखों से छेदन-भेदन, तक्षण और कर्तन आदि के द्वारा परस्पर अति-तीव्र दुःसह दुःख उत्पन्न करते हैं।

यह परस्परकृत दुःख है। क्षेत्रजन्य दुःख का भी वहाँ कोई पार नहीं है। नरकभूमियों में उत्तरोत्तर असह्य भयंकर रूप, डरावनी आकृति, असह्य दुर्गन्ध, असह्य कटु और तिक्त रस, दुःसह भयंकर चीत्कार, आर्त्तध्यान से पीड़ित नारकों के शब्द और दुःसहशीत उष्ण आदि स्पर्श हैं। इन सबका दुःख भी कम नहीं है।

इन दो प्रकार के दुःखों के अतिरिक्त उन्हें एक तीसरे प्रकार का दुःख और होता है, जो असुर जाति के १५ प्रकार के परमाधार्मिक असुरों[1] द्वारा उत्पन्न किया जाता है।' यद्यपि यह दुःख प्रारम्भ की तीन नरक-भूमियों तक ही है। ये असुर स्वभाव से ही निर्दयी होते हैं। अनेक सुख-साधनों के रहते हुए भी इन्हें नारकियों को लड़ाने में आनन्द आता है। नारकियों को अपने संकेत पर पूर्ववैर स्मरण करके परस्पर लड़ते-मरते देख इन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। इस प्रकार मार-काट में एवं उससे उत्पन्न हुए दुःखों के सहने में ही नारकों की जिंदगी बीतती है। ये इस दौरान कोई भी शुभ कार्य नहीं कर सकते। शुभ कार्य करने की भावना ही इनके चित्त में अशुभतर लेश्याओं के कारण पैदा नहीं होती। आयुष्य का पूरा भोग किये बिना बीच में वे दुःखों से कदापि छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

प्रथम तीन नरकों में पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक नरकपाल किस प्रकार से वहाँ के नारकीय जीवों को दुःख और वेदना उत्पन्न करते हैं? यह निर्युक्तिकार के शब्दों में पढ़िये—

अम्ब नामक प्रथम नरकपाल परमाधार्मिक अपने भवनों से नरकावासों में जाते हैं और वहाँ के शरणरहित नारकीय जीवों को कुत्ते की तरह शूल आदि के प्रहार से पीड़ित करते हुए एक जगह से दूसरी जगह क्रीड़ापूर्वक उछालते हैं। उन बेचारे अनाथ जीवों को इधर से उधर घुमाते हैं। तथा उन्हें आकाश में फैंकते हैं, जब वे नीचे गिरने लगते हैं तो उन्हें मुद्गर आदि के द्वारा मारते-पीटते हैं, शूल

---

१. १५ परमाधार्मिक देवों के नाम इस प्रकार हैं –

अंबे अंबरिसी चेव सामे य सबलेवि य।
रोद्दोवरुद्द काले य, महाकालेत्ति आवरे॥
असिपत्ते धणु कुंभे, वालु वेयरणीवि य।
खरस्सरे महाघोसे, एवं पण्णरसाहिया॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बींध देते हैं, उनका गला दबोचकर जमीन पर पटक देते है तथा उनका मुँह नीचा करके बीच में से ऊपर उठा कर आकाश तल में छोड़ देते हैं।

पहले मुद्गर वगैरह से घायल, फिर तलवार आदि से अंग-भंग किये हुए उन मूर्च्छित नारकों को फिर वे महापापी परमाधार्मिक कर्पणी नामक शस्त्र विशेष से काटते हैं, चीरकर टुकड़े-टुकड़े करते हैं। इस प्रकार चीर-चीर कर वे नारकीय जीवों के मूँग की दाल के बराबर टुकड़े कर देते हैं। तथा बीच में से चीरे गए नारकीय जीवों के वे पापी असुर फिर टुकड़े-टुकड़े करते हैं यह यातना अम्बर्षि नामक असुरकुमार नरकभूमि में नारकों को देते हैं।

तीसरे श्याम नामक असुर परमाधार्मिक तीव्र असातावेदनीय के उदय से वर्तमान दुरवस्था को प्राप्त उन पुण्यहीन नारकीय जीवों के अंगोपांगों का छेदन करते हैं, पर्वत से नीचे वज्र भूमि में गिराते हैं, शूल आदि से उन्हें बींध डालते हैं, सुई आदि से उनके नाक में छेद कर देते हैं, फिर रस्सी आदि से उन क्रूरकर्मा नारकों को बाँधते हैं। तथा उस जगह लता (चाबुक) के प्रहार से चमड़ी उधेड़ देते हैं। यों शातन, पातन, बन्धन, वेधन, आदि अनेक प्रकार के दुःख उन पूर्वपापकृत नारकों को श्याम नामक नरकपाल देते हैं।

सबल नामक नरकासुर पापकर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले नारकों को खुशी से उछलते हुए कष्ट देते हैं। वे उन नारकियों की आँतें काट कर उनमें स्थित मांसविशेष रूप पिप्पिस को तथा हृदय को एवं हृदय में रहने वाले कलेजे को चीरते हैं। पेट की आँतों और चमड़ी को खींचते हैं। इस तरह नाना उपायों से शरण रहित नारकीय जीवों को वे तीव्र वेदना देते हैं, भयंकर पीड़ा उत्पन्न करते हैं।

रौद्र नामक नरकपाल अपने नाम के अनुसार अति क्रूर होकर तलवार, भाला, बल्लम आदि अनेक शस्त्रों से अशुभ कर्मोदय को प्राप्त नारकों को पीड़ा देते है।

उपरुद्र नामक नरकपाल नारकों के सिर, बाहों, आँख, हाथ और पैर आदि अंग-प्रत्यंगों को तोड़-मोड़ देते हैं तथा करवत से चीरते हैं। वस्तुतः ऐसा कोई दुःख नहीं, जिसे वे पापी न देते हों।

काल नाम के नरकपाल दीर्घचुल्ली, शुण्ठक, कन्दुक और प्रचण्डक नाम की तीव्र ताप वाली भट्टियों में नारकों को पकाते हैं। तथा ऊँट के आकार की कुंभी में एवं लोहे की कड़ाही में नारकी जीवों को डालकर जीवित मछली की तरह वे पकाते हैं।

महाकाल नामक पाप-कर्मरत असुर नाना उपायों से नारकों को पीड़ा देते हैं। जैसे कि वे नारकी जीवों को काटकर उसमें से कौड़ी के बराबर माँस का टुकड़ा निकालते हैं, फिर पीठ की चमड़ी को छीलते हैं और जो नारक पहले मांसाहारी थे, उन्हें उनका ही वह माँस खिलाते हैं।

असि नामक नरकपाल अशुभ कर्म के उदय से दुरवस्था को प्राप्त नारकों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ, पैर, जांघ, बाहें, सिर और पार्श्व आदि अंग-प्रत्यंगों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं और उन्हें घोर वेदनाएँ पहुँचाते हैं।

असिपत्रधनुष नामक नरकपाल असिपत्र (तलवार के समान तीखे पत्तों वाले वृक्षों के) वन को बीभत्स बनाकर उन पेड़ों की छाया में विश्राम के लिए आये हुए नारकीय जीवों को तलवार आदि के द्वारा काट डालते हैं। तथा जोर की हवा चलाकर तलवार के समान तीखी धार वाले पत्तों से उनके कान, नाक, ओठ, हाथ, पैर, दाँत, छाती, नितम्ब, जांघ और भुजा को छिन्न-भिन्न एवं विदारण कर डालते हैं।

कुम्भी नामक नरकपाल नारकी जीवों को व्यवस्थितरूप से मारते हैं और उन्हें ऊँट के समान आकार वाली कुम्भी में, कड़ाही के समान आकार वाले लोहे के बड़े बर्तन में एवं गेंद के समान गोलाकार लोहे की कुम्भी में तथा कोठी के समान आकार वाली कुम्भी में और इसी प्रकार के अन्य बर्तनों में पकाते हैं।

बालुका नामक नरकपाल अरक्षित असहाय नारकी जीवों को गर्मागर्म रेत से भरे हुए बर्तन (भाड़) में डालकर चने की तरह भूनते हैं, उसमें से तड़-तड़ आवाज निकलती है। उन नारकों को भूनने का उनका तरीका भी अत्यन्त क्रूर है। कदम्ब के फूल के समान अत्यन्त लाल-लाल गर्म बालुका (कदम्बबालुका) पर नारकीय जीवों को रखकर फिर उन्हें आकाशतल में इधर-उधर घुमाते हैं और तब भूनते हैं।

वैतरणी नामक नरकपाल वैतरणी नदी को ही विकृत कर डालते हैं। वैतरणी नदी में मवाद, रक्त, केश और हड्डियाँ कलकल करती हुई जलधारा के साथ बहती रहती हैं। वह बड़ी भयानक है। उसे देखने से ही घृणा पैदा होती है। उसका पानी खारा और गर्म है। परमाधार्मिक असुर नारकों को इस वैतरणी नदी में बहा देते हैं।

खरस्वर नामक नरकपाल भी नारकीय जीवों को पीड़ा देने में कोई कसर नहीं छोड़ते। वे नारकों के शरीर को खम्भे की तरह सूत से नापकर उसे बीचोबीच आरे से चीरते हैं, फिर उन्हीं नारकों को परस्पर कुल्हाड़ी से कटवाते हैं। इस प्रकार उनके शरीर के अवयवों को छीलकर पतला कर देते हैं। वज्रमय भयंकर काँटों वाले सेमर के पेड़ पर वे चिल्लाते हुए नारकों को चढ़ा देते हैं, फिर वृक्षारूढ़ नारकों को वे जोर से खींच लेते हैं।

महाघोष नामक अधम नरकपाल असुर दूसरों को पीड़ा देकर व्याध की तरह अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे अपनी क्रीड़ा के लिए नाना उपायों से नारकी जीवों को पीड़ा देते हैं। बेचारे नारकी जीव जब डरकर हिरन की तरह इधर-उधर भागने लगते हैं तो ये दुष्ट असुर उन्हें वध्य पशुओं की तरह चारों ओर से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घेरकर वहीं रोक लेते हैं। इस तरह वे उन नारकों को नरक के उन निग्रह स्थानों में रोककर बन्द कर देते हैं।

इस प्रकार नरक के असह्य दुःखों की यह बोलती कहानी है, जिन्हें स्त्री-संसर्ग, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डकैती आदि भयंकर पापकर्म करने वाले जीव पाते हैं। कहीं तो वे स्वयं ही आपस में लड़भिड़कर या मानसिक रूप से घोर दुःख पाते हैं, कहीं इन असुरों द्वारा विभिन्न प्रकार से दुःख दिये जाते हैं और कहीं नरक की भूमि के प्रकृतिकृत असह्य दुःखों का सामना करना पड़ता है। नारकी जीव कितना ही रोयें, चिल्लायें, हाय-तोबा मचाएँ, कोई उनकी सुनता नहीं, कोई उन्हें आश्वासन नहीं देता।

नरकविभक्ति नाम क्यों ?

इस अध्ययन का नाम नरकविभक्ति क्यों रखा गया ? यह स्पष्ट है। विभक्ति कहते हैं - विभाग को। इस अध्ययन में नरक के विभिन्न विभागों के क्षेत्रीय दुःखों, स्वयंकृत दुःखों, पारस्परिक दुःखों और परमाधार्मिक असुरकृत दुःखों का करुणाजनक निरूपण है। साथ ही विभिन्न नरकावासों में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम शीत, उष्ण आदि स्पर्श, विकराल बीभत्स रूप, भयंकर दुर्गन्ध, तीव्र कटु व तिक्त रस एवं भयंकर चीत्कारपूर्ण शब्द आदि अशुभ विषयों का नारकों को कैसा अनुभव होता है ? उनके मन पर उनकी क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं ? यह सब नरकविभक्ति नामक इस अध्ययन में वर्णित है।

अब इस सम्बन्ध में क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहंभितावा णरगा पुरत्था ?
अजाणओ मे मुणि ! बूहि जाणं, कहं नु बाला नरयं उवेंति ?॥१॥

संस्कृत छाया

पृष्टवानहं केवलिनं महर्षिं, कथमभितापाः नरकाः पुरस्तात् ?
अजानतो मे मुने ! ब्रूहि जानन्, कथं नु बालाः नरकमुपयान्ति ? ॥१॥

अन्वयार्थ

(अहं) मैंने (पुरत्था) पहले (केवलियं महेसिं) केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से (पुच्छिस्स) पूछा था कि (णरगा कहंभितावा) नरक कैसे पीड़ाकारी हैं ? (मुणि) हे मुने ! (जाणं) आप इसे जानते हैं, अतः (अजाणओ मे बूहि) न जानने वाले मुझे कहिए। (बाला) मूढ़ अज्ञानी जीव (कहं नु) किस कारण से (नरयं उवेंति) नरक को प्राप्त करते हैं ?

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—मैंने केवलज्ञानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महर्षि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से बहुत पहले पूछा था कि नरक कैसे पीड़ाकारक हैं ? मुनिशिरोमणि प्रभो ! मैं इसे नहीं जानता, किन्तु आप इसे जानते हैं। अतः आप मुझे यह बतलाइए, और यह भी कहिए कि अज्ञानी मूढ़ जीव किस कारण से नरक में जाते हैं।

व्याख्या

नरक के सम्बन्ध में जिज्ञासा

गणधर सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यों से अपना अनुभव सुनाते हुए एक दिन कहा था कि बहुत अर्सा हुआ, जब एक दिन मैंने श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रगट की थी—"भगवन् ! मैं नरक और वहाँ होने वाले तीव्र सन्तापों से बिलकुल अनभिज्ञ हूँ। आप सर्वज्ञ हैं। आपसे त्रिकाल, त्रिलोक की कोई भी बात छिपी नहीं है। आप अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उपसर्गों को सहने के अनेक अनुभवों में से गुजरे हैं। समस्त जीवों की क्रिया-प्रतिक्रिया, वृत्ति-प्रवृत्ति को आप भलीभाँति जानते हैं। अतः आप यह बताने की कृपा करें कि नरकभूमियाँ कैसे-कैसे दुःखों से भरी हैं ? वहाँ के लोग इतने दुःखी क्यों हैं ? वे इन दुःखों के समय क्या करते होंगे ? और वे हिताहित-विवेकमूढ़ जीव किन-किन कारणों से नरक को प्राप्त करते हैं ?" यही इस गाथा का आशय है।

मूल पाठ

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥२॥

संस्कृत छाया

एवं मया पृष्टो महानुभाव, इदमब्रवीत् काश्यप आशुप्रज्ञः।
प्रवेदयिष्यामि दुःखमर्थदुर्गमादीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात् ॥२॥

अन्वयार्थ

(**एवं**) इस प्रकार (**मए**) मेरे द्वारा (**पुट्ठे**) पूछे जाने पर (**महाणुभावे कासवे आसुपन्ने**) महाप्रभावक काश्यपगोत्रीय समस्त पदार्थों में सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले भगवान् महावीर स्वामी ने (**इणमोऽब्बवी**) यह कहा कि (**दुहमट्ठदुग्गं**) नरक दुःखदायी है, तथा असर्वज्ञ पुरुषों से अज्ञेय हैं, (**आदीणियं**) वह अत्यन्त दीन जीवों का निवासस्थान है, (**दुक्कडियं**) उसमें पापी (दुष्कर्म करने वाले) जीव रहते हैं। (**पुरत्था पवेदइस्सं**) यह आगे चलकर हम बतायेंगे।

भावार्थ

श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से फरमाते हैं—इस प्रकार मेरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा जिज्ञासा प्रगट करने पर अतिशयमाहात्म्यसम्पन्न, सब वस्तुओं में सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले, काश्यपगोत्र में उत्पन्न श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि नरकस्थान अत्यन्त दुःखदायक और असर्वज्ञ (छद्मस्थ) जीवों द्वारा अज्ञेय हैं। वे पापी और दीन जीवों के निवास-स्थान हैं; यह मैं आगे चलकर बताऊँगा।

व्याख्या

नरक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर का संक्षिप्त उत्तर

इस गाथा में नरक के सम्बन्ध में सुधर्मास्वामी द्वारा किये गये प्रश्न का भगवान् महावीर द्वारा दिया गया संक्षिप्त उत्तर बताया गया है।

सर्वप्रथम सुधर्मास्वामी ने भगवान् महावीर के लिए **'महाणुभावे'**, **'कासवे'**, **'आसुपन्ने'** इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। महानुभाव का अर्थ है—चौंतीस अतिशय तथा ३५ प्रकार की वाणी के माहात्म्य से सम्पन्न। काश्यप का अर्थ है—काश्यपगोत्रोत्पन्न। यह विशेषण खास वर्द्धमानस्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'आशुप्रज्ञ' का अर्थ है—सदा सर्वत्र उपयोग रखने वाले।

शास्त्रकार का कहने का आशय यह है कि इन विशेषणों से युक्त भगवान् महावीर स्वामी ने नरक के सम्बन्ध में संक्षिप्त उत्तर यों दिया नरकभूमि दुःख का कारण है, या बुरे कर्मों का फल होने के कारण दुःखरूप है, अथवा नरकस्थान जीवों को दुःख देता है, इसलिए दुःखदायी है या असातावेदनीय कर्म के उदय से होने से नरकभूमि तीव्रपीड़ारूप है, इसलिए यह दुःखमय है। यहाँ **'दुहमट्ठदुग्गं'** पाठ है, उसका अर्थ है—नरकभूमि केवल दुःख देने के लिए ही बनी है, इसलिए **दुःखार्थ** है, दुःखनिमित्त है, या दुःखप्रयोजन है। दूसरा विशेषण है—दुर्ग। नरक-भूमि को पार करना कठिन है, इसलिए दुर्ग है। अथवा असर्वज्ञों द्वारा वह दुर्विज्ञेय है, क्योंकि नरक को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। नरकभूमि की विशेषता बताते हुए दो विशेषणों का प्रयोग किया है—**आदीणिअं, दुक्कडियं**। वह अत्यन्त दीन प्राणियों का निवासस्थान है, जिसमें चारों ओर दीनजीव निवास करते हैं, इसलिए नरकभूमि आदीनिक है। तथा नरकभूमि में बुराकर्म, पाप या पाप का फल असातावेदनीय विद्यमान रहता है, इसलिए इसे दुष्कृतिक कहा है। यहाँ **'दुक्कडिणं'** पाठान्तर भी है। जिसका अर्थ है—नरकनिवासी पापीजनों ने नरक भोगने योग्य जो पूर्वजन्म में कर्म किये हैं, वे दुष्कृती हैं।

मूल पाठ

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

ये केऽपि बाला इह जीवितार्थिनः पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रौद्राः ।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (रुद्दा) प्राणियों को भयभीत करने वाले (जे केइ बाला) जो अज्ञानी जीव (जीवियट्ठी) अपने जीवन के लिए (पावाइं कम्माइं करंति) हिंसा आदि पापकर्म करते हैं। (ते) वे (घोररूवे) घोर रूप वाले (तमिसंधयारे) घोर अन्धकार से युक्त (तिव्वाभितावे) तीव्रतम ताप—गर्मी वाले (नरए) नरक में (पडंति) गिरते हैं।

भावार्थ

इहलोक में प्राणियों को भयभीत करने वाले अज्ञानी जीव अपने जीवन की खुशहाली के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा आदि पापकर्म करते हैं। वे घोर विकराल रूप वाले, घोर अंधेरे से युक्त तथा अत्यन्त तीव्र ताप—गर्मी वाले नरक में गिरते हैं।

व्याख्या

कौन, क्यों और कैसे नरक में जाते हैं ?

इस गाथा में यह बताया गया है कि नरकयात्रा कौन करते हैं, क्यों करते हैं और कैसे नरक में जाते हैं ? जो व्यक्ति स्वयं रौद्र हैं, कर्म से भी रौद्र—भयंकर हैं, भावों से भी रौद्र हैं, विचारों से भी भयंकर हैं और वचन से भी रौद्र हैं। जो बाल हैं—हित में प्रवृत्ति एवं अहित में निवृत्ति के विवेक से रहित अज्ञानी हैं। राग-द्वेष की उत्कटता के कारण जो आत्महित से अज्ञ तिर्यंच एवं मनुष्य हैं। अथवा जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों के प्राण-घात एवं मांसभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे बाल हैं।

ऐसे रौद्र एवं अज्ञानी जीव नरक में क्यों जाते हैं ? इसके लिए शास्त्रकार दो शब्द देते हैं—'**जीवियट्ठी**' एवं '**पावाइं कम्माइं करंति**' अर्थात्—सुख से जीवनयापन करने के लिए पापोपादानरूप कर्म करते हैं, भयंकर हिंसा, आदि पापकर्म करते हैं। इसी कारण वे नरक में जाते हैं।

पापकर्म से युक्त व्यक्ति किस प्रकार के नरक में जाता है, इसके लिए शास्त्र-कार ने नरक के घोररूप, तमिस्रान्धकार, और तीव्राभिताप, इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। वहाँ विकराल दृश्य हैं, इसलिए नरक को घोररूप कहा है। नरक में इतना घोर अन्धकार है कि जहाँ हाथ को हाथ भी नहीं सूझता, अपने नेत्र से अपना शरीर भी नहीं दिखाई देता। जैसे उल्लू दिन में बहुत कम देखता है, वैसे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारकीय जीव अवधिज्ञान से भी दिन में मंद-मंद देख सकता है। इस सम्बन्ध में आगम का प्रमाण प्रस्तुत है—

"किण्हलेसे णं भंते ! णेरइए किण्हलेस्सं णेरइयं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणई ? केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! णो बहुययरं खेत्तं जाणइ, णो बहुययरं खेत्तं पासइ, इत्तरिमेवय खेत्तं जाणइ, इत्तरियमेव खेत्तं पासइ।"

अर्थात्—"भंते ! कृष्णलेश्या वाला नारकी जीव नारकी जीव को अवधि-ज्ञान के द्वारा चारों ओर देखता हुआ कितने क्षेत्र तक जानता—देखता है ? गौतम ! वह बहुत क्षेत्र नहीं जानता—देखता, किन्तु थोड़े ही क्षेत्र तक जानता—देखता है।"

तथा नरक में इतनी तीव्र दुःसह सन्ताप (गर्मी—उष्णता) है कि वह खैर के धधकते अंगारों की महाराशि से अनन्तगुना अधिक ताप (गर्मी) से युक्त है।

ऐसे घोरतम वेदना वाले नरकों में ऐसे गुरुकर्मी जीव जाते हैं, जो विषयसुखों का त्याग नहीं कर पाते। जिसमें धधकती हुई आग की लपटें मौजूद हैं तथा जो संसारसागर का प्रधान दुःख-स्थान है, ऐसे नरक में वे गिरते हैं। जिस नरक में नारकी जीवों की छाती को परमाधार्मिक पैर से कुचलते हैं, मुँह से खून का कुल्ला करके फेंकते हैं, आरे से चीरकर उनके शरीर को दो भागों में विभक्त कर देते हैं। जिस नरक में भेदन किये जाते हुए प्राणियों के कोलाहल से सब दिशाएँ भर जाती हैं तथा चलते हुए नारकों की खोपड़ियाँ और हड्डियाँ चट्चट् आवाज करती हैं, पीड़ा के कारण नारक जोर-जोर से चिल्लाकर कराहते हैं। कड़ाहों में डालकर उनके शरीर को भून डाला जाता है, शूल से बींधकर उनका शरीर ऊपर उठाया जाता है। अतः नरक में भयंकर आवाज और भयंकर उत्कट दुर्गन्ध है। नारकों के बंदीगृह में असह्य क्लेश के घर होते हैं, जहाँ घोर यातनाएँ उन्हें दी जाती हैं। कहीं कटे हुए हाथ-पैरों से खून और चर्बी का दुर्गम प्रवाह बहता है। कहीं निर्दयतापूर्वक नारकों का सिर काटकर धड़ से अलग कर दिया जाता है तो कहीं जलती हुई गर्म संडासी के द्वारा नारकों की जीभ खींच ली जाती है, कहीं तीखे नोंकदार काँटों वाले वृक्षों से नारकों का शरीर रगड़ कर जर्जर कर दिया जाता है। इस प्रकार जहाँ पलक झपकने भर को भी सुखशान्ति नहीं मिलती, अपितु लगातार दुःख, दुःख और दुःख ही चारों ओर मिलता रहता है। ऐसी भयंकर नरकभूमियों में वे जाते हैं, जो प्राणिवध करते हैं, मिथ्यावादी हैं, पापकर्मों से लिप्त हैं।

मूल पाठ

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसइ आयसुहं पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खइ सेयवियस्स किंचि ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति अनिव्वते घातमुवेति बाले।
णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥५॥

संस्कृत छाया

तीव्रं त्रसान् स्थावरान् यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य ।
यो लूषको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किंचित् ॥४॥
प्रागल्भी प्राणानां बहूनामतिपाती, अनिर्वृतो घातमुपैति बालः ।
न्यग् निशां गच्छत्यन्तकाले अधः शिरः कृत्वोपैति दुर्गम् ॥५॥

अन्वयार्थ

(**जे आयसुहंपडुच्च**) जो जीव अपने विषयसुख के निमित्त (**तसे थावरे य पाणिणो तिव्वं हिंसइ**) त्रस और स्थावर प्राणियों की तीव्ररूप से हनन (हिंसा) करता है तथा (**जे लूसए होइ अदत्तहारी**) तथा जो प्राणियों का उपमर्दन करता और दूसरे की चीज को बिना दिये ले लेता है, एवं (**सेयवियस्स किंचि ण सिक्खइ**) जो सेवन करने योग्य संयम का जरा-सा भी सेवन नहीं करता ॥४॥

(**पागब्भि**) जो पुरुष पापकर्म करने में धृष्ट है, (**बहुणं पाणे तिवाति**) अनेक प्राणियों का घात करता है, (**अनिव्वते**) जिसकी क्रोधाग्नि कभी बुझती नहीं, अर्थात् सदा कषायाग्नि प्रज्वलित रहती है, वह अज्ञानी जीव (**अंतकाले**) अन्तिम समय में (**णिहो णिसं गच्छइ**) नीचे घोर अंधकार में चला जाता है (**अहोसिरं कट्टु दुग्गं उवेइ**) और नीचे सिर करके कठोर पीड़ास्थान को पाता है ॥५॥

भावार्थ

जो जीव अपने वैषयिक सुख के लिए त्रस और स्थावर दोनों प्राणियों का तीव्रता के साथ वध करता है, साथ ही वह प्राणियों का उपमर्दन और दूसरे की चीज को बिना दिये ग्रहण करता है, एवं जो सेवन करने योग्य संयम का जरा-सा भी सेवन नहीं करता है—॥४॥

जो जीव प्राणियों की हिंसा करने में बड़ा ढीठ है और बेखटके बहुत-से प्राणियों की हिंसा करता है, जो सदा क्रोधाग्नि से जलता रहता है। वह अज्ञ जीव नरक को प्राप्त करता है। वह मृत्यु के समय में नीचे अन्धकार में प्रवेश करता है और नीचा सिर करके महापीड़ा स्थान को प्राप्त करता है ॥५॥

व्याख्या

हिंसक, चोर आदि पापियों को नरक का दण्ड

इन दोनों गाथाओं में नरकयात्रा के पात्रों का निरूपण किया है। शास्त्रकार के अनुसार जो जीव, महामोहनीय कर्म के उदय से अपने इन्द्रिय-सुखों का लोलुप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनकर बेखटके त्रस और स्थावर (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस एवं पृथ्वीकाय आदि पाँच एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं) जीवों की निर्दयतापूर्वक रौद्र-परिणामों से हिंसा करता है, नाना उपायों से जीवों का उपमर्दन (वध, बंध आदि) करता है और अदत्ताहारी है यानी चोरी करता है बिना दिये दूसरों का द्रव्य हरण कर लेता है तथा अपने कल्याण के लिए जो सेवन करने योग्य या सज्जनों द्वारा सेव्य संयम का जरा भी सेवन नहीं करता अर्थात् पापकर्म के उदय के कारण जो काकमांस आदि तुच्छ असेव्य वस्तु से भी विरत नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त जो प्राणी प्राणियों की हिंसा आदि पाप करने में बड़ा ढीठ है, जिसे पापकर्म करने में कोई लज्जा, संकोच या हिचक नहीं होती, जो बेखटके बहुत-से प्राणियों की हिंसा कर देता है। प्रागल्भी का अर्थ है—प्रगल्भ = धृष्टता करने वाला। प्राणियों का अत्यन्त पात (घात) करने का जिसका स्वभाव है, उसे अतिपाती कहते हैं। शास्त्रकार का आशय यह है कि जो पुरुष अपने मतलब के अनुसार किसी धर्मशास्त्र का मनमाना अर्थ निकालता है, अथवा किसी कुशास्त्र का आश्रय लेकर हिंसा, असत्य, मद्यपान, मांसाहार, मैथुनसेवन आदि को निर्दोष बताने का साहस करता है। वह कहता है, **'वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति।'** वेद में जिसका विधान है, वह हिंसा हिंसा नहीं होती। अथवा कोई मनचला यह कहता है—शिकार करना तो क्षत्रियों या राजाओं का धर्म है या कर्म है, ताकि वे इससे मनोरंजन कर सकें। अथवा कई लोग इस प्रकार के श्लोक कहकर उसका मनमाना अर्थ करते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

अर्थात्— मांस खाने में, शराब पीने में और मैथुन सेवन करने में कोई दोष नहीं है। यह तो जीवों की स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति है। परन्तु इनसे निवृत्ति महाफल-दायिनी है।

जो लोग इस प्रकार बिना किसी हिचकिचाहट के क्रूर सिंह और काले साँप के समान स्वभाव से प्राणियों का वध करते हैं, तथा जिनकी कषायाग्नि कभी शान्त नहीं होती, जो जानवरों की कत्ल एवं मछलियों का वध करके अपनी जीविका चलाते हैं, तथा जिनके परिणाम सदा वध करने के बने रहते हैं, जो कदापि शान्त नहीं होते, ऐसे पापी जीव अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोगने के लिए प्राणिघातक स्थान—नरक में जाते हैं। जो अज्ञानी है, मरणकाल में वह नीचे घोर अंधकार में जाता है, जहाँ उसे बाह्य प्रकाश भी नहीं मिलता और ज्ञान का प्रकाश भी नहीं। अपने किये हुए पापकर्मों के कारण सिर नीचा करके वह पापी भयंकर यातनास्थान में जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुँचता है। अर्थात् ऐसे घोर अन्धकारयुक्त नरक में जा गिरता है, जहाँ गुफा में घुसने की तरह सिर नीचा करके जीव जाता है।

मूल पाठ

हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सद्दे सुणित्ता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कंनाम दिसं वयामो ॥६॥

संस्कृत छाया

जहि छिन्धि, भिन्धि दह इति शब्दान् श्रुत्वा परमाधार्मिकाणाम् ।
ते नारकाः भयभिन्नसंज्ञाः कांक्षन्ति कां नाम दिशं व्रजामः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**हण**) मारो, (**छिंदह**) काटो, (**भिंदह**) भेदन करो-तोड़ दो, (**दह**) जला दो, (**इति परहम्मियाणं सद्दे सुणित्ता**) इस प्रकार परमाधार्मिकों के शब्द सुनकर (**भयभिन्नसन्ना**) भय से संज्ञाहीन—मूर्च्छित (**ते नारगाओ**) वे नारक जीव (**कंखंति**) चाहते हैं कि (**कं नाम दिसं वयामो**) हम किस दिशा में भागें ?

भावार्थ

नारकी जीव परमाधार्मिकों के मारो, काटो, तोड़ दो, जला दो इत्यादि शब्द सुनकर भय से संज्ञाहीन-निश्चेष्ट हो जाते हैं और वे चाहते हैं कि हम किस दिशा में भागें ?

व्याख्या

परमाधार्मिकों के भयंकर शब्द सुनकर संज्ञाहीन नारक

इस गाथा में नारक जीवों को परमाधार्मिकों द्वारा दिये गये भयजनक शब्द-जन्य दुःखों का निरूपण किया गया है। तिर्यञ्चभव और मनुष्यभव को छोड़कर नरक में उत्पन्न होने वाले प्राणी अन्तर्मुहूर्त तक अण्डे से निकले हुए रोम और पंख से रहित पक्षी की तरह शरीर उत्पन्न करते हैं। पश्चात् पर्याप्तभाव को प्राप्त होते ही वे नारक परमाधार्मिकों के अति भयंकर शब्द सुनते हैं—यह पापी महारंभ महा-परिग्रह आदि क्रूरकर्म करके आया है अतः इसे मुद्गर आदि से मारो, तलवार से काटो, इसे शूल आदि से बींध दो, भाले में पिरो दो, इसे आग में झोंककर जला दो। ये और इस प्रकार के कर्णकटु मर्मवेधी भयंकर शब्दों को सुनकर उनका कलेजा काँप उठता है। वे भय के मारे बेहोश हो जाते हैं। होश में आते ही किंकर्तव्यविमूढ़ एवं चंचल होकर वे मन ही मन यह सोचते हैं कि अब कहाँ, किस दिशा में जायँ ? कहाँ हमारी रक्षा होगी ? कहाँ हमें शरण मिलेगी ? हम इस महाघोर दारुण (शब्द-जन्य) दुःख से कैसे त्राण पा सकेंगे ? इस प्रकार नारकी जीवों को परमाधार्मिक असुरों के भयोत्पादक शब्दों के श्रवण मात्र से अपार दुःख होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

इंगालरासि जलियं सजोतिं तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ।।७।।

संस्कृत छाया

अंगारराशिं ज्वलितं सज्योतिः तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः ।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति अरहस्वरास्तत्र चिरस्थितिकाः ।।७।।

अन्वयार्थ

(**जलियं**) जैसे जलती हुई (**इंगालरासिं**) अंगारों की राशि (**सजोतिं**) तथा ज्योतिसहित (**तत्तोवमं**) भूमि के सदृश (**भूमिं**) जमीन पर (**अणुक्कमंता**) चलते हुए अतएव (**डज्झमाणा**) जलते हुए (**ते**) वे नारकीय जीव (**कलुणं थणंति**) करुण रुदन करते हैं। (**अरहस्सरा**) उनकी करुण ध्वनि स्पष्ट मालूम होती है, (**तत्थ चिरट्ठितीया**) ऐसे घोर नरकस्थान में इसी स्थिति में वे चिरकाल तक निवास करते हैं।

भावार्थ

जैसे जलती हुई अंगारों की राशि बहुत ही तपी हुई होती है तथा आग के सहित तप्तभूमि बहुत गर्म होती है, उसी के समान अत्यन्त तपी हुई नरकभूमि पर चलते हुए नरक के जीव मानो चारों ओर से जल रहे हों, इस प्रकार बहुत जोर से करुण क्रन्दन करते हैं। उनका वह क्रन्दन स्पष्टरूप से सुनाई देता है। ऐसी ही स्थिति में वे नारक चिरकाल तक वहाँ रहते हैं।

व्याख्या

नरक की तप्तभूमि का स्पर्श कितना दुःखदायी !

यहाँ नरक की भूमि को खैर के धधकते अंगारों की राशि की तथा जाज्वल्यमान अग्नि के सहित पृथ्वी की उपमा दी गई है। इन दोनों प्रकार की भूमियों की सी तपतपाती हुई नरक की भूमि होती है। जिस पर चलते हुए और जलते हुए नारकीय जीव जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हैं। शास्त्रकार ने नरकभूमि को बादर अग्नि की उपमा दी है, वह दिग्दर्शनमात्र समझना चाहिए। क्योंकि नरक के ताप की तुलना इस लोक की अग्नि से की नहीं जा सकती। वहाँ का दाह तो इस लोक के दाह से अनेक गुना अधिक है। अतः महानगर के दाह से भी कई गुना अधिक ताप से जलते हुए वे नारक बिलबिलाते हैं, रोते-बिलखते हैं। इस प्रकार की स्थिति में वे जघन्य १० हजार वर्ष तक और उत्कृष्टतः ३३ सागरोपम तक नरक में निवास करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जइ ते सुया वेयरणीभिदुग्गा, णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया।
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥८॥

संस्कृत छाया

यदि ते श्रुता वैतरण्यभिदुर्गा निशितो यथाक्षुर इव तीक्ष्णस्रोताः।
तरन्ति ते वैतरणीमभिदुर्गामिषुचोदिताः शक्तिसु हन्यमानाः ॥८॥

अन्वयार्थ

(**खुरइव तिक्खसोया णिसिओ**) तेज उस्तरे की तरह तीक्ष्णधारा वाली (**अभिदुग्गावेयरणी**) अत्यन्त दुर्गम वैतरणी नदी का नाम (**जइ ते सुया**) शायद तुमने सुना होगा। (**ते**) वे नारकी जीव (**अभिदुग्गां वेयरणीं**) अतिदुर्गम वैतरणी नदी को (**तरंति**) इस प्रकार पार करते हैं, (**उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा**) मानो बाण मारकर प्रेरित किये हुए हों, या भाले से बींधकर चलाए हुए मनुष्य किसी विषम नदी में कूद पड़ते हों।

भावार्थ

उस्तरे के समान तेज धारा वाली अति दुर्गम वैतरणी नदी का नाम शायद तुमने सुना होगा। जैसे बाण (डंडे के अग्रभाग में नोंकदार कील लगाकर उसके द्वारा टोंच मारकर बैल को चलाते हैं, उसे बाण कहते हैं) से और भाले से भेदकर प्रेरित किया हुआ मनुष्य लाचार होकर किसी भयंकर नदी में कूद पड़ता है, इसी तरह सताये या खदेड़े जाते हुए नारकी जीव घबराकर उस नदी में कूद पड़ते हैं।

व्याख्या

वैतरणी की तेज धारा में कूदने को बाध्य नारक

इस गाथा में वैतरणी नदी का स्वरूप बताकर उसकी तेज धारा में नारकी जीवों को किस प्रकार कूदने और पार करने को बाध्य कर दिया जाता है, यह बताया गया है? वैतरणी नदी नरक की मुख्य विशाल नदी है। उसमें रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है। उस्तरे के समान उसकी जलधारा बड़ी तेज है। उस धारा के लग जाने से नारकों के अंग कट जाते हैं। नदी बहुत ही गहन एवं दुर्गम है। नारकी जीव जब अत्यन्त गर्म अंगार के समान तपी हुई नरकभूमि को छोड़कर प्यास के मारे अपने ताप को मिटाने के लिए तथा जल में स्नान करने की इच्छा से उस नदी में कूदकर तैरते हैं। कई बार वे इस तरह उस नदी में कूदने को बाध्य कर दिये जाते हैं, जिस तरह बैलों को आरा भोंक कर या भाले से बींधकर चलाया जाता है। कितना दारुण दुःख है, कितनी बिवशता है, नारकों के जीवन में!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइविप्पहूणा ।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं दीहाहिं विद्धूण अहे करंति ॥६॥

संस्कृत छाया

कीलेषु विध्यन्ति असाधुकर्माणः, नावमुपयतः स्मृतिविप्रहीनाः ।
अन्ये तु शूलैस्त्रिशूलैर्दीर्घैर्विद्ध्वाऽधः कुर्वन्ति ॥६॥

अन्वयार्थ

(**नावं उविंते**) नौका पर आते हुए नारकी जीवों के (**असाहुकम्मा**) परमाधार्मिक (**कीलेहिं विज्झंति**) गले में कीलें चुभो देते हैं। (**सइविप्पहूणा**) वे नारक जीव स्मृतिरहित होकर किंकर्तव्यमूढ़ हो जाते हैं। (**अन्ने तु**) तथा दूसरे नरकपाल (**दीहाहिं सूलाहिं तिसूलियाहिं**) लंबे-लंबे शूलों और त्रिशूलों से (**विद्धूण**) नारकीय जीवों को बींध कर (**अहे करंति**) नीचे जमीन पर पटक देते है।

भावार्थ

वैतरणी नदी के दुःख से उद्विग्न नारक जीव जब किसी नौका पर चढ़ने के लिए आते हैं, तब उस नौका पर पहले से बैठे हुए परमाधार्मिक असुर उन बेचारे नारकों के गले में कीलें चुभो देते हैं। अतः वैतरणी के दुःख से पहले ही स्मृतिहीन बने हुए नारकी जीव इस दुःख से और अधिक स्मृतिहीन हो जाते हैं। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने शरण का और कोई मार्ग नहीं खोज पाते। कई दुष्ट नरकपाल अपने मनोविनोद के लिए उन नारकों को शूलों और त्रिशूलों से बींधकर नीचे जमीन पर पटक देते हैं।

व्याख्या

कण्ठ में कीलें चुभाने वाले ये परमाधार्मिक !

वैतरणी नदी के खारे, गर्म तथा बदबूदार पानी से अतितप्त बेचारे नारकी जीव उस नदी में परमाधार्मिकों द्वारा चलाई जा रही काँटेदार नौका पर जब चढ़ने लगते हैं तो उस पर पहले से चढ़े हुए दुष्ट परमाधार्मिक उन नारकी जीवों के गले में कीलें चुभो देते हैं। पहले से वैतरणी के दुःख से सुधबुध खोये हुए बेचारे नारक इस प्रकार कंठ के बींध देने से अत्यन्त स्मृतिरहित हो जाते हैं, वे होश खो बैठते हैं। उन्हें अपने कर्तव्य का विवेक सर्वथा नहीं रहता। कई नरकपाल तो नारकीय जीवों के साथ क्रीड़ा करते हुए उन स्मृतिहीन नारकों को लम्बे-लम्बे शूलों और त्रिशूलों से बींध कर नीचे जमीन पर फेंक देते हैं। कितना दारुण दुःख है, नारक जीवन में— शारीरिक भी और मानसिक भी !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति य तत्थ अन्ने ॥१०॥

संस्कृत छाया

केषां च बद्ध्वा गले शिलाः, उदके मज्जयन्ति महालये ।
कलम्बुकाबालुकायां मुर्मुरे च, लोलयन्ति पचन्ति च तत्राऽन्ये ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**केसिं च**) किन्हीं नारकी जीवों के (**गले**) गले में (**सिलाओ बंधित्तु**) शिलाएँ बाँधकर (**महालयंसि उदगंसि**) अगाध जल में (**बोलंति**) डुबो देते हैं। (**अन्ने**) तथा दूसरे परमाधार्मिक (**कलंबुयावालुय**) अत्यन्त तपी हुई लाल सुर्ख रेत में और (**मुम्मुरे**) मुर्मुराग्नि में (**लोलंति पच्चंति य**) इधर-उधर घुमाते हैं तथा पकाते हैं।

भावार्थ

नरकपाल किन्हीं नारकी जीवों के गले में शिलाएँ बाँधकर अगाध जल में डुबाते हैं। कई दूसरे नरकपाल अत्यन्त तपी हुई लाल रेत पर तथा मुर्मुराग्नि पर इधर-उधर घुमाते तथा पकाते हैं।

व्याख्या

परमाधार्मिकों का क्रूर व्यवहार

इस गाथा में यह बताया गया है कि परमाधार्मिक नारकों के गले में बड़ी-बड़ी शिलाएँ बाँधकर क्रूरतापूर्वक उन्हें अगाधजल में डुबा देते हैं। कई तो इतने क्रूर होते हैं कि उन्हें वहाँ से खींचकर वैतरणी नदी के तट पर स्थित कलम्बु के फूल के समान तपी हुई लाल सुर्ख रेत पर ले आते हैं, फिर उन्हें इधर-उधर दौड़ाते हैं, तथा भाड़ की तरह तपी हुई मुर्मुर-अग्नि में उन्हें डालकर मांस की तरह पकाते हैं, चने के समान भूनते हैं। बेचारे नारक अपने पापकर्मोदयवश इन सब दुःखों को रो-रोकर सहते हैं।

मूल पाठ

आसूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई ॥११॥

संस्कृत छाया

असूर्यं नाम महाभितापमन्धन्तमं दुष्प्रतरं महान्तम् ।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु समाहितो यत्राऽग्निः ध्मायते ॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**आसूरियं नाम**) जिसमें सूर्य नहीं है, ऐसा असूर्य नामक नरक (**महाभितावं**) महाताप से युक्त है, (**अंधंतमं दुप्पतरं महंतं**) तथा जो घने अँधेरे से परिपूर्ण है, दुःख से पार करने योग्य एवं बहुत बड़ा है। (**जत्थ**) तथा जहाँ (**उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु**) ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा एवं तिर्यग्दिशाओं में अर्थात् सभी दिशाओं में (**समाहिओ अगणी झियाइ**) प्रज्वलित अग्नि सदा जलती रहती है, ऐसे नरकों में पापी जीव जाते हैं।

भावार्थ

जिसमें सूर्य का अभाव है, जो महाताप से युक्त है, जो सघन अन्धकार से भरा है, जो दुःख से पार करने योग्य है एवं बहुत बड़ा है। जहाँ ऊपर, नीचे और तिरछे यानी समस्त दिशाओं में प्रज्वलित आग निरन्तर जलती रहती है। ऐसे नरकों में पापी जीव जाते हैं।

व्याख्या

नरक की भयंकरता कितनी ?

इस गाथा में नरक के कुछ विशेषणों का प्रयोग करके उसकी भयंकरता का दिग्दर्शन कराया गया है। सर्वप्रथम विशेषण '**आसूरियं**' है, जिसका अर्थ होता है—जिसमें सूर्य नहीं रहता, ऐसा एक असूर्य नाम का नरक है, जो कुम्भी के-से आकार का तथा घोर अन्धेरे से भरा होता है। अथवा सभी नरकों को असूर्य कहते हैं। वह सूर्य से रहित होते हुए भी सूर्य से भी अधिक प्रचण्ड ताप से युक्त होता है। मगर होता है सघन अन्धकार से परिपूर्ण, दुस्तर—जिसका कोई ओर-छोर नहीं दिखता, इतना विशाल और बड़ा होने से पार किया जाना कठिन है। ऐसे विशाल लम्बे-चौड़े और गहरे नरक में पापी प्राणी जाते हैं, रहते हैं। साथ ही नरक में ऊँची, नीची, तिरछी सभी दिशाओं में व्यवस्थित रूप से लगाई गई आग सतत जलती रहती है। कहीं-कहीं '**समाहिओ**' के बदले '**समस्सिओ**' पाठ भी है, जिसका अर्थ होता है—जिस नरक में बहुत दूर-दूर तक ऊपर उठी हुई आग की लपटें सतत जलती रहती हैं। ऐसे नरक में बेचारे पापी प्राणी कहाँ सुख-चैन से एक क्षण भी रह सकते हैं ?

मूल पाठ

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।
सया य कलुणं पुण धम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥११॥

संस्कृत छाया

यस्मिन् गुहायां ज्वलनेऽतिवृत्तोऽविजानन दह्यते लुप्तप्रज्ञः ।
सदा च करुणं पुनर्धर्मस्थानं, गाढ़ोपनीतमतिदुःखधर्मम् ॥१२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जंसी**) जिस नरक में (**गुहाए जलणे**) गुफा अर्थात् उष्ट्रिका की-सी आकृति वाले नरक में स्थापित अग्नि में (**अतिउट्टं**) आवृत होकर (**अविजाणओ**) अपने पाप को न जानता हुआ (**लुत्तपण्णो**) संज्ञाहीन होकर नारक जीव (**डज्झइ**) जलता रहता है। (**सया य**) जो नरक सदा (**कलुणं**) करुणाजनक है, (**धम्मठाणं**) पूर्णरूप से ताप का स्थान है तथा (**गाढोवणीयं**) जो नरक पापी जीवों को बलात्कार से—अनिवार्यरूप से मिलता है। (**अतिदुक्खधम्मं**) अत्यन्त दुःख देना ही जिसका स्वभाव है। ऐसे स्थान में पापी नारकजीव जाते हैं।

भावार्थ

जिस नरक में गुफा (उष्ट्रिका) के आकार में स्थापित की हुई आग में घिरा हुआ नारकी जीव अपने पाप को न जानता हुआ संज्ञाहीन होकर सदा जलता रहता है। नरकभूमि करुणाजनक है और पूरा का पूरा ताप का स्थान है। पापी जीवों को यह भूमि जबरन प्राप्त होती है, अत्यन्त दुःख देना ही उसका स्वभाव है। पापकर्म से ही वह प्राप्त होती है।

व्याख्या

गुफामय आग में सदा जलते हुए ये नारकी

इस गाथा में ऐसी नरकभूमि का करुणाजनक निरूपण है, जहाँ बेचारे नारकी जीव जबरन ऊँट के आकार की बनी हुई गुफानुमा नरकभूमि में बलात् धकेल दिये जाते हैं। वहाँ चारों ओर आग ही आग होती है। उस धधकती आग में झुलसते हुए वे बेचारे अपने पाप से अनभिज्ञ तथा संज्ञाहीन नारक अवधि के विवेक से रहित होकर त्राहि-त्राहि मचाते हैं। यह नरक सदा सर्वदा अति करुण है, पूर्णतया ताप का स्थान है, अत्यन्त पापी जीवों को यह नरक बलात् प्राप्त होता है। पापी जीव ही ऐसे स्थान में जाते हैं। इस नरक का स्वभाव ही अतिदुःख देने का है। आँख का एक पलक मारने जितने समय तक भी यहाँ सुखपूर्वक विश्राम नहीं मिलता। सदा दुःख ही दुःख भोगते रहना है।

मूल पाठ

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितावेति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवंतुवजोइपत्ता ॥१३॥

संस्कृत छाया

चतसृष्वग्नीन् समारभ्य, यस्मिन् क्रूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम्।
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमाना मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिः प्राप्ताः ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जहिं**) जिस नरक भूमि में (**कूरकम्मा**) क्रूर कर्म करने वाले परमाधार्मिक असुर (**चत्तारि अगणीओ**) चारों दिशाओं में चार अग्नियाँ (**समारभित्ता**) प्रज्वलित करके (**बालं**) अज्ञानी नारकी जीव को (**अभितविंति**) तपाते हैं। (**ते**) वे नारकी जीव (**जीवंतुवज्जोइपत्ता मच्छा व**) जीते-जी आग में डाली मछली की तरह (**अभितप्पमाणा**) ताप पाते—तड़फते हुए (**तत्थ**) उसी जगह (**चिट्ठंत**) स्थित—पड़े रहते हैं।

भावार्थ

उन नरकों में क्रूरकर्मा परमाधार्मिक चारों दिशाओं में चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारकों को उनमें तपाते हैं। जैसे जीती हुई मछली आग में डाली जाने पर वह तड़फडाती है, वैसे ही बेचारे नारक इस आग में तपते रहते हैं और वहीं आग में जलते हुए पड़े रहते हैं।

व्याख्या

नारकों पर कहर बरसाने वाले क्रूरकर्मा नरकपाल

इस गाथा में यह बताया गया है कि क्रूर एवं निर्दयता की प्रतिमूर्ति नरकपाल नारकों पर किस प्रकार कहर बरसाते हैं। वे अकारण ही चारों दिशाओं में आग जलाकर पूर्वजन्म में पाप किये हुए अज्ञानी नारकी जीव को भट्टी की तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते हैं। नारक को भी आग के पास जबरन धकेल देते हैं। बेचारे नारकी अपने क्रूर पापकर्मवश उसी महादुःखद नरक में पैदा होते हैं, चिरकाल तक रहते हैं, और फिर उसी जगह स्थित रहते हैं। आग में डाली हुई जीवित मछली जैसे परवशता के कारण अन्यत्र नहीं जा सकती, उसी जगह स्थित रहती है, वैसे ही नारक भी वहीं स्थित रहते हैं, इधर-उधर नहीं जा सकते।

मूल पाठ

संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहिं पाएहिं य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

संस्कृत छाया

संतक्षणं नाम महाभितापं, ते नारका यत्र असाधुकर्माणः ।
हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ताः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**महाहितावं**) महान् ताप देने वाला (**संतच्छणं नाम**) संतक्षण नामक एक नरक है, (**जत्थ**) जिसमें (**असाहुकम्मा**) बुरा कर्म करने वाले (**कुहाडहत्था**) हाथों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुल्हाड़ी लिये हुए (**ते नारया**) वे नरकपाल (**हत्थेहिं, पाएहिं य बंधिऊणं**) उनके हाथों और पैरों को बाँधकर (**फलगं व तच्छंति**) लकड़ी के तख्ते की तरह छीलते हैं।

भावार्थ

संतक्षण नामक एक नरक है, वह प्राणियों को महान् ताप देने वाला है। उस नरक में घोर निर्दयी परमाधार्मिक हाथों में कुल्हाड़े लिए रहते हैं। वे नारकी जीवों के हाथ-पैर बाँधकर काष्टफलक के समान कुठार से काँटते-छीलते हैं।

व्याख्या

संतक्षण नरक में कुल्हाड़ा लिए हुए परमाधार्मिक

इस गाथा में संतक्षण नामक नरक का परिचय दिया गया है कि वहाँ क्रूर-कर्मकर्ता निर्दयी नरकपाल हाथ में कुल्हाड़ा लिये रहते हैं, और ज्योंही नारकी जीव सामने दिखाई देता है, त्योंही उस पर टूट पड़ते हैं और उसके हाथ-पैर बाँधकर लकड़ी के छीलने की तरह कुल्हाड़े से उन्हें काट देते हैं।

मूल पाठ

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥१५॥

संस्कृत छाया

रुधिरे पुनः वर्चः समुच्छ्रितांगान् भिन्नोत्तमांगान् परिवर्तयन्तः ।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**पुणो**) फिर (**रुहिरे वच्चसमुस्सिअंगे**) जिनका रक्त से लिप्त शरीर—अंग मल के द्वारा फूल गया है, (**भिन्नुत्तमंगे**) जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, (**फुरंते**) और जो पीड़ा के मारे छटपटा रहे हैं, (**णेरइए**) ऐसे नारकी जीवों को (**वरिवत्तयंता**) परमाधार्मिक असुर ऊपर-नीचे, उलट-पलट करते हुए (**सजीवमच्छेव**) जीवित मछली की तरह (**अयोकवल्ले**) लोहे की कड़ाही में (**पयंति**) पकाते हैं।

भावार्थ

जिन नारकी जीवों का सिर नरकपालों द्वारा पहले चूर-चूर कर दिया गया है, तथा जिनके अंग मल के द्वारा सूज गए हैं, नरकपाल उन नारकी जीवों का रक्त निकाल कर उसे पहले गर्म लोहे की कड़ाही में डालते हैं, फिर उसमें जीती हुई मछली की तरह छटपटाते हुए नारकी जीवों को डालकर रक्त में पकाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

छटपटाते नारकों को गर्म रक्तपूर्ण कड़ाही में

इस गाथा में परमाधार्मिक असुरों द्वारा नारकों का रक्त निकाल कर उन्हें कड़ाही में उबलते हुए गर्मागर्म रक्त में झौंक देने का करुण वर्णन हैं। इतना ही नहीं, पहले उनकी खोपड़ी फोड़कर चूर-चूर कर दी जाती है, फिर उनके शरीर से खून निकालकर कड़ाही में डाला जाता है, तत्पश्चात् उनके शरीर जब मल से सूज जाते हैं और जिंदी मछली की तरह पीड़ा के कारण छटपटाने लगते हैं, जब उन्हें ज्यों के त्यों अधोमुख उठाकर लोहे की कड़ाही में डालकर पकाते हैं। जिस समय उन नारकों को पकाया जाता है, उस समय असह्य वेदना से विकल होकर वे अपने अंगों को इधर-उधर पछाड़ते हैं। पर क्रूर नरकपालों को उन पर कोई दया नहीं आती।

मूल पाठ

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जंती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१६॥

संस्कृत छाया

नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया।
तमनुभागमनुवेदयन्तः दुःखयन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ**) नरक की उस आग में (**ते**) वे नारकी जीव (**नो चेव मसीभवंति**) जलकर भस्म नहीं हो जाते, (**तिव्वभिवेयणाए**) नरक की तीव्र पीड़ा से भी (**ण मिज्जंती**) वे मरते नहीं हैं, किन्तु (**तमाणुभागं अणुवेदयंता**) नरक के तीव्रपीड़ारूप उक्त कर्मफल के भोगते हुए वे वहीं रहते हैं। (**इह दुक्कडेणं**) इस (मनुष्य) लोक में किये हुए दुष्कर्मों—पापकर्मों के कारण वे (**दुक्खी दुक्खंति**) नारकी तीव्र पीड़ा से दुःखित होकर दुःख पाते रहते हैं।

भावार्थ

वे नारकी जीव नरक की उस अग्नि में जलकर स्वाहा नहीं हो जाते, और न ही वे नरक की तीव्र यातना से मरते हैं, किन्तु बहुत काल तक वे नरक के तीव्र पीड़ारूप उक्त कर्मफल को भोगते हुए वहीं रहते हैं। इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप वे वहाँ नरक की तीव्र पीड़ा से दुःखी होकर दुःख पाते रहते हैं।

व्याख्या

न भस्मीभूत, न मृत, फिर भी चिरकाल तक दुःखित

इस गाथा में नारकी जीवों की विशेषता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं कि लोग सोचते होंगे कि जब उन नारकों को आग में डालकर इतना जलाया जाता है तो क्या वे भस्मीभूत नहीं हो जाते ? उन्हें छेदन-भेदन-ताड़न आदि करके इतनी पीड़ा दी जाती है, क्या फिर भी वे मरते नहीं है ?

शास्त्रकार कहते हैं—**'नो चेव ते तत्थ ···· ण मिज्जंती तिव्वभिवेयणाए ।'** अर्थात् वे नारकी जीव पूर्वोक्तरूप से बहुत बार पकाये जाने पर भी वे उस आग में जलकर भस्म नहीं हो जाते । **'ण मिज्जंती तिव्वभिवेयणाए'** इसका एक अर्थ और भी निकलता है, वह यह कि वे जैसी तीव्रतम वेदना का अनुभव करते हैं, उसकी तुलना —उपमा आग में डाली हुई मछली आदि को होने वाली वेदना से नहीं दी जा सकती । अतः वे वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते हैं । अथवा तीव्र वेदना होने पर भी अपने किये हुए कर्मों का फलभोग शेष रहने के कारण वे नारकी जीव मरते नहीं हैं, अपितु जब तक आयुष्य है, तब (दीर्घकाल) तक पूर्ववर्णनानुसार सर्दी एवं गर्मी आदि की पीड़ा का अनुभव करते हुए तथा परमाधार्मिकों द्वारा किये गये स्वकर्म-फलस्वरूप दहन (जलाना) छेदन, भेदन, तक्षण (छीलना), त्रिशूल और शूल में बींधना, कुम्भी में पकाना, खड्ग के-से तेज धारवाले पत्तों से काटना, वृक्ष पर चढ़ाना, नदी में डुबाना तथा परस्पर एक-दूसरे के द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःखों को भोगते हुए, वे वहीं रहते हैं । नरकवासी जीव पूर्वजन्मकृत हिंसा आदि १८ पाप-स्थानरूप पापों के फलस्वरूप निरन्तर उत्पन्न दुःख से दुःखित होते रहते हैं । उन्हें क्षणभर के लिए भी सुखशान्ति या दुःख से मुक्ति नहीं मिलती ।

मूल पाठ

तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तविति ॥१७॥

संस्कृत छाया

तस्मिंश्च ते लोलनसम्प्रगाढे, गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति ।
न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गेऽरहिताभितापान् तथापि तापयन्ति ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**लोलणसंपगाढे**) नारकी जीवों के चलने से भरे हुए (**तहिं**) उस नरक में (**गाढं**) अत्यन्त (**सुतत्तं**) अच्छी तरह तपी हुई (**अगणिं**) अग्नि के पास (**वयंति**) जब वे नारक जाते हैं । (**अभिदुग्गे तत्थ**) तब उस अतिदुर्गम अग्नि में (**सायं न लहती**) वे सुख नहीं पाते । यद्यपि वे (**अरहियाभितावा**) नारक तीव्रताप से युक्त होते हैं, (**तहवि**) तथापि (**तविति**) उन्हें नरकपाल तपाते हैं ।

भावार्थ

नारकी जीवों के संचार से परिपूर्ण नरक में शीत से पीड़ित नारक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब अपनी ठंड मिटाने के लिए नरक में अत्यन्त तीव्ररूप से जलती हुई उत्तप्त आग के पास जाते हैं, मगर वहाँ भी बेचारे सुख नहीं पाते। एक ओर तो बेचारे नारक उस भयंकर अग्नि के तीव्र ताप से संतप्त होते हैं फिर भी दूसरी ओर वे परमाधार्मिक असुर उन्हें और अधिक जलाते तथा संतप्त करते हैं।

व्याख्या

एक तो नरक का ताप, उस पर नरकपालों का सन्ताप

इस गाथा में शास्त्रकार नारकी जीवों को होने वाले दोहरे दुःखों का वर्णन करते हैं। निष्कर्ष यह है कि नरक महान् दुःखों का स्थान है। इसमें कहीं भी, किसी भी कोने में, किसी भी समय में, किसी भी स्थिति में, किसी भी निमित्त से कोई सुख नहीं है। काल की कोठरी की तरह चारों ओर दुःख ही दुःख से नरक भरे हैं। फिर जीव चाहता तो सुख ही है। नारकी जीव भी अत्यन्त शीत के दुःख से बचने के लिए अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि के पास जाते हैं, परन्तु वह आग तो अत्यन्त दाहक होती है, उसमें वे झुलसने लगते हैं। जाते हैं सुख की आशा से, पर मिलता है, पहले से भी अधिक दुःख। वहाँ भी उन्हें जरा-सा भी सुख नहीं मिलता। आश्चर्य तो यह है कि एक ओर तो वे बेचारे नारकी जीव उस आग में पहले से ही अत्यन्त तपे हुए होते हैं, उस पर दुष्ट परमाधार्मिक असुर और अधिक ताप तरह-तरह से देते हैं। उनके जले पर नमक छिड़कते रहते हैं।

मूल पाठ

से सुच्चइ नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥१८॥

संस्कृत छाया

अथ श्रूयते नगरवध इव शब्दः, दुःखोपनीतानि पदानि तत्र।
उदीर्णकर्मण उदीर्णकर्माणः पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**से**) इसके पश्चात् (**तत्थ**) उस नरक में (**नगरवहे व सद्दे**) नगरवध (शहर में कत्लेआम) के समय होने वाले कोलाहल के-से शब्द (**सुच्चइ**) सुनाई पड़ते हैं। साथ ही वहाँ (**दुहोवणीयाणि पयाणि**) दुःख से भरे करुणाजक शब्द भी सुनाई देते हैं। (**उदिण्णकम्मा ते**) जिनके मिथ्यात्व आदि जनित कर्म उदय में आए हुए हैं, वे परमाधार्मिक नरकपाल (**उदिण्णकम्माण**) जिनके पापकर्म उदय (फल देने की दशा) में आये हुए हैं, उन नारकी जीवों को (**पुणो पुणो**) बार-बार (**सरहं**) तीव्र वेग से (**दुहेंति**) पीड़ित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जैसे किसी नगर में दंगा या कत्लेआम (सामूहिक वध) होते समय नगरनिवासी जनता का भयंकर कोलाहल सुनाई देता है, उसी तरह नरक में भी नारकी जीवों का हाहाकार से भरा भयंकर रुदन शब्द सुनाई देता है, उन शब्दों के सुनने से सहृदय पुरुष को करुणा पैदा हो जाती है। जिनके मिथ्यात्व आदि कर्म उदय में आ गए हैं, वे परमाधार्मिक असुर जिनके पापकर्म उदय (फल देने की स्थिति) में आ गए हैं, उन नारकों को पुनः पुनः उत्साहपूर्वक पीड़ा देते हैं।

व्याख्या

नरक के जीवों का भयंकर हाहाकार और दुःख

इस गाथा में नरक में होने वाले करुणापूर्ण महान् हाहाकार को नगर में होने वाले कत्लेआम के समय के हाहाकार के साथ तुलना की गई है। 'से' शब्द यहाँ 'अथ'—'इसके पश्चात्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् नरक के जीवों पर जब शीत, उष्ण आदि के भयंकर तीव्र प्राकृतिक दुःख, पारस्परिक दुःख एवं परमाधार्मिक कृत दुःख एकदम टूट पड़ते हैं, तब वे जो आर्तनाद करते हैं, करुणाजनक विलाप करते हैं, हे मात ! हे तात ! बड़ा कष्ट है, मैं अनाथ और अशरण हूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे इस कष्ट से बचूँ ? मेरी रक्षा करो ! इस प्रकार के करुणाप्रधान शब्दों में वे पुकार करते हैं, उस समय का कोलाहल इतना भयंकर होता है कि उसे सुनकर कान के पर्दे फट जाते हैं। उस कोलाहल की उपमा शास्त्रकार ने नगर में होने वाले दंगे या सामूहिक वध के समय होने वाले कोलाहल से दी है। वस्तुतः नरक का कोलाहल नगरवध के समय के कोलाहल से भी कई गुना बढ़कर तेज, मर्मभेदी एवं करुणोत्पादक होता है।

गाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से एक बात की ओर इंगित करते हैं—**'उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा····· सरहं दुहेंति।'** नारकी जीवों को दुःख कौन देता है ? तथा उन्हें ये सब दुःख क्यों प्राप्त होते हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार का कथन है कि जिनके पापकर्म उदयावस्था को प्राप्त हुए हैं, उन्हें ही ये सब नरकगत दुःख प्राप्त होते हैं, तथा जिनके मिथ्यात्व, हास्य, रति आदि उदय में विद्यमान हैं, वे परमाधार्मिक असुर नारकों को बार-बार भयंकर क्रूरता, द्वेष, रोष आदि आवेश में आकर असह्य दुःख देते हैं।

मूल पाठ

पाणेहि णं पावा विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
दंडेहिं तत्थ सरयंति बाला, सव्वेहिं दण्डेहिं पुराकएहिं ॥१९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

प्राणैः पापा वियोजयन्ति, तद्भवदभ्यः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बालाः सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**पावा**) पापी नरकपाल (**पाणेहिं विओजयंति**) नारकी जीवों के अंगों को काटकर अलग-अलग कर देते हैं, (**तं**) इसका कारण मैं (**भे**) आपको (**जहातहेण**) यथार्थरूप से (**पवक्खामि**) कहूँगा। (**बाला**) अज्ञानी नरकपाल (**दंडेहिं**) नारकी जीवों को दण्ड देकर (**सव्वेहिं पुराकएहिं दंडेहिं**) उनके दण्ड के कारणभूत समस्त पूर्वकृत पापों का (**सरयंति**) स्मरण कराते हैं।

भावार्थ

पापात्मा परमाधार्मिक असुर नारकी जीवों के अंगों को काटकर अलग-अलग कर देते हैं, इसका कारण मैं आपको बताऊँगा। वास्तव में वे अज्ञानी नरकपाल नरक के जीवों के द्वारा पूर्वजन्म में दूसरे प्राणियों को दिये गए दण्ड (पूर्वजन्मकृत दण्डरूप समस्त पापकर्मों) के अनुसार ही दण्ड देकर उन्हें उनके पूर्वकृत पापकर्मों की याद दिलाते हैं।

व्याख्या

पूर्व दिये गए दंड के अनुसार ही दंड

इस गाथा में नरकपालों द्वारा वर्तमान नरकभव में नारकीयों को दिये जाने वाले दण्ड का मूल कारण बताया गया है कि पापकर्मा नरकपाल नारकी जीवों के अंगों को काट-काट कर उन्हें पृथक्-पृथक् कर देते हैं, इसके पीछे कौन-सा कारण है ? इसका कारण सर्वज्ञ वीरप्रभु स्वयं बताने की कृपा करते हैं। विवेकमूढ़ परमाधार्मिक असुर नारकों को नाना प्रकार का दण्ड देते समय उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का इस प्रकार स्मरण कराते हैं—"मूर्ख ! तू बड़े हर्ष के साथ प्राणियों का मांस काट-काट कर खाता था, तथा उनका रक्त पीता था एवं मदिरापान व परस्त्रीगमन करता था। अपने किये हुए उन पापकर्मों को याद कर। अब उन्हीं पापकर्मों का फल भोगते समय तू इस प्रकार क्यों चिल्लाता है ? क्यों हायतोबा मचाता है ? इस प्रकार परमाधार्मिक नरकपाल नारकी जीवों द्वारा पूर्वजन्म में दूसरे प्राणियों को जो जो दण्ड दिये हैं—हानि पहुँचाई है, उन सभी का स्मरण कराते हुए तदनुसार दण्ड (दुःखरूप) देकर उन्हें पीड़ित करते हैं।

मूल पाठ

ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

ते हन्यमाना नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे ।
ते तत्र तिष्ठन्ति दुरूपभक्षिणः, चुट्यन्ते कर्मोपगताः कृमिभिः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**हम्ममाणा ते**) परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव (**महाभितावे**) महासन्ताप देने वाले (**दुरूवस्स पुण्णे**) विष्ठा और मूत्र आदि बीभत्स रूपों से परिपूर्ण (**नरगे**) दूसरे नरक में (**पडंति**) गिरते हैं। (**ते तत्थ**) वे वहाँ पर (**दुरूवभक्खी**) मल-मूत्र आदि घिनौनी कुरूप चीजों का भक्षण करते हुए (**चिट्ठंति**) चिरकाल—बहुत लंबे आयुष्यकाल तक रहते हैं और (**कम्मोवगया**) कर्मों के वशीभूत होकर (**किमीहिं**) कीड़ों के द्वारा (**चुट्टंति**) काटे जाते हैं।

भावार्थ

नरकपालों द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव, उस नरक से निकल कर दूसरे ऐसे नरक में गिरते हैं, जो मल, मूल, मवादि आदि गंदी बीभत्स कुरूप वस्तुओं से भरा है तथा वहाँ वे मल-मूत्र आदि घिनौनी वस्तुओं का भक्षण करते हुए चिरकाल—दीर्घ आयुष्यकाल तक रहते हैं और वहाँ कीड़ों के द्वारा काटे जाते हैं।

व्याख्या

कितनी गंदी नरकभूमि में निवास ?

इस गाथा में यह बताया गया है कि नारकी जीव एक नरक में से निकलकर दूसरे नरक में जाते हैं। वे सोचते हैं, चलो, इस नरकभूमि से तो छुट्टी मिलेगी, अब दूसरी नरकभूमि में जाकर सुख से रहेंगे, परन्तु उनकी यह आशा धूल में मिल जाती है, दूसरी नरकभूमि उसे भी बदतर और बढ़कर दुःखदायी मिलती है। वहाँ मल, मूत्र, मवाद आदि ही खाने-पीने को मिलते हैं, तथा रहने को भी मल-मूत्र, मवाद आदि गंदी चीजों से भरे स्थान मिलते हैं। नरक की कालकोठरी जेल की कालकोठरी से कई गुना अधिक भयंकर होती है। ऐसे असह्य दुःखप्रद एवं गंदगी भरे बीभत्स स्थान में नारकी जीव घुट-घुट कर अपनी लम्बी आयु पूरी करते हैं, इस पर भी तुर्रा यह कि नरकपालों द्वारा उत्पन्न किये हुए एवं परस्पर एक दूसरे द्वारा प्रेरित कीड़े उन्हें रात-दिन काटते रहते हैं।[1] यह सब पापकर्मों की लीला है।

---

१. इस सम्बन्ध में आगम का पाठ प्रस्तुत है—"**छट्ठीसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया पहू महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिट्ठंति।**" नारकी जीव छठी और सातवीं नरकभूमि में अन्यन्त बड़ा रक्त का कुन्थुआ (कीड़ा) बनाकर परस्पर एक दूसरे के शरीर को हनन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

सया कसिणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

संस्कृत छाया

सदा कृत्स्नं पुनर्घर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।
अन्दूषु प्रक्षिप्य विहृत्य देहं, वेधेन शीर्षं तस्याभितापयन्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सया कसिणं पुण घम्मठाणं**) नारकी जीवों के रहने का पूरा का पूरा स्थान सदा गर्म होता है, (**गाढोवणीयं**) और वह स्थान उन्हें गाढबन्धन से बद्ध (निधत्त-निकाचितरूप) कर्मों के कारण प्राप्त हुआ है। (**अतिदुक्खधम्मं**) अत्यन्त दुःख देना ही उस स्थान का धर्म—स्वभाव है। (**अंदूसु पक्खिप्प**) नरकपाल नारकी जीवों के शरीर को बेड़ी आदि बन्धनों में डालकर (**देहं विहत्तु**) उनके शरीर को तोड़-मरोड़ कर तथा (**वेहेण सीसं**) उनके मस्तक में छिद्र करके (**अभितावयंति से**) उन्हें पीड़ित करते हैं।

भावार्थ

नारकी जीवों के रहने का सारा का सारा स्थान सदा गर्म रहता है। वह स्थान उन्हें निधत्त निकाचितरूप गाढ़बन्धन से बद्ध कर्मों के कारण प्राप्त हुआ है। उस स्थान का स्वभाव अत्यन्त दुःख देना है। उस स्थान में नारकी जीवों के शरीर को तोड़-मरोड़ कर तथा उसे बेड़ी आदि बन्धनों में डालकर उनके मस्तक में छेद करके नरकपाल उन्हें दुःखित करते हैं।

व्याख्या

दुःखों और सन्तापों से भरा नरकालय

इस गाथा में नारक जीवों के रहने के स्थान का वर्णन किया गया है। कोई यह न समझे कि नरक में कहीं तो कम गर्म स्थान होगा, शास्त्रकार स्वयं समाधान करते हैं कि नारकों के आवासस्थान में कहीं भी किसी भी समय कोई भी कोना ऐसा नहीं होता, जो गर्म न हो, समूचा स्थान सदैव उष्ण रहता है। उसमें नरक के जीव सिकते रहते हैं। उस स्थान का वातावरण सदा ही दुःखमय रहता है। कहीं भी और कदापि सुख नहीं मिल सकता। स्थानकृत दुःख के अतिरिक्त नरकपालों द्वारा उन्हें बेड़ी आदि बन्धनों में जकड़ दिया जाता है, फिर उनके अंगोपांग तोड़े-मरोड़े जाते हैं, तथा उसके मस्तक को शूल से बींधकर पीड़ा दी जाती है। उनके अंगों को फैलाकर उनमें इस तरह कील ठोकते हैं जैसे चमड़े को फैलाकर उसमें कील ठोकी जाती है। नरकस्थान और उसमें इतने दुःख की प्राप्ति उनके निधत्त-निकाचित कर्मों का परिणाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठेवि छिंदंति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति ॥ २२॥

संस्कृत छाया

छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिकामोष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ ।
जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**बालस्स**) अविवेकी नारकी जीव की नाक को, नरकपाल (**खुरेण**) उस्तरे से (**छिंदंति**) काट देते हैं, साथ ही (**उट्ठेवि**) उनके दोनों ओठ भी और (**दुवेवि कण्णे**) दोनों कान भी (**छिंदंति**) काट डालते हैं। तथा (**जिब्भं विहत्थिमित्तं विणिक्कस्स**) बित्ताभर जीभ बाहर खींचकर (**तिक्खाहि सूलाहि**) उसमें तीखे शूल चुभोकर (**अभितावयंति**) सन्ताप देते हैं।

भावार्थ

नरकपाल नारकी जीवों की नासिका, दोनों ओठ और दोनों कान तेज धार वाले उस्तरे से काट लेते हैं तथा उनकी जीभ को एक बित्ता (वितस्ति) भर बाहर खींच उसमें तीखे शूल भोंक देते हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त पीड़ा देते हैं।

व्याख्या

परमाधार्मिकों द्वारा अंगों का छेदन और उत्पीड़न

इस गाथा में नरकपालों द्वारा नारकी जीवों के विविध अंगों के छेदन, वेधन और उत्पीड़न की क्रूरता का वर्णन है। पूर्वगाथाओं में उक्त कथनानुसार वे परमाधार्मिक असुर नारकी जीवों को उनके पापों की याद दिला-दिलाकर सदैव नाना वेदनाओं से युक्त नारकों की नासिका, दोनों ओठ और दोनों कान काट लेते हैं। तथा मद्य, मांस और रस के लम्पट और मिथ्या भाषण करने वाले जीवों की जिह्वा एक बित्ता बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भोंक कर पीड़ा देते हैं। नारकों को अपने पापकर्मों की कितनी भारी सजा मिलती है ?

मूल पाठ

ते तिप्पमाणा तलसंपुडंव, राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणिअपूयमंसंपज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥२३॥

संस्कृत छाया

ते तिप्यमानास्तालसंपुटा इव रात्रिंदिवं तत्र स्तनन्ति बालाः ।
गलन्ति ते शोणितपूयमांसं प्रद्योतिताः क्षारप्रदिग्धांगाः ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**तिप्पमाणा**) जिनके अंगों से खून बह रहा है, ऐसे (**ते**) वे (**बाला**) अज्ञानी नारक (**तालसंपुडंव**) सूखे ताल के पत्तों के समान (**राइंदियं**) रातदिन (**तत्थ**) उस नरक में (**थणंति**) जोर-जोर से चिल्लाते रहते हैं। (**पज्जोइया**) आग में जलाकर (**खारपइद्धियंगा**) फिर उन अंगों पर खार (नमक आदि) लगा देते हैं, जिससे (**सोणिअपूयमंसं**) उनके अंगों से निरन्तर खून, मवाद और मांस (**गलंति**) गिरते रहते हैं।

भावार्थ

वे अज्ञानी नारकी जीव अपने अंगों से खून टपकाते हुए सूखे हुए ताल के पत्तों के समान रातदिन आर्तशब्द करते रहते हैं। तथा आग में जलाकर बाद में उन अंगों पर खार लगाये हुए वे नारकी जीव अपने अंगों से रक्त, मवाद और मांस टपकाते रहते हैं।

व्याख्या

नारकों के अंगों से रक्तादि-स्राव एवं आर्तनाद

इस गाथा में नारकी जीवों के अंगों से रक्त, मवाद आदि के टपकते रहने तथा दुःखपीड़ित होने के कारण अहर्निश आर्तनाद करने का वर्णन किया गया है।

परमाधार्मिक असुरों ने जिन नारकों के नाक, ओठ और कान काट लिये हैं, उनके उक्त अंगों से रातदिन रक्त, मवाद और मांस टपकते रहते हैं, वे जिस स्थान में रहते हैं, वहाँ रातदिन वे विवेकमूढ़ ताल के सूखे पत्तों के समान सदा आर्तनाद करते रहते हैं। जिन अंगों को आग में झुलसा दिया जाता है, उन पर ये असुर खार छिड़कते रहते हैं, उन्हीं अंगों से वे खून, मवाद और मांस टपकाते रहते है। कितना दुःखमय एवं शोक-क्रन्दन से पूर्ण जीवन है नारकों का ?

मूल पाठ

जइ ते सुता लोहितपूयपाइ बालागणी तेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताहियपोरसीया, समुस्सिता लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

संस्कृत छाया

यदि ते श्रुता लोहितपूयपाचिनी बालाग्निना तेजोगुणा परेण ।
कुम्भी महत्यधिकपौरुषीया, समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**लोहितपूयपाइ**) रक्त और मवाद को पकाने वाली (**बालागणी तेअगुणा परेण**) नई सुलगाई हुई अग्नि के ताप के समान जिसका गुण है, अर्थात् जो अत्यन्त तेज ताप से युक्त है (**महंता**) बहुत विशाल है, (**अहियपोरसीया**) पुरुष के प्रमाण से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अधिक प्रमाणयुक्त (**लोहियपूयपुण्णा**) रक्त और पीव से भरी हुई, (**समुस्सिता**) ऊँची (**कुंभी जइ ते सुता**) ऐसी कुंभी नामक नरकभूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी।

भावार्थ

खून और मवाद को पकाने वाली ताजी सुलगाई हुई आग के प्रखर तेज से युक्त तथा पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, रक्त और पीव से भरी हुई कुम्भी नामक नरकभूमि का नाम कदाचित् तुमने सुना होगा।

व्याख्या

रक्त और मवाद से पूर्ण कुंभी कैसी और कितनी बड़ी ?

फिर सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से भगवद्वचन कहते हैं—"नरक में कुम्भी नामक एक नरकभूमि है, जिसका स्वभाव रक्त और मवाद को पकाना है। वह ताजी प्रदीप्त अग्नि के ताप से युक्त है। वह कुम्भी बहुत बड़ी है और पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाली है, तथा वह ऊँट के आकार की बहुत ऊँची है। वह रक्त और मवाद से भरी रहती है। वह कुम्भी चारों ओर आग से जलती रहती है। देखने में भी वह अत्यन्त घृणास्पद एवं बीभत्स है। कुम्भी का वर्णन शास्त्रकार ने क्यों किया ? इसका समाधान अगली गाथा में देखिए।

मूल पाठ

पक्खिप्प तासु पयंति बाले, अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते।
तण्हाइया ते तउतंबतत्तं पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति ॥२५॥

संस्कृत छाया

प्रक्षिप्य तासु प्रपचन्ति बालान् आर्त्तस्वरान् तान् करुणं रसतः।
तृष्णार्दितास्ते त्रपुताम्रतप्तं पाय्यमाना आर्त्तस्वरं रसन्ति ॥२५॥

अन्वयार्थ

(**तासु**) रक्त और मवाद से भरी हुई उन कुम्भियों में (**बाले**) अज्ञानी तथा (**अट्टस्सरे**) आर्तनाद करते हुए एवं (**कलुणं रसंते**) करुणस्वर से विलाप करते हुए नारकी जीवों को (**पक्खिप्प**) डालकर (**पयंति**) पकाते हैं। (**तण्हाइया**) प्यास से व्याकुल (**ते**) वे नारकी जीव (**तउतंबतत्तं**) नरकपालों के द्वारा तपा हुआ सीसा और ताँबा (**पज्जिज्जमाणा**) पिलाये जाने पर (**अट्टतरं रसंति**) आर्तस्वर से रुदन करते हैं।

भावार्थ

आर्तनादपूर्वक करुण क्रन्दन करते हुए अज्ञानी नारकी जीवों को परमाधार्मिक असुर रक्त और मवाद से भरी हुई कुम्भी में डालकर पकाते हैं। जब वे प्यास से व्याकुल होते हैं तो नरकपाल उन बेचारों को गर्म सीसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ताँबा गलाकर उनके मुँह में जबर्दस्ती उंडेल देते हैं, जिससे वे बेचारे नारक आर्तस्वर से रुदन करते हैं।

व्याख्या

प्यास बुझाने के लिए पिघला हुआ गर्म सीसा और ताँबा

इस गाथा में नारकों की दुःखगाथा का रोमाञ्चकारी वर्णन दिया गया है। ताजी सुलगाई हुई आग के तीव्र तेज से जलती हुई तथा रक्त, मवाद, मांस, शरीर के कटे-फटे, सड़े-गले अवयव एवं गन्दे-घिनौने पदार्थों से भरी, बदबूदार पूर्वोक्त कुम्भी में अरक्षित तथा आर्तनादपूर्वक करुणस्वर से विलाप करते हुए अज्ञानी नारकी जीव को नरकपाल जबरन डालकर पकाते हैं। प्यास से व्याकुल नारकी जीव जब पानी माँगते हैं तो दुष्ट नरकपाल उन्हें यह याद दिलाते हुए कि **'तुम्हें तो मद्य बहुत प्रिय था'** लो पीओ इसे, यों कहकर तपाया हुआ सीसा और ताँबा उनके मुँह में जबर्दस्ती उँडेल देते हैं। उन्हें पीते हुए वे बहुत जोर से आर्त्तनाद करते हैं, रोते-बिलखते हैं, बहुत ही आजीजी करते हैं, पर क्रूर परमाधार्मिक बिलकुल दया या रियायत उन पर नहीं करते।

मूल पाठ

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्थ बहुकूरकम्मा, जहाकडं कम्म तहासि भारे॥ २६॥

संस्कृत छाया

आत्मनाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्वं शतसहस्रशः ।
तिष्ठन्ति तत्र बहुक्रूरकर्माणः, यथाकृतं कर्म तथाऽस्य भारः ॥२६॥

अन्वयार्थ

(इह) इस मनुष्यभव में (**अप्पेण अप्पं वंचइत्ता**) अपने आप ही खुद की वंचना (ठगी) करके (**पुव्वसते सहस्से भवाहमे**) पूर्वकाल में लुब्धक (व्याध) आदि सैकड़ों और हजारों नीच (अधम) भवों को प्राप्त करके (**बहुकूरकम्मा तत्थ चिट्ठंति**) बहुक्रूरकर्मी जीव उस नरक में रहते हैं। (**जहाकडं कम्म तहा से भारे**) पूर्वजन्म में जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है।

भावार्थ

इस मनुष्यजन्म में थोड़े-से सुख के लोभ में आकर जो अपने आपकी वंचना स्वयं करते हैं, वे इससे पूर्व सैकड़ों और हजारों बार शिकारी, मच्छी-मार आदि नीचातिनीच योनियों में जन्म पाकर फिर अत्यन्त क्रूरकर्मी वे जीव नरक में निवास करते हैं। जिस जीव ने पूर्वजन्म में जैसा कर्म किया है, उसे उसके अनुसार ही पीड़ारूप फल प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

जैसा और जितना दुष्कर्म : वैसा और उतना ही दुःख

इस गाथा में शास्त्रकार कर्मसिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट बताते हैं कि जिस प्राणी ने जिस प्रकार से किसी जीव को क्षति पहुँचाई है, उसे वैसे ही रूप में तदनुसार क्षति पहुँचती है। जैसा दुःख जिसने दूसरे जीव को दिया है, उसे वैसा ही दुःख मिलता है। जो व्यक्ति दूसरों को धोखा देकर या गला काटकर खुश होता है, शास्त्रकार कहते हैं—'**अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता**।' ऐसा जीव मनुष्यभव में दूसरों को धोखा देता है, वह अपने आप को धोखा देता है, क्योंकि जिस प्रकार से उसने दूसरों को ठगा है, उसे उसी सिक्के में उसका भुगतान करना होगा। दूसरे प्राणी के घातरूप अल्पसुख के लोभ से जो जीव अपने आपकी वंचना करता है, वह अनेक भव करता हुआ सैकड़ों और हजारों बार मच्छीमार, व्याध, मल्लाह आदि अधम जातियों में जन्म लेता है। उन जन्मों में वह विषयलम्पट तथा पुण्यविमुख होकर उक्त दुष्कर्म के फलस्वरूप महाघोर और अतिदारुण नरकस्थान को पाप करता है।

नरक में रहने वाले क्रूरकर्मीजीव पूर्वजन्म के वैरभाव को स्मरण करके परस्पर एक-दूसरे को मार-पीट, गालीगलौज आदि करके दुःख उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार शास्त्रकार की दृष्टि से वे चिरकाल तक निवास करते हैं।

'**जहाकडं कम्म तहासि भारे**'—अर्थात् जिस जीव ने पूर्वजन्म में जैसे और जिस नीच अध्यवसाय से नीच और उससे भी नीच कर्म हँस-हँसकर किये हैं, उस जीव को वेदना भी उसी प्रकार की तीव्र या तीव्रतर होती है। वह वेदना अपने आप से भी होती है, दूसरे के द्वारा भी मिलती है और दोनों से भी होती है। जो पूर्वजन्म में मांसाहारी थे, उनको यहाँ नरक में भी उनका ही मांस आग में पकाकर खिलाया जाता है। जो पूर्वजन्म में मद्य पीते थे, उनको भी अपने ही रक्त को उबाल कर गर्म-गर्म उनके मुँह में उँडेला जाता है। पूर्वजन्म में जो किसी प्राणी का रक्त पीते थे, उन्हें भी गर्म सीसा पिघला कर पिलाया जाता है। पूर्वजन्म में शिकारी या मच्छीमार बनकर जो मृग या मछली आदि का घात करते थे, वे यहाँ उसी तरह काटे और मारे जाते हैं। जो मिथ्याभाषण, पैशुन्य, परनिन्दा आदि करते थे, उनके मिथ्याभाषण आदि पापों का स्मरण कराकर उनकी जीभ काट ली जाती है। जो पूर्वजन्म में दूसरे का द्रव्य हरण करते थे, उनके अंगोपांग काट लिये जाते हैं, जो परस्त्रीसेवन करते थे, उनका अण्डकोश काट लिया जाता है, तथा उन्हें शाल्मलिवृक्ष का आलिंगन कराया जाता है। इसी तरह जो महारम्भी एवं महापरिग्रही तथा क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय) से ओतप्रोत थे, उन्हें नरकपालों द्वारा जन्मान्तर के महारम्भ आदि का स्मरण दिलाकर उसी तरह का दुःख दिया जाता है। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रकार के इस वाक्य को हृदयंगम कर लो कि जिसने जैसा कर्म किया है, उसे उसके अनुसार ही पापकर्म फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है।

मूल पाठ

समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥२७॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

समर्ज्य कलुषमनार्य्याः, इष्टैकान्तैश्च विप्रहीनाः ।
ते दुरभिगन्धे कृत्स्ने (कृष्णे) च स्पर्शे, कर्मोपगाः कुणिमे आवसन्ति ॥२७॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**अणज्जा**) अनार्य पुरुष (**कलुसं समज्जिणित्ता**) पाप उपार्जन करके (**इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा**) इष्ट और प्रिय रूपादि विषयों से रहित-वंचित होकर (**कम्मोवगा**) कर्मों के वशीभूत होकर (**दुब्भिगंधे**) दुर्गन्ध से भरे, (**कसिणे य फासे**) अशुभ स्पर्श वाले (**कुणिमे**) मांस-रुधिरादि से परिपूर्ण नरक में (**आवसंति**) जमकर निवास करते हैं। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ

अनार्य पुरुष पापकर्मों का उपार्जन करके इष्ट और प्रिय शब्दादि से रहित होकर कर्मों के वश दुर्गन्ध से भरे, अशुभ स्पर्श से युक्त मांस रक्त आदि से परिपूर्ण नरक में चिरकाल तक जमकर निवास करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

अनार्य पुरुषों का इष्ट स्पर्शादि से रहित होकर नरक निवास

इस गाथा में प्रथम उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने नरक का संक्षिप्त स्वरूप और अनार्यों का वहाँ इष्ट शुभ विषयों से रहित होकर रहना बता दिया है। अनार्य पुरुष वे हैं, जो अनार्यकर्म या हिंसा, झूठ, चोरी आदि आस्रवों का सेवन करके अत्यन्त अशुभकर्मों का उपार्जन एवं वृद्धि कर लेते हैं। वे क्रूरकर्मी जीव, जो नरक में चिरकाल तक डेरा जमाए रहते हैं, उसका फल बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वे नरक में आकर अशुभ दुर्गन्धयुक्त स्थान में रहते हैं, तथा शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों से एवं इष्ट मनोज्ञ पदार्थों से वंचित (रहित) होकर रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा वे जिन माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि स्वजनों के लिए पाप का उपार्जन करते हैं, उनसे रहित होकर अकेले, असहाय और असुरक्षित होकर नरक में चिरकाल तक सड़ते रहते हैं। नरकभूमियाँ सड़े हुए मुर्दे से भी अधिक बदबूदार तथा अत्यन्त उद्वेगजनक स्पर्श वाली एवं मांस, रुधिर, पीव, चर्बी आदि गंदे पदार्थों से भरी हुई घृणास्पद हैं। जहाँ नारकों का हाहाकार शब्द दशों दिशाओं को बहरा कर देता है। ऐसी अतिनीच नरक में प्रायः अज्ञान के कारण नारक जीव उत्कृष्टतः ३३ सागरोपम काल तक की आयु तक रहते हैं। **'त्ति बेमि'** शब्द का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार पंचम अध्ययन (नरकविभक्ति) का प्रथम उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्ययन : द्वितीय उद्देशक

नरकाधिकार

पाँचवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक की व्याख्या की जा चुकी है। अब उसका दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है। पहले उद्देशक में विशेषतया यह बताया गया है कि प्राणिवर्ग किन-किन पापकर्मों के करने से नरक में जाता है और किस-किसके द्वारा कैसी-कैसी यातनाएँ दी जाती हैं और उनकी कैसी-कैसी प्रतिक्रिया नारकी जीवों के मानस पर होती है? अब इस दूसरे उद्देशक में भी वही बातें दूसरे पहलुओं से विशेषरूप से बताई गई हैं।

इस सम्बन्ध से क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं पुरेकडाइं ॥१॥

संस्कृत छाया

अथापरं शाश्वतदुःखधर्मं, तं भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
बालायथा दुष्कृतकर्मकारिणो, वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि ॥२॥

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (**सासयदुक्खधम्मं**) निरन्तर दुःख देना जिसका स्वभाव है, ऐसे (**अवरं**) दूसरे (**तं**) नरक के सम्बन्ध में (**भे**) आपको (**जहातहेणं**) यथार्थरूप से (**पवक्खामि**) मैं कहूँगा। (**जहा**) जिस प्रकार (**दुक्कडकम्मकारी**) पापकर्म करने वाले (**बाला**) अज्ञानी जीव (**पुरेकडाइं कम्माइं वेदंति**) अपने पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोगते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यवर्ग—जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—अब मैं निरन्तर दुःख देने वाले दूसरे नरक के विषय में आपको ठीक-ठीक उपदेश करूँगा। पापकर्म करने वाले अज्ञानी प्राणी जिस प्रकार अपने पाप का फल भोगते हैं, वह मैं बताऊँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सतत दुःख स्वभाव वाले अन्य नरक और पापी नारक

श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि अपने शिष्यवर्ग से अन्य नरकों और नारकी जीवों के पाप के फल का यथातथ्य निरूपण करने की बात कहते हैं, उसका इस गाथा में उल्लेख है।

नरक के सम्बन्ध में प्रथम उद्देशक में भी बहुत सी बातें बताई गई हैं। वहाँ भी नरक को सतत दुःखस्वभावयुक्त बताया गया है। और यहाँ पुनः उसी बात को दोहराया गया है—'**सासयदुक्खधम्मं**।' शाश्वत—यानी आयुपर्यन्त रहने वाला, जिदगीभर सतत दुःख देना ही जिसका स्वभाव है, ऐसे नरक को 'शाश्वतदुःखधर्मा' कहते हैं। नरक के जीवों को पद-पद पर, स्थान-स्थान पर इतना दुःख है कि उसे सुख का तो पता ही नहीं होता कि वह क्या चीज है? क्योंकि नारकी जीवों को एक क्षणभर भी सुख का लेश नहीं प्राप्त होता। श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं—उस नरक का जैसा भी स्वरूप है, वैसा मैं आपसे कहूँगा, उसमें राईरत्तीभर भी घटा-बढ़ाकर अथवा आरोपित करके नहीं कहूँगा। जो पुरुष बाल हैं—परमार्थ को नहीं जानते हैं, तथा कर्मफल का विचार न करके पापकर्म करते रहते हैं अथवा बुरे अनुष्ठान द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मों का उपार्जन करते हैं वे पापी जीव पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों का फल जिस प्रकार नरक में भोगते हैं, उसे मैं कहूँगा।

मूल पाठ

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥२॥

संस्कृत छाया

हस्तेषु पादेषु च बद्ध्वा, उदरं विकर्त्तयन्ति क्षुरप्रासिभिः।
गृहीत्वा बालस्य विहतं देहं, बध्रं स्थिरं पृष्ठता उद्धरन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं**) परमाधार्मिक असुर नारकी जीवों के हाथों और पैरों को बाँधकर (**खुरासिएहिं**) उस्तरे और तलवार के द्वारा (**उदरं विकत्तंति**) उसका पेट फाड़ देते हैं। (**बालस्स**) अज्ञानी नारकी जीवों के (**विहत्तु देहं**) लाठी आदि अनेक शस्त्रों के प्रहार से क्षत-विक्षत – घायल हुए या जर्जरित हुए शरीर को (**गिण्हित्तु**) पकड़ कर (**पिट्ठओ वद्धं थिरं उद्धरंति**) उनकी पीठ की चमड़ी को जबरन खींच लेते हैं, उधेड़ लेते हैं।

भावार्थ

परमाधार्मिक असुर नारकी जीवों के हाथों और पैरों को बाँधकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेज उस्तरे या तलवार से उनका पेट फाड़ डालते हैं। फिर वे अज्ञानी नारक के लाठी आदि अनेक प्रहारों से क्षतविक्षत जर्जर शरीर को पकड़ कर उनके पीठ की चमड़ी को जबरन उधेड़ देते हैं।

व्याख्या

परमाधार्मिकों द्वारा नारकी जीवों को यातना

इस गाथा में पूर्वगाथा में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार नरक और नरक के दुःखों के कारणों का वर्णन प्रारम्भ किया गया है - 'हत्थेहि पाएहि ....उद्धरंति।' उन-उन पापकर्मों के उदय से दूसरों को दुःख देने में हर्षित होने वाले परमाधार्मिक असुर उन नारकी जीवों के हाथ-पैर कसकर बांधते हैं, फिर उस्तरा या तलवार आदि तेज धार वाले शस्त्रों से उनका पेट फाड़ डालते हैं। इतना ही नहीं, बालवत् असमर्थ उन नारकी जीवों के लाठी आदि विविध शस्त्रों के प्रहार से क्षतविक्षत एवं जर्जर बने हुए शरीर को कसकर पकड़ लेते हैं, फिर उनकी पीठ की चमड़ी जबरन उधेड़ लेते हैं। कितनी करुण कहानी है, नारक लोगों के जीवन की !

मूल पाठ

बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति ।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे ॥३॥

संस्कृत छाया

बाहून् प्रकर्तयन्ति च मूलतस्तस्य, स्थूलं विकाशं मुखे आदहन्ति ।
रहसि युक्तं स्मरयन्ति बालमारुष्य विध्यन्ति तुदेन पृष्ठे ॥३॥

अन्वयार्थ

(**से बाहूय मूलतो पकत्तंति**) नरकपाल नारकी जीव की बाहु को जड़ से काट देते हैं। (**मुहे वियासं**) फिर उनका मुँह फाड़कर (**थूलं आडहंति**) उसमें जलते हुए लोहे के बड़े-बड़े गोले डालकर जलाते हैं। (**रहंसि**) गुप्त रूप से एकान्त में **जुत्तं**) जन्मान्तर में किये हुए उनके कर्मों का (**सरयंति**) स्मरण कराते हैं। (**आरुस्स**) तथा बिना कारण ही कोप करके (**तुदेन**) चाबुक से (**पिट्ठे**) पीठ पर (**विज्झंति**) प्रहार करते हैं।

भावार्थ

नरकपाल नारकी जीव की भुजा को मूल से काट देते हैं, फिर उनका मुँह फाड़ उसे तपा हुआ लाल सुर्ख लोहे का गोला डालकर जला देते हैं एवं एकान्त में ले जाकर उनके पूर्वकृत पापकर्म की याद दिलाते हैं। कभी अकारण रोष करके चाबुक से उनकी पीठ पर मारते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

पापकर्मों की याद दिलाकर रोषपूर्वक ताड़न

इस गाथा में पुनः नारकों को दी जाने वाली यातनाओं का वर्णन किया गया है। वास्तव में तीन नरकभूमियों में परमाधार्मिक तथा दूसरे नारकी जीव तथा नीचे की चार नरकभूमियों में रहने वाले दूसरे नारकी जीव नारकी जीवों की भुजा को जड़ से काट डालते हैं तथा मुँह फाड़कर उसमें तपा हुआ लोहे का लाल-लाल बड़ा गोला डालकर मुँह जला डालते हैं। फिर एकान्त में उन नारकों को ले जाकर वे उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म में किये हुए पापकर्मों की याद दिलाकर यह बता देते हैं कि वे ऐसी सजा क्यों दे रहे हैं? जैसे कि गर्म सीसा पिलाते समय वे कहते हैं—'तुम कितने खुश होकर शराब पीते थे? अब क्यों घबराते हो?' उनके शरीर के मांस का टुकड़ा खिलाते समय कहते हैं—'तुम तो दूसरे का मांस खूब खाते थे, अब इसे खाने में क्यों हिचकिचाते हो?' इस प्रकार दुःख के अनुरूप उनके कर्मों का स्मरण कराते हुए उनको पीड़ा देते हैं। कभी-कभी अकारण ही रोष करके उनकी पीठ पर कोड़े बरसाने लगते हैं। बेचारे परवश नारकी जीव कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकते। विवश होकर उन्हें सब कुछ सहना पड़ता है।

मूल पाठ

अयं व तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

संस्कृत छाया

अय इव ज्वलितां सज्योतिस्तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः ।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति इषुचोदितास्तप्तयुगेषु युक्ताः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**अयं व**) तप्त लोहे के गोले के समान (**सजोइ**) ज्योतिसहित (**जलियं**) जलती हुई (**तत्तं**) तप्त भूमि की (**तऊवमं**) उपमायोग्य (**भूमिं**) भूमि पर (**अणुक्कमंता**) चलते हुए (**ते**) वे नारकी जीव (**डज्झमाणा**) जलते हुए (**कलुणं थणंति**) करुण क्रन्दन करते हैं, (**उसुचोइया**) लोहे का नोंकदार आरा भोंककर प्रेरित करने पर (**तत्त-जुगेसु जुत्ता**) तप्त गाड़ी के जुए में जुते हुए वे नारकी जीव करुण विलाप करते हैं।

भावार्थ

तपे हुए गर्म लोहे के गोले के समान ज्योतिसहित जलती हुई नरक की तपी-सी भूमि पर चलते हुए वे नारक जीव झुलसने से करुण विलाप करते हैं। साथ ही लोहे का नोकदार आरा भोंककर बैलों को चलाने की तरह तप्त गाड़ी में जुते हुए नारकी जीवों को भी आरा भोंककर चलाने से वे बेचारे करुण क्रन्दन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

नरक की जलती भूमि पर चंक्रमण, नोकदार आरे से वेध !

इस गाथा में नारकी जीवों के नरक में जाज्वल्यमान लोहे के गोले की तरह जलती हुई ज्योतिस्वरूप पृथ्वी के समान नरकभूमि पर चलने की तथा बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को चलाने के लिए नोकदार लोहे का आरा भोंकने की तरह जुए में जोते हुए नारकी जीवों के आरा भोंकने की प्रतिक्रिया बताई है। **'कलुणं थणंति'** अर्थात् वे बेचारे करुणस्वर में रोते बिलखते हैं। उनका रुदन या उनकी पुकार वहाँ कोई नहीं सुनता। परमाधार्मिक तो और अधिक क्रूरता से उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं।

मूल पाठ

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति ॥५॥

संस्कृत छाया

बाला बलाद भूमिमनुक्राम्यमाणा, प्रविरलजलां लोहपथमिव तप्तां ।
यस्मिन्नभिदुर्गे प्रपद्यमानाः प्रेष्यानिव दण्डैः पुरः कुर्वन्ति ॥५॥

अन्वयार्थ

(**बाला**) अज्ञानी नारकी जीव (**लोहपहं व तत्तं**) जलते हुए लोहमय मार्ग (रेल की पटरी के समान) तपी हुई (**पविज्जलं**) रक्त और मवाद के कारण थोड़ा पानी होने से कीचड़ वाली (**भूमिं**) पृथ्वी पर (**बला**) परमाधार्मिकों द्वारा जबरन (**अणुक्कमंता**) चलाये जाते हुए बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं। (**जंसीऽभिदुग्गंसि**) नारकी जीव कुम्भी अथवा शाल्मलि आदि जिस दुर्गम स्थान पर (**पवज्जमाणा**) परमाधार्मिकों द्वारा चलने के लिए प्रेरित किये जाते हैं, किन्तु जब वे ठीक से नहीं चलते तब (**पेसेव दंडेहिं पुराकरंति**) कुपित होकर परमाधार्मिक डंडे आदि मारकर बैल की तरह उन्हें आगे चलाते हैं।

भावार्थ

परमाधार्मिक, अज्ञानी नारकी जीवों को जलते हुए लोहमय पथ के समान तपी हुई तथा रक्त एवं मवाद के कारण थोड़ा पानी होने से कीचड़ वाली जमीन पर जबर्दस्ती चलाते हैं। जिस कठिन स्थान पर जाते हुए नारकी जीव रुक जाते हैं, उस स्थान में बैल की तरह डंडे आदि से मार-मार कर वे उन्हें आगे ले जाते हैं।

व्याख्या

परमाधार्मिकों द्वारा बलात् चलने को बाध्य

परमाधार्मिक नरक के मुख्य दण्डनायक हैं। वे नारकों से मनमाना व्यवहार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमानुषिक एवं क्रूर यातनापूर्ण बर्ताव करते हैं। इस गाथा में यह बताया गया है कि नरकपाल नारकी जीवों को कैसे नरकभूमि पर चलने को बाध्य कर देते हैं। बेचारे अज्ञानी नारकों को वे जलते हुए लोहे के मार्ग (लोहे की रेल की पटरी) के समान गर्म तथा रक्त व मवाद की अधिकता के कारण पंकिल भूमि पर जबरन चलाते हैं। अत्यन्त ऊबड़खाबड़ या विषम नरकस्थान में चलने के लिए परमाधार्मिक उन्हें प्रेरित करते हैं, किन्तु जब वे ठीक से नहीं चलते, तब क्रुद्ध होकर बैल या दास की तरह डंडे, कोड़े आदि मार-मारकर उन्हें आगे चलने को बाध्य कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि नारकी जीव स्वेच्छा से न तो कहीं जा सकते हैं, न कहीं रह सकते हैं।

मूल पाठ

ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥६॥

संस्कृत छाया

ते सम्प्रगाढं प्रपद्यमानाः शिलाभिर्हन्यन्ते निपातिनीभिः।
संतापनी नाम चिरस्थितिका, सन्तप्यते यत्रासाधुकर्मा ॥६॥

अन्वयार्थ

(**संपगाढंसि**) तीव्र वेदना से भरे असह्य नरक में (**पवज्जमाणा**) पड़े हुए (**ते**) वे नारकी जीव (**निपातिणीहिं सिलाहि हम्मंति**) सम्मुख गिरने वाली शिलाओं के नीचे दबकर मारे जाते हैं। (**संतावणी**) संतापनी यानी संताप देने वाली कुम्भी नरकभूमि (**चिरट्ठितीया**) चिरकाल तक स्थिति वाली है। (**जत्थ**) जहाँ (**असाहुकम्मा**) पापकर्म करने वाला जीव चिरकाल तक (**संतप्पती**) संतप्त होता है।

भावार्थ

तीव्र पीड़ा से परिपूर्ण नरक में पड़े हुए नारकी जीव कभी-कभी सामने से गिरती हुई शिलाओं से मारे जाते हैं। कुम्भी नामक संतापनी नरकभूमि को प्राप्त पापी नारकों की स्थिति बहुत लम्बी होती है। पापकर्मी नारक उसमें दीर्घकाल तक संतप्त होता रहता है।

व्याख्या

चिरकाल तक संतापनी में संतप्त नारक

इस गाथा में नारकों की चिरकालीन वेदना का जीता-जागता चित्रण है। जब नारकी जीव अत्यन्त घोर पीड़ा से पूर्ण असह्य नरक में अथवा मार्ग में होते हैं और वे इधर-उधर हटने या चले जाने में असमर्थ होते हैं, तो असुरों द्वारा सामने से शिलाएँ पटकी जाती हैं, जिनके नीचे दबकर वे मरणासन्न हो जाते हैं। जो प्राणियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सदा हर तरह से सन्ताप देने वाली है, उसे संतापनी कहते हैं, वह कुंभी नरक है, जिसकी स्थिति दीर्घकालिक है। कुम्भी नरक में गया हुआ नारकी जीव चिरकाल तक रहकर वहाँ नाना प्रकार की वेदनाएँ भोगता रहता है। वहाँ वही जीव जाता है, जिसने पूर्वजन्म में बहुत पापकर्म किये हों। सचमुच जीव की यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

मूल पाठ

कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततोवि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

संस्कृत छाया

कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बालं, ततोऽपि दग्धाः पुनरुत्पतन्ति ।
ते ऊर्ध्वकायैः प्रखाद्यमाना अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**बालं**) अज्ञानी नारकी जीव को (**कंदूसु**) गेंद के समान आकार वाले नरक में (**पक्खिप्प**) डालकर (**पयंति**) परमाधार्मिक पकाते हैं। (**दड्ढा**) जलते हुए वे नारकी जीव (**ततोवि**) वहाँ से (**पुण उप्पयंति**) फिर ऊपर उड़ जाते हैं, (**ते**) वे नारकी जीव (**उड्ढकाएहिं**) द्रोणकाक के द्वारा (**खज्जंति**) खाए जाते हैं। (**अवरेहिं सणप्फएहिं**) तथा दूसरे सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा भी खाए जाते हैं।

भावार्थ

नरकपाल, अज्ञानी नारक को गेंद के-से आकार की कुम्भी में डालकर पकाते हैं। फिर वे जलते हुए वहाँ से भूने जाते हुए चने की तरह ऊपर उछल जाते हैं। वहाँ द्रोणकाक (एक प्रकार के शिकारी कौए) उन पर टूट पड़ते हैं, वहाँ से जब वे दूसरी ओर जाते हैं, सिंह बाघ आदि के द्वारा खाए जाते हैं।

व्याख्या

नारक गेंद के समान आकार की नरककुम्भी में

इस गाथा में यह बताया गया है कि नारकी जीवों को परमाधार्मिक किस-किस प्रकार की यातनाएँ देते हैं। बेचारे नारकों को नरकपाल गेंद के समान आकार वाली नरककुम्भी में डालकर पकाते हैं। चने की तरह पकाते हुए वे जीव वहाँ से उछलकर ऊपर उड़ जाते हैं। जहाँ वैक्रिय से बने हुए द्रोणकाक उन्हें खाने को टूट पड़ते हैं। वहाँ से दूसरी ओर जाते हैं तो सिंह व्याघ्र आदि नखवाले हिंसक जानवरों द्वारा वे खा डाले जाते हैं। कितनी विडम्बना है, नारकों के जीवन में! यह सब स्वकृत पापकर्मों का ही खेल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयंव सत्थेहिं समोसवेंति ॥८॥

संस्कृत छाया

समुच्छ्रितं नाम विधूमस्थानं, यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति ।
अधःशिरः कृत्वा विकर्त्तयोवत् शस्त्रैः समुत्स्रवन्ति ॥८॥

अन्वयार्थ

(**समूसियं नाम विधूमठाणं**) नरक में ऊँची चिता के समान धूमरहित एक स्थान है, (**जं सोयतत्ता**) जिस स्थान को पाकर शोकसंतप्त नारकी जीव (**कलुणं थणंति**) करुणस्वर में विलाप करते हैं। (**अहोसिरं कट्टु**) नरकपाल नारकीजीव के सिर को नीचा करके (**विगत्तिऊणं**) तथा उसके शरीर को काटकर (**अयंव सत्थेहिं**) लोहे के शस्त्रों से (**समोसवेंति**) उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं।

व्याख्या

नारकी जीवों की वही हाय-हाय !

इस गाथा में नरकपालों द्वारा नारकों को दी जाती हुई शस्त्र पीड़ा का वर्णन है। चिता के समान धूमरहित एक नरकभूमि होती है, जो अत्यन्त पीड़ा का स्थान है। उस स्थान पर पहुँचते ही नारकी जीव शोक से विह्वल होकर करुणक्रन्दन करते हैं। क्रूर नरकपाल उनका मस्तक नीचा करके, उनके शरीर को लोहे के शस्त्रों से काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं।

यहाँ '**नाम**' शब्द सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसके लगाने से वाक्य का अर्थ होता है– नरक में धूमरहित एक उच्च चिताकार स्थान की सम्भावना है।

मूल पाठ

समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥९॥

संस्कृत छाया

समुच्छ्रितास्तत्र विसूणितांगाः पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः ।
संजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्यां प्रजा हन्यते पापचेतसः ॥९॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ**) उस नरक में (**समूसिया**) अधोमुख करके लटकाए हुए (**विसूणियंगा**) तथा जिनके शरीर की चमड़ी उधेड़ ली गई है, ऐसे नारकी जीवों को (**अओमुहेहिं**) लोहे की तीखी चोंच वाले (**पक्खीहिं**) पक्षीगण (**खज्जंति**) खा लेते हैं। (**संजीवणी नाम चिरट्ठितीया**) वहाँ संजीवनी (नरकभूमि संजीवनी इसलिए कहलाती है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ मरण कष्ट पाकर भी जीव मरते नहीं है तथा उनकी आयु भी बहुत लम्बी होती है) नामक नरकभूमि है, जो चिरकाल तक की स्थिति वाली होती है। (**जंसी**) जिस नरक में (**पावचेया पया हम्मइ**) पापकर्मी जनता मारी जाती है।

भावार्थ

जिस नरक में नीचा मुँह करके लटकाये हुए तथा शरीर की खाल उधेड़े हुए नारकजीव लोहे की चोंच वाले पक्षियों द्वारा खा डाले जाते हैं। नरक की भूमि संजीवनी कहलाती है। क्योंकि मरण के समान कष्ट पाकर भी नारकी जीव आयु शेष रहने के कारण मरते नहीं हैं तथा उस नरक में पहुँचे हुए प्राणियों की उम्र भी काफी लंबी होती है। पापचेता प्राणी उस नरक में मारे जाते हैं।

व्याख्या

नरक में लोहमुखी पक्षियों द्वारा घोर कष्ट

इस गाथा में नारकों की दीर्घकालीन स्थिति का संकेत किया गया है। वास्तव में नरक का नाम संजीवनी भी है। जिसका अर्थ होता है—जहाँ मृत्यु-सा कष्ट पाकर भी जीव आयुष्य-बल होने के कारण मरते नहीं हैं इसीलिए नरकभूमि संजीवनी औषधि के समान जीवन देने वाली कहलाती है क्योंकि नारकी जीव टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी आयु शेष रहने के कारण मरता नहीं है। नरक की उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की है, इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**चिरट्ठितीया**' अर्थात् वह चिरकालीन स्थिति वाली है। नरक में गए हुए पापी मुद्गर आदि द्वारा मारे-पीटे जाते हैं। नरक में किसी खम्भे पर मुँह नीचा और पैर ऊपर करके चाण्डाल मृतशरीर की तरह उसे लटका देते हैं। फिर उसकी चमड़ी उधेड़ डालते हैं, तत्पश्चात लोहे की सी तीखी चोंच वाले कौए, गीध आदि पक्षी उसे खा जाते हैं। इस प्रकार वे नारकी जीव नरकपालों द्वारा अथवा परस्पर एक-दूसरे के द्वारा छेदन-भेदन किये जाने पर भी तथा उबाले जाने से मूर्च्छित हो जाने पर वेदना की अधिकता का अनुभव करते हुए भी वे मरते नहीं। नरक की पीड़ा से व्याकुल होकर वे मरना भी चाहते हैं, पर अत्यन्त पीसे जाने पर भी वे मरते नहीं है, किन्तु पारे के समान पुनः मिल जाते हैं।

मूल पाठ

तिक्खाहिं सूलाहिं निवाययंति वसोगयं सावययं व लद्धं।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खा दुहओ गिलाणा ॥१०॥

संस्कृत छाया

तीक्ष्णाभिः शूलाभिर्निपातयन्ति वशंगतं श्वापदमिव लब्धम्।
ते शूलविद्धा करुणं स्तनन्ति, एकान्तदुःखाः द्विधा तो ग्लानाः ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**वसोगयं**) अपने वश में हुए (**सावयं व लद्धं**) वन्य पशु के समान मिले हुए नारकी जीव को नरकपाल (**तिक्खाहिं सूलाहिं**) तीखे शूलों से (**निवाययंति**) मारते हैं। (**सूलविद्धा**) शूल से बींधे हुए (**दुहओ**) अन्दर और बाहर दोनों ओर से (**गिलाणा**) ग्लान— मुर्झाए हुए (**एगंतदुक्खा**) एकान्त दुःख वाले नारकी जीव (**कलुणं थणंति**) करुणस्वर से विलाप करते हैं।

भावार्थ

वशीभूत हुए जंगली जानवर के समान नारकी जीव को पाकर परमाधार्मिक असुर तीखे शूलों से मार गिराते हैं। शूलों से बींधे हुए तथा अन्दर और बाहर दोनों तरह से ग्लान—उदास एवं एकान्त दुःखी नारकी जीव करुण क्रन्दन करते हैं।

व्याख्या

नरकपालों द्वारा नारकी जीवों पर बरसाया जाता कहर

इस गाथा में बताया गया है कि नारकी जीव जब मृग, सूअर आदि पालतू जानवर की तरह परमाधार्मिकों के वशीभूत हो जाता है, तब नरकपाल पूर्वजन्मकृत पापों का स्मरण कराकर उसे तीखे लोह के शूलों से बींध-बींध कर मार गिराते हैं। शूल आदि के द्वारा बींधे हुए भी नारकी जीव मरते नहीं है, किन्तु करुणस्वर से आर्त-नाद करते हैं। उन नारकी जीवों का उस समय कोई भी रक्षक एवं सहायक न होने से वे अन्दर और बाहर दोनों ओर से मनमलिन व तन-क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार नारकी सदैव एकान्त दुःख ही दुःख का अनुभव करते हुए करुण विलाप करते रहते हैं।

मूल पाठ

सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो ।
चिट्ठंति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठतीया ॥११॥

संस्कृत छाया

सदा ज्वलन् नाम निहं महच्च, यस्मिन् ज्वलन्नग्निरकाष्ठः ।
तिष्ठन्ति बद्धा बहुक्रूरकर्माणः, अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ॥११॥

अन्वयार्थ

(**सया**) सदैव (**जलं**) जलता हुआ (**महंतं निहं**) एक महान् प्राणिघात का स्थान है, (**जंसी**) जिसमें (**अकट्ठो अगणी**) बिना काष्ठ की आग (**जलंतो**) जलती रहती है। (**बहुकूरकम्मा**) जिन्होंने पूर्वजन्म में अत्यन्त क्रूर (पाप) कर्म किये हैं, (**चिरट्ठितीया**) तथा जो उस नरक में चिरकाल तक निवास करते हैं, (**बद्धा**) वे उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक में बांध दिये जाते हैं (**अरहस्सरा चिट्ठंति**) गला फाड़-फाड़ कर जोर-जोर से चिल्लाते रहते हैं।

भावार्थ

एक ऐसा प्राणियों का घातस्थान है, जो सदा जलता रहता है और जिसमें बिना लकड़ी की आग निरन्तर जलती रहती है। जिन्होंने पूर्वजन्म में अत्यन्त क्रूरकर्म किये हैं, वे पापी नारकीजीव बाँध दिये जाते हैं, वे अपने पाप का फल भोगने के लिए चिरकाल तक वहाँ निवास करते हैं और पीड़ा के मारे गला फाड़कर जोर-जोर से रोते रहते हैं।

व्याख्या

सदा अग्निमय प्राणिघातक स्थान में दुःखी नारकी जीव !

इस गाथा में यह बताया गया है कि जहाँ सदैव बिना ही ईंधन के आग जलती रहती है, उस प्राणिघातक नरकस्थान में नारक दीर्घकाल (उत्कृष्ट ३३ सागरोपम काल) तक कैसे रहते हैं ? वे क्यों रहते हैं, ऐसे घोर दुःखमय स्थान में ? क्या वे नरक से भागकर अन्यत्र कहीं जा नहीं सकते ? इतनी पीड़ा होते हुए भी वे मरते क्यों नहीं ? इन सब का समाधान इस गाथा के उत्तरार्द्ध में किया गया है—"**चिट्ठंति बद्धा..... चिरट्ठितीया।**" नारकी जीवों का जितना आयुष्य होता है, वे उसे पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले नहीं; क्योंकि उनका आयुष्य अनपवर्त्य (निरुपक्रम) होता है,[1] इसलिए यह '**चिरट्ठितीया**' कहा है। दीर्घकाल तक आयुष्यबद्ध होने के कारण पूरी अवधि तक नरक की सजा भोगे बिना उनका छुटकारा नहीं हो सकता। इसीलिए वे इतनी पीड़ा होते हुए भी उस घोर दुःखमय स्थान को छोड़कर न न तो कहीं अन्यत्र जा सकते हैं और न ही मर सकते हैं। बल्कि परमाधार्मिकों या अन्य नारकों द्वारा बाँधे जाने के कारण वे इधर-उधर अपनी इच्छा से भाग भी नहीं सकते, उन्हें पूरी सजा भोगनी पड़ती है, क्योंकि उन्होंने पूर्वजन्म में अत्यन्त क्रूर कर्म किये थे, उनके फलस्वरूप यह भयंकर दण्ड उन्हें मिलता है। पर सजा भोगते समय वे बेचारे अज्ञानी नारक जोर-जोर से गला फाड़कर रोते-बिलखते इतनी लम्बी जिंदगी पूरी करते हैं।

मूल पाठ

चिया महंती उ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥१२॥

---

१ देखिये तत्वार्थसूत्र में—औपपातिक (देव और नारक) चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। —तत्वार्थ अ० २ सू० ५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

चिताः महतीः समारभ्य, क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम् ।
आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा पतितं ज्योतिर्मध्ये ॥१२॥

अन्वयार्थ

(ते) वे परमाधार्मिक (महंतो उ चिया) बहुत बड़ी चिता (समारभित्ता) रचकर (कलुणं रसंतं तं) करुण स्वर से विलाप करते हुए उस नारकी जीव को (छुब्भंति) उसमें झोंक देते हैं। (तत्थ) उसमें (असाहुकम्मा) पापकर्मी नारक (आवट्टती) पिघल जाता है, (जहा) जैसे (जोइमज्झे पडियं सप्पी इव) आग में पड़ा हुआ घी पिघल जाता है।

भावार्थ

वे परमाधार्मिक असुर बड़ी भारी चिता बनाकर उसमें करुणस्वर से रोते-बिलखते हुए उस नारकी जीव को झोंक देते हैं, उसमें पड़कर वह पापी जीव उसी तरह पिघलकर पानी-सा हो जाता है, जैसे आग में डाला हुआ घृत पिघलकर पानी-सा हो जाता है।

व्याख्या

प्रज्वलित चिता में झोंक देने पर भी पानी-पानी

इस गाथा में यह बताया गया है कि नरकपाल नारकी जीवों को (सजा) दुःख देने के लिए एक विशाल चिता बनाते हैं, उसे प्रज्वलित करते हैं और धू-धू जलती हुई उस चिता में पापी नारकों को झोंकते जाते हैं। पर आश्चर्य यह है कि वह जलकर भी मरता नहीं। जैसे अग्नि में घी डालने से वह एकदम पिघल जाता है, वैसे ही नारकी जीव का शरीर चिता में डालते ही पिघलकर पानी-सा हो जाता है। फिर वह पूर्ववत् हो जाता है, और फिर उसके साथ अनेक तरह से खिलवाड़ की जाती है। यह क्रम रातदिन निरन्तर चलता रहता है। न रात को चैन, न दिन को चैन! सारी जिंदगी इस प्रकार रोने-धोने में बीतती है। नरक इस प्रकार से शोक-सन्ताप का घर है।

मूल पाठ

सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहिं य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभंति ॥१३॥

संस्कृत छाया

सदा कृत्स्नं पुनर्घर्मस्थानं गाढोपनीतं अतिदुःखधर्मम् ।
हस्तैश्च पादैश्च बद्ध्वा, शत्रुमिव दण्डैः समारभन्ते ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**पुण**) फिर (**सया**) सदैव—तीनों काल में, (**कसिणं**) सारा का सारा (**घम्मठाणं**) एक उष्ण स्थान है जो (**गाढोवणीयं**) निधत्त, निकाचित आदि रूप में गाढबन्ध से बद्धकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है (**अइदुक्खधम्मा**) जिसका स्वभाव अत्यन्त दुःख देना है। (**तत्थ**) उस दुःख परिपूर्ण नरक में (**हत्थेहिं पाएहिं य बंधिऊणं**) हाथ और पैर बाँधकर (**सत्तुव्व**) शत्रु की तरह नरकपाल (**डंडेहिं**) डंडों से (**समारभंति**) मारते-पीटते हैं।

भावार्थ

निरन्तर जलने वाला पूरा का पूरा एक गर्म स्थान है, जो नारक जीवों को निधत्त निकाचित आदि रूप से बद्ध क्रूर कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है, जिसका स्वभाव ही अत्यन्त दुःख देने का है। उस नरकस्थान में नारक के हाथ-पैर बाँधकर दुश्मन की नरकपाल डंडों से पीटते हैं।

व्याख्या

एक तो सदा गर्म स्थान, फिर डंडों से पिटाई !

इस गाथा में इस बात को फिर दोहराया गया है कि एक नरकस्थान ऐसा है, जहाँ हरदम हर कोना आग की तरह जलता है। इतनी डिग्री का तापमान होता है कि मनुष्यलोक का प्राणी तो उसे एक क्षण भी नहीं सह सकता। नारकी जीव उसमें सदा सिकते रहते हैं, दुःख पाते रहते हैं। प्रश्न होता है, ऐसा सदा अत्यन्त उष्ण जलवायु वाला स्थान उन नारकों को क्यों मिलता है ? क्या कोई उपाय ऐसा भी है, जिससे वह स्थान टाला जा सके ? शास्त्रकार इसके उत्तर में कहते हैं — '**गाढोवणीयं**'। आशय यह है कि नारकों को वह स्थान निधत्त या निकाचित रूप से गाढबन्धन से बद्ध पापकर्मों के फलस्वरूप मिलता है, और वह मिलता है—अनिवार्य। उसे कथमपि टाला नहीं जा सकता। जो कर्म निकाचित रूप से बँध जाते हैं, उन्हें भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं होता। उसमें वे जीव निरुपाय हो जाते हैं। खैर, उन्हें अत्यन्त गर्म स्थान तो मिला, पर दुर्भाग्य यह है कि वहाँ भी नरकपाल उन्हें चैन से बैठने नहीं देते, दुश्मन की तरह उनकी आँखों में खून उतर आता है और वे उन नारकों के हाथ-पैर बाँधकर डंडों से पिटाई करने पर पिल पड़ते हैं।

मूल पाठ

भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठीं, सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा फलगं व तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥१४॥

संस्कृत छाया

भञ्जंति बालस्य व्यथेन पृष्ठिं शीर्षमपि भिन्दन्त्ययोघनैः ।
ते भिन्नदेहा फलकमिव तष्टास्तप्ताभिराराभिर्नियोज्यन्ते ॥१४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**बालस्स पुट्ठीं**) अज्ञानी नारकी जीव की पीठ (**वहेण**) लाठी आदि से मार-मारकर (**भंजंति**) तोड़ देते हैं। तथा (**अओघणेहिं**) लोहे के भारी घन से उसका (**सीसंपि**) सिर भी (**भिंदंति**) फोड़ डालते हैं। (**भिन्न देहा ते**) इस प्रकार उन नारकों के अंग-अंग चूर-चूर कर दिये जाने पर उन्हें (**तत्ताहिं आराहिं**) तपी हुई गर्मागर्म करवतों आरों से (**फलगं व तच्छा**) लकड़ी के तख्ते की तरह चीर देते हैं, तब उन्हें (**णियोजयंति**) खौलता हुआ गर्मागर्म सीसा पीने में जबरन प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ

नरकपाल पहले तो लाठी से मार-मारकर उन नारकी जीवों की पीठ (कमर) तोड़ देते हैं, फिर लोहे के घन से उनका सिर भी फोड़ देते हैं। इस तरह नारकों के प्रत्येक अंग को चूर-चूर करके फिर उन्हें लकड़ी के तख्ते की तरह तपे हुए आरों (करवतों) से चीर देते हैं और तब उन्हें गर्मागर्म सीसा पीने को बाध्य करते हैं।

व्याख्या

नारकों के समस्त अंगभंग और गर्म सीसा पीने को बाध्य ?

इस गाथा में यह बताया गया है कि किस प्रकार नारकी जीवों के अंग-अंग चूर्ण कर दिये जाते हैं और फिर उन्हें खौलता हुआ सीसा पीने को मजबूर किया जाता है। उन नरकपालों द्वारा सर्वप्रथम बेचारे नारकों की पीठ व्यथित करने वाली लाठी, चाबुक आदि के तीव्र प्रहार से तोड़ दी जाती है। फिर उनका सिर लोहे के भारी-भरकम घन से फोड़ दिया जाता है। 'अपि' शब्द से यहाँ दूसरे अंगोपांगों के भी चूर-चूर करने का आशय प्रतीत होता है। इस प्रकार समस्त अंग चूर-चूर कर दिये जाने के बाद नारकों के शरीर को गर्म आरे से लकड़ी का तख्ता चीरने की तरह चीर देते हैं। इस तरह विविध प्रकार से पीड़ित करके भी वे दम नहीं लेते, अपितु उन्हें उबाल कर गलाया हुआ गर्म सीसा पीने को विवश कर देते हैं। बहरहाल, नारकी जीवों के नाक में दम कर देते हैं। एक क्षणभर भी वे सुख की सांस नहीं लेने देते।

मूल पाठ

अभिजुंजिय रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरूहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥१५॥

संस्कृत छाया

अभियोज्य रौद्रमसाधुकर्मणः इषुचोदितान् हस्तिवहं वाहयन्ति ।
एकं समारोह्य द्वौ त्रीन्वा, आरुष्य विध्यन्ति मर्माणि तस्य ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**असाहुकम्मा**) दुष्कर्मकारी पापी नारकी जीवों को (**रुद्द अभिजुंजिय**) उनके जीवहिंसादि रौद्र-भयंकर कुकृत्यों का स्मरण कराकर (**उसुचोइया**) बाण के प्रहार से प्रेरित करके (**हत्थिवहं वहंति**) उनसे हाथी की तरह भार वहन कराते हैं। (**एगं दुवे ततो वा दुरूहित्तु**) एक दो या तीन नारकों को उनकी पीठ पर चढ़ाकर उन्हें चलाते हैं। और (**आरुस्स**) क्रोध करके (**से ककाणओ**) उनके मर्मस्थान में (**विज्झंति**) वेधते हैं—सुई जैसी नोकदार वस्तु चुभोते हैं।

भावार्थ

नरकपाल पापी नारकी जीवों को उनके पूर्वकृत पापों की याद दिलाकर बाण के प्रहार से प्रेरित करके हाथी की तरह भार ढोने के लिए बाध्य कर देते हैं। उनकी पीठ पर एक दो या तीन नारकी जीवों को बिठाकर चलाते हैं तथा क्रोधित होकर उनके मर्मस्थान में तीखा नोकदार शस्त्र चुभोते हैं।

व्याख्या

पूर्व पापों की याद दिलाकर भारवहन को बाध्य

इस गाथा में नरकपालों द्वारा नारकों को जबरन भार ढोने के लिए बाध्य करने का मार्मिक चित्रण है।

'**रुद्दं अभिजुंजिय**' इस वाक्य के दो अर्थ निकलते हैं। एक यह है कि नरकपाल नारकी जीवों को दूसरे नारकों के हनन आदि रौद्र-क्रूर कर्मों में लगाकर, तथा दूसरा अर्थ है—पूर्वजन्म में नारकों द्वारा किये गए प्राणिघात आदि भयंकर पापकर्मों का स्मरण कराकर।

जैसे हाथी पर चढ़कर उससे भारी वजन ढोने का काम लेते हैं, वैसे ही नारकी जीवों से भी नरकपाल किस प्रकार भारवहन कराते हैं? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं एक नारकी जीव की पीठ पर एक, दो या तीन दूसरे नारकी जीवों को बैठाकर उससे भारवहन कराते हैं। अगर वह अधिक बोझ होने के कारण ठीक से चलता नहीं है तो रुष्ट होकर उसे चाबुक आदि से मारते हैं या उसके मर्मस्थान में सुई आदि तीखी नोकदार चीज चुभो देते हैं। कितनी नृशंसता का व्यवहार है यह? पर क्या किया जाय? विवश होकर नारकी जीवों को यह सब कष्ट सहना ही पड़ता है।

मूल पाठ

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विवद्धतप्पेहि विसण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलिं करिंति ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

बालाः बलाद् भूमिमनुक्राम्यमाणाः, पिच्छिलां कण्टकिलां महतीम् ।
विबद्धतर्पैः विषण्णचित्तान् समीरिताः कोट्टबलिं कुर्वन्ति ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**बाला**) बालक के समान पराधीन बेचारे नारकी जीव नरकपालों द्वारा (**बला**) बलात्कार से (**पंकिज्जलं**) कीचड़ से भरी (**कंटइलं**) और काँटों से परिपूर्ण (**महंतं भूमिं**) विस्तृत भूमि पर (**अणुक्कमंता**) चलाये जाते हैं। (**समीरिया**) पापकर्म से प्रेरित नरकपाल (**विसण्णचित्ते**) मूर्च्छित या दूसरे नारकी जीवों को (**कोट्टबलिं करिंति**) खण्डशः काट-काटकर नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं।

भावार्थ

पाप से प्रेरित नरकपाल बालकवत् परवश बेचारे नारकी जीवों को कीचड़ से लथपथ एवं काँटों से भरी विशाल पृथ्वी पर चलने के लिए बाध्य कर देते हैं। तथा अनेक प्रकार के बंधनों से बाँधे हुए तथा विषण्णचित्त संज्ञाहीन बेचारे दूसरे नारकी जीवों को खण्ड-खण्ड करके नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं।

व्याख्या

यातना पर यातना !

इस गाथा में पहले कही बात को फिर दुहराया गया है। इस प्रकार पुनरुक्ति करने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि नरकभूमि की भयंकरता हृदयंगम हो जाए। बेचारे नारकी जीवों को पहले तो भूमि ही दुःखपूर्ण मिलती है, उस पर नरकपाल लोग बरबस उन्हें कीचड़ से लथपथ एवं काँटों से भरी बहुत विशाल जमीन पर धीमे चलने पर दौड़ने के लिए बाध्य कर देते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मूर्च्छित या विषण्णचित्त नारकों को अनेक प्रकार से बाँधकर पापकर्म से प्रेरित नरकपाल खण्ड-खण्ड काटकर नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं। उसके शरीर की बोटी-बोटी करके बलि कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि बेचारे नारकों को नरक में यातना पर यातना प्राप्त होती है।

मूल पाठ

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥

संस्कृत छाया

वैतालिको नाम महाभिताप एकायतः पर्वतोऽन्तरिक्षे ।
हन्यन्ते तत्स्थाः बहुक्रूरकर्माणः परं सहस्राणां मुहूर्त्तकानाम् ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**महाभितावे**) महान् ताप से युक्त (**अंतलिक्खे**) आकाश में (**एगायते**) एक ही शिला से बनाया हुआ अतिविस्तृत (**वेयालिए नाम पव्वयं**) वैतालिक—वैक्रिय नाम का एक पर्वत है। (**तत्था**) उस पर्वत पर रहने वाले (**बहुकूरकम्मा**) बहुत क्रूर कर्म किये हुए नारकी जीव (**सहस्साणं मुहुत्तगाणं परं हम्मंति**) हजारों मुहूर्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं।

भावार्थ

आकाश में महान् ताप से युक्त एक ही शिला से बनाया हुआ अत्यन्त विशाल वैतालिक या वैक्रिय नाम का एक पर्वत है। उस पर्वत पर रहने वाले अतिक्रूरकर्मा नारकी जीव हजारों मुहूर्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं।

व्याख्या

आकाशस्थ विशाल वैतालिक पर्वत : नारकों के लिए महाकाल

इस गाथा में नरक में स्थित एक वैतालिक (वैक्रिय) नाम के विशालकाय पर्वत का उल्लेख किया है, जो नारकों के लिए सन्तापजनक महाकाल-सा संहारक है। वास्तव में नरक में स्थित यह पर्वत प्राकृतिक (कुदरती) नहीं है, वह कृत्रिम (बनावटी) है, इसीलिए आकाश में अधर बनाया गया है। सिर्फ एक बहुत विशाल शिला से ही वैताल की तरह भीमकाय यह पर्वत परमाधार्मिकों ने वैक्रियशक्ति द्वारा बनाया है। इसीलिए इसका नाम वैतालिक तथा अपर नाम वैक्रिय प्रसिद्ध है। यह पर्वत घोर अन्धकाररूप है, इसलिए इसे महाभिताप (महान् सन्ताप से युक्त) कहा गया गया है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो यह महाकाय दैत्याकार पर्वत नारकों के लिए महाकालरूप है। क्योंकि नारक लोग नरक के अतितापजन्य महादुःख से बचने के लिए इस अन्धकारमय पर्वत पर हाथ के स्पर्श से चढ़ने लगते हैं, उस समय परमाधार्मिक असुर उन पर शिला आदि पटक कर उन्हें मारते हैं। अतः सुख के बदले उनके पल्ले अत्यन्त दुःख ही पड़ता है। प्रश्न होता है, परमाधार्मिकों द्वारा इस पर्वत के माध्यम से दुःख देने का क्रम कब तक चलता है ? शास्त्रकार कहते हैं—"**परंसहस्साणं मुहुत्तगाणं हम्मंति**' अर्थात् हजारों मुहूर्तों से अधिक काल तक नारकी जीव यहाँ मारे जाते हैं। यहाँ सहस्र शब्द उपलक्षण है, इसलिए चिरकाल तक वे मारे जाते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए। नारकों को मारने व दुःख देने के लिए ही परमाधार्मिकों द्वारा यह विशालकाय कृत्रिम पर्वत रचा गया है।

मूल पाठ

संवाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा।
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

सम्बाधिताः दुष्कृतिनः स्तनन्ति, अह्नि च रात्रौ परितप्यमानाः ।
एकान्तकूटे नरके महति, कूटेन तत्स्थाः विषमे हतास्तु ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**संबाहिया**) निरन्तर पीड़ित किये जाते हुए (**दुक्कडिणो**) दुष्कर्म किये हुए पापात्मा नारक (**अहो य राओ परितप्पमाणा**) दिन और रात परिताप—दुःख भोगते हुए (**थणंति**) रोते रहते हैं। (**एगंतकूडे**) एकान्त केवल दुःख के स्थान (**महंते**) विस्तृत (**विसमे**) ऊबड़खाबड़ या कठिन (**नरए**) नरक में पड़े हुए प्राणी (**कूडेण हता उ**) गले में फाँसी डालकर मारे जाते हुए (**तत्था**) वहाँ रहने वाले नारकी जीव केवल रोते रहते हैं।

भावार्थ

सतत पीड़ा दिये जाते हुए पापकर्मी जीव (नारक) अहर्निश संतप्त होते हुए आँसू बहाते रहते हैं। एकान्त रूप से दुःख के पुंज उस विशाल एवं विषम नरक में रहने वाले वे नारक जीव गले में फाँसी डालकर मारे जाते समय केवल रोते रहते हैं।

व्याख्या

अब इन आँसुओं का कोई मूल्य नहीं।

इस गाथा में सदा और लगातार पीड़ित किये जाते हुए महापापी जीवों के सतत दुःखों से घिरे होने से एकमात्र रुदन का वर्णन है। भला, जो प्राणी अपने पूर्व जीवन में अहर्निश पापों में आकण्ठ डूबा रहा है, उसे अब एकान्त दुःखरूप, अति-विस्तृत एवं विषम नरक में जब निरन्तर तरह-तरह से पीड़ित किया जाता है, और उसके दुःख की कोई फरियाद नहीं होती, तब सिवाय रोने-धोने और हाय-तोबा मचाने के और कोई चारा नहीं रहता। किन्तु अब इन आँसुओं का कोई मोल नहीं, किसी को उनके पूर्वकृत महापापकर्मों कारण उन पर करुणा पैदा नहीं होती।

मूल पाठ

भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं ।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥१९॥

संस्कृत छाया

भञ्जन्ति पूर्वारयः सरोषं, समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा ।
ते भिन्नदेहाः रुधिरं वमन्तोऽधोमुखाः धरणीतले पतन्ति ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**समुग्गरे मुसले गहेतुं**) मुद्गर और मूसल हाथ में लेकर नरकपाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**पुव्वभरी**) पहले के शत्रु के समान (**सरोसं**) रोष के साथ (**भंजंति**) नारकी जीवों के अंगों को तोड़ देते हैं। (**भिन्नदेहा**) जिनकी देह टूट गई है, ऐसे नारकी जीव (**रुहिरं वमंता**) रक्त वमन करते हुए अधोमुख होकर (**धरणितले**) भूतल पर (**पडंति**) गिर जाते हैं।

भावार्थ

पूर्वजन्म के दुश्मन के समान हाथ में मुद्गर और मूसल लिए परमाधार्मिक असुर नारकों को देखते ही उन पर टूट पड़ते हैं, प्रहार से उनके अंग-अंग चूर-चूर कर डालते हैं। देह चूर-चूर हो जाने के कारण मुँह से खून की उल्टी करते हुए वे नारकी जीव औंधे मुँह जमीन पर गिर पड़ते हैं।

व्याख्या

नारकों की भयंकर दुर्दशा

इस गाथा में नारकों की भयंकर दुर्दशा का करुण वर्णन है। पूर्वजन्म में किये हुए पापों की भयंकर सजा इस नरकभव में उन्हें परमाधार्मिक असुर देते हैं। वे या अन्य नारक जब सजा देने लगते हैं तो पूर्वजन्म के शत्रु-से बनकर हाथ में मुद्गर और मूसल लिये रोषपूर्वक नारकों पर गाढ़ प्रहार करते हैं, जिससे उनके अंग चूर-चूर हो जाते हैं। उसके बाद अरक्षित, असहाय एवं शस्त्र से आहत नारकी जीव मुँह से खून की उल्टी करते हुए औंधे मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ते हैं। वे जोर से कराहते हैं, लेकिन कोई उनकी पुकार नहीं सुनता।

मूल पाठ

अणासिया नाम महासियाला पागब्भिणो तत्थ सया सकोवा।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा संकलियाहि बद्धा ॥२०॥

संस्कृत छाया

अनशिता नाम महाशृगालाः प्रगल्भिणस्तत्र सदा सकोपाः।
खाद्यन्ते तत्स्थाः बहु क्रूरकर्माणः अदूरगाः शृंखलैर्बद्धाः ॥२॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ**) उस नरक में (**सया सकोवा**) सदा क्रोधित (**अणासिया**) क्षुधातुर (**पागब्भिणो**) ढीठ (**महासियाला**) बड़े-बड़े सियार रहते हैं। (**तत्था**) वे वहाँ रहने वाले सियार (**बहुकूरकम्मा**) जन्मान्तर में अत्यन्त पाप किये हुए (**संकलियाहि बद्धा**) जंजीरों से बंधे हुए (**अदूरगा**) निकट में स्थित नारकों को (**खज्जंति**) खा जाते हैं।

भावार्थ

वहाँ नरक में सदा क्रोधित और भूखे ढीठ भीमकाय शृगाल रहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। ये शृगाल पूर्वजन्म में कृत पापों के कारण जंजीरों से बँधे हुए रहते हैं। ये निकट में स्थित नारकी जीवों को खा जाते हैं।

व्याख्या

नारकों को खा जाने वाले ये खूंखार और भूखे गीदड़

इस गाथा में नरक के खूंखार और भूखे गीदड़ों का वर्णन है। ये गीदड़ भी नारकों को दण्ड देने के लिए उनके निकट ही छिपे रहते हैं। ये गीदड़ कैसे होते हैं? इसके लिए शास्त्रकार ७ विशेषणों द्वारा उनका स्वरूप बताते हैं--(१) अनशित (भूखे) (२) महाशृगाल (विशालकाय गीदड़) (३) प्रगल्भी--ढीठ, (४) सदा सकोप—हर समय उनकी भौंहे तनी रहती हैं, (५) अत्यन्त क्रूरकर्म किये हुए, (६) जंजीरों से जकड़े हुए एवं (७) अदूरगा – बहुत ही निकट (नारकों के, रहने वाले। सचमुच ये शिकारी गीदड़ दाँव लगते ही वहाँ के निकटस्थ नारकों का सफाया कर डालते हैं। वस्तुतः ये गीदड़ भी वहाँ के नरकपालों द्वारा वैक्रिय शक्ति से बनाये जाते हैं।

मूल पाठ

सयाजला नाम नदीऽभिदुग्गा पविज्जलं लोहविलीणतत्ता।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताऽणुक्कमणं करेंति ॥२१॥

संस्कृत छाया

सदाजला नाम नद्यभिदुर्गा पिच्छिला लोहविलीनतप्ता ।
यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना, एका अत्राणाः उत्क्रमणं कुर्वन्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सयाजला नाम**) नरक में सदाजला नामक (**नदीऽभिदुग्गा**) अत्यन्त दुर्गम गहन या विषम नदी है (**पविज्जलं**) उसका जल क्षार, मवाद और रक्त से मैला रहता है। अथवा वह नदी अत्यन्त भारी कीचड़ से सनी है। (**लोहविलीणतत्ता**) तथा वह आग से पिघले हुए तरल लोहे के समान अत्युष्ण जल को धारण करती है। (**अभिदुग्गंसि जंसी पवज्जमाणा**) अतिविषम जिस नदी में पहुँचे हुए नारक जीव (**एगायताणुक्कमणं करेंति**) बेचारे अकेले और अरक्षित ही तैरते हैं।

भावार्थ

नरक में सदाजला नाम की एक नदी है, जिसमें हमेशा पानी भरा रहता है वह नदी अत्यन्त कष्टदायिनी है। उसका पानी रक्त, मवाद एवं क्षार आदि से सदा मलिन रहता है। आग से पिघले हुए तरल लोहे के समान उसका जल अत्यन्त गर्म रहता है। उस अतिविषम नदी पर पहुँचे हुए नारकी जीव बेचारे अकेले अरक्षित और असहाय-से बने उस नदी में तैरते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सदाजला नदी : नारकों को कष्टदायिनी

इस गाथा में नरक की एक सदाजला नदी का चित्रण किया गया है। सदाजला 'यथानाम तथागुण' वाली है। इसका दूसरा रूप 'सदाज्वला' भी होता है, जिसका अर्थ होता है—सदाज्वलनशील। उसका जल लोहे को अत्यन्त गर्म करके पिघलाए हुए गर्म रस का-सा अत्यन्त गर्म एवं रक्त, मवाद तथा क्षार से मैला रहता है। रक्त से भरी होने वाली यह नदी बड़ी फिसलनी (चिकनी) है। अथवा विस्तृत और गहरे जल वाली है। अथवा वह प्रदीप्तजला यानी सदा अत्युष्ण जल वाली है। ऐसी सदाजला नदी पर नरक के भयंकर ताप से बचने हेतु नारक पहुँच जाते हैं, लेकिन वहाँ ठंडक तो मिलती नहीं। न कोई उनकी रक्षा करने वाला होता है, बेचारे अकेले-अकेले ही तैरते हैं।

मूल पाठ

एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥२२॥

संस्कृत छाया

एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं, निरन्तरं तत्र चिरस्थितिकं ।
न हन्यमानस्य तु भवति त्राणं एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखम् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(तत्थ) वहाँ नरक में (**चिरट्ठितीयं**) चिरकाल तक निवास करने वाले (**बालं**) अज्ञानी नारक को (**एयाइं फासाइं**) ये पूर्वोक्त स्पर्श यानी दुःख (**निरंतरं**) सदा सतत (**फुसंति**) पीड़ित करते रहते हैं। (**हम्ममाणस्स उ**) पूर्वोक्त दुःखों से आहत होते हुए नारकी जीव का (**ताणं ण होइ**) वहाँ कोई त्राण—रक्षक नहीं होता। सच है, (**एगो सयं दुक्खं पच्चणुहोइ**) वह अकेला उक्त दुःखों को भोगता है।

भावार्थ

पहले के दो उद्देशकों में जिन कठोर दुःखों का वर्णन किया है, उन सब दुःखों का स्पर्श अज्ञानी नारकी जीव को निरन्तर होता रहता है। उन नारकी जीवों की आयु भी लम्बी होती है, और उस दुःख से उनकी रक्षा भी नहीं हो सकती। वह अकेला ही उन दुःखों को भोगता है। उसकी सहायता या रक्षा दूसरा कोई नहीं कर सकता।

व्याख्या

अकेले ही दीर्घकाल तक दुःखरूप फलभोग

इस गाथा में उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**एयाइं फासाइं·····पच्चणुहोइ दुक्खं।**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस गाथा में तीन बातों की ओर शास्त्रकार का संकेत है—

(१) पूर्वोक्त समस्त कठोर दुःख नारकी जीवों को सतत भोगने पड़ते हैं।

(२) नारकी की आयु बहुत लम्बी होती है, उसका रक्षक कोई नहीं बनता।

(३) उन दुःखों को वह अकेला ही भोगता है, उसका सहभागी कोई नहीं होता।

नारकों को प्राप्त होने वाले दुःख चाहे परमाधार्मिकों द्वारा प्राप्त होते हों, अथवा परस्पर नारकों द्वारा हों या प्रकृतिकृत शीतोष्णादि दुःख हों, सभी दुःख अतिकटु हैं। ऐसे अतिदुःसह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द पाकर अज्ञानी नारक बार-बार पीड़ित होते रहते हैं। कोई भी क्षण ऐसा खाली नहीं जाता, जब उन्हें दुःख से छुट्टी मिलती हो। सदैव सतत दुःख, दुःख और दुःख ही मिलता रहता है।

फिर नारकों की आयु (स्थिति) बहुत लंबी होती है। सातों नरकों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है। संसारी जीवों में नारकी के सिवाय अन्य किसी प्राणी की इतनी उत्कृष्ट स्थिति नहीं होती। दुःख भी उत्कट और उस पर अत्यन्त लम्बी आयु होती है। इसलिए चिरकाल तक नरक में पड़े रहकर कठोर कारावास से भी बढ़कर दण्ड प्राप्त होता है, उसे भोगना पड़ता है।

प्रश्न होता है, क्या उस नारक के इतने उत्कट दुःख को सहने में कोई हिस्सेदार (Partner) नहीं होता, ताकि दुःख का बँटवारा होने से उसे कम दुःख सहना पड़े? शास्त्रकार कहते हैं—**'एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं'** अर्थात् जीव सदा स्वयं अकेला ही दुःख का अनुभव करता है, उसके साथ दूसरा कोई साझीदार नहीं होता। वह बेचारा अफसोस करता है—

मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः॥

अर्थात्—हाय! मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयंकर दुष्कर्म किये। परन्तु फल भोगने के समय मैं अकेला यहाँ जल सड़ रहा हूँ, फल भोगते समय वे सब मुझे छोड़कर चले गए।

मूल पाठ

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंत दुक्खं ॥२३॥

संस्कृत छाया

यद् यादृशं पूर्वमकार्षीत् कर्म, तदेवागच्छतिसम्पराये।
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दुःखिनस्तमनन्तदुःखम् ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**जं**) जो, (**जारिसं**) जैसा (**पुव्वं**) पूर्व में पूर्वजन्म में (**कम्मं**) कर्म (**अकासि**) जीव ने किया है, (**तमेव**) वही (**संपराए**) संसार—दूसरे भव में (**आगच्छति**) आता है। (**एगंतदुक्खं भवं अज्जणित्ता**) जिसमें (नरक में) एकान्त दुःख होता है, ऐसे भव (जन्म) को प्राप्त करके (**दुक्खी**) एकान्तदुःखी जीव (**तं अणंतदुक्खं वेदंति**) अनन्त दुःखरूप उस नरकरूप फल को भोगते हैं।

भावार्थ

जिस जीव ने पूर्वजन्म या पूर्वकाल में जैसे कर्म किये हैं, उसे दूसरे भव (संसार) में वही प्राप्त होता है। जिन्होंने एकान्तदुःखरूप नरकभव का कर्म किया है, अनन्तर दुःखरूप उस नरकरूप फल को भोगते हैं।

व्याख्या

जैसे जिसके कर्म, वैसा ही फलभोग !

इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि नारकों को जो नरक मिला है, वह किसी ईश्वर या किसी शक्ति द्वारा नहीं मिला है, अपितु जैसे जिस जीव ने कर्म किये थे, तदनुसार उसे अपना नया संसार मिलता है। इस दृष्टि से उन्हें पूर्वजन्म में उपार्जित एकान्त दुःखजनक पापकर्मों के अनुसार एकान्त दुःखरूप नरक मिला है। 'जैसी करणी, वैसी भरणी' की कहावत ही इस सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। कर्म सिद्धान्त इतना प्रबल एवं अकाट्य सिद्धान्त है कि इसमें किसी भी पक्षपात, किसी भी ईश्वर या परम शक्ति के हस्तक्षेप अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति को कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'**जं जारिसं ..... तमणंत दुक्खं।**' आशय यह है कि प्राणी पूर्वजन्म में जैसी स्थिति और जैसे अनुभाव (रस) वाले जो कर्म करता है, वैसा ही अर्थात् जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट स्थिति वाला तथा जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट अनुभव वाला उसी तरह का फल संसार (अगले जन्म) में उसे प्राप्त होता है। अर्थात् तीव्र, मन्द और मध्यम जैसे अध्यवसायों (परिणामों से जो कर्म बाँधा गया है, वह तीव्र, मन्द और मध्यम विपाक (फल) उत्पन्न करता हुआ उदय में आता है। जिस प्राणी ने सुख के लेश से भी रहित एकान्तरूप से दुःखोत्पादक नरकभव के कारणरूप कर्मों का उपार्जन किया है, वह एकान्त दुःखी होकर पूर्वोक्त असातावेदनीय रूप अनन्त (जिसका चिरकाल तक अन्त न हो) अशान्तियोग्य एवं अप्रतीकार्य दुःखों को भोगता है, यानी वैसे दुःखों का दीर्घकाल तक अनुभव करता है।

मूल पाठ

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरो, न हिंस्यात् कंचन सर्वलोके ।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु बुध्येत लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**धीरे**) बुद्धिशील धीरपुरुष (**एयाणि णरगाणि**) इन नरकों के वर्णन को (**सोच्चा**) सुनकर (**सव्वलोए**) समग्र लोक में (**किंचण**) किसी प्राणी की (**न हिंसए**) हिंसा न करे। (**एगंतदिट्ठी**) किन्तु एकमात्र जीवादि तत्त्वों या आत्मतत्त्व या सिद्धान्त पर दृष्टि (विश्वास) रखता हुआ (**अपरिग्गहे उ**) परिग्रहरहित होकर (**लोयस्स बुज्झिज्ज**) अशुभकर्म करने और उनका फल भोगने वाले लोक—जीव-लोक को समझे, अथवा कषायों का स्वरूप जाने तथा (**वसं न गच्छे**) कदापि उनके वश में (अधीन) न हो, यानी उनके प्रवाह में न बहे।

भावार्थ

धीरपुरुष इन नरकों का वर्णन सुनकर समस्त लोक में किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। साथ ही जीवादि तत्त्वों या एकमात्र आत्मतत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा (दृष्टि) रखता हुआ परिग्रहवृत्ति से रहित होकर अशुभकर्म और उनके फलस्वरूप मिलने वाले लोक या जीवलोक अथवा कषायलोक का स्वरूप समझे और कदापि उनके अधीन न हो।

व्याख्या

'नरकविभक्ति' से साधक शिक्षा या प्रेरणा ले

इस गाथा में इस सारे अध्ययन को जान-सुनकर साधक को जो शिक्षा या प्रेरणा लेनी चाहिए, वह संक्षेप में बताई है—**'एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे।'** आशय यह है कि बुद्धि से सुशोभित विद्वान् एवं हिताहित विवेकी धीरपुरुष, जिनका वर्णन इस अध्ययन के दोनों उद्देशकों में किया गया है, उन नरकों यानी नरक में प्राप्त होने वाले दुःखों को सुनकर निम्नोक्त शिक्षा या प्रेरणा ले—(१) समग्र लोक में किसी की हिंसा न करे, (२) परिग्रहरहित हो, (३) एकमात्र आत्मतत्त्व या तत्सम्बद्ध जीवादि तत्त्वों में अविचल दृष्टि या श्रद्धा रखे, (४) अशुभकर्म करने और उसका फल भोगने वाले जीवलोक या कषायलोक को स्वरूपतः जाने, (५) किन्तु उनके प्रवाह में न बह जाय, उनके अधीन न रहे।

निष्कर्ष यह है कि साधक नरक में नारकों को मिलने वाले भयंकर दुःखों और उन दुःखों के कारणों को जानकर वैसे कुकृत्य न करे जिनसे नरक का बन्ध हो, तथा अगर कोई कुकृत्य पहले अज्ञान या मोहवश हो गया हो तो उसके सम्बन्ध में आलोचना, प्रायश्चित्त, तप, जप आदि के द्वारा उस दुष्कर्म की शुद्धि कर ले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ 'अपरिग्गहे उ' में 'उ' (तु) शब्द से परिग्रह के अतिरिक्त मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन के त्याग को भी समझ लेना चाहिए। मतलब यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग ये पाँच जो कर्मबन्ध के मुख्य कारण हैं, उनको छोड़ना नरकादि के बन्ध से बचने के लिए अनिवार्य है। अगर इनका त्याग या पापकर्मों का त्याग नहीं किया जाए और भगवान्, तीर्थंकर, मसीहा, पैगंबर, खुदा, गॉड या ईश्वर किसी से केवल नरकादि से बचाने की प्रार्थना की जाएगी तो वह निष्फल होगी, कोई भी शक्ति घोरपापी को नरक से बचा नहीं सकती। इस गाथा के पीछे यह रहस्य भी निहित है।

मूल पाठ

एवं तिरिक्खे मणुयाम (सु) रेसु, चतुरंतऽणंतं तयणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कखेज्ज कालं धुयमायरेज्ज ॥२५॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

एवं तिर्य्यक्षु मनुजाम (सु) रेषु चतुरन्तमनन्तं तदनुविपाकम्।
स सर्वमेतदिति विदित्वा काङ्क्षेत कालं ध्रुवमाचरेत ॥२५॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(एवं) इसी तरह (तिरिक्खे मणुयामरे सु) तिर्यञ्चों में, मनुष्यों और देवों में भी उपलक्षण से नरक में जो (चउरंतऽणंतं) चारगतिरूप तथा अनन्त संसार है, तथा (तयणुव्विवागं) उन चारों गतियों या उनमें कृतकर्मों के अनुरूप जो विपाक (फल) है, (इति एयं सव्वं स वेदइत्ता) जैसा जिसका यथार्थ वस्तु स्वरूप है, इन सब बातों को वह बुद्धिमान पुरुष जानकर (कालं कंखेज्ज) अपने मरणकाल की प्रतीक्षा एवं समीक्षा करे, साथ ही (धुयमायरेज्ज) ध्रुव-मोक्षमार्ग—संयम या धर्मपथ का भली भाँति आचरण करे।

भावार्थ

जैसे पापकर्मी पुरुष की पूर्वगाथाओं में नरकगति बताई है, इसी प्रकार तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति में जो चातुर्गतिक रूप तथा अनन्त संसार है, (जिसका अंत बहुत ही कठिनता से होता है) तथा उन चारों गतियों या उनमें कृतकर्मों के अनुरूप जो विपाक (फल) प्राप्त होता है, इन सब बातों का पूर्वोक्त रीति से यथार्थ वस्तुस्वरूप वह बुद्धिमान् पुरुष जानकर मरण-काल की प्रतीक्षा और समीक्षा करता हुआ ध्रुवमोक्ष या मोक्ष के कारणभूत संयम का यथार्थ रूप से पालन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

चातुर्गतिकरूप अनन्त संसार का स्वरूप समझो

इस गाथा में अध्ययन की परिसमाप्ति पर नरकगति ही नहीं, शेष तीनों गतियों सहित चारों गतियों और उनके अनुरूप होने वाले कर्मफल के यथार्थ वस्तु-तत्त्व को समझने और मृत्युपर्यन्त इनके चक्कर में न आकर मोक्षप्राप्ति के अनुरूप संयम पालन का उपदेश दिया है।

नरकविभक्ति अध्ययन के सन्दर्भ में नरकगति के अतिरिक्त शेष तीन गतियों में गमन के कारणों और तदनुरूप होने वाले कर्मफलों के यथार्थ स्वरूप को समझने की बात इसलिए कही गई है कि मनुष्य यह समझता है कि ऐसे घोर दुःख तो नरकगति में ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं; परन्तु उसकी यह भ्रान्ति है। अशुभकर्म उदय में आता है तो नरक के अतिरिक्त तिर्यंचगति, मनुष्यगति एवं देवगति में नरक के जैसे दुःख उतनी तीव्र मात्रा में नहीं तो अल्पतीव्र मात्रा भी भोगने पड़ते हैं। तिर्यञ्चगति में परवश होकर कितना दुःख उठाना पड़ता है, यह सर्वविदित है। मनुष्यगति में भी इष्टवियोग, रोग, शोक, पीड़ा, मानसिक वेदना, अपमान, निर्धनता, क्लेश, राज-दण्ड आदि भयंकर दुःखों का साम्राज्य देखा जाता है। और देवगति में भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दुःख, वियोग, नीच जाति के देवों में उत्पत्ति आदि अनेकों दुःख हैं। इसीलिए शास्त्रकार का आशय यह है कि नरकगति में जैसे नारकीय एवं दुःख-मय वातावरण हो सकता है वैसे ही मनुष्यगति, तिर्यंचगति एवं देवगति में भी नार-कीय एवं दुःखमय वातावरण हो सकता है, इसलिए उस भावनरक से बचो, उसके कारणों को समझो और चातुर्गतिक रूप संसार और तदनुरूप मिलने वाले कर्मफल को भी जान लो। संसार का स्वरूप, उसके कारण और तदनुरूप फल के यथार्थ तत्त्व को समझकर जो ध्रुव—मोक्ष है, जहाँ जाने के बाद गमनागमन, जन्ममरण आदि नहीं होता, उसी दिशा में मृत्युपर्यन्त प्रयत्नशील रहे, धर्म या संयम का मोक्षदृष्टि से आचरण करे। संसारदृष्टि को छोड़े। चार गतियों में से नरकगति के चार कारणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। देवगति के सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये ४ कारण हैं; मनुष्यगति के प्रकृतिभद्रता, प्रकृतिविनीतता, जीवदया और किसी से ईर्ष्या न रखना ये ४ कारण हैं; तथा तिर्यंचगति के माया, गूढ़माया, असत्यभाषण और झूठा तोल-माप करना ये ४ कारण शास्त्रों में बताए हैं। इन्हें जानकर साधक संयममार्ग में आने वाले परीषहों और उपसर्गों को भी समभाव से सहने की प्रेरणा ले यह भी इस अध्ययन में नरकदर्शन (विभक्ति) के निरूपण के पीछे रहस्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार पंचम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ नरकविभक्ति नामक पंचम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठा अध्ययन : वीरस्तुति

पाँचवें नरकविभक्ति अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब छठा 'वीर-स्तुति' अध्ययन प्रारम्भ कर रहे हैं। पूर्वोक्त पाँच अध्ययनों के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध यह है कि पहले से लेकर पाँचवें अध्ययन तक विभिन्न पहलुओं से कर्मबन्धन के कारणों तथा कर्मबन्ध से होने वाले तीव्र दुःखदायक फलों का निरूपण किया गया है। कहीं मिथ्यात्व से होने वाले कर्मबन्धों का प्रतिपादन किया गया है, तो कहीं प्रमाद—उपसर्गों के सहन करने में असावधानी से होने वाले कर्मबन्धन का विवेचन है, कहीं अविरति—हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य (स्त्रीसंसर्ग) आदि से होने वाले कर्मबन्धनों और उनके परिणामों खासा अच्छा चित्रण किया गया है, तो कहीं घोर पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले नरक और तज्जनित दुःखों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है। अब इस छठे अध्ययन में इन सब कर्मबन्धनों, उनके करणों—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, स्त्रीसंसर्ग आदि से दूर रहने वाले तथा उपसर्गों और परीषहों के समय चट्टान-से दृढ़ रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, नरक-बन्ध के ही नहीं, चारों गतियों के बन्ध के कारणों से स्वयं दूर रहने वाले तथा जगत् के सभी भव्य जीवों को उस सम्बन्ध में प्रतिबोध देकर दूर रहने के लिए सावधान करने वाले श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के आदर्श जीवन की झाँकी वीरस्तुति के माध्यम से श्री सुधर्मास्वामी दे रहे हैं। इस अध्ययन को प्ररूपित करने का प्रयोजन यह है कि जो साधक कर्मबन्धन के कारणों को समझकर उनसे दूर रहना और कर्मफलों से बचना चाहता है, अपनी आत्मा को शुद्ध संयम या ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप मोक्ष के पथ पर ले जाना चाहता है, उसके सामने एक आदर्श होना चाहिए, ताकि वह उसके सहारे अपने जीवन के चित्र को संयम के विविध रंगों से भर सके। पूर्णता के आदर्श के बिना अपूर्ण साधक का आगे बढ़ना कठिन होता है। अतः उस आदर्श जीवन की झाँकी वीरस्तुति के नाम से प्रस्तुत की जा रही है।

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय—इस अध्ययन का नाम 'वीरस्तुति' है। इसका सिर्फ एक उद्देशक ही है। इस अध्ययन में भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, धर्मपुरुषार्थ आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में श्री जम्बूस्वामी द्वारा उठाए एक प्रश्न का श्री सुधर्मास्वामी द्वारा प्रतिपादित संगोपांग उत्तर है। भगवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर की महत्ता एवं आदर्श का एक बहुत ही सुन्दर एवं उज्ज्वल चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है, उन्हीं के ही एक महान् ज्ञानी एवं संयमी शिष्य श्री गणधर सुधर्मास्वामी के द्वारा। भगवान् महावीर स्वामी का अनुपम धर्म, ज्ञान, दर्शन, शील, कैसा था ? उन्होंने किस प्रकार संसार के प्राणियों के दुखों और उनके कारणों को जानकर अष्टविध कर्मों का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ किया था ? उन्होंने संसार के समस्त प्राणियों के स्वभाव, गति, आगति, जाति, शरीर, कर्म आदि के वास्तविक स्वरूप को कैसे जाना था ? वे कैसे अनन्तज्ञानदर्शन से सम्पन्न बने ? जीवविज्ञान को उन्होंने कैसे हस्तामलकवत् कर लिया था ? अहिंसाधर्म की सिद्धि उन्होंने अनेकान्तवाद द्वारा कैसे की थी ? उनकी अहिंसा कैसी थी ? अपरिग्रह कैसा था ? उनकी विहारचर्या, उनका आचरण, उनकी दिव्यदृष्टि आदि कैसी थी ? कषायों और विषयों से वे किस प्रकार निर्लिप्त थे ? निर्वाणवादियों में, साधुओं में, मुनियों में तपस्वियों में, सुज्ञानियों में, शुक्लध्यानियों में, धर्मोपदेशकों में, अध्यात्मविद्या के पारगामियों में, चारित्रवानों में, प्रभावशालियों आदि में भगवान् महावीर किस प्रकार से श्रेष्ठ और अग्रणी थे ? श्रेष्ठता के लिए सुमेरु, सुदर्शन, स्वयंभूरमण सागर, देवेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शंख आदि संसार की सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली वस्तुओं से उपमा दी गई है। साथ ही लोकोत्तम श्रमणश्रेष्ठ भगवान् महावीर की निश्चलता, क्षमा, दया, शील, श्रुत, तप, ज्ञान, कषायविजय, पापमुक्तता, वाद-विजयित्व, त्याग, ममत्व और वासना पर विजय आदि उत्तमोत्तम गुणों का निरूपण किया गया है।

कई लोग पूछते हैं—भगवान् की स्तुति करने से या नाम-स्मरण से क्या लाभ है ? पापक्षय कैसे हो जाता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस समय किसी व्यक्ति का नाम लिया जाता है, उस समय फौरन उसकी आकृति, प्रकृति, गुण, और विशेषता आदि का भी स्मरण हो आता है। जिससे महापुरुषों की स्तुति करते ही व्यक्ति के सामने उनकी विशेषता, उनके विशिष्ट गुणों का प्रकाश साकार-सा हो जाता है और व्यक्ति के अन्धकारमय जीवन में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें फैलती हैं। महापुरुषों की स्तुति चित्त की चिर मलिनता को धोकर साफ कर देती है। जैसे कसाई का नाम लेते ही व्यक्ति के मानसचक्षुओं में एक ऐसे निम्नस्तरीय पापी व्यक्ति का चित्र अंकित हो जाता है, जिसके लाल-लाल नेत्र हैं, हाथ में छुरा है, कालाकलूटा शरीर है, भयंकर निर्दय स्वभाव है। वेश्या का नाम लेते ही स्मृतिपटल पर एक भोगी, विलासी कामिनी, नारी की प्रतिमूर्ति अंकित हो जाती है। किसी पवित्र आत्मा, विशिष्ट त्यागी, सद्गुणी सन्त या सद्गृहस्थ का नाम लेते ही मानस किन्हीं अलौकिक भावों में बहने लगता है। इसी प्रकार भगवान् के यथार्थ गुणनिष्पन्न नाम के लेते ही या उनकी स्तुति या गुणानुवाद करते ही सहसा हृदय में उनके दिव्य रूप और लोकोत्तर गुणों की छवि अंकित हो जाती है, उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषताएँ स्मृतिपथ पर आ जाती हैं। भगवान् के नामस्मरण से भक्तहृदय अनायास ही भगवान् में तन्मय होने लगता है, साधक एवं भक्त को उपसर्गों, परीषहों, कष्टों एवं त्याग-तप में टिके रहने का अपूर्व बल मिलता है। उनके आदर्श चरित्र से महान् प्रेरणा मिलती है। भला प्रभुमय या भगवत्प्रेम से भरे निर्मल हृदय में पाप-ताप को टिकने का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है? जन्म-जन्मान्तर के पाप-तापों का शमन करने के लिए वीरस्तुति अमोघ औषधि है। वीरप्रभु की स्तुति एवं गुणोत्कीर्तन साधक एवं भक्त की सुषुप्त सद्वृत्ति-प्रवृत्तियों को सहसा उद्बुद्ध कर देती है।

इन्हीं उद्देश्यों को लेकर वीरस्तुति की श्री सुधर्मास्वामीकृत रचना शास्त्रकार ने छठे अध्ययन के रूप में प्रस्तुत की है।

वीर और स्तुति शब्द के निक्षेपार्थ— वीर शब्द के द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के भेद से चार निक्षेप होते हैं। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यवीर वह है, जो द्रव्य के लिए युद्ध आदि में अद्भुत कौशल दिखाता है। अथवा जो वीर्यवान् द्रव्य हो, वह भी द्रव्यवीर के अन्तर्गत माना जाता है। जैसे तीर्थंकर अनन्तबल-वीर्य से युक्त होते हैं, वे लोक को गेंद की तरह अलोक में फैंकने में समर्थ हैं। वे मन्दराचल को दण्ड बनाकर उस पर रत्नप्रभा पृथ्वी को छत्र के समान धारण कर सकते हैं। चक्रवर्ती भी बलवीर्य में सामान्य मनुष्यों या राजाओं से बढ़कर होते हैं इसलिए उन्हें भी द्रव्यवीर कहा जा सकता है। क्षेत्रवीर वह है, जो अपने क्षेत्र में अद्भुत पराक्रम दिखाता है या वीर कहलाता है, इसी प्रकार कालवीर वह है, जो अपने युग में— अपने समय में अद्भुत पराक्रमशाली होता। अथवा काल (मृत्यु) पर विजय पा लेता है, उसे भी कालवीर कहा जा सकता है। भाववीर वह है, जिसकी आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रियविषयों, तथा परीषह, उपसर्ग आदि से पराजित नहीं हुई है। जैसे कि आगमों में कहा है --

कोहं माणं च मायं च लोभं पंचेंदियाणि य।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं॥
जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमोजओ॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ और पाँचों इन्द्रियाँ, ये दुर्जय हैं। इसलिए एकमात्र आत्मा को जीत लेने पर सब जीत लिये जाते हैं। जो पुरुष अकेला ही युद्ध में लाखों दुर्जय सुभटों को जीत लेता है, उससे भी बढ़कर विजयी वह है, जो एक अपनी आत्मा को जीत लेता है। और भी कहा है—

एक्को परिभमउ जए वियडं जिणकेसरी सलीलाए।
कंदप्पदुट्ठदाढो मयणो विड्डारियो जेणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—इस जगत् में एकमात्र जिनसिंह ही अपनी विकट चाल से भ्रमण कर सकते हैं, जिन्होंने अपनी लीला से कामरूप तीक्ष्णदाढ़ वाले मदन (काम को) चीर डाला है।

इस अध्ययन में अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों और उपसर्गों से अपराजित तथा त्याग, तपस्या, चारित्र, ज्ञान, दर्शन में अद्भुत पराक्रम के कारण भगवान् महावीर स्वामी की ही आध्यात्मिक वीरता के कारण यहाँ भाववीर से विवक्षित हैं।

स्तुति के भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नाम, स्थापना सुगम है। ज्ञशरीर एवं भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यस्तुति वह है जो कटक, केयूर, पुष्पमाला, चन्दन आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यों द्वारा की जाती है। भावस्तुति वह है--- जो विद्यमान गुणों का (यानी जिसमें जो गुण मौजूद हैं, उनका) कीर्तन, गुणानुवाद किया जाता है। यहाँ वीरस्तुति में वीरप्रभु की भावस्तुति ही विवक्षित है।

अतः निक्षेप आदि के बाद अब वीरस्तुति की गाथाएँ क्रमशः प्रारम्भ करते हैं---

मूल पाठ

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिया य।
से केइ णेगंत हियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु-समिक्खयाए ॥१॥

संस्कृत छाया

अप्राक्षुः श्रमणाः ब्राह्मणाश्च, अगारिणो ये परतीर्थिकाश्च।
स क एकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृशं साधुसमीक्षया ॥१॥

अन्वयार्थ

(**समणा य माहणा**) श्रमण और ब्राह्मण, (**अगारिणो**) क्षत्रिय आदि सद्-गृहस्थ, (**परतित्थिया य**) अन्यतीर्थिक शाक्य आदि ने पूछा कि (**स केइ**) वह कौन है? जिसने (**णेगंतहियं**) एकान्त हितरूप (**अणेलिसं**) अनुपम (**धम्मं**) धर्म (**साहु समिक्खयाए**) अच्छी तरह विचार कर (**आहु**) कहा है।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी ने गुरुदेव सुधर्मास्वामी गणधर से पूछा—"भगवन्! मुझसे प्रायः श्रमण-साधु, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ एवं बौद्ध आदि अन्य मतों के मानने वाले सज्जन प्रश्न किया करते हैं कि जिन्होंने अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा स्वतंत्र रूप से अच्छी तरह निश्चय कर विश्व का एकान्तरूप से कल्याण करने वाले अनुपम धर्म (अहिंसा आदि) का कथन किया है, वे महापुरुष कौन हैं? कैसे हैं?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

विश्व हितंकर अनुपम धर्म का प्ररूपक कौन ?

इस गाथा में श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरु श्री सुधर्मा स्वामी से अनुपम धर्म के प्रतिपादक के सम्बन्ध में पूछा गया प्रश्न अंकित किया गया है। अथवा इस शास्त्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में कहा गया है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए। पूर्व अध्ययनों में उपसर्गपरिज्ञा, स्त्रीपरिज्ञा तथा नरकविभक्ति आदि का जो वर्णन है, उसे सुनकर जन्म-मरण के भय से उद्विग्न पुरुषों ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा—इस अनुपम धर्म का बोध किसने दिया ?

वास्तव में जब श्री जम्बूस्वामी से श्रमण, ब्राह्मण आदि ने भगवान् महावीर स्वामी की विशेषताओं के सम्बन्ध में पूछा होगा, तभी उन्होंने सुधर्मास्वामी के सामने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की होगी कि श्रमण निर्ग्रन्थ आदि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि के अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले एवं आगारी अर्थात् क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ तथा बौद्ध आदि परमतवादी कई सज्जनों ने मुझसे पूछा है कि यह महापुरुष कौन हैं, कैसे हैं, जिन्होंने दुर्गति में गिरते हुए जीव को धारण करने में समर्थ एकान्त विश्व हितंकर अनुपम अहिंसादि धर्म का प्रतिपादन पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करके या समत्वदृष्टिपूर्वक किया है ?

इसी से सम्बन्धित अन्य प्रश्नमाला अगली गाथा में प्रस्तुत की जाती है—

मूल पाठ

कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसी ?।
जाणासि णं भिक्खू जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

संस्कृत छाया

कथं च ज्ञानं, कथं दर्शन तस्यः शीलं कथं ज्ञातसुतस्य आसीत् ?
जानासि खलु भिक्षो ! याथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथा निशान्तम् ॥२॥

अन्वयार्थ

(**से नायसुतस्स**) उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी का (**णाणं**) ज्ञान (**कहं**) कैसा था ? तथा (**कह दंसणं**) उनका दर्शन कैसा था ? (**सीलं कहं आसी ?**) तथा उनका शील यानी यम-नियम का आचरण कैसा था ? (**भिक्खू**) हे मुनिवर ! (**जहातहेणं जाणासि**) आप इसे यथार्थरूप से जानते हैं, इसलिए (**अहासुतं**) जैसा आपने सुना है, (**जहा णिसंतं**) जैसा निश्चय किया है, (**बूहि**) वैसा हमें कहिए।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी ने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से पुनः प्रार्थना की—"गुरुदेव ! ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के सम्बन्ध में आप खूब अच्छी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से जानते हैं। अतः यह बताने का अनुग्रह कीजिए कि उन ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था? दर्शन कैसा था? और शील-आचार कैसा था? आपने जैसा सुना और जैसा निश्चय किया हो, तदनुसार बताने की कृपा करें।"

व्याख्या

भगवान् महावीर के ज्ञान, दर्शन, शील के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न

इस गाथा में पुनः भगवान् महावीर स्वामी के गुणों के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है कि भगवान महावीर स्वामी ने इतना ज्ञान —विशुद्ध ज्ञान कहाँ से और कैसे-कैसे प्राप्त किया था? अथवा भगवान् महावीर का ज्ञान यानी विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध कैसा था? तथा उनका दर्शन—विश्व के समस्त चराचर सजीव-निर्जीव पदार्थों को देखने, उनकी यथार्थ वस्तुस्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि कैसी थी? अथवा सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला उनका दर्शन कैसा था? यम-नियम या व्रतनियम रूप उनका शील—सदाचार कैसा था? ज्ञातृवंशीय क्षत्रियपुत्र भगवान् महावीर स्वामी के ये सब कैसे थे? हे स्वामिन्! मैंने जो पूछा है, उस सम्बन्ध में आप यथार्थरूप से जानते हैं। अतः आपने जैसा भी सुना है, जो भी उनके बारे में निर्णय किया है, वह सब मुझे विस्तार से कहिए, ताकि मैं तथा अन्य साधक भी उनके आदर्श को जान सकें।

मूल पाठ

खेयन्नए से कुसले महेसी[1], अणंतनाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥

संस्कृत छाया

खेदज्ञः स कुशलो महाऋषिः, अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनश्चक्षुपथे स्थितस्य, जानासि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥३॥

अन्वयार्थ

(**से खेयन्नए**) वे ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी संसार के प्राणियों का दुःख जानते थे। (**कुसले**) कर्मों को उखाड़ फैंकने में कुशल थे, (**महेसी**) महान् ऋषि थे —सच्चिदानन्दमय सत्यस्वरूप के द्रष्टा थे अथवा (**आसुपन्ने**) उनका उपयोग सदा सर्वत्र लगा रहता था। (**अणंतनाणी य अणंतदंसी**) अनन्तज्ञानी—सर्वज्ञ और अनन्तदर्शी—सर्वदर्शी थे। (**जसंसिणो**) अक्षय यशवाले थे। (**चक्खुपहे ठियस्स**) उन जनता के नयनपथ में स्थित अर्थात् जनता की आँखों में बसे हुए अथवा जिनका

---

१. कहीं-कहीं 'कुसले महेसी' के बदले 'कुसलासुपन्ने' पाठ भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागमय जीवन जनता की आँखों के समक्ष स्पष्ट खुला था, उन भगवान् महावीर के **(धम्मं च)** धर्म—स्वभाव को या श्रुतचारित्ररूप धर्म को **(जाणाहि)** तुम जानो तथा **(धिइं च)** धर्मपालन में उनकी दृढ़ता-धीरता को **(पेहि)** देखो।

भावार्थ

आर्य जम्बूस्वामी के प्रश्न पर श्रीसुधर्मास्वामी ने उत्तर दिया—भगवान महावीर स्वामी संसारी जीवों के वास्तविक दुःखों के स्वरूप को जानते थे, क्योंकि उन्होंने उस कर्मविपाकजनित दुःख के निवारण का यथार्थ उपदेश दिया था। अष्टविध कर्मरूपी कुश को उखाड़ने में निपुण थे। सदा सर्वत्र उनका उपयोग लगा रहता था तथा वे महान् ऋषि थे अर्थात् आत्मा के सच्चिदानन्द सत्यस्वरूप के द्रष्टा थे। अनन्तपदार्थों के वे ज्ञाता-द्रष्टा थे। वे अधिक और अक्षय यशस्वी थे। भवस्थ केवली अवस्था में जनता के नयनपथ में स्थित थे। उन भगवान् की महत्ता को जानने के लिए उनके जनकल्याणकारी श्रुत-चारित्ररूप धर्म या स्वभाव को जानो, तथा उनके संयम की अखण्ड दृढ़ता (धीरता) को देखो।

व्याख्या

ऐसे भगवान् की महत्ता को जानने हेतु उनके धर्म व धैर्य को देखो

इस गाथा में पूर्वगाथा में जम्बूस्वामी द्वारा उपस्थित प्रश्नों का श्री सुधर्मास्वामी द्वारा उत्तरित, कुछ समाधान प्रस्तुत किये गए हैं। साथ ही यह बात बता दी गई कि अगर भगवान् के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो, और यह पता लगाना चाहते हो कि वे कौन थे, क्या थे, किन विशेषताओं से युक्त थे? तो उनके द्वारा प्ररूपित जनकल्याणकारी श्रुत-चारित्ररूप धर्म को या उनके स्वभाव को जानो तथा परीषहों-उपसर्गों को सहने में उनकी धीरता-संयम में दृढ़ता देखो। भगवान् महावीर स्वामी की विशेषताओं को बताने के लिए यहाँ कुछ विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे ये हैं—**'खेयन्नए, कुसले, आसुपन्ने, महेसी, असंसिणो, चक्खुपहे ठियस्स।'** इनके विशिष्ट अर्थों पर विचार कर लेना आवश्यक है। **'खेयन्नए'** के दो रूप होते हैं—खेदज्ञः और क्षेत्रज्ञः। खेदज्ञ का एक अर्थ तो हम पहले कर चुके हैं। चौंतीस अतिशय के धारक भगवान् महावीर स्वामी संसारी प्राणियों के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले खेद—दुःख को जानते थे, क्योंकि उनके दुःख मिटाने का वे समर्थ उपदेश देते थे। अथवा भगवान् क्षेत्रज्ञ थे, यानी क्षेत्र का अर्थ होता है—आत्मा, उसके यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता होने के कारण वे क्षेत्रज्ञ थे। अथवा क्षेत्र का अर्थ आकाश भी होता है, अर्थात् वे लोकरूप और अलोकरूप दोनों आकाशों के स्वरूप को भली भाँति जानते थे। भगवान् कुशल थे, यानी आठ प्रकार के कर्मरूपी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावकुशों को छेदन करने में कुशल थे। भगवान् प्राणियों के कर्मरूपी भावकुशों को काटने में भी निपुण होने से कुशल थे। शीघ्रबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति आशुप्रज्ञ कहलाता है। भगवान् आशुप्रज्ञ थे, क्योंकि उनका उपयोग सदा-सर्वदा सर्वत्र लगा रहता था, वे छद्मस्थ की तरह सोचकर या उपयोग लगाकर नहीं जानते थे। भगवान् महर्षि थे, अर्थात् अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने से तथा अतुल परीषहों और उपसर्गों को सहन करने के कारण महर्षि थे। अथवा सच्चिदानन्दमय सत्यस्वरूप के या जीवन के अभ्युदय के मंत्रों के द्रष्टा होने के कारण भी वे महर्षि थे। वे अनन्तज्ञानी इसलिए थे कि उनका विशेष ग्राहक ज्ञान अन्त (क्षय) रहित था। अथवा उनका ज्ञान अनन्तपदार्थों का निश्चय करने वाला होने से वे अनन्तज्ञानी थे। सामान्य अर्थ का निश्चय करने के कारण वे अनन्तदर्शी थे। भगवान् का यश मनुष्य, देवता एवं असुरों से बढ़कर था, इसलिए ने यशस्वी थे। तथा भवस्थ केवली अवस्था में वे जगत् के नयनपथ में स्थित थे। अथवा जगत् के सामने सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों को प्रकट करने के कारण वे जगत् नेत्रस्वरूप थे। अथवा वे आँखों के समान हिताहित पथ को दिखाने में स्थित—संलग्न रहते थे।

ऐसे भगवान् के धर्म को अर्थात् संसार का उद्धार करने के स्वभाव को अथवा उनके द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म को जानो-समझो। उपसर्गों एवं परीषहों के द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी निष्कंप चारित्र से अविचल स्वभावरूप उनकी धृति—दृढ़ता को या संयम में प्रीति को देखो, अपनी पैनी बुद्धि से उस पर विचार करो।

अथवा '**जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि**' का यह अर्थ भी होता है कि उन्हीं श्रमण इत्यादि सज्जनों ने श्रीसुधर्मास्वामी से पूछा कि 'यशस्वी और जगत् की आँखों में बसे हुए भगवान महावीर स्वामी के धर्म और धैर्य को आप जानते हैं, अतः हमसे इन सब के बारे में कहें।'

मूल पाठ

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चऽणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥

संस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्रज्ञो, दीप इव धर्मं समितमुदाह ॥४॥

अन्वयार्थ

(**उड्ढं**) ऊपर, (**अहेयं**) नीची और (**तिरियं दिसासु**) तिरछी दिशाओं में रहने वाले (**तसा य जे थावरा जे य पाणा**) जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें (**णिच्चाऽणिच्चेहिं**) जीवस्वरूप द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय—परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य दोनों प्रकार का (**समिक्ख**) जानकर (**से पन्ने**) उन महाप्राज्ञ केवलज्ञानी प्रभु ने (**दीवे व समियं धम्मं उदाहु**) दीपक के समान सम्यक्धर्म का कथन किया था।

भावार्थ

भगवान् महावीर ने ऊपर, नीचे और तिरछे तीनों लोकों में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उन सबको द्रव्य को दृष्टि से नित्य और पर्याय (स्वर्ग, नरक और मनुष्य आदि रूप में परिवर्तन) की दृष्टि से अनित्य केवलज्ञान से सांगोपांग जानकर संसार सागर से पार करने में समर्थ श्रुत-चारित्ररूप धर्म को दीपक के समान पदार्थों को सम्यक् प्रकाशित करने वाला बताया है।

व्याख्या

जीव के नित्यानित्य स्वरूप और धर्म का कथन

श्री सुधर्मास्वामी इस गाथा से भगवान् महावीर स्वामी के गुणों का वर्णन आरम्भ करते हैं—ऊपर, नीचे और तिरछे चौदह रज्जु ऊँचे इस समग्र लोक में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप जो त्रस प्राणी हैं, तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिरूप जो एकेन्द्रिय स्थावर प्राणी हैं। भगवान् केवल-ज्ञानी होने से समस्त प्राणियों को जानते हैं। प्रज्ञ यानी प्राज्ञ हैं। अतः केवलज्ञान के प्रकाश में द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों का सापेक्षदृष्टि—अनेकान्तवाद से आश्रय लेकर उन्हें नित्य और अनित्य[1] दोनों प्रकार का भलीभांति जानकर प्राणियों को समस्त पदार्थों का स्वरूप बताने के कारण दीपक की तरह अथवा संसार-समुद्र में पड़े हुए जीवों को सदुपदेश देने से उनके लिए आश्वासन का कारण होने से भगवान द्वीप की तरह हैं। ऐसे भगवान् ने श्रुतचारित्ररूप धर्म को उत्तम अनुष्ठान-युक्त या रागद्वेषमुक्त होकर या समभाव के साथ कहा था अर्थात् आचारांग सूत्र के '**जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ**' वचन के अनुसार भगवान् ने पुण्यवान्

---

१. जैनधर्म आत्मा को नित्य और अनित्य उभयात्मक मानता है। जीवस्वरूप द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य हैं क्योंकि मूलस्वरूप से आत्मा का कभी नाश नहीं होता। लेकिन पर्याय – परिवर्तन की दृष्टि से आत्मा अनित्य भी है। आत्मा मनुष्य पशु आदि के शरीर के नाश की दृष्टि से अनित्य है। यही जैनधर्म का अनेकान्तवाद है। इसलिए न तो वेदान्त या सांख्य के अनुसार आत्मा को कूटस्थनित्य मानना चाहिए और न ही बौद्धदर्शन की तरह आत्मा को एकान्त, अनित्य, क्षणभंगुर ही मानना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अपुण्यवान्, सभी पर कृपा करके धर्म का कथन किया है, पूजासत्कार के लिए नहीं। अथवा धर्म ही द्वीप की तरह है, क्योंकि वह संसार समुद्र में समान भाव से आश्रय देने वाला है। अथवा धर्म दीप के समान है, क्योंकि यह अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों को दीपक के समान प्रकाश देता है।

मूल पाठ

से सव्वदंसी अभिभूयनाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

संस्कृत छाया

स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी निरामगंधो धृतिमांस्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगत्सु विद्वान, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥५॥

अन्वयार्थ

(**से**) वे भगवान महावीर स्वामी (**सव्वदंसी**) समस्त पदार्थों को देखने वाले (**अभिभूयनाणी**) केवलज्ञानी, (**णिरामगंधे**) मूल और उत्तर गुणों से विशुद्ध चारित्र के पालक (**धिइमं**) धृतियुक्त, (**ठियप्पा**) आत्मस्वरूप में स्थित थे। (**सव्वजगंसि**) सारे जगत् में वे (**अणुत्तरे विज्जं**) सर्वोत्तम विद्वान् थे। (**गंथा अतीते अभए अणाऊ**) वे बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से रहित, निर्भय और आयुरहित थे।

भावार्थ

भगवान् महावीर त्रिकालवर्ती सब पदार्थों के ज्ञाता और द्रष्टा थे। वे कामक्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को जीतकर केवलज्ञानी बने थे। वे निर्दोष चारित्रपालक थे, अटल धीर पुरुष थे, अपने आत्मस्वरूप में स्थिरभाव से लीन थे। अर्थात् स्थितप्रज्ञ एवं निर्विकार शुद्धात्मा थे। समग्र लोक में अध्यात्मविद्या के सर्वोत्तम पारंगत विद्वान् थे। सर्वथा परिग्रह के त्यागी थे, निर्भय थे, सदा के लिए जन्म-मृत्यु पर विजय पाने के कारण अजर-अमर अनायु हो गए थे। उन्होंने पुनर्जन्म के लिए फिर से आयुष्य का बन्ध नहीं किया था।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की विशेषताएँ

इस गाथा में भगवान् महावीर की विशेषताओं का निरूपण विभिन्न पदों द्वारा किया गया है—सर्वदर्शी, अभिभूयज्ञानी, निरामगन्ध, धृतिमान्, स्थितात्मा, सर्वजगत्सु अनुत्तरो विद्वान्, ग्रन्थातीत, अभय और अनायु। वे सर्वदर्शी इसलिए थे कि स्वभाव से ही चराचर जगत् के सामान्यरूप से द्रष्टा थे। मति आदि चार ज्ञानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पराजित करके रहने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। भगवान् उससे युक्त थे, इसलिए उन्हें अभिभूय ज्ञानी कहा है। भगवान् के सविशुद्धकोटि और अविशुद्ध-कोटिरूप दोनों ही प्रकार के गन्ध—दोष हट गए थे, इसलिए निराम-गन्ध थे। अर्थात् उन्होंने मूल—उत्तर गुणों से शुद्ध चारित्रक्रिया का पालन किया था। तथा असह्य परीषहों और उपसर्गों की पीड़ा प्राप्त होने पर श्री भगवान् कम्परहित होकर चारित्र में दृढ़ थे। तथा कर्मोपाधि हट जाने से वे कर्मरहित शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित थे। सारे संसार में भगवान् से बढ़कर हस्तामलकवत् जगत् के पदार्थों को जानने वाला और कोई विद्वान नहीं था। भगवान् सचित्तादिरूप बाह्य ग्रन्थ और कर्मरूप आभ्यन्तर ग्रन्थ से अतीत—निर्ग्रन्थ थे। वे इहलोकभय आदि ७ प्रकार के भयों से रहित थे। भगवान् के (वर्तमान आयु के सिवाय) चारों प्रकार की आयु नहीं थी, क्योंकि कर्मरूपी बीज के जल जाने पर फिर उनकी उत्पत्ति असम्भव है। इसीलिए भगवान् को यहाँ अनायु कहा गया है। उन्होंने सदा-सदा के लिए जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि पर विजय प्राप्त कर ली थी। इन सब विशेषताओं से युक्त ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर थे।

मूल पाठ

से भूइपण्णे अणिएअचारी ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

संस्कृत छाया

स भूतिप्रज्ञोऽनिकेतचारी (अनियताचारी) ओघन्तरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ॥६॥

अन्वयार्थ

(**से**) वे भगवान् महावीर स्वामी (**भूइपण्णे**) अनन्तज्ञानी अथवा सर्वमंगल-रूप प्रज्ञासम्पन्न, (**अणिएअचारी**) गृहप्रतिबन्धरहित या अप्रतिबद्धरूप विचरण करने वाले या अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र विचरणशील (**ओहंतरे**) संसार समुद्र को पार करने वाले (**धीरे**) विशाल बुद्धि से सुशोभित, (**अणंतचक्खू**) अनन्तदर्शी व अनन्त-ज्ञानी थे। (**सुरिए वा**) जैसे सूर्य (**अणुत्तरे तप्पइ**) सबसे अधिक तपता है, वैसे ही सबसे अधिक उत्कृष्ट तप करते थे, (**वइरोयणिंदे व तमं पगासे**) प्रकाशमान अग्नि जैसे अन्धकार को दूर करके प्रकाश करती है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार को दूर कर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

भावार्थ

भगवान् की प्रज्ञा विश्वमंगलकारिणी थी, उनका विहार सब प्रकार के गृह या सांसारिक प्रतिबन्धों से रहित था, वे संसार समुद्र को तैरने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे, सब प्रकार के उपसर्गों और परीषहों को समभाव से सहन करने में धीर थे। सूर्य जैसे सबसे अधिक तपता है, वैसे ही वे उत्कृष्ट तप करने वाले थे, या सूर्य के समान अखण्ड तेजस्वी थे। वैरोचन इन्द्र या प्रचण्ड वैरोचन अग्नि के समान अज्ञानान्धकार नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश करते थे।

व्याख्या

भगवान् महावीर के विशिष्ट गुण

भगवान् महावीर भूतिप्रज्ञ थे। भूति शब्द वृद्धि, रक्षा और मंगल अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए यहाँ भूतिप्रज्ञ के तीन अर्थ सम्भव हैं (१) बड़ी हुई प्रज्ञा वाले—अनन्तज्ञानवान्, (२) जगत की रक्षा में तत्पर प्रज्ञा से सम्पन्न तथा (३) विश्व-मंगलकारिणी प्रज्ञा से युक्त। भगवान् अनिकेतचारी या अनियतचारी थे। अर्थात् गृहादि प्रतिबन्धों को छोड़कर विचरण करते थे, अथवा समस्त सांसारिक प्रतिबन्धों से रहित उनका गमन—विहार था यानी वे अप्रतिबद्धविहारी तथा अनियत स्थान पर विचरणशील थे। संसार समुद्र के ओघ—प्रवाह को तैरने वाले थे। वे उत्तम बुद्धि से विभूषित थे या परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करने में धीर थे। भगवान् अनन्तचक्षु थे, अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता होने के कारण अथवा ज्ञान की नित्यता के कारण उनका केवलज्ञान चक्षु था, अथवा भगवान् का ज्ञान लोक के अनन्त पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण चक्षुभूत होने से से अनन्तचक्षु थे। जैसे संसार में सूर्य सबसे अधिक तपता है, उसी प्रकार भगवान् संसार में सर्वाधिक या सर्वोत्कृष्ट तप करने वाले थे, अथवा ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट थे। जैसे प्रज्वलित होने के कारण इन्द्रस्वरूप अग्नि अथवा वैरोचन नामक इन्द्र अन्धकार को मिटाकर प्रकाश फैलाता है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार को दूर करके पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते थे।

इस प्रकार भगवान् महावीर अनेक उत्तमोत्तम गुणों से विभूषित थे।

मूल पाठ

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥

संस्कृत छाया

अनुत्तरं धर्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः, सहस्रनेता दिवि खलु विशिष्टः ॥७॥

अन्वयार्थ

(आसुपन्ने) सर्वत्र सर्वदा उपयोगसम्पन्न प्रज्ञावान्, (कासव) काश्यपगोत्रीय (मुणी) मननशील मुनि, श्री वर्द्धमान स्वामी (जिणाणं) ऋषभ आदि जिनेश्वरों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**इणं**) इस (**अणुत्तरं**) सबसे प्रधान (**धम्मं**) धर्म के (**णेया**) नेता थे (**दिवि**) जैसे देवलोक में (**सहस्स देवाण**) हजारों देवों का (**इंदेव**) इन्द्र नेता (**महाणुभावे विसिट्ठे**) और अधिक विशिष्ट प्रभावशाली है, वैसे ही भगवान् सारे जगत् में विशिष्ट प्रभावशाली थे।

भावार्थ

सर्वत्र सदैव सतत उपयोगसम्पन्न प्रज्ञावान काश्यप वंश के तेजस्वी सूर्य, मननशील मुनि श्रमण भगवान् महावीर ऋषभ आदि जिनवरों के द्वारा प्रचलित इस श्रेष्ठ अहिंसादि या सूत्रचारित्ररूप धर्म के महान् नेता थे। स्वर्गलोक में जिस प्रकार इन्द्र असंख्य (सहस्रों) देवों पर नेतृत्व करता है, वैसे ही वीरप्रभु भी अपने युग के एक मात्र सर्वप्रधान विशिष्ट प्रभावशाली धर्मनेता थे, अथवा धर्म साधना करने वाले साधकों के पथप्रदर्शक नेता थे।

व्याख्या

भगवान् महावीर धर्मनेता और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे

इस गाथा में भगवान् महावीर कैसे धर्मनेता थे? किस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ प्रभावशाली पुरुष थे? यह उपमाओं द्वारा समझाया गया है। भगवान् महावीर के लिए यहाँ तीन विशेषणों का प्रयोग करके उनके धर्मनेतृत्व गुण का औचित्य सिद्ध किया गया है। वे हैं—**मुणी, कासव, आसुपन्ने**। जो तीनों लोकों के समस्त तत्त्वों पर मनन-चिन्तन-विचार करते हैं, वे मुनि होते हैं। इस प्रकार भगवान् मुनिश्रेष्ठ थे। फिर वे काश्यपवंश के उज्ज्वल सूर्य थे। काश्यप सूर्य को भी कहते हैं, सूर्यसम नृवंश को भी प्रबुद्ध करने वाले सूर्य थे। तीसरा विशेषण आशुप्रज्ञ है, जिसका यहाँ विवक्षित अर्थ है—सदैव सर्वत्र सतत ज्ञानोपयोगसम्पन्न प्राज्ञ। धर्मनेता में ये तीनों विशिष्ट गुण आवश्यक हैं। यही कारण है कि सुधर्मा स्वामी की दृष्टि में भगवान् महावीर ऋषभ आदि पूर्वतीर्थंकरों द्वारा प्रचलित इस सर्वोत्तम अहिंसादि या सूत्रचारित्र रूप धर्म के नेता जच गए थे। कैसे नेता थे वे? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**इंदेव देवाण दिविणं विसिट्ठे**' अर्थात्—जैसे देवलोक में इन्द्र हजारों देवों का नेता होता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी धर्मसाधकों के विशिष्ट प्रभावशाली नेता थे। संक्षेप में भगवान् महावीर धर्मनेता, रूप, बल, वंश और वर्ण आदि में सर्वप्रधान, सबसे विशिष्ट, सबसे अधिक प्रभावशाली और सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे।

मूल पाठ

से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वावि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवइ जुइमं ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागर इव महोदधिरिवाऽपि अनन्तपारः ।
अनाविलो वा अकषायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

अन्वयार्थ

(**से**) वे भगवान् महावीर स्वामी (**सागरे वा**) समुद्र के समान (**पन्नया**) प्रज्ञा से (**अक्खय**) अक्षय थे। (**महोदही वावि अणंतपारे**) अथवा वे स्वयम्भूरमण समुद्र के समान अपार प्रज्ञा वाले थे। (**अणाइले वा**) जैसे समुद्र का जल निर्मल होता है, उसी तरह भगवान् की प्रज्ञा निर्मल थी, (**अकसाइ मुक्के**) वे कषायों से रहित और मुक्त—रागद्वेषमुक्त थे। (**सक्केव देवाहिवइ**) जैसे देवों का अधिपति इन्द्र होता है, वह तेजस्वी होता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी दिव्यगुणसम्पन्न साधकों के अधिपति तथा बड़े तेजस्वी थे।

व्याख्या

अक्षय, अपार और निर्मल प्रज्ञा से सम्पन्न वीरप्रभु !

इस गाथा में बताया गया है कि भगवान् समुद्र के समान अक्षय प्रज्ञासम्पन्न थे। जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र अपार एवं निर्मल है, उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी की प्रज्ञा का भी कोई पार नहीं था, वह निर्मल थी। जो पदार्थ जानने योग्य हैं, उसमें भगवान् की बुद्धि कभी क्षय को प्राप्त नहीं होती थी, न वह किसी के द्वारा रोकी (प्रतिहत की) जा सकती थी। वस्तुतः भगवान् की इस प्रज्ञा का नाम केवलज्ञान है, जो काल से आदि अनन्त है। द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी अनन्त एवं अक्षय है। यह अन्त-रहित है। वैसे तो भगवान् अनुपम थे। संसार के किसी भी पदार्थ से उनकी उपमा नहीं दी जा सकती। सम्पूर्ण तुल्यता का दृष्टान्त नहीं मिलता। फिर भी शास्त्रकार भगवान् का परिचय देने की दृष्टि से एकदेशीय दृष्टान्त देकर समझाते हैं—'**से पन्नया''''देवाहिवइ जुइमं।**' अर्थात्—जैसे समुद्र अक्षय जल से युक्त होता है, वैसे ही भगवान् भी प्रज्ञा (ज्ञान) से अक्षय थे। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र अपार, विस्तृत, गम्भीर जल वाला तथा अक्षोभ्य होता है, भगवान की प्रज्ञा भी अपार, विस्तृत उस समुद्र से भी अनन्तगुण गम्भीर और क्षुब्ध न होने वाली थी। इस समुद्र का जल जैसे निर्मल होता है, वैसे ही भगवान् का ज्ञान भी कर्म का लेश न होने के कारण निर्मल था। भगवान अकषायी थे, क्योंकि वे चारों कषायों से सर्वथा रहित थे। भगवान् रागद्वेष या वासनाजन्य ज्ञानावरणीय आदि घातीकर्मों के नष्ट हो जाने से मुक्त थे। कहीं-कहीं '**भिक्खू**' पाठ भी '**मुक्के**' के बदले मिलता है, उसका अर्थ यह है कि यद्यपि भगवान् के सब अन्तराय नष्ट हो चुके थे, तथा वे समस्त जगत् के पूज्य थे, तथापि वे भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन निर्वाह करते थे। वे अक्षीणमहानसादि लब्धि का उपयोग नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते थे। तथा देवताओं के अधिपति इन्द्र की तरह वे साधकों के अधिपति एवं तेजस्वी थे।

मूल पाठ

से वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥९॥

संस्कृत छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः।
सुरालयो वासिमुदाकरः विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥९॥

अन्वयार्थ

(**से**) वे भगवान महावीर स्वामी (**वीरिएणं**) वीर्य से (**पडिपुण्णवीरिए**) पूर्ण वीर्य-सम्पन्न हैं (**सुदंसणेव नगसव्वसेट्ठे**) तथा समस्त पर्वतों में सुदर्शन—सुमेरु-पर्वत के समान सर्वश्रेष्ठ हैं। (**वासिमुदागरे सुरालए**) निवास करने वालों को हर्ष उत्पन्न करने वाले स्वर्ग के समान, (**से**) वे वीरप्रभु (**णेगगुणोववेए विरायए**) अनेक गुणों से युक्त होकर सुशोभित हैं।

भावार्थ

वीर्यान्तराय कर्म का क्षय करने से वे भगवान् महावीर परिपूर्ण वीर्य (शक्ति) से सम्पन्न थे। जिस प्रकार सुदर्शन (सुमेरु) पर्वत संसार के सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वश्रेष्ठ हैं। जिस प्रकार स्वर्ग निवास करने वालों में मोद उत्पन्न करने वाला है, वैसे ही आप हर्षोत्पादक तथा अनेकानेक मनोहर गुणों से युक्त होकर सुशोभित थे।

व्याख्या

पूर्ण शक्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ, प्राणिमात्र के मोदकारी वीरप्रभु

इस गाथा में पुनः दूसरे पहलुओं से कई उपमाओं द्वारा वीरप्रभु की विशेषताएँ बताई गई हैं। वे अनन्त शक्तिमान थे, क्योंकि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से औरस बल, धृतिबल और संहनन बल आदि सब बलों से भगवान् परिपूर्ण थे। तथा जम्बूद्वीप की नाभि के समान सुमेरु पर्वत जिसका दूसरा नाम सुदर्शन पर्वत भी है, जैसे समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ है, वैसे ही भगवान् वीर्य तथा अन्य गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। जैसे अपने पर निवास करने वाले देवताओं को आनन्द देने वाला स्वर्ग प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और प्रभाव आदि गुणों से सुशोभित है, इसी तरह भगवान् भी सत्य, शील, दया, क्षमा आदि अनन्त गुणों से सुशोभित थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह है कि भगवान् महावीर संसार में सबसे श्रेष्ठ, प्राणिमात्र के लिए आनन्दकारी एवं सत्य, शील आदि अनेक गुणों के अक्षयनिधि थे।

मूल पाठ

सयं सहस्साणं उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेगं ॥१०॥
पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रइं वेदयंति महिंदा ॥११॥
से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायतो कंचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे गिरिवरे से जलिएव भोमे ॥१२॥
महीइ मज्झंमि ठिए णगिंदे, पन्नायते सूरिय सुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥१३॥
सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते जाती जसो दंसणनाणसीले ॥१४॥

संस्कृत छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानां, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।
स योजने नवनवति सहस्राणि ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥
स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूम्यवस्थितो यं सूर्या अनुपरिवर्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥११॥
स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरोऽसौ ज्वलित इव भौमः ॥१२॥
मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः, प्रज्ञायते सूर्यशुद्धलेश्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः मनोरमो द्योतयत्यर्चिमालो ॥१३॥
सुदर्शनस्येव यशो गिरेः प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः जातियशो दर्शन ज्ञानशीलः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**सहस्साणं जोयणाणं सयं उ**) वह सुमेरु पर्वत सौ हजार (एक लाख) योजन ऊँचा है, (**तिकंडगे**) उसके तीन विभाग हैं। (**पंडगवेजयंते**) उस पर्वत पर सबसे ऊपर स्थित पण्डकवन पताका की तरह शोभा पाता है। (**से**) वह सुमेरु पर्वत (**जोयणे णवणवति सहस्से उद्धुस्सितो**) ९९ हजार योजन ऊपर उठा है, (**हेट्ठसहस्समेगं**) और एक हजार योजन भूमि में गड़ा है ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**से**) वह सुमेरु पर्वत (**णभे पुट्ठे**) आकाश को छूता हुआ, (**भूमिवट्ठिए चिट्ठइ**) पृथ्वी पर स्थित है, (**जं**) जिसकी (**सूरिया**) सूर्यगण (**अणुपरिवट्टयंति**) परिक्रमा देते हैं। (**हेमवन्ने**) वह सुनहरी रंग वाला (**बहुनंदणे य**) बहुत से नन्दन-वनों से युक्त है, (**जंसी**) जिस पर (**महिंदा**) महेन्द्रगण (**रतिं वेदयंति**) आनन्द का अनुभव करते हैं ॥११॥

(**से पव्वए**) वह पर्वत (**सहमहप्पगासे**) अनेक नामों से अतिप्रसिद्ध है, (**कंचण-मट्ठवण्णे**) तथा वह सोने की तरह शुद्ध वर्ण वाला (**विरायती**) सुशोभित है। (**अणुत्तरे**) वह सब पर्वतों में श्रेष्ठ है। (**गिरिसु य पव्वदुग्गे**) वह सभी पर्वतों में उपपर्वतों के द्वारा दुर्गम है (**से गिरिवरे**) वह पर्वतश्रेष्ठ (**भोमे व जलिए**) मणि और औषधियों से प्रकाशित भू प्रदेश की तरह प्रकाश करता है ॥१२॥

(**नगिंदे**) वह पर्वतराज (**महीइ मज्झंमि**) पृथ्वी के मध्य में (**ठिए**) स्थित है। (**सूरिय सुद्धलेसे**) वह सूर्य के समान शुद्ध कान्ति वाला (**पन्नायते**) प्रतीत होता है, (**एवं**) इसी तरह (**सिरिए उ**) वह अपनी शोभा से (**भूरिवन्ने**) अनेक वर्णवाला (**मणोरमे**) और मनोहर है (**अच्चिमाली**) वह सूर्य की तरह (**जोयइ**) सब दिशाओं को प्रकाशित करता है ॥१३॥

(**महतो पव्वयस्स**) महान् पर्वत (**सुदंसणस्स गिरिस्स**) सुदर्शन गिरि का यश पूर्वोक्त प्रकार से कहा जाता है। (**समणे नायपुत्ते एतोवमे**) ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर को इसी पर्वत से उपमा दी जाती है। (**जाती जसो दंसणनाणसीले**) भगवान् जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सबसे श्रेष्ठ हैं ॥१४॥

भावार्थ

वह सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह निन्यानवे हजार योजन भूमि से ऊपर आकाश में है, और एक हजार योजन नीचे भूमि के गर्भ में है। इसके तीन काण्ड (विभाग) हैं। सबसे ऊपर के काण्ड में पण्डक-वन है जो ध्वजा के समान बहुत सुन्दर मालूम होता है ॥१०॥

वह सुमेरुपर्वत ऊपर आकाश को और नीचे पृथ्वी को स्पर्श करके खड़ा हुआ है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहगण अविराम गति से उसके चारों और प्रदक्षिणा करते रहते हैं। स्वर्ण के समान उसकी सुन्दर कान्ति और वर्ण है। वह अनेक नन्दन आदि वनों से सुशोभित है। साधारण देवों की तो बात ही क्या, स्वयं महेन्द्र भी सुमेरु पर आकर विश्रान्ति का आनन्दानुभव करते हैं ॥११॥

सुमेरुपर्वत की कन्दराओं में से देवों का कोमल संगीत स्वर दूर-दूर तक गूँजता रहता है। तपे हुए सोने-सी उज्ज्वल कान्ति से वह सुशोभित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सुमेरु सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, और ऊँची-ऊँची मेखलाओं के कारण दुर्गम है तथा मंगल ग्रह के समान अतीव उज्ज्वल कान्ति वाला है ॥१२॥

सुमेरुपर्वत भूमण्डल के ठीक बीच में है, वह पर्वतराज सूर्य के समान अतीव दिव्य कान्तिवाला मालूम होता है। नाना प्रकार के रत्नों के कारण विचित्र वर्णों की मनोरम प्रभा से युक्त है। उसमें से चारों ओर उज्ज्वल किरणें निकलती रहती हैं, जो सूर्य की तरह दशों दिशाओं को अपने आलोक से प्रकाशित करती हैं ॥१३॥

जिस प्रकार संसार में पर्वतों का राजा सुमेरु यशस्वी कहलाता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी भी तीन लोक में महान् यशस्वी थे। जैसे सुमेरु अपने गुणों के द्वारा सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, इसी तरह धर्मसाधना में अतीव उग्र श्रम करने वाले ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्गुणों में सबसे श्रेष्ठ थे ॥१४॥

व्याख्या

पर्वतराज सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर

दसवीं गाथा से चौदहवीं गाथा तक पर्वतराज सुमेरु की विशेषताएँ बता कर भगवान् महावीर को उससे उपमा देकर गुणों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

सुमेरुपर्वत की विशेषता बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—सुमेरुपर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह भूमितल से लेकर ९९ हजार योजन ऊपर आकाश में है और एक हजार योजन नीचे भूगर्भ में स्थित है। आशय यह है कि जैसे सुमेरुपर्वत ऊर्ध्व, अधः और मध्य तीनों लोकों में अवस्थित है, वैसे ही भगवान् का प्रभाव भी तीनों लोकों में व्याप्त था। सुमेरु के तीन काण्ड – विभाग हैं - भूमिमय, स्वर्णमय और वैडूर्यमय। इसी प्रकार भगवान् भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से सुशोभित थे। सुमेरुपर्वत के मस्तक पर स्थित पण्डकवन उसकी पताका के समान शोभा पाता है, वैसे ही वीरप्रभु भी तीर्थंकर नामक शीर्षस्थ पद से सुशोभित हैं। सुमेरुपर्वत ऊपर गगनचुम्बी है, और नीचे भूमिस्पर्शी है। सूर्यचन्द्र आदि ग्रहगण सदैव अविरत उसके चारों ओर प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इसी प्रकार महामण्डलेश्वर सम्राट तक भी भगवान् के चारों ओर प्रदक्षिणा लगाया करते थे और उनका उपदेश सुनने के लिए सदा लालायित रहते थे। भगवान् महावीर के अहिंसा, सत्य आदि के सिद्धान्त सुमेरु के समान सदैव ऊर्ध्वमुखी थे। सुमेरु स्वर्ण की-सी सुन्दर कान्ति से तथा नन्दनवन आदि अनेक वनों से सुशोभित है वैसे ही भगवान् महावीर का दिव्यशरीर भी स्वर्ण जैसी कान्ति वाला एवं पीत वर्ण का था। सुमेरु के मस्तक पर चार नन्दन आदि वन हैं—जैसे कि भूमिमय विभाग में भद्रशाल वन है, उससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर फिर ५०० योजन चढ़ने के बाद मेखला प्रदेश में नन्दनवन है, उससे ५६२ योजन चढ़ने पर सौमनस वन आता है। उससे ३६००० योजन ऊपर चढ़ने के बाद सुमेरु के शिखर पर पण्डकवन है। इस प्रकार यह पर्वतराज चार नन्दन वनों से युक्त विचित्र क्रीड़ा का स्थान है। अन्य देवों की तो बात ही क्या, महेन्द्रगण भी स्वर्ग से भी अधिक रमणीय गुणों से युक्त होने के कारण वहाँ आकर उस पर क्रीड़ा करके आनन्द का अनुभव करते हैं; इसी प्रकार भगवान् के चरणों में भी प्राणिमात्र आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करते थे। अधिक क्या, स्वर्गनिवासी देवों को भी भगवान् की सेवा में आने से शान्ति मिलती थी। सचमुच भगवान् महावीर अपने युग में विश्व शान्ति के एकमात्र आराधना केन्द्र थे।

सुमेरुपर्वत मन्दर, मेरु, सुदर्शन और सुरगिरि आदि अनेक नामों से जगत् में प्रसिद्ध है, वैसे ही भगवान वर्धमान स्वामी भी वीर, महावीर, सन्मति, त्रिशलानन्दन, ज्ञातपुत्र, वैशालिक आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध थे। अथवा सुमेरु की कन्दरा से उठने वाली देवों की कोमल ध्वनि दूर-दूर तक गूँजती रहती है, वैसे ही भगवान् महावीर की वाणी भी अतीव ओजस्वी, गंभीर, सारगर्भित दिव्यध्वनि के रूप में प्रगट होती थी। जो दूर-दूर तक बैठे श्रोताओं को सुनाई देती थी और उनके अन्तर् पर अपना अमिट प्रभाव डाल देती थी। सुमेरु का वर्ण सोने की तरह शुद्ध एवं चिकना है। भगवान् के शरीर का वर्ण भी शुद्ध सोने-का-सा उज्ज्वल था। सुमेरु से बढ़कर संसार में कोई पर्वत नहीं है, वैसे ही भगवान् से बढ़कर उस युग में गुणों में श्रेष्ठ कोई नहीं था। सुमेरुपर्वत अपनी ऊँची-नीची मेखलाओं के कारण दुर्गम है, वैसे भगवान् महावीर भी नय, प्रमाण, निक्षेप आदि की गहन भंगावलियों के कारण तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वादियों के द्वारा दुर्गम एवं दुर्जेय थे। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त कहीं भी पराजित नहीं होता, वह अजेय दुर्ग है। भौम का अर्थ मंगलग्रह है, यानी मंगलग्रह के समान सुमेरु अतीव उज्ज्वल कान्ति वाला है, वैसे ही भगवान् भी उज्ज्वल कान्ति से शोभायमान थे। भौम का दूसरा अर्थ भूमि सम्बन्धी परिणाम भी होता है। इस प्रसंग में भौम का अभिप्राय यह होगा कि जिस प्रकार पृथ्वी अनेक तेजोमय औषधियों से जाज्वल्यमान रहती है, वैसे ही सुमेरुपर्वत भी अनेक तेजोमय तरुसमूह से जाज्वल्यमान रहता है। भगवान् भी सुमेरु के समान अनन्तानन्त गुणों से प्रकाशमान थे।

जिस प्रकार सुमेरुपर्वत ठीक भूमण्डल के बीचों-बीच है, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी धर्मसाधकों की भावनाओं के मध्यबिन्दु थे।

आशय यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्य भाग में जम्बूद्वीप है। उसके बराबर मध्य भाग में सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान इन चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रंष्ट्रा पर्वतों से सुशोभित, समभूभाग में १० हजार योजन विस्तृत एवं प्रत्येक ९० योजन पर एक योजन के ११वें भाग से कम विस्तार वाला, बाकी का योजन के दशभाग विस्तृत, ऐसा मेरुपर्वत है। उसके सिर पर ४० योजन की ऊँची चोटी है। सुमेरु पर्वतों का राजा है। इसी तरह भगवान् महावीर भी तपस्वी, त्यागी साधु-श्रावकों के राजा यानी नेता थे। भगवान् की अधिनायकता में हजारों साधक वासना पर विजय पाकर बड़े आनन्द से मोक्ष साम्राज्य के अधिकारी बने।

सुमेरु पर्वत नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा के कारण रंग-बिरंगा लगता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी सत्य, शील, क्षमा, ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुणों के कारण अनन्त रूप थे। जैसे सुमेरुपर्वत में से चारों ओर प्रकाश की उज्ज्वल किरणें निकलती रहती हैं जो दशों दिशाओं को अपने आलोक से उद्भासित करती हैं, तथैव भगवान् महावीर भी अपने ज्ञान का प्रकाश लोक-अलोक में सर्वत्र फैलाते थे। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो उनके अनन्तज्ञान से उद्भासित न होता हो?

चौदहवीं गाथा में शास्त्रकार सुमेरु पर्वत के वर्णन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—**'एतोवमे समणे नायपुत्ते ··· जातिजसो दंसणनाणशीले ।'** अर्थात् सुमेरु पर्वत की उपमा भगवान् महावीर को दी है। पर्वतराज सुमेरु जैसे लोक में यशस्वी कहलाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी तीनों लोकों में महायशस्वी थे। जिस प्रकार मेरु अपने गुणों के कारण श्रेष्ठ कहलाता है, वैसे ही भगवान् भी अपनी जाति[1], यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे।

मूल पाठ

गिरिवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥१५॥

---

१. भगवान् महावीर के राजवंश के कारण उन्हें ज्ञातपुत्र कहा जाता था। क्षत्रियों की ज्ञात शाखा में उनका जन्म हुआ था। आजकल भी ज्ञातृ या ज्ञात जाति वैशाली नगरी (जिला मुजफ्फरपुर के अन्तर्गत बसाड़) के आसपास जथरिया भूमिहर जाति के रूप में विद्यमान है। जथरिया शब्द ज्ञातृ शब्द का ही अपभ्रंश है, ज्ञातृ—ज्ञातर—जातर—जतरिया—जथरिया, यों रूप बिगड़ता गया है। भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था, जथरिया जाति का गोत्र भी काश्यप है। जथरिया जाति के सिहान्त नाम क्षत्रिय होने के सूचक हैं। आज भी जथरिया जाति में बहुत से जमींदार और राजा हैं। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

गिरिवर इव निषध आयतानां, रुचक इव श्रेष्ठो वलयायतानाम् ।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**आययाणं गिरिवरे निसहा वा**) जैसे लम्बे पर्वतों में श्रेष्ठ निषध प्रधान है तथा (**वलयायताणं रुयए व सेट्ठे**) चूड़ी के समान गोलाकार पर्वतों में रुचक पर्वत श्रेष्ठ कहलाता है, इसी प्रकार (**जगभूइपन्ने से**) जगत् में सबसे अधिक बुद्धिमान उन भगवान् महावीर स्वामी की (**तओवमे**) वही उपमा है। (**पन्ने**) बुद्धिमान पुरुषों ने (**मुणीण मज्झे तमुदाहु**) मुनियों में भगवान् को श्रेष्ठ कहा।

भावार्थ

जिस प्रकार दीर्घाकार (लम्बे) पर्वतों में निषधपर्वत श्रेष्ठ है, तथा वलयाकार (चूड़ी के समान गोल) पर्वतों में रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, वही उपमा संसार में चराचर विश्व के ज्ञाता अनन्तज्ञानी (सर्वाधिक प्रज्ञावान) भगवान् महावीर स्वामी पर घटित होती है। बुद्धिमान पुरुषों ने विश्व के सभी त्यागी ऋषि मुनियों में श्रमण महावीर को श्रेष्ठ बतलाया है।

व्याख्या

समस्त मुनियों में श्रेष्ठ महावीर : कैसे ?

इस गाथा में दो पर्वतों की उपमा देकर भगवान् महावीर को सबसे अधिक बुद्धिमान एवं सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। जैसे जम्बूद्वीप या अन्य द्वीपों में समस्त लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत श्रेष्ठ है, तथा वर्तुलाकार (चूड़ी की तरह गोल) पर्वतों में रुचकपर्वत उत्तम है, क्योंकि वह रुचक द्वीपान्तवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की तरह गोल और लम्बा है, तथा असंख्येय योजन विस्तृत है, इसी तरह भगवान् भी हैं। अर्थात् वे दो पर्वत जैसे लम्बाई और गोलाई में सबसे श्रेष्ठ हैं, इसी प्रकार भगवान् भी संसार में सर्वाधिक भूतिप्रज्ञ हैं यानी प्रज्ञा में सर्वश्रेष्ठ है। तथा उनके स्वरूप को जानने वाले बुद्धिमान् कहते हैं कि वे त्यागी ऋषि-मुनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, सर्वोपरि हैं।

मूल पाठ

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइं।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिदुएगंतवदातसुक्कं ॥१६॥

संस्कृत छाया

अनुत्तरं धर्ममुदीरयित्वाऽनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं शंखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम् ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता**) भगवान् महावीर ने सर्वोत्तम धर्म का उपदेश देकर (**अणुत्तरं झाणवरं झियाइं**) सर्वोत्तम श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान की साधना की। (**सुसुक्कसुक्कं**) भगवान् का ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान शुक्ल था, (**अपगंडसुक्कं**) तथा वह दोषविवर्जित शुक्ल था, (**संखिंदुएगंतवदातसुक्कं**) शंख, चन्द्रमा आदि शुद्ध श्वेत वस्तुओं के समान एकान्त शुद्ध श्वेत था।

भावार्थ

भगवान् महावीर संसारतारक सर्वोत्तम धर्म प्रकाशित करके सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान में स्थित हुए। भगवान् का वह शुक्ल-ध्यान (आत्म-चिन्तन की विशुद्ध धारा) अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं से शुक्ल था, दोषरहित शुक्ल था, और शंख, चन्द्रमा आदि शुद्ध श्वेत वस्तुओं के समान पूर्णरूप से एकान्त निर्मल शुक्ल था।

व्याख्या

भगवान् का सर्वश्रेष्ठ ध्यान : शुक्लध्यान

इस गाथा में यह बताया गया है कि भगवान् महावीर का सर्वश्रेष्ठ शुक्ल ध्यान कैसा था ? शुक्लध्यान की साधना उन्होंने कब की थी ? आशय यह है कि भगवान् ने पहले संसार के समक्ष अनुत्तर (जिससे श्रेष्ठ दूसरा नहीं है, ऐसे) धर्म का भलीभाँति प्रतिपादन किया, तदनन्तर उत्तम ध्यान श्रेष्ठ—शुक्लध्यान की साधना में लीन हुए। अर्थात् जब भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया, तब वे योग निरोधकाल के दौरान सूक्ष्मकाययोग को रोकते हुए सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान में स्थित हो जाते थे, और जब उनके समस्त योगों का निरोध हो गया, तब वे व्युपरतक्रियअनिवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यान में लीन हो जाते थे। यही शास्त्रकार बतलाते हैं—'**सुसुक्कसुक्कं**.....**वदातसुक्कं**।' अर्थात् जो ध्यान अत्यन्त शुक्ल (श्वेत वर्ण की तरह शुक्ल है, तथा जिससे दोष हट गया है, अर्थात् जो निर्दोष शुक्ल है, अथवा अपगण्ड यानी जल के फेन के समान जो शुक्ल है, तथा शंख और चन्द्र के समान जो एकान्त व शुद्ध शुक्ल है, ऐसे द्विविध शुक्लध्यान की साधना प्रभु करते थे।

मूल पाठ

अणुत्तरग्गं परमं महेसी असेसकम्मं स विसोहइत्ता।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥

संस्कृत छाया

अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिरशेषकर्माणि स विशोध्य वीरः।
सिद्धिं गतः सादिमनन्त प्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**स महेसी**) वे महर्षि भगवान् महावीर स्वामी (**नाणेण सीलेण य दंसणेण**) ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बल से (**असेसकम्मं**) ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों का (**विसोहइत्ता**) शोधन करके क्षय करके (**अणुत्तरगं परमं सिद्धिं गते**) सर्वोत्तम अनुत्तर लोकाग्रभाग में स्थित परम सिद्धि को प्राप्त हुए। (**साइमणंतपत्ते**) जिस सिद्धि की आदि तो है, परन्तु अन्त नहीं है।

भावार्थ

उन महर्षि भगवान् महावीर ने समस्त कर्मों को सदाकाल के लिए नष्ट करके लोक के अग्रभाग में स्थित, सर्वोत्कृष्ट सादि-अनन्तरूप सर्वप्रधान सिद्धि (मोक्ष) गति को प्राप्त किया। भगवान् ने सिद्धि की प्राप्ति में अन्य किसी पर भरोसा न करके अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा किया, फलतः अपने ज्ञान एवं शील (चारित्र) के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त की।

व्याख्या

वीरप्रभु ने सिद्धिगति कैसी और कैसे प्राप्त की ?

इस गाथा में यह बताया है कि महर्षि महावीर ने कैसे सिद्धिगति (मुक्ति) प्राप्त की, और वह सिद्धि कैसी है ? जैनदर्शन का यह एक ठोस सिद्धान्त है कि सिद्धि (मुक्ति) किसी के देने से, किसी को प्रसन्न कर देने से या किसी विशिष्ट भगवत्शक्ति की मनौती करने से कदापि प्राप्त नहीं हो सकती, कोई भी देव किसी को मुक्ति नहीं दे सकता, और न ही एक व्यक्ति को किसी दूसरे मानव द्वारा साधना करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सिद्धि प्राप्ति के हेतु किसी अन्य पर भरोसा न रखकर अपनी ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप की साधना में पुरुषार्थ के बल पर स्वयं ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों का सदा-सदा के लिए समूल नाश करके, आत्मा को परम विशुद्ध बना कर शैलेशी अवस्था से उत्पन्न चतुर्थ शुक्लध्यान में स्थित होकर पंचम सिद्धिगति प्राप्त की।

सिद्धिगति कहें या मुक्ति कहें अथवा मोक्ष या निर्वाण कहें, बात एक ही है। परन्तु मोक्ष या निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों और दर्शनों में काफी मतभेद है। कोई सातवें आसमान पर मोक्ष बतलाता है, कोई (सांख्यदर्शन) त्रिविध दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं, कोई (वैशेषिकदर्शन) सुख, दुःख आदि नौ आत्म-गुणों के सर्वथा नष्ट हो जाने को मोक्ष कहते हैं, बौद्धदर्शन सर्वसंस्कार क्षणिक हैं, इस बात को सुदृढतया हृदय में जमा लेने को मोक्ष कहते हैं। इसीलिए इन सबका निराकरण करके जैनदर्शनसम्मत सर्वज्ञप्ररूपित वास्तविक सिद्धि या मुक्ति का स्वरूप बताने हेतु यहाँ सिद्धिगति के लिए कई विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जिसे भगवान् महावीर ने प्राप्त किया था। सिद्धिगति के यहाँ पाँच विशेषण हैं—अनुत्तरा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्र्या, परमा, अशेषकर्म विशुद्धि, सादि-अनन्ता। सिद्धिगति सब गतियों में श्रेष्ठ है, लोक के अग्रभाग में स्थित होने के कारण वह अग्र्या है, वह परमधाम होने के कारण परमा है। वहाँ जाने के पश्चात आवागमन नहीं होता, इसलिए सादि-अनन्त है, समस्त कर्मों का क्षय होने से तथा आत्मा विशुद्ध होने से वह प्राप्त होती है, इसलिए इसे अशेषकर्म विशुद्धि भी कहा है।

मूल पाठ

रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेययंती सुवन्ना।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥१८॥

संस्कृत छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**जह**) जैसे (**रुक्खेसु**) वृक्षों में (**णाए सामली**) प्रसिद्ध सेमर वृक्ष श्रेष्ठ है, (**जस्सिं**) जिस पर (**सुवन्ना**) सुपर्णकुमार नामक भवनपति जाति के देव (**रतिं वेययंति**) आनन्द का अनुभव करते हैं। (**वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं**) जैसे वनों में नन्दनवन को श्रेष्ठ कहते हैं, इसी प्रकार (**नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने**) ज्ञान और चारित्र के द्वारा उत्तम ज्ञानी भगवान् महावीर को श्रेष्ठ कहते हैं।

भावार्थ

जैसे वृक्षों में शाल्मली (सेमर) वृक्ष श्रेष्ठ है, जिस पर सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देव क्रीड़ा करके आनन्द का अनुभव करते हैं, तथा जैसे संसार के समस्त सुन्दर वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है, जो सुमेरुगिरि पर अवस्थित है, इसी प्रकार अनन्तज्ञानी भगवान् महावीर भी ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे।

व्याख्या

ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ महापुरुष : महावीर

इस गाथा में शाल्मलीवृक्ष एवं नन्दनवन की उपमा देकर भगवान् महावीर को ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ पुरुष बताया गया है। जैसे देवकुरुक्षेत्र में वृक्षों में प्रसिद्ध शाल्मली (सेमर) वृक्ष श्रेष्ठ है, जो सुपर्णजाति के भवनपति देवों का आनन्ददायक क्रीड़ास्थल है, जिस पर दूसरे स्थानों से आकर सुपर्णकुमार देव विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं। तथैव वनों में देवों की क्रीड़ाभूमि नन्दनवन प्रधान है, इसी प्रकार भगवान् भी समस्त पदार्थों को प्रकट करने वाले केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र के द्वारा सबसे प्रधान हैं। केवलज्ञानी के लिए यहाँ भूतिप्रज्ञ (उत्कृष्ट ज्ञान वाले) शब्द प्रयुक्त किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥१९॥

संस्कृत छाया

स्तनितमिव शब्दानामनुत्तरस्तु चन्द्र इव ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठमेवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**सद्दाण**) शब्दों में (**थणियं व**) जैसे मेघगर्जन (**अणुत्तरे**) प्रधान है। (**ताराण**) और तारों में (**महाणुभावे चंदो व**) जैसे महाप्रभावशाली चन्द्रमा श्रेष्ठ है, (**गंधेसु चंदणं वा सेट्ठमाहु**) सुगन्धों में जैसे चन्दन को श्रेष्ठ कहा है, (एवं) इसी प्रकार (**मुणीणं**) मुनियों में (**अपडिन्नमाहु**) कामनारहित भगवान् महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहा है।

भावार्थ

जिस प्रकार शब्दों में मेघ की गम्भीर गर्जना का शब्द अनुपम है, तारामण्डल में चन्द्र महानुभाव—महाप्रभावशाली है, सुगन्धित वस्तुओं में मलय (बावना चन्दन) श्रेष्ठ कहा है, उसी प्रकार भूमण्डल के समस्त मुनियों में लोक-परलोक की वासना से सर्वथा मुक्त भगवान् महावीर श्रेष्ठ थे।

व्याख्या

मुनियों में श्रेष्ठ महावीर : क्यों और किस तरह ?

इस गाथा में भगवान् महावीर को तीन उपमाएँ देकर मुनियों में श्रेष्ठ बताया गया है। पहली उपमा है मेघगर्जन की, दूसरी है—तारामण्डल की और तीसरी है—चन्दन की। ये तीनों शब्द, रूप और गन्ध तीनों के प्रतीक हैं। इस भूमण्डल में शब्दों में जैसे मेघगर्जन प्रधान है, नक्षत्रों में सबको आनन्ददायक कान्ति के द्वारा महानुभाव (महाप्रभावशील) चन्द्रमा प्रधान है, तथा गन्धों (गन्धवाले पदार्थों) में गोशीर्ष चन्दन (या मलय चन्दन) श्रेष्ठ है, इसी प्रकार मुनियों में इस लोक-परलोक के सुख की कामना न करने वाले भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं।

मूल पाठ

जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रस वेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहुः श्रेष्ठम् ।
इक्षुरसोदको वा रसवैजयन्तः, तप उपधाने मुनिवैजयन्तः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**जहा**) जैसे (**उदहीणं**) समुद्रों में (**सयंभू सेट्ठे**) स्वयम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, (**नागेसु वा**) तथा नागों (भवनपतिदेव विशेषों) में (**धरणिंदं सेट्ठे माहु**) धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, (**खोओदए वा रसवेजयंते**) इक्षुरसोदक समुद्र जैसे समस्त रस रस वालों में प्रधान है, (**तवोवहाणे मुणिवेजयंते**) इसी तरह प्रधान (विशिष्ट) तप के द्वारा भगवान महावीर सब मुनियों में शिरोमणि हैं ।

भावार्थ

जिस प्रकार सब समुद्रों में स्वयम्भूरमण समुद्र प्रधान है, नागकुमार जाति के भवनपतिदेवों में उनका इन्द्र धरणेन्द्र प्रधान है, सब रसों में ईख का मधुर रस प्रधान है, अथवा सब रस वाले सागरों में इक्षुरसोदक समुद्र प्रधान है, इसी प्रकार विशिष्ट तपःसाधना के क्षेत्र में भगवान् महावीर समस्त मुनियों में प्रधान थे ।

व्याख्या

तपःसाधना के क्षेत्र में सर्वोपरि मुनिश्रेष्ठ भगवान् महावीर

इस गाथा में भगवान् महावीर को तपस्या के क्षेत्र में समस्त लोक की पताका के समान सर्वोपरि मुनिवर तीन उपमाओं द्वारा बताया गया है—पहली उपमा दी गई है—स्वयम्भूरमण समुद्र से, दूसरी दी गई है—धरणेन्द्र से, और तीसरी दी गई है—इक्षुरसोदक से । जो अपने आप उत्पन्न होते हैं, वे स्वयम्भू कहलाते हैं, देवों को स्वयम्भू कहा जाता है, वे (स्वयम्भू देव) जहाँ जाकर रमण—क्रीड़ा करते हैं, उसे स्वयम्भूरमण समुद्र कहते हैं, वह एक विशिष्ट एवं लोक में समस्त द्वीप-समुद्रों के अन्त में विद्यमान है । उसे समस्त समुद्रों में श्रेष्ठ समुद्र माना जाता है, तथा नाग-कुमारजाति के भवनपति देवों का इन्द्र धरणेन्द्र कहलाता है, वह नागजाति में प्रधान (श्रेष्ठ) कहलाता है, इसी प्रकार समस्त रसों में इक्षुरस श्रेष्ठ माना जाता है, अथवा ईख के रस के समान जिसका जल मधुर है, वह इक्षुरसोदक समुद्र अपने माधुर्यगुणों के कारण समस्त रस वालों—समस्त समुद्रों की पताका के समान प्रधान माना जाता है । इसी प्रकार अपनी विशिष्ट तपस्या के उपधान से जगत् की तीनों अवस्थाओं को जानने वाले (मुनि) भगवान् महावीर समग्रलोक की पताका के समान सर्वोपरि हैं ।

मूल पाठ

हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुलेवेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातिं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गंगा ।
पक्षिषु वा गरुडो वेणुदेवो, निर्वाणवादिनमिह ज्ञातपुत्रः ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**हत्थीसु**) हाथियों में (**णाए**) जगत्प्रसिद्ध (**एरावणमाहु**) ऐरावण हाथी को प्रधान कहते हैं, (**मिगाणं सीहो**) तथा मृगों में सिंह—मृगेन्द्र प्रधान है, (**सलिलाण गंगा**) जलों—नदियों में गंगा प्रधान है, (**पक्खीसु वा गरुलेवेणुदेवो**) पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ प्रधान हैं, इसी प्रकार (**निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते**) निर्वाणवादियों में इस विश्व में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

भावार्थ

जिस प्रकार हाथियों में इन्द्र का प्रसिद्ध ऐरावत हाथी मुख्य है, पशुओं (मृगों) में सिंह मुख्य हैं, नदियों में गंगा नदी मुख्य है, पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ पक्षी मुख्य हैं, उसी प्रकार निर्वाणवादियों—मोक्षमार्ग के उपदेशकों (नेताओं) में ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर मुख्य थे ।

व्याख्या

निर्वाणमार्ग के उपदेशकों में प्रधान ज्ञातपुत्र महावीर

इस गाथा में भगवान् महावीर को चार लोकप्रसिद्ध उपमाओं से उपमित करके निर्वाणवादियों में अग्रणी बताया गया है । प्रधान वस्तुओं के विशेषज्ञ बुद्धिमान बताते हैं कि हाथियों में इन्द्र का जगत्प्रसिद्ध ऐरावत हाथी प्रधान होता है । पशुओं में बल आदि की दृष्टि से सिंह को मुख्य बताया जाता है, भरतक्षेत्र की अपेक्षा से समस्त नदियों में पवित्रता, विशालता आदि की दृष्टि से गंगानदी मुख्य मानी जाती है । इसी प्रकार पक्षियों में आकाश में सुदीर्घ मुक्त विहार की दृष्टि से गरुड़पक्षी (वेणुदेव) मुख्य माना जाता है । इसी तरह निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर प्रधान हैं । निर्वाण सिद्धि क्षेत्र को कहते हैं अथवा समस्त कर्मक्षय का नाम निर्वाण (मोक्ष) है । निर्वाण के स्वरूप, उपाय, प्राप्ति तथा साधक-बाधक कारणों को जो बताते हैं, उन्हें निर्वाणवादी कहते हैं । संसार के विभिन्न निर्वाणवादियों (मोक्ष के महोपदेशकों) में ज्ञातपुत्र वीर वर्धमान स्वामी अग्रणी थे क्योंकि उन्होंने निर्वाण का यथार्थ स्वरूप बताया था । पूर्वोक्त उपमाएँ भगवान के मंगलता, शुक्लता, पवित्रता और स्वतन्त्रता आदि सद्गुणों को अभिव्यक्त करती है ।

मूल पाठ

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः, पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः, ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्धमानः ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**जह**) जैसे (**णाए**) विश्वविख्यात (**वीससेणे**) विश्वसेन (**जोहेसु सेट्ठे**) योद्धाओं में श्रेष्ठ है, (**जह**) जैसे (**पुप्फेसु वा**) फूलों में (**अरविंदमाहु**) अरविन्द—कमल प्रधान है, (**जह**) जैसे (**खत्तीण**) क्षत्रियों में (**दंतवक्के सेट्ठे**) दान्तवाक्य श्रेष्ठ है, (**तह**) इसी प्रकार (**इसीण**) ऋषियों में (**वद्धमाणे सेट्ठे**) वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

भावार्थ

जिस प्रकार वीर योद्धाओं में वासुदेव महान् हैं, फूलों में अरविन्द कमल महान् है, क्षत्रियों में दान्तवाक्य (चक्रवर्ती) महान् है, उसी प्रकार ऋषियों में श्री वर्द्धमान महावीर सबसे महान् थे ।

व्याख्या

ऋषियों में सर्वतो महान् ऋषिवर वर्द्धमानस्वामी

इस गाथा में वीरप्रभु को तीन उपमाओं से उपमित करके ऋषियों में श्रेष्ठ बताया है । पहली उपमा यह है—जैसे हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चार अंगों वाले बल के सहित चतुरंगिणी सेना से सम्पन्न योद्धाओं में विश्वसेन—वासुदेव प्रधान है, तथा पुष्पों में अरविन्द कमल का पुष्प श्रेष्ठ कहलाता है । क्षत्रिय का अर्थ है—क्षत (नाश) से जो प्राणियों का त्राण-रक्षण करता है । ऐसे क्षत्रियों में दान्तवाक्य प्रधान है । दान्तवाक्य चक्रवर्ती वह कहलाता है, जिसके एक वाक्य से ही शत्रु का दमन हो जाता है, इन सबकी तरह ऋषियों में श्री वीर वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ हैं ।

ये उपमाएँ भगवान् की शूरता, वीरता, दृढ़ता, सर्वप्रियता, मनोहरता, इन्द्रियनिग्रहता और भवभय से रक्षकता आदि सद्गुणों की राशि को सूचित करती हैं ।

मूल पाठ

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥२३॥

संस्कृत छाया

दानानां श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सुवोत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**दाणाण**) दानों में (**अभयप्पयाणं सेट्ठं**) अभयदान श्रेष्ठ हैं, (**सच्चेसु वा**) अथवा सत्यों में (**अणवज्जं वयंति**) उस सत्य को श्रेष्ठ कहते हैं, जिससे किसी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीड़ा न हो। ऐसे निर्दोष सत्य को श्रेष्ठ कहा जाता है। (**तवेसु व उत्तमं बंभचेरं**) तपस्याओं में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार (**समणे नायपुत्ते लोगुत्तमे**) श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी लोक में उत्तम हैं।

भावार्थ

जिस प्रकार दानों में अभयदान उत्तम है, सत्यों में पापरहित दयामय सत्य उत्तम है, तपों में ब्रह्मचर्य तप उत्तम है, उसी प्रकार तीन लोकों में ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर सबसे उत्तम थे।

व्याख्या

त्रिलोक में सर्वोत्तम श्रमण भगवान् महावीर

इस गाथा में दान, सत्य और तप इन तीनों में उत्तम पदार्थ की उपमा देकर श्रमण भगवान् महावीर को त्रिलोक में सर्वोत्तम बताया गया है।

सर्वप्रथम दानों में अभयदान को श्रेष्ठ बताया गया है। दान की परिभाषा यह है—'**स्वपरानुग्रहार्थं दीयते इति दानम्**' अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो दिया जाता है, उसे दान कहते हैं। दान अनेक प्रकार का होता है। किन्तु उन सबमें अभयदान ही श्रेष्ठ कहलाता है, यह अनुभव से भी सिद्ध है, और शास्त्र से भी। अभयदान का अर्थ है—जीवन की रक्षा या प्राणरक्षा चाहने वाले मरते हुए या भय खाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना, उसे निर्भय बनाना, एक प्रकार का जीवन-दान (प्राणदान) देना है, जो शास्त्रीय परिभाषा में अभयदान कहलाता है। अभय-दान अन्य दानों की अपेक्षा क्यों श्रेष्ठ है? इसे बताने के लिए नीतिकारों का अनुभव भी देखिए—

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा ।
धनकोटिं न गृह्णीयात् सर्वो जीवितुमिच्छति ॥

अर्थात्—मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाय, दूसरी ओर उसे जीवन दिया जाय तो वह दोनों में से धन को लेना पसन्द नहीं करेगा, वह जीवन को लेना (प्राणरक्षा) ही पसन्द करेगा। क्योंकि सभी प्राणी जीना चाहते हैं।

इस सम्बन्ध में एक लौकिक कथा भी प्रसिद्ध है। एक राजा ने एक चोर को चोरी के अपराध में मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी। चोर को पकड़कर चाण्डाल लोग एक खास तरह की वध्य की पोशाक पहनाकर वधस्थान की ओर ले जा रहे थे। राजा के चार रानियाँ थीं। उन्होंने महल के झरोखे से जब उस चोर को मृत्युदण्ड के लिये ले जाते देखा तो सिपाहियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि चोरी के अपराध में इसे मृत्युदण्ड दिया जा रहा है। एक रानी ने राजा से कह-सुनकर एक दिन के लिए उसकी मृत्यु स्थगित करके चोर के प्रति उपकार करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये माँग लिया। राजा ने वह चोर उक्त रानी को सौंप दिया। फलतः रानी ने उसे नहला-धुलाकर, उत्तम भोजन वस्त्रादि से उसका सत्कार किया, और एक हजार स्वर्णमुद्रायें उसे मनचाहा आमोद-प्रमोद करने के लिए दीं। दूसरे दिन दूसरी रानी ने भी इसी प्रकार राजा से उस चोर को माँगकर पहली रानी की तरह सत्कृत किया, और एक लाख सोने की मुहरें उसे यथेष्ट विषयोपभोग के लिए दीं, तीसरे दिन तीसरी रानी ने भी चोर का इसी तरह सत्कार किया और एक करोड़ मुद्राएँ उसे अपनी मनचाही इच्छा पूरी करने के लिए दीं। चौथे दिन चौथी रानी की बारी थी। उसने भी चोर को राजा से माँग लिया और कहा कि "मैं चाहती हूँ कि इसका मृत्युदण्ड माफ कर दिया जाय।" राजा ने उक्त रानी की बात मान कर उसकी मृत्यु की सजा माफ कर दी। रानी ने उसका पूर्वोक्त तीनों रानियों की तरह कोई सत्कार नहीं किया और न उसे धन ही दिया, सिर्फ उसे बुलाकर कहा कि—"भाई! मैंने तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ करवा दिया है, अब तुम निर्भय हो।" चौथी रानी की यह प्रवृत्ति देख शेष तीनों रानियाँ उसकी मजाक करने लगीं—"वाह! तुमने तो इसे कुछ नहीं दिया, बड़ी कंजूस हो तुम!" उसने कहा—"मैंने अपनी समझ से इसका सबसे ज्यादा उपकार किया है।" इस पर रानियों में परस्पर विवाद छिड़ गया। फैसले के लिए राजा ने चोर को ही बुलाकर पूछा "सच-सच बताओ, तुम पर सबसे ज्यादा उपकार किस रानी ने किया है?" चोर ने उत्तर दिया—"महाराज! मुझ पर सबसे अधिक उपकार चौथी रानीजी ने किया है, क्योंकि स्नान, भोजन, धन आदि मिलने पर भी मैं तो मृत्यु के भय से काँप रहा था। मुझे तो कुछ भी सुधबुध नहीं थी कि मैंने क्या खाया-पिया या पहना है? मेरे सामने तो मौत नाच रही थी। इसलिए अन्य सुखों का तो मुझे भान ही नहीं रहा। जब मेरे कानों में ये शब्द पड़े कि तुम्हारा मृत्युदण्ड सदा के लिए माफ कर दिया गया है, तुमने मरण से रक्षा पा ली है, तो मेरे आनन्द का पार न रहा। मुझे जीवनदान देकर चौथी रानीमाता ने नया जन्म दिया है।" राजा ने तुरन्त निर्णय दे दिया कि अभयदान देना ही सबसे श्रेष्ठ उपकार है। इस पर से यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अभयदान समस्त दानों में श्रेष्ठ है।

सत्यवाक्यों में आध्यात्मिक पुरुष उसे ही श्रेष्ठ कहते हैं, जो निरवद्य—निष्पाप हो, दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाला न हो। सत्य का वास्तविक लक्षण ही यही है—**'सद्भ्यो हितं सत्यम्'**, जो प्राणियों के लिए हितकर हो, वह सत्य है। जो वाक्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाला हो, वह चाहे भाषा की दृष्टि से यथार्थ हो, वास्तव में सत्य नहीं है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

तहेव काणं काणेत्ति पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—इसी प्रकार सत्यवादी साधक काने (एक आँख वाले) को काना न कहे, नपुंसक को नपुंसक न कहे, तथा रोगिष्ठ को रुग्ण न कहे और चोर भी को चोर न कहे। मतलब यह कि किसी के दिल को दुःखित करने की दृष्टि से चाहे सच्ची बात ही कही गई हो, फिर भी उसके पीछे हिंसा का पुट होने से वह सत्य वास्तव में सत्य नहीं कहलाता। कहा भी है—

लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः।
पतितो वधयुक्त न, नरके तीव्रवेदने॥

अर्थात्—जगत् में भी यह बात सुनी जाती है कि कौशिक मुनि ने सच्ची बात तो कही, किन्तु वह प्राणिवधकारक थी, इसलिए उस पापयुक्त वचन के फल स्वरूप वे मरकर तीव्रवेदना वाले नरक में गए।

तथैव नवविध ब्रह्मचर्यगुप्तियों से युक्त ब्रह्मचर्य तप ही समस्त तपों से बढ़कर है, यह बात भी अनुभवसिद्ध है। अन्य शास्त्रों में भी कहा है—**'ब्रह्मचर्यं परं तपः'** ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तप है।

इसी तरह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी लोक में सर्वोत्कृष्ट दान (अभय-दान), सर्वोत्कृष्ट सत्य (निरवद्य वचन) एवं सर्वोत्कृष्ट तप (ब्रह्मचर्य) तथा उत्तम रूपसम्पत्ति, सर्वोत्कृष्ट शक्ति, एवं क्षायिक ज्ञान, दर्शन और शील से सम्पन्न होने के कारण लोकोत्तम हैं।

मूल पाठ

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥२४॥

संस्कृत छाया

स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा, सभा सुधर्मा वा सभानां श्रेष्ठा।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वधर्माः, न ज्ञातपुत्रात्परोऽस्ति ज्ञानी ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**ठिईण**) जैसे स्थिति (आयु) वालों में (**लवसत्तमा सेट्ठा**) लवसप्तम अर्थात् पाँच अनुत्तर विमानवासी देवता श्रेष्ठ हैं। (**सुहम्मा सभा सभाण सेट्ठा**) जैसे सुधर्मासभा समस्त सभाओं में श्रेष्ठ है। (**जह सव्वधम्मा निव्वाण सेट्ठा**) सब धर्मों में जैसे निर्वाण श्रेष्ठ धर्म है, इसी तरह (**ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी**) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है, अर्थात् महावीर स्वामी सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे।

भावार्थ

जैसे सुखमय जीवन की सबसे लम्बी आयु (स्थिति) में सर्वार्थसिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक २६वें देवलोक के देवों की आयु श्रेष्ठ है, सब सभाओं में प्रथम देवलोक के सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है, सब धर्मों में निर्वाण की ही श्रेष्ठता है, उसी प्रकार ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर भी ज्ञानियों में सबसे श्रेष्ठ थे, उनसे बढ़कर कोई ज्ञानी उस युग में नहीं था।

व्याख्या

ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर

इस गाथा में तीन सर्वश्रेष्ठ बातों की उपमा देकर श्रमण भगवान् महावीर को ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

'**लवसत्तमा**' लवसप्तम पारिभाषिक शब्द है। शालिधान आदि की एक मुट्ठी की लवन (काटने की) क्रिया में जितना समय लगता है, उसे '**लव**' कहते हैं। सात लवों के जितना समय लवसप्तम कहलाता है। अनुत्तर विमानवासी देवों की यह संज्ञा है। इसका कारण यह है कि यदि उन्हें सात लव की आयु अधिक मिल गई होती तो वे अपने शुद्ध परिणामों से मोक्ष प्राप्त कर लेते, किन्तु आयु की इतनी न्यूनता होने से वे मोक्ष प्राप्त न कर सके और अनुत्तर विमानों में देवरूप से उत्पन्न हुए। संसार के सुखमय जीवन की सर्वोत्कृष्ट दीर्घतर स्थिति (आयु) में सर्वार्थ सिद्ध (लवसप्तम) नामक २६वें देवलोक के देवों की स्थिति (आयु) श्रेष्ठ है।

सभाओं में प्रथम देवलोक के सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें अनेक क्रीड़ा के स्थान बने हुए हैं। तथा सब धर्मों ने निर्वाण (मोक्ष) को श्रेष्ठ माना है, कुप्रावचनिक तक भी अपने दर्शन का फल मोक्ष ही बताते हैं। जितने भी धर्म या दर्शन हैं सभी एक या दूसरे प्रकार से निर्वाण या मोक्ष को श्रेष्ठ पुरुषार्थ और जीवन का अन्तिम ध्येय मानते हैं। इसी तरह सर्वज्ञ श्री भगवान् महावीर स्वामी ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ थे, उनसे बढ़कर और कोई ज्ञानी उस युग में नहीं था।

मूल पाठ

पुढोवमे धुणइ विगयगेहो, न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ॥२५॥

संस्कृत छाया

पृथिव्युपमो धुनाति विगतगृद्धिः, न सन्निधिं करोत्याशुप्रज्ञः ।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघमभयंकरो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥२५॥

अन्वयार्थ

(**पुढोवमे**) भगवान् महावीर स्वामी पृथ्वी के समान सब प्राणियों के लिए आधारभूत थे, (**धुणइ**) आठ प्रकार के कर्ममलों को दूर करने वाले थे, (**विगयगेही**) वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में गृद्धि-आसक्ति से रहित थे। (**आसुपन्ने**) सदा सर्वत्र उपयोगवान थे, (**न सण्णिहिं कुव्वइ**) वे धन, धान्य आदि पदार्थों का बिलकुल संग्रह नहीं करते थे, अथवा वे क्रोधादि या परिजन, भक्ति आदि का सान्निध्य-संसर्ग-आसक्ति नहीं करते थे। (**महाभवोघं सम्मुद्दं व तरिउं**) महान् संसार समुद्र के प्रवाह को समुद्र की तरह पार करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था। (**अभयंकरे वीर अणंतचक्खू**) भगवान् सभी प्राणियों को अभय देने या करने वाले थे, कर्मों को विदारण करने के कारण वीर थे, अनन्तचक्षु (अनन्तज्ञानसम्पन्न) थे।

भावार्थ

भगवान् महावीर पृथ्वी के समान सब जीवों के आधारभूत थे, अथवा पृथ्वी के समान भयंकर उपसर्गों और परीषहों के कष्टों को समभाव से सहने वाले क्षमावीर थे। कर्ममल का नाश करने वाले थे। आशा, तृष्णा, मूर्च्छा-ममता या आसक्ति से सर्वथा दूर थे। भगवान् ने धन-धान्य आदि किसी भी वस्तु का कभी संग्रह न किया। उनका ज्ञान निरन्तर उपयोग सहित था। महाभयंकर संसार समुद्र को समुद्रवत् तैरकर वीरप्रभु अभयंकर (सब प्राणियों को अभय करने वाले) बन गए थे और इसी प्रकार वे अनन्तचक्षु थे, चक्षु की तरह मार्गदर्शक थे, नेता थे, अथवा अनन्तज्ञानी बन गए थे।

व्याख्या

अनेक विशिष्ट गुणों के निधि : भगवान् महावीर

इस गाथा में भगवान् महावीर को सर्वसहिष्णु, सर्वाधार, कर्ममुक्त, अनासक्त, असंग्रही, संसारसमुद्रपारगामी, अभयंकर, वीर और अनन्तचक्षु बताकर उन्हें गुणों के भण्डार बताया है। जैसे पृथ्वी सब जीवों का आधार है, उसी तरह भगवान् महावीर भी सबको अभय देने एवं उत्तम हितकर उपदेश देने से सब जीवों के आधार थे। अथवा पृथ्वी जैसे सर्वसहा एवं क्षमा कहलाती है, वैसे ही भगवान् भी समस्त परीषहों और उपसर्गों को भली-भाँति समभाव से सहते थे और क्षमाशील थे। भगवान् आठों ही कर्मों को सर्वथा नष्ट करने वाले थे, वे बाह्याभ्यन्तर वस्तुओं की गृद्धि आशा-तृष्णा से रहित थे। सन्निधि सन्निधान या निकटता को कहते हैं। धन-धान्य आदि तथा द्विपद-चतुष्पद आदि के सम्पर्क या संग्रह को द्रव्य-सन्निधि कहते हैं, और सामान्यरूप से सब कषायों या विकारों के सम्पर्क को भाव-सन्निधि कहते हैं। भगवान् दोनों प्रकार की सन्निधि नहीं करते थे। वे आशुप्रज्ञ थे, अर्थात् सर्वत्र सदैव उपयोगवान थे, छद्मस्थ की तरह मन से सोचकर पदार्थ का निश्चय नहीं करते थे। भगवान् ने बहुत दुःखों से भरे चार गति वाले संसार-सागर को पार करके सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त कर लिया था। वे अभयंकर थे, अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों का रक्षणरूप अभय स्वयं देते थे और सदुपदेश देकर दूसरे से अभय दिलाते थे। तथा भगवान् वीर थे—अर्थात् आठ प्रकार के कर्मों को विशेषरूप से दूर करते थे। तथा जिसका अन्त (नाश) नहीं होता, यानी जो नित्य है अथवा ज्ञेय वस्तु के अनन्त होने से जो अनन्त है, ऐसा केवलज्ञान जिनका नेत्र के समान है, वे वीरप्रभु अनन्तचक्षु हैं।

मूल पाठ

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पावं ण कारवेइ ॥२६॥

संस्कृत छाया

क्रोधञ्च मानं च तथैव मायां, लोभं चतुर्थञ्चाध्यात्मदोषान्।
एतान् वान्त्वाऽर्हन् महर्षिर्न करोति पापं न कारयति ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**अरहा महेसी**) अर्हन्त महर्षि श्री महावीर स्वामी (**कोहं च माणं च तहेव मायं**) क्रोध, मान और माया (**चउत्थं लोभं**) तथा चौथा लोभ (**एआणि**) इन (**अज्झत्थदोसा**) अध्यात्म (आत्मा के अन्दर के) दोषों का (**वंता**) वमन त्याग करके (**ण पावं कुव्वइ ण कारवेइ**) न तो स्वयं पाप करते थे, और न ही दूसरों से कराते थे।

भावार्थ

संसार के सर्वश्रेष्ठ महर्षि भगवान् महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अध्यात्म दोषों (अन्तर् के विकारों) का पूर्णतया त्याग करके अर्हन्त (पूज्य, विश्ववन्द्य) बन गए थे। इसके पश्चात् भगवान् ने न कभी स्वयं पापाचरण किया और न ही दूसरों से करवाया और न करने वालों का अनुमोदन ही किया।

व्याख्या

अन्तरंग दोषों एवं पापों से सर्वथा दूर अर्हन्त महर्षि

इस गाथा में महर्षि भगवान् महावीर के द्वारा कषायत्याग तथा पापों के कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करके अर्हत्पद प्राप्त करने का सारगर्भित निरूपण है। न्यायशास्त्र का यह एक माना हुआ तथ्य है कि 'कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है'। इस दृष्टि से महर्षि भगवान् महावीर ने संसार की उत्पत्ति के कारणभूत क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक विकारों (अध्यात्म-दोषों) का त्याग करके अर्हत्पद प्राप्त किया। वीतरागता की प्राप्ति उन्हें किसी अन्य शक्ति से वरदान के रूप में नहीं हुई, न उनके बदले किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे के पुरुषार्थ से हुई। स्वयं ही जब उन्होंने पूर्वोक्त अध्यात्म-दोषों के निवारण के लिए पुरुषार्थ किया, और स्वयं कषायों, रागद्वेष-मोह आदि पर विजय प्राप्त की, तब स्वतः वीतराग तीर्थंकर एवं महर्षि बने। वस्तुतः महर्षित्व भी तभी प्राप्त होता है, जब अध्यात्म-दोषों पर विजय प्राप्त करली जाती है, और पापों का कृत-कारित-अनुमोदित रूप तीन करण एवं मन-वचन-काया तीन योग से त्याग किया जाता है। भगवान् ने दोनों प्रकार की आध्यात्मिक साधना करके आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हस्तगत कीं।

मूल पाठ

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥२७॥

संस्कृत छाया

क्रियाऽक्रिये वैनयिकानुवादमज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम्।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा, उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**किरियाकिरियं**) क्रियावादी, अक्रियावादी तथा (**वेणइयाणुवायं**) विनयवादी (**वैनयिक**) के कथन को एवं (**अण्णाणियाणं ठाणं पडियच्च**) अज्ञानवादियों (अज्ञानिकों) के स्थान—मतपक्ष को जानकर (**से इति सव्ववायं वेयइत्ता**) फिर इस प्रकार वे समस्तवादियों के मन्तव्य को समझाकर (**संजमदीहरायं**) आजीवन संयम में (**उवट्ठिए**) प्रवृत्त हुए, स्थिर रहे।

भावार्थ

भगवान् महावीर ने क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद आदि सब प्रकार के मत-मतान्तरों को पहले स्वयं भली भाँति जाना, तत्पश्चात् जनता को समस्त वादियों का मन्तव्य तथा उनमें निहित सत्य का वास्तविक रहस्य समझाया। भगवान् ज्ञान के साथ संयम के बड़े उत्कृष्ट साधक थे। अतः वे जीवनपर्यन्त निर्दोष शुद्ध संयम में स्थित रहे।

व्याख्या

मतमतान्तरों के बीच भी सत्य और संयम में स्थिर

इस गाथा में भगवान् महावीर की समता, अनेकान्तवादिता एवं सत्यता तथा संयमनिष्ठा का परिचय दिया गया है कि किस प्रकार वे अनेकानेक मत-मतान्तरों के बीच रहकर भी अपने को समता एवं अनेकान्तवाद की पगडंडी पर स्थिर रखते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावादियों का सिद्धान्त है कि क्रिया से ही मोक्ष मिलता है। अक्रियावादी ज्ञानवादी होते हैं, वे कहते हैं कि वस्तु के यथार्थ ज्ञान मात्र से ही मोक्ष हो जाता है, क्रिया की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि सांख्यदर्शन की उक्ति है—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशय ॥

अर्थात्—पच्चीस तत्त्वों का जानकार व्यक्ति चाहे जिस आश्रम में हो, जटाधारी हो, मुंडित हो या शिखाधारी, वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। विनयवादी विनय से ही मोक्षप्राप्ति मानते हैं। वे कहते हैं—सबका विनय करो। गोशालक मतानुयायी वैनयिक कहलाते हैं, क्योंकि वे विनयाचार को ही महत्त्व देते हैं। चौथे अज्ञानवादी हैं, वे अज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं—ज्ञान से ही सब गड़बड़झाला पैदा होती है। वितण्डावाद, अहंकार आदि सब ज्ञान के कारण ही पैदा होते हैं। इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है। अनजाने में किया हुआ पाप दोषापत्तिकारक नहीं माना जाता है, उसका फल भी नहीं मिलता आदि।[1]

समतावादी भगवान् महावीर ने इन सभी मतवादियों के मतों को भली भाँति समझकर भव्यजीवों को इनमें निहित सत्य का रहस्य समझाते हुए स्वयं ने ज्ञान के साथ-साथ संयम का आचरण भी आजीवन किया। आपने जो कुछ भी कहा, उसे पहले अपने जीवन में आचरित करके बताया था। आप केवल वाणीशूर नहीं थे, अपितु आपने ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्यक् आचरण किया था। जैसा कि जैनाचार्य प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं—

यथा परेषां कथका विदग्धाः शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः।
शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर् वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥

अर्थात्—हे प्रभो! दूसरे धर्म या दर्शन वाला विदग्ध (विद्वान्) कथक (धर्मोपदेशक) शास्त्रों की रचना करके भी लघुता को प्राप्त हुए, क्योंकि अपने शिष्य तथा वे जो दूसरों को उपदेश देते हैं, तदनुसार स्वयं आचरण नहीं करते। इसलिए उनमें जो वक्तृत्व (वाणी में पूर्वापर या कथनी-करनी के विरोध रूप) दोष हैं, वे दोष आप में कतई नहीं है, क्योंकि आपकी तो कथनी के अनुरूप करणी भी होती है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा —**उवट्ठिए संयमदीहरायं**। अर्थात् भगवान् संयम में दीर्घरात्र—जीवन भर तक उद्यत रहे।

---

१ क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी के ३६३ भेदों तथा उनके स्वरूप का विशेष विश्लेषण आगे यथाप्रसंग करेंगे। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

संस्कृत छाया

स वारयित्वा स्त्रियां सरात्रिभक्तामुपधानवान् दुःखक्षयार्थाय।
लोकेविदित्वाऽऽरं परं च, सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम् ॥२८॥

अन्वयार्थ

(**से पभू**) वे वीरप्रभु (**सराइभत्तं इत्थी वारिया**) रात्रिभोजन और स्त्री (स्त्रीसंसर्ग) छोड़कर (**दुक्खखयट्ठयाए**) दुःख के कारणभूत कर्मों के क्षय करने के लिए (**उवहाणवं**) सदा तप (विशिष्ट तप) में प्रवृत्त रहते थे। (**आरं परं च लोगं विदित्ता**) इहलोक और परलोक को जानकर (**सव्ववारं सव्वं वारिय**) भगवान ने समस्त प्रकार के सर्वपापों को छोड़ दिया था।

भावार्थ

वे भगवान महावीर प्रभु त्यागमार्ग के अतीव कठोर साधक थे। इसीलिए उन्होंने रात्रिभोजन तथा स्त्रीसम्पर्क दोनों का त्याग कर दिया। सांसारिक दुःखों की परम्परा का समूल नाश करने के लिए भगवान् ने उग्र तपश्चर्या की थी। लोक और परलोक के रहस्य एवं कारणों को जानकर भगवान ने लोक-परलोक सम्बन्धी वासनाओं का सर्वपापों का पूर्णरूप से त्याग कर दिया था।

व्याख्या

कठोर त्यागमार्ग के उत्कृष्ट साधक : वीरप्रभु

इस गाथा में भगवान् महावीर के द्वारा रात्रिभोजन, स्त्रीसंसर्ग तथा अन्य समस्त पापों का त्याग तथा तप क्यों किया गया था? इन सबका संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है।

वास्तव में महावीर प्रभु कठोर त्यागमार्ग के साधक थे। इसीलिए उन्होंने हिंसा और अब्रह्मचर्य में कारण समझकर क्रमशः रात्रिभोजन एवं स्त्रीसम्पर्क का त्याग कर दिया था। यही नहीं, उन्होंने अपने संघ के साधु-साध्वियों के लिए भी इसी प्रकार का त्याग करना अनिवार्य बताया था। उपलक्षण से प्राणातिपात, मृषावाद आदि अन्य सभी पापों को भी छोड़ दिया था, यह भी इसके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए। भगवान् ने अपने शरीर को तपश्चरण साधना से साध लिया था। ऐसा उन्होंने क्यों किया? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—**दुक्खखयट्ठयाए**।' अर्थात् सभी प्राणियों को दुःख देने वाले कर्मों का क्षय करने के लिए ही उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा किया था। प्राणियों को अष्टविध कर्म ही दुःख देते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् ने इहलोक और परलोक को भलीभाँति जानकर अथवा चार गति रूप संसार के विविध कारणों, चारों गतियों के स्वरूप तथा उनकी प्राप्ति के कारणों को जान कर उक्त सभी पापों को सर्वथा छोड़ दिया था।

आशय यह है कि भगवान् ने स्वयं हिंसा आदि पापों का परित्याग करके दूसरों को भी इस धर्म में स्थापित किया था। वस्तुतः जो व्यक्ति अपने धर्म में स्वयं स्थित नहीं होता वह दूसरों को उस धर्म में स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकता। कहा भी है—

ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्,
परान्नलं कश्चिद् दमयितुमदान्तः स्वयमिति।
भवान् निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं,
स्वमात्मानं तावद् दमयितुमदान्तं व्यवसितः॥

अर्थात्—जो मनुष्य कहता तो न्यायसंगत बात है, परन्तु अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है, वह स्वयं अजितेन्द्रिय होकर दूसरों को जितेन्द्रिय नहीं बना सकता। इसलिए प्रभो! आप स्वयं इस बात को जानकर तथा सारे संसार के स्वरूप का निश्चय करके सर्वप्रथम अपनी आत्मा का दमन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। तथा देवों के पूज्य चार ज्ञान के धनी, तीर्थंकर भगवान् (केवलज्ञान होने से पहले) मोक्षप्राप्ति के लिए अपने बलवीर्य का पूर्ण उपयोग करते हुए पूर्ण उत्साह के साथ उद्यम करते थे।

मूल पाठ

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहियं अट्ठपओवसुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति॥२९॥

॥ त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

श्रुत्वा च धर्ममर्हद् भाषितं समाहितमर्थपदोपशुद्धं।
तं श्रद्दधानाश्च जना अनायुष, इन्द्रइव देवाधिपा आगमिष्यन्ति॥२९॥

॥ इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**अरहंतभासियं**) श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, (**समाहियं अट्ठपओवसुद्धं**) युक्तियुक्त और अर्थ तथा पदों से शुद्ध (**धम्मं सोच्चा**) धर्म को सुनकर (**तं सद्दहाणा**) उस पर श्रद्धा रखने वाले (**जणा अणाऊ**) व्यक्ति आयुष्यकर्म से रहित—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त हो जाते हैं। (**इंदा व देवाहिव आगमिस्संति**) अथवा इन्द्रों की तरह देवताओं के अधिपति--स्वामी होते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी गणधर श्री जम्बूस्वामी से वीरस्तुति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—जो साधक रागद्वेष विजेता अरिहन्त भगवान महावीर द्वारा सम्यक् प्रकार से कथित धर्म को सुनकर युक्तियुक्त, तथा शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा शुद्ध धर्म प्रवचन पर श्रद्धा रखेंगे वे व्यक्ति जन्ममरण के बन्धन (आयुष्य कर्मबन्धन) से रहित होकर सिद्ध-पद प्राप्त करेंगे, अथवा स्वर्ग में देवताओं के अधिपति—स्वामी इन्द्र बनेंगे।

व्याख्या

जिनेन्द्रभाषित धर्म के आराधकों की गति

इस गाथा में इस वीरस्तुति अध्ययन का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मास्वामी तीर्थंकर वीरप्रभु के गुणोत्कीर्तन करने के पश्चात् अपने शिष्यों से कहते हैं कि श्री तीर्थंकर द्वारा भाषित जो श्रुत-चारित्ररूप अथवा दुर्गति में गिरती हुई आत्मा को धारण करके रखने वाले धर्म को, जो कि उत्तम युक्ति और हेतु से संगत है, जो अर्थों और शब्दों की दृष्टि से शुद्ध है, सुनकर, श्रद्धा करते हैं तथा आचरण करते हैं, वे जीव आयुकर्म से रहित हों तो सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं और यदि आयु के सहित हों तो इन्द्र आदि देवाधिपति होते हैं। यह इस गाथा का आशय है।

सारांश यह है कि इस अध्ययन में भगवान् महावीर की स्तुति उनके साधनामय जीवन के विविध पहलुओं को लेकर उत्तमोत्तम विविध गुणों का विश्लेषण करके श्री सुधर्मास्वामी द्वारा की गई है।

इति शब्द समाप्ति का सूचक है, ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम अध्ययन : कुशील-परिभाषा

इस अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

छठे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब सातवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इसका पहले के अध्ययनों के साथ सम्बन्ध यह है कि प्रथम अध्ययन के प्रारम्भ में बन्धन को जानकर उसे तोड़ने का निर्देश दिया था। कर्म-बन्धन के सन्दर्भ में उसके करणों और उनके निवारण का उपाय भी साथ-साथ प्रत्येक अध्ययन में शास्त्रकार बताते चले गये हैं। बन्धन के मिथ्यात्व, अविरति, आदि पाँच कारणों में से कुशील भी अविरति के अन्तर्गत आता है। क्योंकि कुशील-सेवन से जो कर्मबन्धन होता है, वह इतना गाढ़तर होता है कि अन्त में दुर्गति में जाने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। एक बार नरकादि दुर्गति में जाने के बाद मिथ्यात्वसम्पन्न प्राणी के लिए भारी कर्मबन्धनों को काटने और पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करके व्रताचरण या सुशील का आचरण करना अतीव दुष्कर है। इसलिए शास्त्रकार ने इस अध्ययन का नाम कुशीलपरिभाषा देकर यह बताया है कि कुशील जीव को कैसे-कैसे कर्मबन्धन होते हैं और वह कैसे अपनी आत्मा को कर्मों से भारी कर लेता है ?

पूर्व अध्ययन वीरस्तुति में शील के आदर्श श्रमण भगवान् महावीर की चर्या, उनकी विशिष्ट गुणावली, उनके ध्यान, ज्ञान, तप, शील, दर्शन आदि का वर्णन किया गया है, अब इसमें उससे विपरीत कुशील के सम्बन्ध में बताया गया है, जो सुशील के आदर्शों और आचारविचारों से बिलकुल विपरीत है। इसी कारण इस अध्ययन का नाम कुशीलपरिभाषा रख गया है। इसका सिर्फ एक ही उद्देशक है। इस अध्ययन का अर्थाधिकार यह है कि परतीर्थी, स्वयूथिक पार्श्वस्थ आदि को, जिनका कि आचार-विचार अहिंसा, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य, या अपरिग्रहवृत्ति के अनुकूल नहीं है, जो सरलभाव से अपने दोषों और अपराधों को स्वीकार न करके, अथवा भूलों का परिमार्जन न करके अपने पूर्वाग्रहों पर ही दृढ़ रहते हैं, शिथिल या विपरीत विचार-आचार को सुशील बताते हैं, वे सब चाहे स्वतीर्थिक हों, परतीर्थिक हों, कुशील जनों में परिगणित किये जाते हैं। इस अध्ययन में उक्त कुशील जनों के आचार-विचार, उनका फल तथा उनके फलस्वरूप दुर्गतिगमन आदि का वर्णन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीच-बीच में कहीं-कहीं इनसे विपरीत सुशील जनों के आचार-विचार का भी वर्णन किया गया है। अतः कुशीलपरिभाषा[1] का अर्थ हुआ—कुशील जनों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से सभी पहलुओं से किया गया भाषण—कथन या निरूपण।

शील, अशील और कुशील का निक्षेप दृष्टि से अर्थ

सामान्यतया शील का अर्थ स्वभाव, सदाचार, ब्रह्मचर्य एवं आचार-विचार होता है। शील के सम्बन्ध में चार निक्षेप किये गये है—नामशील, स्थापनाशील, द्रव्यशील और भावशील। नाम-स्थापना सुगम हैं। द्रव्यशील वस्त्र, भोजन, आभूषण आदि के विषय में इस प्रकार है—जो मनुष्य फल की अपेक्षा (परवाह) न करके स्वाभाविक रूप से या स्वभाव से ही जिस द्रव्य का या जिस क्रिया का सेवन करता है, अथवा जिस वस्त्र, भोजन आदि के सेवन करने की आवश्यकता जिस समय नहीं है, उसकी परवाह न करके जो स्वभाव से उस पदार्थ का सेवन करता है अथवा उसी में अपने चित्त को संलग्न रखता है, यह द्रव्यशील है। अथवा चेतन और अचेतन जिस द्रव्य का जो स्वरूप है, उसे भी द्रव्यशील कहते हैं।

भावशील दो प्रकार का है—ओघशील और आभीक्ष्ण्यसेवनाशील। ओघ कहते हैं—सामान्य को। जो व्यक्ति सामान्यतया सावद्ययोगों से विरत (निवृत्त) है, अथवा जो विरताविरत है, वह शीलवान है या ओघ से भावशील है। जो इसके विपरीत है, वह अशीलवान या भाव-अशील है। आभीक्ष्ण्यसेवना अर्थात् निरन्तर या बार-बार सेवन करने की अपेक्षा से धर्म के सम्बन्ध में प्रशंसा, आचार या विचार का अनुष्ठान करना भावशील है। सतत अपूर्व ज्ञान का उपार्जन करते रहना, दर्शन को पुष्ट करते रहना, उपशमप्रधान चारित्र की आराधना करते रहना, विशिष्ट तप या अभिग्रह आदि करते रहना भावशील है। भाव-अशील और भाव कुशील में अन्तर यह है कि अशील न तो शील-पालन या शील में प्रवृत्त होने का संकल्प करता है, न किसी धर्म सम्बन्धी विचार-आचार का अनुष्ठान करता है। जबकि कुशील शीलपालन या शील में प्रवृत्त तो होता है, लेकिन होता है अशुद्ध रूप से, विपरीतरूप से। अप्रशस्त भावशील धर्म की ओट में अधर्म में प्रवृत्ति करता है, क्रोधादि कषायों, चोरी, परनिन्दा, कलह, आक्षेप, मिथ्यादोषारोपण, दम्भ आदि में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जो उपशमप्रधान चारित्र के विपरीत चलते हैं, वे भाव कुशील या कुशील कहलाते हैं। वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार हो सकते हैं, किन्तु यहाँ उन सभी की विवक्षा नहीं है, न उन सभी के वर्णन का अवकाश है। इस अध्ययन में संक्षेप में नपे-तुले शब्दों में कुछेक विवक्षित कुशीलजनों के सम्बन्ध में

---

१ परि-समन्तात् भाष्यन्ते निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनतश्चेति परिभाषा, कुशीलानां परिभाषा—कुशीलपरिभाषा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपण किया गया है। निर्युक्तिकार के शब्दों में इस अध्ययन में विवक्षित कुशील-वर्णन देखिए—

अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य।
फासुं वयंति सीलं अफासुया मो अभुंजंता ॥८९॥
जइ णाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जे य इच्छंति ॥९०॥

कुत्सित-निन्दित या बुरे शील वाले परतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि तथा अन्य जो भी अविरत हैं, उनका इस कुशील-परिभाषा नामक अध्ययन में वर्णन है।

इस लोक में धर्मध्यान, अध्ययन, सदनुष्ठान आदि को छोड़कर तथा धर्म के आधारभूत अपने शरीर के पालन के लिए आहार की प्रवृत्ति को छोड़कर अन्य सांसारिक प्रवृत्ति करते हैं, वे कुशील या दुःशील हैं। सुशील-कुशील की इसी परिभाषा को लेकर इस अध्ययन में विचार किया गया है।

इस दृष्टि से जो कुतीर्थिक, तथा स्वयूथिक स्वच्छन्दाचारी, पार्श्वस्थ आदि सचित्त वस्तु (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति या द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव या त्रसजीव निष्पन्न सजीव पदार्थ) का सेवन करते हैं, वे अप्रासुकप्रतिसेवी हैं, फिर भी वे धृष्टतापूर्वक अपने आपको सुशीलवान् कहते हैं, मगर वे सुशीलवान नहीं हैं, क्योंकि विद्वान् पुरुष अचित्त वस्तु-सेवन को ही शील कहते हैं। आशय यह है कि प्रासुक और उद्गम आदि दोषरहित आहार सेवन करने वाले साधु शीलवान कहलाते हैं; अन्य नहीं। इस विषय में निर्युक्तिकार कुछ नाम लेकर बताते हैं—गोव्रतिक, चण्डी-उपासक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचिक, भागवत, पार्श्वस्थ, अवसन्न, अपछन्द आदि स्वयूथिक जो उद्गमादि दोषयुक्त आहारभोजी हैं, ये, और इस प्रकार के व्यक्तियों की गणना कुशील में की जाती है। गोव्रतिक वे लोग हैं, जो प्रशिक्षित (सिखाये हुए) छोटे से बैल को लेकर अन्न आदि के लिए घर-घर घूमते हैं। दूसरे चण्डी-उपासक हैं, जो हाथ में चक्र धारण करते हैं, चण्डी की उपासना करते हैं, पशुबलि देते या दिलाते हैं। तीसरे हैं—वारिभद्रक, जो सचित्त जल पीकर रहते हैं अथवा शैवाल खाकर जीते हैं, प्रतिदिन कई बार स्नान तथा बार-बार हाथ-पैरों के धोने आदि में रत रहते हैं। चौथे हैं—अग्निहोत्रवादी, जो अग्नि में होम करने से ही स्वर्गप्राप्ति बताते हैं, इसके बाद भागवत आदि हैं, जो रातदिन जलशौच आदि में ही संलग्न रहते हैं, ये और इस प्रकार के अन्य जो भी सचित्त (सजीव) पदार्थसेवी हैं, यानी धर्म या साधना के नाम पर एकेन्द्रियादि जीवों का उपमर्दन करते हैं, इसलिए कुशील में परिगणित होते हैं। इनके अतिरिक्त स्वयूथिक भी पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, अपछन्द, आदि जो उद्गमादि दोषयुक्त आहार-सेवन करते हैं, वे भी कुशील में गिने जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुशील विषयक वर्णन के सन्दर्भ में क्रमप्राप्त गाथाएँ इस प्रकार प्रकार हैं—

मूल पाठ

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं, एएसु जाणे पडिलेह सायं ।
एएण काएण य आयदंडे, एएसु या विप्परियासुवेति ॥२॥

संस्कृत छाया

पृथिवी चापश्चाग्निश्च वायुः तृणवृक्षबीजाश्च त्रसाश्च प्राणाः ।
येऽण्डजा ये च जरायुजाः प्राणाः, संस्वेदजा ये रसजाभिधानाः ॥१॥
एते कायाः प्रवेदिताः, एतेषु जानीहि प्रत्युपेक्षस्व सातम् ।
एतैः कार्यैर्ये आत्मदण्डाः, एतेषु चं विपर्यासमुपयान्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ**) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (**तण रुक्ख बीया य तसाय पाणा**) तृण, वृक्ष, बीज, और त्रस प्राणी (**जे अंडया**) तथा जो अण्डज हैं, (**जे य जराउ पाणा**) तथा जो जरायुज प्राणी हैं (**संसेयया जे रसयाभिहाणा**) जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) हैं तथा जो रसज संज्ञक (जो विकृति वाले रस से उत्पन्न होते) हैं। (**एयाइं कायाइं पवेइयाइं**) इन सबको सर्वज्ञों ने जीव का पिण्ड कहा है। (**एएसु**) इन पृथ्वीकाय आदि में (**सायं जाणे**) सुख की इच्छा जानो (**पडिलेह**) इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो (**एएण काएण य आयदंडे**) जो उक्त प्राणियों का नाश करके अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, वे (**एएसु वा विप्परियासुवेति**) इन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करते हैं।

भावार्थ

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज, और जो त्रस प्राणी तथा अण्डज (पक्षी आदि), जरायुज (मनुष्य गाय आदि), स्वेदज (जूँ लीख आदि) और रसज (दूध, दही आदि में उत्पन्न होने वाले) हैं, इन्हें सर्वज्ञों ने जीव के शरीर (काय) कहा है। इन पृथ्वीकायिक आदि जीवों में सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर बारीकी से विचार करो। जो जीव इन शरीरधारी प्राणियों का नाश करके उक्त पाप से अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, वे बार-बार इन्हीं प्राणियों में जन्म ग्रहण करते हैं।

व्याख्या

जीवों के प्रकार तथा उनके नाश से अपनी महाहानि

इन दो गाथाओं में शास्त्रकार ने आहार आदि के निमित्त से जीवहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले व्यक्तियों को कुशील में परिगणित करने के लिए जीवों के मुख्य-मुख्य प्रकार बताकर उनके उपमर्दन—प्राणनाश से हिंसाकर्ता की कितनी बड़ी हानि होती है ? इसे संक्षेप में बताया है।

पुढवी—पृथ्वी को शरीर बनाकर रहने वाले जीव, अर्थात् जिनका शरीर ही पृथ्वी है। यहाँ 'य' शब्द इसके अन्तर्गत भेदों को सूचित करता है। पृथ्वीकायिकों के सूक्ष्म और बादर दो भेद होते हैं, फिर इन दोनों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के ४ भेद होते हैं।

इसी प्रकार अप्कायिक (जलकायिक), तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के भी चार-चार भेद समझ लेने चाहिए।

वनस्पतिकायिक जीवों के कितने भेद होते हैं ? इसे शास्त्रकार बताते हैं—तृण अर्थात् घास, कुश, तिनका आदि, वृक्ष यानी आम, नीम, जामुन आदि, बीज का अर्थ है—विविध प्रकार के गेहूँ, जौ, चना, मूँग, मोठ आदि जनाज तथा फलों के बीज आदि। बीच-बीच में पड़े हुए 'य' शब्द अन्य भेदों को सूचित करते हैं। अर्थात् लता, गुल्म, गुच्छ आदि भेदों को भी वनस्पतिकाय में समझ लेना चाहिए।

तसा य पाणा—जो प्राणी त्रास (उद्वेग या भय) का अनुभव करके एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हैं, हल-चल करते दिखाई देते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। त्रस जीवों में दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर पाँचों इन्द्रियों वाले जीवों तक का समावेश हो जाता है। द्वीन्द्रिय में वे जीव आते हैं, जिनके स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) और रसनेन्द्रिय (जीभ) हो। जैसे लट, गिंडोला, अलसिया, शंख, कौड़ी, जोंक आदि। त्रीन्द्रिय में वे जीव गिने जाते हैं, जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय (नाक) हो। जैसे चींटी, मकोड़ा, जूं, लीख, चींचण, खटमल, गजाई, खजूरे, दीमक, धनेरिया आदि जीव। चतुरिन्द्रिय में वे प्राणी माने जाते हैं, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय, ये ४ इन्द्रियाँ हों। जैसे टिड्डी, पतंगा, मक्खी, मच्छर, भौंरा, बिच्छू, भृंगारी आदि जीव। इसके बाद पंचेन्द्रिय जीवों में उनकी गणना होती है, जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) ये पाँचों इन्द्रियाँ हों। इनके मुख्यतया ४ भेद हैं—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। तिर्यंच पंचेन्द्रिय में जलचर, खे (आकाश) चर, स्थलचर (जमीन पर चलने वाले) उरपरिसर्प (छाती के बल पर चलने वाले) भुजपरिसर्प (भुजा के बल पर चलने वाले)। इनके संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, गर्भज-संमूर्च्छिम आदि अनेक अवान्तर भेद होते हैं।

यहाँ शास्त्रकार ने त्रस जीवों के अण्डज, जरायुज, संस्वेदज एवं रसज ये ४ प्रकार प्रदर्शित किये हैं। अण्डज वे कहलाते हैं जो अण्डे में से फूटकर बाहर निकलते हैं—जन्म लेते हैं, जैसे पक्षी, सर्प, गिलहरी आदि। जरायुज वे कहलाते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जरायु चमड़े की झिल्ली में लिपटे हुए जन्म लेते हैं, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि। संस्वेदज वे कहलाते हैं, जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, जैसे जूं, लीख, खटमल, चींचड़ आदि। रसज वे कहलाते हैं, जो दही, कांजी, आदि रसों के विकृत हो जाने पर उत्पन्न होते हैं, जैसे बिगड़ा हुआ अत्यन्त खट्टा, रसचलित तथा सड़ा हुआ दही, कांजी, अथवा शराब आदि। ये सब त्रस जीवों के प्रकार हैं।

पृथ्वीकायिक आदि स्थावर एवं द्वीन्द्रिय आदि त्रसरूप में जीवों के मोटे तौर से भेद बताकर शास्त्रकार उनके उपमर्दन—हिंसा में क्या-क्या दोष होते हैं ? क्या-क्या हानियाँ हैं ? इसे बताते हैं —**'एयाइं कायाइं' ····एएसु य विप्परियासुविंति।'**

आशय यह है कि सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने स्थावर जीवों के ५ एवं त्रसजीवों का एक यों षट् (छह) जीवनिकाय बताये हैं। उन्होंने अपने केवलज्ञान के महाप्रकाश में पृथ्वी आदि में जीवों की सत्ता देखकर संसार को बताई है। उन्होंने यह भी कहा कि इन सभी (चाहे छोटे हों या बड़) जीवों में सुख की इच्छा होती है, यह समझ लेना चाहिए। आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी सुख से जीना चाहता है, कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। दुःख से सभी को नफरत होती है। यह जानकर फिर सूक्ष्मबुद्धि से विचार करो कि जैसे मुझे कोई किसी भी प्रकार से पीड़ा देता है तो मुझे दुःख होता है, वैसे ही इनको पीड़ा देने पर इन्हें भी दुःख होगा। साथ ही क्रिया की प्रतिक्रिया भी होती है, किसी भी प्राणी को पीड़ा देने, उसका घात करने या क्षति पहुँचाने से उसे दुःख होने के साथ-साथ पीड़ा आदि पहुँचाने वाले (हिंसक) की आत्मा भी पापकर्मबन्धन से भारी हो जाती है, और उसके परिणामस्वरूप भयंकर दण्ड दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। निष्कर्ष यह है कि दूसरों को पीड़ित करना अपनी आत्मा को पीड़ित या दण्डित करना है। इनकी हिंसा करने से हिंसाकर्ता को भयंकर कष्ट के रूप में उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। अथवा जो जीव इन प्राणियों को चिरकाल तक दण्ड देते हैं, पीड़ा पहुँचाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, वह शास्त्रकार के शब्दों में सुनिये—**'एएसु य विप्परियासुविंति।'**

अर्थात्—पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि जीवों को पीड़ा देने वाले जीव, इन्हीं पृथ्वीकाय आदि योनियों में बार-बार जन्म लेते हैं। अथवा 'विपर्यास को प्राप्त होते हैं' इसका अर्थ यह भी है कि जो जीव सुख की प्राप्ति के लिए जीवों का आरम्भ (हिंसा) करते हैं, उन्हें उससे सुख के बदले उलटा दुःख ही मिलता है, सुख कदापि नहीं मिलता। अथवा कुतीर्थीगण मोक्ष के लिए इन प्राणियों का उपमर्दन करके जो क्रिया करते हैं, उन्हें मोक्ष के बदले संसार—जन्ममरण के चक्र—की ही प्राप्ति होती है।

उक्त प्राणियों को दण्ड देकर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले जीव मोक्ष के बदले संसार को कैसे प्राप्त करते हैं ? यह अगली गाथाओं में बताते हैं —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाइजाइं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वइ मिज्जइ तेण बाले ॥३॥
अस्सि च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

संस्कृत छाया

जातिपथमनुपरिवर्तमानस्त्रसस्थावरेषु विनिघातमेति ।
स जातिजाति बहुक्रूरकर्मा, यत्करोति म्रियते तेन बालः ॥३॥
अस्मिंश्च लोके अथवा परस्तात् शताग्रशो वा तथाऽन्यथा वा ।
संसारमापन्नाः परं परं ते, बध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥४॥

अन्वयार्थ

(**जाइपहं**) एकेन्द्रिय आदि जातियों में (**अणुपरिवट्टमाणे**) बार-बार जन्मता और मरता हुआ (**से**) वह जीव (**तसथावरेहिं**) त्रस और स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर (**विणिघायमेति**) बार-बार नाश होता है, (**जाइ-जाइं बहुकूरकम्मे**) बार-बार जन्म लेकर बहुत क्रूर कर्म करने वाला वह (**बाले**) बाल—अज्ञानीजीव (**जं कुव्वइ**) जो कर्म करता है (**तेण मिज्जइ**) उसी से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥३॥

(**अस्सि च लोए**) इस लोक में (**अदुवा परत्था**) अथवा परलोक में वे कर्म अपना फल देते हैं। (**सयग्गसो वा तह अन्नहा वा**) वे एक जन्म में अथवा सैकड़ों जन्मों में फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गए हैं, उसी तरह अपना फल देते हैं अथवा दूसरी तरह भी देते हैं। (**संसारमावन्न ते**) संसार में परिभ्रमण करते हुए वे कुशील-जीव (**परं परं**) बड़े से बड़ा दुःख भोगते हैं। (**बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि**) वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाँधते हैं और अपने दुर्नीतियुक्त पापकर्मों का फल भोगते हैं ॥४॥

भावार्थ

एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त प्राणियों को दण्ड देने (उपमर्दन करने) वाला जीव बार-बार उन्हीं एकेन्द्रिय आदि योनियों में जन्मता और मरता है। वह उन त्रस-स्थावर योनियों में उत्पन्न होकर घात को प्राप्त होता है। एक जाति से दूसरी जाति में जन्म ग्रहण करके वह अत्यन्त क्रूरकर्मा अज्ञानी जीव अपने ही किये हुए पापकर्मों के कारण मारा जाता है, जन्म मरण करता है।

कोई कर्म इसी जन्म में अपना फल कर्ता को दे देता है, जबकि कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म दूसरे जन्म में फल देता है। कोई एक ही जन्म में फल दे देता है, तो कोई कर्म सैकड़ों जन्मों में जाकर फल देता है। कोई कर्म जिस तरह किया किया गया है, उसी तरह फल दे देता है, तो कोई कर्म दूसरी तरह से फल देता है। कुशील पुरुष सदा संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं और वे एक कर्म का दुःखरूप फल भोगते हुए फिर आर्तध्यान करते हुए दूसरा कर्म बाँधते हैं। इस प्रकार वे अपने दुष्कृत्यों के फलस्वरूप सदा कर्म बाँधते रहते हैं और भोगते रहते हैं।

व्याख्या

प्राणियों का विनाशकर्ता स्वयं विनष्ट होता है

इस तीसरी गाथा में बताया गया है कि पूर्वगाथा में उक्त प्राणियों को दण्डित करने वाला प्राणी किस प्रकार जन्म-जन्म में दण्डित होता है, और अन्त में कैसे अपना विनाश कर लेता है ?

एकेन्द्रिय आदि जातियों के पथ को **'जातिपथ'** कहते हैं। अथवा जाति जन्म को कहते हैं। **'वह'** का 'वह' रूप होकर 'वध' शब्द बन जाता है, उसका अर्थ होता है—मरण। अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियों में जन्म-मरण करता हुआ जीव अथवा बार-बार जन्म-मरण का अनुभव करता हुआ वह जीव द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों में, एवं पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर जीवों को उसने पूर्वजन्म में जिस प्रकार का दण्ड दिया था, तदनुरूप कर्मविपाक से बार-बार नाश को प्राप्त होता है। प्राणियों को अत्यन्त दण्ड देने वाला तथा बार-बार जन्म पाकर उनमें अतिक्रूर-कर्म करने वाला वह जीव सद्-असद् विवेक से रहित होने के कारण बालक के समान अज्ञानी है। वह जिस एकेन्द्रिय आदि जाति के प्राणियों की हिंसारूप जो कर्म करता है, उसी कर्म से वह मर जाता है अथवा उसी कर्म से वह मारा जाता है, अथवा **'मिज्जइ'** का संस्कृत रूप **'मीयते'** भी होता है जिसका अर्थ होता है—वह अतिक्रूरकर्मा पुरुष लोक में 'यह चोर है, गुण्डा है, हत्यारा है, इत्यादि रूप से उसी कर्म के द्वारा बदनाम किया जाता है।

कर्म कदापि और कहीं भी नहीं छोड़ते

चौथी गाथा में पूर्वगाथा के सन्दर्भ में बताया गया है कि कुशील पुरुष को अपने कर्मों का फल कहाँ-कहाँ, कब और किस प्रकार से भोगना पड़ता है। जो कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं, वे इसी जन्म में कर्ता को फल दे देते हैं। अथवा दूसरे जन्म—नरक आदि में वे अपना फल देते हैं। वे कर्म या तो एक ही जन्म में अपना तीव्र विपाक उत्पन्न करते हैं, या फिर अनेक जन्मों में उत्पन्न करते हैं। प्राणी जिस प्रकार से अशुभ कर्म करता है, कर्म उसे उसी प्रकार से फल देता है, अथवा दूसरी तरह से भी देता है। मृगापुत्र की तरह कोई कर्म दूसरे भव में अपना फल देता है। तथा जिसकी दीर्घकालिक स्थिति है, वह कर्म अन्य जन्मों में अपना फल देता है। एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार वह कर्म किया गया है, उसी प्रकार वह अपने कर्ता को एक बार या अनेक बार फल देता है। अथवा वह दूसरी तरह से एक बार या हजारों बार सिर का या हाथ-पैरों का छेदनरूप फल कर्ता को देता है। इस प्रकार प्राणियों को बहुत दण्ड देने वाले वे कुशील-जीव चातुर्गतिक संसार में पड़े हुए अरहट यंत्र की तरह बार-बार संसार में भ्रमण करते रहते हैं और तीव्र से तीव्र दुःख भोगते रहते हैं। पूर्वजन्म के एक कर्म का फल भोगते हुए वे आर्त्तध्यान करके फिर दूसरा कर्म बाँधते हैं और अपने पापकर्म का फल भोगते हैं। अपने किये हुए कर्म का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं। कृतकर्म का फल भोग अनिवार्य है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं —

मा होहि रे विसन्नो जीव ! तुमं विमणदुम्मणो दीणो ।
णहु चिंतिएण फिट्टइ तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥
जइ पविससि पायालं अडविं व दरिं गुहं समुद्दं वा ।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि, अप्पाणं घायसे जइ वि ॥२॥

अर्थात्—अरे जीव ! तू उदास, दीन और दुःखितचित्त मत हो, क्योंकि जो दुःख तूने पहले पैदा किया है, वह चिन्ता करने से मिट नहीं सकता है। चाहे तू पाताल में प्रविष्ट हो जाय, अथवा किसी गहन जंगल में जाकर छिप जाय, या पर्वत की गुफा में जाकर छिप जाय अथवा तू अपनी आत्महत्या करले, परन्तु पूर्वजन्म कृतकर्म से तू बच नहीं सकता।

निष्कर्ष यह है कि कुशील व्यक्ति, चाहे जितना छिपकर एकान्त गुप्त स्थान में कुकर्म करले, वह उसके फल से कदापि बच नहीं सकता।

मूल पाठ

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे भूयाइं जे हिंसति आयसाते ॥५॥

संस्कृत छाया

यो मातरं वा पितरं च हित्वा, श्रमणव्रतेऽग्निं समारभेत।
अथाहुः स कुशीलधर्मा भूतानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥५॥

अन्वयार्थ

(**जे**) जो व्यक्ति (**मायरं वा पियरं च**) माता और पिता को (**हिच्चा**) छोड़ कर (**समणव्वए**) श्रमणव्रत को धारण करके (**अगणिं समारभिज्जा**) अग्निकाय का आरम्भ करता है, (**जे आयसाते भूयाइं हिंसति**) तथा जो अपनी सुख-सुविधा के लिए प्राणियों की हिंसा करता है, (**से लोए कुसीलधम्मे**) वह व्यक्ति लोक में कुशील-धर्म वाला है, (**अहाहु**) ऐसा सर्वज्ञपुरुषों ने कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जो व्यक्ति माता-पिता को छोड़कर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का आरम्भ करता है, तथा जो अपनी सुख-सुविधा के लिए प्राणियों की हिंसा करता है, वह कुशीलधर्म-युक्त है, यह सर्वज्ञ पुरुषों ने कहा है।

व्याख्या

अग्निकाय समारम्भी कुशीलधर्मा है

पूर्वगाथाओं में तथा इस अध्ययन की भूमिका में सामान्य रूप से कुशील का निरूपण किया गया है, अब इस गाथा में शास्त्रकार एक विशिष्ट कुशील, जिसे पाषण्डी कहा जा सकता है, उसके विषय में कहते हैं।

जो व्यक्ति श्रमणचर्या के तत्त्व को तथा श्रमणवृत्ति के परमार्थ को नहीं जानता, किन्तु किसी आवेश में या सनक में आकर अथवा देखा-देखी या फिर घर में किसी के द्वारा ताना मारे जाने पर अथवा सुख-सुविधाओं के या पूजा-प्रतिष्ठा के प्रलोभन में आकर माता-पिता तथा उपलक्षण से भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि परिवार को छोड़कर सहसा श्रमणव्रत की दीक्षा अंगीकार कर लेता है, श्रमणवेष पहन लेता है, सिर मुंडा लेता है, लेकिन अपने धर्म की मर्यादा को भूलकर, अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने की प्रतिज्ञा को ठुकराकर अग्निकाय का आरम्भ करने लगता है। अर्थात् वह पचन-पाचन आदि करने-कराने अनुमति देने एवं उद्दिष्ट आहार-सेवन करने इत्यादि के रूप में अग्निकाय का आरम्भ करता है। वह पाषण्डी — द्रव्यश्रमण अथवा तथाकथित श्रमणव्रतधारी अग्निकाय का आरम्भ करने से कुशील है। जिसके धर्म (श्रमणधर्म) का स्वभाव कुत्सित है—बिगड़ गया है, उसे कुशीलधर्मा कहते हैं। ऐसा तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है। ऐसा व्यक्ति कुशील कैसे है? शास्त्रकार इसी का समाधान करते हुए कहते हैं—**'भूयाइं जे हिंसति आयसाते।'** अर्थात्—भूतों—प्राणियों का वध जो अपनी सुखसुविधा के लिए अथवा परलोक में सुख मिलेगा या स्वर्ग—मोक्ष के सुख के लिए संस्कृति या धर्म की ओट में या रूढ़िपरम्परा या रीति-रिवाजों के पालन करने हेतु करते हैं, वे कुशील हैं। अथवा स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से जो पंचाग्निसेवन तप करते हैं, अग्निहोम आदि क्रियाएँ करते हैं या लौकिक पुरुष पचन-पाचन आदि के द्वारा अग्निकाय-समारम्भ करके सुख चाहते हैं, वे सब कुशील हैं।

मूल पाठ

उज्जालओ पाण निवायएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

उज्ज्वालकः प्राणान् निपातयेत्, निर्वापकोऽग्नि निपातयेत् ।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं, न पण्डितोऽग्नि समारभेत् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**उज्जालओ**) आग जलाने वाला पुरुष (**पाण निवायएज्जा**) प्राणियों का घात करता है, और (**निव्वावओ**) आग बुझाने वाला पुरुष (**अगणि निवायवेज्जा**) अग्निकाय के जीव का घात करता है। (**तम्हा उ**) इसलिए (**मेहावि**) बुद्धिमान् (**पंडिए**) पण्डित पुरुष (**धम्मं समिक्ख**) श्रुत-चारित्ररूप धर्म को देखकर (**अगणि ण समारभिज्जा**) अग्निकाय का समारम्भ (हिंसाजनक प्रवृत्ति) न करे।

भावार्थ

आग जलाने वाला व्यक्ति प्राणियों का घात करता है और आग बुझाने वाला पुरुष भी अग्निकाय के जीवों का वध करता है, इसलिए बुद्धिशील पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह अपने धर्म का विचार करके अग्निकाय का आरम्भ न करे।

व्याख्या

साधक के लिए अग्निकाय-समारम्भ का निषेध

अग्नि में जीव हैं, यह बात कई प्रमाणों से सिद्ध है। जो साधक तपने-तपाने, पचन-पाचन एवं प्रकाश आदि कार्यों के लिए लकड़ी या अन्य ईंधन डालकर आग जलाता है, वह अग्निकायिक जीवों का तो घात करता ही है, अपितु पृथ्वी आदि के आश्रित रहे हुए स्थावर और त्रस जीवों का घात भी करता है। अथवा वह व्यक्ति प्राणियों को मन-वचन-काया से आयु बल एवं इन्द्रियों से विनष्ट करता है। तथा जो व्यक्ति पानी आदि के द्वारा जलती आग को बुझाता है, वह भी अग्निकाय के एवं तदाश्रित जीवों के प्राणों का नाश करता है।

प्रश्न होता है—एक आग को जलाता है, और दूसरा आग को बुझाता है, इन दोनों में से कौन-सा व्यक्ति दूसरे काय के जीवों का अधिक विनाश करता है? इसके उत्तर में यहाँ भगवतीसूत्र का प्रमाण प्रस्तुत है, उसी से पाठक निर्णय कर सकेंगे—

"दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ। तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे वा पुरिसे महाकम्मतराए, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए ? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ?" "कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव, जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव, जाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पवेयणतराए चेव। कालोदाई! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारंभइ, बहुतरागं आउक्कायं समारंभइ, अप्पतरागं तेउकायं समारंभइ, बहुतरागं वाउकायं समारंभइ, बहुतरागं वणस्सइकायं समारंभइ, बहुतरागं तसकायं समारंभइ। तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारंभइ, अप्पतरागं आउक्कायं समारंभइ, बहुतरागं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरागं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरागं वणस्सइकायं समारंभइ, अप्पतरागं तसकायं समारंभइ।"

अर्थात्—"कालोदायी पूछते हैं—भगवन्! एक सरीखे भाण्डपात्रादि साधन वाले दो पुरुष अग्निकाय का समारम्भ करते हैं, दोनों में से एक अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, और दूसरा उसे बुझाता है, तो भंते! इन दोनों में से कौन-सा व्यक्ति महाकर्मयुक्त है और कौन-सा अल्पकर्मयुक्त है? जो आग जलाता है, वह या जो आग बुझाता है, वह?" इसके उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—"कालोदायी! इन दोनों में से जो व्यक्ति अग्नि प्रज्वलित करता है, वह महाकर्मयुक्त है, यावत् महावेदना युक्त है, तथा जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह अल्पकर्मयुक्त है। कारण यह है कि जो व्यक्ति आग जलाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय का बहुत आरम्भ करता है, सिर्फ अग्निकाय का अल्प आरंभ करता है, किन्तु जो व्यक्ति आग बुझाता है, वह पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रसकाय का अल्प आरम्भ करता है, लेकिन अग्निकाय का बहुत आरम्भ करता है। कालोदायी! इसी दृष्टि से आग जलाने वाले को महाकर्मयुक्त और जो आग बुझाता है, उसे अल्पकर्मयुक्त कहा है।" और भी कहा है - **'भूयाणं एसमाघाओ हव्ववाहो ण संसओ'** निःसन्देह अग्नि का आरम्भ जीवों का नाशक है। इस दृष्टि से सद्-असद् विवेकी विद्वान साधक अपने धर्म (साधुधर्म या गृहस्थधर्म) का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे। यहाँ 'पण्डित' शब्द का अर्थ पाप से निवृत्त है। अर्थात् अग्निकाय के समारम्भ करने से अन्य प्राणियों का वध होता है, उससे जो निवृत्त है, वस्तुतः वही पण्डित है।

अग्निकाय के समारम्भ से अन्य प्राणिवध कैसे हो सकता है। इसे अगली गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयसा कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

पृथिव्यपि जीवा आपोऽपिजीवाः, प्राणाश्च सम्पातिमाः सम्पतन्ति ।
संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्चै एतान् दहेदग्निं समारभमाणः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**पुढवी वि जीवा**) पृथ्वी भी जीव है, (**आऊ वि जीवा**) जल भी जीव है, (**संपाइम पाणा य संपयंति**) तथा सम्पातिम (उड़ने वाले पतंगे आदि) जीव आग में पड़कर मर जाते हैं, (**संसेयया**) पसीने से पैदा होने वाले प्राणी, (**कट्ठसमस्सिया**) तथा लकड़ी के आश्रित रहने वाले जीव होते हैं। (**अगणि समारभंते एते दहे**) जो अग्नि का समारम्भ करता है, वह व्यक्ति इन जीवों को जला देता है।

भावार्थ

जो जीव अग्नि को प्रज्वलित करता है, वह पृथ्वीकायिक जीवों को, जलकायिक जीवों को, पतंगे आदि उड़ने वाले जीवों को तथा ईंधन के आश्रित रहने वाले जीवों को भस्म कर देता है।

व्याख्या

अग्नि का आरम्भ : अनेक जीवों के वध का कारण

इस गाथा में उन लोगों का समाधान किया गया है, जो लोग यह मानते हैं कि पृथ्वी में जीव नहीं है, जल में जीव नहीं हैं, तथा कंडे, लकड़ी आदि में कौन-से जीव हैं; जिनका नाश हो जाता है ? आग जब जलती है तो किसी न किसी जमीन पर ही जलाई जाती है, किन्तु जब आग की अत्यन्त तेज गर्म आँच उस मिट्टी को लगती है तो मिट्टी के जो जीव हैं, जिनका शरीर ही मिट्टी का है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं, मिट्टी के आश्रित रहने एवं रेंगने वाले कई बारीक त्रस जीव भी तेज आँच से मर जाते हैं। साथ ही मिट्टी में पानी भी मिला रहता है, जब आग जलती है तो पानी के जीव भी समाप्त हो जाते हैं, अथवा जब आग जिस पानी, मिट्टी आदि से बुझाई जाती है, तब उनके जीव भी मर जाते हैं। इसी तरह जब आग जलती है तो बहुत-सी दफा कई पतंगे आदि उड़ने वाले जन्तु या कीड़े तथा पसीने से पैदा होने वाले जूं, लीख, खटमल आदि भी उसमें गिर पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त कंडे, लकड़ी आदि आग जलाने के साधनों में कई जीव बैठे रहते हैं, कई बार सांप, बिच्छू, कीड़े, मकोड़े, घुण, दीमक आदि वहाँ आकर बसेरा ले लेते हैं। अग्नि जलाने वाला अविवेकी व्यक्ति इन सब जीवों को फूंक देता है। अतः मानना होगा कि अग्निकाय का समारम्भ अनेक जीवों के विनाश का कारण है।

मूल पाठ

हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाई ।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाई ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

हरितानि भूतानि विलम्बकानि, आहारदेहाय पृथक् श्रितानि ।
यच्छिनत्त्यात्मसुखं प्रतीत्य, प्रागल्भ्यात्प्राणानां बहूनामतिपाती ॥८॥

अन्वयार्थ

(**हरियाणि**) हरी दूब और अंकुर आदि भी (**भूयाणि**) जीव हैं, (**विलंबगाणि**) वे भी जीव का आकार धारण करते हैं, (**पुढो सियाई**) वे मूल, स्कन्ध, शाखा और पत्र आदि के रूप में पृथक्-पृथक् रहते हैं। (**जे आयसुहं पडुच्च**) जो व्यक्ति अपने सुख की अपेक्षा से (**आहार देहा य**) तथा अपने आहार या आधारभूत झोंपड़ी मकान आदि अपने शरीर की पुष्टि के लिए (**छिंदती**) इनका छेदन करता है, (**पागब्भि पाणे बहुणं तिवाई**) वह धृष्ट पुरुष बहुत-से जीवों का विनाश करता है।

भावार्थ

हरी दूब, तृण, अंकुर आदि भी वनस्पतिकायिक जीव हैं, वे भी जीव की विभिन्न अवस्थाओं को धारण करते हैं और वृक्ष के आश्रित मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फल, फूल आदि अवयवों के रूप में अलग-अलग रहते हैं। इन जीवों का अपने सुख के लिए तथा अपने आहार या आधार (आवास) एवं शरीर-पोषण के लिए जो छेदन-भेदन करता है, वह धृष्टपुरुष अनेक प्राणियों का घात करता है।

व्याख्या

वनस्पति के विभिन्न अंगों का छेदन : उनका विनाश है

इस गाथा में वनस्पतिकाय के विभिन्न अवयवों में जीव का अस्तित्व सिद्ध करके उनके छेदन-भेदन का निषेध सूचित किया है। शास्त्रकार का आशय यह है कि हरी दूब, हरी घास, या हरे अंकुर आदि जितनी भी हरित वनस्पति है, सब में जीव हैं, क्योंकि आहार आदि से इनकी वृद्धि देखी जाती है; तथा वे जीव के आकार को धारण करते हैं, इनमें अन्तश्चेतना, सुषुप्त चेतना होती है। जैसे मनुष्य कलल (वीर्य), अर्बुद (शुक्राणु या डिम्ब), मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, मध्यम (प्रौढ़) और वृद्ध आदि शारीरिक अवस्थाएँ धारण करता है, इसी प्रकार हरे शाली धान्य आदि जात (उत्पन्न), अभिनव (नवीन), संजात रस (जिसमें रस पैदा हो गया है) युवा, परिपक्व (पका हुआ) और सूखा हुआ तथा मृत (जीवच्युत) आदि अवस्थाओं को धारण करते हैं। वृक्ष आदि भी जब वे पैदा होते हैं तो अब ये अंकुरित हुए हैं, अब इनके कोंपलें लगी हैं, अब इनके पत्ते, फूल, स्कन्ध, शाखा, फल आदि लगे हैं, इसके पश्चात् जब वे स्कन्ध शाखा-प्रशाखा आदि के रूप में बढ़ने लगते हैं, तब युवा या पोत (पौधे) कहलाने लगते हैं। इसी प्रकार उनकी अन्य अवस्थाएँ भी होती हैं, जिन्हें सभी देखते हैं। तथा वे जीव वृक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आश्रित मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि विभिन्न अवयवों के रूप में पृथक् पृथक् स्थान में रहते हैं। अर्थात् मूल से लेकर पत्ते, फूल आदि तक में एक ही जीव नहीं, अपितु अनेक जीव हैं। वनस्पतिकाय में रहने वाले इन जीवों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रकार हैं। अतः जो व्यक्ति (अग्निकाय-समारम्भक तापस तथा स्वयंपाकी शाक्य आदि साधक तथा अन्यमतीय जो व्यक्ति वनस्पतिकाय के आरम्भ से निवृत्त नहीं हैं, वह) इन जीवों को अपने सुख-साधनों के लिए, अपने पेट भरने या आश्रय लेने अथवा अपने शरीर के पोषणवर्धन के लिए, या देह में हुए घाव को भरने के हेतु जो व्यक्ति काटता है, कुचलता है, खाता है, मसलता है, तोड़ता है, या चूर्ण बनाता है, पकाता है, छप्पर आदि छाता है, वह धृष्टता करके इनका तथा इनके आश्रित अनेक जीवों का धृष्टतापूर्वक विनाश करता है। इन जीवों के विनाश से न तो धर्म होता है, और न ही आत्मा को सुख मिलता है, बल्कि जीवहिंसा से अनेक घोर पापकर्मों का बन्धन करके तत्फलस्वरूप नरकादि गति का मेहमान बनता है; जहाँ दुःख ही दुःख मिलता है।

मूल पाठ

जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसइ आयसाए ॥९॥

संस्कृत छाया

जातिं च वृद्धिं च विनाशयन् बीजान्यसंयत आत्मदण्डः ।
अथाहुः स लोकेऽनार्यधर्मा, बीजानि यो हिनस्त्यात्मसाताय ॥९॥

अन्वयार्थ

(**जे असंजय**) जो असंयमी पुरुष (**आयसाए**) अपने सुख के लिए (**बीयाइ हिंसइ**) बीजों का नाश करता है, वह (**जाइं च बुड्ढिं च विणासयंते**) अंकुर की उत्पत्ति और वृद्धि का विनाश करता है। (**आयदंडे**) वास्तव में वह हिंसा के उक्त पाप के द्वारा अपनी ही आत्मा को दण्डित करता है (**लोए से अणज्जधम्मे आहु**) तीर्थंकरों ने उसे इस लोक में अनार्य कहा है, अथवा संसार में लोग उसे अनार्य (अनाड़ी) कहते हैं।

भावार्थ

जो असंयमी पुरुष अपने सुख के लिए बीज का नाश करता है, वह उस बीज से होने वाले अंकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति और वृद्धि का नाश करता है। वास्तव में देखा जाय तो वह उस हिंसा के पाप के द्वारा अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है। संसार में तीर्थंकर अथवा प्रत्यक्षदर्शी लोग उसे अनार्यधर्मी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

बीजों का नाश : उनकी संतान वृद्धि का नाश, आत्मनाश

इस गाथा में बताया गया है कि हरी (सचित्त) वनस्पति की उत्पत्ति के आदि कारण—बीज का जो व्यक्ति नाश करता है, वह एक तरह से अंकुर से लेकर प्रशाखा, फूल, फल आदि तक के रूप में उससे होने वाली वृद्धि का विनाश करता है। वास्तव में बीज का विनाश संतानवृद्धि का विनाश है। ऐसा करने वाला चाहे प्रव्रज्याधारी हो, या संन्यास वेशधारी हो, तापस हो, वास्तव में वह गृहस्थ-सा ही है। अपने इस अपकृत्य के द्वारा वह अपनी आत्मा को ही पापकर्म से बोझिल बनाकर नाना योनियों में भ्रमण का दण्ड देता है। दूसरों का नाश वस्तुतः अपना ही नाश है। जो पुरुष धर्म के नाम से, देवी-देवों की पूजा आदि के नाम से अथवा अपने सुख के लिए बीजों का नाश करता है, वह अपनी आत्मा के विनाश और दुर्गतिपतन को न्यौता देता है। उसे लोग पाखंडी, अनार्य, क्रूरकर्मा, धर्मध्वजी, ढोंगी आदि तुच्छ नाम से पुकारते हैं, अथवा तीर्थंकर आदि सर्वज्ञों ने ऐसे व्यक्ति को अनार्यधर्मा कहा है। यहाँ बीज का नाश तो उपलक्षण है, उससे समग्र वनस्पतिकाय का नाश ही आत्मविनाशक सूचित किया है।

मूल पाठ

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउक्खए पलीणा ॥१०॥

संस्कृत छाया

गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नराः परे पंचशिखाः कुमाराः ।
युवानो मध्यमाः स्थविराश्च, त्यजन्ति ते आयुः क्षये प्रलीना ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**गब्भाइ मिज्जंति**) हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले जीव प्रायः गर्भ में ही मर जाते हैं, (**बुयाबुयाणा**) तथा कई तो स्पष्ट बोलने की अवस्था में और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र में ही मर जाते हैं। (**परे णरा**) दूसरे पुरुष (**पंचसिहा कुमारा**) पंचशिखा वाले कुमार अवस्था में ही मौत के मेहमान हो जाते हैं (**जुवाणगा मज्झिमथेरगा य**) कई जवान होकर तो कई प्रौढ़ उम्र के होकर अथवा बूढ़े होकर चल बसते हैं। (**आउक्खए पलीणा ते चयंति**) इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी इन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में आयु क्षीण होने पर अपने शरीर को छोड़ देते हैं।

भावार्थ

देवी-देवों की अर्चा या धर्म के नाम से अथवा सुखवृद्धि आदि किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कारण से हरी वनस्पति आदि का छेदन करने वाले कई व्यक्ति तो गर्भ में ही समाप्त हो जाते हैं, कई स्पष्ट बोलने की उम्र तक मर जाते हैं, जबकि कई बोलने की उम्र आने से पहले ही मौत के मेहमान बन जाते हैं। तथा कोई कुमार-अवस्था में तो कोई जवान होकर, कोई प्रौढ़ होकर एवं कोई बुढ़ापा आने पर चल बसते हैं। आशय यह है कि वे इनमें से किसी भी अवस्था में आयुक्षय होते ही शरीर छोड़ देते हैं। इनकी आयु कोई नियत या दीर्घ नहीं होती।

व्याख्या

वनस्पतिनाशक अल्पायु या अनियतायु होते हैं।

इस गाथा में सजीव वनस्पति-छेदन का फल बताते हुए कहते है—जो जीव वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते हैं, वे या तो गर्भावस्था तक आते-आते ही खत्म हो जाते हैं, या कोई बच गया तो बोलने तक की उम्र में ही चल देता है, अथवा स्पष्ट बोलने तक की उम्र आते-आते मौत के मुँह में चला जाता है। कोई पाँच शिखा वाला कुमार होकर मर जाता है, तो कोई जवान, कोई प्रौढ़, तो कोई बूढ़ा होकर रोगग्रस्त अवस्था में चल बसता है। कहीं-कहीं '**थेरगा य**' के बदले '**पोरुसा य**' पाठ है। वहाँ अर्थ होता है—पुरुष की अन्तिम अवस्था पाकर यानी अत्यन्त वृद्ध, अशक्त और जराजीर्ण होकर मरता है। आशय यह है कि सजीव वनस्पति के विनाशकों की आयु न तो निश्चित है और न ही लम्बी है। या तो वे अल्पायु होते हैं, असमय में ही चल बसते हैं, या उनकी आयु अनिश्चित होती है, किसी भी समय मौत का वारण्ट आ सकता है। ऐसे लोगों को शरीर का अत्यधिक मोह होता है, जिससे मृत्यु जबर्दस्ती छुड़ा देती है। वह हाथ मलता रह जाता है, कुछ भी धर्माचरण नहीं कर पाता। कितनी बड़ी हानि है यह, वनस्पतिकाय के विनाशकों की!

मूल पाठ

संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

संस्कृत छाया

सम्बुध्यध्वं जन्तवो ! मनुष्यत्वं, दृष्ट्वा भयं बालिशेनालाभः।
एकान्तदुःखो ज्वरित इव लोकः, स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥११॥

अन्वयार्थ

(**जंतवो**) हे प्राणियो ! (**माणुसत्तं**) मनुष्यजन्म की दुर्लभता को (**संबुज्झहा**) समझो (**भयं दट्ठुं**) नरक एवं तिर्यञ्च आदि योनियों के भय (खतरे) को देखकर तथा (**बालिसेणं अलंभो**) विवेकमूढ़ पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव) जानकर, बोध प्राप्त करो। (लोए) यह लोक (जरिए व) ज्वर से पीड़ित व्यक्ति की तरह (एगंतदुक्खे) एकान्त (बिलकुल) दुःखी है। (सकम्मुणाविप्परिया-सुवेइ) अपने-अपने कर्म से सुख चाहता हुआ भी जीव दुःख प्राप्त करता है।

भावार्थ

हे जीवो ! मनुष्यभव की दुर्लभता को समझो, नरक और तिर्यंच गति में होने वाले भयंकर खतरों को देखो, विवेकहीन व्यक्ति बोधिलाभ नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिए समय रहते बोध प्राप्त करो। यह संसार तो बुखार से पीड़ित मनुष्य की तरह सर्वथा दुःखी है। वह सुख के लिए नाना पाप करता है, पर फल उलटा ही पाता है—दुःखमय, संकटपूर्ण।

व्याख्या

एकान्तदुःखी संसार में बोधिलाभ ही महत्त्वपूर्ण

इस गाथा में शास्त्रकार ने बोधिलाभ पर जोर दिया है। प्राणियों को सम्बोधित करते हुए शास्त्रकार ललकार कर कहते हैं—मनुष्यो ! बोध प्राप्त करो। तुम जिन कुशील, पाखण्डी और आरम्भपरायण लोगों के चक्कर में पड़े हो, वे लोग तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। तुम अपने मनुष्यजन्म पर विचार करो कि यह कैसे और कितनी-कितनी घाटियाँ पार करने के बाद मिला है ? मनुष्यजन्म प्राप्त करके भी फिर अज्ञान और मोह में फँसे रहे, अपने जन्म को सार्थक करने का विचार नहीं किया तो 'काता पीजा सब कपास' हो जाएगा। क्या तुम्हें पता नहीं है मनुष्यजन्म, उत्तम क्षेत्र, उत्तम जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मश्रवण, उच्च विचार ग्रहण, श्रद्धा और संयम— ये इस संसार में अतीव दुर्लभ हैं।[1]

ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म तथा अन्य उत्तम साधनों को पाकर भी जो मूढ़ धर्माचरण नहीं करता, उसे फिर बोध प्राप्त होना मुश्किल है। और फिर यह भी तो आँखें खोलकर देखो कि यह संसार ज्वरपीड़ित मनुष्य की तरह त्रिविध दुःखों की भट्टी में सर्वथा जल रहा है, कहीं भी तो सुख नहीं। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु सब दुःखरूप है, सारा संसार दुःखमय है, जिसमें प्राणी क्लेश पा रहे हैं। इसलिए कि संसारी अविवेकी प्राणी सुख के लिए नाना प्रकार के आरम्भ करते हैं, परन्तु उनसे सुख के बजाय दुःख ही पल्ले पड़ता है। सचमुच, इस लोक में अनार्यकर्म करनेवाला पुरुष अपने ही दुष्कर्मों से दुःख पाता है। वह सुख के लिए प्राणिघात करके दुःख ही पाता है, मोक्ष के लिए जीवों का नाश करके संसार भ्रमण करता है।[2]

---

१. माणुस्स-खेत्त-जई-कुल-रूवारोग्गमाउयं बुद्धी।
सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगम्मि दुल्लहाइं॥

२. सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखमाप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति विपर्य्यासः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥

संस्कृत छाया

इहैके मूढाः प्रवदन्ति मोक्षं आहारसम्पज्जनवर्जनेन ।
एके च शीतोदकसेवनेन, हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥१२॥

अन्वयार्थ

(इह) इस जगत् में अथवा इस मोक्ष के सम्बन्ध में (एगे) कई (मूढा) मूढ़ लोग (आहार संपज्जणवज्जणेणं मोक्खं पवयंति) आहार के रस का पोषक नमक छोड़ देने से मोक्ष बताते हैं, (एगे य सीओदगसेवणेणं) कई लोग शीतल (सचित्त) जल के सेवन से मोक्ष मानते हैं। और (एगे हुएण मोक्खं पवयंति) कई लोग तो अग्नि में होम करने से मोक्ष बतलाते हैं।

भावार्थ

इस संसार में कई मूढ़ लोग आहार के रस का पोषक नमक छोड़ देने से मोक्ष मानते हैं, कई ठंडे (कच्चे) पानी के सेवन से मोक्ष बताते हैं एवं कई लोग आग में घी का होम करने से मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं।

व्याख्या

ये सस्ते मोक्ष के दावेदार !

इस गाथा में मोक्ष का सस्ता नुस्खा बताने वाले तीन मोक्षवादियों के मत का निरूपण किया गया है। वे इस प्रकार हैं—(१) नमक छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, ठंडे पानी के सेवन से मोक्ष मिल जाता है, और (३) प्रतिदिन अग्नि में घृत आदि द्रव्यों का होम करने से मोक्ष प्राप्ति होती है।

तीनों सस्ते मोक्षवादियों का मत क्रमशः यों है—**'जितं सर्वरसं जिते'** रस पर विजय पाने से सब पर विजय पा ली। नमक सब रसों का राजा है। नमक ऐसा रस है, जिससे आहार के रस का पोषण होता है। इसलिए आहार के साथ पाँच प्रकार के रसों (लवणों) को छोड़ देने से मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। पाँच रस ये हैं—'सैन्धव, सौवर्चल, बिड, रौम, सामुद्र'। नमक के त्याग से रसमात्र का त्याग हो जाता है, और उसके त्याग से मोक्ष निश्चित है। किसी प्रति में ऐसा पाठ मिलता है—**'आहारओ पंचकवज्जणेणं'** उसका अर्थ है—आहार में पाँच वस्तुओं के त्याग से मोक्ष मिलता है। वे ५ वस्तुएँ इस प्रकार हैं—'लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गोमांस और मद्य।' कई वारिभद्रक भागवतविशेष सचित्त जल के सेवन से मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं, जैसे—वस्त्र, शरीर आदि के बाह्य मल की शुद्धि करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की शक्ति जल में देखी जाती है, वैसे आन्तरिक मल को दूर करने में भी जल समर्थ है। इसलिए शीतलजलसेवन मोक्ष का कारण है। कई तापस या अग्निहोत्री ब्राह्मण आदि होम करने से मोक्ष बताते हैं। वे कहते हैं—समिधा, घी आदि हव्यसामग्री से अग्नि को तृप्त करना चाहिए, क्योंकि यह जैसे सोने के मैल को जला देती है, वैसे ही तृप्त होने पर आत्मा के आन्तरिक मैल-पाप को भी जला देगी। पापदहन ही मोक्ष है।

आगे की गाथाओं में शास्त्रकार क्रमशः इन मतों का निराकरण करते हैं—

मूल पाठ

पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासणेणं ।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अनत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥१४॥
मच्छा य कुम्मा य सरीसिवा य मग्गू य उट्ठा दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥१५॥
उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥
पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सीओदगं तु जइ तं हरिज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाई मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥१७॥
हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥१८॥
अपरिक्ख दिट्ठं ण हु सिद्धि, एहिति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥१९॥

संस्कृत छाया

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः, क्षारस्य लवणस्यानशनेन ।
ते मद्यमांसं लशुनञ्च भुक्त्वा, अन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥१३॥
उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति, सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः, सिध्येयुः प्राणाः बहव उदके ॥१४॥
मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च, मद्गवश्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च ।
अस्थानमेतत्कुशला वदन्ति, उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदकं यदि कर्ममलं हरेदेवं शुभमिच्छामात्रमेव ।
अन्धं च नेतारमनुसृत्य: प्राणिनश्चैवं विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥१६॥
पापानि कर्माणि प्रकुर्वतो हि, शीतोदकं तु यदि तद्धरेत ।
सिद्ध्येयुरेके दकसत्त्वघातिनो मृषा वदन्तो जलसिद्धिमाहुः ॥१७॥
हुतेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति, सायं च प्रातरग्निं स्पृशन्तः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥१८॥
अपरीक्ष्य दृष्टं नैवेवं सिद्धिरेष्यन्ति ते धातमबुध्यमानाः ।
भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं, क्रियां गृहीत्वा त्रसस्थावरैः ॥१९॥

अन्वयार्थ

(पाओसिणाणादिसु) प्रातःकाल के स्नान आदिसे (मोक्खो नत्थि) मोक्ष नहीं होता है। (खारस्स लोणस्स अणासणेणं) खारे (या क्षार तथा) नमक के न खाने से भी मोक्ष नहीं होता। (ते) अन्यतीर्थी मोक्षवादी (मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा) मद्य, मांस और लहसुन खाकर (अनत्थवासं) मोक्ष से अन्य स्थान संसार में निवास (परिकप्पयंति) करते हैं ॥१३॥

(सायं च पायं उदगं फुसंता) सायंकाल और प्रातःकाल पानी का स्पर्श करते हुए (जे उदगेण सिद्धिमुदाहरंति) जो लोग जलस्नान से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, (वे मिथ्यावादी हैं)। (उदगस्स फासेण सिद्धीसिया) जल के बार-बार स्पर्श से यदि मुक्ति मिले तो (दगंसि बहवे पाणा सिज्झिसु) जल में रहने वाले बहुत से जलचारी प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेते ॥१४॥

(मच्छा य कुम्मा य सरीसिवा य) मछलियाँ, कछुए और साँप, (मग्गू य उट्ठा दगरक्खसा य) कौए के आकार का मद्गू नामक जलचर, ऊँट नामक जलचर और जलराक्षस (दरियाई घोड़ा) नामक जलचर (जल स्पर्श से मुक्ति होती तो, सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते) (उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति) अतः जलस्पर्श से मुक्ति की प्राप्ति बताते हैं, (अट्ठाणमेयं कुसला वयंति) मोक्षतत्त्व में पारंगत पुरुष इस कथन को अयुक्त कहते हैं ॥१५॥

(उदगं जइ कम्ममलं हरेज्जा) जल यदि कर्म-मल का हरण—नाश करता है तो (एवं सुहं) इस प्रकार वह शुभ—पुण्य का भी हरण—नाश कर देगा! (इच्छामित्तमेव) इसलिए जल कर्ममल को हर लेता है, यह कहना इच्छामात्र-कल्पनामात्र है। (मंदा) मूढ़ लोग ही (अंधं णेयारमणुस्सरित्ता) अंधे नेता के पीछे-पीछे चलकर (एवं च पाणाणि विणिहंति) इस प्रकार—जल स्नान आदि ऊटपटाँग क्रियाएँ करके प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥१६॥

(पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि) यदि पापकर्म करने वाले उस पुरुष के (तं) उस पाप को (सीओदगं तु हरिज्जा) यदि शीतल सचित्त पानी (या जल स्नान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिटा दे तो (**एगे बगसत्तवाती सिज्झिसु**) ये जो जलजीवों का घात करने वाले मछुए आदि हैं, वे भी मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। (**मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु**) इसलिए जल में अवगाहन करने से मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो कहते हैं, वे मिथ्यावादी हैं ॥१७॥

(**सायं च पायं अगणिं फुसंता**) सायंकाल और प्रातःकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए (**जे**) जो वादी (**हुतेण सिद्धिमुदाहरंति**) आग में होम करने से मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं, (वे भी मिथ्यावादी हैं) (**एवं सिद्धि सिया**) यदि इस प्रकार—अग्नि के स्पर्श—से मुक्ति मिल जाए, (**तम्हा अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि हवेज्ज**) तब तो अग्नि का रात-दिन स्पर्श करने वाले कुकर्मियों-दुष्टाचारियों को भी झटपट मुक्ति मिल जानी चाहिए ॥१८॥

(**अपरिक्ख दिट्ठं**) जल में अवगाहन तथा अग्निहोम आदि से सिद्धि (मुक्ति) मानने वाले वादियों ने परीक्षा किये बिना ही इस सिद्धान्त को मान लिया है, (**ण हु एव सिद्धि**) वस्तुतः इस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) नहीं मिला करती। (**अबुज्झमाणा ते**) वस्तुतत्त्व को न समझने वाले ये लोग (**घायं एंहिति**) घात—संसार को ही प्राप्त करेंगे। (**विज्जं गहाय**) अतः ज्ञान को ग्रहण करके (**पडिलेह**) और चारों ओर से विचार करके (**तस थावरेहिं भूएहिं सातं जाणं**) त्रस और स्थावर प्राणियों में सुख की इच्छा को समझो ॥१९॥

भावार्थ

प्रातःकालिक स्नान आदि से मोक्ष नहीं मिलता, क्षार व नमक के न खाने से भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता। वे अन्यतीर्थी लोग तो मद्य, मांस और लहसुन का सेवन करके मोक्ष से अन्य—संसार में निवास करते हैं—भ्रमण करते रहते हैं ॥१३॥

सायंकाल और प्रभातकाल में सचित्त जल का स्पर्श करते हुए जो लोग जलस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे मिथ्यावादी हैं। यदि जल के स्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो जल में निवास करने वाले जलचर जन्तुओं को कभी का मोक्ष मिल जाता; किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है ॥१४॥

यदि जलस्पर्श से मुक्ति मिलती हो तो मछलियाँ, कछुए, साँप, मद्गु नामक जलजन्तु, ऊँट नामक जलचर एवं जलराक्षस (दरियाई घोड़ा) आदि सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते; मगर ऐसा होता नहीं है। अतः जो जल-स्पर्श से मोक्ष बताते हैं, उनका कथन अयुक्त है, ऐसा मोक्षतत्त्वज्ञ कहते हैं ॥१५॥

अगर पानी कर्ममल—पाप को धो डालता है तो वह उसी प्रकार से पुण्य (शुभकर्म) को भी धो डालेगा। इसीलिए पानी कर्ममल को साफ कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देता है, यह कथन कोरी कल्पना है। वस्तुतः मूढ़ लोग ऐसे ही अज्ञानान्ध नेता के पिछलग्गू बनकर जलस्नान आदि क्रियाओं द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं ॥१६॥

पापकर्म करने वाले पुरुष के पाप को यदि सचित्त जल दूर कर देता है तो जलजन्तुओं का घात करने वाले मछुए आदि के पापकर्म को जल मिटा देगा और उन्हें भी मुक्ति प्राप्त हो जाएगी; परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए जो ऐसा कहते हैं कि जलस्पर्श से मुक्ति होती है, वे मिथ्या कहते हैं ॥१७॥

सन्ध्याकाल और प्रातःकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग अग्नि में होम करने से मोक्ष-प्राप्ति होना बताते हैं, वे भी मिथ्यावादी हैं, क्योंकि यदि इस प्रकार से मोक्ष मिलती हो तो फिर रात-दिन अग्नि-स्पर्श कुकर्मियों को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए ॥१८॥

जलावगाहन से या अग्नि में होम करने से जो लोग सिद्धिलाभ बताते हैं, उन्होंने इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले शास्त्रों को परीक्षा किये बिना ही ऐसे खोटे सिद्धान्त को मान लिया है। वस्तुतः इन ऊटपटांग क्रियाओं से मुक्ति नहीं मिलती है। वस्तुतत्त्व को बिना समझे ही आँख मूँद कर चलने वाले वे लोग इन अन्धक्रियाओं द्वारा प्राणिघात करके मोक्ष-प्राप्ति के बदले संसार-प्राप्ति ही करते हैं। अतः सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके तथा सभी पहलुओं से विचार करके त्रस और स्थावर प्राणियों में भी सुख की संज्ञा (इच्छा) जानो और उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा मत करो ॥१९॥

व्याख्या

जलस्पर्श एवं अग्निहोत्रादि क्रियाओं से मोक्ष कैसे ?

तेरहवीं गाथा से लेकर उन्नीसवीं गाथा तक शास्त्रकार ने जलस्पर्श से, लवण-सेवन त्याग से या अग्निहोत्र से मोक्ष मानने वाले मतवादियों की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करके उनका निराकरण किया है।

बात यह है कि प्रातःकाल जलस्नान करने से समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने का कोई तुक नहीं है। बल्कि सचित्त जल के सेवन से जलकायिक जीवों का तथा उनके आश्रित रहे हुए अनेक त्रसजीवों का उपमर्दन होता है। जीवों की हिंसा से मोक्षप्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि जल में आत्मा पर लगे हुए आन्तरिक पापकर्म-मल को दूर करने की शक्ति नहीं है, बल्कि वह बाह्यमल को भी पूरी तरह से साफ नहीं कर सकता, फिर आन्तरिक मल को धो डालने की शक्ति उसमें हो ही कैसे सकती है ? वस्तुतः आन्तरिक मल का नाश तो भावों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धि से ही हो सकता है। जो भावों की शुद्धि से रहित है, वह व्यक्ति चाहे जितना पानी में डुबकी लगा ले, उससे उसके आन्तरिक पापमल की शुद्धि नहीं हो सकती। मोक्ष तो आन्तरिक मल का नाश होने से ही हो सकता है, फिर वह सचित्त जलस्नान से कैसे हो जायेगा ?

खारे नमक को खाने का त्याग कर देने से भी मोक्षप्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि खारा नमक ही एकमात्र रसजनक नहीं है, मिश्री, शर्करा, घृत, दूध, दधि आदि भी रसोत्पादक पदार्थ हैं। फिर हम यह पूछते हैं कि मोक्ष द्रव्य से नमक का त्याग कर देने से मिलता है या भाव से ? यदि द्रव्य से लवण-त्याग से मोक्ष मिलता हो, तब तो जिस देश में लवण होता ही नहीं, वहाँ के सभी निवासियों को मोक्ष मिल जाना चाहिए, क्योंकि वे द्रव्यतः लवणत्यागी हैं। परन्तु ऐसा होता देखा नहीं जाता, और न ही यह अभीष्ट है। यदि भाव से लवणत्यागी को मोक्ष प्राप्त होना मानें तो भाव ही मोक्षप्राप्ति का कारण ठहरा, ऐसी स्थिति में लवणत्याग का क्या महत्व रहा ?

कई मूढ़ एक ओर तो नमक छोड़ देते हैं, लेकिन दूसरी ओर वे मद्य, मांस एवं लहसुन आदि तामसिक पदार्थों का सेवन करके जन्ममरण रूप संसार में असंख्य-काल तक डटे रहते हैं, क्योंकि उनका अनुष्ठान संसारनिवास के योग्य ही होता है। वे मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावों से आराधना-साधना करते नहीं, केवल ऊपर-ऊपर की बातों पर तैरते रहते हैं, इसलिए उनका मोक्ष पाना तो बहुत दूर है, संसार में ही वे अपना डेरा जमा लेते हैं।

१४-१५वीं गाथा में शास्त्रकार जलस्पर्श से मुक्तिवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो मन्दमति शीतल (सचित्त) जल से स्नान आदि से मुक्ति बताते हैं और यह कहते हैं कि प्रात काल में, अपराह्न में एवं सायंकाल में यानी तीनों सन्ध्याओं के समय शीतल (कच्चे) जल से स्नान आदि क्रियाएँ करने से मोक्ष प्राप्ति होती है; यह कथन भी मिथ्या है। इस प्रकार यदि जलस्पर्श से ही मुक्ति मिलने लगेगी, तब तो यह बहुत सस्ता सौदा है। हर एक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही पाप करके आया हो, पानी में डुबकी लगाते ही उसका सब पाप धुल जाएगा और वह मोक्ष पा लेगा। मनुष्य की बात तो जाने दें, मछली आदि जो जलचर प्राणी हैं, वे तो चौबीसों घण्टे जल में ही रहते हैं, जलस्पर्श से ओतप्रोत रहते हैं, बेचारे उन प्राणियों को सतत जलस्पर्श के कारण शीघ्र ही मुक्ति मिल जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त अगर जलस्पर्श से मुक्ति प्राप्त होती हो तो सतत जल में अवगाहन करके रहने वाले मछली, कछुए, साँप, जलमुर्गी, दरियाई घोड़ा, ऊँट नामक जलचर, मनुष्याकार जलराक्षस नामक जलचर जन्तुओं को तो सर्वप्रथम मोक्ष मिल जाना चाहिए। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता और यह अभीष्ट भी नहीं है। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जलस्पर्श से मोक्ष बताते हैं, उनका कथन युक्तिसंगत नहीं है। मोक्षतत्व के रहस्यज्ञ इसे मिथ्या मान्यता कहते हैं।

जलस्पर्शमोक्षवादी यह कहते हैं कि जल जैसे बाह्य मैल को दूर कर देता है, वैसे ही आन्तरिक मैल को भी दूर कर देता है, परन्तु उनका यह कथन भी मिथ्या एवं युक्तिविरुद्ध है। जल जैसे बाहर के बुरे मैल को धो देता है, वैसे अंगराग, कुंकुम, चन्दनादि लेप को भी धो डालता है, इसी प्रकार जैसे वह पापकर्ममल को धो डालेगा, वैसे वह पुण्य (शुभकर्म) को भी धो डालेगा। अर्थात् जल से पाप की तरह पुण्य के भी धुल जाने से वह अपने ही अभीष्ट का विघातक एवं विरोधी होगा, हितकारक नहीं। इससे आगे बढ़कर कहें तो जल मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों को भी एक दिन धोकर साफ कर देगा। अतः जल मोक्षप्रापक या मोक्षसाधक के बदले मोक्षबाधक ही सिद्ध हुआ। इसलिए जल कर्ममल का हरण कर देता है, यह कथन कोरी कपोल-कल्पना है, इसके पीछे कोई ठोस प्रमाण एवं युक्ति नहीं है।

जो लोग अपनी बुद्धि अज्ञानी नेता के हाथ में सौंपकर उनके पीछे-पीछे केवल अन्धानुसरण करते हैं, वे जलस्पर्श से मोक्ष होने की झूठी मान्यता को झटपट नहीं छोड़ते, बल्कि अधिकाधिक जलस्पर्श करके अनेक प्राणियों का हनन करते रहते हैं, भला प्राणिहिंसा से उन्हें मोक्ष कैसे मिलेगा ?

वारिभद्रक जलस्पर्शवादियों की दृष्टि से देखें तो भी स्मृतियों में ब्रह्मचारी के लिए जल से स्नान करना दोषकारक एवं निषिद्ध बताया है —

स्नानं मद-दर्पकरं, कामांगं प्रथमं स्मृतम्।
तस्मात् कामं परित्यज्य न ते स्नान्ति दमेरताः॥

अर्थात्—स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है। वह काम का पहला अंग है। इसलिए जो पुरुष इन्द्रियों के दमन में रत हैं, वे काम का त्याग करके जलस्नान नहीं करते।

भारतीय आध्यात्मिक मनीषी यह भी तो मानते हैं कि केवल पानी शरीर पर उड़ेल कर उसे गीला कर लेने वाला व्यक्ति 'स्नात' (नहाया हुआ) नहीं कहलाता, स्नात तो वह तभी कहलाता है, जब वह अहिंसा आदि व्रतों से स्नात हो। वस्तुतः वही बाह्य और आभ्यन्तररूप से पवित्र है, शुद्ध है।

जलस्पर्श से मुक्ति की मिथ्या मान्यता का पूर्वोक्त युक्तियों से खण्डन किये जाने के बावजूद भी झूठी जिद करके वे अपनी मान्यता पर दृढ़ रहकर यह कहें कि जलस्पर्श पापकर्म-मल को धो डालता है, तब शास्त्रकार कहते हैं कि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के पाप को यदि शीतलजलस्नान मिटा देता है, तब तो जलचर प्राणियों का अहर्निश घात करने वाले एवं जल में अवगाहन करने वाले पापी मछुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अपना पापमल धोकर झटपट मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं कर लेते ? जलावगाहन मुक्ति देने वाला जो है, आपके मत से ! परन्तु यह कदापि देखा नहीं जाता, अभीष्ट भी नहीं है। यों अगर पापियों को केवल जल में गोता लगाने या स्नान करने से ही मुक्ति मिलने लगे तो फिर नरक आदि लोक बिलकुल खाली हो जाएँगे, वहाँ कोई भी प्राणी नहीं रहेगा। इसलिए जलस्पर्श से मुक्ति की मनगढ़न्त कल्पना मिथ्या है। कुछ पोंगापंथियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए यह मिथ्या मान्यता चला रखी है।

इसके पश्चात् १८वीं गाथा में अग्निस्पर्श से मोक्षवादियों की मान्यता का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जो पुरुष सायंकाल एवं प्रातःकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए अग्नि में होम करने से मोक्षप्राप्ति बताते हैं, उनका कथन भी यथार्थ नहीं है। उनका कथन इस प्रकार है—**श्रुतिवाक्य** है कि '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। अग्नि में घी, तथा अन्य हव्यसामग्री होमने से स्वर्ग की प्राप्तिरूप सिद्धि मिलती है। क्योंकि अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यों को जला देती है, वैसे ही वह आभ्यन्तर पापकर्मों को भी जला डालती है। परन्तु वह अग्नि तभी आभ्यन्तर पापों को जलाती है, जब घृत आदि हवन सामग्री से उसे तृप्त किया जाए। अथवा हविषु के द्वारा अग्नि को तृप्त करते हुए उस कर्म से इच्छानुसार गति चाहते हैं। इसीलिए अग्निहोत्रवादी (मीमांसक या वैदिक) लोगों का कहना है कि अग्निस्पर्शादि कार्य करने से अवश्य ही सिद्धि मिल जाती है।

यद्यपि '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' यह श्रुतिवाक्य अग्निहोत्र कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति ही प्रतिपादित करता है; मोक्षप्राप्ति का विधान नहीं करता, क्योंकि उनके मत में मोक्ष विधेय नहीं है। वह कर्मजन्य नहीं है, तथापि मीमांसकों का यह मत है कि निष्कामभाव से किया जाने वाला अग्निहोत्र आदि कर्म मोक्ष का प्रयोजक है। इसी मत को लक्ष्य में रखकर यहाँ अग्नि-स्पर्श से मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए इस श्रुतिवाक्य से विरोध नहीं आता।

इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**एवं सिया सिद्धि ··· कुक्कुमिणं पि।**' आशय यह है कि यदि अग्नि में द्रव्यों के डालने से या अग्नि-स्पर्श करने से मुक्ति मिलती हो तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले तथा कुंभार, लुहार आदि आरम्भजीवियों को भी सिद्धि मिल जानी चाहिए।

अग्निहोत्रवादी कहते हैं कि हमारी शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार संस्कृत अग्नि में ही होम करने से मुक्ति मिलती है। कुंभार, लुहार आदि आरम्भजीवी लोग संस्कृत अग्नि में आहुति नहीं डालते। इसलिए उन्हें अग्निस्पर्श से मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका समाधान यह है कि अग्निस्पर्श से मुक्ति बताने वाले जो लोग मंत्र से पवित्र अग्नि के स्पर्श से सिद्धि बताते हैं, यह तो उनके मूर्ख मित्र ही मान सकते हैं। जैसे आरम्भजीवियों द्वारा अग्नि में डाली हुई चीज को वह भस्म कर देती है, वैसे ही अग्निहोत्रियों द्वारा डाली हुई चीज को भी वह भस्म कर डालती है। इसलिए अग्निहोत्रियों और आरम्भजीवियों के अग्नि-कार्य में कोई विशेषता नहीं है। तथा वे जो कहते हैं—'**अग्निमुखा वै देवाः**' देवों का मुख अग्नि है, यह कथन भी युक्ति-रहित होने से वाणीविलासमात्र है।

अन्त में १६वीं गाथा में इन दोनों मोक्षवादियों की मान्यता का सामान्य रूप से निराकरण करके शास्त्रकार उन्हें ज्ञान प्राप्त करके इन प्राणिघातजनक क्रियाओं से निवृत्त होने का अनुरोध करते हैं।

सच तो यह है कि जल में अवगाहन करने या अग्नि में होम करने से मुक्ति मानने वालों ने यह बात जिस शास्त्र से ली है, उस शास्त्र की या शास्त्र-वचनों की प्रमाणों और युक्तियों से जाँच-पड़ताल तो की नहीं है, यों ही अन्धश्रद्धावश मान ली है। क्योंकि युक्तियों और प्रमाणों से यही बात सिद्ध होती है कि इन कार्यों से सिद्धि नहीं मिलती, क्योंकि सचित्त जल में अवगाहन करने या अग्निहोत्र करने से अनेक जीवों का संहार होता है। अतः इस जीव संहारात्मक क्रिया से मोक्ष कैसे मिल सकता है? वास्तव में वे इस वस्तुतत्त्व को नहीं जानते, इसलिए इन कर्मकाण्डों को धर्म समझकर प्राणियों (जल के एवं जलाश्रित अन्य त्रस प्राणियों का तथा अग्नि के एवं अग्नि के आश्रित अन्य त्रस-स्थावर प्राणियों) का घात करते हुए पापकर्म करते रहते हैं। इसलिए शास्त्रकार उसका परिणाम बताते हैं—'**एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।**' अर्थात् वे पूर्वोक्त तथ्य को न समझने के कारण प्राणिघात के कारण घात (संसार) को ही प्राप्त होता है। चातुर्गतिक संसार घात (जिसमें प्राणिघात होता है, वह) कहलाता है। क्योंकि जीवविनाश से विनाशकों को संसार (भव-भ्रमण) ही मिलता है, सिद्धि कथमपि नहीं मिलती।

इसलिए जिज्ञासु और सद्-असद्विवेकपरायण पुरुषों से शास्त्रकार का अनुरोध है कि पहले तो वे हमारे सिद्धान्तों का जिज्ञासापूर्वक भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करें, तदनन्तर उस पर ठण्डे दिल-दिमाग से विचार करें, और यह बात निश्चित समझ लें कि संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। अपने समान त्रस और स्थावर प्राणियों में सुख-दुःख की चेतना विद्यमान है। अतः त्रस-स्थावर प्राणियों के घात से उन्हें दुःख ही होगा, और दुःख देने से कदापि मोक्ष-सुख नहीं मिल सकता। इसलिए त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा निष्पन्न हो, ऐसे किसी भी कर्मकाण्ड से मोक्ष या स्वर्गादि सुख नहीं मिल सकता। इस पर गहराई से विचार करके धर्म के नाम पर प्रचलित हिंसा कर्मों को छोड़ देना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो लोग प्राणिघात से सुख की अभिलाषा करते हैं, वे अशील या कुशील पुरुष किस प्रकार की दुःखमय स्थिति का अनुभव करते हैं ? इसे अगली गाथा में पढ़िए—

मूल पाठ

थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥

संस्कृत छाया

स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिणः पृथक् जन्तवः परिसंख्याय भिक्षुः ।
तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो, दृष्ट्वा त्रसांश्च प्रतिसंहरेत् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**कम्मी जगा**) पापकर्म करने वाले प्राणी (**पुढो**) प्रत्येक अलग-अलग (**थणंति**) रुदन करते हैं, (**लुप्पंति**) तलवार आदि द्वारा काटे जाते हैं, फाड़े जाते हैं, (**तस्संति**) वे डरते हैं । (**तम्हा**) इसलिये (**विऊ भिक्खू**) विद्वान् भिक्षु—मुनि (**विरतो आयगुत्ते**) पापों से निवृत्त हो, तथा अपनी आत्मरक्षा करे । (**तसे या दट्ठुं**) त्रस एवं स्थावर प्राणियों को देखकर (**पडिसंहरेज्जा**) उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए ।

भावार्थ

पापकर्मी प्राणी नरक, तिर्यंच आदि गतियों में प्रत्येक अलग-अलग जाते हैं, वहाँ जब तलवार आदि से उनका छेदन-भेदन किया जाता है, तब वे रोते-चीखते हैं, भय से काँपते हैं । इसलिए इन सब बातों से विज्ञ विचारक मुनि प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त हो, और अपनी आत्मा को इन पापों से बचाए । त्रस और स्थावर प्राणियों को देखकर उनकी हिंसा की क्रिया से दूर रहे ।

व्याख्या

अत्यन्त दुःखमय परिणाम जानकर प्राणिहिंसा से बचो

इस गाथा में शास्त्रकार ने सुशील साधु को लक्ष्य करके त्रस-स्थावर प्राणियों के वध से अपनी आत्मा को बचाने का निर्देश किया है । वास्तव में जो लोग सचित्त जल और अग्नि का आरम्भ करके प्राणिघात द्वारा सुख पाना चाहते हैं, उनकी आशा दुराशा है । वे नरक आदि दुर्गतियों में जाकर तीव्र दुःखों से पीड़ित किये जाते हैं, तब वे असह्य वेदना से संतप्त एवं अशरण होकर रोते-बिलखते हैं, किन्तु उनकी पुकार कोई नहीं सुनता । परमाधार्मिक असुरों द्वारा वे पापकर्मी नारक काटे, छेदे, फाड़े और चोट पहुँचाए जाते हैं । उन नाना यातनाओं के कारण वे भय से व्याकुल हो जाते हैं । पापकर्म करते हैं, वे कर्मी कहलाते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणिघातकर्ता प्रत्येक जीव की यह दशा होती है। अतः शुद्ध भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले विद्वान् मुनि को इन सब बातों पर विचार करके पाप से निवृत्त होकर मन-वचन-काया से इन पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए, और त्रस-स्थावर प्राणियों की प्रकृति, सुख-दुःख आदि को जानकर उनके घात की क्रियाओं से दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं।
जे धोयइ लूसयई व वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

संस्कृत छाया

यो धर्मलब्धं विनिधाय भुंक्ते, विकटेन संहृत्य च यः स्नाति।
यो धावति लूषयति च वस्त्रं, अथाहुः स नाग्न्यस्य दूरे ॥२१॥

अन्वयार्थ

(जे) जो साधुनामधारी (**धम्मलद्धं**) धर्म से मिले हुए—यानी औद्देशिक, क्रीत आदि दोषों से रहित आहार को (**विणिहाय**) छोड़कर (**भुंजे**) उत्तम स्वादिष्ट भोजन खाता है, (**वियडेण**, तथा अचित्त जल से भी (**साहट्टु**) अपने अंगों का संकोच करके (सिकोड़ कर) भी (**जे**) जो (**सिणाइ**) स्नान करता है, तथा (**जे**) जो (**धोयइ**) अपने वस्त्र या पैर आदि को धोता है, (**लूसयई व वत्थं**) एवं शोभा के लिए जो बड़े वस्त्र को छोटा या छोटे वस्त्र को बड़ा करता है (**अहाहु**) तीर्थंकर और गणधरों ने कहा है कि (**से णागणियस्स दूरे**) वह नग्नभाव —संयम से दूर है।

भावार्थ

जो साधुनामधारी दोषरहित धर्मप्राप्त (साधुधर्म की भिक्षामर्यादा से प्राप्त) आहार को छोड़कर रसलोलुपतावश अन्य सरस स्वादिष्ट भोजन खाता है, तथा अचित्त पानी से अचित्त स्थान में अंगों को सिकोड़ करके भी स्थान करता है, शोभा के लिए अपने वस्त्र, पैर आदि को धोता है, शृंगार के लिए जो बड़े वस्त्र को छोटा और छोटे को बड़ा करता है, वह निर्ग्रन्थ-भावरूप संयम से दूर है, ऐसा तीर्थंकरों एवं गणधरों ने कहा है।

व्याख्या

स्वादलोलुपता, शोभा एवं शृंगार की भावना संयमनाशिनी है

प्रस्तुत गाथा में शास्त्रकार सुशील साधु की चर्या की ओर इंगित करते हुए शिथिलाचारपरायण साधु की वृत्ति एवं दुश्चर्या की झाँकी प्रस्तुत करते हैं—वास्तव में शिथिलाचार या दुश्चर्या की वृत्ति साधु में तभी जागती है, जब वह आत्मकल्याण की साधना से हटकर शरीरासक्तितत्पर हो जाता है। ऐसे साधु की वृत्ति हमेशा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरस, स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ आहार के सेवन की ओर लगी रहती है, भिक्षावृत्ति से धर्ममर्यादानुसार भिक्षा में जो कुछ भी और जैसा भी मिला है, उसमें सन्तुष्ट नहीं होता, उसकी जिह्वालोलुपता उसे बढ़िया सुस्वादु भोजन प्राप्त करने के लिए ताक-ताक कर ऊँचे और भावुक भक्तों के घरों से भिक्षा-नियमों की अपेक्षा करके भी लाने को प्रेरित करती है। वह उस प्रकार धर्मप्राप्त आहार को ठुकरा कर सरस स्वादिष्ट आहार पाने को उतावला हो जाता है, और लाकर व सेवन करके ही दम लेता है। साथ ही शरीर-शोभा के लिए प्रतिदिन वस्त्र धोने तथा शरीर की सफाई करने में लगा रहता है। इतना ही नहीं, शृंगार की दृष्टि से वस्त्रों को फाड़कर काटछांट करके छोटा या बड़ा भी करता रहता है, इस प्रकार की विभूषावृत्ति या स्वाद-लोलुपवृत्ति साधु को साधुता से कोसों दूर रखती है। साधुता सादगी में है, यथा-लाभ सन्तोष में है, इन्द्रियसंयम में है। तीर्थंकरों ने दशविध श्रमणधर्म (क्षमा, मार्दव आदि) के द्वारा सुशील साधु का धर्म बता दिया है। उसी पर चलना उसे शोभा देता है।

मूल पाठ

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

संस्कृत छाया

कर्म परिज्ञायोदके धीरो, विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम्।
स बीजकन्दान् अभुंजानो, विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**धीरे**) धीर साधक (**दगंसि**) कच्चे पानी में (**कम्मं परिन्नाय**) कर्मबन्ध जान कर (**आदिमोक्खं**) संसार से मोक्ष तक (**वियडेण जीविज्ज**) प्रासुक जल के द्वारा जीवन धारण करे। (**से बीयकंदाइ अभुंजमाणे**) वह साधु बीज, (बीजसहित वन-स्पति), कन्द तथा मूल, पत्र, फल आदि का भोजन न करता हुआ (**सिणाणाइसु इत्थियासु विरते**) स्नान आदि से तथा स्त्रियों से दूर रहे।

भावार्थ

बुद्धिशील साधक कच्चे पानी से स्नानादि करने में कर्मबन्ध जानकर संसार से मुक्ति प्राप्त होने तक प्रासुक (अचित्त) जल से ही अपना जीवन धारण करे। वह बीजकाय, कन्द आदि कच्ची वनस्पति का उपभोग न करे, तथा स्नान आदि शृंगारविभूषा कर्म से एवं स्त्री आदि समस्त मैथुनकर्म से विरत रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सुशील साधु-चर्या की ओर इशारा

इस गाथा में सुशील साधु की अहिंसामयी चर्या की ओर शास्त्रकार ने साधु-साध्वियों का ध्यान खींचा है। उनका इस कथन के पीछे यही अभिप्राय है कि साधु को धर्मपालनार्थ शरीर धारण करना है, और शरीर बिना आहार-पानी के टिकता नहीं है, आहार-पानी-वस्त्रादि जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य हैं, ऐसी स्थिति में वह आहार पानी प्राप्त करने के लिए न तो स्वयं आरम्भ करे, न करावे और न करते हुए का अनुमोदन करे। जो आहार-पानी सजीव है, शास्त्रपरिणत एवं प्रासुक नहीं है, अचित्त नहीं है, उस आहार एवं पानी को सचित्त जानकर तथा उसके लेने से जीवहिंसा की सम्भावना होने से उसके ग्रहण करने तथा सेवन करने में कर्मबन्ध समझकर जब तक मोक्ष न हो जाय तब तक उसे ग्रहण व सेवन न करे, सिर्फ प्रासुक (अचित्त), एषणीय एवं निर्दोष आहार-पानी, जो भिक्षा में प्राप्त हो, उसी से जीवन निर्वाह करे। सारांश यह है कि साधु कम से कम वस्तु से, अचित्त और सीधी-सादी, अल्पारम्भी वस्तु से अपना जीवन चलाए। वह कब तक इस प्रकार की चर्या से चले? इसके लिए कहते हैं—**'जोविज्ज य आदिमोक्खं'** आदि का अर्थ है—संसार, उससे मोक्ष न हो, तब तक इसी प्रकार जीए। अथवा धर्मपालन का आदि-मूल कारण शरीर, उससे जब तक मोक्ष यानी छुटकारा न हो, यानी शरीर न छूटे वहाँ तक इसी प्रकार का निर्दोष प्रासुक आहार-पानी लेकर जीवन चलाए। बीज, कंद आदि जितनी भी सचित्त सजीव वनस्पति आदि पदार्थ हैं, उनका उपभोग कदापि न करे, और न ही शरीर को इन्द्रियविषयों में या स्नान आदि स्त्रीसेवन आदि कामोत्तेजक वस्तुओं में प्रवृत्त करे। मतलब यह है कि शरीर को सुशोभित एवं शृंगारित करने के जितने भी साधन—स्नान, तैलमर्दन, पीठी, चन्दनादि लेप आदि जितने भी प्रसाधन—हैं, उनसे दूर ही रहे, साथ ही कामोत्तेजन करने वाली स्त्री सम्पर्क या सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री, या अन्य मैथुनकर्म आदि से भी सर्वथा निवृत्त रहे।

निष्कर्ष यह है कि साधु आत्मकल्याण के लिए जीता है, शरीर शृंगार, विभूषा, स्त्रीसंसर्ग या सचित्त आहार पानी का सेवन आदि शरीर से सम्बद्ध कर्म-बन्धन की कारणभूत बातों से वास्ता न रखे। सुशील साधु कुशीलवर्द्धक बातों से दूर रहे।

मूल पाठ

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

यो मातरं च पितरं च हित्वाऽगारं तथा पुत्रपशून् धनं च ।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि, अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**जे मायरं च पियरं च**) जो साधक अपने माता और पिता को, (**गारं तहा पुत्तपसुं धणं च**) घरबार तथा पुत्र, पशु और धन को (**हिच्चा**) छोड़कर (**साउगाइं कुलाइं जे धावइ**) स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में दौड़ता है, (**से सामणियस्स दूरे**) वह साधक श्रमणत्व से कोसों दूर है, (**अहाहु**) ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

भावार्थ

जो साधक माँ, बाप, घरबार, तथा पुत्र स्त्री आदि परिवार, पशु तथा धन सम्पत्ति आदि सर्वस्व छोड़कर स्वादलोलुपतावश स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में भागता फिरता है, समझ लो, वह श्रमणभाव से कोसों दूर है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

व्याख्या

गार्हस्थ्य छोड़कर भी स्वादिष्ट भोजन के चक्कर में !

इस गाथा में यह बताया गया है कि वह साधक अभी कच्चा साधक है, श्रमणभाव से दूर है, साधना में बहुत पीछे है, जो अपना घरबार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति आदि समस्त गार्हस्थ्यप्रपंचों को छोड़कर त्यागवृत्ति से पंच महाव्रत धारण करके संयममार्ग तो ग्रहण कर लेता है लेकिन बाद में मनोबलहीन एवं रसलोलुप बनकर ताक-ताक कर सुस्वादु भोजन वाले घरों में स्वादिष्ट भोजन के लिए दौड़ता रहता है। उसे त्याग, वैराग्य, संयम, साधुत्व आदि का कोई विचार नहीं है, एकमात्र बढ़िया स्वादिष्ट आहार पाने की धुन है। निःसन्देह ऐसा व्यक्ति अपनी की-कमाई तपस्या एवं साधना को स्वादलोलुपता के चक्कर में पड़कर मटियामेट कर देता है।

मूल पाठ

कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाणं सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

संस्कृत छाया

कुलानि यो धावति स्वादुकानि, आख्याति धर्ममुदरानुगृद्धः ।
अथाहुः स आचार्याणां शतांशे, य आलापयेदशनस्य हेतोः ॥२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**उदराणुगिद्धे**) पेट भरने में आसक्त (**जे**) जो साधक (**साउगाइं कुलाइं धावइ**) स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में दौड़ते हैं, तथा (**धम्मं आघाति**) वहाँ जाकर धर्मकथा—धर्मोपदेश करते हैं, (**से आयरियाण सयंते**) वे साधक आचार्यों या आर्यों (साधुओं) के शतांश के समान हैं, (**जे असणस्स हेऊ लावएज्जा**) जो भोजन के लोभ के कारण अपना गुण स्वयं वर्णन करते हैं, वे आर्यों के शतांश भी नहीं हैं, (**अहाहु**) ऐसा तीर्थंकर ने कहा है।

भावार्थ

जो उदरभरण में आसक्त होकर स्वादिष्ट भोजन के लोभवश सुस्वादुभोजन वाले अच्छे-अच्छे घरों में ताक-ताक कर जाता है, वहाँ जाकर धर्मोपदेश देता है, तथा जो स्वादिष्ट भोजन के लिए अपना गुण-कीर्तन करता है, वह आचार्यों के सौवें हिस्से के बराबर भी नहीं है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

व्याख्या

भोजन के लिए धर्मोपदेश और गुणकीर्तन क्यों ?

साधक की भिक्षा स्वाभिमानपूर्वक अमीरी भिक्षा है, वह भिखारियों जैसी दीनवृत्ति से प्रेरित नहीं होती। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—जो साधु अपनी धर्म-मर्यादाओं को भूलकर स्वादिष्ट भोजन पाने की धुन में समभाव से घरों में गोचरी करने के बजाय, ताक-ताक कर बार-बार उन्हीं घरों में जाता है, जहाँ स्वादिष्ट चटपटा भोजन मिलता हो, तथा वहाँ उस घर के लोगों को रिझाने के लिए मनो-रंजक धर्मकथा भी वह करता है। इतना ही नहीं, इससे आगे बढ़कर वह उन्हें अपना पक्का भक्त (केवल स्वादिष्ट भोजन पाने हेतु) बनाने की कोशिश करता है, उनके मन में अपने प्रति श्रद्धाभक्ति बढ़ाने या जमाने के लिए वह अपने गुणों की बढ़-चढ कर स्वयं प्रशंसा करके उक्त गृहस्थ के परिवार वालों को आकर्षित करता है। और भी मंत्र, तंत्र आदि के अनेकों उपाय अजमाता है। आहार पाने हेतु इस प्रकार की तिकड़मबाजी करने वाला वह साधक आचार्यों के शतांश के समान भी नहीं है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। वह साधक कुशील है, उदरानुगृद्ध है, चटोरा है, पेटू है।

मूल पाठ

णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे।
नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव ॥२५॥

संस्कृत छाया

निष्क्रम्य दीनः परभोजने, मुखमांगलिक उदरानुगृद्धः।
नीवारगृद्ध इव महावराह, अदूर एष्यति घातमेव ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**णिक्खम्म**) जो पुरुष साधु-दीक्षा के लिए घर से निकल कर (**परभोयणंमि**) दूसरे के भोजन के लिए (**दीणे**) दीन बनकर (**मुहमंगलीए**) भाट की तरह मुख मांगलिक बनता है, जी-हजूरी करते हुए मुँह पर दूसरे की प्रशंसा करता है, (**नीवार-गिद्धे व महावराहे**) वह चावल के दानों में आसक्त मोटे ताजे सूअर की तरह (**उदराणुगिद्धे**) पेट भरने में ही आसक्त है, (**अदूरए**) वह निकट भविष्य में ही (**घातमेव**) नाश को ही (**एहिइ**) प्राप्त होगा।

भावार्थ

जो पुरुष मुनि दीक्षा के लिए घरबार छोड़कर निकला है, किन्तु दूसरे के भोजन के लिए दीन बनकर भाट की तरह चापलूसी करता है वह चावल के दानों में आसक्त मोटे ताजे सूअर की भाँति अपना पेट पालने में ही आसक्त है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होगा।

व्याख्या

पेट के लिए कितनी दीनता ? कितनी चापलूसी ?

इस गाथा में बताया गया है कि साधु बन जाने के बाद स्वादलोलुपतावश दीनता, चापलूसी और जी-हजूरी करके साधक अपना कितना पतन कर लेता है ? अपनी आत्मा का किस प्रकार विनाश कर लेता है ? वास्तव में घरबार, कुटुम्ब-कबीला और धन-धान्य आदि छोड़कर साधु बन जाने के बाद वह गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन में से मधुकरी वृत्ति से अनेक घरों में से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है, किन्तु जब वह साधु अपनी उच्चवृत्ति, साधुता, त्याग-तपस्या का विचार नहीं करता, सिर्फ जिह्वालोलुप बन जाता है, तब वह यथालाभ संतुष्ट न होकर सरस स्वादिष्ट भोजन के लिए भिखारी की तरह दीन बनकर अनेक धनिकों या सत्ताधीशों की चाटुकारी, खुशामद, जीहजूरी करने लगता है, वह उन्हें प्रसन्न करने के लिए ठकुरसुहाती बात कहता है। कई बार उनकी प्रशंसा में अति-शयोक्ति भरे वचन कहकर वह उन लोगों को प्रसन्न करता है—आप तो महान् पुण्यवान हैं, भाग्यशाली हैं, आपको कौन नहीं जानता ? आप तो कर्ण की तरह महादानेश्वरी हैं, आप धर्मात्मा हैं, आपके गुणों की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है, धर्मकार्यों में और साधुसन्तों की सेवा में आप कभी पीछे नहीं रहते, इत्यादि। भाटों की तरह इस प्रकार की चाटुकारिता वह सर्वस्वत्यागी साधु क्यों करता है ? इसका कारण शास्त्रकार बताते हैं—'**उदराणुगिद्धे**' वह साधु पेटू है, उदरम्भरी है, स्वादलोलुप है। अपनी जिह्वालोलुपता के कारण वह पेट भरने में उसी तरह टूट पड़ता है, जैसे विशालकाय सूअर चावल के दानों पर एकदम टूट पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार विशालकाय सूअर चावल के दानों में लुब्ध होकर भारी संकट में फँस जाता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी जान गँवा देता है, वैसे ही वह कुशील असंयमी साधक उदरपूर्ति में आसक्त होकर अपने संयमी जीवन का नाश कर देता है, अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतों को भी धीरे-धीरे खो बैठता है और एक दिन संयमप्राणहीन खोखला साधुवेष का ढाँचा मात्र रह जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—'**अद्धरए एहिइ घातमेव**।' अर्थात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यहाँ घात (नाश) दो प्रकार का है—द्रव्यघात और भावघात। द्रव्य से अतिस्वादिष्ट, गरिष्ठ, दुष्पाच्य भोजन प्रतिदिन करने से शीघ्र ही रोगग्रस्त होकर उसका शरीर विनष्ट हो जाता है, भाव से संयमी-जीवन, महाव्रत आदि से वह नष्ट हो जाता है। स्वादलोलुपता के कारण नाना कर्मबन्धन करके वह नीच योनियों में बार-बार परिभ्रमण करता है।

मूल पाठ

अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

संस्कृत छाया

अन्नस्य पानस्येह लौकिकस्यानुप्रियं भाषते सेवमानः ।
पार्श्वस्थतां चैव कुशीलतां च, निःसारो भवति यथा पुलाकः ॥२६॥

अन्वयार्थ

(**अन्नस्स पाणस्स**) भोजन तथा पानी (**इहलोइयस्स**) एवं वस्त्र आदि इहलौकिक साधनों के लिए (**सेवमाणे**) एक सेवक—दास की तरह जो पुरुष (साधुवेषी) (**अणुप्पियं भासति**) आहारादि के दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है, ठकुरसुहाती बात कहता है, (**पासत्थयं चेव कुसीलयं च**) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थ भाव (आचार-शैथिल्य) को और कुशीलभाव (दूषित संयमित्व-साधुत्व) को प्राप्त होता है। और एक दिन वह (**निस्सारए होइ जहा पुलाए**) भुस्से की तरह निःसार-निःसत्त्व संयमप्राण से रहित, थोथा हो जाता है।

भावार्थ

जो पुरुष (साधु वेषधारी) अन्न-पान तथा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थों के लोभ से दातापुरुष को ठकुरसुहाती बातें कहता है। ऐसा व्यक्ति पार्श्वस्थ तथा कुशील बन जाता है और भुस्से के समान निःसत्त्व (थोथा) हो जाता है।

व्याख्या

साधु का वेष : परन्तु साधुत्व से रहित थोथा निःसार

इस गाथा में यह बताया गया है कि जो साधु बढ़िया रुचिकर अन्न-पानी या वस्त्र आदि के लिए राजाओं के सेवक की तरह दाता की जी-हजूरी करता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी हाँ में मिलाता है, ठकुरसुहाती बातें करता है, किन्तु दाता के जीवन में कोई ऐब या भूल हो तो उसे नाराजी के डर से सावधान नहीं कर सकता, ऐसा साधुवेषी व्यक्ति पेट भरने में आसक्त होकर ही यह सब प्रपञ्च करता है। शास्त्रकार कहते हैं— ऐसा साधु साधु के वेष में है, कदाचित् साधु की कुछ क्रियाएँ भी ऊपर-ऊपर से कर लेता हो, परन्तु अन्दर से उसका जीवन भुस्से की तरह चारित्ररूपी सार से हीन, निःसत्त्व और थोथा है। ऐसा व्यक्ति आचारहीन पार्श्वस्थ-सा हो जाता है, या वह विपरीत आचार से युक्त कुशील-सा हो जाता है। अतः वह स्वयूथिक साधुओं के अपमान का पात्र हो जाता है, और परलोक में भी दुर्गति का भाजन बनता है।

मूल पाठ

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥

संस्कृत छाया

अज्ञातपिण्डेनाधिसहेत्, न पूजनं तपसाऽऽवहेत् ।
शब्दैः रूपैः रसज्जन्, सर्वेभ्यः कामेभ्यो विनीय गृद्धिम् ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा**) साधु अज्ञातपिण्ड के द्वारा अपना निर्वाह करे। (**तपसा पूयणं णो आवहेज्जा**) और तपस्या के द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे, तथा (**सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे**) शब्दों और रूपों (दृश्य वस्तुओं) में आसक्त न होता हुआ (**सव्वेहि कामेहि गेहिं विणीय**) समस्त विषय-कामनाओं से गृद्धि —आसक्ति हटाकर एकमात्र संयम में रत होकर रहे।

भावार्थ

साधु अज्ञात पिण्ड (अपरिचित घरों से लाए हुए भिक्षान्न) से अपना निर्वाह करे। तपस्या के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे तथा शब्दों, रूपों तथा विविध प्रकार के विषयभोगों से आसक्ति हटाकर शुद्ध संयम का पालन करे।

व्याख्या

सुशील साधक का आचार-विचार

कुशील साधु वेषधारियों के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है, अब यहाँ से उसी सन्दर्भ में उसके प्रतिपक्षी सुशील साधक के आचार-विचार के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं – '**अण्णातपिंडेण ·····विणीय गेहिं**'।

तात्पर्य यह है कि पिछली गाथाओं बतलाए हुए जो अग्निहोत्र तथा जलस्पर्श आदि से मोक्ष की प्राप्ति न मानता हो तथा अग्निकाय आदि के समारम्भ न करे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह सुशील साधु माना जाएगा, बशर्ते कि वह स्वादिष्ट आहार-पानी आदि के लिए ताक-ताक कर अच्छे घरों में न जाए, न उन दाताओं की झूठी प्रशंसा आदि करके आहारादि ले। तब फिर यह सवाल उठेगा कि वह सुशील साधु निर्दोष आहारपानी कैसे प्राप्त करे ? कैसे जीए ? कैसे रहे ? इसके समाधानार्थ इस गाथा में बताया गया कि वह अज्ञात (जिन घरों का पहले-पीछे का उससे कोई परिचय न हो) घरों से पिण्ड (आहार-पानी आदि) ग्रहण करे, और अपने संयमी जीवन का पालन करे। ऐसे घरों से तो प्रायः अन्त (भुक्तशिष्ट) और प्रान्त (बचा-खुचा फैंके जाने योग्य) रूखा-सूखा और नीरस आहार ही मिलेगा, परन्तु सुशील एवं अहिंसामूर्ति साधु इसकी परवाह न करे, वह ऐसा तुच्छ आहार मिलने पर मन में दीनता न लाए और उत्कृष्ट आहार मिल जाए तो गर्व नहीं करे। समभाव से उस आहार को उदरस्थ करले। यहाँ '**अहियासएज्जा**' पद इस बात का भी द्योतक है कि समभावी साधक अपने आप को इसी साँचे में ढाल ले। किन्तु अपना गुणोत्कीर्तन करके, अपना परिचय देकर, तप, चारित्र, मंत्र-यंत्रादि चमत्कार के बल पर आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास न करे क्योंकि इससे वह सुशील साधक फिर उन्हीं पूर्वोक्त दोषों से लिप्त हो जाएगा। ऐसा करके तो साधक अपनी मुक्तिहेतुक तपस्या, साधना और आराधना को बेचकर घाटे में रहेगा। कहा भी है—

परं लोकाधिकं धाम, तपः-श्रुतमिति द्वयम्।
तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥

अर्थात्—परलोक में श्रेष्ठ स्थान दिलाने वाले दो ही पदार्थ हैं—तप और श्रुत। इनसे सांसारिक पदार्थ की इच्छा करने पर इनका सार निकल जाएगा, ये तिनके की तरह निःसार हो जायेंगे।

जैसे रस में आसक्ति न करने की बात कही, वैसे शब्द और रूप में भी तथा समस्त विषयभोगों—गन्ध और स्पर्श आदि में भी सुशील साधक आसक्ति को फटकने न दे। किस प्रकार इन पर से आसक्ति हटाए ? इसके उत्तर में एक प्राचीन आचार्य के विचार सुनिए—

सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥
रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥२॥
गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥३॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥५॥

वीणा और वेणु (वर्तमान में रेडियो आदि) के मधुर शब्द कान में टकराएँ तो साधु उनमें प्रसन्न न हो, और न ही कर्कश शब्द कान में पड़ने पर उन पर अप्रसन्न हो। इसी प्रकार सुन्दर और असुन्दर रूप भी आँखों के सामने आएँ तो साधु कदापि उन पर प्रसन्न या अप्रसन्न न हो, गन्ध अच्छा या बुरा जैसा भी नाक में आए, साधु कभी तुष्ट या रुष्ट न हो, भोज्य पदार्थ स्वादिष्ट या खराब जैसे भी जीभ पर आएँ, साधु उनके प्रति तोष या रोष न लाए। इसी प्रकार स्पर्श भी भला या बुरा जैसा भी शरीर से हो, साधु न तो उन पर खुश हो, न नाराज। निष्कर्ष यह है कि मनसहित पाँचों इन्द्रियों के जो भी मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषय हों, उनके प्रति राग (आसक्ति) या द्वेष (घृणा, रोष आदि) न करे, समभाव से अपने शुद्ध संयमपथ पर चले। इच्छा-मदनरूप समस्त कामविकारों से आसक्ति हटाकर शुद्ध संयम पालन करे।

मूल पाठ

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥२८॥

संस्कृत छाया

सर्वान् संगानतीत्य धीरः, सर्वाणि दुःखानि तितिक्षमाणः ।
अखिलोऽगृद्धोऽनियतचारी, अभयंकरो भिक्षुरनाविलात्मा ॥२८॥

अन्वयार्थ

(**धीरे भिक्खु**) बुद्धिशाली भिक्षु (**सव्वाइं संगाइं अइच्च**) सर्वसंगों को छोड़कर, (**सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे**) सब दुःखों को सहन करता हुआ (**अखिले अगिद्धे अणिएयचारी**) ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पूर्ण तथा विषयभोगों में अनासक्त एवं अप्रतिबद्धविहारी (**अभयंकरे**) प्राणियों को अभयदान देने वाले (**अणाविलप्पा**) तथा विषय-कषायों से अनाकुल-आत्मा होकर संयम का भलीभाँति पालन करता है।

भावार्थ

बुद्धि से सुशोभित भिक्षु समस्त आसक्तियुक्त सम्बन्धों का परित्याग करके समस्त दुःखों को सहन करता हुआ, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से परिपूर्ण विषयभोगों में अनासक्त एवं अप्रतिबद्धविहारी होता है। तथा वह प्राणियों को अभय देता हुआ और विषय-कषायों से अनाकुल होकर सुचारु रूप से संयम का पालन करता है।

व्याख्या

सुशील साधु की संयम साधनाएँ

पूर्वगाथा में सुशील साधु के आचार-विचारों का निरूपण किया था, इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा में उसकी विभिन्न साधनाओं के सम्बन्ध में निरूपण करते हैं। पूर्वगाथा में पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष रहित होकर संयमस्थ रहने की बात थी, इस गाथा में अन्य साधनाओं के सम्बन्ध में कहते हैं - सर्व संगों का त्याग करने का अर्थ है आभ्यन्तर संग-आसक्ति और बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति आसक्ति यानी दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर विवेकी साधक शारीरिक-मानसिक दुःखों के समय सहनशील बने—यानी उपसर्गों और परीषहों से उत्पन्न दुःखों को समभावपूर्वक सहन करता रहे। तभी वह अखिल यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सर्वांगपूर्ण बनता है। और जब वह कामवासनाओं में आसक्त नहीं होता, तभी वह अप्रतिबद्धविहारी होता है द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित होकर विचरण करता है। ऐसा होने पर ही वह स्वयं निर्भय होकर दूसरों का अभयदाता बनता है। ये सब साधनाएँ तभी सफल हो सकती हैं, जब साधक विषयों और कषायों से आकुल नहीं होता उन्हें सेवन के लिए उतावला नहीं होता, न उनसे घबराता है, तिलमिलाता है। ये सुशील साधु की कुछ आवश्यक संयम-साधनाएँ हैं।

मूल पाठ

भारस्स जत्ता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेगं भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥२९॥

संस्कृत छाया

भारस्य यात्रार्थं मुनिर्भुञ्जीत, कांक्षेत् पापस्य विवेकं भिक्षुः।
दुःखेन स्पृष्टो धुतमाददीत, संग्रामशीर्ष इव परं दमयेत् ॥२९॥

अन्वयार्थ

(**मुणि भारस्स जत्ता**) मुनि पंचमहाव्रतरूप संयम यात्रार्थ (**भुंजएज्जा**) आहार करे। (**भिक्खू पावस्स विवेगं कंखेज्ज**) भिक्षु अपने पूर्वपाप का त्याग करने की इच्छा करे। (**दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा**) दुःख का स्पर्श होने (आ पड़ने) पर धुत -- संयम या मोक्ष को ग्रहण-स्मरण करे, या उसमें ध्यान लगाए। (**संगामसीसे व परं दमेज्जा**) युद्ध भूमि में (युद्ध के मोर्चे पर) जैसे सुभट पुरुष शत्रु के योद्धा का दमन करता है, उसी तरह साधु कर्मरूपी शत्रु का दमन करे।

भावार्थ

मुनि संयम के निर्वाह के लिए आहार करे, भिक्षु अपने पूर्वपाप को छोड़ने का संकल्प करे, दुःखों का स्पर्श होने पर साधु अपने संयम या मोक्ष का चिन्तन करे या ध्यान लगाए। जैसे सुभट पुरुष युद्ध के मोर्चे पर शत्रु का दमन करता है, वैसे ही साधु कर्मरूपी शत्रु का दमन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सुशील साधु चार बातों से सावधान रहे

इस गाथा में सुशील साधु को संयम रक्षा के लिए किन-किन बातों से सावधान रहना चाहिए ? यह बताया गया है। साधु को निम्नलिखित बातों से सावधान रहना चाहिए—

(१) वह ध्यान रखे कि संयम यात्रा के निर्वाह के लिए मुझे आहार करना है, (२) पूर्वकृत पापों का त्याग करने का प्रतिदिन संकल्प करे, अन्यथा पूर्व संस्कार उसके मार्ग में विघ्न डालेंगे, (३) जब कभी दुःखों से घिर जाय, तब मोक्ष या संयम में अपना ध्यान ओतप्रोत कर दे, (४) कर्मशत्रु का दमन करता रहे, अगर कर्मशत्रु को आगे बढ़ने या मनमाना करने दिया जाएगा तो वह आत्मा पर हावी हो जाएगा, फिर आत्मा अपनी साधना को निर्विघ्नतापूर्वक नहीं कर सकेगा। अतः सुशील साधक को अपनी संयम साधना शुद्ध एवं तेजस्वी रखने के लिए इन बातों से सावधान रहना चाहिए।

मूल पाठ

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं ॥३०॥

॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

अपि हन्यमानः फलकावतष्टी, समागमं कांक्षत्यन्तकस्य ।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चमुपैति, अक्षक्षय इव शकटम् ॥३०॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**अवि हम्ममाणे**) परीषहों और उपसर्गों के द्वारा पीड़ा पाता हुआ भी उसे सहन करे (**फलगावतट्ठी**) जैसे लकड़ी के तख्ते को दोनों ओर से छीले जाने पर वह रागद्वेष नहीं करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक रागद्वेष न करे, (**अंतकस्स समागमं कंखति**) किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करे। (**णिधूयकम्मं ण पवंचुवेइ**) इस प्रकार कर्म को दूर करके साधु जन्म, मरण, रोग, शोक आदि को प्राप्त नहीं करता। (**अक्खक्खए वा सगडं**) जैसे अक्ष (धुरी) के टूट जाने से गाड़ी आगे नहीं चलती है। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ

परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होता हुआ भी साधु उसे सहन करे, जैसे दोनों तरफ से छीला जाता हुआ काष्ठ का तख्ता रागद्वेष नहीं करता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से या परीषहों-उपसर्गों से कष्ट पाता हुआ साधु भी रागद्वेष न करे अपितु समभावपूर्वक पीड़ा सहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करे। जैसे गाड़ी की धुरी टूट जाने पर वह आगे नहीं चलती, वैसे ही कर्म काट देने पर जन्म, मरण, रोग, शोक आदि प्रपंच की गाड़ी भी आगे नहीं चलती। अर्थात् वह जन्ममरणादि को प्राप्त नहीं करता।

व्याख्या

सुशील साधक द्वारा अन्तिम मंजिल पाने का उपाय

साधक और सब सावधानी तो रख सकता है, परन्तु जब परीषहों और उपसर्गों की बौछार होने लगती है, तब पीड़ा के मारे उसका मन प्रायः डगमगाने लगता है। वह सोचने लगता है, क्यों व्यर्थ ही इन परीषहों को सहा जाए? इनके सहने से वर्तमान में तो अत्यन्त दुःख हो रहा है, आगे कहाँ सुख मिलने वाला है, इन दुःखों के सहने से? इस प्रकार साधक परीषह और उपसर्गों के कष्ट से कतराता है, वह सब कुछ छोड़ने को उद्यत हो जाता है, ऐसे मौके पर शास्त्रकार साधक को परामर्श देते हैं कि वह परीषह या उपसर्ग के कष्ट को एक प्रकार की बाह्य एवं आभ्यन्तर तपस्या समझकर समभाव से सहन करे। जैसे काठ का तख्ता दोनों ओर से छीला जाने पर भी उसमें किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही बाह्य-आभ्यन्तर तप से शरीर को तपाने से दुर्बल हो जाने पर भी साधक रागद्वेष न करे। यदि शरीर नष्ट होने को हो, और किसी तरह से भी धर्मपालन करने में समर्थ न हो तो साधु को चाहिए कि वह मृत्यु का हँसते-हँसते स्वागत करे, मृत्यु का आलिंगन करने में वह बिलकुल न झिझके। आठ प्रकार के कर्मों के क्षय होने से शरीर से सम्बन्धित जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि संसार प्रपञ्च उसी तरह मिट जाता है, जिस तरह गाड़ी का धुरा टूट जाने पर गाड़ी वहीं रुक जाती है। संसाररूपी प्रपंच का समाप्त होना ही अन्तिम मंजिल—मोक्ष पाना है; जहाँ से फिर वापस लौटना नहीं होता।

इति शब्द समाप्ति अर्थ का सूचक है, ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम अध्ययन : वीर्य

सातवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है, अब आठवें वीर्य नामक अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जा रही है। सातवें अध्ययन में कुशील (शिथिलाचारी एवं पतित) साधक के साथ-साथ सुशील (सुविहित सदाचारी) साधक का भी निरूपण किया गया है। इन दोनों प्रकार के साधुओं का कुशीलत्व और सुशीलत्व क्रमशः संयम-वीर्यान्तराय (संयमपालन में विघ्नरूप) कर्म के उदय से तथा क्षयोपशम से होता है। अतः वीर्य (बल) के सम्बन्ध में स्पष्ट निरूपण करने हेतु यह आठवाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

विभिन्न पहलुओं से वीर्य और उसके प्रकार

इस अध्ययन के नाम से ही प्रकट है कि इसमें वीर्य अर्थात् पराक्रम के सम्बन्ध में वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का अर्थाधिकार यह है—वीर्य तीन प्रकार का है—(१) बालवीर्य, (अविवेकी), (२) बाल-पण्डितवीर्य (यथाशक्ति सदाचारी) और (३) पण्डितवीर्य (सम्पूर्ण संयम पालने वाला)। इन तीनों प्रकार के वीर्य (आत्मबल) वालों में प्रत्येक का वीर्य (आत्मशक्ति) जानकर साधु को पण्डितवीर्य में पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। इस अध्ययन में कोई उद्देशक नहीं है। वीर्य शब्द यहाँ सामर्थ्य, बल, पराक्रम, या शक्ति का सूचक है।

विभिन्न पहलुओं से वीर्य और उसके प्रकार

निक्षेप की दृष्टि से वीर्य के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यों ६ निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापनावीर्य सुगम हैं। **द्रव्यवीर्य** आगमतः और नो-आगमतः दो प्रकार का है। जो पुरुष वीर्य को जानता है, परन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता, वह आगमतः द्रव्यवीर्य है। नो-आगम से द्रव्यवीर्य ज्ञशरीर तथा भव्यशरीर से व्यतिरिक्त सचित्तवीर्य, अचित्तवीर्य और मिश्रवीर्य यों तीन प्रकार का है। सचित्तवीर्य के तीन भेद हैं—द्विपद, चतुष्पद और अपद। द्विपदों में अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का जो वीर्य (शरीर पराक्रम) है, तथा जिस स्त्रीरत्न का जो वीर्य है, वह यहाँ सचित्त द्विपद द्रव्यवीर्य है। तथा सचित्त चतुष्पदों में उत्तम अश्व, उत्तम हाथी या सिंह, व्याघ्र आदि का जो वीर्य (बल) है, उसे सचित्त चतुष्पद द्रव्यवीर्य समझना चाहिए तथा बोझा ढोने और दौड़ने में इनका जो बल है, वह द्रव्यवीर्य जानना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। अपदों में गोशीर्ष चन्दन आदि के वीर्य (शक्ति) को समझना चाहिए। इस चन्दन में यह शक्ति है कि इसका लेप लगाने से शीतकाल में शीत और ग्रीष्म-काल में गर्मी दूर हो जाती है। अतः इसका वीर्य अपदद्रव्यवीर्य है।

अचित्त द्रव्यवीर्य तीन प्रकार का है – आहार, आवरण (शरीररक्षक कवच आदि) और प्रहरण (शस्त्र)। आहार का वीर्य यह है कि दूध आदि पदार्थों के सेवन से शरीर और इन्द्रियों में ताकत एवं स्फूर्ति आती है। जैसे दूध आदि। वातपित्त कफादि नाशक, बुद्धिवर्द्धक, शक्तिवर्द्धक औषधियों को भी **आहार-रस-वीर्य** कहते हैं। शरीर रक्षण में कवच, ढाल आदि की शक्ति **आवरण-वीर्य** हैं और शस्त्र, अस्त्र आदि की शक्ति **प्रहरणवीर्य** है।

क्षेत्रवीर्य—जिस क्षेत्र का जो वीर्य (सामर्थ्य) है वह क्षेत्र द्रव्यवीर्य है। अथवा दुर्ग आदि स्थान के आश्रय से किसी पुरुष का उत्साह बढ़ता है, इसलिए भी वह क्षेत्रवीर्य है, अथवा देवकुरु आदि क्षेत्र में सभी पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तमवीर्यवान होते हैं, इसलिए वह क्षेत्रवीर्य है। अथवा जिस क्षेत्र में वीर्य की व्याख्या की जाय वह भी क्षेत्रवीर्य है।

कालवीर्य—एकान्त सुखयुक्त सुषम नामक प्रथम आरादि कालवीर्य है। अथवा अमुक-अमुक ऋतु में अमुक-अमुक वस्तु शक्ति बढ़ाती है, सामर्थ्य एवं स्वास्थ्य बढ़ती है, वह भी कालवीर्य है।

भाववीर्य—वीर्य-शक्तियुक्त जीव की वीर्यसम्बन्धी अनेक लब्धियाँ हैं। यह छाती का वीर्य, शरीरवीर्य (बल), इन्द्रियबल, आध्यात्मिक बल आदि अनेक प्रकार का होता है। **मनोबल**—मन आन्तरिक व्यापार से मनोयोग्य पुद्गलों को मन के रूप में, भाषा के योग्य पुद्गलों को भाषा के रूप में तथा काय के योग्य पुद्गलों को काय के रूप में एवं श्वास-उच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करता है, वह मनोवीर्य है। इसके दो भेद हैं—सम्भाव्य और संभव। जो जीव बुद्धिमान के द्वारा कही गई बात को इस समय नहीं समझ सका, परन्तु भविष्य में अभ्यास के द्वारा समझ लेगा, उसका वह मनोबल **सम्भाव्यमनोवीर्य** है। तीर्थंकरों तथा अनुत्तरविमान के देवों का मन बहुत निर्मल होता है। वे मन द्वारा जो प्रश्न करते हैं, उसका समाधान तीर्थंकरदेव द्रव्यमन से ही दे देते हैं। उनका यह मनोबल **संभवमनोवीर्य** है।

वचनबल—वाग्वीर्य के भी दो भेद हैं संभव और सम्भाव्य। तीर्थंकरों की वाणी में एक योजन दूर तक फैलने का सामर्थ्य है, सबको अपनी-अपनी भाषा में समझाने की उसमें शक्ति है, इसलिए वह **संभववाग्वीर्य** है। किसी-किसी व्यक्ति की वाणी दूध एवं मधु के समान माधुर्यबल से युक्त होने से सबको प्रभावित कर सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ! हंस और कोयल का स्वर मधुर होता है। किसी-किसी महिला का गायन बहुत मधुर होता है। इस प्रकार की वाक्शक्ति संभववाग्वीर्य है। 'हम आशा करते हैं कि यह श्रावकपुत्र पढ़े बिना ही उचित बोलने योग्य वचनों को बोलने लगेगा, हमें आशा है कि तोता और मैना को यदि मनुष्य के सम्पर्क में रखा जाय तो उनमें मनुष्य भाषा में बोलने की शक्ति आ सकेगी, यहाँ **सम्भाव्यवाग्वीर्य** है।

कायबल—चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव का बाहुबल तथा तीर्थंकर का अतुल बल **संभवकायबल** है, क्योंकि त्रिपृष्ठ वासुदेव ने अकेले ही बायें हाथ की हथेली से करोड़ों मन की शिला उठा ली थी। तीर्थंकर लोक को अलोक में गेंद की तरह फैंक सकते हैं, मेरुपर्वत को डंडे की तरह तथा पृथ्वी को उसके ऊपर छत्ते की तरह रख सकते हैं। यह सब **सम्भाव्यकायबल** के उदाहरण हैं। आशा की जाती है कि बड़ा होने पर यह पहलवान का लड़का इस बड़ी शिला को उठा लेगा, छाती पर रख कर हाथी के पैर से उसे तुड़वाएगा। यह भी **सम्भाव्यकायबल** है।

इन्द्रियबल—कान, आँख, नाक आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं, यह इन्द्रियवीर्य है। ये प्रत्येक **संभववीर्य** और **सम्भाव्यवीर्य** के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। सम्भवइन्द्रियवीर्य—जैसे कान का विषय-ग्रहणसामर्थ्य १२ योजन का है, शेष ४ इन्द्रियों का भी जिसका जो विषय-ग्रहण सामर्थ्य है वही उसका संभव-इन्द्रियवीर्य है। सम्भाव्यइन्द्रियवीर्य इस प्रकार है—किसी व्यक्ति की इन्द्रिय नष्ट नहीं हुई है, किन्तु इस समय वह थका, हारा, व्यग्र, क्रुद्ध, प्यासा, भूखा या रोग आदि से ग्लान है, भविष्य में आशा की जाती है, कि इन दोषों के शान्त होते ही उसकी अमुक इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण कर सकेगी।

आध्यात्मिक बल—आत्मा की—अन्दर की शक्ति से उत्पन्न सो सात्त्विक बल है, वह आध्यात्मिक वीर्य कहलाता है। वह अनेक प्रकार का है—(१) **उद्यम**—ज्ञान-उपार्जन करने और तपस्या करने में जो आन्तरिक उत्साह है, वह पहला आध्यात्मिक बल है। इसके भी संभव और सम्भाव्य नामक भेद यथासम्भव समझ लेने चाहिए। (२) **धृति**—संयम में स्थिरता, चित्त में स्थैर्य धृति बल है, (३) **धीरत्व**—परीषहों और उपसर्गों के समय चलायमान न होने का कारण धीरत्व बल है। (४) **शौण्डीर्य**—त्याग की उच्चकोटि की उत्साहपूर्ण भावना को शौण्डीर्यबल कहते हैं। जैसे भरत चक्री का मन भरतक्षेत्र के ६ खण्ड का राज्य छोड़ने पर भी कम्पित नहीं हुआ। अथवा दुःख में भी खेद न करना शौण्डीर्य है। कठिन कार्य करने का अवसर आने पर दूसरे के भरोसे न रहकर स्वयं ही कर्तव्य समझकर हँसते हँसते उस कार्य को पूर्ण करना भी शौण्डीर्य है। (५) **क्षमावीर्य**—प्रतिकार करने की शक्ति होते हुए भी दूसरे का अपकार सहना अथवा कोई गाली आदि दे दे, तो भी मन में क्षोभ न करना क्षमावीर्य है। (६) **गाम्भीर्य**—परीषहों और उपसर्गों से न दबना गाम्भीर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अथवा ऐसे अद्भुत साहसिक कार्य करके जो दूसरे के मन में चमत्कार पैदा कर दें फिर भी अहंकार न लाना गाम्भीर्य है। (७) **उपयोगबल**—इसके दो भेद हैं—साकार (ज्ञान) उपयोग और अनाकार (दर्शन) उपयोग। साकार उपयोग ८ प्रकार का है, निराकार ४ प्रकार है। इनके द्वारा उपयोग रखने वाला व्यक्ति द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप अपने-अपने विषय का निश्चय करता है, समझता है। (८) **योग-वीर्य (बल)**— मन, वचन और काया के भेद से योगवीर्य ३ प्रकार का है। अकुशल मन को रोकना, बुरे विचारों में मन को न जाने देना, सत्कर्म के विचार में उसे प्रवृत्त करना, मन को एकाग्र करना **मनोवीर्य** है। उत्तम साधु **मनोवीर्य** के प्रभाव से निर्मल और धर्म में स्थिर परिणाम वाले होते हैं। **वचनवीर्य** के प्रभाव से साधु-साध्वी सँभल-सँभलकर, निरवद्य, मधुर, अर्थयुक्त वचन बोलते हैं। **कायवीर्य** के प्रभाव से साधु अपने हाथ पैर को स्थिर रखकर कछुए की तरह बैठते हैं। (९) **तपोवीर्य**—बारह प्रकार के तप में पराक्रम करना है। तपोवीर्य के प्रभाव से साधु उत्साहपूर्वक तप करते हैं, उन्हें तप करने में किसी प्रकार का खेद नहीं होता। (१०) **संयमवीर्य**—वहाँ है, जहाँ १७ प्रकार के संयम में 'मैं इतना हूँ' ऐसी भावना करता हुआ साधु जो बल पूर्वक संयम पालन करता है, और यह भाव रखता है कि मैं किस प्रकार अपने संयम में कोई दोष न लगने दूँ।

ये और इस प्रकार के सभी वीर्य अध्यात्मवीर्य यानी भाववीर्य हैं। वीर्यप्रवाद पूर्व में वीर्य अनन्त प्रकार के बताये गये हैं। क्योंकि यह पूर्व अनन्त अर्थ वाला है। उसमें वीर्य का प्रतिपादन विभिन्न पहलुओं से किया गया है तथा पूर्व में अनन्त अर्थ हैं, वीर्य पूर्व का अर्थ है, इसलिए भी वीर्य अनन्त हैं।

उपर्युक्त सभी वीर्य तीन कोटि के होते हैं—बालवीर्य, पण्डितवीर्य और बाल-पण्डितवीर्य। इन सब में उत्तम पण्डितवीर्य होता है, जो साधुओं का होता है। बाल-पण्डितवीर्य श्रावकों का होता है और बालवीर्य अविवेकी लोगों का होता है। साधुओं का पण्डितवीर्य निर्मल-साधुता में पराक्रम करना है, वह सादिसान्त होता है। क्योंकि जिस समय वे संयम-महाव्रत ग्रहण करते हैं, उस समय से उसकी आदि होती है, और जब वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जाते हैं, उस समय यहाँ का धर्मानुष्ठान समाप्त हो जाता है, इसलिए सान्त कहलाता है। बाल पण्डितवीर्य भी सादिसान्त होता है, क्योंकि जिस समय गृहस्थ देशविरति श्रावकव्रत ग्रहण करता है, अर्थात् यथाशक्ति ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना प्रारम्भ कर देता है, और जब वह साधुता ग्रहण करता है, या श्रावकव्रत भंग करता है, तब उसका वह भूतपूर्व वीर्य समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से वह सादि और सान्त है। अविरति अर्थात् देश से भी ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन न करना बालवीर्य है। वह अभव्य जीवों का अनादि-अनन्त है और भव्यजीवों का अनादि सान्त है। यदि विरति को लेकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके भंग करें तो इस अपेक्षा से यह सादि है और फिर जघन्य अन्तर्मुहूर्त में चारित्रग्रहण करे तथा उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्तनकाल में फिर चारित्र का उदय हो तो वह अविरति सान्त है। इस अपेक्षा से अविरति सादिसान्त है। पण्डित-वीर्य सर्वविरतिरूप है। और वह विरति चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होने के कारण तीन प्रकार की है। इस दृष्टि से भी वीर्य तीन प्रकार का है।

यहाँ आध्यात्मिक वीर्य के इन तीनों प्रकारों के सन्दर्भ में शास्त्रकार बताते हैं। अब क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चई ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ? ॥१॥

संस्कृत छाया

द्विधा वेदं स्वाख्यातं वीर्यमिति प्रोच्यते ।
किं नु वीरस्य वीरत्वं, कथं चेदं प्रोच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ

(**वेयं वीरियंति पवुच्चइ**) यह जो वीर्य कहलाता है, वह (**दुहा सुयक्खायं**) दो प्रकार का तीर्थंकरों ने कहा है। (**वीरस्स किं नु वीरत्तं**) वीर पुरुष की वीरता क्या है ? (**कहं चेयं पवुच्चई**) किस कारण से वह वीर कहलाता है ?

भावार्थ

यह जो 'वीर्य' नाम से पुकारा जाता है, इसे तीर्थंकरों ने दो प्रकार का कहा है। प्रश्न होता है— वीर का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

व्याख्या

वीर्य, वीर और वीरत्व

इस गाथा में वीर्य का स्वरूप, प्रकार और वीर तथा वीरत्व के सम्बन्ध में यत्किंचित् झाँकी दी है।

जो विशेष रूप से अहित को दूर करता है, उसे वीर्य कहते हैं। वह जीव की एक शक्तिविशेष है।[1] उसी शक्ति के सहारे प्रत्येक प्राणी चिन्तन-मनन से लेकर बोलना, चलना, देखना, सूँघना, स्पर्श करना, सोना, जागना आदि तमाम मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाएँ कर सकता है। जीवन में से वीर्यशक्ति निकल गई तो

---

१ विशेषेण ईरयति—प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्यम्, जीवस्य शक्तिविशेषः।
—शीलांक-वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझ लो, उसका नाश हो गया। शरीर में जो श्वेत, पारदर्शी, तरल-सा, गाढ़ा, चिकना-सा पदार्थ रहता है, जिसे शुक्र कहते हैं, उसे भी वीर्य कहा जाता है, परन्तु उस वीर्य का इतना महत्त्व नहीं है, जितना कि पराक्रम या सामर्थ्यरूप वीर्य का है। इसीलिए शास्त्रकार ने उसी आध्यात्मिक वीर्य के सिलसिले में कहा है कि वीर्य के दो प्रकार तीर्थंकरों व गणधरों ने सम्यक् प्रकार से कहे हैं।

गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रश्न उठाया गया है कि वीरपुरुष में वीरत्व या वीर्य क्या वस्तु है? और किस कारण से उसे वीर कहते हैं?

वास्तव में ये दोनों प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं और इन्हीं दोनों प्रश्नों के खंभों पर समग्र वीर्य अध्ययन का महल खड़ा है। अतः अगली गाथाओं में क्रमशः इनका उत्तर शास्त्रकार देते हैं—

मूल पाठ

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया ॥२॥

संस्कृत छाया

कर्मैके प्रवेदयन्त्यकर्माणं वाऽपि सुव्रताः ।
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, याभ्यां दृश्यन्ते मर्त्याः ॥२॥

अन्वयार्थ

(**एगे कम्मं पवेदेंति**) कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं, (**सुव्वया**) और हे सुव्रतो ! (**अकम्मं वावि**) कोई अकर्म को वीर्य कहते हैं। (**मच्चिया**) मर्त्यलोक के प्राणी (**एतेहिं दोहिं ठाणेहिं दीसंति**) इन्हीं दो भेदों में देखे जाते हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं हे सुव्रतो ! कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं और दूसरे अकर्म को वीर्य कहते हैं। इस प्रकार वीर्य के दो प्रकार हैं। इन्हीं दो भेदों में मर्त्यलोक के सभी प्राणी दिखाई देते हैं।

व्याख्या

कर्म और अकर्म : वीर्य के दो भेद

इस गाथा में कर्म और अकर्म को वीर्य बताने वाले लोगों का मत प्रदर्शित करके दो प्रकार के वीर्य बताए हैं। जो लोग कर्म को ही वीर्य बताते हैं, उनका कहना है कि अपने प्रयत्न से जो क्रिया निष्पादित की जाती है, उसे कर्म कहते हैं और कर्म ही (जोर लगाकर किया जाता है, इसीलिए) वीर्य है। अथवा कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार का है। कारण में कार्य का उपचार करने से वह अष्टविध कर्म ही आठ प्रकार का वीर्य है। क्योंकि औदयिक भाव से जो निष्पन्न होता है, वह कर्म कहलाता है और औदयिकभाव कर्म के उदय से ही निष्पन्न होता है। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रीय परिभाषा में उसे बालवीर्य कहते हैं। वीर्य का दूसरा भेद अकर्म है। जिसमें कर्म न हो, वह अकर्मवीर्य कहलाता है। अकर्मवीर्य कर्म के जोर से निष्पन्न नहीं होता, किन्तु वह वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न आत्मा का स्वाभाविक वीर्य है। वैसे चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न निर्मल चारित्र में पुरुषार्थ को भी वीर्य कहते हैं। हे सुव्रतो ! ऐसे वीर्य को शास्त्रीय परिभाषा में पण्डितवीर्य कहते हैं।

सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य, दूसरे शब्दों में बालवीर्य और पण्डितवीर्य इन्हीं भेदों में सारे संसार का वीर्य समाविष्ट है, या व्यवस्थित है। मर्त्यलोक के समस्त प्राणी इन्हीं दो भेदों में विभक्त हैं। अच्छी बुरी अनेक प्रकार की क्रियाओं में उत्साह, धैर्य, साहस और पौरुष, बल के साथ लगे हुए व्यक्ति को देखकर स्थूलदृष्टि वाले लोग कहते हैं— "यह पुरुष वीर्य सम्पन्न (शक्तिशाली) है।" किन्तु सम्यग्दृष्टिजन वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से युक्त महापुरुष को अनन्तवीर्य (बल) युक्त कहते हैं।

पूर्वगाथा में कारण में कार्य का उपचार करके कर्म को ही बालवीर्य कहा गया था, अब अगली गाथा में कारण में कार्य का उपचार करके प्रमाद को कर्मरूप बताते हैं—

मूल पाठ

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥३॥

संस्कृत छाया

प्रमादं कर्म आहुरप्रमादं तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वाऽपि बालं पण्डितमेव वा ॥३॥

अन्वयार्थ

(**पमायं कम्ममाहंसु**) तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्म कहा है (**तहा अप्पमायं अवरं**) तथा अप्रमाद को अकर्म कहा है (**तब्भावादेसओ वावि**) इन दोनों की सत्ता से ही (**बालं पंडियमेव**) बालवीर्य या पण्डितवीर्य होता है।

भावार्थ

तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है। अतः प्रमाद के होने से बालवीर्य और अप्रमाद के होने से पण्डितवीर्य होता है।

व्याख्या

प्रमाद : कर्म : बालवीर्य एवं अप्रमाद : अकर्म : पण्डितवीर्य

प्रमाद का अर्थ होता है—प्राणिवर्ग जिसके कारण उत्तम अनुष्ठान से रहित होते हैं, वह मद्य आदि पाँच प्रकार का है। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (चारित्रदूषक कथा) ये ५ प्रमाद जिनवरों ने बताए हैं। तीर्थंकरों ने प्रमाद को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मबन्धन का एक विशिष्ट कारण कहा है और अप्रमाद को अकर्म—कर्मबन्धन-रहितत्व। प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहने का रहस्य यह है कि प्रमाद के कारण भानरहित होकर जीव कर्म बाँधता है, वह अपनी सारी शक्ति (वीर्य) को विपरीत अनुष्ठान में लगाकर कर्मबन्धन करता रहता है, इसलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान है, वह बालवीर्य है तथा प्रमादरहित पुरुष के कर्तव्य के पीछे सतत आत्मभान होने के कारण उसके कार्य में कर्म का अभाव है, वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने, हिंसा आदि आस्रवों तथा कर्मबन्धों से दूर रहने में और स्व-भावरमण में लगाता है, इसलिए ऐसे व्यक्ति का कार्य पण्डित-वीर्य है। इस प्रकार जो व्यक्ति प्रमादी और सकर्मा है, उसके वीर्य को बालवीर्य और जो अप्रमादी और अकर्मा है, उसके वीर्य को पण्डितवीर्य समझना चाहिए। जीव में इन दोनों की सत्ता से ही क्रमशः बाल और पण्डित का व्यवहार होता है। अभव्य-जीवों का बालवीर्य अनादि-अनन्त, और भव्यजीवों का अनादि-सान्त या सादि-सान्त होता है, जबकि पण्डितवीर्य सादि और सान्त ही होता है। इसलिए साधक को प्रमादजन्य बालवीर्य छोड़कर अप्रमादजन्य पण्डितवीर्य को अपनाना चाहिए।

प्रमादवश मूढ़ बनकर कर्मबन्ध करने वाले अधम पुरुष का बालवीर्य (अधम पुरुषार्थ में शक्ति) किन-किन कुकृत्यों में कैसे-कैसे प्रयुक्त होता है? इसे अगली गाथा में पढ़िए—

मूल पाठ

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥४॥

संस्कृत छाया

शास्त्रमेके तु शिक्षन्ते, अतिपाताय प्राणिनाम्।
एके मंत्रानधीयते प्राण-भूत-विहेटकान् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**एगे पाणिणं अतिवायाय**) कई लोग प्राणियों का वध करने के लिए (**सत्थं सिक्खंता**) तलवार आदि शस्त्र (चलाना) अथवा धनुर्वेद आदि शास्त्र सीखते हैं, (**एगे पाणभूयविहेडिणो मंते अहिज्जंति**) तथा कई लोग प्राणी और भूतों (जीवों) को मारने वाले मंत्रों को पढ़ते हैं।

भावार्थ

कई बालजीव प्राणियों का संहार करने के लिए तलवार आदि शस्त्रों का चलाना अथवा धनुर्वेद, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र, कोकशास्त्र आदि शास्त्रों को सीखते हैं तथा कई अज्ञजीव प्राणियों एवं जीवों के विघातक मंत्रों का अध्ययन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

प्राणिविघातक शास्त्रों एवं मंत्रों का अध्ययन

इस गाथा में बताया गया है कि बालवीर्यसम्पन्न व्यक्ति अपनी शक्तियों का उपयोग प्राणिविघातक शास्त्रों एवं मंत्रों के अभ्यास में करते हैं। अपनी समस्त शक्तियों (वीर्यों) का उपयोग आत्मकल्याण एवं विकास में करना चाहिए, इसके बजाय सुख-साता और अहंकारपोषण में लीन, राग-द्वेष-प्रमादरत, बालवीर्यसम्पन्न लोग अपनी शक्तियों को ऐसे शास्त्रों और मंत्रों को उत्साहपूर्वक सीखने और उनका प्रयोग करने में लगाते हैं। उन सीखी हुई प्राणिघातक विद्याओं का प्रयोग प्राणि-हिंसा के लिए होता है। अस्त्र-शस्त्र विद्या तो प्राणिघातक है ही। मारण-मोहन-उच्चाटन मंत्रों का प्रयोग भी सरासर जीवहिंसक है। आयुर्वेदशास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र में जीवहिंसा से निष्पन्न कई औषधियों का प्रयोग बताया गया है। चौर्यशास्त्र में धन हरण करने एवं ठगने की विद्या बताई गई है जो परपीड़ाजनक है। काम-शास्त्र में कामोत्तेजनाजनक प्रयोग बताये गये हैं, जो वीर्यनाशक हैं। कई लोग पाप-कर्म के उदय से अथर्ववेद के प्राणिघातकजनक मंत्रों को अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, श्येनयाज्ञ आदि यज्ञों के निमित्त पढ़ते हैं। जिन मारण-उच्चाटन आदि मंत्रों से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों तथा पृथ्वीकाय आदि भूतों की अनेक प्रकार की पीड़ा या हिंसा होती है। गंदे विचारों वाले लोग ही उन्हें पढ़ते हैं और उत्तम अनुष्ठान छोड़ कर अशुभ अनुष्ठानों में अपना पराक्रम करते हैं। जैसे कि कहा है—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥

अश्वमेधयज्ञ के वचनानुसार बीच के दिन में तीन कम ६०० पशु मारने के लिए तैयार रखे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त चारित्रभ्रष्ट करने वाले तंत्रशास्त्र, जिनमें मद्य, मत्स्य, मांस, मैथुन और मुद्रा, इन पंचमकारों का वर्णन है, इन शास्त्रों को बालवीर्य सम्पन्न ही तो पढ़ सकते हैं। कहाँ तक गिनाएँ? जितने भी ऐसे प्राणिविघातक शास्त्र या विद्या, मंत्र आदि हैं, उन्हें बालवीर्य वाले ही सीखते हैं और पापकर्म बाँधते हैं।

मूल पाठ

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

संस्कृत छाया

मायिनः कृत्वा मायाश्च, कामभोगान् समारम्भन्ते ।
हन्तारश्छेत्तारः प्रकर्त्तयितार आत्मसातानुगामिनः ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**माइणो माया कट्टु**) माया करने वाले व्यक्ति माया यानी छलकपट करके (**कामभोगे समारभे**) कामभोगों का सेवन करते हैं। (**आयसायाणुगामिणो**) अपने सुख के पीछे दौड़ने वाले वे (**हंता छेत्ता पगब्भित्ता**) प्राणियों को मारते, काटते और चीरते हैं।

भावार्थ

धोखेबाज लोग कपट एवं ठगी से दूसरे का धन आदि हरण करके या गुप्त रूप से कामभोगों का सेवन करते हैं। वे अपने सुख के पीछे अंधी दौड़ लगाने वाले बालवीर्यवान् पुरुष प्राणियों का हनन, छेदन और विदारण (चीरना) करते हैं।

व्याख्या

सुखेच्छाओं के पीछे दौड़ने वाले कपटी लोगों के कारनामे

जो लोग केवल अपने सुख और प्रसिद्धि के पीछे अन्धे होकर दौड़ते हैं, वे दूसरों को ठगने में, परवंचना करने में और सब्जबाग दिखाने में बड़े चतुर होते हैं। वे हाथ की सफाई से, मुँह की सफाई से और अपने मधुर व्यवहार से भोले-भाले लोगों की आँखों में इस प्रकार धूल झोंकते रहते हैं कि वे सहसा उसकी माया को पकड़ नहीं सकते। इस प्रकार वे बड़ी सफाई से धनिकों और युवतियों को अपने मायाजाल में फँसाकर पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का मनमाना उपभोग करते हैं। यहाँ '**कामभोगे समारभे**' के बदले '**आरम्भाय तिवट्टइ**' भी पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ होता है—वे भोगार्थी व्यक्ति मन वचन-काय तीनों से आरम्भ में प्रवृत्त रहते हैं।

इस प्रकार परवंचना से कामभोगों का सेवन करते हुए वे क्या-क्या करते हैं? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**हन्ता छेत्ता पगब्भित्ता आयसाया-णुगामिणो।**' आशय यह है कि वे सुख की लालसा में तत्पर, विषयभोगासक्त एवं क्रोध-मान-माया-लोभ चारों कषायों से मलिन हृदय वाले पुरुष प्राणियों का घात करते हैं, उनके नाक, कान, पेट, पीठ आदि अंग-उपांग काट लेते हैं, उनका पेट फाड़ देते हैं, आँतें चीर देते हैं। इस प्रकार के अशुभ पुरुषार्थ को शास्त्रकार बालवीर्य कहते हैं।

मूल पाठ

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया ॥६॥

संस्कृत छाया

मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तशः ।
आरतः परतो वाऽपि द्विधोऽपि चासंयताः ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**असंजया**) असंयमी पुरुष (**मणसा वयसा चेव कायसा चेव**) मन, वचन और काया से (**अंतसो**) शारीरिक शक्ति न होने पर मन से ही (**आरओ परओ वावि**) इहलोक और परलोक दोनों के लिए (**दुहावि**) कृत और कारित (करने और कराने) दोनों तरह से जीवहिंसा करते हैं।

भावार्थ

असंयमी (अविरत) पुरुष मन, वचन और शरीर से, शरीर में शक्ति न होने पर भी मन से भी इहलोक और परलोक दोनों के लिए स्वयं प्राणियों का वध करते हैं, और दूसरे से भी कराते हैं।

व्याख्या

असंयमी पुरुष जीवहिंसा करते-कराते हैं।

इस गाथा में बालवीर्यसम्पन्न असंयमी पुरुषों की शक्ति प्राणहिंसा करने-कराने में कैसे लगती है ? इसे सूचित किया है।

वास्तव में, असंयमी पुरुष को इस बात का विचार नहीं आता कि मैं जीवों को नष्ट करने-कराने में अपनी अमूल्य शक्ति लगा रहा हूँ, इसका नतीजा कितना बुरा आएगा ? इसीलिए वे मन से, वचन से और शरीर से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से बेखटके प्राणिहिंसा करते रहते हैं। जब शरीर से अशक्त होते हैं तो वचन से करते हैं, और वचन से भी लाचार हुए तो तन्दुलमत्स्य की तरह मन से ही पाप करके कर्मबंधन कर लेते हैं। इस प्रकार तथाकथित लौकिक शास्त्रों के चक्कर में पड़कर वे इहलोक एवं परलोक के लिए (धर्म आदि के नाम पर) स्वयं भी प्राणिवध करते रहते हैं और दूसरों से भी कराते हैं। यही उनमें बालवीर्य होने की पहिचान है।

मूल पाठ

वेराइं कुव्वइ वेरी तओ वेरेहिं रज्जई ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥७॥

संस्कृत छाया

वैराणि करोति वैरी, ततो वैरैः रज्यते ।
पापोपगाश्चारम्भाः दुःखस्पर्शाश्चान्तशः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**वेरी वेराइं कुव्वइ**) जीवहिंसा करने वाला पुरुष अनेक जन्मों के लिए जीवों के साथ वैर करता है, (**तओ वेरेहिं रज्जई**) फिर वह नये वैर में संलग्न होता है, (**आरंभा य पावोवगा**) वस्तुतः जीवहिंसाएँ (आरंभ) पाप की परम्परा चलाती हैं, और अन्त में उनके परिणाम दुःखमय होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जीवहिंसा करने वाला पुरुष उस जीव के साथ अनेक जन्मों के लिए वैर बाँध लेता है, क्योंकि दूसरे जन्म में वह जीव उसे मारता है, फिर तीसरे जन्म में जीवहिंसक उसे मारता है, इस प्रकार वैर की परम्परा परस्पर चलती रहती है। फिर आरम्भजनित हिंसाएँ पाप को उत्पन्न करती हैं, जिनका विपाक अन्त में दुःखद होता है।

व्याख्या

जीवहिंसा वैरपरम्पराजनक एवं दुःखान्त

इसका आशय स्पष्ट है। बालवीर्यसम्पन्न पुरुष अविवेक के कारण प्राणिघात में अपनी सारी शक्ति लगा देता है, जिसके फलस्वरूप वैर की परम्परा कई जन्मों तक चलती है। फिर जीवहिंसा के द्वारा पापकर्म का बन्ध होने के कारण अन्त में भयंकर दुःख का अनुभव होता है।

मूल पाठ

संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहु ॥८॥

संस्कृत छाया

सम्परायं नियच्छन्त्यात्मदुष्कृतकारिणः ।
रागद्वेषाश्रिता बालाः पापं कुर्वन्ति ते बहु ॥८॥

अन्वयार्थ

(**अत्तदुक्कडकारिणो**) स्वयं पाप करने वाले जीव (**संपरायं णियच्छंति**) साम्परायिक कर्म बाँधते हैं। (**रागदोसस्सिया ते बाला**) तथा राग और द्वेष के आश्रय से वे अज्ञानी जीव (**बहु पावं कुव्वंति**) बहुत पाप करते हैं।

भावार्थ

स्वयं दुष्कर्म करने वाले प्राणी साम्परायिक कर्म बाँधते हैं तथा राग-द्वेष के स्थानभूत वे अज्ञानी बहुत पाप करते हैं।

व्याख्या

स्वयं पापकारी साम्परायिक कर्मबन्ध करते हैं

कर्म दो प्रकार के होते हैं—**ईर्यापथिक** और **साम्परायिक**। सम्पराय बादर-कषायों को कहते हैं, उनसे (अत्यन्त क्रोध आदि से) प्राप्त कर्म साम्परायिक कहलाते हैं। साम्परायिकरूप कर्मबन्धन जीवों की हिंसा के कारण वैरपरम्परावश स्वयं दुष्कृत (पाप) करनेवाले प्राणी करते हैं। यहाँ उन पाप करने वाले पुरुषों के विशेषण बताते हैं—राग और द्वेष के आश्रयभूत तथा कषाय से मलिनात्मा पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद् और असद् के विवेक से हीन होने के कारण बालकवत् अज्ञानी हैं। वे मूढ़जीव अपनी अज्ञानता के कारण बहुत पाप करते हैं।

इस प्रकार सकर्म (बाल) वीर्य का वर्णन करके उसका उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मवीरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥६॥

संस्कृत छाया

एतत् सकर्मवीर्य्यं बालानां तु प्रवेदितम् ।
इतोऽकर्मवीर्यं, पण्डितानां शृणुत मे ॥६॥

अन्वयार्थ

(एयं) यह (बालाणं) अज्ञानियों का (सकम्मवीरियं) सकर्मवीर्य (पवेदितं) कहा गया है। (इत्तो) अब यहाँ से (पंडियाणं) उत्तम विज्ञ साधुओं के (अकम्मवीरियं) अकर्मवीर्य के सम्बन्ध में (मे सुणेह) मुझ से सुनो।

भावार्थ

यह (पूर्वोक्त) अज्ञानियों का सकर्मवीर्य कहा गया है। अब यहाँ से पण्डित मुनिवरों के अकर्मवीर्य के बारे में मुझ से सुनो।

व्याख्या

सकर्मवीर्य का उपसंहार, अकर्मवीर्य का प्रारम्भ

पूर्वोक्त गाथाओं में सकर्म (बाल) वीर्य के सन्दर्भ में कहा गया है कि कई अज्ञानीजन प्राणिघात के लिए शस्त्रसंचालन विद्या सीखते हैं, कई लोग प्राणिहिंसा-प्रेरक शास्त्रों को पढ़ते हैं, कई परपीड़क मंत्रों का अध्ययन करते हैं, कई कपटी नाना प्रकार के कपट एवं मायाचार से कामभोग-सेवन करते हैं तथा कितने ही लोग पाप-कर्म करके वैरपरम्परा बाँध लेते हैं, आदि। जैसे जमदग्नि ने अपनी पत्नी के साथ कुकर्म करने के कारण कृतवीर्य को मार डाला था, इस वैर के कारण कृतवीर्य के पुत्र कार्त्तवीर्य ने जमदग्नि को मार डाला था। फिर जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित कर दिया था, उसके पश्चात् कार्तवीर्य के पुत्र सुभूम ने २१ बार ब्राह्मणों का विनाश किया था। यह वैरपरम्परा की बोलती कहानी है।

कषाय के वशीभूत होकर शक्तिशाली व्यक्ति शत्रु से वैर का बदला उसे अधिक पीड़ा देकर लेते हैं। वे फिर इतने स्वार्थान्ध या क्रोधान्ध हो जाते हैं कि बाप या बेटे का भी कोई लिहाज नहीं रखते। इस प्रकार सकर्मी (पापी) अज्ञानियों या प्रमादी पुरुषों के सकर्म (बाल) वीर्य (बल) के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुका है। अब यहाँ से पण्डितों (उत्तम ज्ञानी साधुओं) के अकर्मवीर्य के सम्बन्ध में सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—"मैं कहता हूँ, सुनो।"

मूल पाठ

दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे ।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥१०॥

संस्कृत छाया

द्रव्यो बन्धनान्मुक्तः सर्वतश्छिन्नबन्धनः ।
प्रणुद्य पापकं कर्म, शल्यं कृन्तत्यन्तशः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**दविए**) मुक्ति जाने योग्य भव्य पुरुष (**बंधणुम्मुक्के**) बन्धन से मुक्त होकर, (**छिन्नबंधणे**) बन्धनों को सर्वथा छिन्न-भिन्न करके (**पावकं कम्मं पणोल्ल**) पापकर्म को छोड़कर (**अंतसो सल्लं कंतति**) अन्त में समस्त शल्यरूप कर्मों को काट देता है।

भावार्थ

मुक्तिगमनयोग्य—भव्यपुरुष बंधनों से मुक्त होता है। वह सब प्रकार के बंधनों को छिन्न-भिन्न कर देता है। पहले सब पाप-कर्मों को छोड़कर अन्त में अपने शुभ-अशुभ सभी कर्मों को काट देता है।

व्याख्या

पण्डितवीर्य के धनी की विशेषताएँ

इस गाथा में पण्डितवीर्य के धनी की कुछ विशेषताएँ बताते हैं—'**दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो।**' द्रव्य शब्द भव्य अर्थ में है, अर्थात् जो मोक्षगमन के योग्य हो। अथवा द्रव्य का अर्थ है—रागद्वेषरहित होने के कारण जो पुरुष द्रव्यभूत यानी कषायरहित हो, अथवा वीतराग के समान अल्पकषाय हो। यहाँ एक प्रश्न होता है—छठे गुणस्थानवर्ती सरागसंयमस्थ साधक क्या कषायरहित कहा जा सकता है? इसका समाधान यह है कि हाँ, उसे कषायरहित कहा जा सकता है, क्योंकि कषाय होने पर भी जो पुरुष उसे उदय में आने से दबा देता है, वह भी वीतरागतुल्य है।[1] चूँकि कषाय होने पर ही कर्म का स्थितिकाल बँधता[2] है, इसलिए कषाय ही बन्धनरूप है। पण्डितवीर्ययुक्त साधक पूर्वोक्त दृष्टि से कषायरहित होने से **बन्धन से उन्मुक्त** कहा गया है। जैसे

---

१ किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी ?
संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो।'

२ 'बंधट्ठिई कसायवसा।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई पुरुष जेल से छूट जाने पर स्वतन्त्र-स्ववश हो जाता है, वैसे ही पण्डित-वीर्यवान् पुरुष कषायमुक्त होते ही सूक्ष्म-स्थूल समस्त बन्धनों से छूटे हुए व्यक्ति की तरह स्थितप्रज्ञ, वीतराग व स्वभावस्थित हो जाता है। तथा वह पापों को दूर करके, उनके मूल कारण आस्रवों को काट कर लगे हुए काँटे की तरह बाकी रहे हुए कर्मों को समूल उखाड़ फैंकता है। यहाँ **'सल्लं कंतइ अप्पणो'** यह पाठान्तर भी है जिसका अर्थ होता है—वह पुरुष काँटे की तरह अपनी आत्मा के साथ लगे, आठ प्रकार के कर्मों को काट फैंकता है।

वह व्यक्ति जिसके आश्रय से शल्यरूप कर्मों का छेदन करता है, उसे अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

नेआउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥११॥

संस्कृत छाया

न्यायोपेतं स्वाख्यातमुपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दुःखावासमशुभत्वं तथा तथा ॥११॥

अन्वयार्थ

(नेआउयं सुयक्खायं) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को तीर्थंकरों ने मोक्ष का नेता (मोक्ष प्रदाता) कहा है, **(उवादाय समीहए)** विद्वान् पुरुष उसे ग्रहण कर मोक्ष के लिए उद्यम करते हैं। **(भुज्जो भुज्जो दुहावासं)** बालवीर्य बार-बार दुःख का स्थान है। **(तहा तहा असुहत्तं)** बालवीर्य वाला व्यक्ति ज्यों-ज्यों दुःख भोगता है, त्यों-त्यों उसका अशुभ विचार बढ़ता जाता है।

भावार्थ

तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का नेता या प्रापक कहा है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष (पण्डितवीर्यवान) इन्हें ग्रहण कर मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करते हैं। तथा बालवीर्य जीव को बार-बार दुःख देता है, वह दुःखों का घर है। बालवीर्यवान ज्यों-ज्यों दुःख भोगता है, त्यों-त्यों उसका अशुभ विचार बढ़ता जाता है।

व्याख्या

पण्डितवीर्यशाली का पुरुषार्थ और बालवीर्यवान् का भी

जो जीवों को अच्छे रास्ते ले जाता है, उसे नेता कहते हैं। यह नेता सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है अथवा श्रुत-चारित्ररूप धर्म भी नेता शब्द से गृहीत होता है, क्योंकि वह भी जीव को मोक्ष में ले जाता है। ऐसा पण्डितवीर्यशाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पुरुषार्थ होता है । पण्डितवीर्यशाली पुरुष मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करके वीतरागता या मुक्ति का अनन्तसुख प्राप्त करता है, जबकि बालवीर्यशाली जीव अपने पापकर्मों के कारण बार-बार नरकादि दुःखस्थान योनियों में दुःख पाता है । ज्यों-ज्यों वह नरकादि दुःखों को भोगता है, त्यों-त्यों खराब अध्यवसाय के कारण अशुभ विचार करता है, जो उसके लिए और अधिक दुःख का कारण होता है । इस प्रकार विचार करके पण्डितवीर्यवान् पुरुष धर्मध्यान में पुरुषार्थ करता है । अपने अध्यवसायों, वचनों और कार्यकलापों की बार-बार जाँच पड़ताल करता रहता है तथा अपनी शक्ति अच्छे कार्यों में लगाता है ।

मूल पाठ

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियते अयं वासे णायएहिं सुहीहिं य ॥१२॥

संस्कृत छाया

स्थानिनो विविधस्थानानि, त्यक्ष्यन्ति न संशयः ।
अनित्यो (अनियतो)ऽयं वासः, ज्ञातिभिः सुहृद्भिश्च ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**ठाणी**) उच्च स्थान पर बैठे हुए सभी (**विविहठाणाणि चइस्संति**) अपने-अपने (विविध) स्थानों को छोड़ देंगे, (**ण संसओ**) इसमें कोई सन्देह नहीं है । (**णायएहिं सुहीहिं य**) अपने ज्ञातिजनों और मित्रों के साथ जो (**अयं वासे**) यह निवास या संवास है, वह भी (**अणियते**) अनियत है या अनित्य है ।

भावार्थ

निःसन्देह स्थानों के अधिपति सभी लोग एक न एक दिन अपने-अपने उस-उस स्थान को छोड़ देंगे, तथा अपने ज्ञातिजनों और मित्रजनों के साथ जो यह संवास है, वह भी अनियत या अनित्य है ।

व्याख्या

सभी स्थान और सम्बन्ध अनित्य

जो-जो उच्च पद या स्थान पर आज अधिष्ठित हैं, उन्हें स्थानी कहते हैं, जैसे देवलोक में इन्द्र तथा उनके सामानिक तैंतीस पार्षद आदि स्थानी हैं । इसी तरह मनुष्यों में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, महामाण्डलिक नृप आदि स्थानी—उच्च पद वाले हैं । इसी प्रकार तिर्यंचों में भी समझ लेना चाहिए । इस भोगभूमि आदि में भी जो कोई स्थान उत्तम-मध्यम-निकृष्ट हैं, या जो भी मंत्री, अध्यक्ष आदि पद हैं, उन स्थानों को उनके स्वामी एक न एक दिन अवश्य छोड़ देंगे । जैसा कि कहा है—

अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेहं च ।
देवासुरमनुष्याणामृद्धयश्च सुखानि च ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् इस लोक में या देवलोक में जितने भी स्थान हैं, सब अशाश्वत (अनित्य) हैं, साथ ही देव, दानव, मानव आदि की ऋद्धियाँ या सुख सभी अनित्य हैं। ये सभी थोड़े समय के पदार्थ हैं, इसलिए इन पर गर्व या ममत्व नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ज्ञातिजन, बन्धुजन, मित्र एवं परिचित सभी के साथ संवास भी अनित्य है। कोई निश्चय नहीं है कि कब इनके साथ सम्बन्ध टूट जाएगा।

एक विचारक ने कहा है—

सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः,
सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः।
सुचिरमपि सुपुष्टं याति नाशं शरीरम्,
सुचिरमपि विचिन्त्यो, धर्म एकः सहाय॥

अर्थात्—बन्धु-बान्धवों के साथ चिरकाल तक रहने के बाद सदा के लिए उनसे वियोग हो जाता है, भोगों को चिरकाल तक भोगने के बाद भी उनसे तृप्ति नहीं होती, शरीर को बहुत काल तक बहुत अच्छी तरह पाला-पोसा हो, मगर एक दिन यह नष्ट हो ही जाता है। अतः अच्छी तरह सुदीर्घकाल तक धर्म का चिन्तन एवं आचरण किया हो तो वही एकमात्र इस लोक एवं परलोक में सहायक होता है।

इस गाथा में जो 'च' (च) शब्द है, वह धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद, शरीर आदि समस्त पदार्थ अनित्य और अशरण हैं, इस बात को बताने के लिए है।

मूल पाठ

एवमादाय मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥१३॥

संस्कृत छाया

एवमादाय मेधावी, आत्मनः गृद्धिमुद्धरेत्।
आर्यमुपसंपद्येत सर्वधर्मैरकोपितम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**मेहावी**) बुद्धिमान साधक (**एवमादाय**) यह विचार कर (**अप्पणो गिद्धिमुद्धरे**) अपनी ममत्व बुद्धि को उखाड़ फैंके; (**सव्वधम्ममकोवियं**) समस्त कुतीर्थिक धर्मों से अदूषित (**आरियं उवसंपज्जे**) इस वीतरागभाषित आर्यधर्म को ग्रहण करे।

भावार्थ

सभी उच्च पद या स्थान अनित्य हैं, यह विचार करके बुद्धिमान् विवेकी साधक अपने अन्तर् में जड़ जमाई हुई ममता (आसक्ति) को उखाड़ फैंके। सब कुतीर्थिक धर्मों से अदूषित इस वीतरागभाषित श्रुत-चारित्ररूप आर्य (श्रेष्ठ) धर्म को ग्रहण करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

ममत्व छोड़े, समत्व पकड़े

इस गाथा में बताया गया है कि सभी उच्च पद, स्थान या पदार्थ अनित्य हैं, इस प्रकार का विचार करके मेधावी पण्डितवीर्यसम्पन्न साधक किसी भी वस्तु में अपनी ममता न रखे। यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार की ममता हो तो उसे उखाड़ फेंके। क्योंकि मेधावी मर्यादा में स्थिर रहने वाले या हिताहित विवेकशील पुरुष को कहते हैं, वह ममत्व को छोड़े, समत्व को पकड़े तथा आर्यों-तीर्थंकरों के इस आर्य-मार्ग— मोक्षमार्ग को ग्रहण करे, जो कि कुतीर्थिकों के धर्मों द्वारा दूषित नहीं है।

मूल पाठ

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खावपावए ॥१४॥

संस्कृत छाया

सह सन्मत्या ज्ञात्वा, धर्मसारं श्रुत्वा वा।
समुपस्थितस्त्वनगारः प्रत्याख्यातपापकः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**सह संमइए**) अच्छी बुद्धि के द्वारा (**सुणेत्तु वा**) अथवा सुनकर (**धम्मसारं णच्चा**) धर्म का सच्चा स्वरूप या निचोड़ जानकर (**समुवट्ठिए अणगारे**) आत्म-कल्याण के लिए संयमपथ में उद्यत-समुपस्थित अनगार (साधु) (**पच्चक्खाय पावए**) पाप का प्रत्याख्यान करके पवित्रात्मा बन जाता है।

भावार्थ

धर्म के सच्चे स्वरूप या सारांश तत्त्व को अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा या गुरुजी आदि से सुनकर जानकर ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यत साधु पाप का प्रत्याख्यान (त्याग) करके निर्मल आत्मावाला होता है।

व्याख्या

सद्धर्म का ज्ञान, पाप का प्रत्याख्यान

पण्डितवीर्यशील साधक के लिए सर्वप्रथम सच्चे धर्म का स्वरूप जानना आवश्यक है, तदनन्तर समस्त पापों का प्रत्याख्यान। किन्तु सद्धर्म का परिज्ञान अपनी पवित्र बुद्धि द्वारा या गुरुदेव आदि से श्रवण करके करे। धर्म का सार ग्रहण करने से पूर्व पापों का त्याग करना अनिवार्य है, अन्यथा पापों के बोझ से पवित्र बुद्धि दब जाएगी और अपनी शक्ति (वीर्य) उल्टी दशा में बहने लगेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जं किंचुवक्कम्मं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥

संस्कृत छाया

यं कञ्चिदुपक्रमं जानीयादायुःक्षेमस्यात्मनः ।
तस्यैवान्तरा क्षिप्रं, शिक्षां शिक्षेत् पण्डितः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(पंडिए) विद्वान साधक (अप्पणो आउक्खेमस्स) अपनी आयु का (जं किंचुवक्कम्मं) यदि कुछ घात का क्षयकाल (जाणे) जाने तो (तस्सेव अंतरा) उसी दौरान ही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्खं सिक्खेज्ज) संलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

भावार्थ

विद्वान् साधक किसी भी प्रकार से अपनी आयु को क्षीण होती जाने तो उसी दरम्यान शीघ्र ही (क्षयकाल से पहले ही) संलेखनारूप शिक्षा ग्रहण करे ।

व्याख्या

आयुष्य-क्षय से पहले संलेखना ग्रहण करे

जब साधक शरीर आदि सभी पदार्थों को अनित्य जानकर ममत्वबुद्धि का उन्मूलन कर लेता है तो उसकी बुद्धि एवं हृदय निर्मल हो जाने से कदाचित् उसे अपनी आयु के क्षण अल्पतम मालूम हों तो अन्य सब विकल्प छोड़कर उसी दौरान शीघ्र ही उसे संल्लेखना-संथारा ग्रहण कर लेना चाहिए ताकि अन्तिम समय में आत्मा की आराधना भलीभाँति हो जाय ।

उवक्कम्मं—जिससे आयु क्षय को प्राप्त होती है उसे उपक्रम कहते हैं । यदि साधु किसी भी जरिये से अपनी आयु का उपक्रम (विनाशकारण) जान ले, अर्थात् वह यह जान ले कि मेरी आयु कितनी है, उसका नाश (क्षय) कब, किस प्रकार होगा ? तो वह उसे जानते ही उस काल के पहले से आकुलता छोड़कर तथा जीवन-मरण की आकांक्षा से रहित होकर '**सिक्खं सिक्खेज्ज**' अर्थात् संलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे । आशय यह है कि भक्त परिज्ञा (अन्न-पानी दोनों का त्याग) तथा इंगितमरण (मर्यादित स्थान में रहकर अन्न-पानी का त्याग करना, परन्तु शारीरिक सेवा कराना) आदि शिक्षा ग्रहण करे । यानी ग्रहण शिक्षा के द्वारा मरणविधि को भलीभाँति जानकर आसेवना-शिक्षा से उसका सेवन करे ।

मूल पाठ

जहा कुम्मे स अंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

यथा कूर्मः स्वांगानि, स्वके देहे समाहरेत् ।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जहा कुम्मे स अंगाइं सए देहे समाहरे**) जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने देह में सिकोड़ लेता है, (**एवं मेहावी**) इसी प्रकार बुद्धिमान साधक (**पावाइं**) अपने पापों को (**अज्झप्पेण समाहरे**) धर्मध्यान आदि की भावना से समेट ले, संकुचित करले ।

भावार्थ

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, वैसे ही बुद्धिशाली साधक अपनी आत्मा में धर्मध्यान की अलख जगाकर अपने पापों को समेट ले ।

व्याख्या

कछुए की तरह पापों को समेट ले

यहाँ कछुए का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जैसे कछुआ जब कोई बाहरी संकट देखता है तो फौरन अपनी गर्दन आदि अंगों को सिकोड़कर अपने शरीर के अन्दर कर लेता है, एक तरह से वह अपने अंगों को निश्चेष्ट कर लेता है, फिर भी सावधान रहता है । वैसे ही मर्यादा में रहने वाला मेधावी हिताहित विवेकी साधक पापकर्म का संकट उपस्थित होते ही फौरन धर्मध्यान आदि अध्यात्म भावना में अपने मन-मस्तिष्क को समेटकर अन्तर्मुखी बन जाय, बहिर्मुखी न रहे । और पापरूप समस्त अनुष्ठानों को धर्मध्यान की भावना से (बाहर ही) छोड़कर मरणकाल आने पर संलेखना के द्वारा मन-वचन-काया को पवित्र बनाकर पण्डित-मरण से अपना शरीर छोड़े । यही पण्डितवीर्य-प्रयोग की सच्ची परीक्षा है ।

मूल पाठ

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।
पावकं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

संस्कृत छाया

संहरेद्धस्तपादञ्च, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पापकं च परिणामं, भाषादोषं च तादृशम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**हत्थपाए य साहरे**) साधु अपने हाथ पैरों को सिकोड़कर (स्थिर) रखे । (**मणं पंचेन्दियाणि य**) मन और पाँचों इन्द्रियों को भी उनके विषयों से निवृत्त रखे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**पावकं ण परिणामं तारिसं भासादोसं च**) तथा पापरूप परिणाम और पापमय भाषा दोष को भी वर्जित करे।

भावार्थ

मुनि अपने हाथों-पैरों को संकोच कर स्थिर रखे, मन और पाँचों इन्द्रियों को भी उनके विषयों से दूर रखे तथा पापरूप परिणाम (अध्यवसाय) और पापजनक भाषादोष से भी निवृत्त रहे, ताकि इनसे किसी भी जीव को पीड़ा न हो।

व्याख्या

मन-वचन-काया की अशुभ से निवृत्ति आवश्यक

जिस समय साधु पादपोपगमन या इंगितमरण नामक आजीवन अनशन (संथारे) की स्थिति में हो, अथवा ध्यानादि में स्थित हो, उस समय वह इस प्रकार की साधना का अभ्यास कर ले कि उसके हाथ-पैर आदि निश्चल रहें, उन्हें इस प्रकार से सिकोड़कर कटे हुए पेड़ की भाँति स्थिर रखे, जिससे किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचे, तथा मन को दुःसंकल्पों, दुर्विचारों और विषय-कषायों से दूर रखे, आँख, नाक, कान, जीभ एवं स्पर्शेन्द्रिय को भी उनके विषयों में राग-द्वेष से हटा ले। इसके अतिरिक्त वह इहलोक एवं परलोक में सुख-प्राप्ति की वासनारूप परिणामों एवं पापजनक भाषादोष को न फटकने दे। निष्कर्ष यह है कि साधु मन-वचन काया से गुप्त रहता हुआ दुर्लभ सुसंयम की रक्षा करते हुए और कर्मबन्धनों को काटते हुए पण्डितमरण की प्रतीक्षा करे।

मूल पाठ

अणु माणं च मायं च; तं परिन्नाय पंडिए।
सातागारवणिहुए, उवसंतेऽणिहे चरे ॥१८॥

संस्कृत छाया

अणुं मानं च मायां च, तत् परिज्ञाय पण्डितः।
साता-गौरवनिभृत उपशान्तोऽनीहश्चरेत ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**अणु माणं च मायं च**) साधु जरा-सा भी अभिमान और माया (छलकपट) न करे (**तं परिन्नाय**) मान और माया का अनिष्ट फल जानकर (**पंडिए**) विद्वान् सद्-असद् विचारक साधक (**साता-गारव-णिहुए**) सुखशीलता तथा प्रतिष्ठा आदि में उद्यत न हो, (**उवसंतेऽणिहे चरे**) तथा उपशान्त एवं निस्पृह या मायारहित होकर विचरण करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

साधु थोड़ा-सा भी अहंकार और कपट न करे। मान और माया का फल बहुत बुरा होता है, यह समझकर हिताहित विचारक मुनि सुख भोग, एवं प्रतिष्ठा की लालसा न रखे, तथा क्रोधादि को छोड़कर शान्त एवं निःस्पृह या मायारहित होकर विचरण करे।

व्याख्या

कषायों और सुखैषणाओं से दूर रहे

संयम में उत्कृष्ट पराक्रम करते हुए उत्तम साधु को देखकर यदि कोई सत्ताधीश या धनाढ्य व्यक्ति साधु की पूजा-प्रतिष्ठा करे, अत्यधिक आदर-सत्कार करे या उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति दिखाए तो सुविचारक साधु को मन में जरा भी अहंकार नहीं करना चाहिए। अथवा संलेखना संथारा के समय भी भक्तों और दर्शनार्थियों की भीड़ देखकर साधु मन में जरा भी गर्व न करे कि मैं कितना महान् तपस्वी हूँ, मैं इस समय कितना सौभाग्यशाली हूँ, या मेरी पण्डितमरण-साधना की चारों ओर वाहवाही हो रही है, मेरा सर्वत्र जय-जयकार हो रहा है। इसी प्रकार पाण्डु-आर्या के समान जरा-सी भी माया न करे, अधिक माया का तो कहना ही क्या? इसी तरह क्रोध और लोभ भी पण्डितमुनि के लिए त्याज्य हैं। मतलब यह है कि इन चारों कषायों का स्वरूप इनके सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप तथा इनके दुष्परिणामों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

कहीं-कहीं '**अइमाणं च मायं च तं परिण्णाय पंडिए**' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है —अत्यन्त मान सूक्ष्म की तरह दुःखदायक होता है, यह जानकर बुद्धिशाली पुरुष उसे तथा माया को भी छोड़ दे। सरागसंयम में कदाचित् मान का उदय हो जाए तो तुरन्त उसे विफल करदे, यानी दबा दे। इसी तरह माया को भी दबा दे। युद्ध के मोर्चे पर बड़े-बड़े योद्धा जिस बल के द्वारा शत्रु की विराट सेना को जीत लेते हैं, वस्तुतः वह सच्चा वीर्य नहीं है। सच्चा वीर्य वह है, जिसके द्वारा काम, क्रोध, मोह, मान, माया, लोभ आदि आत्म-शत्रुओं को जीता जाय।

इसी प्रकार उत्तम संयम-पराक्रमी तपस्वी साधु सुखसुविधाओं के मोह में पड़ कर कहीं छला न जाए, कहीं संयम से फिसल न जाए, इस बात का पूरा ध्यान रखे। क्रोधादि कषायों को जीतकर शान्त-उपशान्त रहे, तथा कोई साधु की सेवा करता है या नहीं करता, कोई पूजा-सत्कार करता या नहीं करता है, कोई उसकी प्रशंसा या प्रसिद्धि करता है या नहीं, इन बातों से वह सदा निःस्पृह एवं तटस्थ रहे। तभी वह अपने जीवन में पण्डितवीर्य का आदर्श उपस्थित कर सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नंपि य णादए।
सादियं ण मूसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१९॥

संस्कृत छाया

प्राणांश्च नातिपातयेत् अदत्तमपि च नाऽददीत ।
सादिकं न मृषां ब्रूयादेष धर्मो वृषिमतः (वश्यस्य) ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**पाणे य णाइवाएज्जा**) प्राणियों का संहार न करे, (**अदिन्नंपि य णादए**) बिना दी हुई चीज न ले, (**सादियं मुसं ण बूया**) माया सहित झूठ न बोले, (**एस धम्मे वुसीमओ**) जितेन्द्रिय पुरुष का यही धर्म है।

भावार्थ

साधक प्राणियों की हिंसा न करे, नहीं दी हुई वस्तु न ले, कपटसहित असत्याचरण (दम्भ) न करे—इन्द्रियविजेता का यही धर्म है।

व्याख्या

जितेन्द्रिय पुरुष का धर्म

इस गाथा में जितेन्द्रिय पण्डित पुरुष के धर्म के अंगों का प्रतिपादन किया गया है। जितेन्द्रिय साधु का पहला धर्म यह है कि वह छोटे-बड़े किसी भी प्राणी के प्राणों की हिंसा होती हो, ऐसा कार्य न करे। क्योंकि प्राण अनमोल हैं। एक भी प्राण किसी भी मूल्य पर मिल नहीं सकता। ऐसे अद्भुत और सभी जीवों को प्रिय दसों प्राणों में से किसी एक भी प्राण की विराधना करना उचित नहीं। दूसरा धर्म है—अदत्तादान न ले। किसी के स्वामित्व की छोटी या बड़ी, अल्पमूल्य या बहुमूल्य, कम या ज्यादा, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु हो, उसके स्वामी की अनुमति इच्छा या प्रदान के बिना ग्रहण करना चोरी है, किसी के हक (अधिकार) का हरण कर लेना भी चोरी है। साधु इस अकृत्य से दूर रहे।

तीसरा धर्म है—कपटपूर्वक मृषावाद का त्याग करे। मायासहित झूठ बोलना, घुमा-फिराकर बात कहना, असली बात छिपाकर अन्यथा बोलना, कहना कुछ, करना कुछ, दिखावा कुछ, आचरण कुछ, दम्भ, मायाचार आदि करना सब मायामृषा है। साधु को इससे कोसों दूर रहना चाहिए। जितेन्द्रिय (वृषिमान या वश्य) पुरुष के श्रुतचारित्ररूप धर्म का यही सार है।

मूल पाठ

अतिक्कम्मं तु वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

अतिक्रमं तु वाचा, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।
सर्वतः संवृतो दान्तः, आदानं सुसमाहरेत् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**अतिक्कमं तु**) किसी प्राणी के प्राणों को क्षति पहुँचाने की (**वायाए**) वाणी से (**मणसा वि**) अथवा मन से भी (**न पत्थए**) इच्छा न करे। (**सव्वओ संवुडे**) किन्तु भीतर से और बाहर से सब ओर से निवृत्त, स्थिर, शान्त या गुप्त होकर रहे। (**दंते आयाणं सुसमाहरे**) इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु आदान—मोक्ष देने वाले सम्यग्ज्ञानादि का भलीभाँति ग्रहण—पालन करे।

भावार्थ

वाणी से या मन से भी किसी भी प्राणी के प्राणों को हानि पहुँचाने की इच्छा न करे; किन्तु अन्दर और बाहर चारों ओर से शान्त, निवृत्त एवं गुप्त होकर रहे। इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादिरूप संयम की तत्परता के साथ समाराधना करे।

व्याख्या

शान्तिपूर्वक आत्माराधना में शक्ति लगाए

आत्माराधना में अपनी शक्ति (वीर्य) लगाने वाला सुविहित साधु क्या करे और क्या न करे? इसके लिए इस गाथा में सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है। जिन प्रवृत्तियों से किसी भी प्राणी के प्राणों को पीड़ा पहुँचती हो, उन हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह या कषाय-सेवन, विषयासक्ति आदि प्रवृत्तियों को साधु वचन और तन से सर्वथा न करे, मन से ऐसी प्रवृत्तियों की इच्छा भी न करे। अपितु बाहर और भीतर सब ओर से अपने को समाहित, शान्त, निवृत्त और गुप्त करले, न अपना कहीं प्रचार-प्रसार करे, न प्रसिद्धि, न कीर्ति का मोह रखे, न प्रशंसा की लालसा। चुपचाप अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर अपने आपको ढूंढे, निरीक्षण-परीक्षण करे और इन्द्रियों और मन को विषयों से निवृत्त, निरपेक्ष व अनासक्त करके वह मोक्षप्रदायक रत्नत्रय का सम्यक् पालन करे। यही आत्माराधना में शक्ति लगाने का उपाय है।

मूल पाठ

कडं च कज्जमाणं च आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

संस्कृत छाया

कृतञ्च क्रियमाणं च, आगमिष्यच्च पापकम् ।
सर्वं तन्नानुजानन्ति, आत्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**आयगुत्ता जिइंदिया**) अपनी आत्मा को पाप से गुप्त - सुरक्षित रखने वाले, जितेन्द्रिय पुरुष, (**कडं च कज्जमाणं च आगमिस्सं च पावगं**) किया हुआ, किया जाता हुआ या भविष्य में किया जाने वाला जो पाप है, (**सव्वं तं णाणुजाणंति**) उस सभी का अनुमोदन नहीं करते हैं।

भावार्थ

अपनी आत्मा को पाप से बचाकर रखने वाले, इन्द्रिय-विजेता पुरुष किसी के द्वारा अतीत में किये गए, वर्तमान में किए जाते हुए और भविष्य में किए जाने वाले समस्त पाप का अनुमोदन नहीं करते।

व्याख्या

आत्मरक्षातत्पर साधक त्रैकालिक पाप का अनुमोदन नहीं करते

इस गाथा में यह बताया गया है कि जो साधु पापभीरु हैं, अपनी आत्मा को हर तरह से पाप से बचाना चाहते हैं, इन्द्रियविजयी हैं, वे अपनी अनुमोदन शक्ति का उपयोग किसी के भी त्रैकालिक पाप में नहीं करते। वे सदैव इसी प्रकार का चिन्तन करते हैं कि हमें मन-वचन-काया की अनुपम शक्तियाँ मिली हैं, उनका उपयोग हम किसी के भूतकालीन, भविष्यकालीन या वर्तमानकालीन पापों के समर्थन या अनुमोदन में नहीं लगाएँगे, अपितु हम त्रैकालिक धर्मकार्य के समर्थन—अनुमोदन में लगाएँगे, अन्यथा अपनी आत्मिक शक्तियों को गुप्त, मौन रखेंगे। अथवा इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि साधुओं के लिए किन्हीं अनाड़ी लोगों ने जो पाप किया है, वर्तमान में जो पाप करते हैं या कर रहे हैं, और भविष्य में जो करेंगे, उन सबका मन से, वचन से या काया से साधु कदापि अनुमोदन नहीं करते। इसका अर्थ यह हुआ कि वे स्वयं उस पापजनित वस्तु का उपभोग नहीं करते, तथा दूसरों ने अपने स्वार्थ के लिए जो पाप किया है, करते हैं या करेंगे, जैसे कि शत्रु का सिर काट डाला, काट रहा है या काट डालेगा, या चोर को मार डाला, मार रहा है या मार डालेगा, इत्यादि दूसरों के सावद्य (पापयुक्त) अनुष्ठानों को साधु अच्छा नहीं मानते। समाचार-पत्रों से भी ऐसे पापजनित कार्यों के त्रैकालिक समाचार पढ़-सुनकर वे मन-वचन-काया से उसे अच्छा नहीं समझते। निष्कर्ष यह है कि वे किसी भी मूल्य पर तीनों काल में निष्पन्न पापजनित कार्यों का समर्थन नहीं करते। यही उनके पण्डित-वीर्य का आदर्श है।

मूल पाठ

जे याबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

ये चाऽबुद्धा महाभागा वीरा असम्यक्त्वदर्शिनः ।
अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं, सफलं भवति सर्वशः ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**जे यावुद्धा**) जो पुरुष धर्म के तत्त्व को नहीं जानते हैं, किन्तु (**महाभागा**) जगत् में महाभाग्यशाली पूजनीय माने जाते हैं, (**वीरा**) फिर वे शत्रुसेना को जीतने वाले वीर हैं, तथा (**असमत्तदंसिणो**) सम्यग्दर्शन से रहित हैं, (**तेसिं परक्कंतं असुद्धं**) उनका तप, दान आदि में पराक्रम –उद्योग अशुद्ध है, (**सव्वसो सफलं होइ**) और वह सर्वथा (सफल) कर्मफलयुक्त- कर्मबन्धन का हेतु होता है।

भावार्थ

जो पुरुष धर्म के रहस्य से अनभिज्ञ हैं, किन्तु लोकपूज्य, महान् वीर हैं, वे सम्यग्दर्शन से रहित—मिथ्यादृष्टि हैं तो उनका किया हुआ तप, दान आदि पराक्रम अशुद्ध है और वह सबका सब कर्मबन्धनरूप फल का जनक होता है।

व्याख्या

मिथ्यादृष्टि का समस्त पराक्रम कर्मबन्धफलजनक

इस गाथा में यह बताया गया है कि संसार में बड़े वीर और महाभाग—पूज्य समझे जाने वाले, किन्तु धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण मिथ्यात्वी लोगों का सारा दानादि पराक्रम अशुद्ध है, और वह कर्मबन्धफलजनक होता है। प्रश्न होता है, जो लोग संसार में महामान्य, महाविद्वान् और बड़े वीर कहलाते हैं, वे अबुद्ध और मिथ्यादृष्टि कैसे हैं? इसका समाधान यों है कि शुष्क व्याकरण और तर्क तथा इसी प्रकार के अन्य शास्त्रों के ज्ञान से जिन्हें अभिमान उत्पन्न हो गया है, जो अपने आपको महापण्डित मानते हैं, परन्तु पारमार्थिक (वस्तु के सच्चे) स्वरूप को न जानने के कारण वे वास्तव में अबुद्ध हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना शुष्क तर्क-मात्र से तत्त्वबोध प्राप्त नहीं होता। कहा भी है—

शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,
नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्।
नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी,
स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति॥

अर्थात्—"शास्त्र में गहरे प्रवेश और उसकी व्याख्या करने में निपुण होने पर भी अज्ञानी (अबुध) पुरुष वस्तु के यथार्थ स्वरूप को उसी तरह नहीं जान पाता, जिस प्रकार नाना प्रकार के रसों में डूबी रहने वाली कुड़छी दीर्घकाल तक भी रसों के स्वाद को नहीं जान पाती।" इस प्रकार जो अबुद्ध है, वह बालवीर्यवान् है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान भाग वाला महाभाग कहलाता है। भाग शब्द यहाँ पूजार्थक है। इसीलिए महाभाग का अर्थ महापूज्य या लोकप्रसिद्ध हुआ। कई लोग पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य के बल से इस भव में पूजे जाते हैं, प्रसिद्ध हो जाते हैं, सुखसुविधाएँ प्राप्त कर लेते हैं, तथा शस्त्रास्त्र संचालन में कुशल होने के कारण वीर भी कहलाते हैं, फिर भी मिथ्यादृष्टि एवं बालवीर्यवान् होने के कारण शास्त्रकार उनके पराक्रम को अशुद्ध कहते हैं। यानी उनके द्वारा तप, दान आदि किया हुआ प्रयत्न अशुद्ध होता है। वह तप आदि सर्व अनुष्ठान कर्मबन्ध-फल का कारण होता है। जैसे कुवैद्य के द्वारा की हुई चिकित्सा विपरीत फल प्रदान करती है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि के द्वारा की हुई तप आदि क्रियाएँ कर्मनिर्जरा के बदले कर्मबन्धरूप विपरीत फलदायिनी होती हैं, क्योंकि वह भावना (परिणाम) से दूषित एवं सद्-असद् विवेकविकल होता है, अथवा निदान से युक्त होता है। जल में एक ही प्रकार का स्वाभाविक रस सर्वत्र होता है, लेकिन भिन्न-भिन्न प्रकार के भू-भागों के सम्पर्क से वह कहीं मीठा और कहीं खारा हो जाता है, इसी प्रकार तप भी विभिन्न पात्रों में विभिन्न प्रकार का फल प्रदान करता है। यही कारण है मिथ्यादृष्टि, फिर वे चाहे कितने लोकपूज्य हों, योद्धा हों, चाहे लौकिक शास्त्रज्ञ हों, उनका पराक्रम (उनकी सब क्रिया) कर्मबन्धनरूपफल को उत्पन्न करता है।

मूल पाठ

जे य बुद्धा महाभागा वीरा समत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

संस्कृत छाया

ये च बुद्धा महाभागाः, वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः।
शुद्धं तेषां पराक्रान्तमफलं भवति सर्वशः ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**जे य**) जो लोग (**बुद्धा**) पदार्थ के सच्चे स्वरूप को जानने वाले हैं, (**महाभागा**) बड़े पूजनीय हैं, (**वीरा**) कर्म-विदारण करने में शूरवीर हैं, (**समत्तदंसिणो**) तथा सम्यग्दृष्टि हैं। (**तेसिं परक्कंतं**) उनका संयम, दान, तपादि पराक्रम (उद्योग) (**सुद्धं**) निर्मल है, (**सव्वसो अफलं होइ**) और सब अफल— कर्मफलाभावरूप मोक्ष के लिए होता है।

भावार्थ

जो स्वयं बुद्ध हैं, वस्तुतत्त्वज्ञ हैं, महाभाग · महापूज्य हैं, तथा कर्म को विदारण करने में शूर हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, उनका पराक्रम (तप आदि उद्योग) शुद्ध है, वह सदा कर्मबन्धनरूप फल से रहित होता है—निर्जरा का ही कारण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

सम्यग्दृष्टि का पराक्रम शुद्ध और कर्मबन्धफल से रहित

पूर्व गाथा में मिथ्यादृष्टि के पराक्रम के सम्बन्ध में बताया गया था, इस गाथा में शास्त्रकार सम्यग्दृष्टि के पराक्रम के सम्बन्ध में बताते हैं—

जो बुद्ध[1] तत्त्वज्ञ हैं, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थरूप से जानते हैं, अपने उत्तम गुणों के कारण महापूजनीय हैं। वीर का अर्थ है—कर्मविदारण करने में जो शूरवीर हैं, अथवा जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों से विराजित हैं। वे सम्यग्दृष्टि हैं। उनका तप, स्वाध्याय, यम, नियम, दान आदि समस्त अनुष्ठान पराक्रम शुद्ध है, निर्दोष है, अतएव वह विषय-कषायादि दोषों से अकलंकित पण्डितवीर्यरूप शुद्ध अफल होता है, यानी वह कर्मबन्धरूप फल से रहित केवल निर्जरा के लिए ही होता है। सम्यक्दृष्टि पुरुष के समस्त तप संयमादि अनुष्ठान निर्जरा का कारण होता है। भगवती सूत्र में भी कहा है—

'संजमे अणण्हयफले, तवे वोदाणफले' संयम का फल आस्रव का रुक जाना है, तप का फल कर्मनिर्जरा है।

मूल पाठ

तेसिं पि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥२४॥

संस्कृत छाया

तेषामपि तपो न शुद्धं, निष्क्रान्ता ये महाकुलाः ।
यन्नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोकं प्रवेदयेत् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**तेसिं पि तवो ण सुद्धो**) उनका तप भी शुद्ध नहीं है, (**जे महाकुला निक्खंता**) जो महाकुल वाले बड़ी धूमधाम से प्रव्रज्या लेकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं। (**जं नेवन्ने वियाणंति**) इसलिए दान में श्रद्धा रखने वाले दूसरे लोग जानें नहीं, इस प्रकार आत्मार्थी को तप करना चाहिए। (**न सिलोगं पवेज्जइ**) तथा तपस्वी को अपने मुँह से अपनी प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए।

भावार्थ

जो बड़े कुल में उत्पन्न व्यक्ति बड़ी धूमधाम से दीक्षा लेते हैं, और फिर पूजा-सत्कार पाने के लिए तप करते हैं, उनका तप भी अशुद्ध है। अतः साधु तप को इस प्रकार गुप्त रखे कि दान में श्रद्धा रखने वाले लोग न जानें। तथा साधु अपने मुँह से अपनी प्रशंसा भी न करे।

---

१ वृत्तिकार शीलांकाचार्य के अनुसार यहाँ बुद्ध शब्द से 'स्वयंबुद्ध', तीर्थंकरादि, तथा उनके बुद्धबोधित शिष्य गणधर आदि का ग्रहण किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

महाकुलीन साधु पूजाप्रतिष्ठा के लिए तप न करें

जो कुल शूरवीरता, दानशीलता, तपस्या आदि के कारण नामी हैं, जैसे इक्ष्वाकुकुल, उग्रकुल, भोगकुल आदि थे या हैं, वर्तमान में अन्य कुल भी हैं, जिनका यश जगत् में फैला हुआ हो, उन महाकुलों में जन्मे हुए जो व्यक्ति त्याग-वैराग्य से सम्पन्न होकर भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं या अपने कुल आदि की दृष्टि से स्वयं प्रशंसा करते हैं, किसी कामना से तप करते हैं, किसी स्वार्थ से तप करते हैं तो उनका वह तप अशुद्ध हो जाता है। पण्डितवीर्य-सम्पन्न साधक को तप आदि क्रियाएँ चुपचाप बिना शोहरत या प्रसिद्धि के करनी चाहिए। जिससे दान में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति जान न सकें। साधक स्वयं भी अपने मुँह से अपनी तारीफ न करे कि मैं अमुक कुल में जन्मा था, अमुक मेरे माता-पिता थे, मैं धनिक या सत्ताधीश था या मैं महातपस्वी हूँ। इस प्रकार स्वयं की शोहरत करके अपनी तपस्या को निःसार न बनाए।

मूल पाठ

अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥२५॥

संस्कृत छाया

अल्पपिण्डाशी पानाशी, अल्पं भाषेत सुव्रतः ।
क्षान्तोऽभिनिर्वृतो दान्तो, वीतगृद्धिः सदा यतेत ॥२५॥

अन्वयार्थ

(**अप्पपिंडासि पाणासि**) साधु उदरनिर्वाह के लिए अल्पाहारी हो, थोड़े-से जल से काम चलाए, (**अप्पं भासेज्ज सुव्वए**) सुव्रत पुरुष थोड़ा बोले (**खंते अभिनिव्वुडे दंते वीतगिद्धी**) तथा क्षमाशील, लोभादिरहित शान्त, दान्त एवं विषयभोगों में अनासक्त होकर (**सदा जए**) सदा संयमपालन में प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे।

भावार्थ

साधु उदरनिर्वाह के लिए थोड़ा-सा आहार ले, अल्प जल का उपयोग करे, थोड़ा बोले, क्षमाशील बने, लोभादि से दूर शान्त रहे, इन्द्रियदमन करे, विषयोपभोगों में अनासक्त होकर सदा संयमपालन का प्रयत्न करे।

व्याख्या

साधु का निवृत्तिमय शान्त पुरुषार्थ

साधु-जीवन त्यागप्रधान होता है। साधु का सदा यह प्रयत्न रहता है कि सांसारिक वस्तुओं की जितनी कम मात्रा से निर्वाह हो सके, उतने से काम चला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ले। मोक्षाभिलाषी के लिए ऐसा दैनिक स्वाभाविक क्रम तभी हो सकता है, जब वह अपनी प्रतिदिन की चर्या में कम से कम चीजों का उपयोग करे। अपनी प्रकृति, आदत, विचारधारा और आचार-प्रणाली ही ऐसी बना ले कि कम से कम वस्तुओं या साधनों से वह अपने शरीर और जीवन का निर्वाह कर सके। परन्तु जो साधक अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेता है, अपनी प्रसिद्धि और प्रशंसा की भूख बढ़ा लेता है, अपने जीवन में लोगों से अधिक परिचय, सम्पर्क और आकर्षित करने या कोई स्वार्थ सिद्ध करने की आदत बना लेता है, या फिर बात-बात में लोगों से उलझ जाता है, अपना बड़प्पन दिखाने के लिए गर्वस्फीत भाषा में बोलता है, चुप एवं मौन नहीं रह सकता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों का कम से कम और वह भी अनासक्ति (राग-द्वेष परहितता) पूर्वक उपयोग करने के बदले अधिकाधिक व अनियंत्रित, अमर्यादित उपयोग करने लग जाता है, तब उसकी मूल साधना छूट जाती है, उसका ध्यान, मौन, स्वाध्याय, तप, जप आदि छूट जाते हैं, करता है तो भी बिना मन से, बिना लगन और स्फूर्ति के, निरुत्साही और अशान्त होकर करता है। ऐसी स्थिति में साधना पण्डितवीर्य-सम्पन्न एवं तेजस्वी नहीं बनती। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'अप्पपिंडासि पाणासि···वीतगिद्धि सदा जए।'** साधु को अपना शरीर न तो मोटा-ताजा एवं बलिष्ठ बनाना है, और न ही सुन्दर व मोहक बनाना है, यह काम तो भोगियों का है, और फिर आत्मा तो निराहारी है, साधु जो कुछ भी आहार करता है, वह शरीर से धर्मपालनार्थ, संयमयात्रा सुखपूर्वक निर्विघ्नता से चलाने के लिए विवश होकर करता है। इसलिए त्यागी साधु कम से कम आहार (भोज्य पदार्थों की संख्या और मात्रा दोनों में अल्पतम) लेकर मस्ती से अपनी संयमयात्रा चलाए। भोज्य द्रव्यों की अधिक संख्या या अधिक मात्रा में आहार लेने जाएगा तो उसे या तो दानियों की गुलामी या दीनता करनी पड़ेगी, या उसे प्राप्त करने के लिए अधिक समय और शक्ति लगानी पड़ेगी। यही बात पानी या पेय पदार्थों के लिए समझनी चाहिए। वाणी की शक्ति मिली है तो उसका उपयोग कम से कम करके उस शक्ति को आत्मसाधना में लगाए। जैसे आहार-पानी की ऊनोदरी तपस्या होती है, वैसे ही वस्त्रपात्र आदि अन्य आवश्यक साधनों की भी हो सकती है। इसी प्रकार क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रियविषय आदि की भी भाव-ऊनोदरी होती है, अर्थात् वह कषाय, विषय और आहार तीनों की ऊनोदरी करे। कम से कम पदार्थों का उपयोग करके सुख और सन्तोष से संयम पालन करे। कहा भी है

थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो य।
थोवोवहिउवकरणो तस्स हु देवावि पणमंति॥

अर्थात्—जो साधक थोड़ा आहार करता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है, अपने संयम के उपकरण और साधन बहुत ही थोड़े रखता है, उसे देवता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्रणाम करते है । व्यवहार सूत्र में साधु-साध्वी के आहार की मात्रा बताई गई है। मुर्गी के अंडे के बराबर ८ कौर आहार करने वाला अल्पाहारी है, जो १२ कौर आहार करता है, वह अपार्ध (आधे से कम) आहार करके ऊनोदरी करता है। १६ कौर आहार करना द्विभाग प्राप्त आहारी है, २४ कौर आहार करने वाला अल्प-ऊनोदरिक है, ३० कौर आहार करने वाला प्रमाण-प्राप्तहारी है और ३२ कौर आहार करने वाला पूर्ण-आहारी है। साधु को आहार-पानी की मात्रा घटाने का तथा अन्य साधनों एवं कषायादि कम करने का अभ्यास करना चाहिए।

मूल पाठ

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥

॥ त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

ध्यानयोगं समाहृत्य, कायं व्युत्सृजेत् सर्वशः ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥२६॥

॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**झाणजोगं समाहट्टु**) साधु ध्यानयोग (चित्तनिरोधरूप साधना) को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके (**कायं विउस्सेज्ज सव्वसो**) पूर्णरूप से काया का व्युत्सर्ग—अनिष्ट प्रवृत्तियों से निरोध करे। (**तितिक्खं परमं णच्चा**) परीषहों और उपसर्गों के समभावपूर्वक सहिष्णुता को उत्तम समझ कर (**आमोक्खाय परिव्वएज्जासि**) सम्पूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रवृत्त—संलग्न रहे।

भावार्थ

साधु ध्यानयोग को अपनाकर समस्त बुरे व्यापारों (प्रवृत्तियों) से अपने तन-मन-वचन को रोक दे, शरीर पर से ममत्व छोड़ दे, परीषह-उपसर्ग-जनित कष्टों को सहन करना अच्छा जानकर जब तक समस्त कर्म-क्षयरूप मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक संयम-पालन में जुटा रहे।

व्याख्या

काया की भक्ति से दूर रहकर आत्मभक्ति में ओतप्रोत रहे

साधुजीवन में मोक्ष प्राप्ति के लिए देह गौण होता है, आत्मा मुख्य होता है। देह की भक्ति को छोड़कर साधु आत्म-भक्ति अधिकाधिक कर सके इसके लिए शास्त्रकार इस अध्ययन की अन्तिम गाथा में कुछ प्रक्रिया बता रहे हैं—'झाणजोगं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'' **आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।**' आशय यह है कि देहभक्ति को केवल वचन और काया से ही नहीं, मन, बुद्धि और हृदय से सर्वथा छोड़कर यानी मेरा शरीर है ही नहीं, इस प्रकार से विचार करे । तथा देह के प्रति जो सूक्ष्म ममत्व हो, उसका भी त्याग करने के लिए कायोत्सर्ग या कायव्युत्सर्ग करे । शरीर को किसी भी अकुशल अनिष्ट विचार, वचन, या चेष्टा में न लगाए, कदाचित् मन, वचन या शरीर पूर्व-संस्कारवश उधर जाता हो तो उसे बलपूर्वक रोक दे । इसीलिए यहाँ-- **कायं विउस्सेज्ज सव्वसो**' कहा है । जब देहभक्ति छोड़ दी तो मन-वचन या काया को किसमें लगाए ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं '**झाणजोगं समाहट्टु**' (ध्यानयोग को सम्यक् अपनाए) । तात्पर्य यह है कि वह साधक आत्म-भक्ति करे । अपनी आत्मा में-- आत्मस्वभाव में लीन होने के लिए देहभक्ति सर्वथा छोड़कर पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान करे । ध्यान का लक्षण है - '**उत्तम संहननस्येकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्**'[1] या '**तत्प्रत्येकतानता ध्यानम् ।**'[2] अर्थात् उत्तम संहनन वाले व्यक्ति का चित्त को किसी एक आत्म-विषयक पदार्थ में एकाग्र करके बाह्य (दैहिक) विषयों के चिन्तन से रोकना ध्यान है, अथवा किसी ध्येय के प्रति एकतान हो जाना ध्यान है । निष्कर्ष यह है कि दैहिक (शरीर या शरीर से सम्बन्धित) विषयों से मन-वचन-काया को सर्वथा हटाकर पूर्वोक्त लक्षणयुक्त धर्मध्यान या शुक्लध्यान (आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के लिए धर्म या धर्मांगों का या शुद्ध आत्मा या आत्मगुणों का ध्यान) को पिण्डस्थ आदि प्रकारों में से अपनी योग्यतानुसार किसी एक प्रकार से अपनाए । उक्त ध्यान के दौरान जो भी संकट, परीषह, उपसर्ग या कष्ट आएँ आत्मा का परमधर्म जानकर उन्हें सहन करे और इस प्रकार की आत्म-भक्ति में मोक्ष प्राप्त होने तक डटा रहे ।

यही पण्डितवीर्य-- अकर्मवीर्य का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है ।

इति शब्द समाप्ति अर्थ में है, 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है ।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र का अष्टम वीर्य नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ ।

॥ वीर्य नामक अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ २. योगदर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म : नवम अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

आठवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब नौवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। आठवें अध्ययन में बालवीर्य और पण्डितवीर्य का वर्णन किया गया था। पण्डितवीर्य उसी का समझा जाता है, जो धर्माचरण में पुरुषार्थ करता है। इस सम्बन्ध में नौवाँ धर्माध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन में धर्म के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन में भावधर्म[1] का अधिकार है, क्योंकि भावधर्म ही वास्तव में धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के प्रथम और छठे (धर्मार्थकाम नामक) अध्ययन में भी इसी दुर्गति-गमन से जीव को बचाने वाले धर्म का प्रतिपादन किया है। आगे के दसवें और ग्यारहवें अध्ययन में भी यही बात बताई जाएगी। क्योंकि भावसमाधि या भावमार्ग और धर्म एक ही चीज है। परमार्थतः इनमें कोई अन्तर नहीं है। धर्म के जो श्रुत-चारित्र रूप प्रकार हैं, अथवा क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश भेद हैं, उनमें और भावसमाधि में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि क्षमा आदि उत्तम गुणों को अपने में भलीभाँति स्थापित करना ही तो भावसमाधि है और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मुक्तिमार्ग भी तो प्रकारान्तर से भावधर्म है।

निक्षेपदृष्टि से धर्म के विभिन्न अर्थ

धर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापनाधर्म तो सुगम है। द्रव्यधर्म, जो ज्ञशरीर-भव्यशरीर से व्यतिरिक्त है, तीन प्रकार का है—सचित्तधर्म, अचित्तधर्म और मिश्रधर्म। **सचित्त** यानी जीते हुए शरीर से युक्त जीव का धर्म (स्वभाव) उपयोग रूप है। **अचित्त** यानी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का भी जो जिसका स्वभाव है, वह उसका धर्म है। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव गमनक्रिया में सहायता देना, अधर्मास्तिकाय का ठहरने में सहायता देना, आकाशास्तिकाय का स्वभाव अवगाहन देना, तथा पुद्गलास्तिकाय का पूरण-गलन-विध्वंसनरूप स्वभाव है। **मिश्रद्रव्य** जो दूध और जल आदि हैं, उनमें भी जो जिसका

१. धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो भावधम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मे एसेव समाहिमग्गोत्ति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव है, उसे उसका धर्म समझना चाहिए। गृहस्थों के भी जो कुल, नगर, ग्राम, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित नियमोपनियम या मर्यादाएँ हैं, कर्तव्य हैं, अथवा दायित्व हैं, उन्हें कुलधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि समझने चाहिए। अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य गृहस्थों के प्रति गृहस्थों के दान-पुण्यरूप हैं, उन्हें भी द्रव्य-धर्म जानना चाहिए।

भावधर्म नो-आगम से दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार का है—एक गृहस्थों का, दूसरा पाषण्डियों का। लोकोत्तर धर्म ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है।

इस धर्माध्ययन में ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न साधुओं का जो धर्म है, उसके सम्बन्ध में खासतौर से निरूपण किया गया है।

अतः इस सन्दर्भ में इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है —

मूल पाठ

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मईमया ?
अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

संस्कृत छाया

कतरो धर्म आख्यातः माहनेन मतिमता ?
ऋजुधर्म यथातथ्यं जिननां तं शृणुत मे ॥१॥

अन्वयार्थ

(**मईमया**) केवलज्ञानसम्पन्न (**माहणेण**) अहिंसा (**मा-हन**—जीवों को मत मारो) का परम उपदेश देने वाले भगवान् महावीर स्वामी ने (**कयरे धम्मे अक्खाए**) कौन-सा धर्म बताया है ? (**जिणाणं**) जिनवरों के (**तं अंजु धम्मं**) उस सरल धर्म को (**जहातच्चं**) यथार्थ रूप से (**मे सुणेह**) मुझ से सुनो।

भावार्थ

केवलज्ञानी तथा अहिंसा के परम उपदेष्टा भगवान् महावीर ने कौन-सा धर्म बताया है ? श्री जम्बूस्वामी आदि के इस प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं—"लो जिनवरों के उस सरल धर्म को मुझ से सुनो।"

व्याख्या

भगवान् महावीर ने कौन-सा धर्म बताया था ?

इस अध्ययन की प्रथम गाथा में जम्बूस्वामी आदि द्वारा प्रश्न उठाया गया है कि विश्व में बहुत-से धर्म हैं, सभी मत-पंथवादी लोग अपनी-अपनी दृष्टि से धर्म की प्ररूपणा और उसकी व्याख्या करते हैं। चूँकि भगवान् महावीर, जैसा कि हमने सुना है, बहुत बड़े धर्मोपदेशक थे, उन्होंने अपने केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश में अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का बहुत उपदेश दिया था, उपदेश ही नहीं अहिंसा का सूक्ष्मतापूर्वक आचरण भी किया था, अतः आप हमें यह बताने की कृपा करें कि उन वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने कौन-से धर्म का उपदेश दिया था ? या किसे धर्म बताया था ? शिष्यों की जिज्ञासा जानकर श्री सुधर्मास्वामी ने कहा—'तो लो, जिनवरों के द्वारा प्ररूपित उस धर्म का यथार्थ वर्णन मुझ से सुन लो ।'

वस्तुतः उस युग में अनेक तथाकथित तीर्थंकर कहलाते थे, अनेक धर्मप्रवर्तक भी थे, विभिन्न कर्मकाण्डप्रधान वैदिक याज्ञिक भी थे और वे सब अपने-अपने ढंग से धर्म के सम्बन्ध में बताते थे । इसलिए साधारण जनता उनके अलग-अलग विचार और मत सुनकर चक्कर में पड़ जाती थी । कोई वेदविहित बातों पर चलने को धर्म कहते थे, कोई कहते थे—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वह धर्म है, कोई अमुक-अमुक क्रियाकाण्ड को धर्म बताता था । इसलिए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि त्रिकाल-त्रिलोकज्ञाता परम-अहिंसाधर्मी भगवान् महावीर ने आखिर किसको धर्म बताया था ? कौन-से धर्म का उन्होंने निर्देश किया था ? इसी प्रश्न पर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा भगवान् महावीरप्रतिपादित धर्म का इस अध्ययन में वर्णन है।

मूल पाठ

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥२॥
परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढइ ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

संस्कृत छाया

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याश्चाण्डाला अथ बोक्कसाः ।
एषिका वैशिकाः शूद्राः ये चारम्भनिश्रिताः ॥२॥
परिग्रहनिविष्टानां, वैरं तेषां प्रवर्धते ।
आरम्भसंभृताः कामा न ते दुःख-विमोचकाः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**माहणा खत्तिया वेस्सा चंडाला अदु बोक्कसा एसिया वेसिया सुद्दा**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल तथा बोक्कस (अवान्तर जातीय वर्णसंकर) एषिक (शिकारी, हस्तितापस या पाषण्डी) वैशिक (मायाप्रधान कलाजीवी) तथा शूद्र (**जे य आरंभणिस्सिया**) और जो भी आरम्भ में रत रहने वाले जीव हैं, (**परिग्गहनिविट्ठाणं तेसिं वेरं पवड्ढइ**) परिग्रह में आसक्त रहने वाले इन प्राणियों का दूसरे प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है। (**आरंभसंभिया कामा**) वे कामुक या विषयलोलुप जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भ (जीवहिंसाजनक आरम्भ) से परिपूर्ण हैं, (ते न दुक्खविमोयगा) वे दुःखरूप आठ प्रकार के कर्मों को नहीं छोड़ नहीं सकते।

भावार्थ

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस, एषिक, वैशिक, शूद्र तथा और जो भी प्राणी आरम्भरत रहते हैं, उन परिग्रहासक्त जीवों का दूसरे जीवों के साथ अनन्तकाल तक वैर बढ़ता रहता है। अतः आरम्भ से लबालब भरे हुए, वे विषयलोलुप जीव आठ प्रकार कर्मों का त्याग कदापि नहीं कर सकते।

व्याख्या

आरम्भ-परिग्रहरत जीवों का स्वभाव और दुष्परिणाम

प्रस्तुत गाथा में जिनप्ररूपित धर्म के सन्दर्भ में उसका प्रतिपक्षी अधर्म किस-किस रूप में पनपता है, और वे उसका क्या फल पाते हैं ? यह बताया गया है। क्योंकि जब तक अधर्म को नहीं समझ लिया जाता, तब तक धर्म की पहचान नहीं हो सकती। अधर्म का आश्रय लेने वाले किस-किस प्रकार से अधर्म के एक अंग — आरम्भजनित हिंसा को अपनाते हैं। शास्त्रकार कुछ नाम निर्देशपूर्वक बताते हैं— ब्राह्मण, पशुबलि या पशुवधमूलक यज्ञों, होमों में आरम्भ करते हैं। क्षत्रिय निर्दोष पशुओं का शिकार करके या मांसाहार करके, वैश्य भी अन्य आरम्भ-समारम्भ करके हिंसा करते हैं। चाण्डाल तो पशुहिंसा करने में प्रसिद्ध हैं ही। बोक्कस अवान्तर जातीय को कहते हैं—जैसे ब्राह्मण और शूद्री के संसर्ग से, ब्राह्मण और वैश्य-स्त्री के संसर्ग से या क्षत्रिय और शूद्री के संसर्ग से उत्पन्न बोक्कस कहलाते हैं। जो मांस के लिए मृग, हाथी या अन्य जीवों को ढूंढते-फिरते हैं, वे शिकारी या हस्तितापस एषिक कहलाते हैं, वैशिक कहते हैं-- विविध कलाजीवी को, शूद्र असंस्कारी तुच्छ जातीय होता है, ये और इस प्रकार के अन्य जो भी लोग अहर्निश आरम्भजनित हिंसा में रत रहते हैं, वे लोभवश परिग्रहवृद्धि के लिए ही ऐसा करते हैं, लेकिन उस हिंसारूप अधर्म के फलस्वरूप वे जन्म-जन्मान्तर तक उन जीवों के साथ वैर बाँध लेते हैं, और उसकी परम्परा चलाते रहते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि जो व्यक्ति जिस तरह जिस प्राणी का घात करता है, वह उसी तरह संसार में सैकड़ों बार नाना प्रकार के दुःख भोगता है। जमदग्नि और कृतवीर्य की तरह पुत्र और पौत्रों-प्रपौत्रों तक चलने वाली उनकी वैर परम्परा का अन्त नहीं आता। इसलिए आरम्भ के कामों में रात-दिन रचे-पचे रहने वाले वे विषयलोलुप जीव असातावेदनीयरूप दुःखदायक आठ कर्मों से कथमपि पिंड नहीं छुड़ा सकते हैं, वे दुःखद दुष्कर्म उन्हें घेरे रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

आघायकिच्चमाहेउं, नाईओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती ॥४॥
माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥५॥

संस्कृत छाया

आघातकृत्यमाधातुं ज्ञातयो विषयैषिणः ।
अन्ये हरन्ति तद्वित्तं, कर्मी कर्मिभिः कृत्यते ॥४॥
माता-पिता स्नुषा भ्राता भार्या पुत्राश्च औरसाः ।
नालं ते तव त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥५॥

अन्वयार्थ

(**विसएसिणो नाईओ**) सांसारिक सुखाभिलाषी ज्ञातिजन (**आघायकिच्चमाहेउं**) मरणोत्तर क्रिया (दाहसंस्कार, जलांजलिप्रदान, पितृपिंड आदि कृत्य) करके (**तं वित्तं अन्ने हरंति**) उस आरम्भ-पापकर्ता के धन का वे (अन्य) लोग हरण कर लेते हैं, (**कम्मी कम्मेहिं किच्चती**) परन्तु उस द्रव्य को एकत्रित करने के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करने वाला वह व्यक्ति अकेला उन पापकर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगता है ॥४॥

(**सकम्मुणा**) अपने पापकर्म से (**लुप्पंतस्स**) संसार में पीड़ित होते हुए (**तव**) तुम्हारी (**ताणाय**) रक्षा करने के लिए (**माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा**) माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, भार्या और सगे औरस पुत्र (**नालं**) कोई भी समर्थ नहीं हैं ॥५॥

भावार्थ

सांसारिक सुखाभिलाषी धनलोलुप ज्ञातिवर्ग दाहसंस्कार आदि मरणोत्तर क्रिया करके उसके अर्जित किये हुए धन का हरण कर लेते हैं। परन्तु पापकर्म करके धन संचय करनेवाला वह मृत व्यक्ति अकेला ही उन पापों का दुःखरूप फल भोगता है ॥४॥

अपने पापकर्म के फलस्वरूप संसार में दुःख भोगते हुए प्राणी को उसके माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, भार्या और सगे बेटे आदि कोई भी बचा नहीं सकते।

व्याख्या

स्वकृत कर्मों के दुःखद फल का स्वयं ही भोक्ता

इन दोनों गाथाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य बड़ी-बड़ी उमंगों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत ही पापकर्म करके धन कमाता है, परन्तु अकस्मात् जब वह चल बसता है तो उसके मरने के बाद उसकी मरणोत्तर क्रिया (दाह-संस्कार आदि) लोक दिखावे के लिए करके फौरन उसके ज्ञातिजन उन धन को अपने कब्जे में कर लेते हैं। यहाँ तक कि कई बार तो उसकी पत्नी या नाबालिग बच्चे भी रोते-बिलखते रह जाते हैं, और उसका वह धन जिसके हाथ में पड़ जाता है, वही दबा बैठता है। न तो उसके पीछे उस धन से कोई सुकृत्य किया जाता है, और न ही वह किसी धर्मकार्य में लगाया जाता है। उस धन से उसके ज्ञातिबन्धु मौज उड़ाते हैं। आखिर धन के लिए किये हुए इतने पापकृत्यों के फलस्वरूप उसे अकेले को ही दुःख भोगना पड़ता है। दूसरा कोई भी उसमें हिस्सेदार नहीं बनता। कितनी विडम्बना होती है, उस पापकर्मकर्ता की ! इस सम्बन्ध में एक गुरु किसी राजा को उपदेश देते हुए कहता है—

ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः ।
क्रीड़न्त्यन्ये नराः राजन् ! हृष्टास्तुष्टा ह्यलंकृताः ॥

अर्थात् - हे राजन् ! जिसने इतने पापकर्म करके द्रव्य उपार्जित किया है, और इतनी स्त्रियों के साथ शादी करके उन्हें रखा है, उसके मरने के पश्चात् दूसरे लोग उनके मालिक बनकर खुश होकर, आभूषण पहनकर उनसे मौज उड़ाते हैं। परन्तु पापकर्म से द्रव्य उपार्जन करने वाला मृत पापी अपने कृतपापों से संसार में पीड़ित किया जाता है।

जन्म देने वाले माता-पिता, सगे भाई-बहन, स्त्री-पुत्र, आदि या अन्य स्वजन कोई भी तुम्हारे पापकर्मों से पीड़ित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। यानी जब वे इस लोक में विभिन्न दुःखों से तुम्हारी रक्षा नहीं करते, तब परलोक में उनके द्वारा रक्षा करने की आशा कैसे की जा सकती है ?

कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस को अभयकुमार के सत्संग से जीव-हिंसा से विरक्ति हो चुकी थी। उसके परिवारीजनों ने उसे पुरखों की तरह जीववध करने के लिए बहुत कहा-सुनी की, परन्तु उस महापराक्रमी सुलस ने उनकी एक न मानी। जब पारिवारिक लोग उस पर दबाव डालने लगे तो उसने कुल्हाड़ी लेकर अपने हाथ पर मारी और उनसे कहा कि आप मेरी इस पीड़ा को बाँट लीजिए। जब सबने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो सुलस ने कहा—जब मेरी इस पीड़ा को आप ले नहीं सकते, तो परलोक में पापकर्म का फल भोगते समय आप मेरी क्या सहायता करेंगे ? अतः मैं यह पाप नहीं करूँगा। यह कहकर उस प्रबुद्ध सुलस ने जीववध नहीं किया। इसी प्रकार सभी आरम्भजनित हिंसा करने वाले पापकर्मी यह समझ लें कि उनके दुष्कृत्यों का फल उन्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा, कोई भी उसमें हाथ बँटाने या उनकी एवज में दुःखद फल भोगने को नहीं आयेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

एयमट्ठं स पेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥६॥

संस्कृत छाया

एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामिकम् ।
निर्ममो निरहंकारश्चरेद्, भिक्षुर्जिनाहितम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(स) वह साधु (एयमट्ठं) 'स्वकृत पाप से दुःख भोगते हुए प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता,' इस बात को (पेहाए) भली-भाँति जान-देखकर (परमट्ठाणुगामियं) तथा परमार्थरूप मोक्ष या धर्म के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, यह जानकर (निम्ममो निरहंकारो) ममतारहित और अहंकारशून्य होकर (भिक्खू) भिक्षु—साधु (जिणाहियं) वीतराग-भाषित धर्म का (चरे) आचरण करे।

भावार्थ

अपने किये हुए कर्मों से सांसारिक दुःख भोगते हुए प्राणी को रक्षा करने में कोई भी दूसरा समर्थ नहीं है, इस बात को अच्छी तरह सोच-समझकर तथा मोक्ष या धर्म का कारण—रत्नत्रय है, इसे हृदयंगम करके साधु ममत्व से रहित और अहंकार से शून्य होकर जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म का आचरण करे।

व्याख्या

जिनभाषित धर्म का आचरण क्यों करे ?

इस गाथा में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त सिद्धान्त का हवाला देकर साधक को जिनभाषित धर्म पर चलने की प्रेरणा दी है। यह सत्य है कि दूसरे के पापकर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता और न ही पापकर्मजनित दुःख से उसे बचा सकता है, तब कर्मरहित होने या पापकर्म से बचने के लिए मोक्षमार्ग के साधन रत्नत्रयरूप धर्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। इसी उपाय को शास्त्रकार ने बताया है कि धर्म और कर्म दो विरोधी चीजें हैं। कर्म से बचने या कर्म से रहित होने का उपाय धर्म है। इस बात को साधक प्राणियों के स्वयमेव कर्मफलस्वरूप दुःख भोगने के सिद्धान्त से समझे, सोचे और वीतरागभाषित संयमधर्म—रत्नत्रयरूपधर्म का रास्ता अंगीकार करे।

मूल पाठ

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

त्यक्त्वा वित्तञ्च पुत्रांश्च, ज्ञातींश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वा खल्वन्तगं शोकं, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥७॥

अन्वयार्थ

(**वित्तं च पुत्ते य णाइओ य परिग्गहं चिच्चा**) धन और पुत्रों का, ज्ञातिजनों और परिग्रह का त्याग करके (**अंतगं सोयं णं चिच्चाण**) अन्तर के शोक सन्ताप को छोड़कर (**निरवेक्खो परिव्वए**) निरपेक्ष—निःस्पृह होकर संयम का पालन करे।

भावार्थ

धन, पुत्र, ज्ञातिजन एवं परिग्रह का त्याग करे तथा आन्तरिक सन्ताप छोड़कर साधक संयम के अनुष्ठान में प्रगति करे।

व्याख्या

सांसारिक ममत्व छोड़कर संयम में प्रगति करे

इस गाथा में साधु-धर्म के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है कि साधु किसे छोड़े, और किसे अपनाए ? वैसे तो साधु बनते समय समस्त सांसारिक पदार्थों का मोह-ममत्व छोड़ना अनिवार्य होता है, परन्तु यहाँ उन वस्तुओं का उल्लेख खासतौर से किया गया है, जिन वस्तुओं पर मनुष्य का अधिक मोह-ममत्व होता है, जिनके लिए मनुष्य प्रायः अपने प्राण तक दे डालता है, वे हैं—धन, पुत्र, कौटुम्बिकजन और आभूषण, मकान, भूमि आदि परिग्रह। अतः ये और अन्य समस्त सांसारिक वस्तुएँ—जो शरीर और शरीर से सम्बन्धित निर्जीव या सजीव हैं—उन सब पर से ममत्व का त्याग करे। किन्तु कई बार इन वस्तुओं का त्याग करने पर भी पूर्व संस्कारवश उनका सन्ताप-परिताप रह-रहकर मन में होता है, दिल की तह में उनके लिए ममत्व, चिन्ता, शोक, सन्ताप या पश्चात्ताप होता रहता है, साधु बन जाने पर भी वह मन में उन्हीं के बारे में सोचता रहता है, लोगों से उनके बारे में पूछता रहता है, या समाचार व सन्देश भेजता रहता है, अथवा उन्हें दर्शन के लिए सन्देश देता रहता है, यह साधु के लिए उचित नहीं। ऐसा होने से ममत्व का स्रोत सूखेगा नहीं, बल्कि बढ़ेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**चिच्चाण णंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए**। अर्थात् उन पदार्थों का, जिन पर से सर्वथा ममत्व छोड़ दिया है, अन्तर् में यदि उनके प्रति या उनके त्याग का जरा भी शोक संताप या पश्चात्ताप हो तो उसे मन से निकाल देना चाहिए, और उन सबसे निरपेक्ष, निःस्पृह एवं विरक्त होकर, अपने संयम में प्रगति करनी चाहिए, जिस प्रव्रज्या को अपनाया है, उसमें प्रगति करनी चाहिए। साधु को अपने संयमपथ पर ही चलते रहना चाहिए। जिस वस्तु से साधु का वास्ता ही नहीं रहा, उसके बारे में पूछताछ, चिन्ता, सन्ताप या अपेक्षा करनी ही नहीं चाहिए। अथवा इस पंक्ति का अर्थ यह भी होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि जो दुस्त्याज्य है, विनाश करने वाला है, या आत्मा के भीतर दबा-छिपा रहता है, उस सन्ताप (सजीव या निर्जीव किसी भी पदार्थ के प्रति द्वेष, घृणा या शोक) को छोड़कर अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग जो आस्रव के स्रोत हैं, जो संयमीजीवन या धर्ममय जीवन का अन्त करने वाले हैं, उन्हें छोड़कर सबसे निरपेक्ष होकर मोक्ष-पथ पर प्रगति करे। एक अनुभवी चारित्रात्मा ने कहा है —

छलिया अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥
भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसागरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा तरंति संसारकंतारं ॥२॥

अर्थात् – जिन्होंने परपदार्थों की या परिग्रह की अपेक्षा (ममता) रखी, वे ठगा गये, जो उनसे निरपेक्ष रहे वे निर्विघ्न होकर संसार-सागर को पार कर गए। जो साधक भोगों की अपेक्षा रखते हैं, वे घोर संसार-समुद्र में डूब जाते हैं, किन्तु जो भोगों से निरपेक्ष रहते हैं, वे संसाररूपी अटवी को पार कर जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधु के लिए सांसारिक पदार्थों से लगाव रखना अधर्म है और निरपेक्ष रहना धर्म है।

मूल पाठ

पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।
अंडया पोयजराऊ रस-संसेय-उब्भिया ॥८॥
एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

संस्कृत छाया

पृथिव्यापोऽग्निर्वायुस्तृणवृक्षाः सबीजकाः ।
अण्डजाः पोतजरायुजाः, रस-संस्वेदोद्भिज्जाः ॥८॥
एतैः षड्भिः कायैस्तद् विद्वान् परिज्ञाय ।
मनसा कायवाक्येन, नारम्भी न परिग्रही ॥९॥

अन्वयार्थ

(**पुढवी उ अगणी वाऊ तणरुक्खसबीयगा**) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा तृण, वृक्ष और बीजसहित वनस्पति, (**अंडया पोयजराऊ रससंसेयउब्भिया**) एवं अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, तथा उद्भिज्ज ये सब षट्कायिक जीव हैं ॥८॥

(**विज्जं**) विद्वान् साधक (**एतेहिं छहिं काएहिं**) इन छह कायों से (**तं परिजाणिया**) इन्हें जीव जानकर अथवा ज्ञपरिज्ञा से इन्हें जानकर (**मणसा कायवक्केणं**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन, वचन और काया से (णारंभी ण परिग्गही) प्रत्याख्यानपरिज्ञा से न इनका आरम्भ (हिंसा) करे और न ही इनका परिग्रह करे ॥६॥

भावार्थ

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण-वृक्ष, बीजयुक्त वनस्पति, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज एवं उद्भिज्ज—ये सब षड्जीवनिकाय हैं। विद्वान् साधक इन छह कायों के रूप में इन्हें ज्ञपरिज्ञा से जीव जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन-वचन काया से न तो इनका आरम्भ करे और न ही इनका परिग्रह करे।

व्याख्या

षट्जीवनिकाय के आरम्भ-परिग्रह का त्याग करे

इन दोनों गाथाओं में शास्त्रकार ने दो बातें साधुधर्म के रूप में बताई हैं --

(१) सर्वप्रथम संसार के समस्त प्राणियों को षट्जीवनिकाय के रूप में ज्ञपरिज्ञा से जाने, (२) उन सभी प्रकार के जीवनिकायों का न तो आरम्भ करे, और न परिग्रह यानी प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन जीवों के आरम्भ एवं परिग्रह का त्याग करे। कितनी सुन्दर प्रेरणा शास्त्रकार ने साधक को दे दी है !

षट्जीवनिकाय इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

पृथ्वीकाय के अन्तर्गत मिट्टी, मुरड़, खड़ी, गेरू, हींगलू, हड़ताल, हिरमच आदि आते हैं। फिर उसके सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भेद हैं। इसी प्रकार **अप्काय** के अन्तर्गत ओस, खार, समुद्र, नदी, कुए, तालाब आदि सब प्रकार का सचित्त पानी आदि हैं। फिर उनके भी सूक्ष्म आदि भेद हैं। **तेजस्काय** में अग्नि, अंगारा, ज्वाला, भोभर, चिनगारी आदि सबका समावेश हो जाता है। उसके भी सूक्ष्म आदि भेद हैं। **वायुकाय** में उत्कलियावात, मंडलियावात, घनवात, तनुवात, शुद्धवात आदि का समावेश हो जाता है। वायुकाय के भी सूक्ष्म आदि भेद हैं। इसके पश्चात् वनस्पति के कुछ प्रकारों का शास्त्रकार नामोल्लेख करते हैं -- **"तणरुक्खसबीयगा।"** अर्थात् - वनस्पतिकाय के अन्तर्गत तृण, वृक्ष, बीज आदि हैं। इसके सिवाय वनस्पतिकाय के फल, फूल, डाली, स्कन्ध, पत्ते, दूब, अंकुर, काई आदि अनेकों प्रकार हैं। इसके भी सूक्ष्म आदि भेद पूर्ववत् समझ लेने चाहिए। कुश, कास, हरी घास, दूब आदि तृण कहलाते हैं। अशोक, आम, नीम, जामुन आदि वृक्ष कहलाते हैं। धान्य (शालि), गेहूँ, जौ, मक्का, चना आदि बीज हैं। ये पाँचों ही जीवनिकाय एकेन्द्रिय हैं और स्थावर कहलाते हैं। छठे त्रसकाय का निरूपण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं -- **अण्डज** -- अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, गृहकोकिल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिलहरी, साँप आदि), **पोतज** (बच्चे के रूप में पैदा होने वाले हाथी, शरभ आदि), **रसज** (दही, सौवीर आदि में रसचलित होने पर उत्पन्न होने वाले जीव), **संस्वेदज** (पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, खटमल आदि), **उद्भिज्ज** (टिड्डी, मेंढक, खंजरीट आदि प्राणी) तथा **जरायुज** (चमड़ी की झिल्ली से आवेष्टित होकर पैदा होने वाले मनुष्य, गाय आदि) हैं। ये सभी द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रसकायिक प्राणी हैं।

हेयोपादेयविवेकी विद्वान् साधु सर्वप्रथम ज्ञपरिज्ञा से इन षट्काय के जीवों को भलीभाँति जान ले। साथ ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन-वचन-काया से जीवों का घात करने वाले आरम्भ का तथा इनके परिग्रह का—इन्हें ममत्वपूर्वक रखने का—त्याग करे।

मूल पाठ

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया ।
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥
पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥
धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं ।
वमणंजणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥
गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१३॥
उद्देसियं कीयगडं च, पामिच्चं चेव आहडं ।
पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१४॥
आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥
संपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य ।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१६॥
अट्ठावयं न सिक्खेज्जा, वेहाईयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणहाओ य छत्तं च, पालीयं वालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१८॥
उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णायमेज्जा कयाइ वि ॥१९॥
परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं परिजाणिया ॥२०॥
आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२१॥
जसं किर्त्ति सिलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२२॥
जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥२३॥

संस्कृत छाया

मृषावादं बहिद्धं (मैथुनं) च, अवग्रहं चायाचितम् ।
शस्त्रादानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१०॥
पलिकुञ्चनं च भजनं च, स्थण्डिलोच्छ्रयणानि च ।
धूनयाऽऽदानानि लोके, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥११॥
धावन रञ्जनं चैव, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
वमनाञ्जनं परिमन्थं, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१२॥
गन्ध-माल्य-स्नानानि, दन्तप्रक्षालनं तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्माणि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१३॥
औद्देशिकं क्रीतकृतं च, प्रामित्यं चैवाहृतम् ।
पूतमनेषणीयञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१४॥
आशूनमक्षिरागं च, गृद्ध्युपघातकर्मकम् ।
उच्छोलनं च कल्कं च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१५॥
सम्प्रसारी कृतक्रियः प्रश्नायतनानि च ।
सागारिकं च पिण्डञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१६॥
अष्टापदं न शिक्षेत, वेधातीतञ्च नो वदेत् ।
हस्तकर्म विवादञ्च, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपानहौ च छत्रञ्च, नालिकं बालव्यजनम् ।
परिक्रियाञ्चाऽन्योऽन्यं, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥१८॥
उच्चारं प्रस्रवणं हरितेषु न कुर्यान्मुनिः ।
विकटेन वाऽपि संहृत्य, नाचमेत कदाचिदपि ॥१९॥
पराऽमत्रेऽन्नपानं, न भुंजीत कदाचिदपि ।
परवस्त्रमचेलोऽपि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२०॥
आसन्दीं पर्य्यंकञ्च, निषद्यां च गृहान्तरे ।
संप्रश्नं स्मरणं वाऽपि, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२१॥
यशः कीर्तिः श्लोकञ्च, या च वन्दन-पूजना ।
सर्वलोके ये कामास्तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२२॥
येनेह निर्वहेद् भिक्षुरन्नपानं यथाविधम् ।
अनुप्रदानमन्येषां, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**मुसावायं**) असत्यभाषण, (**बहिद्धं च**) मैथुन-सेवन करना, (**उग्गहं**) उद्ग्रह—परिग्रह रखना, (**अजाइया**) तथा अदत्तादान लेना (**लोगंसि सत्थादाणाइं**) ये सब लोक में शस्त्र के समान और कर्मबन्धन के कारण हैं। (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् साधक इन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे ॥१०॥

(**पलिउंचणं च**) माया, (**भयणं च**) और भजन—लोभ (**थंडिल्लुस्सयणाणि य**) स्थण्डिल—क्रोध तथा उच्छ्रयण मान का (**धूणे**) त्याग करो, (**लोगंसि आदाणाइं**) क्योंकि ये सब लोक में कर्म-बन्धन के कारण हैं। (**विज्जं तं परिजाणिया**) इसलिए विद्वान् मुनि इन्हें जानकर इनका त्याग करे ॥११॥

(**धोयणं**) हाथ-पैर तथा वस्त्र आदि धोना, (**रयणं**) तथा उन्हें रँगना, (**वत्थीकम्म विरेयणं**) बस्तिकर्म करना—एनिमा वगैरह लेना, विरेचन (जुलाब) लेना, (**वमणंजणं**) दवा लेकर वमन (उलटी—कै) करना, आँखों में अंजन (काजल आदि) लगाना, (**पलीमंथं तं**) इत्यादि संयम के नष्ट करने वाले कार्यों (पलिमंथों) को (**विज्जं परिजाणिया**) विद्वान् साधक जानकर इनका त्याग करे ॥१२॥

(**गंधमल्लसिणाणं च**) शरीर में सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्पमाला या अन्य कोई माला धारण करना, स्नान करना, (**तहादंतपक्खालणं**) तथा दाँतों को धोना—साफ करना, (**परिग्गहित्थिकम्मं च**) परिग्रह (सोने-चाँदी के सिक्के, नोट या सोने-चाँदी, हीरे आदि या उनके आभूषण) रखना, तथा स्त्रीसंभोग करना (**तं विज्जं परिजाणिया**) विद्वान् मुनि इन्हें पाप का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१३॥

(**उद्देसियं**) साधु को देने के उद्देश्य से जो आहारादि तैयार किया गया है, वह औद्देशिक, (**कीयगडं**) साधु के लिए जो खरीदा गया है तथा बनाया गया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**पामिच्चं**) एवं साधु को देने के लिए जो दूसरे से उधार लिया गया है, (**आहडं चेव**) और साधु को देने के लिए जो गृहस्थ द्वारा लाया हुआ है, (**पूयं**) जो आधाकर्मी दोषयुक्त आहार से मिला हुआ है, (**अण्णेसणिज्जं च**) तथा जो आहारादि दोषयुक्त है, अशुद्ध है, (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् मुनि इन सबको संयमविघातक एवं संसारपरिभ्रमण के कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१४॥

(**आसूणिमक्खिरागं च**) भस्म, रसायन आदि खाकर शरीर को बलिष्ठ व मोटा बनाना, शोभा के लिए आँखों में अंजन लगाना, (**गिद्धुवघायकम्मगं**) शब्दादि विषयों में गृद्धि—आसक्ति रखना, तथा जिस कर्म से जीवों का घात होता है, उसे करना, (**उच्छोलणं च कक्कं च**) अयतना (असावधानी) से हाथ-पैर आदि शीतल अप्रासुक जल से धोना, शरीर में पीठी (उबटन) लगाना (**विज्जं तं परिजाणिया**) इन सबको विद्वान् मुनि कर्मबन्धन एवं संसारपरिभ्रमण के कारण जानकर इनका परित्याग करे ॥१५॥

(**संपसारी**) असंयतों के साथ सांसारिक बातें करना, (**कयकिरिए**) असंयम के अनुष्ठान की प्रशंसा करना, (**पसिणायतणाणि य**) ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देना, (**सागारियं च पिंडं च**) तथा शय्यातर (जिसकी आज्ञा से मकान में साधु ठहरा है) का पिण्ड (आहार) ग्रहण करना, (**विज्जं तं परिजाणिया**) इन बातों को विद्वान् साधु संसारभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥१६॥

(**अट्ठावयं न सिक्खिज्जा**) साधु जुआ खेलना न सीखे, (**वेहाईयं णो वए**) सद्धर्म के विरुद्ध बात न कहे, (**हत्थकम्मं विवायं च**) तथा वह हस्तकर्म न करे या हाथापाई (झगड़ा बढ़ाकर) न करे, तथा व्यर्थ का विवाद न करे, (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् मुनि इन्हें संसारवृद्धि के कारण समझकर इनका परित्याग करे ॥१७॥

(**पाणहाओ य छत्तं च**) जूते पहनना और छाता लगाना, (**णालीयं वालवीयणं**) जुआ खेलना और पंखे से हवा करना (**अन्नमन्नं च परकिरियं**) एक के द्वारा करने योग्य क्रिया दूसरे द्वारा करना और दूसरे द्वारा करणीय क्रिया पहले द्वारा करना – इस प्रकार अन्योन्यपरक्रिया करना, (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् साधु इन सबको कर्मबन्धन के कारण जानकर इनका परित्याग करे ॥१८॥

(**सुणी उच्चारं पासवणं हरिएसु ण करे**) साधु हरी वनस्पति (हरियाली) वाले स्थान में मल-मूत्र त्याग न करे, (**साहट्टु**) तथा बीज आदि को हटाकर (**वियडेण वावि**) अचित्तजल से भी (**कयाइ वि**) कदापि (**आयमेज्जा अथवा णावमज्जे**) आचमन न करे, या वस्तु शुद्धि या शरीर शुद्धि न करे ॥१९॥

(**परमत्ते अन्नपाणं कयाइ वि ण भुंजेज्ज**) दूसरे के यानी गृहस्थ के बर्तन में साधु कदापि अन्न या जल का सेवन न करे। (**अचेलोऽवि परवत्थं**) साधु वस्त्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहित या जीर्णवस्त्रवाला होने पर भी पर-गृहस्थ का वस्त्र धारण न करे। (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् साधु इन अनाचरणीय बातों को संसारभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥२०॥

(**आसंदी पलियंके य**) छोटी खाट या मांचे पर या पलंग पर साधु न बैठे, न सोए, तथा (**गिहंतरे णिसिज्जं च**) गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच में जो छोटी गली होती है, वहाँ न बैठे। (**संपुच्छणं**) वह गृहस्थ से कुशलक्षेम न पूछे। (**सरणं**) तथा अपनी पूर्व कामक्रीड़ा का स्मरण न करे। (**विज्जं तं परिजाणिया**) विद्वान् मुनि इन्हें अनर्थकारक समझकर इनका परित्याग करे ॥२१॥

(**जसं किर्त्ति सिलोयं च**) साधु यश, कीर्ति और श्लोक—गुणकीर्तन, (**जा य वंदण-पूयणा**) तथा जो वन्दना या पूजा-प्रतिष्ठा है, (**सव्वलोगंसि जे कामा**) तथा समस्त लोक में जो कामभोग है, (**तं विज्जं परिजाणिया**) उन्हें विद्वान् मुनि संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे ॥२२॥

(**इह**) इस जगत् में (**जेण**) जिस अन्न और जल से (**भिक्खू**) संयमी साधु या साधु का संयम (**णिव्वहे**) खराब हो जाए, (**तहाविहं अन्नपाणं**) वैसा अशुद्ध आहार-पानी (**अन्नेसिं अणुप्पयाणं**) दूसरे साधुओं को देना, (**तं विज्जं परिजाणिया**) संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् मुनि उसका त्याग करे ॥२३॥

भावार्थ

झूठ बोलना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह रखना और अदत्तादान लेना, ये सब लोक में शस्त्र के समान है, तथा कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे ॥१०॥

साधु माया, लोभ, क्रोध और मान का त्याग करे, क्योंकि ये सब लोक में कर्मबन्धन के कारण हैं। इसलिए विद्वान् साधु इन्हें जानकर छोड़ दे ॥११॥

हाथ-पैर या वस्त्र धोना, इन्हें रंगना एवं बस्तिकर्म, विरेचन, वमन करना और आँखों में अंजन लगाना, ये सब संयम को नष्ट करने वाले (पलिमन्थ) हैं, यह जानकर विद्वान् साधु इनका त्याग करे ॥१२॥

सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्प आदि की माला धारण करना, स्नान करना, दन्त-प्रक्षालन करना, कीमती वस्तुओं या सिक्कों आदि का परिग्रह रखना, स्त्रीसेवन करना तथा हस्तकर्म करना, इन सबको पापकर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ॥१३॥

साधु को दान देने के लिए जो आहार आदि तैयार किया गया है, जो मोल लाया गया है, दूसरे से उधार लिया गया है, साधु को देने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो आहार आदि गृहस्थ द्वारा लाया गया है, जो आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार से मिश्रित है, इस प्रकार जो आहार आदि किसी भी तरह से सदोष है, उसे संसार का कारण जानकर विचक्षण साधु उसका त्याग करे ॥१४॥

रसायन, भस्म आदि का सेवन शरीर को बलिष्ठ एवं मोटा बनाने के लिए करना, शोभा के लिए आँखों में अंजन लगाना तथा शब्दादि विषयों में आसक्त होना एवं जिससे जीवों का घात हो, वैसा कर्म करना तथा ठंडे जल से अयत्नापूर्वक हाथ-पैर आदि धोना तथा शरीर में पीठी (उबटन) लगाना, इन बातों को संसार का कारण जानकर विवेकी साधु इनका त्याग करे ॥१५॥

असंयतों के साथ सांसारिक बातें करना, असंयम के अनुष्ठान की प्रशंसा करना एवं ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर देना तथा शय्यातर का पिण्ड लेना, इन बातों को संसारभ्रमण का कारण जानकर विवेकी साधु इनका परित्याग करे ॥१६॥

साधु जुआ खेलना न सीखे तथा अधर्मप्रधान वाक्य न बोले तथा हाथापाई से, इस प्रकार का कलह और विवाद न करे। विद्वान् साधु इन बातों को संसारभ्रमण का कारण जानकर त्याग करे ॥१७॥

जूते पहनना, छाता लगाना, शतरंज खेलना, पंखे से हवा करना, जिससे कर्मबन्ध हो, ऐसी पारस्परिक क्रिया आदि को कर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ॥१८॥

साधु हरी वनस्पति वाली जगह पर मल-मूत्र त्याग न करे एवं बीज आदि हटाकर अचित्त जल से आचमन या वस्त्रादि की शुद्धि न करे ॥१९॥

साधु गृहस्थ के बर्तन में भोजन न करे, पानी न पीए एवं वस्त्ररहित या वस्त्र जीर्ण होने पर भी साधु गृहस्थ का वस्त्र न पहने, क्योंकि ये सब संसारभ्रमण के कारण हैं, इसलिए विद्वान् मुनि इनका त्याग करे ॥२०॥

साधु खटिया पर न बैठे और न पलंग पर सोए तथा गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच में जो छोटी गली होती है उसमें न बैठे एवं गृहस्थ का कुशल न पूछे तथा अपनी पूर्वक्रीड़ा का स्मरण न करे। इन सभी बातों को संसारपरिभ्रमण का कारण समझकर साधु इनका परित्याग करे ॥२१॥

यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन, पूजा, प्रतिष्ठा तथा समस्त लोक के विषय-भोगों को संसारपरिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् साधु उनको तिलांजलि दे दे ॥२२॥

इस जगत् में जिस आहार-पानी के सेवन से साधु का संयम खराब हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, वैसा अशुद्ध आहार-पानी साधु दूसरे साधुओं को न दे, क्योंकि वह संसारपरिभ्रमण का कारण है, अतः विद्वान् मुनि इसका त्याग करे ॥२३॥

व्याख्या

विद्वान् साधु इन अनाचरणीय बातों का त्याग करे

१०वीं गाथा से लेकर २३वीं गाथा तक साधु के आचार-धर्म की बातों के सन्दर्भ में अनाचरणीय बातों की सूची दे दी है। और प्रत्येक गाथा के अन्त में यह निर्देश कर दिया है कि विद्वान् साधु इन्हें कर्मबन्ध का, अनर्थ या संसारपरिभ्रमण का कारण ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोड़े। ८वीं और ९वीं गाथा में अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ में हिंसा के परित्याग के विषय में कहा गया था, अब १०वीं गाथा में मृषावाद, मैथुन, अदत्तादान और परिग्रह के त्याग को अनिवार्य धर्म बताया गया है, क्योंकि ये सब लोक में शस्त्र के समान हैं, तथा कर्मबन्ध के कारण हैं। **मुसावायं** का अर्थ झूठ बोलना है, **बहिद्धं** का अर्थ है मैथुन सेवन, **उग्गहं** का अर्थ है - परिग्रह, तथा **अजाइया** का अर्थ है—अदत्तादान। प्राणियों को पीड़ाकारक होने के कारण इन्हें शस्त्र कहा गया है। इनसे आठ प्रकार के कर्मों का ग्रहण करने के कारण इन्हें आदान भी कहा गया है। इसके पश्चात् शास्त्रकार ने पूर्ववत् चार कषायों का त्याग करने को साधु धर्म बताया गया है। **'पलिउचण'** माया के लिए, **भयणं** लोभ के लिए, **थंडिल्लं** क्रोध के लिए और **उस्सयणं** मान के लिए प्रयुक्त किया गया है। ये चारों कषाय भी पूर्ववत् कर्मबन्धन के कारण होने के कारण त्याज्य हैं। मूलगुणों के सम्बन्ध में त्याज्य बातों का निर्देश करके अब शास्त्रकार १२वीं गाथा से उत्तरगुणों से सम्बन्धित दशवैकालिक आदि सूत्रों में वर्णित अनाचरणीय बातों के त्याग का निर्देश करते हैं—

धोयणं—हाथ-पैर आदि एवं वस्त्र को शोभा के लिए धोना अनाचीर्ण है। वस्तिकर्म तथा विरेचन-एनिमा आदि तथा जुलाब लेना, दवा लेकर वमन करना, आँखों में शोभा के लिए कज्जल लगाना, तथा अन्य शरीर संस्कार जो संयम गुणों के विघातक हैं, साधु के लिए अनाचरणीय हैं। क्योंकि इनका साधुधर्मपालन से कोई वास्ता नहीं है, ये केवल शरीर मोहवश होते हैं।

शरीर-शृंगार एवं प्रसाधन से सम्बन्धित तथा अन्य बातें भी संयम की दृष्टि से वर्जनीय हैं, उनका १३वीं गाथा में निर्देश करते हैं—शरीर पर सुगन्धित पदार्थ लगाना, माला धारण करना, स्नान करना, शोभा के लिए दाँत चमकाना, बहुमूल्य वस्तुओं का ममत्वपूर्वक संग्रह रखना, एवं देव, मनुष्य और तिर्यंचजाति की स्त्री का सेवन या हस्तमैथुन आदि कर्म करना, ये पापकर्मबन्ध के कारण हैं। इनसे साधु का नैतिक जीवन समाप्त हो जाता है। अतः ये सब त्याज्य हैं।

इससे अगली गाथा में अनेषणीय एवं दोषयुक्त आहार के ग्रहण एवं सेवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने का निषेध किया गया है। आहार के ४२ दोष हैं, उनमें १६ उद्गम के, १६ उत्पादना के एवं १० एषणा के दोष हैं, उन्हें भलीभाँति जानकर सुविहित साधु उन्हें त्याज्य समझे। इसके पश्चात् १५वीं गाथा में भी शरीरमोहवश कतिपय अनाचरणीय बातों को छोड़ने का निर्देश है – जैसे शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए रसायन-सेवन करना, नेत्र में शोभा के लिए अंजन लगाना, शब्दादि पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होना, जीवघातजनक कर्म करना, अयत्नापूर्वक ठण्डे जल से हाथ-पैर आदि धोना, शरीर में उबटन लगाना आदि। ये सब इसलिए त्याज्य हैं कि इनसे संयमवृद्धि में कोई सहारा नहीं लगता बल्कि ये सब संयम के घातक हैं।

कई बातें ऐसी हैं, जो साधुत्व की साधना में विघ्नकारक हैं, मोहकर्म की वृद्धि करने वाली हैं। जैसे असंयतों के साथ विवाह, सगाई, कामभोग आदि वासनावर्द्धक व्यर्थ का समय नष्ट करने वाली गप्पें मारना, असंयम के कार्यों की तारीफ करना, गृहस्थों के मतलब की ज्योतिष, हस्तरेखा आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देना, शय्यातर-पिण्ड या निन्दनीय, दुराचारी या अनाचारी के यहाँ से आहार ग्रहण करना। ये सब बातें भी साधु के लिए त्याज्य हैं।

इसके अतिरिक्त जुआ खेलना सीखना, धर्मविरुद्ध बातों की प्रेरणा देना, हाथापाई पर उतारू हो जाना, विवाद एवं कलह करना, ये सब निन्द्यकर्म साधु के लिए अनाचरणीय हैं।

जूते पहनना, छाता लगाना, शतरंज खेलना, पंखे से हवा करना, एक-दूसरे के करने योग्य क्रिया एक-दूसरा करे, हरियाली भूमि पर मल-मूत्र त्याग करना, अचित्त जल से भी बीजादि हटाकर उस जगह आचमन करना या वस्त्र-शरीर आदि की शुद्धि करना, ये सब बातें साधु के लिए अनाचरणीय हैं।

साधु के लिए गृहस्थ का पात्र परपात्र है। उसमें साधु न तो आहार करे और न ही पेय पदार्थ पीए। क्योंकि गृहस्थ के पात्र को पहले या पीछे सचित्त जल से धोये जाने की तथा कदाचित् चुराये जाने या गिरकर टूट जाने की आशंका रहती है। अथवा स्थविरकल्पी साधु के लिए हाथ की अंजलि में खाना-पीना, परपात्र में खाना-पीना निषिद्ध है क्योंकि स्थविरकल्पी साधुओं की अंजलि छिद्रयुक्त होती है, उसमें से आहार-पानी आदि नीचे गिर जाने और अयत्ना होने की आशंका रहती है। इसलिए स्थविरकल्पी साधु अंजलिरूप परपात्र में न खाए-पीए, जबकि जिनकल्पी साधु की अंजलि छिद्ररहित होती है, उनके लिए अंजलि ही स्वपात्र है, अन्य सभी (स्थविरकल्पियों या गृहस्थों के) पात्र उनके लिए परपात्र हैं। उनमें वे न खाएँ-पीएँ, क्योंकि उनमें खाने-पीने से उनके संयम में विराधना होने का खतरा है। इसी प्रकार स्थविरकल्पी साधु वस्त्रधारी होते हैं, कदाचित् उनका वस्त्र कोई चुरा ले जाए, फाड़ दे, छीन ले या अत्यन्त जीर्ण हो जाए तो भी वह परवस्त्र यानी गृहस्थ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्र न ले, क्योंकि पहले या पीछे उसे कच्चे पानी से धोये जाने या चुराये जाने अथवा फट जाने की आशंका है। जिनकल्पी मुनि वस्त्ररहित होते ही हैं, उनके लिए सभी वस्त्र परवस्त्र हैं, इसलिए उन्हें कोई भक्तिवश या जबरन वस्त्र पहनाना चाहे तो वे कदापि न पहनें। निष्कर्ष यह है कि विवेकी साधु परपात्र और परवस्त्र का उपयोग संयमविराधक समझकर कदापि न करे।

इसी प्रकार आसन्दी एक प्रकार का आसन विशेष है जिसे आजकल आराम-कुर्सी या स्प्रिंगदार लचीली कुर्सी कहते हैं। कई जगह उस पर गद्दा लगा होता है, अथवा उसे छोटा मांचा या खटिया भी कहते हैं। गृहस्थों के सोने का पलंग भी आरामदेह होता है। इन दोनों पर सोना-बैठना इसलिए वर्जित किया गया है कि ब्रह्मचारी साधु को कड़े आसन या शय्या पर सोना-बैठना चाहिए, जो आसन या शय्या के साधन लचीले हों, जिन पर बैठने से साधु को कामोत्तेजना पैदा होती हो, वे तथा जिनके छिद्रों में रहे हुए जीवों की विराधना होने की आशंका हो, ऐसे आसन तथा शयन के साधन पर साधु को न तो बैठना या लेटना चाहिए, न सोना चाहिए। इसी प्रकार गृहस्थ के घर में उसकी गृहिणी, पुत्रवधू, पुत्रियाँ आदि रहती हैं, तथा दो घरों के बीच में जो गली होती है, उससे स्त्रियों, पुरुषों के आने-जाने का मार्ग रहता है, साधु को इन दोनों जगहों में बैठने से ब्रह्मचर्य में विराधना होने की आशंका है। फिर किसी गृहस्थ के घर के भीतर स्त्रियों के बीच में बैठना या गली में बैठना साधु के लिए शोभास्पद भी नहीं है। साधु के वहाँ बैठने से गृहस्थों को उस पर अब्रह्मचर्य की शंका भी हो सकती है। इसलिए ब्रह्मचर्यविराधक समझकर साधु इनका भी त्याग करे।

इसके बाद साधु के लिए त्याज्य अनाचरणीय बातें बताई गई हैं—**संपुच्छणं सरणं वा**। अर्थात् साधु अपनी मर्यादा में ही संयत भाषा में ही गृहस्थ से बोले, क्योंकि गृहस्थों से अतिपरिचय करेगा तो वह अपनी पुरानी आदत के अनुसार उनसे कुशल प्रश्न पूछ बैठेगा—यानी गृहस्थ के घर का समाचार पूछेगा—कौन, कहाँ, कैसे हैं? इत्यादि प्रश्न पूछने से साधु का समय बहुत-सा फालतू गप्पों में चला जाएगा। इसलिए साधु को इस प्रकार के गपशप में व्यर्थ समय न खोना चाहिए अथवा **संपुच्छणं** का अर्थ अपने अंगों को पोंछना भी होता है, यह भी गृहस्थ के यहाँ बैठकर करना अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार पूर्वक्रीड़ित कामभोगों का स्मरण करना अथवा अपने माता-पिता, भाई-बहन के लाड़-प्यार या वैर-विरोध का स्मरण करना भी साधु के लिए अहितकर है। वस्तुतत्त्व का ज्ञाता विद्वान मुनि इन बातों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

इसी प्रकार यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दना या पूजा भी साधु के लिए मदवर्धक, अहंकार वृद्धि करने वाली एवं कर्मबन्धन की कारण हैं। इसलिए साधु इनको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन से भी न चाहे और न लोगों को इनके लिए प्रेरणा दे, जहाँ तक हो सके **'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा'** (प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा है) समझकर पास भी न फटकने दे। किसी महायुद्ध में विजय प्राप्त करने से या किसी महान् या महत्त्वपूर्ण कठिन कार्य के करने से जगत् में वीर नाम से प्रसिद्धि होती है, उसे यश कहते हैं; बहुत दान देने से जो प्रसिद्धि होती है, उसे कीर्ति कहते हैं; तथा उत्तमकुल, जाति में जन्म लेने, तप करने, शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करने से जगत् में जो ख्याति होती है, उसे श्लोक कहते हैं; देवेन्द्र, नरेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव कोई शासक या धनपति नमस्कार करते हैं, उसे वन्दना कहते हैं; सत्कार के साथ वस्त्रादि दिया जाना पूजा है। इन सबको साधु त्याज्य समझे। साथ ही संसार के जितने भी कामभोग हैं, उन्हें भी रागद्वेषवर्द्धक समझकर विद्वान् साधु उन्हें तिलांजलि दे दे, ठुकरा दे।

जिस अन्नजल से साधु के संयम का निर्वाह न हो उलटे संयम बिगड़े, उसमें कामोत्तेजना बढ़े, नशा हो जाए, दिमाग घूमने लगे, बुद्धिभ्रष्ट हो जाए या क्रूरता बढ़े, ऐसा आहार-पानी साधु न तो स्वयं ग्रहण करे और न ही दूसरे साधुओं को या परतीर्थी साधु को भी दे। ऐसे अशुद्ध एवं विपाक्त दुष्पाच्य अन्नजल को संयम-विघातक समझकर साधु उसका त्याग करे।

इन और ऐसी ही अनाचरणीय बातों को हिताहितविवेकी साधु संयम-विघातक, कर्मबन्धकारक एवं संसारपरिभ्रमण के कारण समझकर छोड़ दे, यही साधु का आचारधर्म—चारित्रधर्म है।

मूल पाठ

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥२४॥

संस्कृत छाया

एवमुदाहृतवान् निर्ग्रन्थो, महावीरो महामुनिः ।
अनन्तज्ञानदर्शी स, धर्मं देशितवान् श्रुतम् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**निग्गंथे महामुणी**) निर्ग्रन्थ महामुनि (**अनंतनाणदंसी**) अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी (**महावीरे**) श्रमण भगवान् महावीर ने (**एवमुदाहु**) ऐसा कहा है। (**धम्मं सुतं देसितवं**) उन्होंने धर्म (चारित्र) और श्रुत का उपदेश दिया है।

भावार्थ

अनन्तज्ञान-दर्शनसम्पन्न बाह्य-आभ्यन्तरग्रन्थिरहित, महामुनि श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर ने ऐसा (पूर्वोक्त वचन) कहा है। उन्होंने इस चारित्रधर्म एवं श्रुतरूप धर्म का उपदेश दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

धर्म का यह उपदेश भगवान् महावीर का है

शास्त्रकार पूर्वोक्त गाथाओं में बताए हुए धर्म के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—मैं इस धर्म का मूलवक्ता नहीं हूँ। किन्तु भगवान् महावीर ने साधुधर्म के सन्दर्भ में इन अनाचरणीय बातों का उल्लेख किया है। उन्होंने ही संसार-सागर से पार करने में समर्थ श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म का उपदेश दिया है, यानी अनाचरणीय बातों के त्यागरूप चारित्रधर्म तथा जीवादि पदार्थों के बोधरूप श्रुतधर्म का उपदेश उन्होंने ही दिया है। क्योंकि वे स्वयं केवलज्ञानी, केवलदर्शनी होने से समस्त वस्तुतत्त्व के अनुभवी थे, और बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी ग्रन्थियों से मुक्त थे। वे ही गणधरों, स्थविरों, तथा समस्त श्रमणों-श्रमणियों के स्वयंसम्बुद्ध गुरु थे, इसलिए महामुनि थे। आचारशास्त्र के वे ही परमज्ञाता और अनुभवी थे। इसलिए उन आप्तपुरुष की कोई भी बात अमान्य नहीं हो सकती।

मूल पाठ

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥२५॥
तत्थिमा तइया भासा जं वदित्ताऽणुतप्पती ।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियंट्ठिया ॥२६॥
होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।
तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

संस्कृत छाया

भाषमाणो न भाषेत, नैवाभिलपेन् मर्मगम् ।
मातृस्थानं विवर्जयेद्, अनुचिन्त्य व्यागृणीयात् ॥२५॥
तत्रेयं तृतीया भाषा, यामुक्त्वाऽनुतप्यते ।
यच्छन्नं तन्न वक्तव्यं, एषा आज्ञा नैर्ग्रन्थिकी ॥२६॥
होलावादं सखीवादं गोत्रवादञ्च नो वदेत् ।
त्वं त्वमित्यमनोज्ञं सर्वशस्तन्न वर्तते ॥२७॥

अन्वयार्थ

(**भासमाणो न भासेज्जा**) भाषासमिति से युक्त साधु भाषण करता हुआ भी भाषण नहीं करता है। (**मम्मयं णेव वंफेज्ज**) साधु किसी के हृदय को मर्मस्पर्शी चोट पहुँचाने वाली बात न कहे, (**मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा**) साधु मातृस्थान—कपट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पूर्ण भाषा भी न बोले, (**अणुचिंतिय वियागरे**) किन्तु पहले उस सम्बन्ध में चिन्तन-विचार करके फिर बोले ॥२५॥

(**तत्थिमा तइया भासा**) उन चार प्रकार की भाषाओं में जो तीसरी भाषा (सत्यामृषा) है, उसे साधु न बोले तथा (**जं वदित्ताऽणुतप्पती**) जिसे बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पड़े, वह वचन भी साधु न बोले। (**जं छन्नं तं न वत्तव्वं**) जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, उसे भी साधु न कहे (**एसा आणा नियंट्ठिया**) यही निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा है ॥२६॥

(**होलावायं**) निष्ठुर तथा नीच सम्बोधन से किसी को पुकार कर (**सहीवायं**) हे सखे या हे सखी ! इस प्रकार से किसी को सम्बोधित करके, (**गोयावायं च**) हे काश्यपगोत्रिन् हे वशिष्ठगोत्री ! इत्यादि रूप से गोत्र के नाम से सम्बोधित करके (**नो वदे**) साधु (इस प्रकार से) न बोले। (**तुमं तुमंति**) तथा अपने से बड़े या समान उम्र वाले से 'तू' 'रे' आदि तुच्छ शब्दों से बोलना तथा (**अमणुन्नं**) अप्रिय लगने वाले वचनों से कहना, (**सव्वसो तं ण वत्तए**) इत्यादि सब बातें या व्यवहार साधु न करे ॥२७॥

भावार्थ

जो साधु भाषासमिति से युक्त है, वह धर्मोपदेश या भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले (मौनी) के समान है। साधु ऐसा मर्मस्पर्शी वाक्य न बोले, जिससे किसी को दुःख हो, तथा वह कपटयुक्त भाषा का त्याग करे, जो कुछ भी बोले, पहले उस सम्बन्ध में सोच-विचारकर फिर बोले ॥२५॥

भाषाएँ चार प्रकार की हैं, उनमें सत्य में झूठ मिली हुई भाषा तीसरी है, उसे साधु न बोले। तथा जिस वचन के कहने से साधु को बाद में पश्चात्ताप करना पड़े, ऐसा वचन भी साधु न कहे। एवं जिस बात को सब लोग छिपाते हैं, उसे भी साधु न कहे। यही निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर की आज्ञा है ॥२६॥

साधु निष्ठुर तथा नीच सम्बोधनों से किसी को न पुकारे, तथा किसी को हे सखे ! या हे सखी ! इत्यादि कहकर सम्बोधित न करे एवं ऐ वशिष्ठ गोत्रीय ! अरे काश्यप गोत्र वाले ! इत्यादि गोत्र का नाम लेकर न बुलाए, तथा अपने से बड़े या समवयस्क को 'रे', 'तू' इत्यादि तुच्छ शब्दों से सम्बोधित न करे एवं जो वचन दूसरों को अप्रिय (बुरा) लगे, उसे साधु सर्वथा न बोले अथवा बुरा व्यवहार सर्वथा न करे ॥२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

साधु कैसी भाषा बोले, कैसी नहीं ?

साधु के पास वाणी एक अमोघ साधन है, दूसरों को यथार्थ मार्गदर्शन एवं उपदेश देने के लिए, सच्ची सलाह देने के लिए तथा धर्मपथ पर चढ़ाने के लिए; किन्तु अगर साधु उसका दुरुपयोग करता है, उस वाणी से सावद्य वचन, निष्ठुर एवं तुच्छ एवं अपशब्द बोलता है, दूसरों की खुशामद करने वाली या दीनता प्रगट करने वाली वाणी बोलता है, या सत्य के साथ झूठ मिलाकर बोलता है, तो वह अपने धर्म से च्युत होता है, पापकर्म का बन्धन करता है, जिसके कटु फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसी बात को २५, २६ और २७वीं गाथा में शास्त्रकार स्पष्ट करते हैं।

वास्तव में जो साधु भाषासमिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह चाहे धर्मोपदेश दे रहा हो, धर्मपथ पर चलने की किसी को प्रेरणा दे रहा हो, धर्म में स्थिर करने के लिए मार्गदर्शन दे रहा हो, वह भाषण न करने वाले (मौनी) के सरीखा ही है। जैसे कि कहा है—

वयणविहत्तीकुसलोवओगयं बहुविहं नियाणंतो।
दिवसंपि भासमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो॥

जो साधु वचन-विभाग को जानने में निपुण है, जो वाणी के बहुत-से प्रकारों को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचन गुप्ति से युक्त ही है। अथवा **'भासमाणो न भासेज्जा'** का अर्थ यह भी होता है कि दीक्षा में बड़ा (रत्नाधिक) साधु किसी से बोल रहा हो, उस समय अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिए बीच में न बोले, क्योंकि इससे बड़ों की आशातना होती है और अपना अभिमान प्रकट होता है। तथा तथ्य या अतथ्य जो वचन दूसरों के दिल को चोट पहुँचाने वाला, मर्मान्तिक हो, उसे साधु न बोले अथवा **मामकं** 'यह मेरा है', ऐसा सोचकर किसी के प्रति पक्षपात से युक्त वचन न बोले।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा—इसका अर्थ तो यह होता है कि माया (कपट) प्रधान वचन न बोले, दूसरा अर्थ यह भी होता है—दूसरों को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचारी न बने, दम्भी न हो, वह बोलने में या व्यवहार में कपट न करे। इसके अतिरिक्त साधु को चाहिए कि बोलने से पहले उस सम्बन्ध में सोच ले कि 'यह वचन अपने या दूसरे या दोनों के लिए दुःखदायक तो नहीं है ?' उसके पश्चात् ही योग्य वचन बोले। कहा भी है—**'पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे'** (अर्थात्—पहले बुद्धि से सोचकर फिर वाक्य बोले)।

शास्त्र में चार प्रकार की भाषा बताई है—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और असत्यामृषा। इन चारों में से तीसरी भाषा—सत्यामृषा है। यह भाषा कुछ झूठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कुछ सच्ची होती है। जैसे किसी ने अनुमान से ही कह दिया—इस गाँव में बीस लड़के उत्पन्न हुए हैं या मरे हैं। यहाँ बीस से कम या ज्यादा बालकों का जन्म या मरण भी सम्भव है, इसलिए संख्या में फर्क होने से यह वचन सत्य और मिथ्या दोनों से मिश्रित है। ऐसा वचन साधु को नहीं बोलना चाहिए। तथा जिस वचन को कहने से जीव अगले जन्म में दुःख का भाजन होता है, तथा उसे बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है कि "हाय! मैंने ऐसी बात क्यों कह दी?", ऐसा वचन भी साधु न बोले। जिस बात को लोग यत्नपूर्वक छिपाते हैं जैसे मकार-चकारादिपूर्वक गाली देना, गुप्तांगों का नाम लेकर बोलना, या किसी की गुप्त बात प्रकट करना, आदि सत्य होते हुए भी बोलना साधु के लिए निषिद्ध है, ऐसी निर्ग्रन्थ भगवान की आज्ञा है।

पूर्वोक्त चारों प्रकार की भाषाओं में असत्या, सत्यामृषा एवं असत्यामृषा ये तीन तो साधु के लिए वर्जनीय हैं ही, लेकिन पहली भाषा सर्वथा सत्य होते हुए भी जहाँ वह प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करती हो, मोह पैदा करती हो, या दूसरों के लिए अप्रिय हो, या अपने लिए दीनतासूचक या चाटुकारीयुक्त हो ऐसी भाषा साधु के लिए सर्वथा वर्जनीय है। इसी बात को शास्त्रकार २७वीं गाथा में बताते हैं -- **'होलावायं··· तं ण वत्तए।'** यदि साधु किसी को निष्ठुर या तुच्छ (नीच) शब्दों से सम्बोधन करता है—जैसे हे गोले! अरे बदमाश! अय दुष्ट! अरे पापी! अरे चोर! यह होलावाद है, ऐसा वचन सत्य होते हुए साधु न बोले। इसी प्रकार अरे मित्र! हे सखी! इत्यादि वचन सखीवाद है, यह सत्य होते हुए भी मोहोत्पादक होने से साधु के लिए वर्जनीय है। तथा किसी की चापलूसी करने के लिए उसके गोत्र का नाम लेकर सम्बोधन करना (गोत्रवाद) भी दीनता या चाटुकारिता का सूचक है। जैसे—"अजी काश्यपगोत्रीजी! आप तो बहुत ऊँचे खानदान के हैं।' इत्यादि वचन भी साधु न बोले। किसी का अपमान करने हेतु 'रे' 'तू' इत्यादि तुच्छ शब्दों से बोला जाने वाला वचन भी साधु के लिए त्याज्य है। जो वाक्य सुनने में बुरा (अमनोज्ञ) लगता है, उसे भी साधु न बोले, क्योंकि ऐसा अमनोज्ञ शब्द दूसरों के दिल में चुभ जाता है और उससे भयंकर वैर बँध जाता है, कलह खड़ा हो जाता है, भयंकर कर्मबन्धन होते हैं। इसी प्रकार सत्य होते हुए भी जो वचन हिंसाजनक है, उसे साधु न बोले, जैसे—इसका सिर काट डालो, इसे जूतों पीटो, यह चोर है, इसे कैद में डाल दो, फाँसी पर चढ़ा दो, ये पेड़ काट डालो, यहाँ आग लगाकर जंगल को साफ कर दो। आदि।

निष्कर्ष यह है कि साधु को फूंक-फूंककर वाणी का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा, वह अपने साधुधर्म से च्युत हो जाएगा। साधु के लिए मधुर, सत्य, हितकर, प्रिय एवं परिमित वाणी ही उपयुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

संस्कृत छाया

अकुशीलः सदा भिक्षुर्नैव संसर्गितां भजेत् ।
सुखरूपास्तत्रोपसर्गाः प्रतिबुध्येत तद् विद्वान् ॥२८॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू सया अकुसीले**) साधु स्वयं कुशील न बने, किन्तु सदा अकुशील बन कर रहे। (**णेव संसग्गियं भए**) तथा कुशीलजनों या दुराचारियों का संग या संसर्ग भी न करे, क्योंकि (**सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा**) कुशीलों की संगति में भी सुखरूप (अनुकूल) उपसर्ग रहता है, (**विऊ ते बुज्झेज्ज**) अतः विद्वान् साधक उसे समझे।

भावार्थ

साधु स्वयं कुशील न बने और न ही कुशीलों के साथ संसर्ग रखे क्योंकि कुशीलों की संगति में भी सुखरूप (सातागौरव-रूप) उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। मेधावी साधक इसे भलीभाँति समझे।

व्याख्या

दृढ़धर्मी साधु के लिए कुशील संसर्ग निषिद्ध है

इस गाथा में संयमधर्म में दृढ़ साधु के लिए कुशीलसंसर्ग संयम-विघातक होने से त्याज्य बताया गया है। जिसका शील अर्थात् आचार कुत्सित (खराब) हो, वह कुशील कहलाता है। निर्युक्तिकार के मन्तव्यानुसार पार्श्वस्थ (पासत्थ), अवसन्न, अपच्छन्द, ये सब शिथिलाचारी या कुत्सित-आचारी कुशील में परिगणित हैं। ऐसा कुशील न तो भिक्षाशील साधु स्वयं बने और न ही कुशीलों के साथ संगति करे।

प्रश्न होता है कि कुशीलों के साथ संसर्ग रखने से दृढ़धर्मी साधु को क्या हानि है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—'**सुहरूवा तत्थुवसग्गा।**' अर्थात् कुशीलों की संगति से संयम को नष्ट करने वाले, सुखभोगेच्छारूप उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। ऐसे उपसर्ग पहले तो बहुत सुहावने और सुखद लगते हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे संयम की जड़ों को खोखला कर देते हैं, मीठे जहर की तरह वे उपसर्ग साधु को पराश्रित, इन्द्रियों का गुलाम और असंयमनिष्ठ बना डालते हैं। इसलिए शास्त्रकार ने कहा है—'**पडिबुज्झेज्ज ते विऊ**' अर्थात्—विद्वान् साधु इनसे सावधान रहे, इन्हें अच्छी तरह समझ ले। क्योंकि कुशील पुरुषों की संगति करने से वे कहते हैं—"अजी ! शरीर को मजबूत बनाओ। इसे बहुत ही साफ-सुथरा रखो। आकर्षक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाओ। शरीर मजबूत नहीं होगा तो धर्मपालन कैसे करोगे ? आधाकर्मी आहार सेवन करने में दोष ही क्या है ? शरीर की हिफाजत के लिए पैरों में जूते पहन लिए या गर्मी-वर्षा से बचाव के लिए छाता लगा लिया तो कौन-सा पाप हो गया ? शरीर-रक्षा करना तो पहला धर्म है। अतः किसी भी तरह से हो, धर्म के आधार-रूप इस शरीर को व्यर्थ कष्ट से बचाकर इसकी रक्षा करनी चाहिए। कहा भी है—

अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं ।

अर्थात्—अल्प दोषसेवन से यदि अधिक लाभ मिलता हो तो उसे ले लेना चाहिए। यही विद्वान् का लक्षण है। किसी विचारक ने भी कहा है—

शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
शरीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ।।

शरीर धर्म के साथ है, अतः धर्म के लिए शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। जैसे पर्वत से पानी निकलता है, वैसे ही शरीर से धर्म निष्पन्न होता है।

कभी-कभी कुशील पुरुष इस प्रकार की युक्तियों से समझाते हैं—"अजी ! आजकल पंचमकाल है, हीनसंहनन है, इतनी कठोर क्रिया और परीषहों-उपसर्गों के समय धैर्य रखने वाले व्यक्ति बहुत ही अल्प हैं। इसलिए समय के अनुसार अपना आचार बना लेना चाहिए, आदि।" उनके इस तरह के आकर्षक एवं युक्तियुक्त वचनों से साधारण अल्पपराक्रमी साधक तो झटपट प्रभावित हो जाते हैं, और धीरे-उनके समान ही बन जाते हैं। अतः विवेकी साधक उनकी मोहक बातों में न आकर कुशील संसर्ग छोड़ दे और संयम में दृढ रहे।

मूल पाठ

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ।।२९।।

संस्कृत छाया

नान्यत्राऽन्तरायेण, परगेहे न निषीदेत् ।
ग्रामकुमारिकां क्रीडां, नातिवेलं हसेन्मुनिः ।।२९।।

अन्वयार्थ

(**नन्नत्थ अंतराएणं**) किसी अन्तराय के बिना साधु (**परगेहे ण णिसीयए**) गृहस्थ के घर में न बैठे। (**गामकुमारियं किड्डं**) गाँव के लड़के-लड़कियों का खेल साधु न खेले, इसी तरह (**नातिवेलं हसे मुणी**) साधु मर्यादा छोड़कर न हँसे।

भावार्थ

साधु किसी रोग आदि अन्तराय के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे। तथा ग्राम के कुमार-कुमारिकाओं का खेल न खेले, एवं मर्यादा छोड़कर न हँसे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

साधुजीवन की कुछ मर्यादाएँ

इस गाथा में साधुजीवन की कुछ मर्यादाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके विषय में सावधानी न रखी जाय तो साधु अपने संयम से गिर सकता है। वे मर्यादाएँ ये हैं—(१) बिना कारण गृहस्थ के घर में न बैठना, (२) ग्रामीण बालकों के साथ या बालकों के से खेल न खेलना, (३) अतिमात्रा में हँसना या हँसी-मजाक न करना। गृहस्थ के घर में बिना कारण बैठने से लोगों को उसके चारित्र के विषय में शंका हो सकती है अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय के या साधु-द्वेषी व्यक्ति का घर हो तो वहाँ बैठने से वह साधु पर झूठा इलजाम भी लगा सकता है। दशवैकालिक सूत्र में तीन कारणों से गृहस्थ के घर में बैठना कल्पनीय बताया है —व्याधि से ग्रस्त हो, अचानक चक्कर वगैरह आ जाय या कोई उपद्रव खड़ा हो जाय, अथवा वृद्धता हो। अथवा कोई साधु उपशमलब्धि वाला हो, उसका साथी साधु अच्छा हो, गुरु ने उसे आज्ञा दी हो, और किसी को धर्मोपदेश देना आवश्यक हो तो उस साधु को गृहस्थ के घर में बैठने में कोई दोष नहीं है।

ग्राम में बालक-बालिकाओं की क्रीड़ा को ग्रामकुमारिका कहते हैं। इस खेल में हँसी-मजाक करना, हाथ का स्पर्श करना, आलिंगन आदि करना होता है, यह कामोत्पादक है, इसलिए साधु इस खेल को न देखे, न खेले। आजकल कई लड़के गाँवों में गुल्ली-डंडा या गेंद आदि से खेलते हैं, वह भी अयतना होने से कर्मबन्धन का कारण है। साधु अपनी मर्यादा छोड़कर न हँसे क्योंकि हँसने में कभी-कभी लड़ाई-झगड़ा हो जाता है, इसलिए हास्य को कर्मबन्धन का कारण है। कहा भी है—**'हासं कीडं च वज्जए'** साधु हँसी और क्रीड़ा का त्याग करे। आगम में बताया है—

जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?
गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।

'भगवन् ! हँसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का बंध करता है ? गौतम ! वह जीव सात या आठ कर्मप्रकृतियों को बाँधता है।'

अतः साधु-जीवन में इन तीनों मर्यादाओं का पालन आवश्यक है।

मूल पाठ

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

संस्कृत छाया

अनुत्सुकः उदारेषु, यतमानः परिव्रजेत् ।
चर्यायामप्रमत्तः, स्पृष्टस्तत्राधिषहेत् ॥३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**उरालेसु**) मनोहर शब्दादि विषयों में साधु (**अणुस्सुओ**) उत्कण्ठित न हो, (**जयमाणो परिव्वए**) यत्नपूर्वक अपने संयम में प्रगति करे। (**चरियाए अप्पमत्तो**) भिक्षाचर्या आदि में प्रमाद न करे, (**पुट्ठो तत्थऽहियासए**) एवं परीषहों और उपसर्गों के उपस्थित होने पर समभाव से सहन करे।

भावार्थ

साधु मनोहर शब्दादि विषयों में किसी प्रकार की उत्सुकता न रखे, अगर शब्दादि विषय कदाचित् अनायास ही सामने आ जाएं तो यतनापूर्वक आगे बढ़ जाए, या संयम में प्रगति करे, भिक्षाचर्या या अपनी साधुचर्या में प्रमाद न करे, परीषहों या उपसर्गों के आने पर उन्हें समभाव से सहे।

व्याख्या

अप्रमादयुक्त साधुचर्या

इस गाथा में साधु की अप्रमादयुक्त चर्या का निरूपण है। साधु जब कहीं भी विहार, भिक्षा आदि के लिए गमनागमन करेगा, तो रास्ते में शब्दादि मनोज्ञ विषय आ सकते हैं। उस समय साधु उन उदार यानी मन को हरण करने वाले मनोज्ञ शब्दादि विषयों में आसक्त न हो, उनके सेवन करने के लिए बिलकुल उत्सुक न हो, बल्कि ऐसे मौके पर उसे उदासीनभाव से यतनापूर्वक वहाँ से आगे बढ़ जाना चाहिए। उक्त शब्दादि विषयों का सेवन करने के लिए वहाँ साधु खड़ा न रहे। किन्तु अपनी इन्द्रियों एवं मन पर संयम रखकर वहाँ से चल देना चाहिए। यह सोचकर कि बाहर जाऊँगा तो शब्दादि विषयों का प्रसंग आएगा, इसलिए अपने उपाश्रय या धर्मस्थान में ही बैठा रहूँ, यहीं सब कुछ चर्या कर लूं, यह विचार भी ठीक नहीं है। शास्त्रकार कहते हैं—

'**चरियाए अप्पमत्तो**'—साधु सभी चर्याएँ करे, किसी भी चर्या में प्रमाद न करे। किसी भी चर्या के लिए जाए-आए उस समय सावधानी अवश्य रखे। परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर साधु दीन न बने, अपितु कर्मनिर्जरा होती हुई जानकर उन्हें समभावपूर्वक बहादुरी के साथ सहन करे।

मूल पाठ

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले ।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

संस्कृत छाया

हन्यमानो न कुप्येत् उच्यमानो न संज्वलेत् ।
सुमना अधिषहेत्, न च कोलाहलं कुर्य्यात् ॥३१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज**) लाठी आदि से पीटे जाने पर साधु क्रोध न करे, (**वुच्चमाणो न संजले**) अथवा किसी के द्वारा अपशब्द या गाली आदि दुर्वचन कहे जाने पर साधु मन में न जले। (**सुमणे अहियासिज्जा**) किन्तु प्रसन्न मन से इन्हें सहन करे (**ण य कोलाहलं करे**) किन्तु वह हल्ला-गुल्ला न मचाए।

भावार्थ

साधु को यदि कोई लाठी या डण्डे आदि से मारे-पीटे तो वह कुपित न हो, यदि कोई अपशब्द या गाली आदि दुर्वचन कहे तो मन में जले-कुढ़े नहीं, अपितु प्रसन्नचित्त से सबको सहन करे। किसी प्रकार का हल्ला न मचाए, न विपरीत वचन बोले।

व्याख्या

साधु आपे से बाहर न हो

इस गाथा में यह बताया गया है कि मारपीट, गाली, अपशब्द आदि कोपोत्तेजक प्रसंगों पर साधु क्या करे ? किस धर्म पर स्थिर रहे ? साधु कहीं किसी अपरिचित गाँव या नगर में जाता है, वहाँ साधुचर्या से अनभिज्ञ, मूढ़, गँवार एवं असंस्कृत लोग उस पर ढेला मारते हैं, कई साधु को चोर या खुफिया समझकर उस पर लाठी या डण्डे से प्रहार करते हैं, कई नादान लोग उसे गाली देकर या अपशब्द कहकर छेड़ते हैं, कई उसे कैद कर लेते हैं, रस्सी से बाँध देते हैं, ये और इस प्रकार के अन्य प्रसंग आने पर सामान्य व्यक्ति के मन में आवेश आ जाता है, वह क्रुद्ध होकर उन लोगों का सामना करने को तैयार हो जाता है, गाली के बदले में गाली या अपशब्द कहने को उतारू हो जाता है, या अन्य प्रकार का हिंसक प्रतिकार करता है, किन्तु साधु क्या करे ? साधु का धर्म ऐसे समय में क्या है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**सुमणे अहियासिज्जा ण य कोलाहलं करे**' साधु उस परीषह (आक्रोशपरीषह) को निर्जरा का कारण समझकर हँसते-हँसते उसे सहन करे। न तो वह उन मारपीट करने वालों पर कुपित हो, न अपशब्द कहने वालों पर मन में कुढ़े-जले, बल्कि उन्हें अज्ञानी समझकर उन पर तरस खाए; किन्तु दौड़ो-दौड़ो, मुझे बचाओ, इस प्रकार से हल्ला मचाकर लोगों की भीड़ इकट्ठी न करे, न पुलिस थाने आदि में उक्त व्यक्ति की रिपोर्ट लिखाकर दण्ड दिलाए। क्षमा और सहिष्णुता ही साधु का परमधर्म है।

मूल पाठ

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एवमाख्यातः ।
आर्याणि शिक्षेत, बुद्धानामन्तिके सदा ॥३२॥

अन्वयार्थ

(**लद्धे कामे ण पत्थेज्जा**) साधु प्राप्त कामभोगों की इच्छा न करे, (**एवं विवेगे आहिए**) ऐसा करने पर विवेक प्रकट हो गया, ऐसा कहा जाता है। (**बुद्धाण अंतिए सया**) ऐसा करता हुआ साधु ज्ञानियों या आचार्यों के पास सदा रहकर आर्य-कर्म सीखे।

भावार्थ

साधु मिले हुए कामभोगों की भी इच्छा न करे। ऐसा करने पर साधु को निर्मल विवेक उत्पन्न हो गया है, ऐसा कहा जाता है। साधु उक्त रीति से रहता हुआ सदा आचार्य के सान्निध्य में रहकर ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप आर्यधर्म की शिक्षा ग्रहण करता रहे।

व्याख्या

साधना में विवेक ही धर्म का मूल है

इस गाथा में साधु के दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप कई कामभोगों की अनायास उपलब्धि हो जाती है, कई सिद्धियाँ या लब्धियाँ उसे अनायास प्राप्त हो जाती हैं, उस समय अधकचरा साधक उन प्राप्त लब्धियों या सिद्धियों या सुख-सुविधाओं का प्रयोग या उपयोग करने को मचलने लगता है। शास्त्रकार कहते हैं कि साधु उन प्राप्त कामभोगस्वरूप उपलब्धियों के उपभोग या प्रयोग की जरा भी इच्छा न करे, उनकी सूक्ष्मवासना भी मन में न रखे। तभी उसमें विवेक स्थिर हो गया, ऐसा समझा जाएगा। अगर लब्धियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त हो भी जाएँ तो वह उनकी शोहरत किये बिना चुपचाप अपने गुरुवर या आचार्य के चरणों में रहकर रत्नत्रय की—आर्यधर्म की शिक्षा ग्रहण करता रहे। निष्कर्ष यह है कि शक्तिमान साधक गुरुचरणों में रहकर प्राप्त शक्तियों को पचाए, उन्हें ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आर्य-धर्म की आराधना में लगाए। यही सच्चा विवेक है।

मूल पाठ

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमंता जिइंदिया ॥३३॥

संस्कृत छाया

शुश्रूषमाण उपासीत, सुप्रज्ञं सुतपस्विनम् ।
वीरा ये आप्तप्रज्ञैषिणः धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ॥३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**सुप्पन्नं सुतवस्सियं**) अपने और दूसरे धर्म के सिद्धान्तों को जानने वाले उत्तम तपस्वी गुरु की (**सुस्सूसमाणो**) सेवा-शुश्रूषा करता हुआ साधु (**उवासेज्जा**) उपासना करे। (**जे धीरा**) जो पुरुष कर्म को विदारण करने में समर्थ हैं, (**अत्तपन्नेसी**) तथा राग-द्वेषरहित पुरुष की जो केवलज्ञानरूप प्रज्ञा है, उसका अन्वेषण करने वाले हैं (**धितिमंता**) एवं धृति से युक्त (**जिइंदिया**) और जितेन्द्रिय हैं (वे ही पुरुष पूर्वोक्त कार्य को करते हैं।)

भावार्थ

जो स्वसमय और परसमय के ज्ञाता (सुप्रज्ञ) हैं तथा उत्तम तपस्वी हैं, ऐसे गुरु की शुश्रूषा करता हुआ साधु उनकी उपासना करे। जो पुरुष कर्मक्षय (विदारण) करने में समर्थ हैं तथा वीतराग की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा का अन्वेषण करने वाले हैं, धृतिमान और जितेन्द्रिय हैं, वे ही ऐसा कार्य करते हैं।

व्याख्या

गुरु-शुश्रूषा करने वाले साधक ही धर्मनिष्ठ होते हैं

इस गाथा में गुरु-शुश्रूषा करने वाले साधकों के उत्तम गुणों का वर्णन किया गया है। गुरु-शुश्रूषा का अर्थ है—गुरु के आदेशों को सुनने की इच्छा, यानी गुरु की वैयावृत्य करना। शास्त्रकार गुरु के प्रधान दो गुणों की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं—'**सुप्पन्नं सुतवस्सियं**' जिसकी प्रज्ञा सुन्दर हो, जो स्वपरसिद्धान्त के रहस्य का ज्ञाता हो, तथा जिसकी प्रज्ञा प्रत्येक गुत्थी को धर्म-दृष्टि से सुलझाने में समर्थ हो। फिर उत्तम विशुद्ध बाह्याभ्यन्तर तप करने में निपुण हो, तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान और चारित्र में अत्यन्त स्थिर हो, तपातपाया हो, बहुत आगे बढ़ा हुआ हो, वही गुरु उपासनीय संसेवनीय होता है, ऐसे गुरु की उपासना करे। उपासना का अर्थ होता है—गुरुचरणों में बैठकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करना। गुरु के शरीर की नहीं, गुरु के गुणों की उपासना करना ही वास्तविक उपासना है। उनकी आज्ञा का परिपालन करना ही उनकी सेवा है। जैसे कि कहा है—

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥

अर्थात्—गुरु की उपासना करने से साधक ज्ञान का भाजन बनता है, तथा दर्शन और चारित्र में स्थिरतर हो जाता है। वे पुरुष धन्य हैं, जो जीवनपर्यन्त गुरुकुल निवास नहीं छोड़ते।

गुरु की उपासना कौन कर सकते हैं? अथवा गुरु-शुश्रूषा करने वाले साधक क्या बन जाते हैं? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**धीरा जे जिइंदिया**' वे वीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाते हैं, कर्मशत्रुओं पर, राग-द्वेष-कषाय पर या उपसर्गों एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करने में वे समर्थ शूर हो जाते हैं अथवा आत्म-कल्याण को ढूंढने में प्रवीण हो जाते हैं तथा रागद्वेषरहित शुद्ध आत्मा की प्रज्ञा को ढूंढने में दक्ष हो जाते हैं, धृतिमान होते हैं, बड़े से बड़े संकटों में धैर्य एवं संयम को नहीं छोड़ते, क्योंकि संयम में धीरता होने पर ही पंचमहाव्रतरूपी भार को वे वहन कर सकते हैं।

जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा।
जे अधिइमंत पुरिसा, तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं॥

अर्थात् – जिनमें धृति है, उन्हीं के पास तप होता है, जिनके पास तप है, उन्हीं को सुगति सुलभ है। जो पुरुष धृतिहीन हैं, उनके लिए तप दुर्लभ है। वास्तव में धृतिमान साधक ही जितेन्द्रिय होते हैं। अर्थात् वे ही इन्द्रिय-विषयों के प्रति होने वाले राग-द्वेष को जीत लेते हैं।

मूल पाठ

गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं॥३४॥

संस्कृत छाया

गृहे दीपमपश्यन्तः पुरुषादानीया नराः ।
ते वीरा बन्धनोन्मुक्ताः नावकांक्षति जीवितम् ॥३४॥

अन्वयार्थ

(**गिहे दीवमपासंता**) गृहवास में ज्ञानरूपी दीप का लाभ न देखकर, (**पुरिसादाणिया नरा**) जो मनुष्य मुमुक्षुपुरुषों के आश्रय-आलम्बन लेने योग्य होते हैं, (**ते बंधणुम्मुक्का वीरा**) वे बन्धनों से मुक्त वीर पुरुष (**जीवियं नावकंखंति**) असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते, अथवा इस नश्वर जीवन की परवाह नहीं करते।

भावार्थ

गृहवास में ज्ञानरूपी दीप का लाभ न देखते हुए जो पुरुष प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करते हैं वे ही पुरुष मुमुक्षुओं के आश्रयभूत होते हैं। वे वीर पुरुष बन्धन से मुक्त होते हैं, वे असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते हैं।

व्याख्या

बन्धनमुक्त पुरुषादानीय कौन साधक होता है ?

बन्धनमुक्त पुरुषादानीय व्यक्ति कौन हो सकता है ? यह इस गाथा में बताया गया है कि जो पुरुष गृहवास में अथवा पाश के समान बन्धन रूप गृह यानी गृहस्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव में दीप के समान वस्तु को प्रकाशित करने वाला श्रुतज्ञानरूप भावदीप प्राप्त नहीं हो सकता है, अथवा समुद्र आदि में प्राणियों को विश्राम देने वाले द्वीप के समान संसार-समुद्र में प्राणियों को विश्राम देने वाला सर्वज्ञोक्त चारित्ररूप भावद्वीप नहीं मिल सकता है, यह जानकर जो पुरुष प्रव्रज्या धारण करके उत्तरोत्तर ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करते हैं, वे पुरुष (और उपलक्षण से नारी भी) मुमुक्षुओं के आश्रय-स्वरूप महातिमहान् हो जाते हैं। अथवा हितैषी पौरुषवान नर-नारी जिसका ग्रहण करते हैं, वह मोक्ष या रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है—पुरुषादान, वह जिसमें हो, वह पुरुषादानीय कहलाता है। जो व्यक्ति ऐसे हैं, वे ही अष्टविध कर्मों का विशेष रूप से नाश करने वाले वीर हैं, वे ही बाह्य-आभ्यन्तर बन्धनों से मुक्त हैं, वे पुरुष असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते अथवा जिंदगी की परवाह नहीं करते।

मूल पाठ

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए ।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥३५॥

संस्कृत छाया

अगृद्धः शब्द स्पर्शेष्वारम्भेष्वनिश्रितः ।
सर्वं तत् समयातीतं, यदेतल्लपितं बहु ॥३५॥

अन्वयार्थ

(**सद्दफासेसु अगिद्धे**) साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो, (**आरंभेसु अणिस्सिए**) पापयुक्त जो भी आरम्भजनक प्रवृत्ति हो, उसमें जुड़ा हुआ न रहे। (**जमेतं लवियं बहु**) इस अध्ययन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जो बहुत-सी बातें कही गई हैं, (**सव्वं तं समयातीतं**) वे सब सिद्धान्त (जिनागम) से विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध की गई हैं।

भावार्थ

साधु मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो, सावद्य या हिंसाजनक आरम्भों से दूर रहे। इस अध्ययन के आदि से लेकर यहाँ तक जो बातें निषिद्ध रूप से बताई गई हैं, वे सब जैन सिद्धान्त (आगम) विरुद्ध होने से निषिद्ध की गई हैं, उनका आचरण न करे, मगर जो अविरुद्ध हैं, वे निषिद्ध नहीं हैं, उनका आचरण करे।

व्याख्या

निषिद्ध बातें अनाचरणीय हैं

इस गाथा में दो बातें निषिद्ध बताकर बाद में यह बता दिया गया है कि जो बहुत-सी बातें इस अध्ययन में निषेधरूप से बताई हैं, उन्हें अनाचरणीय समझना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। वे साधु के चारित्रधर्म के विरुद्ध हैं, क्योंकि जैनागमों में उनका आचरण करना निषिद्ध बताया गया है।

इस गाथा में सर्वप्रथम शब्दादि पाँचों विषयों में आसक्ति एवं सावद्य अनुष्ठानों में प्रवृत्ति का निषेध किया गया है। यहाँ मूल में '**सद्दफासेसु**' शब्द है, **शब्द** आदि में है, और **स्पर्श** अन्त में है, इसलिए दोनों के ग्रहण से बीच के रूप-रस-गन्ध आदि विषयों का भी यहाँ ग्रहण जान लेना चाहिए।

इस अध्ययन में आद्योपान्त जो बातें, जिनागमविरुद्ध होने से निषिद्ध बताई हैं, उनका आचरण न करना ही धर्म है, तथा जिनका विधान किया है, वे लोकोत्तर उत्तम धर्म हैं, उनका आचरण करना चाहिए।

मूल पाठ

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३६॥

त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

अतिमानञ्च मायां च, तत्परिज्ञाय पण्डितः ।
गौरवाणि च सर्वाणि, निर्वाणं सन्धयेन्मुनिः ॥३६॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**पंडिए मुणी**) पण्डित मुनि (**अइमाणं च मायं च**) अत्यन्त मान और माया, (**गारवाणि य सव्वाणि**) तथा सब प्रकार के गौरवों (गर्व पैदा करने वाले विषय-भोगों) को (**परिण्णाय**) ज्ञपरिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागकर (**निव्वाणं संधए**) समस्त कर्मक्षयरूप निर्वाण—मोक्ष से या मोक्ष की साधना से अपने आपको जोड़े, अथवा मोक्ष की इच्छा करे।

भावार्थ

विद्वान् मुनि अत्यन्त मान, माया और समस्त प्रकार के गर्वोत्पादक विषय-भोगों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागकर मोक्ष की इच्छा करे।

व्याख्या

समस्त विकारों को त्यागकर मोक्ष में ही लौ लगाए

इस गाथा में इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने कुछ त्याज्य बातों के त्याग का विधान करके अन्त में निर्वाण में अपने मन-वचन-काया को जोड़ने की, निर्वाण की ही इच्छा करने की प्रेरणा दी है—'**निव्वाणं संधए मुणी।**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वाक्य का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि समस्त झंझटों-झमेलों को छोड़कर, मुनि एकमात्र निर्वाण की साधना में ही अपने आप को जुटा दे। निर्वाण को ही एक मात्र साध्य मानकर उसकी साधना करे, उसकी ही प्रार्थना करे।

पूर्वगाथाओं में बताई हुई निषिद्ध बातों तथा अतिमान, माया एवं ऋद्धि-रस-सातारूप समस्त गौरवों—विषय-भोगों को भली-भाँति समझकर उनका त्याग करे। समस्त गौरव या क्रोधादि कषाय संसारवृद्धि के कारण हैं, कर्मबन्धन को बढ़ाने वाले हैं, साधुधर्म का लक्ष्य है—कर्मों का सर्वथा क्षय करना। अतः लक्ष्य —समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष या निर्वाण तक पहुँचने के लिए कर्मबन्धन के कारण-भूत समस्त विकारों, समस्त सिद्धान्तविरुद्ध आचार-विचारों को छोड़-छाड़कर एकमात्र मोक्ष की दिशा में कूच करे। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

'त्ति' शब्द समाप्ति अर्थ में है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र का नवम धर्म नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ धर्म नामक नवम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि : दशम अध्ययन

नौवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब दसवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का पूर्व अध्ययन के साथ सम्बन्ध यह है कि नौवें अध्ययन में प्रतिपादित धर्म की साधना तभी सुचारुरूप से हो सकती है, जबकि अविकल समाधि हो। इसलिए दसवें अध्ययन में शास्त्रकार समाधि का निरूपण करते हैं।

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

इस अध्ययन का नाम 'समाधि' है। यह इसका गुणनिष्पन्न नाम है, क्योंकि इस अध्ययन में समाधि का ही प्रतिपादन किया गया है। समाधि का अर्थ है—तुष्टि, संतोष, आत्म-प्रसन्नता, आनन्द या प्रमोद। समाधि का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ है — **सम्यग् आधीयते व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः**। जिस धर्मध्यान या श्रुत, विनय, आचार एवं तपरूप साधना के द्वारा आत्मा मोक्ष या मोक्षमार्ग में अच्छी तरह स्थापित या व्यवस्थित किया जाता है, वह समाधि है। प्रस्तुत अध्ययन में भावसमाधि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। भावसमाधि आत्म-प्रसन्नता की प्रवृत्ति को कहते हैं, अथवा जिन गुणों द्वारा जीवन में समाधि (आत्म-प्रसन्नता) का लाभ हो, उसे भावसमाधि कहते हैं, जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप है। दशवैकालिक सूत्र (अ० ९ उ० ४) में चार प्रकार की समाधियों का उल्लेख है—(१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपःसमाधि और (४) आचारसमाधि। इन चारों समाधियों के प्रत्येक के चार-चार भेद बताये गये हैं। ये चारों भावसमाधि के ही अन्तर्गत हैं। दशाश्रुतस्कन्ध की प्रथम दशा में बीस प्रकार के असमाधिस्थान बताये हैं, जो साध्वाचार से सम्बन्धित हैं, इन २० असमाधिस्थानों से दूर रहना भी भावसमाधि है। समग्र अध्ययन में किसी प्रकार का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति में हाथ-पैर आदि अंगोपांगों को संयम में रखना, किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना आदि सदाचार के नियमों के पालन पर बार-बार जोर दिया गया है। शास्त्रकार ने पुनः-पुनः इस बात का समर्थन किया है कि स्त्रियों में आसक्त रहने वाले तथा परिग्रह में ममत्व रखने वाले श्रमण समाधि प्राप्त नहीं कर सकते। उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मचर्यसमाधि नामक १६वाँ अध्ययन इसी बात द्योतक है। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य की पूर्णरूपेण रक्षा की जाए तथा परिग्रह के ममत्व से दूर रहा जाए। आगे चलकर शास्त्रकार ने एकान्त क्रियावाद का अनुसरण करने वाले तथा एकान्त अक्रियावाद का अनुसरण करने वाले—दोनों को अज्ञानमूलक एवं वास्तविक धर्म एवं समाधि से दूर बताया है।

समाधि के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, यों ६ निक्षेप होते हैं। नाम, स्थापना तो सुगम हैं। मनोज्ञ शब्दादि पाँचों विषयों की प्राप्ति-होने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों की तृप्ति होना द्रव्यसमाधि है, और इससे विपरीत हो तो, द्रव्य-असमाधि है। अथवा परस्पर अविरोधी दो द्रव्यों या अनेक द्रव्यों के मिलाने से जिसका रस बिगड़ता नहीं, अपितु पुष्ट होता है, उसे भी द्रव्यसमाधि कहते हैं। जैसे दूध और चीनी, तथा साग में मिर्च, नमक, जीरा आदि का मिश्रण करने से रस की पुष्टि होती है। अथवा जिस द्रव्य के खाने-पीने से शान्ति प्राप्त होती है, वह भी द्रव्यसमाधि है। जिस द्रव्य को तराजू पर चढ़ाने से उसके दोनों पलड़े बराबर हों, उसे भी द्रव्यसमाधि कहते हैं। जिस जीव को जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति प्राप्त हो, वह क्षेत्र की प्रधानता के कारण क्षेत्रसमाधि है, अथवा जिस क्षेत्र में समाधि का वर्णन किया जाता है, उसे भी क्षेत्रसमाधि कहते हैं। जिस जीव को जिस काल में शान्ति उत्पन्न होती है, वह उसके लिए कालसमाधि है। जैसे शरद् ऋतु में गाय को, रात में उल्लू को और दिन में कौए को शान्ति प्राप्त होती है। अथवा जिस जीव को जितने काल तक समाधि रहती है या जिस काल में समाधि की व्याख्या की जाती है, वह भी काल की प्रधानता को लेकर कालसमाधि है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप में अपनी आत्मा को स्थापित करना भावसमाधि है। इन चारों में प्रवृत्त रहने वाला, मुनि समाहितात्मा कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस साधक ने सम्यक्चारित्र में अपनी आत्मा को निहित कर दिया है, वह चारों भावसमाधियों में स्थित हो जाता है। जो साधक दर्शनसमाधि में स्थित है, उसका अन्तःकरण जिनवचनों में रंगा हुआ होने से निर्वात स्थान में रखे हुए दीपक की तरह कुबुद्धिरूपी वायु से विचलित नहीं होता, तथा ज्ञानसमाधि के कारण साधक ज्यों-ज्यों नये-नये शास्त्रों का अध्ययन करता है, त्यों-त्यों यह भावसमाधि में प्रवृत्त होता जाता है। कहा भी है—

जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाए॥

अर्थात्—अतिशय प्रशान्तरस के संचार से युक्त नये-नये शास्त्र में ज्यों-ज्यों मुनि अवगाहन - प्रवेश करता जाता है, त्यों-त्यों नये-नये उत्कट मोक्ष-भाव में श्रद्धा बढ़ने से मुनि को आह्लाद उत्पन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रसमाधि में स्थित मुनि धन से हीन होने पर भी विषय-सुख से नि:स्पृह होने के कारण परम शान्ति का अनुभव करता है। इसीलिए एक अनुभवी ने कहा है—

तणसंथारणिसन्नोऽपि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टीवि ॥
नैवास्ति राजराजस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥

अर्थात् जो साधु राग, मद और मोह से दूर है, वह घास (तृण) की शय्या पर स्थित होकर भी जिस आनन्द का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती राजा को भी नसीब कहाँ ? सांसारिक प्रवृत्तियों से रहित मुनि को जो सुख इसी लोक में प्राप्त होता है, वह सुख राजाओं के राजा को अथवा देवराज को भी प्राप्त नहीं हो सकता। तपःसमाधि में स्थित मुनि को बाह्य दीर्घ तप करने पर भी ग्लानि नहीं होती, तथा क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से वह पीड़ित नहीं होता है एवं आभ्यन्तर तप का अभ्यास किया हुआ मुनि ध्यान में दत्तचित्त होने के कारण मोक्ष में स्थित आत्मा की तरह सुख-दुःख से पीड़ित नहीं होता। इस तरह चार प्रकार की भाव-समाधि में स्थित साधु सम्यक्चारित्र में स्थित होता है।

अब प्रसंगवश समाधि के विषय में प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

आघं मईममणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा ॥१॥

संस्कृत छाया

आख्यातवान् मतिमान् अनुविचिन्त्य धर्मं, ऋजुं समाधि तमिमं शृणुत ।
अप्रतिज्ञभिक्षुस्तु समाधिप्राप्तोऽनिदानो भूतेषु परिव्रजेत् ॥१॥

अन्वयार्थ

(**मईमं**) केवलज्ञानी भगवान महावीर ने (**अणुवीय**) केवलज्ञान के द्वारा जानकर (**अंजू समाहिं धम्मं आघं**) सरल समाधि (मोक्षप्रदायक) धर्म का कथन किया है, (**तमिणं सुणेह**) हे शिष्यो ! उस धर्म को तुम मुझसे सुनो (**अपडिन्न**) अपने तप का फल नहीं चाहता हुआ (**समाहिपत्ते**) समाधि को प्राप्त, (**अणियाण भूतेसु**) प्राणियों का आरम्भ न करता हुआ (**भिक्खू सुपरिव्वएज्जा**) मुनि शुद्ध संयम पालन में प्रगति करे।

भावार्थ

केवलज्ञानी भगवान् महावीर ने केवलज्ञान के प्रकाश में जानकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरल और मोक्ष में स्थापित करने वाले समाधिरूप धर्म का निरूपण किया है। हे शिष्यो ! तुम उस धर्म को सुनो। अपने तप के प्रतिफल की आकांक्षा न करता हुआ, एवं जीवहिंसाजनक आरम्भ न करता हुआ समाधिप्राप्त साधु शुद्ध संयम में प्रगति करे।

व्याख्या

सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा कथित समाधिधर्म सुनो

यह इस अध्ययन की प्रथम गाथा है। इसमें श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी आदि को सम्बोधित करके कहते हैं—शिष्यो ! मतिमान् (समस्त पदार्थों का ज्ञान मति है, वह जिसमें विद्यमान हो, उसे मतिमान् कहते हैं) भगवान् महावीर ने केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप जानकर सरल सरस समाधि-रूप धर्म का प्ररूपण किया है। यहाँ '**अणुवीय धम्म आघं**' शब्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् केवलज्ञान के द्वारा यह जानकर कि इस धर्म का अधिकारी कौन है ? यह किस देवगुरु या धर्म-दर्शन का अनुगामी है ? यह किस पदार्थ को ग्रहण कर सकता है ? किस भाषा का प्रयोग करने से अधिकाधिक श्रोताओं को लाभ हो सकेगा ? इत्यादि बातों का अपनी केवलज्ञानरूपी मति से विचारकर उन्होंने धर्म का कथन किया है। जो कि सरल है—कुटिल, टेढ़ामेढ़ा या चक्करदार नहीं है, और समाधिरूप—यानी सम्यक् प्रकार से आत्मा को मोक्ष या मोक्षमार्ग में स्थापित करने वाला है। अथवा भगवान् ने धर्म और उसकी समाधि—सम्यक्ध्यान आदि का उपदेश दिया है। आप लोग भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट उस सरल धर्म या समाधि को मुझसे सुनें।

धर्मसमाधि को कौन प्राप्त कर सकता है ? इसके सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—जो साधु अप्रतिज्ञ है यानी अपनी तपःसाधना आदि का प्रतिफल नहीं चाहता है, भिक्षाजीवी है, विषयसुखों की प्राप्ति का निदान (नियाणा) नहीं करता है, अथवा प्राणियों का हिंसात्मक आरम्भ नहीं करता है, वही समाधिप्राप्त है। उसे अपने संयम की ओर ही कदम बढ़ाने चाहिए।

अनिदान के यहाँ पाँच अर्थ होते हैं—एक अर्थ तो अन्वयार्थ में दिया है, दूसरा अर्थ होता है—जो विषय-सुखों की प्राप्ति के निदान (नियाणा) से रहित है, अथवा जो साधु निदान यानी कर्म-बन्धन के कारणों (आस्रवों) से दूर है, अथवा जो संसार के कारण नहीं हैं, वे ज्ञानादि अनिदान हैं। अथवा जो दुःख का कारण है, वह निदान है, किसी प्राणी को दुःख उत्पन्न न करता हुआ—यानी अनिदान होकर साधु संयम में पराक्रम करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥२॥

संस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
हस्तैःपादैश्च संयम्य, अदत्तमन्यैश्च न गृह्णीयात् ॥२॥

अन्वयार्थ

(**उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु**) ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में (**तसा य थावर य जे पाणा**) जो त्रस या स्थावर प्राणी रहते हैं, (**हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता**) हाथों और पैरों को संयम में रखकर उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए (**अन्नेसु य अदिन्नं णो गहेज्जा**) तथा दूसरों द्वारा न दी हुई चीज नहीं लेनी चाहिए ।

भावार्थ

ऊँची, नीची तथा तिरछी चार दिशा, चार विदिशा, ऊर्ध्व व अधो यों कुल दसों दिशाओं में त्रस एवं स्थावर जो भी प्राणी रहते हैं, अपने हाथों और पैरों को नियंत्रण में रखकर उन्हें किसी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए तथा दूसरों द्वारा न दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

व्याख्या

प्राणातिपात और अदत्तादान से सर्वथा विरमण से भावसमाधि

इस गाथा में यह बताया गया है कि साधु को प्राणातिपात (हिंसा) और अदत्तादान (चोरी) का सर्वांशतः त्याग करने से भावसमाधि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, और जो साधक कर्मबन्ध के कारणों को अपनाता हो, उसे भावसमाधि नहीं प्राप्त हो सकती । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं---'**उड्ढं''''णो गहेज्जा ।**' प्राणातिपात द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से चार प्रकार का है । समस्त प्राणातिपात (जीवहिंसा) प्रज्ञापक (कहने वाले) की अपेक्षा से ऊँचे, नीचे, तिरछे तीनों लोकों (क्षेत्रों) में तथा पूर्वादि दिशाओं तथा आग्नेय आदि विदिशाओं में किये जाते हैं । यह क्षेत्र प्राणातिपात है । जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, उन्हें पीड़ा देना द्रव्य प्राणातिपात है । '**तसा य जे थावर जे य पाणा**' इस वाक्य में बीच में जो दो '**य**' पड़े हैं, वे स्वगत भेद को या काल और भाव प्राणातिपात को सूचित करते हैं । 'दिन में या रात में प्राणियों को दुःखित करना कालप्राणातिपात है। पूर्वोक्त प्राणियों को हाथ-पैर आदि बाँधकर या दूसरी तरह से पीड़ा देना भावप्राणातिपात है । इन प्राणातिपातों से बचने के लिए अपने हाथों और पैरों को वश में रखना चाहिए । इसी तरह श्वास, उच्छ्वास, छींक, खाँसी और अधोवायु निकलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समय तथा मन-वचन और शरीर की क्रिया के समय संयत बनकर भावसमाधि प्राप्त करनी चाहिए। साथ ही भावसमाधि प्राप्त करने के लिए अदत्तादान का निषेध किया गया है। अदत्तादान के निषेध से परिग्रह का निषेध तो स्वतः हो जाता है। परिग्रह (ममत्व) किये बिना किसी वस्तु का सेवन नहीं किया जा सकता है, इसलिए परिग्रह-निषेध से मैथुन-निषेध भी अर्थतः किया हुआ समझना चाहिए। समस्त महाव्रतों के पालन से भावसमाधि मिलती है, इस प्रेरणा से असत्यभाषण का निषेध भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। अथवा असत्य, परिग्रह एवं मैथुन से अन्य (त्रसस्थावर) जीवों की विराधना होती है, उन्हें पीड़ा होती है, इसलिए प्राणातिपात के निषेध के साथ इन तीनों का निषेध भी सिद्ध हो गया। निष्कर्ष यह है कि भाव-समाधि के लिए पांचों आस्रवों का त्याग अनिवार्य है।

मूल पाठ

सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥३॥

संस्कृत छाया

स्वाख्यातधर्मा विचिकित्सातीर्णः, लाढश्चरेदात्मतुल्यः प्रजासु।
आयं न कुर्यादिह जीवितार्थी, चयं न कुर्यात् सुतपस्वी भिक्षुः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**सुयक्खायधम्मे**) श्रुत और चारित्रधर्म का भली-भांति प्रतिपादन करने वाला (**वितिगिच्छतिण्णे**) तथा वीतरागप्ररूपित धर्म में चिकित्सा—शंका से ऊपर उठा हुआ—पारंगत। (**लाढे**) प्रासुक आहार पानी तथा एषणीय अन्य उपकरण आदि से अपना निर्वाह करने वाला। (**सुतवस्सि भिक्खू**) उत्तम तपस्वी एवं भिक्षाजीवी साधु (**पयासु आयतुले**) पृथ्वीकाय आदि प्राणियों के प्रति आत्म-तुल्य होकर (**चरे**) विचरण या व्यवहार करे, अथवा धर्माचरण करे। (**इह जीवियट्ठी आयं न कुज्जा**) इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से आय – धन की आमदनी (कमाई) न करे, अथवा आस्रवों की आय—वृद्धि न करे। (**चयं न कुज्जा**) तथा भविष्य के लिए धन-धान्य आदि का संचय न करे।

भावार्थ

श्रुत-चारित्रधर्म का सम्यक् व्याख्याता, तीर्थंकरोक्त धर्म में शंका से दूर, प्रासुक आहार एवं एषणीय उपकरण आदि से निर्वाह करने वाला उत्तम तपस्वी भिक्षाजीवी साधु समस्त जीवों को अपने समान समझता हुआ संयम का पालन या धर्म का आचरण करे। वह इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से किसी प्रकार का धनार्जन न करे, या आस्रवों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आय—वृद्धि न करे, और न ही भविष्य के लिए धन्य-धान्य आदि किसी वस्तु का संचय करे।

व्याख्या

श्रुत-समाधि, दर्शन-समाधि और आचार-समाधि के उपाय

इस गाथा में शास्त्रकार श्रुत, दर्शन और आचार समाधि के उपाय बताते हैं। श्रुतसमाधि का उपाय यह है कि वह शास्त्रों के रहस्यों का इतना अच्छा ज्ञाता हो जाए कि दूसरों को श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को अच्छी तरह समझा सके। अर्थात् श्रुत-चारित्रधर्म की प्रांजल व्याख्या कर सकता हो, वह साधु श्रुतसमाधि प्राप्त कर लेता है। साथ ही '**तितिगिच्छतिण्णे**' शब्द यहाँ दर्शनसमाधि को सूचित करता है। यानी वह साधु वीतरागप्ररूपित सिद्धान्तों या धर्मों के प्रति विचिकित्सा शंका को पार कर गया हो, शंका से रहित हो। जहाँ किसी सिद्धान्त या बात में चित्त में शंका होती है, वहाँ समाधि भंग हो जाती है। इसलिए निःशंकता दर्शनसमाधि के लिए अनिवार्य है। '**तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं**' जिनेन्द्र भगवन्तों ने जो कुछ कहा है, यही सत्य है, निःशंक है, इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा - निःशंकता होनी चाहिए, तभी दर्शनसमाधि प्राप्त हो सकती है। आगे आचारसमाधि के लिए कहा है—साधु को जो भी, जैसा भी अपनी विधि के अनुसार प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय आहार-पानी या धर्मोपकरण मिल गया, वह अच्छा हो या खराब हो, मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ हो, धर्मपालन के लिए उसे सहायक समझकर उसी में संतुष्ट होकर रहने वाला (लाढ) साधु आचारसमाधि प्राप्त करता है। तथा संसार के समस्त जीवों को आत्मवत् समझे, उनके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करे, वही समसुख-दुःखी, सममना साधु समाधि प्राप्त करता है। कहा भी है —

जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो॥

जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को नहीं है, यह जानकर जो न किसी प्राणी का स्वयं हनन करता है और न हनन करवाता है, किन्तु सब के प्रति समान मन रखता है, इसी कारण वह समभावी साधु श्रमण कहलाता है। वह सोचता है कि जैसे मुझे कोई डाँटता-फटकारता है, या कलंक लगाता है, तो मुझे दुःख होता है, वैसे ही अगर मैं दूसरों को डाँटूँगा-फटकारूँगा या कलंक लगाऊँगा तो उन्हें दुःख होगा। इस आत्मौपम्य सिद्धान्त के अनुसार वह सब प्राणियों को अपने समान मानता है। इसी तरह आचारसमाधि के लिए यह भी उचित है कि साधु किसी प्रकार की धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि की आय (आमदनी) न करे और न ही इनका संचय करे। उसे भिक्षा पर निर्वाह करना है, यथालाभ संतुष्ट रहना है, तब पदार्थों के आय या संचय से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए। आहार-पानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि का भी दूसरे दिन के लिए संग्रह नहीं रखना चाहिए, उसे आकाशीवृत्ति से निसर्गनिर्भर रहना चाहिए, तभी समाधि प्राप्त हो सकती है। अन्यथा आय (आमदनी) और संग्रह की चिन्ता होगी, उसकी सुरक्षा की चिन्ता होगी, उसके चुराये जाने या नष्ट हो जाने पर चिन्ता होगी। ये सब चिन्ताएँ उसकी समाधि को समाप्त कर देंगी। इसलिए साधु को आय और संचय के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए। आय का अर्थ आस्रवों की वृद्धि भी होता है। श्रेष्ठ तपस्वी एवं भिक्षाजीवी साधु को उससे भी दूर रहना चाहिए। कोई वस्तु दूसरे दिन या कभी भिक्षा द्वारा नहीं मिली तो तपस्या का लाभ मिला, यही समझकर आत्मसंतोष करना चाहिए। यही समाधि का रहस्य है।

मूल पाठ

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।
पासाहि पाणेय पुढोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥४॥

संस्कृत छाया

सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृत्तः प्रजासु, चरेन्मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
पश्य प्राणांश्च पृथगपि सत्त्वान्, दुःखेनार्त्तान् परितप्यमानान् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**पयासु सव्विंदियाभिनिव्वुडे**) स्त्रियों के विषय में साधु समस्त इन्द्रियों का निरोध करके जितेन्द्रिय बने। (**सव्वओ विप्पमुक्के मुणी चरे**) बाह्य और आभ्यन्तर सभी बन्धनों या द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सभी प्रतिबन्धों से मुक्त होकर मुनि संयम-मार्ग पर विचरण करे। (**पाणे य पुढो वि सत्ते**) इस संसार में पृथ्वीकाय आदि सभी प्राणी, चाहे वे सूक्ष्म हों या बादर पृथक्-पृथक् रूप से (**अट्टे दुक्खेण परितप्पमाणे**) आर्त्त (पीड़ित) और दुःख से परितप्त हो रहे हैं, (**पासाहि**) उन्हें देखो।

भावार्थ

साधु स्त्रियों के विषय में अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर जितेन्द्रिय बने तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध संयम का पालन करे। इस लोक में सभी प्राणी दुःख भोग रहे हैं, यह देखे।

व्याख्या

जितेन्द्रिय एवं बन्धनमुक्त बनकर सभी संतप्त प्राणियों को देखो

इस गाथा में साधु को भावसमाधि के लिए जितेन्द्रिय और बन्धनमुक्त बनना अनिवार्य बताया है। जितेन्द्रिय बनने के लिए पाँचों इन्द्रियों के विषयों की खान स्त्रियों के प्रति बिलकुल अनासक्त होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक को सर्वेन्द्रियों को रोकने के लिए सर्वप्रथम स्त्री-सम्पर्क से दूर रहना अनिवार्य है। साथ ही साधु को बाह्य और आभ्यन्तर संग (आसक्ति) से विशेषरूप से मुक्त निष्किञ्चन सर्वबन्धनमुक्त एवं निःस्पृह होना चाहिए। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबन्ध भी साधु को अशान्ति और चिन्ता में डाल देता है। उससे भी साधु को सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

कई बार साधु इन दोनों गुणों (जितेन्द्रियता एवं सर्वबन्धनमुक्तता) से सम्पन्न होने पर भी अकेला, अलग-थलग हो जाता है, अथवा होने को उतारू हो जाता है, और तब सहायक या साथी के बिना अकेला दुःखों और संकटों से जूझ नहीं पाता, उस मौके पर साधु असमाधिभाव में गर्क हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे मौके पर त्रस और स्थावर प्राणियों को अलग-अलग आँखें खोलकर देखो, वे दुःखों और संकटों से छटपटा रहे हैं। साधो ! तुम्हारा दुःख और संकट तो उन दुःखों के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। वे आर्तध्यान करके और नवीन कर्मों को को बाँध रहे हैं। तुम अपने पर आये हुए दुःख और संकट को मामूली समझकर समभाव से सहन करो, इससे पुराने कर्म नष्ट होंगे, नये नहीं बँधेंगे और तुम्हारा चित्त समाधिभाव में लीन हो जायगा। समाधिभाव प्राप्त करने का यही नुस्खा है कि अपने दुःख को बिलकुल हलका और मामूली मानो, और उसे समभाव से सहो।

मूल पाठ

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवायतो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥५॥

संस्कृत छाया

एतेषु बालश्च प्रकुर्वाणः, आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।
अतिपाततः क्रियते पापकर्म, नियोजयंस्तु करोति कर्म ॥५॥

अन्वयार्थ

(**बाले**) अज्ञानी जीव (**ऐतेसु**) पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि प्राणियों को (**पकुव्वमाणे**) दुःखित-पीड़ित करता हुआ (**पावएसु कम्मसु आवट्टती**) पापकर्मों की ही बार-बार आवृत्ति करता रहता है। अथवा पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त पृथ्वीकाय आदि नीच योनियों में परिभ्रमण करता है। (**अतिवायतो पावकम्मं कीरति**) जीवों की हिंसा करके प्राणी पापकर्म करता है, (**निउंजमाणे उ कम्मं करेइ**) तथा दूसरों को हिंसा में प्रेरित करके भी पापकर्म का सम्पादन करता है।

भावार्थ

अज्ञानी जीव पृथ्वीकाय आदि जीवों को पीड़ा देता हुआ पापकर्मों को बार-बार दुहराता रहता है, अथवा पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त पृथ्वीकाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि नीच योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। प्राणी जीवों की हिंसा करके पापकर्म करता है, तथा दूसरों को हिंसा करने में लगाकर भी पापकर्म का उपार्जन करता है।

व्याख्या

प्राणिहिंसा करने-कराने से समाधि का नाश

प्राणिहिंसा करने-कराने से उपार्जित पापकर्मों के फलस्वरूप जीव को नाना तुच्छ योनियों में बार-बार परिभ्रमण करना पड़ता है, जहाँ उसे सम्यक्बोध नहीं मिल पाता। फलतः उस प्राणी को समाधि तो मिलती ही कैसे? अज्ञानी जीव जिस समय इन प्राणियों को कष्ट देता है, काटता, तपाता, आग में जलाता है, उस समय वह चाहे अपने जरा-से स्वार्थ या वैषयिक सुख के लिए ऐसा करता हो, परन्तु उसे उस पापकर्म की बहुत मँहगी कीमत चुकानी पड़ती है। जो इस प्रकार दूसरों को पीड़ा देकर उनकी समाधि भंग करता है, उसकी चिरकाल तक अपनी ही समाधि भंग होती है। वह अज्ञानी जीव अपने चिरसंचित पापकर्म के कारण उन्हीं पाप-योनियों अथवा पापकर्मों के स्थानों में बार-बार जन्म-मरण करता है।

कहीं-कहीं '**एतेसु बाले**' के बदले '**एवं तु बाले**' पाठ मिलता है। उसका अर्थ है—जैसे चोर और परस्त्रीलम्पट पुरुष बुरे कार्य करके इस लोक में वध, बन्धन, अंगच्छेदन आदि दुःख पाते हैं, (**एवं तु**) वैसे ही दूसरे प्राणी भी इस लोक और परलोक में दुःख के भाजन बनते हैं। कहीं-कहीं '**आवट्टती**' के बदले '**आउट्टति**' पाठ मिलता है। उसका अर्थ यह है कि बुद्धिमान पुरुष अशुभ कर्मों का दुःखरूप फल देख-सुनकर या जानकर उक्त पापकर्मों से विरत हो जाते हैं।

अज्ञानी जीव पापकर्मों का संचय कैसे करता है? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अतिवायतो कीरति पावकम्मं ..... करेइ कम्मं।**'

अर्थात् जीवहिंसा सबसे बड़ा पापकर्म है। जीवहिंसा करके जीव बहुत पापकर्मों का बंध करता है, यही नहीं, दूसरों को जीवहिंसा में लगाकर भी जीव पापकर्म का उपार्जन करता है। यहाँ मूल में 'उ' (तु) शब्द है, वह द्योतित करता है कि जो हिंसा की तरह झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन-सेवन करता है, परिग्रहवृत्ति रखता है, अथवा दूसरों से इन आस्रवों को कराता है, वह पाप का संचय करता है। पापकर्म मनुष्य को समाधिपूर्वक नहीं बैठने देता, वह उसे नाना दुःखों एवं दुःखरूप योनियों में भटकाता है।

मूल पाठ

आदीणवित्तीवि करेइ पावं, मंता उ एगंतसमाहिमाहु।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

आदीनवृत्तिरपि करोति पाप, मत्वात्वेकान्त समाधिमाहुः ।
बुद्धः समाधौ च रतो विवेके, प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा ॥६॥

अन्वयार्थ

(**आदीणवित्तीवि पावं करेइ**) जो पुरुष दीनवृत्ति करता है -यानी कंगाल भिखारी की तरह अपनी जीविका चलाता है, वह भी पाप करता है। (**मंता उ एगंतसमाहिमाहु**) यह जानकर तीर्थंकरों ने एकान्त समाधि का उपदेश दिया है। (**बुद्धे ठियप्पा**) इसीलिए वस्तुतत्त्व का ज्ञाता स्थिरात्मा (स्थितप्रज्ञ) शुद्धचित्त पुरुष (**समाहीय विवेगे रए**) समाधि और विवेक में रत रहे। (**पाणाइवाया विरए**) एवं प्राणातिपात से निवृत्त—दूर रहे।

भावार्थ

जो पुरुष कंगाल और भिखारी के समान भिखमंगेपन से जीविका चलाता है, वह भी पाप करता है। इस तथ्य को जानकर तीर्थंकरों ने एकान्तरूप से भावसमाधि का उपदेश दिया है। अतः विचारशील स्थितप्रज्ञ या शुद्धचित्त पुरुष भावसमाधि और विवेक में रत होकर प्राणातिपात (जीवहिंसा) से दूर रहे।

व्याख्या

समाधि : कौन-सी भ्रान्त, कौन-सी अभ्रान्त ?

इस गाथा में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एकान्त समाधि क्या है और समाधि का भ्रम क्या है ? इस बात को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है। कई लोग ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न महाव्रती एवं तपस्वी साधु को अत्यन्त मस्त और सुख-शान्तिमग्न देखकर यह सोचने लगते हैं कि इनका-सा वेष पहनने और इनकी तरह भिक्षा माँगकर खाने में बहुत ही मौज मिलेगी, क्योंकि ये साधु कितने प्रसन्न और स्वस्थ हैं ! इस प्रकार सोचकर कई लोग साधु का-सा स्वाँग रचकर भिक्षा (भीख) माँगने लगते हैं। लोग उनकी दुर्वृत्तियों को जानकर उन्हें भिक्षा नहीं देते तो वे उनके सामने गिड़गिड़ाते हैं, दीनता प्रगट करते हैं--"दे दो माई बाप ! भगवान् के नाम पर एक रोटी दे दो ! भगवान् तुम्हारा भला करेगा ! तुम्हारी हजारी उम्र होगी ! बेटे-पोतों से तुम्हारा घर भरा रहेगा !" ये और इस प्रकार की चापलूसी करके वे मेहनत मजदूरी किये बिना अथवा धर्माचरण में पुरुषार्थ किये बिना मुफ्त में अन्न-वस्त्र प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह वे अपने आपको समाधियुक्त समझते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—'**आदीणवित्तीवि करेइ पावं**।' आशय यह है कि ऐसे लोग साधु का-सा स्वाँग रचकर दीनवृत्ति से पेट भरते हैं, निर्वाह करते हैं, वे पाप करते हैं। एक तो वे हट्टे-कट्टे होकर समाज से भिक्षा लेते हैं, यह पौरुषघ्नी भिक्षा है, जो कि पाप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे वे कोई धर्म-पालन या ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आचरण नहीं करते; बल्कि हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि पापों में रत रहते हैं। तीसरे, जब वे रोटी के टुकड़ों के लिए दर-दर भटकते हैं तब लोग उन्हें किसी समय बासी, ठंडा, रूखा-सूखा भोजन दे देते हैं, या बढ़िया भोजन नहीं देते हैं तो वे रुष्ट होकर उन्हें भला-बुरा कहने को उतारू हो जाते हैं। नहीं देते हैं तो नाराज होकर लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु सन्तुष्ट होकर नहीं बैठते।

राजगृहनगर में एक बार उत्सव था। बहुत से नागरिक उत्सव के निमित्त नगर के बाहर गये। वहाँ उन्होंने भोजन बनाकर खाया-पीया। वहाँ एक भिखारी देर से पहुँचा, जबकि भोजन समाप्त हो चुका था। भिखारी को भोजन न मिलने से वह रुष्ट होकर वैभारगिरि पर चढ़ गया, वहाँ से वह उन लोगों पर पर्वतशिला गिराना चाहता था, लेकिन अचानक उसका पैर फिसल गया और वह उस आर्त्त रौद्रध्यान के फलस्वरूप मरकर नरक का मेहमान बन गया। अतः जो साधु भिखारी की तरह दीनतापूर्वक भिक्षा करता है, उसे समाधियुक्त न समझो, वह तो पाप से लिप्त होता है और उसे जो थोड़ी-सी समाधि स्पर्शादि इन्द्रियविषयपोषक तुष्टि के कारण प्राप्त भी हो जाती है, तो वह भी द्रव्य समाधि है, असली भावसमाधि नहीं है। कहीं लोग भ्रान्तिवश इस नकली द्रव्यसमाधि को ही असली भावसमाधि न समझें, यह विचारकर तीर्थंकर और गणधर ने संसार-सागर से पार करने वाली भावरूप ज्ञानादि समाधि का उपदेश दिया था। वह ज्ञानादि समाधि **'सर्व-गात्तवशं सुखम्'** इस उक्ति के अनुसार इन्द्रियों या परवस्तुओं के अधीन नहीं है। वह त्याग-तपस्याजन्य तथा अपने अधीन है, उसे निर्धन, अकिंचन, बुद्धिमन्द आदि हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, इसलिए वह समाधि एकान्तिक और आत्यन्तिक सुख को उत्पन्न करती है। जबकि द्रव्यसमाधि स्पर्शादिसुख को उत्पन्न करती है, वह सुख भी अनिश्चित और अल्पकालीन तथा क्षणिक होता है। बल्कि वैषयिक सुख भोगते समय भले ही थोड़ी देर के लिए मन को खुशी से भर दें किन्तु बाद में वे व्याधि, मरण या अन्य ऐसे ही दुर्गतिजनित या इहलोक के किसी चिन्ताजनक दुःख को उत्पन्न करते हैं।

इसलिए तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ विवेकी साधु ज्ञानादि चार प्रकार की भावसमाधि में मग्न रहे। कहीं-कहीं **'ठियप्पा'** के स्थान पर **'ठियच्चि'** पाठ है, उसका अर्थ है—विशुद्ध लेश्यावान् साधु। **'रए विवेगे'** का अर्थ यह भी हो सकता है—आहार, उपकरण और कषाय का विवेक त्याग करके साधु द्रव्य और भाव से आनन्द माने। किन्तु प्राणियों के दस प्राणों के विनाश से सर्वथा दूर रहे। यही एकान्त भाव-समाधि का मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥७॥

संस्कृत छाया

सर्वं जगत्तू समतानुप्रेक्षी, प्रियमप्रियं कस्यचिन्न कुर्यात्
उत्थाय दीनश्च पुनर्विषण्णः, सम्पूजनं चैव श्लोककामी ॥७॥

अन्वयार्थ

(**सव्वं जगं तू समयाणुपेही**) साधु सारे जगत को समभाव से देखे। (**कस्सइ पियमप्पियं णो करेज्जा**) किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे। (**उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो**) कोई साधक प्रव्रज्या लेकर परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर दीन होकर, फिर दुःखी या पतित हो जाते हैं, (**संपूयणं चेव सिलोयकामी**) और कोई-कोई अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और प्रशंसा के अभिलाषी बन जाते हैं।

भावार्थ

साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे। वह किसी का प्रिय या अप्रिय न करे। कोई-कोई साधु प्रव्रज्या धारण करके परीषहों और उपसर्गों की मार आने पर दीन-हीन-दुखी हो जाते हैं, और प्रव्रज्या को छोड़कर पुनः पतित हो जाते हैं, या पुनः गार्हस्थ्य के विषाद में मग्न हो जाते हैं। कोई-कोई मुनि दीक्षा लेकर अपनी पूजा प्रतिष्ठा और प्रशंसा का इच्छुक हो जाता है।

व्याख्या

समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग

इस गाथा में शास्त्रकार ने प्राणिकृत एवं परिस्थितिकृत समत्व को समाधि का उत्तम मार्ग सूचित किया है। प्राणिकृत समत्व इस प्रकार है - साधु संसार के सभी प्राणियों पर समत्वदृष्टि रखे। छहों काया के जीवों को आत्मवत् देखे। किसी प्राणी को अपना प्रिय और किसी को अप्रिय न समझे। जब साधु इस प्रकार सर्वभूतात्मभूत हो जाएगा, तब न तो किसी पर रोष करेगा, और न तोष। जैसे कि कहा है—

नत्थिय य स कोइ दिस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।

अर्थात्—समस्त जीवों में साधु का न तो कोई द्वेष का पात्र है और न कोई प्रेम-भाजन।

ऐसे समभावी साधु का यह चिन्तन होता है कि जैसे मुझे दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी दुःख अप्रिय है। इसलिए समत्व से युक्त साधु किसी का भी प्रिय या अप्रिय न करे, किन्तु ऐसे मामलों में निःसंग एवं निर्लेप होकर रहे। इस प्रकार प्राणिकृत-समत्व से युक्त साधु ही सम्पूर्ण भावसमाधि से सम्पन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा समत्व है—परिस्थितिकृत। वह इस प्रकार है—भावसमाधि में सम्यक् उन्नति करके यानी दीक्षा लेकर भी कई साधक परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर समाधिभाव को खो बैठते हैं, दीन हो जाते हैं, पश्चात्ताप करते हैं और विषयार्थी होकर फिर गृहस्थ हो जाते हैं। यह समत्वभंग है। इसी प्रकार कई साधक दीक्षा लेकर अपने सत्कार-सम्मान या प्रसिद्धि-प्रशंसा के चक्कर में पड़ जाते हैं। जब पूजासत्कार या प्रसिद्धि नहीं मिलती तो वे पार्श्वस्थ बनकर खेद करते हैं या ज्योतिष, सामुद्रिक या निमित्तशास्त्र आदि पढ़कर पूजा-प्रतिष्ठा पाने का उपक्रम करते हैं, यह भी समत्वभंग है। तात्पर्य यह है कि साधु परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने की परिस्थिति में भी समभाव रखे, और सत्कार-प्रशंसा या सम्मान की कामना के समय भी संतुलित रहे। सत्कार-सम्मान न मिलने पर भी समत्व रखे। इस प्रकार का परिस्थितिक समत्व ही समाधि का उत्तम मार्ग है।

मूल पाठ

आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥८॥

संस्कृत छाया

आधाकृतञ्चैव निकाममीणो, नियामचारी च विषण्णेषी ।
स्त्रीषु सक्तश्च पृथक् च बालः, परिग्रहं चैव प्रकुर्वाणः ॥८॥

अन्वयार्थ

(**आहाकडं चेव निकाममीणे**) जो साधक दीक्षा लेकर आधाकर्मी आहार की अत्यन्त लालसा रखता है, (**नियामचारी य विसण्णमेसी**) तथा जो आधाकर्मी आहार के लिए इधर-उधर बहुत घूमता है, वह वास्तव में विषण्ण संयमपालन में शिथिल (कुशील) बनना चाहता है। (**इत्थीसु सत्ते य**) तथा जो स्त्रियों में आसक्त रहता है, (**पुढो य बाले**) स्त्री के विलासों में अज्ञानी की तरह मुग्ध रहता है तथा (**परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे**) स्त्री की प्राप्ति के लिए परिग्रह रखता है, वह पापकर्म करता है।

भावार्थ

जो पुरुष प्रव्रज्या लेकर आधाकर्मी आहार की बहुत लालसा रखता है, और आधाकर्मी आहार की तलाश में अत्यन्त भटकता है, वह सचमुच कुशील (शिथिलाचारी—विषण्ण) बनना चाहता है। तथा जो स्त्रियों में आसक्त रहता है और अज्ञानी की तरह स्त्रियों के विलासों में मुग्ध हो जाता है, तथा स्त्री-प्राप्ति के लिए परिग्रह संचित करता है, वह सरासर पापकर्म करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

ये समाधिभाव को प्राप्त नहीं कर सकते ?

इस गाथा में शास्त्रकार ने दो प्रकार के साधकों को स्पष्टतः समाधिभाव से कोसों दूर बताया है—एक तो वे जो आधाकर्मी आहार या उपकरण आदि की प्रबल इच्छा करते हैं, और वैसे दोषयुक्त आहार की तलाश में घंटों तक घूमते रहते हैं, दूसरे वे साधक जो स्त्रियों में आसक्त होकर उनके हावभाव और हासविलास में मुग्ध रहते हैं, उन्हें पाने के लिए धन जुटाते हैं। जो आहार आदि साधु को देने के लिए बनाया जाता है, वह आधाकर्मी दोष कहलाता है। इन दोनों ही दुर्व्यसनों में फँसे हुए पुरुष आखिरकार संयमक्रिया में शिथिल होकर संसाररूपी कीचड़ में फँस जाते हैं। ऐसे व्यक्ति समाधिभाव से कोसों दूर हैं, और वे पापकर्म के संचय के कारण भविष्य में भी समाधि प्राप्त नहीं कर पाते।

मूल पाठ

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इओ चुए स इहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा उ मेहावी समिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ॥९॥

संस्कृत छाया

वैरानुगृद्धो निचयं करोति, इतश्च्युतः स इदमर्थदुर्गम् ।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं, चरेन्मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः ॥९॥

अन्वयार्थ

(**वेराणुगिद्धे**) जो पुरुष प्राणियों के साथ वैर बाँधता है, (**णिचयं करेति**) वह पापकर्म की वृद्धि करता है। (**इओ चुए स इहमट्ठदुग्गं**) वह मरकर नरक आदि दुःखदायी स्थानों में जन्म लेता है। (**तम्हाउ मेहावी मुणी**) इसलिए बुद्धिमान् मुनि (**धम्मं समिक्ख**) धर्म का विचार करके (**सव्वउ विप्पमुक्के**) समस्त बन्धनों से मुक्त होकर संयम का निष्ठापूर्वक पालन करे।

भावार्थ

जो पुरुष प्राणियों की हिंसा करके उनके साथ वैर बाँध लेता है, वह पापकर्म की वृद्धि करता है तथा वह यहाँ से मरकर नरक आदि दुःखदायक स्थानों में जन्म लेता है। इसलिए विद्वान् मुनि अपने धर्म का विचार करके समस्त बन्धनों से मुक्त होकर एकमात्र संयम की साधना में संलग्न रहे।

व्याख्या

सर्वबन्धनमुक्त मुनि अपने धर्म पर दृढ़ रहे

इस गाथा में यह बताया गया है कि वैर बाँधने वाला साधक पापकर्म का संचय करके यहाँ और वहाँ दोनों जगह दुःख पाता है, अतः मुनि इन सब बन्धनों से दूर रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर अपने मुनिधर्म पर डटा रहे। जिन कर्मों से प्राणियों को पीड़ा होती है, उन कर्मों के कारण सैकड़ों जन्मों तक उन प्राणियों के साथ व्यक्ति वैर बाँध लेता है, अथवा 'आरंभ सत्तो' यह पाठान्तर भी है, उसका अर्थ होता है, सावद्यानुष्ठानरूप आरम्भ में जो संलग्न रहता है, वह उसके लिए अनुकम्पारहित होकर द्रव्यसंचय करता है और द्रव्यसंचय के निमित्त से पापकर्मों का संचय कर लेता है, जिसका दुःखद फल उसे जन्म-जन्मान्तर तक नरक आदि में भोगना पड़ता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं - 'तम्हा उ विप्पमुक्के।' अर्थात् विवेकी या मर्यादा में स्थित समाधिगुण का ज्ञाता मुनि ज्ञानादिरूप समाधिधर्म को जानकर बाह्याभ्यन्तर संगों को सर्वथा तिलांजलि देकर संयमनिष्ठ होकर रहे।

मूल पाठ

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं, हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥१०॥

संस्कृत छाया

आयं न कुर्यादिह जीवितार्थी, असज्जमानश्च परिव्रजेत् ।
निशम्यभाषी च विनीय गृद्धिं, हिंसान्वितां वा न कथां कुर्यात् ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**इहजीवियट्ठी आयं ण कुज्जा**) साधु इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से द्रव्य-उपार्जन न करे, (**असज्जमाणो य परिव्वएज्जा**) तथा स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त न रहता हुआ संयम में प्रवृत्ति करे। (**णिसम्मभासी**) साधु कोई भी बात सोच-विचार कर कहे। (**गिद्धिं विणीय**) शब्दादि विषयों में आसक्ति हटाकर (**हिंसन्नियं कहं ण करेज्जा**) हिंसा से युक्त कथा न कहे।

भावार्थ

साधु इस संसार में चिरंजीवी बनने की अभिलाषा से धन न कमाए तथा स्त्री-पुत्र आदि में अनासक्त रहकर संयम में जुटा रहे। शब्दादि विषयों से आसक्ति हटाकर रहे। साधु सोच-विचार कर कोई बात कहे, जिस कथा से हिंसा भड़कती हो, ऐसी कथा न कहे।

व्याख्या

समाधि-अर्थी साधक के लिए कुछ शिक्षाएँ

इस गाथा में समाधिअर्थी साधु के लिए कुछ शिक्षाएँ बताई हैं—

(१) धनोपार्जन न करे, (२) परिवार में आसक्ति न रखे, (३) विचार कर बोले, (४) शब्दादि विषयों से आसक्ति हटा दे और (५) हिंसोत्तेजक कथा न कहे। ये पाँचों शिक्षाएँ समाधि के लिए बहुत उपयोगी हैं। जो अपने पास आए, उसे आय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। वह है—धन का लाभ—द्रव्य की आमदनी। साधु इस लोक में असंयमी जीवन अथवा भोगप्रधान जीवन जीने की आशा से धन का उपार्जन न करे। भविष्य में जीवन निर्वाह कैसे चलेगा? इस चिन्ता से साधु द्रव्यसंचय न करे। **'छंदं ण कुज्जा'** इस पाठान्तर के अनुसार अर्थ होता है—साधु इन्द्रियों के विषयभोग की इच्छा न करे। इन पाँचों बातों से साधुजीवन में समाधि-आत्मप्रसन्नता भंग हो जाएगी। कर्मबन्धन के कारण भावी जीवन की समाधि भी खतरे में पड़ जाएगी।

मूल पाठ

आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥११॥

संस्कृत छाया

आधाकृतं वा न निकामयेत्, निकामयतश्च न संस्तुयात्।
धुनीयादुदारमनुप्रेक्षमाणः त्यक्त्वा च शोकमनुप्रेक्षमाणः ॥११॥

अन्वयार्थ

(**आहाकडं वा ण णिकामएज्जा**) साधु आधाकर्मी आहार की कामना न करे। (**णिकामयते य ण संथवेज्जा**) जो आधाकर्मी आहार की कामना करता है, उसके साथ परिचय न करे या उसकी प्रशंसा न करे। (**अणुवेहमाणे उरालं धुणे**) निर्जरा के लिए शरीर को कृश करे (**अणवेक्खमाणो सोयं चिच्चा**) शरीर की परवाह न करता हुआ उसकी चिन्ता छोड़कर एकमात्र संयमपालन में जुटा रहे।

भावार्थ

साधु आधाकर्मी दोषयुक्त आहार की इच्छा न करे, जो आधाकर्मी आहार की कामना करता है, उसके साथ संसर्ग न रखे, या उसकी प्रशंसा न करे, निर्जरा की प्राप्ति के लिए शरीर को (तप से) कृश करे, और शरीर की परवाह न करता हुआ उसकी चिन्ता छोड़कर संयमपालन में जुटा रहे।

व्याख्या

समाधिप्राप्ति का एक उपाय : शरीर के प्रति निरपेक्षता

इस गाथा में समाधिप्राप्ति का एक महत्वपूर्ण उपाय बताया है—शरीर के प्रति निरपेक्षता। साधक जब शरीर के प्रति निरपेक्ष हो जाता है, शरीर को प्रकृति के भरोसे छोड़ देता है, यथालाभ सन्तोष मानता है, जैसा भी, जो भी, जहाँ भी मिल गया, उसी से शरीर को भाड़ा दे देता है। वास्तव में शरीर को माँगकर लाए हुए उपकरण के समान जानकर साधक उसका ज्यादा लाड़-प्यार नहीं करता, तब आधाकर्मी आहार लाने या सेवन करने की उसके मन में हूक ही नहीं उठेगी और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न ही वह आधाकर्मी आहार की तलाश में घूमेगा, और न आधाकर्मी आहार लाने वालों या चाहने वालों से संसर्ग करेगा। बल्कि अगर किसी दिन आहार न मिला तो भी वह उपवास, ऊनोदरी आदि तप कर लेगा। शरीर को स्फूर्तिमान, तेजस्वी और हलका-फुलका बनाने के लिए शास्त्रकार की प्रेरणा के अनुसार वह तप द्वारा कृश करेगा, अथवा बहुत जन्मों के संचित कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करेगा। शरीर के प्रति निरपेक्षता से उसे समाधि प्राप्त होगी।

मूल पाठ

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

संस्कृत छाया

एकत्वमेतदभिप्रार्थयेदेवं प्रमोक्षो न मृषेति पश्य ।
एष प्रमोक्षोऽमृषा वरोऽपि, अक्रोधनः सत्यरतस्तपस्वी ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा**) साधु एकत्व की भावना करे (**एवं पमोक्खो न मुसंति पासं**) एकत्व की भावना करने से ही साधु निःसंगता को प्राप्त होता है, यह मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य जानो। (**एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि**) यह एकत्व भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, तथा यही सच्ची भावसमाधि और प्रधान है। (**अकोहणे सच्चरते तवस्सी**) जो क्रोधरहित तथा सत्य में रत है, और तपस्वी है, वही सर्वश्रेष्ठ समाधिपरायण है।

भावार्थ

साधु एकत्व की भावना करे। क्योंकि एकत्व की भावना करने से ही उसका संगमोक्ष (आसक्ति से मुक्ति) हो सकता है। यह मिथ्या नहीं, अपितु सत्य समझो। यह एकत्व भावना ही उत्कृष्ट मोक्ष है, यही सच्ची भावसमाधि है। जो इस भावना से युक्त होकर क्रोध नहीं करता, सत्यभाषी और तपस्वी है, वही साधक सर्वश्रेष्ठ समाधिपरायण है।

व्याख्या

एकत्व भावना ही मोक्ष प्रदायक समाधि का द्वार

साधु एकत्व की भावना करे, दूसरे की सहायता, दूसरे का आलम्बन, दूसरे का आश्रय लेने की इच्छा न करे, यहाँ तक कि आहार-पानी, शरीर, साथी, मकान, वस्त्र, इन्द्रियाँ आदि की सहायता की अपेक्षा भी न रखे, या कम से कम रखे। क्योंकि प्रत्येक प्राणी इस संसार में अकेला ही आया है, अकेला ही जाएगा। अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार प्राणी अकेला ही उन कर्मों का शुभाशुभ फल भोगेगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा कोई भी जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक से पूर्ण इस जगत में स्वकृतकर्म के फल-स्वरूप दुःख भोगते हुए की रक्षा करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए कहा है—

एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसण संजुओ ।
सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।।

एक: सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मल: साधिगमस्वभाव: ।
बहिर्भवा: सन्त्यपरे समस्ता:, न शाश्वता: कर्मभवा: स्वकीया: ।।

अकेला मेरा आत्मा ही शाश्वत है, जो ज्ञानदर्शन से युक्त है। शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं और वे कर्म के कारण संयोग को प्राप्त है। मेरा आत्मा ही एकमात्र अकेला है, वही शाश्वत, निर्मल है, ज्ञानस्वरूप है, अन्य सब बाह्यभाव-परभाव है, जो शाश्वत नहीं है, कर्म के कारण संयोग को प्राप्त हैं, स्वकीय लगते है। इस प्रकार साधु एकत्व की भावना प्रतिदिन सतत करता रहे। एकत्व की भावना से सभी झंझटों, मोहमाया, प्रपंचों, संयोगों वगैरह से अनायास ही छुटकारा (मुक्ति) हो जाएगी, इसमें जरा भी असत्य नहीं है, यह परम सत्य है। एकत्व की भावना ही उत्कृष्टमोक्ष का उपाय है, तथा यही सत्य है, वास्तविक भावसमाधि है, प्रधान है। जो क्रोध नहीं करता, उपलक्षण से मान, माया और लोभ से भी दूर है, जो तप से अपने शरीर को तपाता है, तथा सत्यरत है, वही पुरुष सबसे प्रधान, सच्चा मुक्त और समाधि-परायण है।

मूल पाठ

इत्थीसु वा आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणो ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ।।१३।।

संस्कृत छाया

स्त्रीषु चारतमैथुनेस्तु, परिग्रहञ्चैवाकुर्वाण: ।
उच्चावचेषु विषयेषु त्रायी, नि:संशयं भिक्षु: समाधिप्राप्त: ।।१३।।

अन्वयार्थ

(**इत्थीसु वा आरय मेहुणाओ**) जो पुरुष स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करता है, (**परिग्गहं चेव अकुव्वमाणो**) तथा परिग्रह भी नहीं रखता है। (**उच्चावएसु विसएसु ताई**) एवं नाना प्रकार के विषयों में राग-द्वेषरहित होकर जीवों की रक्षा करता है, (**निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते**) निःसन्देह वही साधु समाधि को प्राप्त है।

भावार्थ

जो साधक स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन से विरत है, तथा परिग्रह भी नहीं रखता है। एवं नाना प्रकार के विषयों में राग-द्वेष रहित होकर जीवों की रक्षा करता है, निःसन्देह वही साधु समाधि को प्राप्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

निःसन्देह वह साधु समाधिप्राप्त है···

इस गाथा में शास्त्रकार ने मैथुन और परिग्रह से निवृत्त साधक को समाधिप्राप्त बताया है। चाहे जैसा भी एकान्त स्थान हो, चाहे मनोहर ललनाएँ उससे सहवास की प्रार्थना कर रही हों, वह एकाकी हो, कोई तीसरा देखता न हो, फिर भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक किसी देवी, मानुषी या तिर्यञ्च नारी के साथ न तो सहवास करेगा, न ही उसके साथ कामचेष्टा करेगा, और न ही स्त्रियों के कटाक्ष, हावभाव, रमणीय अंग, नेत्र आदि से मोहित होकर मन में विकारभाव लाएगा, वह उसे माता-बहन मानकर अधोमुखी दृष्टि करके आगे चल देगा। इसी प्रकार जो साधक धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद आदि सजीव-निर्जीव किसी वस्तु पर अपना ममत्व स्थापित नहीं करता, न ही इन वस्तुओं की मन में इच्छा करता है, बल्कि धर्मोपकरणों के प्रति भी ममता-मूर्च्छा नहीं रखता। तथा उत्कृष्ट विषयों पर जिसका राग और निकृष्ट विषयों पर द्वेष नहीं है, तथा जो विशिष्ट उपदेश देकर प्राणियों की रक्षा करता है, वह मूल-उत्तर-गुणों से युक्त साधु वास्तव में भाव-समाधि को प्राप्त है। अथवा **निस्संसयं** का अर्थ **'निःसंशय'** भी हो सकता है, अर्थात्—नाना प्रकार के विषयों का जो संशय—सेवन नहीं करता है, वही साधु भाव-समाधि को प्राप्त है।

मूल पाठ

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं ।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा ॥१४॥

संस्कृत छाया

अरतिं रतिं चाभिभूय भिक्षुस्तृणादिस्पर्शं तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णञ्च दंशं चाधिसहेत, सुरभिं च दुरभिं च तितिक्षयेत् ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू**) साधु (**अरइं रइं च अभिभूय**) संयम में अरति अर्थात् खेद तथा असंयम में रति यानी राग को जीतकर (**तणाइफासं तह सीयफासं उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा**) तृण आदि का स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श एवं दंश-मशक के स्पर्श को सहन करे, (**सुब्भि व दुब्भि व तितिक्खएज्जा**) तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी सहन करे।

भावार्थ

साधु संयम में खेद एवं असंयम में प्रीति को जीतकर तथा तृण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि का स्पर्श तथा शीत-उष्ण स्पर्श, और दंश-मशक के स्पर्श को सहन करे, तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध को भी समभाव से सहे।

व्याख्या

विषयों में अनासक्त साधु भावसमाधि कैसे पाए ?

इस गाथा में यह बताया गया है कि विषयों में अनासक्त साधु को भावसमाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो साधु पंचेन्द्रियविषयों से अनासक्त हो जाता है, तब वह यह समझने लगता है कि मैं इन्द्रियविजेता हो गया, किन्तु परमार्थदर्शी एवं मन की हलचलों का भली-भाँति ज्ञाता न होने के कारण वह जरा से परीषहों के झोंके आते ही संयम से डगमगाने लगता है, मन पुनः इन्द्रियविषयों की ओर दौड़ने को ललचाता है। इस प्रकार उस साधक की संयम में निष्ठा शिथिल हो जाती है, संयम के प्रति उसकी अरुचि हो जाती है और असंयम की ओर उसकी रुचि ढलने लगती है, उसकी भाव-समाधि अपना स्थान छोड़कर भागने लगती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अरइं रइं च अभिभूय ... वा तितिक्खएज्जा**। विषयों में अनासक्त साधु को भावसमाधि प्राप्त करने के लिए संयम जो अरुचि हो रही है, उसे हटा देना चाहिए और असंयम की ओर झुकाव को भी मोड़ देना चाहिए। यानी उसे अपने मन को ऐसे साध लेना चाहिए कि जो भी परीषह आएँ, उन्हें निर्जरा का कारण जानकर समभावपूर्वक सहे। यह सोचे कि मेरे लिए सहज ही कर्मक्षय करने का अवसर आ गया है। ऐसा सोचकर न सर्दी से घबराए और न गर्मी से, न घास आदि के स्पर्श से मन में अरुचि हो और न ही दंश-मशक आदि के तीखे स्पर्श से बेचैनी हो। नाक में सुगन्ध आए या दुर्गन्ध, आँखों के सामने सुरूप आये या कुरूप, कानों से कर्णप्रिय शब्द टकराएँ या कर्णकटु; दोनों स्थितियों में समभाव से रहे, न राग करे, न द्वेष। अगर एक पर राग किया तो दूसरे पर द्वेष (घृणा या अरुचि) अवश्य होगा। इसी प्रकार जो भी परीषह आएँ उन पर समभाव से, रागद्वेषरहित होकर सोचे। तभी भाव-समाधि का सच्चा आनन्द साधु को प्राप्त होगा।

मूल पाठ

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए, न वि छायएज्जा, संमिस्सभावं पयहे पयासु ॥१५॥

संस्कृत छाया

गुप्तो वाचा च समाधिं प्राप्तो, लेश्यां समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृहं न छदेन्नाऽपि छादयेत्, संमिश्रभावं प्रजह्यात् प्रजासु ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**वईए य गुत्तो**) जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो (**समाहिपत्तो**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही समाधि को प्राप्त है। (**लेस्सं समाहट्टु परिव्वएज्जा**) साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके संयम में प्रगति करे। (**गिहं न छाए, न वि छायएज्जा**) साधु घर न छावे, और न दूसरे से छवावे। (**संमिस्सभावं पयहे पयासु**) साधु स्त्रियों से मिलना-जुलना या संसर्ग छोड़े।

भावार्थ

जो साधु वचन से गुप्त रहता है, समझ लो, वह भावसमाधि को प्राप्त है। साधु शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके संयम का अनुष्ठान करे। वह घर को न स्वयं छाए और न ही दूसरों से छवाए। तथा स्त्रियों से मेल-जोल या सम्पर्क न करे।

व्याख्या

समाधिप्राप्त के कुछ लक्षण

इस गाथा में समाधिप्राप्त साधक को पहचानने के लिए कुछ बाह्य चिह्न बताए हैं— (१) वचन से गुप्त हो (२) शुद्ध लेश्या को ग्रहण करके चलता हो, (३) घर को छाने व छवाने के प्रपंच से दूर हो, (४) स्त्रियों से मेलजोल न रखे। वास्तव में भावसमाधि के लिए ये चारों बातें अत्यन्त उपयोगी हैं। जो अधिक बोलेगा, दूसरों से गपशप लगाने में समय खोएगा वह समाधि को खो देगा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना का समय गँवाकर, वह समाधि को कैसे प्राप्त कर सकेगा? फिर अधिक बोलने से या सोच-विचारकर धर्मयुक्तवाणी न बोलने या असम्बद्ध बोलने से सुननेवाले के मन में कलह, विवाद, झगड़ा, वैमनस्य एवं ईर्ष्या-द्वेष पैदा हो जाने का अदेशा है। कोई कह सकता है कि मौन तो गूंगे या तिर्यंच पशु आदि रखते हैं, क्या वे समाधि प्राप्त कर लेंगे? इसके उत्तर में ही शास्त्रकार कहते हैं—**लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा**- जो विचारपूर्वक शुद्ध लेश्यासहित मौन रखता है, या वचनगुप्ति से रहता है, संयम में प्रवृत्ति करता है, वही समाधिभाव पा सकता है, जिसके मौन के साथ क्रूर लेश्या है, या संयम का कोई विचार नहीं है, उसका मौन अनर्थक है। साथ ही जब साधु घरबार छोड़कर अनगार बन गया है, गृहस्थों के द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाये गये मकान में कुछ समय के लिए रहता है, तब उसे घर को छाने-छवाने के प्रपंच की जरूरत ही क्या है? घर को छाने-छवाने या लीपने-पोतने की तो उसे जरूरत होती है, जिसे घर बसाना हो, स्थायीरूप से रहना हो, अपने स्वामित्व का मकान बनाना हो, यह सब साधु के लिए अनावश्यक एवं अकल्पनीय है। तथा स्त्रियों के साथ भी मेलजोल करके साधु को क्या लेना-देना है? बल्कि उनके साथ अधिक घुलने-मिलने से ब्रह्मचर्य को उसी तरह खतरा है, जैसे घी के पास आग के रहने से घी के पिघल जाने या फुक जाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का खतरा है। दीक्षा लेकर रसोई पकाने-पकवाने आदि क्रियाओं में पड़ने से स्त्रियों के साथ जो मेलजोल होता है, वह संयम के लिए खतरनाक है। अतः इन चारों बातों से जो साधक सम्पन्न हो, उसे ही समाधिप्राप्त साधक समझो।

मूल पाठ

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति।
आरंभसत्ता गढिया य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥१६॥

संस्कृत छाया

ये केऽपि लोके त्वक्रियात्मानोऽन्येन पृष्ठाः धुतमादिशन्ति।
आरम्भसक्ताः गृद्धाश्च लोके, धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम् ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**लोगंमि उ जे केइ अकिरियआया**) इस लोक में जो लोग आत्मा को क्रिया-रहित मानते हैं, (**अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति**) और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, (**आरंभसत्ता लोएगढिया**) वे आरम्भ में आसक्त हैं और विषय-भोगों में गृद्ध हैं। (**विमुक्खहेउं धम्मं ण जाणंति**) वे लोग मोक्ष के कारणरूप धर्म को नहीं जानते।

भावार्थ

इस लोक में जो आत्मा को क्रियारहित (अक्रिय) मानते हैं, और दूसरे के पूछने पर मोक्ष का अस्तित्व बतलाते हैं, वे लोग आरम्भ में आसक्त और विषयभोगों (दुनियादारी के झमेले) में गृद्ध हो रहे हैं। वे मोक्ष के कारणरूप धर्म को नहीं जानते।

व्याख्या

मोक्ष के सम्बन्ध में अस्पष्ट लोग दर्शनसमाधि से दूर

सांख्यदर्शन आदि के प्ररूपक कुछ मतवादी लोग आत्मा को क्रियारहित मानते हैं। उनका माना हुआ आत्मा[1] सर्वव्यापी, अकर्ता (निष्क्रिय) निर्गुण और भोक्ता है। मूलपाठ में 'उ' (तु) शब्द प्रयुक्त है, वह आत्मा की विशेषता का सूचक है। अर्थात् आत्मा जैसे अक्रिय है, वैसे अमूर्त भी है, क्योंकि वह दिखाई नहीं देता, तथा वह छोटे-बड़े सभी पदार्थों में रहता है, इसलिए सर्वव्यापक है। इस कारण वह स्वयं अकर्ता प्रतीत होता है। सांख्यवादी की इस मान्यता के अनुसार क्रियारहित आत्मा में बन्ध और मोक्ष कथमपि घटित नहीं हो सकते। किन्तु उनसे यह सवाल पूछने पर कि अक्रिय आत्मा के बन्ध और मोक्ष कैसे होते हैं? वे कथंचित कुटिल-

---

१. जैसे कि कहा है—'**अकर्ता, निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।**'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग का आश्रय लेकर अक्रियावाद-सिद्धान्त में भी आत्मा के बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व बताते हैं। परन्तु वे अज्ञजीव बन्धमोक्ष का स्वरूप जानते तो बन्ध के कारण-भूत आरम्भ एवं विषयों में आसक्त क्यों होते ? वे अहिंसाधर्म को मोक्ष का कारण मानते तो हिंसाजनक आरम्भों --विविध आरम्भों में क्यों प्रवृत्त होते हैं ? परन्तु देखा जाता है कि सांख्यमतवादी बन्धन-मोक्ष के विषय में केवल गाल बजाते हैं, बन्ध के कारणों से दूर होकर मोक्ष के कारणों में प्रवृत्ति नहीं करते। क्योंकि वे रसोई पकाने-पकवाने आदि की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, हरी वनस्पति का छेदन-भेदन करते हैं, कच्चे (सचित्त) पानी का उपयोग पीने, रसोई बनाने व स्नान आदि में करते हैं। इस प्रकार सावद्य कार्यों में प्रवृत्त सांख्यवादी श्रुत-चारित्ररूप धर्म मोक्षमार्ग को नहीं जानते।

मूल पाठ

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरियं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढई वेरमसंजयस्स ॥१७॥

संस्कृत छाया

पृथक् छन्दा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रियं पृथक्वादम् ।
जातस्य बालस्य प्रकुर्त्य देहं, प्रवर्धते वैरमसंयतस्य ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**इह माणवा उ पुढो छंदा**) इस संसार में मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, (**किरियाकिरियं च पुढो य वायं**) इसलिए कोई क्रियावाद को मानते हैं और कोई उससे भिन्न अक्रियावाद को। (**जातस्स बालस्स पकुव्व देहं**) वे जन्मे हुए (सद्यःजात) बालक के शरीर को काटकर अपना सुख पैदा करते हैं, (**असंजयस्स वेरं पवड्ढई**) वस्तुतः ऐसे असंयमी व्यक्ति का वैर (प्राणियों के साथ) बढ़ता जाता है।

भावार्थ

जगत् में मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इस कारण कोई क्रियावाद को मानता है तो कोई उससे विपरीत अक्रियावाद को। तथा कोई ताजे जन्मे हुए बच्चे के शरीर को काटकर अपना सुख मानते हैं, वस्तुतः ऐसे असंयमी लोग दूसरों के साथ वैर ही बढ़ाते हैं।

व्याख्या

अज्ञानमूलक मतों के एकान्त आश्रय से समाधि नहीं

इस विश्व में भिन्न-भिन्न रुचियों के मनुष्य हैं। इसी कारण कोई एकान्त क्रियावाद को मानते हैं और कोई एकान्त अक्रियावाद को। क्रियावादी कहते हैं कि पुरुषों को क्रिया ही फल देती है, ज्ञान नहीं; क्योंकि स्त्री, भोज्यपदार्थ एवं भोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की वस्तुओं के ज्ञान-मात्र से कोई सुखी नहीं होता।[1] इस प्रकार क्रियावादी क्रिया को ही फलदायी मानकर एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेते हैं। इसके विपरीत अक्रियावादी अपना ही राग अलापते हैं। इसका स्वरूप आगे चलकर बताया जाएगा। कहने का आशय यह है कि इस संसार में नाना प्रकार की रुचि वाले मनुष्य हैं। कोई एकान्त क्रियावाद का आश्रय लेकर मोक्ष की प्ररूपणा करते हैं और कोई अक्रियावाद को लेकर, परन्तु दोनों ही एकान्तवादी हैं, मोक्ष का स्वरूप दोनों ही सम्यक्-रूप से नहीं जानते। कई तो आरम्भ में आसक्त और इन्द्रियों के गुलाम बनकर सुख-शान्ति एवं सम्मान-प्रतिष्ठा की लालसा से सुख की इच्छा से युक्त, हिताहित विवेकविकल, तुरन्त जन्मे हुए बालक के शरीर को काटकर टुकड़े-टुकड़े करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार दूसरों को पीड़ा देने वाली क्रिया करने वाला तथा किसी भी पाप से अनिवृत्त असंयती जीव उन प्राणियों के साथ सैकड़ों जन्मों तक चलने वाले पारस्परिक वैर को बढ़ाता है। यहाँ '**जायस्स बालस्स पकुव्व देहं**' के बदले '**जायाए बालस्स पगब्भणाए**' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—दयारहित तथा हिंसादि कार्यों में प्रवृत्त अज्ञानी जीव की जो हिंसावाद में धृष्टता है, उससे प्राणियों के साथ उसका वैर ही बढ़ता है।

मूल पाठ

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्ठेसु मूढे अजरामरेव्व ॥१८॥

संस्कृत छाया

आयुःक्षयं चैवाबुध्यमानः ममेति स साहसकारी मन्दः ।
अहनि च रात्रौ परितप्यमानः अर्थेषु मूढोऽजरामर इव ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे**) आरम्भ में आसक्त पुरुष आयुष्य क्षय होना नहीं जानता, (**ममाति से साहसकारि मंदे**) किन्तु वह मूर्ख वस्तुओं पर ममता करता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। (**अहो य राओ परितप्पमाणो**) वह रात-दिन चिन्ता में संतप्त रहता है, (**अजरामरेव्व अट्ठेसु मूढे**) वह मूढ़ अपने को अजर-अमर की तरह मानता हुआ धन में आसक्त रहता है।

भावार्थ

आरम्भ में आसक्त अज्ञानी जीव यह नहीं समझता कि एक दिन यह आयुष्य समाप्त हो जाएगी, बल्कि वह विवेकमूढ़ वस्तुओं पर ममत्व करता

---

१. क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ दिन-रात नाना प्रकार की चिन्ताओं से बेचैन रहता है। वह अपने आपको अजर-अमर समझता हुआ धन में आसक्त रहता है।

व्याख्या

इन्हें किसी प्रकार की समाधि प्राप्त नहीं होती

इस गाथा में ऐसे लोगों का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है, जिन्हें द्रव्य-समाधि भी प्राप्त नहीं होती, भावसमाधि तो बहुत दूर की बात है। ऐसे लोग समाधि से कोसों दूर रहते हैं।

जैसे तालाब का बाँध टूट जाने पर उससे निकलते हुए पानी को मछली नहीं जान पाती है, वैसे ही समाधि के शत्रु मूढ़ लोग अपनी आयु प्रतिदिन क्षीण हो रही है, इसे नहीं जानते।

एक बनिये ने बहुत परिश्रम करके पर्याप्त धन कमाया। उसने सोचा कि अगर राजा, चोर या मेरे भाइयों को पता लग गया तो वे इस धन को ले लेंगे। अतः नगरी के बाहर इसे गाड़ आऊँ। यह सोचकर धन की थैली लेकर चुपके से वह रात को चल पड़ा और उज्जयिनी नगरी के बाहर जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। वह वहाँ बैठा-बैठा रातभर यही सोचता रहा कि इस धन को यहाँ गाड़ूँ या नहीं, यदि नहीं गाड़ूँगा तो राजा आदि को पता लगने पर वे ले लेंगे। यहाँ धन गाड़ने से कहीं किसी ने देख लिया या किसी के हाथ पड़ गया तो मेरा सर्वस्व धन चला जायेगा। इसी उधेड़ बुन में सारी रात बीत गई, उजाला होने लगा। धन गाड़ने की धुन में ही वह गड्ढा खोद रहा था कि तभी राजपुरुष आ धमके। वे उसको चोर समझकर उसका सब धन छीनकर ले गए। जैसे उस बनिये ने धन की चिन्ता में सोचते-सोचते रात्रि कब व्यतीत हो गई, यह नहीं जाना, इसी प्रकार धनासक्त मूढ़ लोग धन की धुन में पड़कर अपनी आयु का नष्ट होना नहीं जानते और आरम्भ-परिग्रह में रात-दिन डूबे रहकर साहसपूर्वक पापकर्म करते रहते हैं। कई जीव भम्मण बनिये की तरह कामभोग के पिपासु होकर अहर्निश धन-उपार्जन के लिए चिन्तित और व्यग्र होते हुए आर्तध्यान करके शरीर को क्लेश देते रहते हैं। इसीलिए कहा है—

अजरामरवद् बालः क्लिश्यते धनकाम्यया ।
शाश्वतं जीवितं चैव मन्यमानो धनानि च ॥

मैं अजर-अमर रहूँगा, इस आशा से अज्ञानी जीव धन की कामना से क्लेश पाता है। साथ ही वह अपनी जिंदगी और धन दोनों को शाश्वत मानता है। धनार्थी जीव अपने आपको अजर-अमर मानकर अहर्निश धन के पीछे दौड़ लगाता है, न खाने का ठिकाना है, न सोने का। धन की रक्षा के लिए जमीन खोदता है, कभी पहाड़ पर खोदता है। कहीं भी उसके चित्त को चैन नहीं। इस प्रकार हाय-हाय करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन मौत आ धमकती है और वह हाथ मलता रह जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्रकार की समाधि कैसे प्राप्त कर सकता है ?

मूल पाठ

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं जे बंधवा जे य पिया य मित्ता ।
लालप्पई सेऽवि य एइ मोहं, अन्ने जणा तस्स हरंति वित्तं ॥१९॥

संस्कृत छाया

जहाहि वित्तं च पशूंश्च सर्वान् ये बान्धवा ये च प्रियाश्च मित्राणि ।
लालप्यते सोऽपि चैति मोहम् अन्येजनास्तस्य हरन्ति वित्तम् ॥१९॥

अन्वयार्थ

(**वित्तं सव्वं पसवो य जहाहि**) धन तथा समस्त पशु आदि का त्याग करो। (**जे बंधवा जे य पिया य मित्ता**) तथा जो बान्धव, प्रियजन एवं मित्र हैं, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नहीं करते। (**सेऽवि लालप्पई**) तथापि मनुष्य, पशु, प्रियजन आदि के लिए बार-बार शोकाकुल होकर प्रलाप करता है, (**एइ य मोहं**) और मोह को प्राप्त होता है। (**अन्ने जणा तस्स वित्तं हरंति**) उसके मरने पर उसके द्वारा अत्यन्त क्लेश से उपार्जन किये हुए उस धन को दूसरे लोग ही हड़प जाते हैं।

भावार्थ

धन और पशु आदि समस्त पदार्थों को छोड़ो। तथा जो बांधव हैं, प्रियजन हैं और मित्र हैं, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नहीं करते, फिर भी मनुष्य इनके लिए विलाप करता है, मोहग्रस्त होता है। किन्तु उसके मर जाने पर उसका अत्यन्त क्लेश से कमाया हुआ सब धन दूसरे ही लोग हजम कर जाते हैं।

व्याख्या

ममत्व का पुतला समाधि नहीं पा सकता

इस गाथा में ममता से पूर्ण मनुष्य की अधम एवं क्लेशयुक्त दशा का वर्णन किया गया है। जो लोग यह समझते हैं कि धन, पशु, बन्धु-बान्धव, परिजन आदि से शान्ति, सुख और समाधि प्राप्त होती है, वे भ्रम में हैं। शास्त्रकार ने उनकी अधम दशा का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है। गुरुजनों द्वारा धन, पशु एवं स्वजनों के प्रति ममत्व त्याग का बार-बार उपदेश देने पर भी उक्त भ्रान्ति के शिकार मोहीजन इनका ममत्व नहीं छोड़ते, बल्कि जो कुछ भी उपकार नहीं कर सकते, उनके लिए वह मोह करके बार-बार झूरता है, रोता है, मोहवश उनको सुख देने के लिए धन कमाता है। किन्तु कण्डरीक के समान रूपवान, मम्मण वणिक् की तरह धनवान और तिलक सेठ की तरह धान्यवान होने पर भी ऐसे मोही पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि को नहीं प्राप्त कर सकते। बल्कि अत्यन्त दुःख से जो धन उसने कमाया था, उसे उसके मरते ही दूसरे लोग हड़प जाते हैं, वह पछताता हुआ पापकर्म की गठड़ी सिर पर लिए हुए परलोक को विदा हो जाता है। यह है ममत्व के पुतलों की समाधिहीन दशा! यह जानकर साधक को इन सबके प्रति ममत्व एवं पापकर्म का सर्वथा त्याग करके समाधिनिष्ठ बनना चाहिए।

मूल पाठ

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावी समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

संस्कृत छाया

सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तो, दूरे चरन्ति परिशंकमानाः ।
एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं दूरेण पापं परिवर्जयेत् ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**चरंता खुड्डमिगा सीहं परिसंकमाणा**) वन में विचरण करते हुए छोटे-छोटे मृग सिंह के भय की आशंकित होते हुए (**दूरे चरंती**) दूर ही चरते हैं या विचरण करते हैं। (**एवं तु मेहावी धम्मं समिक्ख**) इसी प्रकार बुद्धिमान साधक धर्म की रक्षा का विचार करके पाप से शंकित हुए (**पावं दूरेण परिवज्जएज्जा**) पाप का दूर से ही त्याग कर दे।

भावार्थ

जैसे वन में विचरते हुए छोटे मृग मृत्यु की आशंका से सिंह से बहुत दूर चरते हैं या विचरते हैं, इसी तरह बुद्धिमान साधक धर्म की रक्षा का विचार करके पाप से शंकित होकर दूर से ही पाप को तिलांजलि दे दे।

व्याख्या

समाधिप्रार्थी साधक पाप को पास न फटकने दे

शास्त्रकार एक दृष्टान्त द्वारा पाप से दूर रहने की बात समझाते हैं। जैसे मृग आदि छोटे-छोटे पशु अपने आहार की तलाश में घूमते हुए अपना घात करने वाले सिंह से डरकर दूर-दूर विचरते हैं, वैसे ही मर्यादाशील मेधावी मुनि धर्म की घात वाले पाप की आशंका से उससे मन-वचन काया से दूर ही रहे, पाप को पास न फटकने दे। अपना जीवन ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप धर्म के आचरण में लगाए, तभी समाधि प्राप्त होगी।

मूल पाठ

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

सम्बुध्यमानस्तु नरो मतिमान् पापात्त्वात्मानं निवर्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा, वैरानुबंधीनि महाभयानि ॥२१॥

अन्वयार्थ

(संबुज्झमाणे उ मतीमं णरे) धर्म को सम्यक् प्रकार से समझने वाला बुद्धिमान साधक (अप्पाण पावाउ निवट्टएज्जा) अपनी आत्मा को पापकर्म से निवृत्त करे। (हिंसप्पसूयाइं वेराणुबंधीणि महब्भयाइं दुहाइं मत्ता) हिंसा से उत्पन्न कर्म वैर बाँधने वाले हैं, वे महाभयोत्पादक हैं तथा दुःख देते हैं, यह मानकर हिंसा न करे।

भावार्थ

धर्म के तत्त्व को समझने वाला बुद्धिशाली पुरुष अपने आपको पाप से दूर रखे। क्योंकि हिंसा से उत्पन्न पापकर्म जन्मजन्मान्तर तक वैर बंधाने वाले होते हैं, वे अत्यन्त खतरनाक एवं दुःखदायी होते हैं, यह जानकर साधक हिंसा न करे।

व्याख्या

समाधिधर्मज्ञ हिंसादि पापों से दूर रहे

इस गाथा में शास्त्रकार यह बताते हैं कि समाधिधर्म को समझने वाला साधक हिंसादि पापकर्मों से दूर रहे। ऐसे साधक के लिए दो विशेषण यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं—**संबुज्झमाणे मतीमं** अर्थात् जो साधक प्रशंसनीय बुद्धि से युक्त है, मुमुक्षु है, श्रुत-चारित्ररूप धर्म या भावसमाधिरूप धर्म को समझता है। वह शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त होने से पहले निषिद्ध कर्मों (पापों) का त्याग करे, यानी हिंसा, झूठ आदि पापकर्मों से अपने आपको अलग रखे। क्यों अलग रखे? इसके लिए कहते हैं—'**हिंसप्पसूयाइं ..... महब्भयाणि**', क्योंकि हिंसा से जन्य पापकर्म अत्यन्त भयानक, वैरपरम्परा बाँधने वाले तथा दुःखदायक होते हैं। अर्थात् हिंसा से सैकड़ों जन्मों तक प्राणियों के साथ वैर चलता है, वह नरक आदि महादुःखमय स्थानों में ले जाता है। वह पाप बहुत ही भयजनक है। यह जानकर साधक स्वयं को पाप से दूर रखे। यहाँ '**निव्वाणभूएव्व परिव्वएज्जा**' पाठान्तर भी है, जिसका भावार्थ है—जैसे युद्ध से लौटा हुआ पुरुष निवृत्त होकर किसी की हिंसा नहीं करता, वैसे सावद्यानुष्ठान से रहित पुरुष किसी की हिंसा न करे, संयम पालन में प्रगति करे।

मूल पाठ

मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं न कुज्जा न य कारवेज्जा, करंतमन्नं पि य णाणुजाणे ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

मृषा न ब्रूयान्मुनिराप्तगामी, निर्वाणमेतत् कृत्स्नं समाधिम् ।
स्वयं न कुर्यान् न च कारयेत्, कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात् ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**अत्तगामी मुणि मुसं न बूया**) आप्त पुरुषों (सर्वज्ञों) के मार्ग पर चलने वाला मुनि झूठ न बोले। (**एयं णिव्वाणं कसिणं समाहिं**) यह असत्यभाषण का त्याग ही निर्वाण—मोक्ष है और यही भावसमाधि कही गई है। (**सयं न कुज्जा, न य कारवेज्जा, करंतमन्नं पि य ण अणुजाणे**) साधु स्वयं असत्य का तथा दूसरे महाव्रतों के अतिचारों—दोषों का स्वयं सेवन न करे, दूसरे से सेवन न कराए, और इनका सेवन करते हुए अन्य व्यक्ति को भी अच्छा न समझे।

भावार्थ

सर्वज्ञ आप्त पुरुषों के मार्ग का अनुयायी साधु असत्य न बोले, क्योंकि इस असत्यभाषण के त्याग को ही सम्पूर्ण भावसमाधि और मोक्ष कहा गया है। इसी तरह साधु हिंसा, झूठ आदि पापों या अन्य व्रतों के दोषों का सेवन स्वयं न करे, दूसरे से सेवन न कराए और जो इनका सेवन करता हो उसे अच्छा न समझे।

व्याख्या

असत्य एवं अन्य पापों से दूर रहना ही सम्पूर्ण समाधि

इस गाथा में समस्त पापों से दूर रहने को ही सम्पूर्ण समाधि या निर्वाण कहा गया है। साधक को असत्य आदि पापों का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग क्यों करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अत्तगामी**।' आप्त-गामी का अर्थ है—आप्त पुरुषों के बताए मार्ग पर चलने वाला। आप्त के अर्थ होते हैं- आप्त यानी मोक्षमार्ग, या हितैषी, या वीतराग, रागादि दोष जिसके नष्ट हो गए हों, वह महापुरुष, अथवा सर्वज्ञ, उनके बताए मार्ग पर चलने वाला आप्त-गामी है। आप्तगामी होने के कारण मुनि झूठ न बोले। असत्य-त्याग ही मोक्ष है, वही सम्पूर्ण भावसमाधि बताई है। स्नान-भोजन आदि से या शब्दादि विषयों के सेवन से जो सांसारिक समाधि उत्पन्न होती है, वह निश्चित या आत्यन्तिक नहीं है, असम्पूर्ण है, जबकि यह समाधि निश्चित, आत्यन्तिक और सम्पूर्ण है। अतः साधु असत्य आदि समस्त पापों को या व्रतों से सम्बन्धित अतिचारों (दोषों) का तीन करण और तीन योग से त्याग करे। तभी वह सम्पूर्ण समाधि का आराधक हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ।।२३।।

संस्कृत छाया

शुद्धे स्याज्जाते न दूषयेत् अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्नः ।
धृतिमान् विमुक्तो न च पूजनार्थी, न श्लोककामी च परिव्रजेत् ।।२३।।

अन्वयार्थ

(**सिया सुद्धे जाए न दूसएज्जा**) उद्गमादि-दोषरहित शुद्ध आहार मिलने पर साधु राग-द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे। (**अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने**) तथा उस आहार में मूर्च्छित होकर बार-बार उसकी लालसा न रखे। (**धितिमं विमुक्के**) साधु धृतिमान और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त बने। (**ण य पूयणट्ठी न य सिलोयगामी**) साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे। (**परिव्वएज्जा**) किन्तु शुद्ध संयम-पालन में उद्यत रहे।

भावार्थ

उद्गमादि दोष से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु राग-द्वेष-युक्त होकर चारित्र को दूषित न करे। तथा उत्तम आहार में मूर्च्छित न हो और न ही बार-बार वैसे आहार की लालसा रखे। साधु धैर्यवान् और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होकर रहे; तथा वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की अभिलाषा न रखते हुए शुद्ध संयम का पालन करे।

व्याख्या

आचारसमाधि के लिए क्या हेय उपादेय ?

साधु को आचारसमाधि के लिए कुछ बातें त्याज्य समझनी चाहिए और कुछ उपादेय। (१) यदि निर्दोष आहार प्राप्त हुआ हो तो उस आहार का सेवन करते समय राग-द्वेष न करे, क्योंकि मनोज्ञ आहार के प्रति आसक्ति होगी, और अमनोज्ञ के प्रति घृणा होगी तो साधु अपने चारित्र को दूषित कर लेगा। (२) मनोज्ञ सरस आहार में मूर्च्छित न हो, और न ही बार-बार वैसे आहार की अभिलाषा करे। (३) अपनी पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे। (४) धृतिमान हो और (५) बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त हो।

इस दृष्टि से आचारसमाधि के लिए तीन बातें त्याज्य हैं, और दो बातें उपादेय हैं।

निर्दोष आहार का सेवन भी निर्दोष ढंग से करे तो उसका निर्दोष आहार लाना सफल है। कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! न हु छलिओ ।
इण्हि जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ।।

"हे जीव ! ब्यालीस दोषरूप गहन संकट में तो तूने धोखा नहीं खाया, लेकिन अब उस भोजन को सेवन करते समय तू रागद्वेष करके धोखा नहीं खाएगा तो तेरा निर्दोष आहार लाना और करना सब सफल है।" साथ ही सरस आहार मिलने पर साधु रागवश उसे बार-बार पाने की इच्छा न करे, किन्तु केवल संयम के निर्वाह के लिए यथाप्राप्त आहार करे। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अच्छा आहार मिलने पर प्रायः ज्ञानी पुरुष की भी विशिष्ट अभिलाषा हो जाती है, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने**' अर्थात् प्राप्त सरस आहार में मूर्च्छित न हो और अप्राप्त सरस आहार की इच्छा न करे। किसी अनुभवी साधक ने कहा है—

भुत्तभोगो पुरा जोऽवि गीयत्थोऽवि य भाविओ ।
संतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्पं तु खुब्भइ ।।

—'जो मुक्त भोगी है, गीतार्थ है एवं जो आत्म-भावना में सदा प्रवृत्त रहता है। वह साधक भी उत्तम आहार प्राप्त होने पर शीघ्र उसकी आकांक्षा करने लगता है।' बाकी जो हेय बातें हैं, वे भी स्पष्ट हैं और उपादेय भी स्पष्ट हैं।

मूल पाठ

निक्खम्म गेहा उ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाणछिन्ने ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ।।२४।।

।।त्ति बेमि।।

संस्कृत छाया

निष्क्रम्य गेहात्तु निरवकांक्षी, कायं व्युत्सृजेच्छिन्ननिदानः ।
नो जीवितं, नो मरणावकांक्षी, चरेद् भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः ।।२४।।

।। इति ब्रवीमि ।।

अन्वयार्थ

(**गेहा उ निक्खम्म**) साधु घर से निकलकर यानी दीक्षा धारण करके (**निरावकंखी**) अपने जीवन में निरपेक्ष हो जाय। (**कायं विउसेज्ज**) तथा शरीर का व्युत्सर्ग करे, (**नियाणछिन्ने**) तथा अपने तप के फल की कामना (निदान) न करे, (**वलया विमुक्के**) संसार (दुनियादारी) के चक्कर से विमुक्त होकर (**णो जीवियं णो मरणावकंखी चरेज्ज**) वह जीवन और मरण की आकांक्षा न रखता हुआ विचरण करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

प्रव्रज्या ग्रहण किया हुआ साधक अपने जीवन में निरपेक्ष होकर रहे। वह शरीर पर से ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) करे। तथा वह अपनी तपश्चर्या के फल की कामना (निदान) न करे तथा सांसारिक झंझटों से अलग रहकर जीने और मरने की इच्छा न रखता हुआ विचरण करे।

व्याख्या

आदर्श तपःसमाधि के पाँच मूलमंत्र

इस गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार तपस्या से प्राप्त होने वाली भावसमाधि का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए शास्त्रकार ने ५ मूलमन्त्र आदर्श तपःसमाधि के रूप में प्रस्तुत किये हैं—(१) प्रव्रज्या ग्रहण करके साधु अपने जीवन में निरपेक्ष हो जाय, (२) देह पर ममत्व का विसर्जन करे, (३) अपनी तपस्या के फल के रूप में भोगाकांक्षा (निदान) न करे, (४) सांसारिक झंझटों से अलग रहे, और (५) न जीवन की आकांक्षा करे, न मृत्यु की। साधु अगर अपने में किसी से कुछ अपेक्षा रखेगा तो उसकी अपेक्षा पूरी न होने पर उसे दुःख होगा, अपेक्षा पूरी हो गई तो लोभ और परावलम्बन बढ़ेगा। इसलिए निरपेक्षता ही आदर्श समाधि का पहला मंत्र है। दूसरा है -- काय-व्युत्सर्ग। इसका अभ्यास हो जाने पर साधु कहीं भी कैसे भी निकृष्ट स्थान में भी संतोष से रह सकता है। तीसरा मंत्र है अपनी साधना के फलस्वरूप भोगाकांक्षा करना, सौदेबाजी है और यह सौदा भी घाटे का है। इसलिए साधु को निदान (नियाणा) से दूर रहना चाहिए। चौथा समाधिमंत्र है - सांसारिक झंझटों से मुक्त रहे। वास्तव में जब साधु सांसारिक झंझटों में फँस जाता है, तब उसकी मानसिक शांति भंग हो जाएगी, समाधि खतरे में पड़ जाएगी। और पाँचवाँ मंत्र है—जीवन-मरण की आकांक्षा से रहित होना। जब साधक अधिक जीने की या कष्ट आने पर जल्दी मरने की आकांक्षा करेगा तो उससे कर्मक्षय के बजाय कर्मबन्धन ही अधिक होगा। इसलिए वह पाँचवाँ मंत्र भी उत्तम है। इस प्रकार आदर्श तपःसमाधि के ५ मूलमंत्रों के अनुसार साधक को अपना जीवन ढालना चाहिए।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र का दशम समाधि-अध्ययन अमर-सुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ समाधि नामक दशम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग : एकादश अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

दसवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब ग्यारहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। दसवें अध्ययन में भाव-समाधि का निरूपण किया गया है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तपरूप है, और इस अध्ययन में वर्णित भावमार्ग भी यही है।

इस अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। यहाँ प्रशस्तज्ञान आदि भावमार्ग के आचरण का वर्णन है। इस अध्ययन का विषय समाधि नामक दसवें अध्ययन से मिलता-जुलता है। इसमें उसी प्रशस्त भावमार्ग का विवेचन किया गया है, जिससे आत्मा को समाधि प्राप्त हो। ऐसा मार्ग—ज्ञानमार्ग, दर्शनमार्ग, चारित्रमार्ग या तपो-मार्ग कहलाता है। संक्षेप में इसे संयममार्ग या मोक्षमार्ग अथवा सदाचारमार्ग भी कहा जा सकता है। इस पूरे अध्ययन में आहारशुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणाति-पातविरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है और कहा गया है कि प्राणों की परवाह किए बिना इन सबका पालन करना चाहिए। कुछ प्रवृत्तियों के विषय में साधु को तटस्थ रहने का उपदेश दिया गया है।

निक्षेप की दृष्टि से 'मार्ग' का विवेचन

निर्युक्तिकार ने मार्ग के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यों ६ निक्षेप किये हैं। उनमें नाम और स्थापना तो सुगम है। ज्ञशरीर-भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यमार्ग के फलकमार्ग (तख्ते बिछाकर बनाया हुआ रास्ता), लतामार्ग (बेल को पकड़कर पार किया जाने वाला मार्ग), आन्दोलनमार्ग, (झूले में बैठकर पार किया जाने वाला पथ), वेत्रमार्ग (बेंत की लता को पकड़कर पार किया जाने वाला नदी पथ), रज्जुमार्ग (रस्सी के सहारे से ऊँचे स्थान पर चढ़ा जाने वाला पथ), दवनमार्ग (किसी सवारी द्वारा चलकर जाने वाला मार्ग), कीलमार्ग (ठुकी हुई कील के संकेत से तय किया जाने वाला मार्ग), बिलमार्ग (गुफा के आकार के बने हुए रास्ते से जाने वाला), अजादिमार्ग (बकरे, ऊँट आदि पर चढ़कर तय किया जाने वाला), पक्षिमार्ग (भारंड, गरुड़ आदि पक्षी पर बैठकर जिस मार्ग से दूसरे देश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं), छत्रमार्ग (छतरी के द्वारा जो मार्ग तय किया जाए), जलमार्ग (नौका आदि द्वारा पार किया जाने वाला), आकाशमार्ग (विमान आदि से तय किया जाने वाला मार्ग) आदि प्रकार हैं। ये सब द्रव्यमार्ग हैं। इस अध्ययन में इस मार्ग का वर्णन नहीं है।

क्षेत्रमार्ग – जो मार्ग ग्राम, नगर तथा जिस प्रदेश में या जिस शालिक्षेत्र आदि में जाता है, वह अथवा जिस क्षेत्र में मार्ग की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्र-मार्ग है। इसी तरह कालमार्ग के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

भावमार्ग—दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। दोनों ही भावमार्गों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान, ये अप्रशस्त भावमार्ग हैं, जबकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये प्रशस्त भावमार्ग हैं। प्रशस्त भाव-मार्ग का फल सुगति है और अप्रशस्त भावमार्ग का फल दुर्गति है। इस अध्ययन में सुगतिरूप फलदायक प्रशस्त भावमार्ग का ही वर्णन है। दुर्गतिफलदायक अप्रशस्तमार्ग को बताने वाले प्रावादुकों के ३६३ भेद हैं, जिन्हें निर्युक्तिकार एक गाथा द्वारा बताते हैं—

असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होई चुलसीई।
अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसं ॥

अर्थात्—क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानिकों के ६७ और विनयवादियों के ३२ भेद हैं। कुल मिलाकर सब ३६३ भेद हैं। समवसरण-अध्ययन में इनका स्वरूप बताया जाएगा।

चौभंगी की दृष्टि से भावमार्ग का निरूपण

क्षेम, अक्षेम, क्षेमरूप और अक्षेमरूप—यों मार्ग के ४ विकल्प (भंग) होते हैं। **पहला मार्ग क्षेम** है, क्योंकि उसमें चोर, सिंह, व्याघ्र आदि का उपद्रव नहीं है, और क्षेमरूप भी है, क्योंकि वह सम है, तथा छाया, फल, फूल, जलाशय आदि से पूर्ण है। **दूसरा मार्ग क्षेम** तो अवश्य है, क्योंकि उसमें चोर आदि का उपद्रव नहीं है किन्तु क्षेमरूप नहीं है, क्योंकि उसमें जगह-जगह कांटे, कंकर, गड्ढे, पहाड़, ऊबड़-खाबड़ रास्ते आदि हैं। **तीसरा मार्ग क्षेम** तो नहीं है, क्योंकि उसमें चोर आदि का उपद्रव है, किन्तु क्षेमरूप है, क्योंकि वह सम है, कांटे, कंकड़, पत्थर आदि नहीं हैं। **चौथा मार्ग** न तो क्षेम है, न क्षेमरूप ही है। क्योंकि इस मार्ग में दोनों प्रकार की सुविधाएँ नहीं है।

इसी प्रकार भावमार्ग के सम्बन्ध में भी चार भंग (विकल्प) होते हैं। चारों मार्ग पर चलने वाले संयमपथिक की दृष्टि से घटित होते हैं—(१) जो संयमपथिक ज्ञानादि मार्ग से युक्त हैं, द्रव्यलिंग से भी युक्त हैं, वह क्षेम तथा क्षेमरूप होने से प्रथम भंग का स्वामी है, (२) जो संयमपथिक ज्ञानादि मार्गों (गुणों) से तो युक्त है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु कारणवश द्रव्यलिंग को छोड़ रखा है, वह क्षेम तथा अक्षेमरूप दूसरे भंग का धनी है। (३) तीसरे भंग में निह्नव हैं, जो अक्षेम और क्षेमरूप है। तथा (४) थौथे भंग में गृहस्थ और परतीर्थिक हैं, जो अक्षेम और अक्षेमरूप है। इसी प्रकार ये चारों भंग मार्ग आदि में भी समझ लेने चाहिए।

सम्यक्मार्ग और मिथ्यामार्ग

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन प्रकार का भावमार्ग सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर, और गणधर आदि ने प्रतिपादित किया है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताने के कारण सर्वज्ञ तीर्थंकरों और गणधरों ने इन्हें भावमार्ग कहा है। तथा उन्होंने इनका आचरण भी किया है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—'**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**।' इसके विपरीत चरक, परिव्राजक आदि द्वारा सेवन किया जाने वाला मार्ग मिथ्या एवं अप्रशस्त है, क्योंकि उसमें हिंसाजनक कर्मकाण्डों का वर्णन है। अप्रशस्तमार्ग दुर्गतिफलदायक है। षट्काय के जीवों का घात करने वाले जो पार्श्वस्थ या स्वयूथिक हैं, उनका पकड़ा हुआ मार्ग भी कुमार्ग ही है। जो धर्माचरण में शिथिल हैं, ऋद्धि, रस, सुखसाता और मान-बड़ाई आदि में जो गुरुकर्मी रचे-पचे रहते हैं, जो प्रायः आधाकर्मी आहार का उपभोग करके षड्जीवनिकाय का घात करते हैं, और स्वयं द्वारा आचरण किये जाने वाले शिथिलाचार का ही उपदेश देते हैं, ऐसा शिथिल आचरण करने वाला परतीर्थी हो या स्वयूथिक, वह कुमार्ग पर है।

प्रशस्तमार्ग या सत्यमार्ग वह है, जिसमें तप, संयम प्रधान हैं। १८ हजार शील के भेदों का जिसमें पालन करने वाले उत्तम साधुत्व के लक्षणों से युक्त हैं, वह मार्ग समस्त प्राणिवर्ग के लिए हितकर, सर्वप्राणिरक्षक है, उसमें नौ तत्त्वों का स्वरूप स्पष्टतः प्रतिपादित है।

सत्यमार्ग के एकार्थक शब्द

निर्युक्तिकार ने सत्यमार्ग के एकार्थक १३ शब्दों का प्रयोग किया है वे। इस प्रकार हैं—(१) **पंथ** (सम्यक्त्वरूप देश से ज्ञान या चारित्ररूप इष्ट देश तक पहुँचाने वाला) (२) **मार्ग** (आत्मा जिसमें पहले से अधिक निर्मल होता हो) (३) **न्याय** (जिसमें विशिष्ट स्थान की प्राप्ति अवश्य हो) (४) **विधि** (सम्यग्दर्शन और ज्ञान की एक साथ प्राप्ति हो) (५) **धृति** (सम्यग्दर्शन आदि होने पर चारित्र की जो प्राप्ति हुई है, उसे स्थिर रखने के लिए धैर्य हो) (६) **सुगति** (सुगति की प्राप्ति कराने वाला) (७) **हित** (मुक्ति प्राप्ति का कारण) (८) **सुख** (सुख का कारण) (९) **पथ्य** (जो मोक्षमार्ग का हितकर हो) (१०) **श्रेय** (मोह आदि ११वें गुणस्थान उपशान्त होने से श्रेयस्कर हो) (११) **निवृत्ति** (संसार से निवृत्ति का कारण) (१२) **निर्वाण** (चार प्रकार के घाती कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होने से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१३) **शिव** (मोक्षपद प्राप्त कराने वाला शैलेशी अवस्था की प्राप्तिरूप चतुर्दश गुणस्थानरूप)।

ये सभी मोक्षमार्ग के पर्यायवाची शब्द होने से एकार्थक हैं।

अब इस अध्ययन की क्रम से प्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है -

मूल पाठ

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मतिमता ?।
ज मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥१॥

संस्कृत छाया

कतरो मार्ग आख्यातो, माहनेन मतिमता।
यं मार्गमृजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥१॥

अन्वयार्थ

(**मतिमता माहणेणं कयरे मग्गे अक्खाए ?**) अहिंसा के परम-उपदेशक केवल-ज्ञानसम्पन्न भगवान् महावीर स्वामी ने कौन-सा मोक्ष का मार्ग बताया है ? (**जं उज्जुं मग्गं पाविता दुत्तरं ओहं तरति**) जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर संसार को मनुष्य पार करता है।

भावार्थ

अहिंसा के उपदेशक सर्वज्ञ केवलज्ञानसम्पन्न भगवान महावीर स्वामी ने कौन-सा मोक्ष का मार्ग कहा था, जिस सरल मार्ग को पाकर जीव संसारसागर से पार हो जाता है ?

व्याख्या

एक प्रश्न : कौन-सा मोक्षमार्ग ?

इस गाथा में जम्बूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी (गणधर) से पूछते हैं—भगवन् ! तीन लोक का उद्धार करने में समर्थ, सबके एकान्त हितैषी तथा जीवहिंसा न करने का उपदेश करने वाले तीर्थंकर भगवान महावीर ने तीन लोक में मोक्ष प्रदान करने में समर्थ मार्ग कौन-सा कहा है ? जो लोकालोक में स्थित सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसे मति कहते हैं, वह केवलज्ञान ही है, वह भगवान् में विद्यमान है, इसलिए वे मतिमान हैं। ऐसे भगवान् द्वारा प्रतिपादित जो मार्ग है, वह मोक्षमार्ग, प्रशस्त भावमार्ग है, वह वस्तु का यथार्थ-स्वरूप बताने के कारण सरल मार्ग है। यही नहीं, जो वस्तु को स्याद्वाद शैली में सामान्य-विशेषरूप या नित्यानित्यरूप बताने के कारण अतिसरलतम मार्ग है, वक्र नहीं है। उसे पाने पर संसारी जीव को दुस्तर संसारसागर पार करना कठिन नहीं है। किन्तु मोक्ष की समग्र सामग्री पाना ही कठिन है। यही इस गाथा का आशय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू !, तं णो बूहि महामुणी ॥२॥

संस्कृत छाया

तं मार्गमनुत्तरं शुद्धं, सर्वदुःखविमोक्षणम् ।
जानासि वं यथा भिक्षो !, तं नो ब्रूहि महामुने ॥२॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू महामुणी**) हे भिक्षाजीवी महामुने ! (**सव्वदुक्खविमोक्खणं सुद्धं णुत्तरं तं मग्गं**) समस्त दुःखों से छुड़ाने वाले शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ उस मार्ग को (**जहा णं जाणासि**) आप जैसे जानते हैं, (**तं णो बूहि**) वह हमें बताइए ।

भावार्थ

श्री जम्बूस्वामी श्रीसुधर्मास्वामी से पूछते हैं—हे भिक्षो महामुने ! सब दुःखों से मुक्त करने वाले, शुद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकरोक्त मार्ग को आप जिस प्रकार जानते हैं, वह हमें बताइए ।

व्याख्या

सर्वदुःखमोक्षक शुद्ध श्रेष्ठ मार्ग के स्वरूप की जिज्ञासा

इस गाथा में फिर सुधर्मास्वामी से उन्हीं प्रश्नकर्ता ने मार्ग के विषय में पूछा है । मार्ग के यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—'**सव्वदुःखविमोक्खणं, सुद्धं, णुत्तरं** ।' सर्वदुःखविमोक्षण का अर्थ है—चिरकालसंचित एवं दुःख के कारणभूत जो कर्म हैं, जो वास्तव में दुःखरूप हैं, उन सब दुःखरूप कर्मों से विमुक्त कराने वाला । शुद्ध इसलिए कहा कि यह निर्दोष है, इसमें पाप या सावद्य अनुष्ठान के उपदेश की मिलावट नहीं है, पूर्वापरविरुद्ध कथन नहीं है तथा एकमात्र जीवों के कल्याण का सरल पथ है, वक्रतारहित है । अनुत्तर इसलिए कहा है कि इससे बढ़कर श्रेष्ठ और सम्पूर्ण भावमार्ग विश्व में और कोई नहीं है । वास्तव में यही मार्ग वह मार्ग है, जिसके विषय में श्री जम्बूस्वामी ने जिज्ञासा प्रकट करके सविनय निवेदन किया है कि आपने उस मार्ग को जैसा जाना-देखा-अनुभव किया है, उस तरह से हमें भी उसका स्वरूप बताइये ।

मूल पाठ

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज ? कहाहि णो ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

यदि नः केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मानुषाः ।
तेषां तु कतरं मार्गमाख्यास्ये ? कथय नः ॥३॥

अन्वयार्थ

(**जइ केइ देवा अदुव माणुसा णो पुच्छिज्जा**) यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे पूछे तो (**तेसिं तु कयरं मग्गं आइक्खेज्ज**) उनको हम कौन-सा मार्ग बताएँ ? (**कहाहि णो**) यह हमें आप बताइए ।

भावार्थ

श्री जम्बूस्वामी फिर श्री सुधर्मास्वामी से पूछते हैं—यदि कोई देवता या मनुष्य हमसे मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में पूछें तो हम उन्हें कौन-सा मार्ग बताएँ ? कृपया, यह हमें बताइए ।

व्याख्या

कौन-सा मोक्षमार्ग बताएँ ?

फिर श्री जम्बूस्वामी ने जिज्ञासा प्रकट की है कि यह ठीक है कि हम तो आपके असाधारण गुणों को जानने के कारण आपको विश्वस्त एवं आप्त मानकर उस मार्ग को मान लेते हैं किन्तु संसार से घबराये हुए सरलात्मा कोई चारनिकाय वाले देव या मनुष्य हमसे उस सम्यक् मार्ग के सम्बन्ध में विशेष विस्तार से पूछें तो हमें उन्हें क्या बताना चाहिए ? प्रश्न देवता और मनुष्य ही कर सकते हैं, इसलिए उन्हीं का उल्लेख किया गया, दूसरे प्राणियों का नहीं ।

मूल पाठ

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥४॥

संस्कृत छाया

यदि वः केऽपि पृच्छेयुर्देवा अथवा मानुषाः ।
तेषामिमं प्रतिसाधयेत्, मार्गसारं शृणुत मे ॥४॥

अन्वयार्थ

(**जइ केइ देवा अदुव माणुसा वो पुच्छिज्जा**) यदि कोई देवता अथवा मनुष्य आपसे पूछे तो (**तेसिमं पडिसाहिज्जा**) उन्हें यह (आगे कहा जाने वाला) मार्ग-सम्बन्धित प्रत्युत्तर देना चाहिए । (**मग्गसारं मे सुणेह**) वह साररूप मार्ग मुझसे सुनो ।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—यदि कोई देवता या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य आपसे मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में पूछें तो उन्हें आगे कहा जाने वाला यह मार्गसम्बन्धी प्रत्युत्तर देना चाहिए। उस सारभूत मार्ग को तुम मुझसे सुन लो।

व्याख्या

उन्हें यह मार्ग बताना !

श्री सुधर्मास्वामी द्वारा दिया गया उत्तर इस गाथा में अंकित है। उन्होंने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहा कि संसार-भय से उद्विग्न कोई देव या मनुष्य इस सम्यक् मार्ग के विषय में तुम से पूछे तो तुम उन्हें वही मार्ग बताना जो मार्ग आगे मैं तुम्हें बता रहा हूँ। कहीं-कहीं **'तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे'** यह पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ है—उनसे तुम आगे कहे जाने वाले (इस) मार्ग का कथन करना। वह मार्ग मैं तुम्हें बताता हूँ।

मूल पाठ

आणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं ववहारिणो ॥५॥

संस्कृत छाया

आनुपूर्व्या महाघोरं, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यमादायेतः पूर्वं, समुद्रं व्यवहारिणः ॥५॥

अन्वयार्थ

(कासवेण पवेइयं महाघोरं) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित उस अतिकठिन मार्ग को **(आणुपुव्वेण)** मैं क्रमशः बताता हूँ। **(समुद्दं ववहारिणो)** जैसे विदेश में व्यापार करने वाले व्यक्ति समुद्र को पार करते हैं, इसी तरह **(इओ पुव्वं जमादाय)** इस मार्ग का आश्रय लेकर आज से पहले बहुत-से लोग संसार-सागर को पार कर चुके हैं।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यवर्ग से कहते हैं—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर (सर्वज्ञ) के द्वारा प्रकाशित मार्ग को, जो कि अत्यन्त कठोर है, क्रमशः बताता हूँ। जैसे समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारी समुद्र को पार करते हैं, वैसे ही इस मार्ग को ग्रहण करके इससे पूर्व बहुत-से जीवों ने संसार-समुद्र को पार कर लिया है।

व्याख्या

सर्वज्ञ महावीरकथित मार्ग का माहात्म्य

इस गाथा में भगवान महावीर-प्रतिपादित मार्ग का माहात्म्य बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले तो उसे 'महाघोर' बताया है, वह इसलिए कि पहले तो वह प्रत्येक जीव को या यों कहिए कि प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होना ही कठिन है। जैन सिद्धान्त का माना हुआ तथ्य है कि अनन्तानुबन्धी चार कषायों का उदय हो तो जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, जो कि मोक्ष का द्वार है। फिर यह बताया है कि **'बारसविहे कसाए खविए उवसामिए व जोगेहि लब्भइ चरित्तलंभो'** अर्थात् बारह प्रकार के कषायों (अनन्तानुबन्धी चार, अप्रत्याख्यानी चार एवं प्रत्याख्यानी चार) के क्षय या उपशम करने पर जीव को शुभयोगों से चारित्र की प्राप्ति होती है। और मनुष्य-जन्म, धर्मश्रवण, धर्ममार्ग पर श्रद्धा और चारित्रपालन में पराक्रम, ये चार बातें परम दुर्लभ हैं, जो मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक हैं। इतना दुर्लभतर मोक्षमार्ग है। जैसे कायर पुरुष का युद्ध में प्रवेश करना भयदायक होता है, वैसे ही अल्पशक्ति वाले, संयम में कायर, विषयभोगासक्त मनुष्य के लिए इस (मोक्ष) मार्ग पर पैर रखना महाभयदायक है, इसलिए यह घोरतर है।

इतना होने पर भी सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यों को आश्वासन देते हुए दृष्टान्त देकर कहते हैं—इतना दुर्लभतर एवं कठोरतर होते हुए भी यदि किसी ने इस मार्ग का आश्रय ले लिया है और सावधानी रखी है तो उन्होंने आज तक दुस्तर संसार-समुद्र को आसानी से पार किया है, जैसे समुद्रमार्ग द्वारा विदेश में व्यापार करने वाले व्यापारी सावधानीपूर्वक समुद्र को पार कर लेते हैं। आशय यह है कि अधिक लाभ के लिए क्रय-विक्रय करने वाले समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाले व्यवहारी जहाज पर चढ़कर दुस्तर समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही अनन्त और निर्बाध सुख के अभिलाषी साधु सम्यग्दर्शन आदि मार्ग पर चलकर दुस्तर संसारसागर को पार लेते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मूल पाठ

अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥६॥

संस्कृत छाया

अतारिषुस्तरन्त्येके, तरिष्यन्ति अनागताः ।
तं श्रुत्वाप्रतिवक्ष्यामि, जन्तवस्तं शृणुत मे ॥६॥

अन्वयार्थ

(**अतरिंसु**) इस मार्ग का आश्रय लेकर भूतकाल में अनेक लोगों ने संसार-सागर को पार किया है, (**तरंतेगे**) तथा कोई भव्यजीव वर्तमानकाल में भी संसार-सागर को पार करते हैं, (**तरिस्संति अणागया**) एवं भविष्य में भी बहुत-से जीव संसारसमुद्र को पार करेंगे। (**तं सोच्चा पडिवक्खामि**) उस मार्ग को मैंने भगवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर से सुनकर जैसा समझा है, उस प्रकार से आपको कहूँगा। (**जंतवो तं मे सुणेह**) हे प्राणियो ! उस मार्ग को आप मुझ से सुन लें।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं—तीर्थंकरप्ररूपित इस मार्ग को ग्रहण करके भूतकाल में बहुत-से जीव संसारसमुद्र पार कर चुके हैं, वर्तमान में भी बहुत-से पार करते हैं और भविष्य में भी बहुत-से जीव संसारसागर को पार करेंगे। उस मार्ग को मैंने तीर्थंकर भगवान महावीर से सुनकर उसे जैसा समझा है, उस रूप में मैं आप जिज्ञासुओं को कहूँगा। हे जिज्ञासु जीवो ! मैं उस मार्ग का वर्णन करता हूँ, उसे आप ध्यानपूर्वक सुनें।

व्याख्या

तीनों काल में संसारसागर से पार कराने वाला मार्ग

इस गाथा में फिर भगवान महावीरकथित मोक्षमार्ग की विशेषता बताते हैं। वह मोक्षमार्ग तीनों कालों में संसार-समुद्र से पार करने वाला है। महापुरुषों द्वारा आचरित, अवश्य मोक्षदायक जिस मार्ग को स्वीकार करके पूर्व अनादिकाल में अनन्तजीवों ने समस्त कर्ममल को दूर करके संसारसागर को पार किया है। वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र आदि से सदा सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिए इस समय भी संख्यात व्यक्ति संसारसागर को पार करते हैं, तथा भविष्य में भी अनन्तकाल में अनन्तजीव इस मार्ग के द्वारा संसारसमुद्र को पार करेंगे। इसलिए यह त्रिकाल में संसारसागर पार कराने वाला, मोक्षप्राप्ति का कारण तथा प्रशस्त भावमार्ग है। श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी का आश्रय लेकर समस्त जीवों को सम्बोधित करके कहते हैं—हे जीवो ! तुम सावधान होकर मेरे द्वारा कहे जाने वाले मार्ग का वर्णन सुनो।

मूल पाठ

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आऊजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥८॥
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मइमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥९॥
एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं विजाणिया ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

संस्कृत छाया

पृथ्वीजीवाः पृथक्सत्त्वाः, आपो जीवास्तथाऽग्नयः ।
वायुजीवाः पृथक्सत्त्वाः, तृणवृक्षाः सबीजकाः ॥७॥
अथाऽपरे त्रसाः प्राणाः, एवं षट्काया आख्याताः ।
एतावानेव जीवकायो नाऽपरः कश्चिद् विद्यते ॥८॥
सर्वाभिरनुयुक्तिभिर्मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वेऽकान्तदुःखाश्च, अतः सर्वान्न हिंस्यात् ॥९॥
एवं खलु ज्ञानिनः सारं, यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसासमयं चैव, एतावन्तं विजानीयात् ॥१०॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्, ये केचित् त्रस-स्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(**पुढवी जीवा पुढो सत्ता**) पृथ्वी या पृथ्वी के आश्रित जीव पृथक्-पृथक् जीव हैं, (**आऊजीवा तहाऽगणी**) तथा जल और अग्नि के जीव भी अलग-अलग हैं। (**वाउजीवा पुढो सत्ता**) तथा वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, (**तणरुक्खा सबीयगा**) इसी तरह तृण, वृक्ष और बीज से युक्त वनस्पति में भी जीव हैं ॥७॥

(**अहावरा तसा पाणा**) इसके अतिरिक्त त्रसकाय वाले भी जीव होते हैं। (**एवं छक्काय आहिया**) इस प्रकार तीर्थंकरों ने छह जीवनिकाय (भेद) कहे हैं। (**एतावए जीवकाए**) इतना ही (मुख्य रूप से) जीवों का भेद है, (**णावरे कोइ विज्जई**) इसके अतिरिक्त और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नहीं होता ॥८॥

(**मइमं**) बुद्धिमान पुरुष (**सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं**) सभी युक्तियों से (**पडिलेहिया**) इन जीवों को विश्लेषणपूर्वक सिद्ध करके भलीभाँति देखे-जाने कि (**सव्वे अक्कंतदुक्खाय**) सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, (**अओ सव्वे अहिंसिया**) अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ॥९॥

(**णाणिणो**) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का (**एयं खु सारं**) यही सार—निचोड़ है। (**जं न हिंसइ कंचण**) कि वह किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता है। (**अहिंसा समयं चेव एतावंतं विजाणिया**) अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

(**उड्ढं अहे तिरियं**) ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक में) (**जे केइ तसथावरा**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, (**सव्वत्थ विरतिं कुज्जा**) सर्वत्र उनकी हिंसा से निवृत्त (दूर) रहना चाहिए। (**संति निव्वाणमाहियं**) इस प्रकार जीव को शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

भावार्थ

पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव हैं, एवं जल और अग्नि भी जीव हैं। वायुकाय के भी जीव पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार तृण, वृक्ष और बीज के रूप में वनस्पतियाँ भी जीव हैं ॥७॥

पूर्वोक्त पाँच और इसके अतिरिक्त छठे त्रसकाय वाले जीव होते हैं। यों तीर्थंकरों ने जीव के ६ भेद बताए हैं, इनसे भिन्न और कोई जीव का (मुख्य) प्रकार नहीं होता ॥८॥

बुद्धिमान समस्त युक्तियों से इन जीवों में जीवत्व सिद्ध करके देखे कि सभी को दुःख अप्रिय है, यह जानकर किसी भी जीव की हिंसा न करे ॥९॥

ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता। अहिंसा के समर्थक शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त जानना चाहिए ॥१०॥

ऊपर, नीचे और तिरछे लोक में जो त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उन सबकी हिंसा से विरत रहना चाहिए। इसी से जीव को शान्तिमय निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति कही गई है ॥११॥

व्याख्या

अहिंसा का आचरण ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है

सातवीं गाथा से ग्यारहवीं गाथा तक अहिंसा के आचरण का उपदेश देकर उसी को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया है। वास्तव में साधक के लिए पद-पद पर प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसा का—वह भी सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की हिंसा से विरति का—मार्ग स्वीकार करना श्रेयस्कर है। सातवीं आठवीं गाथा में शास्त्रकार जीवों के मोटे तौर पर निकाय (संघात) की जानकारी देते हैं, ताकि अहिंसा का आचरण करने वाला साधक यह भली भाँति जान-समझ ले कि जीव कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से अपना अस्तित्व टिकाए हुए रहते हैं। फिर उनकी मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, यानी दस प्रकार के प्राणों में से किसी भी प्राण को चोट या हानि न पहुँचाए। धर्म और समाधि नामक अध्ययन में पृथ्वीकाय से लेकर त्रसजीवों का भेद-प्रभेदसहित वर्णन किया जा चुका है। प्रथम तो साक्षात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचों अपने आप में जीवरूप हैं। साथ ही इन सबके आश्रित जो जीव रहते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् जीव हैं। इनमें जीव के अस्तित्व की सिद्धि आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक अध्ययन से तथा अन्य शास्त्रों से जान लेनी चाहिए। इसी प्रकार स्थावर जीवों के बाद त्रसजीवों को भी भेद-प्रभेद सहित जान लेना चाहिए। इन षट्-जीवनिकायों में संसार के सभी कोटि के प्राणी आ जाते हैं, इनसे कोई भी प्राणी अवशिष्ट नहीं रहा। इनके सिवाय जीवों का और कोई प्रकार नहीं है। इन सब जीवों का अस्तित्व युक्ति-प्रयुक्ति, अनुभूति और शास्त्र वचनों से भली-भाँति जान कर तथा यह भी जानकर कि समस्त प्राणियों को, चाहे वे छोटे हों या बड़े, लघुकाय हों या विशालकाय, सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, तन से ही नहीं, मन और वचन से भी। तथा हिंसा स्वयं भी न करे, वैसे ही दूसरों से भी न कराए और न ही किसी हिंसा का समर्थन-अनुमोदन करे। सिद्धान्तों या शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करने का सार भी यही है कि वह मन-वचन-काया से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता। अहिंसा का सारा सिद्धान्त इतने में ही आ गया, यह समझ लेना चाहिए।

आशय यह है कि जीवों का स्वरूप तथा उनकी हिंसा से होने वाले कर्मबन्ध को जानने वाले ज्ञानी का प्रधान कर्तव्य है कि वह हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो। जो ज्ञानी यह जानता है कि समस्त प्राणियों को दुःख अप्रिय है, सुख प्रिय है; दुःख को सभी बुरा मानते हैं, और सुख को अच्छा। ऐसी स्थिति में ज्ञानी यह भी समझ लेता है कि मुझे कोई दुःख देता है तो पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरे प्राणियों को दुःख देने से उनको होती है। इस आत्मौपम्य सिद्धान्त को जानकर किसी भी प्राणी को दुःख या पीड़ा न पहुँचाना ही महाज्ञानी के ज्ञान का सार है। दूसरों को पीड़ा देने से निवृत्त रहना ही सच्चा ज्ञान है। इसीलिए कहा है—

किं ताए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
जत्थित्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा॥

अर्थात्—घास के ढेर के समान करोड़ों पदों के पढ़ने से क्या मतलब सिद्ध हुआ, जिनके पढ़ने से इतना भी ज्ञान न हो सका कि किसी दूसरे जीव को पीड़ा न देनी चाहिए?

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा समर्थक शास्त्र का इतना सिद्धान्त जानना ही पर्याप्त है। अन्य बहुत-सी जानकारी से कोई मतलब सिद्ध नहीं होता।

फिर शास्त्रकार क्षेत्रप्राणातिपात से निवृत्त होने की बात कहते हैं—**'उड्ढं अहेयं तिरियं जे केइ तसथावरा'**—अर्थात् ऊपर, नीचे और तिरछे लोकों में जो भी स्थावर या त्रस जीव हैं, उन सबकी हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए। जो पुरुष ऐसा करता है, वही वस्तुतः ज्ञानी है। जीवहिंसा से निवृत्त रहना ही दूसरे की शांति का कारण होने से शान्ति है। जो पुरुष जीवहिंसा नहीं करता, उससे कोई भी प्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भयभीत नहीं होते, और न वह जन्म-जन्मान्तर में भी किसी से डरता है, तथा मोक्ष का प्रधान मार्ग अहिंसा का आचरण होने से इसे ही मोक्ष कहा गया है।

मूल पाठ

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥१२॥

संस्कृत छाया

प्रभुर्दोषं निराकृत्य, न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव, कायेनैव चैवान्तशः ॥१२॥

अन्वयार्थ

(**पभूदोसे निराकिच्चा**) इन्द्रियविजेता पुरुष दोषों को हटाकर (**केणई मणसा वयसा कायसा अंतसो ण विरुज्झेज्ज**) जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से किसी के साथ वैर-विरोध न करे।

भावार्थ

जितेन्द्रिय पुरुष अपने जीवन में आए हुए दोषों को चुन-चुन कर बाहर निकाल दे और किसी के साथ मन-वचन-काया से जीवन-भर वैर-विरोध न करे।

व्याख्या

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए दोषों और विरोध से निवृत्ति आवश्यक

मोक्ष के आग्नेय पथ पर चलने के लिए आत्मा निर्मल, पवित्र, निश्चिन्त और हल्की-फुलकी होनी चाहिए। और वह तभी हो सकती है, जब वह इन्द्रियों पर विजयी बनकर -उन्हें अपने वश में करके समस्त दोषों (चाहे वे मन के हों, चाहे वचन के और चाहे काया के हों; मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप भूलों, अपराधों, गलतियों एवं बुराइयों से, या दुर्व्यसनों) से बिलकुल निवृत्त हो। साथ ही वह मन-वचन-काया से आजीवन किसी के साथ वैर-विरोध न करे। वैर-विरोध तभी होता है, जब व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि पापों से लिपटा रहे। अतः पापों और दोषों से सर्वथा दूर रहने से ही जितेन्द्रिय साधक मोक्षमार्ग पर चलने के योग्य बनता है।

मूल पाठ

संवुडे से महापन्ने धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

संवृतः स महाप्राज्ञो, धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
एषणासमितो नित्यं, वर्जयन् अनेषणम् ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**से संवुडे महापन्ने धीरे**) वह साधु बड़ा धीर, महाप्रज्ञावान इन्द्रियसंयमी है, जो दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है। (**णिच्चं एसणासमिए**) तथा जो सदा एषणासमिति से युक्त रहता हुआ (**अणेसणं वज्जयंते**) अनेषणीय आहार आदि को छोड़ देता है।

भावार्थ

वह साधु अत्यन्त धीर, इन्द्रियों से संयत एवं महाबुद्धिमान् है, जो दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहार आदि लेता है। साथ ही जो अनेषणीय आहार को सदा वर्जित करता हुआ सदा एषणासमिति से युक्त रहता है।

व्याख्या

मोक्षमार्ग का पथिक साधक एषणासमिति से युक्त हो

साधुजीवन की जितनी भी आवश्यकताएँ हैं, वे बहुत सीमित हैं; खाने-पीने के लिए थोड़ा-सा आहार-पानी, थोड़े-से वस्त्र-पात्र तथा कुछ पोथी-पन्ने आदि। किन्तु महाश्रमण महावीर कहते हैं कि इन थोड़ी-सी आवश्यकताओं की भी पूर्ति साधु निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे। क्योंकि ऐसा करने पर ही उसका अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत पूर्णतया सुरक्षित रह सकते हैं। अन्यथा उद्गमादि दोषों से युक्त आहारादि लिया तो उसका अहिंसाव्रत खतरे में पड़ जाएगा, किसी को ठगकर या छलप्रपंच करके कोई वस्तु प्राप्त की तो सत्य महाव्रत को क्षति पहुँचेगी, किसी से छीनकर या बिना दिये कोई चीज उठा ली तो अचौर्य महाव्रत छिन्न-भिन्न हो जाएगा, स्वाद-लोलुपतावश मर्यादा से अधिक या लालसापूर्वक आहारादि ग्रहण किया तो अपरिग्रहवृत्ति का भंग हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं — '**दत्तेसणं चरे, एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं।**' तात्पर्य यह है कि महाव्रती, महाप्राज्ञ, धीर संयमी साधु गृहस्थ के यहाँ से भिक्षावृत्ति से जो कुछ निर्दोष, एषणीय, कल्पनीय वस्तु प्राप्त हो, उसी में यथालाभ सन्तुष्ट होकर निर्वाह करे। यही मोक्ष-मार्ग के पथिक के लिए उचित है।

मूल पाठ

भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

भूतानि च समारभ्य, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
तादृशं तु न गृह्णीयादन्नपानं सुसंयतः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**भूयाइं च समारंभ**) जो आहार प्राणियों का आरम्भ (उपमर्दन) करके (**तमुद्दिस्सा य जं कडं**) अथवा साधु को देने के निमित्त से बनाया गया है, (**तारिसं तु अन्नपानं सुसंजए ण गिण्हेज्जा**) ऐसे दोषयुक्त आहार-पानी को सुसंयमी साधु ग्रहण न करे ।

भावार्थ

जो आहार प्राणियों का उपमर्दन करके तथा जो साधुओं को देने के निमित्त से बनाया गया है, उस आहार-पानी को उत्तम साधु ग्रहण न करे ।

व्याख्या

ऐसा करने से ही मोक्षमार्ग का पालन

पूर्वगाथा की तरह इस गाथा में भी औद्देशिक एवं आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध बताया है, क्योंकि ऐसा दूषित आहार ग्रहण करने से हिंसा की परम्परा बढ़ेगी । अगर एक बार साधु ऐसे दोषयुक्त आहार-पानी को ले लेता है तो वह गृहस्थ भक्तिवश बार-बार ऐसा दोषयुक्त आहार तैयार करके देगा । इस तरह बार-बार आरम्भजनित हिंसा का दोष लगेगा; एक गलत परम्परा पड़ेगी, सो अलग । अतः सुसंयमी साधु ऐसा दोषयुक्त आहार-पानी न तो ग्रहण करे और न ही सेवन करे । ऐसा करने से ही उस साधु के द्वारा मोक्षमार्ग का पालन हो सकेगा ।

मूल पाठ

पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥

संस्कृत छाया

पूतिकर्म न सेवेत, एष धर्मः संयमवतः ।
यत्किंचिदभिकांक्षेत, सर्वशस्तन्न कल्पते ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**पूइकम्मं न सेविज्जा**) शुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार के मिश्रण से युक्त-पूतिकर्म युक्त—आहार का सेवन साधु न करे, (**वुसीमओ एस धम्मे**) शुद्ध संयमी साधु का यही धर्म है । तथा (**जं किंचि अभिकंखेज्जा**) यदि शुद्ध आहार में भी अशुद्धि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका हो जाए तो (**सव्वसो तं न कप्पए**) उसे भी साधु को सर्वथा ग्रहण करना उचित नहीं है।

भावार्थ

शुद्ध आहार यदि आधाकर्मी आहार के एक कण से भी मिश्रित हो तो साधु उस पूतिकर्म दोषयुक्त आहार का सेवन न करे, यही शुद्ध संयमी साधु का धर्म है। साथ ही शुद्ध आहार में भी अगर किसी प्रकार की अशुद्धि की आशंका हो तो साधु को उसे भी ग्रहण करना बिलकुल उचित (कल्पनीय) नहीं है।

व्याख्या

शुद्ध आहार : मोक्षमार्ग का कारण

इस गाथा में भी शुद्ध आहार पर जोर दिया गया है। आखिर इसका क्या रहस्य है? इस पर हमने १३वीं गाथा की व्याख्या में प्रकाश डाला है। उसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**' यह जो वैदिक उपनिषद् वाक्य है, वह भी अर्थहीन नहीं है। आहार शुद्ध होगा, तभी अन्तःकरण (मन, बुद्धि, हृदय) शुद्ध रहेंगे, और उनके शुद्ध रहने से स्मृति भी निश्चल और प्रखर रहेगी। साधु जब कभी ऐसा दोषयुक्त गरिष्ठ, दुष्पाच्य आहार सेवन करता है, तब प्रायः उसकी बुद्धि कुंठित और स्मृति सुस्त हो जाती है, उसकी बुद्धि में सुन्दर, सात्त्विक विचारों का उदय होना रुक जाता है, उसके शरीर में आलस्य आएगा, स्फूर्ति नहीं रहेगी; तमोगुण का संचार अधिक होगा। इसीलिए शास्त्रकार बार-बार इस पर जोर देते हैं कि साधु को शुद्ध, निर्दोष, सात्त्विक आहार का अल्पमात्रा में सेवन करना चाहिए। यदि अशुद्ध आहार का एक भी कण शुद्ध आहार में मिला हो या अशुद्ध आहार की शंका हो तो उसे ग्रहण या सेवन करना उचित नहीं है, क्योंकि वह संयम में विघात पहुँचाता है। यही सुसंयमी साधु का धर्म है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग का पथिक है।

मूल पाठ

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ॥१६॥

संस्कृत छाया

घ्नन्तं नानुजानीयादात्मगुप्तो जितेन्द्रियः ।
स्थानानि सन्ति श्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**गामेसु नगरेसु वा**) ग्रामों या नगरों में (**सड्ढीणं**) धर्म श्रद्धालु श्रावकों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामित्व के (**ठाणाइं संति**) साधुओं के ठहरने योग्य स्थान होते हैं। (**आयगुत्ते जिइंदिए**) अतः आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु (**हणंतं णाणुजाणेज्जा**) मकान आदि बनाने में जीवहिंसा करते हुए किसी भी श्रद्धालु को अनुमति न दे।

भावार्थ

ग्रामों या नगरों में धर्मश्रद्धालु श्रावकों की मालिकी के साधुओं के ठहरने के लिए स्थान होते हैं। अतः यदि कोई श्रद्धालु धर्मबुद्धि से मकान आदि बनाने का जीवहिंसामय आरम्भ करे तो जितेन्द्रिय साधु उसे अनुमति न दे।

व्याख्या

साधु जीवहिंसामय कार्य में अनुमति न दे

इस गाथा में जीवहिंसा के कार्यों के समर्थन से साधु को दूर रहने का निर्देश किया है।

साधु सदा हिंसा-कार्यों से मन-वचन-काया से दूर रहता है। जहाँ भी कोई व्यक्ति हिंसाजनक आरम्भ के कार्य में उससे सलाह माँगता है, या उससे प्रशंसा पाना चाहता है वह तुरन्त सावधान हो जाय, क्योंकि हिंसा का उसने तीन करण तीन योग से त्याग किया है। यदि साधु किसी ग्राम या नगर में किसी श्रद्धालु व्यक्ति के स्थान में ठहरा है, उस समय वह उसका धर्मोपदेश सुनकर धर्म या पुण्य की बुद्धि से कोई धर्मस्थान, धर्मशाला, कुआ, प्याऊ आदि बनवाना चाहता है और साधु से अनुमति चाहता है, या प्रशंसा पाना चाहता है तो साधु उस आरम्भ के कार्य में अपनी अनुमति न दे, न उस कार्य की प्रशंसा करे।

मूल पाठ

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए ।
अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायंति तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥
दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं, णिव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

तथा गिरं समारभ्य, अस्ति पुण्यमिति नो वदेत् ।
अथवा नास्ति पुण्यमित्येवमेतद् महाभयम् ॥१७॥
दानार्थञ्च ये प्राणाः, हन्यन्ते त्रस-स्थावराः ।
तेषां संरक्षणार्थाय, तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥१८॥
येषां तदुपकल्पयन्त्यन्नपानं तथाविधम् ।
तेषां लाभान्तराय इति, तस्मान्नास्तीति नो वदेत् ॥१९॥
ये च दानं प्रशंसन्ति, वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये च तं प्रतिषेधन्ति वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥२०॥
द्विधाऽपि ते न भाषन्ते, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।
आयं रजसो हित्वा, निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ते ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**तहा गिरं समारब्भ**) उस प्रकार का वचन सुनकर (**अत्थि पुण्णंति णो वए**) पुण्य है, ऐसा न कहे, (**अहवा णत्थि पुण्णंति एवमेयं महब्भयं**) अथवा पुण्य नहीं है, ऐसा कहना भी भयदायक है ॥१७॥

(**दाणट्ठया**) सचित्त अन्नदान या जलदान देने के लिए (**जे तसथावरा पाणा हम्मंति**) जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, (**तेसिं सारक्खणट्ठाए**) उनकी रक्षा के लिए (**अत्थित्ति णो वए**) पुण्य होता है, यह न कहे ॥१८॥

(**जेसिं तं तहाविहं अन्नपाणं उवकप्पंति**) जिन प्राणियों को दान देने के लिए उस प्रकार का अन्न-पानी बनाया जाता है, (**तेसिं लाभंतरायंति**) उनके लाभ में अन्तराय न हो (**तम्हा**) इसलिए (**नत्थित्ति णो वए**) पुण्य नहीं है, यह भी साधु न कहे ॥१९॥

(**जे य दाणं पसंसंति**) जो दान (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जन्य वस्तुओं के दान) की प्रशंसा (आरम्भ क्रिया करते समय) करते हैं (**वहमिच्छंति पाणिणं**) वे प्राणिवध की इच्छा करते हैं, (**जे य णं पडिसेहंति**) जो दान का निषेध करते हैं, वे वृत्ति का छेदन (जीविका भंग) करते हैं ॥२०॥

(**ते दुहओ वि अत्थि वा णत्थि वा पुणो ण भासंति**) साधु उक्त (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जन्य वस्तुओं के) दान में पुण्य होता है या नहीं होता है, ये दोनों बातें नहीं कहते हैं । (**रयस्स आयं हेच्चा णं**) इस प्रकार कर्मों के आगमन (आस्रव) को त्याग कर (**ते निव्वाणं पाउणंति**) वे साधु निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

भावार्थ

साधु तथारूप आरम्भजनित क्रिया की बात को सुनकर पुण्य है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा न कहे, तथा पुण्य नहीं है, ऐसा भी न कहे, क्योंकि ऐसा कहने में महाव्रतों में दोष रूप महाभय की सम्भावना है ॥१७॥

सचित्त एवं आरम्भजन्य जिस दान के लिए त्रस एवं स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा के लिए पूर्ण अहिंसक साधु पुण्य होता है, ऐसा न कहे, इसी प्रकार जिन प्राणियों को दान देने के लिए वह अन्नजल तैयार किया जाता है, उनके लाभ में अन्तराय न हो, इसलिए पुण्य नहीं है, यह भी साधु न कहे—अर्थात् दोनों जगह तटस्थ रहे ॥१८-१९॥

जो सचित्त एवं आरम्भजन्य दान की प्रशंसा करते हैं, अर्थात् दान के पीछे होने वाले आरम्भ की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियों के वध को अपने पर ओढ़ लेते हैं। इसी प्रकार जो दान का निषेध करते हैं, वे प्राणियों की आजीविका-भंग करते हैं, अर्थात् वे उन प्राणियों के पेट पर लात मारते हैं ॥२०॥

सचित्त एवं आरम्भजनित अन्न-जल आदि के दान में पुण्य होता है, या पुण्य नहीं होता, इन दोनों ही बातों को साधु नहीं कहते हैं। इस प्रकार कर्म का आगमन (आस्रव) त्यागकर, साधु मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

व्याख्या

हिंसाजनित पुण्यकार्यों में साधु पुण्य कहे या अपुण्य ?

इन पाँच गाथाओं में अहिंसा महाव्रती साधु को अहिंसाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान किया गया है। तथाकथित दानादि शुभकार्य, जिनके पीछे भावना तो शुभ है, लेकिन या तो दातव्य वस्तु सचित्त है, या आरम्भजन्य है, यानी या तो सजीव वस्तु को देने से हिंसा होती है, अथवा वस्तु को बनाने या तैयार करने में छहों काय के जीवों की हिंसा होती है, अतः जिस देय वस्तु के पीछे इस प्रकार की हिंसा संलग्न हो, उस सम्बन्ध में पूर्ण अहिंसक साधु से पूछा जाय कि इस कार्य में पुण्य है या अथवा पुण्य नहीं है ? तब साधु क्या कहे ? शास्त्रकार ऐसे विकट धर्मसंकट के समय साधु को अपने अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए सावधान करते हुए कहते हैं—**'अत्थित्ति णो वए, णत्थित्ति णो वए।'** अर्थात् वह आरम्भजनित उस शुभक्रिया में पुण्य होता है, ऐसा भी न कहे, और पुण्य नहीं होता है, ऐसा भी न कहे। यानी वह दोनों मामलों में तटस्थ या मौन रहे। वह दोनों बातों में तटस्थ क्यों रहे ? इसके लिए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—**'दाणट्ठया य जे पाणा ·····तेसिं लाभंतरायंति तम्हा णत्थित्ति णो वए।'**

शास्त्रकार की दृष्टि यह है कि साधु पूर्ण अहिंसाव्रती है, वह मन, वचन और काया से न तो स्वयं हिंसा कर या करा सकता है, और न ही हिंसा का अनुमोदन-समर्थन कर सकता है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तैयार करना चाहता है या कर रहा है, अथवा कर ली है, और उसे तैयार करने में त्रस या स्थावर प्राणियों की हिंसा की सम्भावना है या हिंसा हुई है और वह साधु से पूछता है कि मेरे इस शुभ कार्य में पुण्य है या नहीं ? तब यदि वह पुण्य होता है, ऐसा कहता है तो उन प्राणियों की हिंसा के अनुमोदन-समर्थन का दोष उसे लगेगा, इसलिए उपर्युक्त दृष्टि से आरम्भक्रिया से युक्त शुभकार्य में साधु 'पुण्य है,' ऐसा न कहे। साथ ही वह ऐसा भी नहीं कहे कि पुण्य नहीं होता है, क्योंकि उस व्यक्ति ने जिन लोगों को अनुकम्पाबुद्धि से देने के लिए वे चीजें तैयार की हैं, वह व्यक्ति महाव्रती साधु के मुँह से पुण्य नहीं होता है, ऐसे उद्गार सुनकर उनको उन वस्तुओं का दान देने से रुक जायगा। उन लोगों को उन वस्तुओं की प्राप्ति में बहुत बड़ा अन्तराय आ जायगा। उनके जीवन निर्वाह में बाधा उपस्थित होगी। सम्भव है, वे उन वस्तुओं के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ। इस दृष्टि से शास्त्रकार अहिंसाव्रती साधु को वृत्तिच्छेद हिंसा का भागी होने से बचाने के लिए कहते हैं - 'पुण्य नहीं होता है,' ऐसा भी न कहे। शास्त्रकार साधु को ऐसे मामले में तटस्थ रहने का परामर्श देते हुए कहते हैं—**'बुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो'** अर्थात्—उक्त सचित्त या आरम्भजनित शुभक्रिया से पुण्य होता है या पुण्य नहीं होता, यों दोनों तरह से न कहे, तटस्थ रहे। इस सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं - **"जेय दाणं पसंसंति''' जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति** ते।" अर्थात् जो अहिंसा महाव्रती साधु आरम्भ-जनित या सचित्त दान की प्रशंसा करते हैं, स्पष्ट शब्दों में कहें तो दान के पीछे होने वाले आरम्भ की प्रशंसा करते हैं, वे निष्प्रयोजन ही उक्त आरम्भक्रिया से होने वाले प्राणिवध को अपने पर ओढ़ लेते हैं। इसी प्रकार जो लोग अनुकम्पाबुद्धि से दिए जाने वाले ऐसे दान का निषेध करते हैं, अर्थात् वे सीधा ही कह देते हैं—'किसी को दान मत दो, दान देना पाप है,' वे उन प्राणियों की आजीविका का भंग करते हैं, स्पष्ट शब्दों में कहें तो वे उन बेचारे भूखे-प्यासे प्राणियों के पेट पर लात मारते हैं, उनको मिलने वाले लाभ में अन्तराय डालते हैं। प्रश्न होता है—एक ओर तो शास्त्रकार साधु को ऐसे दानादि शुभकार्य के पीछे किये जाने वाले आरम्भ से अनेक प्राणियों की हिंसा होने के कारण 'पुण्य होता है', ऐसा कहने का निषेध करते हैं, जबकि दूसरी ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभ कार्यों में 'पुण्य नहीं होता,' ऐसा कहने से भी इन्कार करते हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है ? शास्त्रकार का दृष्टिकोण यह है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे हिंसा होती हो, या होने वाली हो, उसकी प्रशंसा न करो, न उसमें 'पुण्य होता है,' ऐसा कहो। तथा जिस शुभ कार्य का लाभ दूसरों को मिलता हो, उनका दुःख मिटता हो, ऐसे शुभकार्य को भले ही वह हिंसायुक्त है, फिर भी 'पुण्य नहीं होता,' ऐसा भी न कहो, और न उसका निषेध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करो। क्योंकि ऐसा करने या कहने से जिन लोगों को उन वस्तुओं का लाभ मिलने वाला था, वह साधु के द्वारा निषेध करने या 'पुण्य नहीं है,' ऐसा कहने से नहीं मिलेगा। वे प्राणी उन वस्तुओं के अभाव से पीड़ित होंगे, यह भी एक प्रकार की हिंसा हो जायगी। किन्तु जिस दानादि शुभ-कार्य के पीछे कोई हिंसा नहीं होने वाली है या नहीं हुई है, अथवा नहीं होती है, ऐसी अचित्त प्रासुक आरम्भ-रहित वस्तु को कोई दान करना चाहे या किया हो, अथवा कर रहा हो, उसमें उसके शुभ परिणामों की दृष्टि से साधु पुण्य कह सकता है। किन्तु अनुकम्पाबुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध तो उसे हर्गिज नहीं करना है। अनुकम्पादान का निषेध तो किसी भी जैनशास्त्र में नहीं है। भगवतीसूत्र (८, ६, ३३१) की टीका में स्पष्ट कहा है—

'अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं।'

जिनेश्वरों ने अनुकम्पादान का तो कहीं भी निषेध नहीं किया है। इसलिए यहाँ तो सिर्फ सचित्त और आरम्भक्रिया के विषय में साधु को मौन या तटस्थ रहने का उपदेश दिया है, लेकिन शुभभावों की दृष्टि से (क्रिया को एक ओर रखकर) उन शुभक्रियाओं के बारे में कोई पूछता है तो पुण्य कहने में साधु को कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। किन्तु जब कोई व्यक्ति उक्त दानादि शुभकार्यों का आरम्भ कर रहा हो या करने वाला हो और उस समय साधु से पूछे तो उसे तटस्थ रहना चाहिए, यहाँ इन गाथाओं का हार्द है।

निष्कर्ष यह है कि सचित्त या आरम्भजन्य दानादि शुभकार्यों में पुण्य या अपुण्य दोनों ही बातों के कहने में कर्मबन्ध होना जानकर उस विषय में साधु मौन या तटस्थ रहे। तथा निरवद्य भाषण के द्वारा कर्म के आगमन को न फटकने देकर ही साधु मोक्षमार्ग पर दृढ़ रहते हैं। ऐसे साधक ही एक दिन मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मूल पाठ

णिव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दंते, णिव्वाणं संधए मुणी ॥२२॥

संस्कृत छाया

निर्वाणं परमं बुद्धाः नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः ।
तस्मात् सदा यतो दान्तो निर्वाणं साधयेन्मुनिः ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**णक्खत्ताण चंदिमा व**) जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान है, वैसे ही (**णिव्वाणं परमं बुद्धा**) निर्वाण को सर्वोत्कृष्ट मानने वाले पुरुष सर्वश्रेष्ठ हैं। (**तम्हा मुणी सदा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जए दंते निव्वाणं संधए) इसलिए मुनि सदा यत्नशील और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष की साधना करे।

भावार्थ

जैसे चन्द्रमा सब नक्षत्रों में प्रधान है, वैसे ही मोक्ष को सर्वोत्कृष्ट जानने-मानने वाले साधक सबसे श्रेष्ठ (प्रधान) हैं। अतः मुनि सदा प्रयत्नशील और इन्द्रियविजयी होकर मोक्ष की साधना करे।

व्याख्या

मुनि एकमात्र मोक्ष की साधना में जुटा रहे

इस गाथा में शास्त्रकार निर्वाण (मोक्ष) को विश्व में सर्वोत्कृष्ट तत्त्व बता कर उसी की साधना में जुटे रहने का साधु को निर्देश करते हैं। निर्वाण का अर्थ—सच्चा शाश्वत अपरिवर्तनशील सुख है। इसे सर्वश्रेष्ठ मानने वाले परलोकार्थी तत्त्वज्ञ पुरुष निर्वाणवादी होने के कारण नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह सबसे प्रधान हैं। जैसे अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों में सुन्दरता, परिमाण और प्रकाशरूप गुणों के कारण चन्द्रमा प्रधान है, इसी तरह मोक्षार्थी तत्त्वज्ञ पुरुषों में वे ही प्रधान हैं, जो पुरुष स्वर्ग, चक्रवर्ती पद या सम्पत्ति की प्राप्ति की इच्छा को ठुकराकर समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हैं, मोक्ष को ही संसार के समस्त पदार्थों में श्रेष्ट मानते हैं। उसी के लिए वे तत्त्वज्ञ साधक सतत पुरुषार्थ करते हैं, तथा इन्द्रियजयी होकर मोक्ष के लिए अहर्निश क्रियाएँ करते हैं।

मूल पाठ

बुज्झमाणाणं पाणाणं, किच्चंताणं सकम्मुणा ।
आघाइ साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥२३॥

संस्कृत छाया

उह्यमानानां प्राणानां, कृत्यमानानां स्वकर्मणा ।
आख्याति साधु तद् द्वीपं, प्रतिष्ठैषा प्रोच्यते ॥२३॥

अन्वयार्थ

(**बुज्झमाणाणं**) मिथ्यात्व, कषाय आदि की धारा में बहे जाते हुए (**सकम्मुणा किच्चंताणं**) तथा अपने कर्मों से कष्ट पाते हुए (**पाणाणं**) प्राणियों के लिए (**साहु तं दीवं आघाइ**) उत्तम मार्गरूप इस द्वीप को तीर्थंकर बताते हैं। (**एसा पतिट्ठा पवुच्चई**) इसे ही मोक्ष का प्रतिष्ठान—आधार विद्वान कहते हैं।

भावार्थ

मिथ्यात्व, कषाय आदि की तीव्र धारा में बहाकर ले जाते हुए तथा अपने ही किये हुए कर्मों के उदय से पीड़ित होते हुए प्राणियों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मार्गरूप यह उत्तम द्वीप बताते हैं। विद्वान् कहते हैं कि यही मोक्ष का प्रतिष्ठान—आधार है।

व्याख्या

कर्मपीड़ित जीवों के लिए यही मार्गरूप उत्तम द्वीप

इस गाथा में मार्ग को द्वीप की उपमा देकर उसकी महिमा बताई गई है।

जैसे समुद्र में गिरे हुए और उसकी जल-तरंगों के थपेड़ों से घबराए हुए हारे-थके एवं मरणासन्न प्राणी को कोई दयालु एकान्त-हितैषी आप्त पुरुष श्रेष्ठ द्वीप बता देता है तो उसे कितना आधार और आश्वासन मिलता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय आदि तरंगों के तीव्र थपेड़ों से अनेकभवरूप संसारसागर में इधर-उधर बहाये जाते हुए और कर्मों के उदय से पीड़ित हारे-थके जीव को विश्राम एवं शान्ति पाने हेतु दयालु, एकान्त हितैषी, आप्त, तीर्थंकर, गणधर या आचार्य सम्यग्दर्शनादिमय मोक्षमार्गरूप उत्तम द्वीप बताते हैं, उसी को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि ये सम्यग्दर्शनादि ही मोक्ष के आधारभूत हैं, मोक्ष की प्राप्ति इसी मार्ग से होती है। परतीर्थिकों द्वारा सम्यग्दर्शन आदि का ऐसा उत्तम निःस्पृह उपदेश नहीं मिलता है।

मूल पाठ

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाइ, पडिपुन्नमणेलिसं ॥२४॥

संस्कृत छाया

आत्मगुप्तः सदा दान्तश्छिन्नस्रोता अनाश्रवः ।
यो धर्मं शुद्धमाख्याति परिपूर्णमनीदृशम् ॥२४॥

अन्वयार्थ

(**आयगुत्ते**) अपनी आत्मा को पाप से सदा गुप्त—सुरक्षित रखने (बचाने) वाला, (**जे सया दंते**) जो सदा जितेन्द्रिय होकर रहने वाला है, (**छिन्नसोए**) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मों के स्रोत-प्रवाह को जिसने तोड़ दिया है, (**अणासवे**) और जो आस्रवों से रहित साधक है, (**पडिपुन्नं अणेलिसं सुद्धं धम्मं अक्खाइ**) वही सम्यग्दर्शन आदि से या नय-प्रमाण-निक्षेप आदि से पूर्ण अथवा श्रुत-चारित्र आदि से परिपूर्ण अनन्यसदृश अनुपम शुद्धधर्म का उपदेश करता है।

भावार्थ

जो अपनी आत्मा को सदा पाप से बचाता है, जो सदा जितेन्द्रिय होकर रहता है, जिसने मिथ्यात्व आदि कर्मों के स्रोत को तोड़ दिया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जो आस्रवों से रहित साधक है, वही परिपूर्ण, अनुपम, शुद्ध धर्म का उपदेश करता है।

व्याख्या

परिपूर्ण, अनुपम, शुद्धधर्म का उपदेशक

इस गाथा में यह बताते हैं कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में शुद्धधर्म का उपदेशक कौन और किस प्रकार के गुणों और योग्यता से विभूषित होता है ? मोक्ष में परम सहायक एवं मार्गरूप शुद्धधर्म के उपदेशक के लिए यहाँ चार विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं --आत्मगुप्त, सदैव दान्त, छिन्नस्रोत और अनास्रव। यह एक जाना-माना हुआ तथ्य है कि जो व्यक्ति मोक्ष की ओर जाते समय मार्ग में जो भी विघ्न-बाधाएँ, संकट आदि को पार कर चुका हो, बाधक तत्त्वों को परास्त कर चुका हो और उस मार्ग में आगे बढ़ा हुआ अनुभवी हो, वही मोक्ष के लिए परम सहायक शुद्धधर्म का उपदेश जिज्ञासुओं या मुमुक्षुओं को कर सकता है। जिसने अभी मोक्ष का रास्ता ही नहीं देखा, जो अभी संसारसागर में ही गोते खा रहा है, जिसने धर्म का क, ख, ग भी नहीं सीखा, और न संसार के स्रोतों या कर्मों के आगमन के द्वारों को बन्द किया है, और न ही धर्म के विपक्षी अधर्म या पाप से अपनी आत्मा को बचाने का अभ्यास किया है, वह दूसरों को केवल पोथियों के सहारे शुद्धधर्म कैसे बता सकता है। जिसने अन्दर गोता लगाया नहीं, केवल जलाशय के किनारे खड़ा-खड़ा गाल बजा रहा है कि नदी में ऐसे कूदा जाता है, ऐसे तैरा जाता है, क्या उस अनुभवहीन व्यक्ति का तैरने का उपदेश यथार्थ हो सकता है ? कदापि नहीं। इसी बात को लेकर शास्त्रकार शुद्ध धर्मोपदेशक की योग्यता के लिए ४ बातें बताते हैं—(१) जिसकी आत्मा मन-वचन-काया से पापों से रक्षित (गुप्त) है, (२) जिसने इन्द्रियों और मन पर काबू कर लिया है, (३) जिसने संसार के स्रोतरूप मिथ्यात्वादि बन्धनों को काट दिया है, (४) और कर्मों के प्रवेश द्वारों को जिसने बन्द कर दिया है, वही महापुरुष ऐसे अनुपम, सांगोपांग एवं शुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर सकता है, अनुभवहीन एवं अयोग्य व्यक्ति धर्म और मोक्ष के नाम से सब्जबाग दिखाकर या ऊटपटाँग बातें करके दुनिया को अधर्म के गर्त में ही धकेलने का प्रयास करेगा।

मूल पाठ

तमेव अविजाणंता अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मोत्ति य मन्नंता, अंते एए समाहिए ॥२५॥

संस्कृत छाया

तमेवाविजानाना अबुद्धा बुद्धमानिनः ।
बुद्धाः स्मेति च मन्यमानाः अन्ते एते समाधेः ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**तमेव अविजाणंता**) उसी परिपूर्ण (सांगोपांग) धर्म को न जानते हुए, (**अबुद्धा बुद्धमाणिणो**) अज्ञानी होकर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले (**बुद्धा मोत्ति य मन्नंता**) 'हम ज्ञानी है,' यों मानते हैं, ऐसे व्यक्ति (**एए समाहिए अंते**) इस समाधिरूप धर्म से कोसों दूर हैं।

भावार्थ

पूर्वोक्त शुद्ध, अनुपम और सांगोपांग धर्म के तत्त्व को न जानते हुए, अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले अन्यतीर्थिक पुरुष 'हम ज्ञानी हैं,' ऐसा मानते हैं। ऐसे व्यक्ति इस समाधिरूप धर्म से बहुत दूर हैं।

व्याख्या

वे शुद्धधर्म के तत्त्वज्ञान से काफी दूर हैं

इस गाथा में उन लोगों को आड़े हाथों लिया है, जो परिपूर्ण शुद्ध धर्म को न जानते हुए भी अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी बताते हैं। वास्तव में परीक्षा करके देखा जाय तो वे धर्म और मोक्ष के वस्तुतत्त्व के ज्ञान से कोसों दूर हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं "**अंते एए समाहिए**' ये समाधि से दूर हैं। समाधि शब्द यहाँ धर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि धर्म ही आत्मा को वास्तविक सुख शान्ति, संतोष, प्रसन्नता प्राप्त करा सकता है, वही मोक्ष में सम्यक् प्रकार से जीव को ले जाकर रख सकता है।

वे अन्यतीर्थिक धर्म के तत्त्वज्ञान से क्यों दूर हैं? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार द्वारा अगली छह गाथाएँ प्रस्तुत की जाती हैं—

मूल पाठ

ते अ बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्ना असमाहिया ॥२६॥
जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥
सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई ।
उम्मग्गगता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥२९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतु, अंतरा य विसीयइ ॥३०॥
एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

संस्कृत छाया

ते च बीजोदकं चैव, तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
भुक्त्वा ध्यानं ध्यायन्ति, अखेदज्ञा असमाहिताः ॥२६॥
यथा ढंकाश्च, कंकाश्च, कुररा मद्गुकाः सिधाः ।
मत्स्यैषणं ध्यायन्ति, ध्यानं तत् कलुषाधमम् ॥२७॥
एवं तु श्रमणा एके, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विषयैषणं ध्यायन्ति, कंका इव कलुषाधमाः ॥२८॥
शुद्धं मार्गं विराध्य, इहैके तु दुर्मतयः ।
उन्मार्गगताः दुःखं घातमेष्यन्ति तत्तथा ॥२९॥
यथाऽऽस्राविणीं नावं जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तुमन्तरा च विषीदति ॥३०॥
एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
स्रोतः कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥३१॥

अन्वयार्थ

(**ते य बीओदगं चेव**) वे (अन्यतीर्थिक) सचित्त बीज और जल (कच्चा) तथा (**तमुद्दिसा य जं कडं**) उनके लिए जो आहार बनाया गया है, (**भोच्चा**) उसका उपभोग करते हुए (**झाणं झियायंति**) आर्तध्यान करते हैं। (**अखेयन्ना असमाहिया**) वे उन प्राणियों के खेद (पीड़ा) से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान से रहित तथा समाधि से हीन हैं ॥२६॥

(**जहा ढंका य कंका य कुलला मग्गुका सिही**) जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्गे और शिखी नामक जलचर पक्षी (**मच्छेसणं झियायंति**) मछली को पकड़कर गटकने के बुरे विचार (कुध्यान) में रत रहते हैं, (**झाणं ते कलुसाधमं**) उनका वह ध्यान मत्स्यवधरूप सावद्यव्यापारमय होने से पापरूप व अधम होता है। (**एवं तु**) इसी तरह (**मिच्छदिट्ठी अणारिया एगे समणा**) मिथ्यादृष्टि, अनार्य कुछ तथाकथित श्रमण (**विसएसणं झियायंति**) विषयों की तलाश (प्राप्ति) का ही ध्यान करते हैं, (**ते कंका वा कलुसाहमा**) वे ढंक, कंक आदि पक्षियों की तरह पापी एवं अधम हैं ॥२७-२८॥

(**इह**) इस जगत् में (**एगे उ दुम्मई**) कई दुर्बुद्धि पुरुष (**सुद्धं मग्गं**) शुद्ध-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग की (**विराहित्ता**) विराधना करके दूषित करके (**उम्मग्गगता**) उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। (**दुक्खं घायं तं तहा एसंति**) वे अपने लिए वैसे दुःख और घात (नाश) को न्यौता देते है—बुलाते हैं ॥२९॥

(**जहा**) जैसे (**जाइअंधो**) जन्मान्ध पुरुष (**आसाविणिं नावं दुरूहिया**) छेद वाली नौका पर चढ़कर (**पारमागंतु इच्छई**) नदी को पार करना चाहता है, (**अंतरा य विसीयइ**) परन्तु वह बीच में ही डूब जाने से दुःख पाता है ॥३०॥

(**एवं तु मिच्छदिट्ठी एगे अणारिया समणा**) इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण (**कसिणं सोयमावन्ना**) पूर्णरूप से आस्रव का सेवन करते हैं। (**महब्भयं आगंतारो**) किन्तु उन्हें महान् भय (खतरे) का सामना करना पड़ेगा ॥३१॥

भावार्थ

सचित्त बीज और कच्चा पानी तथा उनके लिए बनाये गए आहार का उपभोग करके वे अन्यतीर्थिक आर्तध्यान करते हैं। अतः वे प्राणियों के दुःख (खेद) के ज्ञान से रहित अथवा धर्मज्ञान से रहित एवं भावसमाधि से दूर हैं ॥२६॥

जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्गे और शिखी नामक पक्षी जल में रहकर सदा मछलियाँ पकड़ने और गटकने के ध्यान में रत रहते हैं, इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण नामधारी सदा विषय-प्राप्ति का ध्यान करते हैं, वे भी ढंक, कंक आदि पक्षियों की तरह पापी और अधम हैं ॥२७-२८॥

इस जगत् में कई दुर्बुद्धि लोग शुद्धमार्ग से भ्रष्ट होकर उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, वे अपने लिए दुःख और विनाश को ढूंढ़ते हैं ॥२९॥

जैसे जन्मान्धपुरुष छिद्रयुक्त नौका पर चढ़कर नदी को पार करना चाहता है, परन्तु वह मझधार में ही डूबकर दुःख पाता है ॥३०॥

इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य तथाकथित श्रमण पूर्णरूप से आस्रव का सेवन करते हैं, किन्तु उन्हें महाभय (खतरे) का सामना करना पड़ेगा ॥३१॥

व्याख्या

भावमार्ग से दूर : क्यों और कैसे ?

इन ६ गाथाओं में शास्त्रकार ने युक्तिसहित यह बताया है कि पूर्वगाथा में बताए गए अन्यतीर्थिक लोग, जो अपने आपको श्रमण, ज्ञानी, प्रबुद्ध आदि मानते हैं और धर्म और मोक्ष की बातें बघारते हैं, भावमार्ग (सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म, या मोक्षमार्ग या समाधि) से क्यों और कितने दूर हैं ? शास्त्रकार ने उन पर ५ आक्षेप किये हैं—(१) वे जीवाजीव के स्वरूप से अनभिज्ञ होने से सचित्त और औद्देशिक आहार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवन करते हैं, (२) आर्त्तध्यान करते हैं (३) विषयों की प्राप्ति का अधम सपाप ध्यान करते हैं, (४) वे शुद्धमार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, (५) आस्रवों का भरपूर सेवन करते हैं।

पहला आक्षेप—वे चावल, गेहूँ आदि अनाज बीजरूप जो सचित्त होता है, तथा अप्रासुक (कच्चा) पानी का सेवन करते हैं, उन्हें दान देने के लिए उनके भक्तों द्वारा अग्निकाय आदि का आरम्भ करके पकाए हुए सरस आहार को वे भोगते हैं। अगर जीव और अजीव का अन्तर समझते तो सजीव तथा जीवहिंसाजनित वस्तुओं का उपभोग न करते।

दूसरा आक्षेप—वे बौद्धसंघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित रहते हैं, अर्थात् आर्तध्यान करते हैं। जो लोग इहलौकिक सुख की कामना करते हैं, दास-दासी, धन-धान्य आदि परिग्रह रखते हैं, उन्हें धर्म-ध्यान होना सम्भव नहीं है। कहा भी है—

ग्राम-क्षेत्रगृहादीनां गवां प्रेष्यजनस्य च ।
यस्मिन् परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति गाँव, क्षेत्र, गृह आदि का, गायों और दासजनों का परि-ग्रह रखता है, उसे शुभध्यान कैसे होगा ?

परिग्रह तो वैसे ही मोह, मद, लोभ, अशान्ति आदि दुःखों का घर है। धैर्य शान्ति, चित्तैकाग्रता आदि का विनाशक है। वह शुभध्यानपूर्वक कदापि नहीं हो सकता। फिर वे शाक्य आदि पचन-पाचन आदि आरम्भक्रिया में प्रवृत्त रहते हैं, उसी बात की चिन्ता करते रहते हैं, उन्हें शुभध्यान कहाँ से होगा ? तथा वे धर्म एवं अधर्म के विवेक में निपुण नहीं हैं, क्योंकि त्याग में धर्म न मानकर, भोग में धर्म मानते हैं। मनोज्ञ आहार, मनोज्ञ मृदुल शय्या, मनोज्ञ आसन और बढ़िया सुन्दर घर आदि जो वस्तुतः राग के कारण हैं, उन्हें वे शुभध्यान के कारण मानते हैं। भला रागवर्द्धक वस्तुओं के सेवन से त्यागवर्द्धक शुभध्यान कैसे हो जाएगा ? तथा वे मांस का 'कल्पिक' नाम रखकर उसे खाने में दोष नहीं मानते और न बौद्धसंघ के लिए किये जाने वाले आरम्भ को ही दोषयुक्त मानते हैं। इस प्रकार मनोज्ञ और उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करने और परिग्रह रखने से बेचारे शुभध्यानविहीन शाक्य आदि धर्ममार्ग से युक्त कैसे रह सकते हैं ?

तीसरा आक्षेप—जैसे ढंक, कंक, कुररी, जलमुर्गा आदि जल में तैरने वाले पक्षी अहर्निश मछलियों को ढूँढने और उन्हें निगलने के दुर्ध्यान में मग्न रहते हैं, वैसे ही जो मिथ्यादृष्टि आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने के कारण अनार्य, तथाकथित श्रमण अहर्निश विषयप्राप्ति का ही आर्त-रौद्र ध्यान करते हैं, वे भी ढंक आदि पक्षियों की तरह कलुषित ध्यान से दूर नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा आक्षेप सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप निर्दोष जो मोक्षमार्ग है, उसे ठुकरा कर शाक्य आदि कुमार्ग की प्ररूपणा करके विराधना करते हैं। संसार के राग के कारण उनकी बुद्धि कलुषित और महामोह से दूषित हो जाने से वे अच्छे मार्ग को छोड़कर स्वच्छन्दाचारकल्पित कुमार्ग पर चलते हैं। इस कारण वे वास्तविक मार्ग से बहुत दूर हैं।

पांचवाँ आक्षेप जैसे कोई जन्मान्ध व्यक्ति छेदवाली नौका में बैठकर नदी पार करना चाहता है, उसके मनसूबे अधूरे ही रह जाते हैं, बेचारा अधबीच में नौका डूबने के साथ जलसमाधि ले लेता है, दुःखी हो जाता है, वैसे ही वे (शाक्य आदि) जिस जीवनरूपी नौका पर बैठे हैं, वह आस्रवरूपी छिद्रों से युक्त है, क्योंकि उन मिथ्यादृष्टि, अनार्य श्रमणों का जीवन आस्रवसेवन से परिपूर्ण है। इस कारण उस सछिद्र नौका पर सवार जात्यन्ध की तरह वे भी संसारसागर में डूब जाते हैं। उनका धर्म उन्हें तरा नहीं सकता।

उपर्युक्त पाँचों ही आक्षेप अकाट्य हैं, युक्तियुक्त हैं। अतः शाक्य आदि अन्यतीर्थिक भावमार्ग से कोसों दूर हैं, यह सिद्ध है।

मूल पाठ

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥३२॥
विरए गामधम्मेहिं जे केइ जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥३३॥
अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।
सव्वमेयं णिराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३४॥
संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥३५॥

संस्कृत छाया

इमञ्च धर्ममादाय, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
तरेत् स्रोतो महाघोरमात्मत्राणाय परिव्रजेत् ॥३२॥
विरतो ग्रामधर्मेभ्यो, ये केचिज्जगति जगाः ।
तेषामात्मोपमया, स्थामं कुर्वन् परिव्रजेत् ॥३३॥
अतिमानञ्च मायां च तत्परिज्ञाय पण्डितः ।
सर्वमेतन्निराकृत्य, निर्वाणं सन्धयेन्मुनिः ॥३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्धयेत् साधुधर्मञ्च, पापधर्मं निराकुर्यात् ।
उपधानवीर्यो भिक्षुः क्रोधंमानञ्च वर्जयेत् ॥३५॥

अन्वयार्थ

(**कासवेण पवेइयं**) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर द्वारा बताये हुए (**इमं च धम्मं आदाय**) इस धर्म को प्राप्त करके (**महाघोरं सोयं तरे**) साधु महाघोरतम संसारसागर को पार करे, तथा (**अत्तत्ताए परिव्वए**) अपनी आत्मा की रक्षा के लिए संयम में प्रगति करे ॥३२॥

(**गामधम्मेहिं विरए**) साधु इन्द्रियों के शब्दादि धर्मों—विषयों से विरत होकर (**जगई जे केई जगा**) जगत् में जो भी प्राणी हैं, (**तेसि अत्तुवमाए**) उनको अपने समान समझता हुआ (**थामं कुव्वं परिव्वए**) संयम में पराक्रम करता हुआ प्रगति करे ॥३३॥

(**पंडिए मुणी**) विद्वान् मुनि (**अइमाणं च मायं च तं परिन्नाय**) अतिमान और माया (छलकपट) को भली-भाँति जानकर (**एयं सव्वं निराकिच्चा**) तथा इन सबको त्याग कर (**निव्वाणं संधए**) निर्वाण—मोक्ष की खोज करे ॥३४॥

(**भिक्खू साहुधम्मं संधए**) साधु क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म के साथ अपने मन-वचन-काया को जोड़े (**पावधम्मं निराकरे**) और जो भी पापयुक्त स्वभाव है, उसका त्याग करे, उसे खदेड़ दे। (**उवहाणवीरिए भिक्खू**) तप में अपनी शक्ति लगाने वाला साधु (**कोहं माणं ण पत्थए**) अपनी तपःसाधना के उत्कर्ष को लेकर क्रोध अभिमान को जरा भी सार्थक न होने दे ॥३५॥

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रकाशित इस धर्म को ग्रहण (स्वीकार) करके बुद्धिमान् साधक महाघोर संसारसागर को पार करे। वह केवल आत्मकल्याणार्थ ही संयम में प्रगति करे ॥३२॥

साधु इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से विरत होकर संसार में जो भी प्राणी हैं, उन्हें आत्मतुल्य समझता हुआ उत्साहपूर्वक संयम का पालन करे ॥३३॥

हिताहित विवेकी साधु अत्यन्त मान और माया को भली-भाँति जानकर उन सबका परित्याग करके एकमात्र मोक्ष की खोज में लगे ॥३४॥

साधु क्षमा आदि दस प्रकार के श्रमणधर्मों के पालन में ही अपने मन-वचन-काया को जोड़े और जो भी पापमय स्वभाव (आदत) है, उसे खदेड़ दे। अपनी तपःसाधना में शक्ति लगाने वाला साधु तप के उत्कर्ष को लेकर किसी पर भी कोप न करे और न ही अभिमान प्रगट करे ॥३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

मुनि साधुधर्म से मोक्ष तक की दौड़ लगाए

इन चार गाथाओं में शास्त्रकार ने साधु को श्रमणधर्म पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने के कुछ अकसीर उपाय बताए हैं। साथ ही, साधु को किन-किन बातों से बचकर चलना चाहिए ? इसका भी संक्षेप में संकेत किया है।

बत्तीसवीं गाथा में शास्त्रकार ने खास बात कह दी है कि साधक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित साधुधर्म को स्वीकार करके इधर-उधर संसार की भोग-वासनामय गलियों न झाँके। अगर संसार की ओर झाँकेगा, या संसार के प्रपंचों में रुचि लेगा तो फँस जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'तरे सोयं महाघोरं।'** आशय यह है कि संसार महाभय-दायक है, दुस्तर है, इसमें रहने वाले प्राणी एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक गर्भ से दूसरे गर्भ में और एक मरण से दूसरे मरण में, एक दुःख से दूसरे दुःख में जाते हुए अरहटयंत्र की तरह अनन्तकाल तक संसार में भटकते रहते हैं। संसारसागर से अपनी आत्मा को बचाने के लिए जीव को भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट शुद्धधर्म (साधुधर्म) को स्वीकार करके उसी पर सरपट चलना चाहिए। कहीं-कहीं उत्तरार्ध का पाठ इस प्रकार मिलता है—**'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए'** साधु रुग्ण साधु की सेवा (वैयावृत्य) अग्लान एवं प्रसन्नचित्त होकर करे अथवा साधु रोगी साधु को समाधि एवं आरोग्य प्राप्त कराने हेतु उसकी सेवा करे।

३३वीं गाथा में बताया गया है कि साधुधर्म पर दृढ़ रहने के लिए साधु को इन्द्रियों के लुभावने विषयों से दूर रहना चाहिए। अगर वह इन्द्रियविषयों में आसक्त होने लगेगा तो वहीं फँस जायगा, उसकी संयम-यात्रा ठप्प हो जाएगी, मोक्ष तक वह पहुँच नहीं सकेगा। साथ ही साधु को मोक्षमार्ग पर यात्रा करते समय संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानकर चलना चाहिए, तभी उसकी यात्रा सुखद, सरल और निर्द्वन्द्व हो सकेगी। अन्यथा, वह पद-पद पर अगर प्राणियों से उलझता रहेगा, संघर्ष करता रहेगा या दूसरों का उत्पीड़न करता हुआ चलेगा, तो उसकी शान्ति, समाधि सब हवा हो जायगी। इसलिए शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं—**'थामं कुव्वं परिव्वए'** अर्थात् साधु उत्साहपूर्वक या साहस के साथ मोक्षपथ पर दौड़ लगाए। आगे की ३४वीं, ३५वीं गाथा में स्पष्ट बताया है कि साधु क्रोध, मान, माया और लोभ आदि समस्त आत्मबाह्यभावों—परभावों को दूर खदेड़ कर एकमात्र मोक्ष की साधना में लगे, अपने अन्दर रहे हुए बुरे पापमय स्वभाव को तिलांजलि देकर साधुधर्म के साथ मन-वचन-काया से अपना सम्बन्ध जोड़े। तभी वह मोक्ष तक आसानी से और शीघ्रता से पहुँच सकता है। तथा साधु मोक्षमार्ग पर यात्रा करते समय शरीर पर ममत्व न रखकर अधिकांश शक्ति तपश्चर्या में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाए, किन्तु तपस्या के उत्कर्ष को पाकर वह किसी पर कोप न बरसाए और न ही अभिमान प्रगट करे।

ये सब उपाय साधुधर्म से मोक्ष तक दौड़ लगाकर मोक्ष पाने के हैं।

मूल पाठ

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥३६॥

संस्कृत छाया

ये च बुद्धा अतिक्रान्ता, ये च बुद्धा अनागताः ।
शान्तिस्तेषां प्रतिष्ठानं भूतानां जगति तथा ॥३६॥

अन्वयार्थ

(**जे य बुद्धा अतिक्कंता**) जो तीर्थंकर भूतकाल में हो चुके हैं, (**जे य बुद्धा** अणागया) और जो तीर्थंकर भविष्य में होंगे (**तेसिं संति पइट्ठाणं**) उनकी साधना का आधार शान्ति है, (**जहा भूयाणं जगती**) जैसे प्राणियों का आधार पृथ्वी है।

भावार्थ

जो तीर्थंकर अतीत में हो चुके हैं और जो तीर्थंकर भविष्य में होंगे, उन सबका आधार शान्ति है, जैसे समस्त प्राणियों का आधार पृथ्वी है।

व्याख्या

शान्तिरूप भावमार्ग ही समस्त तीर्थंकरों का आधार

इस गाथा में शान्तिरूप भावमार्ग को भूत-भविष्यकालीन समस्त तीर्थंकरों का आधार बताया है।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार के शान्तिरूप भावमार्ग का उपदेश केवल भगवान् महावीर ने ही दिया है या अन्य तीर्थंकरों ने भी दिया था या देंगे ? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार कहते हैं- '**जे य बुद्धा'''संति तेसिं पइट्ठाणं**' आशय यह है कि ऋषभदेव आदि जितने भी तीर्थंकर भूतकाल हो चुके हैं, एवं पद्मनाभ आदि जो तीर्थंकर भविष्यकाल में होंगे; अतीत और अनागत काल के ग्रहण से वर्तमानकाल का भी ग्रहण हो जाने से वर्तमानकाल में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरस्वामी आदि जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, उन सबका आधार शान्ति है। अर्थात् उनके उपदेशों एवं साधना का सर्वाधार शान्ति रही है और रहेगी। शान्ति कहते हैं—कषायों के नाश को। कषायनाशरूप शान्ति की साधना या, इसके उपदेश का आधार लिये बिना मोक्षमार्ग पर चलने की यात्रा आगे चल नहीं सकती, इसलिए त्रैकालिक तीर्थंकरों के जीवन का मूलाधार शान्ति ही रहा है, जो भावमार्ग है। अथवा षट्काय के जीवों की रक्षा-रूप अहिंसा का नाम शान्ति है। इसके बिना बुद्धत्व—ज्ञानीपन नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा मोक्ष को ही शान्ति कहते हैं। मोक्ष तो समस्त तीर्थंकरों (त्रैकालिक) का उसी तरह आधार है जिस तरह त्रस-स्थावर समस्त जीवों का आधार पृथ्वी है। मोक्ष की प्राप्ति भावमार्ग के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए सभी तीर्थंकरों ने शान्ति-रूप भावमार्ग का ही कथन एवं आचरण किया है।

मूल पाठ

अह णं वयमापन्नं फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥३७॥

संस्कृत छाया

अथ तं व्रतमापन्नं स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः ।
न तेषु विनिहन्यात्, वातेनेव महागिरिः ॥३७॥

अन्वयार्थ

(अहं) इसके (भावमार्ग ग्रहण करने के) पश्चात् (**वयमापन्नं णं**) व्रत ग्रहण किये हुए उस साधु को (**उच्चावया फासा फुसे**) नाना प्रकार के सम-विषम परीषह और उपसर्ग स्पर्श करें, (**तेसु ण विणिहण्णेज्जा**) तो साधु उनसे प्रतिहत या पराजित न हो, अथवा डिगे नहीं, (**वातेनेव महागिरी**) जैसे वायु के झोंके से महापर्वत नहीं डिगता है।

भावार्थ

भावमार्ग ग्रहण करने के बाद व्रतग्रहण किये हुए उस साधु को नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग स्पर्श करें, तब साधु उन्हें देखकर अपने संयम से उसी प्रकार विचलित न हो जैसे हवा से बड़ा पहाड़ नहीं डिगता।

व्याख्या

भावमार्ग से विचलित न हो

इस गाथा में शास्त्रकार साधु को अपने कर्तव्य के विषय में सावधान करते हैं कि साधु एक बार भावमार्ग को ग्रहण करने के पश्चात् चाहे कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल या सम-विषम परीषह या उपसर्ग क्यों न आएँ, उस मार्ग से जरा भी विचलित न हो, वह अपने पैर उस भावमार्ग (संयम) पर मजबूती से जमाए रखे। जिस प्रकार आँधी या झंझावात के कितने ही झोंके आने पर महापर्वत बिलकुल अडिग एवं अडोल रहता है, वैसे ही साधु परीषहों या उपसर्गों के झोंके आने पर अपने भावमार्ग से जरा भी डिगे नहीं, अचल-अटल रहे। कोई कह सकता है कि वर्तमानकाल के अल्पसत्त्व साधक इतने कठोर परीषहों एवं घोर उपसर्गों के समय बिलकुल अडोल या अटल-अचल कैसे रह सकते हैं? इसके समाधान के लिए वृत्तिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं··· जैसे ग्वाला ताजे जन्मे हुए गाय के बच्चे को हाथों से उठाकर गाय के पास ले जाता है और फिर ले आता है। इसी तरह यदि वह प्रतिदिन उस बछड़े को अपने हाथों से उठाकर गाय के पास ले जाने और वापस लाने का अभ्यास जारी रखे तो बछड़ा दो-तीन वर्ष का हो जाय तो भी वह उस बछड़े को उसी तरह हाथों से उठा सकता है और वापस ला सकता है। इसी प्रकार साधु भी क्रमशः परीषहों और उपसर्गों को जीतने का अभ्यास करता रहे तो उन्हें जीतने या सहने का दुष्कर कार्य भी आसानी से सुकर हो सकता है।

मूल पाठ

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
निव्वुडे कालमाकंखी, एयं केवलिणो मयं ॥२८॥

त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

संवृतः स महाप्राज्ञः, धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
निर्वृतः कालमाकांक्षेदेवं केवलिनो मतम् ॥३८॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**संवुडे महापन्ने धीरे से**) आस्रवद्वारों का निरोध किया हुआ, महाबुद्धिशाली धीर वह साधु (**दत्तेसणं चरे**) दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहार ही ग्रहण एवं सेवन करे। (**निव्वुडे कालमाकंखी**) तथा शान्त (उपशान्तकषाय) रहकर अपने पण्डितमरण या समाधिमरण (काल) की (अगर काल का अवसर आए तो) आकांक्षा करे। (**एयं केवलिणो मयं**) यही केवली भगवान् का मत है।

भावार्थ

आस्रवद्वारों का जिसने निरोध कर दिया है, ऐसा महाबुद्धिमान धीर साधक गृहस्थ आदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहारादि ही ग्रहण करे एवं शान्त रहकर समाधिपूर्वक मृत्यु की (अगर मृत्यु का अवसर आए तो) आकांक्षा करे, यही केवली भगवान का मत है।

व्याख्या

संवृत और शान्त साधक की अन्तिम समय की साधना

इस गाथा में शास्त्रकार ने साधु के अन्तिम समय की साधना के बारे में सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् का मत दिया है। इसी गाथा के द्वारा इस अध्ययन का उपसंहार भी किया है। सचमुच कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवन भर साधक जिस मार्ग पर चला है, जो साधना की है, अन्तिम समय में वह उसमें फेल हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस समय उसे शरीर, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, संघ-मकान आदि की मोहमाया घेर लेती है और वह चिड़चिड़ा व देहासक्त होकर बीमारी, अशक्ति या वृद्धता के बहाने से अनेषणीय, अकल्पनीय या दोषयुक्त आहार लेने लगता है, कषाय भी भड़क उठती हैं, अतः समाधिपूर्वक मरण या संलेखना-संथारापूर्वक मृत्यु को हँसते-हँसते चाहने या स्वीकारने के बदले वह आर्तध्यान या चिन्ताआदिरूप दुर्ध्यान करते हुए मृत्यु को स्वीकार करता है। स्वीकार क्या करता है, मृत्यु उस साधक को न चाहते हुए भी जबरन उठा ले जाती है, वह अपनी जिंदगी भर की साधना की कमाई को चौपट कर देता है। इसलिए शास्त्रकार का कहने का तात्पर्य यह है कि जब अन्तिम समय आए उससे पहले ही सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान से सुशोभित महाप्राज्ञ, धीर एवं शान्त साधु आस्रवद्वारों को बन्द कर दे, तथा एषणीय, कल्पनीय एवं निर्दोष आहार ही ले, और जब मृत्यु का अवसर आए तो शन्ति एवं समाधिपूर्वक हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करे, समाधिमरण या पण्डितमरण की आकांक्षा करे यही केवलज्ञानी प्रभु का मत है। इस मत (मार्ग) पर चलकर तीनों काल में साधु निःसंदेह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। 'त्ति' शब्द समाप्तिसूचक है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र का एकादश मार्ग नामक अध्ययन अमरसुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ मार्ग नामक एकादश अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवसरण : बारहवाँ अध्ययन

समवसरण अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

ग्यारहवें मार्ग नामक अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब बारहवें अध्ययन में प्रवेश हो रहा है। ग्यारहवें अध्ययन में यह बताया गया है कि कुमार्ग छोड़ने से सम्यक्मार्ग प्राप्त होता है, अतः कुमार्ग छोड़ने वाले को पहले उसके स्वरूप का परिज्ञान होना चाहिए, इस दृष्टि से कुमार्ग का स्वरूप बताने हेतु इस अध्ययन का प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम है—**समवसरण अध्ययन**। इसमें कुमार्ग की प्ररूपणा करने वाले क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी इन चारों के समवसरणों का निरूपण है। यहाँ देवादिकृत समवसरण अथवा समोसरण (तीर्थंकरों की धर्मसभा) विवक्षित नहीं है। निर्युक्तिकार ने समवसरण का अर्थ किया है—सम्यक्-एकीभाव से एक जगह एकत्र होना, सम्मेलन या मिलन अथवा संगम होना समवसरण है। अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन में विविध प्रकार के मत (वाद) प्रवर्तकों या मतों का संगम या सम्मेलन है।

निक्षेप की दृष्टि से समवसरण के अर्थ

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यों समवसरण के ६ निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापना समवसरण का अर्थ तो सुगम है। **द्रव्यसमवसरण** ज्ञशरीर, और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। सचित्त जीवों में द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (गौ आदि) और अपद (वृक्ष आदि) का इकट्ठा होना सचित्त-समवसरण है। लोह, सूखी लकड़ी आदि अचित्त वस्तुओं का एकत्र होना या द्व्यणुकों का सम्मिलन अचित्त-समवसरण है। मिश्र वस्तुओं में सेना आदि का समवसरण समझना चाहिए। विवक्षावश जिस स्थान में पशुओं का मेला या मनुष्यों का मेला होता है, या जहाँ समवसरण की व्याख्या की जाती है, उसे क्षेत्र की प्रधानता के कारण **क्षेत्र-समवसरण** कहते हैं। इसी प्रकार **काल-समवसरण** समझ लेना चाहिए। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक इन ६ प्रकार के भावों का संयोग होना **भाव-समवसरण** कहा गया है। निर्युक्तिकार ने दूसरी तरह से भी भावसमवसरण का निरूपण किया है—'जीवादि पदार्थ हैं', यह जो कहते हैं, वे क्रियावादी हैं, इसके विपरीत जो यह कहते हैं—'जीवादि पदार्थ नहीं हैं,' वे अक्रियावादी हैं, 'जो ज्ञान को नहीं मानते हैं,' वे अज्ञान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादी हैं, तथा जो विनय से मोक्ष मानते हैं, वे विनयवादी हैं। भेदसहित इन चारों मतों की भूल बताकर जिस सुमार्ग में इन्हें स्थापन किया जाता है, वह **भावसमवसरण** है।

प्रस्तुत अध्ययन में केवल इन चार मतों अर्थात् वादों का ही उल्लेख है। एकान्तरूप से अपने मत का आग्रह होने के कारण इन मतवादियों को मिथ्यादृष्टि और इनके मत को मिथ्यादर्शन कहा गया है। उदाहरणार्थ-- क्रियावादी एकान्तरूप से जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं कि जीवादि पदार्थ हैं ही। जब जीव को एकान्तरूप से स्वीकार किया जाता है तो यही कहा जा सकता है कि वह सब प्रकार से किन्तु किसी प्रकार से वह नहीं भी है, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में जीव जैसे अपने स्वरूप से सत् है, उसी तरह दूसरे (घटपटादि) रूप से भी सत् होने लगेगा। ऐसा होने से जगत् के समस्त पदार्थ एक हो जाएँगे। उनमें कोई भेद न होने से अनेकरूप जगत् नहीं हो सकता। परन्तु यह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, इष्ट भी नहीं है। इसलिए यह मत ठीक नहीं है, मिथ्यादर्शन है। इसी प्रकार जो एकान्तरूप से कहते हैं कि जीवादि पदार्थ सर्वथा नहीं हैं, वे अक्रियावादी हैं। ये भी एकान्त एवं असत्य प्ररूपणा करने के कारण मिथ्यादृष्टि हैं। यदि एकान्तरूप से जीव का निषेध किया जाय तो कोई निषेध कर्ता न होने से 'जीव नहीं है' ऐसा निषेध भी नहीं किया जा सकता। और 'जीव नहीं है' इस निषेध के सिद्ध न होने से जीवादि सभी पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। क्रियावादी आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं, जबकि अक्रियावादी आत्मा, कर्मफल आदि को नहीं मानते। ज्ञान को न मानने वाले अज्ञानवादी हैं। इनका मत है कि 'अज्ञान ही कल्याण का मार्ग है।' ये भी मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि ज्ञान के बिना 'अज्ञान ही श्रेष्ठ है' यह भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु अज्ञानवादी ऐसा ही कहते हैं, इसलिए अज्ञानवादियों ने भी ज्ञान को स्वीकार कर लिया। जो केवल विनय को ही मानते हैं, वे विनयवादी हैं। वे केवल विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। ये किसी मत की निन्दा नहीं करते। अपितु समस्त प्राणियों का विनयपूर्वक आदर करते हैं। विनयवादी लोग गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक एवं सभी स्थलचर, जलचर एवं खेचर प्राणियों को नमस्कार करते रहते हैं यही उनका विनयवाद है। परन्तु ज्ञान और क्रिया के बिना मोक्ष नहीं होता, इसलिए केवल विनय से मोक्ष का सिद्धान्त मिथ्या है।

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२, इस प्रकार कुल मिलाकर इन चारों की संख्या ३६३ होती है--यह निर्युक्तिकार ने बताया है। वृत्तिकार ने इन भेदों की नामपूर्वक गणना की है।

क्रियावादियों के १८० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं— जीव, अजीव, पुण्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, इन नौ पदार्थों को क्रमशः स्थापन करके उनके नीचे स्वतः और परतः, ये दो भेद रखने चाहिए। उनके नीचे भी नित्य और अनित्य दो भेदों की स्थापना करनी चाहिए। इसके नीचे भी क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, और आत्मा इन पाँच पदों की स्थापना करनी चाहिए। उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) जीव अपने आप विद्यमान है, (२) जीव दूसरे से उत्पन्न होता है, (३) जीव नित्य है, (४) जीव अनित्य है। इन चारों भेदों को काल आदि ५ के साथ लेने से २० भेद होते हैं। जैसे कि (१) जीव **काल** से है (काल पाकर होता है), (२) जीव काल पाकर अपने से या दूसरे से होता है, (३) जीव चेतन गुण से सदा नित्य है, (४) जीव की बुद्धि काल पाकर घटती-बढ़ती रहती है, इसलिए अनित्य है, (५) जीव स्वभाव से है, (६) जीव **स्वभाव** से रहता हुआ स्वतः या परतः प्रकट होता है, (७) जीव स्वभाव से स्वयं कायम रहने के कारण नित्य है, (८) जीव स्वभाव से मृत्यु पाता है, इसलिए अनित्य है, (९) जीव होने वाला होता है (**नियति से**) तो हजारों उत्पन्न होकर स्वयं होता है, (१०) जीव होने वाला होता है तो दूसरे कारणों के मिलने से उत्पन्न होता है, (११) जीव होने वाला होता है तो उत्पन्न होकर सदैव (नित्य) रहता है, (१२) जीव होनहार होता है तो उत्पन्न होकर मरता (अनित्य) है, (१३) जीव **ईश्वर** से उत्पन्न होता है, (१४) जीव ईश्वर द्वारा रचित हुआ अपने निमित्तों से उत्पन्न होता है, (१५) जीव ईश्वर द्वारा रचित नित्य है, (१६) जीव ईश्वर द्वारा रचित अनित्य है, (१७) जीव अपने रूप में स्वयं (**आत्मा से**) उत्पन्न होता है, (१८) जीव अपने रूप में दूसरे से उत्पन्न होता है, (१९) जीव अपने रूप से नित्य है, (२०) जीव अपने रूप से अनित्य है। इस प्रकार जीव के विषय में २० भंग होते हैं। इसी तरह अजीव आदि ८ तत्त्वों में भी प्रत्येक के बीस-बीस भंग होते हैं। इस प्रकार २०×९ = १८० भेद क्रियावादियों के होते हैं।

अक्रियावादियों के ८४ भेद इस प्रकार हैं— जीव आदि ७ पदार्थों को लिखकर उसके नीचे स्वतः और परतः ये दो भेद स्थापित करना चाहिए। उसके नीचे काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये ६ पद रखने चाहिए। जैसे— (१) जीव स्वतः काल से नहीं है, (२) जीव परतः काल से नहीं है, (३) जीव यदृच्छा से स्वयं नहीं है, (४) जीव यदृच्छा से परतः नहीं है। इसी तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होने से कुल १२ भेद होते हैं। जीव आदि सातों पदार्थों के प्रत्येक के १२ भेद होने से १२×७ = ८४ भेद होते हैं।

अज्ञानवादियों के ६७ भेद इस प्रकार हैं— जीवादि ९ तत्त्वों को क्रमशः लिख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उनके नीचे ये सात भंग रखने चाहिए—(१) सत् (२) असत् (३) सदसत् (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असदवक्तव्य (७) और सदसद्-अवक्तव्य। जैसे—(१) जीव सत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (२) जीव असत् है, यह कौन जानता है, और जानने से भी क्या प्रयोजन है? (३) जीव सदसत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (४) जीव अवक्तव्य है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (५) जीव सद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (६) जीव असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? (७) जीव सद्असद्-अवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी तरह शेष अजीव आदि में भी प्रत्येक में ७-७ भंग होते हैं। यों कुल मिलाकर ९×७=६३ भेद हुए। अन्य ४ भंग इस प्रकार हैं—(१) सती (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? (२) असतो (अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और यह जानने से भी क्या लाभ है? (३) सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है? (४) अवक्तव्यभाव की उत्पत्ति कौन जानता है और इसे जानने से लाभ भी क्या है? इन चार भेदों को पहले के ६३ में मिलाने से ६७ भेद अज्ञानवादियों के हुए।

विनयवादियों के ३२ भेद इस प्रकार हैं—(१) देवता, (२) राजा, (३) यति (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता—इन आठों का, प्रत्येक का मन, वचन, काया और दान यों ४ प्रकार से विनय करना चाहिए। इस प्रकार ८×४=३२ भेद विनयवादियों के हुए।

इन मतों का अध्ययन करने से क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार का मत यह है कि पूर्वोक्त मतवादियों ने स्वेच्छानुसार जो सिद्धान्त माना है, इस अध्ययन में गणधरों ने उनका निरूपण इसलिए किया है, कि उनके मत में जो परमार्थ है, उसका निर्णय किया जाय। इसीलिए गणधरों ने इस अध्ययन का नाम समवसरण रखा है। उनका समन्वयपूर्वक सम्मेलन करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इनमें से क्रियावादी, जीव आदि को एकान्तरूप से सत् मानता है, तथा काल, स्वभाव, नियति, प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये पाँचों वादी भी एकमात्र अपने-अपने काल आदि वाद को यथार्थ मानते हैं। इसलिए ये मिथ्यादृष्टि हैं। अगर क्रियावादी जीवादि को कथंचित् सत् कहें और काल, स्वभाव आदि को मानने वाले भी सिर्फ एक को न मानकर पाँचों कारणों को समवाय रूप से मानें तो ये सम्यग्दृष्टि माने जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, प्रारब्ध (कर्म) और पुरुषार्थ इनको पृथक्-पृथक् कारण मानना मिथ्यात्व है, परन्तु इनके समूह को कारण मानना सम्यक्त्व है। शेष तीनों एकान्तवादी होने से मिथ्या हैं, परन्तु इन्हीं तीनों को सापेक्षिक मानने से (अमुक अपेक्षा से) कथंचित् अज्ञान, अक्रिया और विनय का अस्तित्व मानना सम्यक् है, परन्तु अन्य अपेक्षा से उनका नास्तित्व मानना उचित है। यों सापेक्षिक (अनेकान्त) दृष्टि से मानने पर शेष तीनों वाद भी सम्यक् हो सकते हैं।

इसकी क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

संस्कृत छाया

चत्वारि समवसरणानीमानि, प्रावादुकाः यानि पृथग्वदन्ति ।
क्रियामक्रियां विनयमिति तृतीयमज्ञानमाहुश्चतुर्थमेव ॥१॥

अन्वयार्थ

(**पावादुया**) परतीर्थिक मतवादी (**जाइं**) जिन्हें (**पुढो वयंति**) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, (**चत्तारि इमाइं समोसरणाइं**) वे चार समवसरण —चार वाद या सिद्धांत ये हैं—(**किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणं चउत्थमेव आहंसु**) क्रियावाद, अक्रियावाद और तीसरा विनयवाद तथा चौथा अज्ञानवाद, ये ही चार वाद हैं।

भावार्थ

अन्य दार्शनिकों ने जिन-जिन वादों (सिद्धान्तों या समवसरणों) को एकान्तरूप से मान रखा है, वे सिद्धान्त ये हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद।

व्याख्या

चार वाद के रूप में चार समवसरण

इस गाथा में शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषय का नामोल्लेख कर दिया है। चार प्रकार के सिद्धान्त मुख्यरूप से विश्व में प्रचलित हैं, उन चारों में संसारभर के मत आ जाते हैं। इसीलिए इन परतीर्थिकमान्य चार वादों की संख्या चार ही है, इसे निश्चयरूप से बताते हैं—'**अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव**।' अर्थात् वे सिद्धान्त ४ ही हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी।[1] क्रिया अर्थात् 'पदार्थ हैं', ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं, तथा 'पदार्थ नहीं हैं,'

---

१ इनके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भूमिका में कर दिया गया है तथा प्रथम अध्ययन में इनका स्वरूप भली-भाँति बताया गया है। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा कहने वाले अक्रियावादी हैं। तीसरे विनयवादी हैं, जो विनय से ही मोक्ष मानते हैं, और चौथे हैं अज्ञानवादी, जो अज्ञान को ही कल्याणकर मानते हैं।

इन सबके भेदों की संख्या का वर्णन पहले के पृष्ठों में किया जा चुका है। अब शास्त्रकार सर्वप्रथम अज्ञानवाद का निरूपण करते हैं—

मूल पाठ

अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुआ णो वितिगिच्छतिण्णा।
अकोविया आहु अकोविएहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥२॥

संस्कृत छाया

अज्ञानिकास्ते कुशला अपि सन्तोऽसंस्तुताः नो विचिकित्सातीर्णाः।
अकोविदा आहुरकोविदेभ्योऽननुविचिन्त्यतु मृषा वदन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(ता अण्णाणिया) वे अज्ञानवादी (कुसला वि संता) अपने आपको कुशल मानते हुए भी (णो वितिगिच्छतिण्णा) संशय से रहित नहीं हैं। (असंथुआ) अतः वे मिथ्यावादी होने से लोगों में प्रशंसापात्र नहीं हैं। (अकोविया अकोविएहिं) वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञानी शिष्यों को उपदेश देते हैं। (अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति) वे वस्तुतत्त्व का विशेष चिन्तन न करके मिथ्या भाषण करते हैं।

भावार्थ

वे अज्ञानवादी अपने आपको निपुण मानते हैं, फिर भी वे संदेहरहित नहीं हैं, अपितु वे शंकाग्रस्त हैं। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अपने अज्ञानी शिष्यों को उपदेश देते हैं। वे वस्तुतत्त्व का विचार न करके मिथ्या भाषण करते हैं।

व्याख्या

अज्ञानवादियों का स्वरूप

इस गाथा में शास्त्रकार इन चार सिद्धान्तों में से सर्वप्रथम अज्ञानवादियों का स्वरूप बताते हैं। इन चारों में अज्ञानवादी सबसे अन्त में है, उसे ही सबसे पहले बताने का कारण यह है कि इन चारों में से अज्ञानवादी ही अत्यन्त विपरीतभाषी हैं, क्योंकि वे समस्त पदार्थों का अपलाप ज्ञान का अस्तित्व से इन्कार करके करते हैं।

अज्ञानवादी उसे कहते हैं, जो अज्ञान को ही कल्याणकारी मानकर अपने आपको सन्तुष्ट मानते हैं, या जो स्वयं अज्ञानी हैं। अज्ञानवादी अपने आपको कुशल बताते हैं कि हम बड़े चतुर हैं। दूसरे जितने भी ज्ञानवान कहलाते हैं, वे अपने-अपने ज्ञान के अहंकार में डूबे हैं और परस्पर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए वे बेचारे वाक्कलह करके असन्तुष्ट रहते हैं, उनके जीवन में क्षेमकुशल नहीं हैं, हम सब तरह से कुशलमंगल हैं, क्योंकि हम फालतू किसी से न बोलते हैं, न ज्ञान बघारते हैं, चुपचाप अपने आप में मस्त रहते हैं। वास्तव में उन तथाकथित ज्ञानवादियों के पास क्या है, एक सिरदर्द है।

शास्त्रकार इन अज्ञानवादियों की नब्ज को पहचानकर कहते हैं, कि अज्ञानवादी अपने को कुशल बताते हैं, लेकिन अज्ञान के कारण किस जीव को कुशलता मिलती है? अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित है, अज्ञान के कारण ही बुरे कर्म करके प्राणी दुर्गति और नीच योनि में जाता है। नरक में कौन-से ज्ञानी हैं? अज्ञानी ही तो हैं। फिर वे परस्पर लड़ते-भिड़ते क्यों हैं? क्यों वे इतना दुःख पाते हैं? क्यों वे कुशल-क्षेम में नहीं हैं? और तिर्यञ्चयोनि के जीवों को देखिए। वे भी तो अज्ञानी हैं, फिर भी कितने पराधीन हैं, कितने भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी के भयंकर दुःख उन्हें उठाने पड़ते हैं। परतन्त्रता का दुःख कितना भयंकर है। अज्ञान में डूबे हैं, तभी तो वे कोई भी प्रगति सामाजिक, धार्मिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं कर सकते। इसलिए अज्ञानी अपने आपको कुशल-क्षेम में मानें, परन्तु उनके जीवन में कोई कुशलता नहीं आती, पशु से भी गया-बीता, पिछड़ा हुआ जीवन है उनका। इसलिए अज्ञान ही कल्याणकर है, ऐसा कहकर वे असम्बद्ध भाषण करते हैं, क्योंकि अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं, मगर ज्ञान को कोसते हैं। इसीलिए तो वे महाभ्रान्ति के शिकार हैं। अज्ञान किस बात का श्रेयस्कर है? यह जरा सापेक्ष दृष्टि से विचारणीय है। वैर-विरोध, अहंकार, क्रोध, माया, मोह आदि पिछले विकारों को न जानना और स्मरण न करना ही श्रेयस्कर है। किन्तु जीवादि पदार्थों का ज्ञान न करना तो कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

भ्रान्ति के इतने शिकार होते हुए भी अज्ञानवादी कहते हैं कि जितने भी ज्ञानवादी हैं, वे सभी एक-दूसरे से विरुद्ध पदार्थ का स्वरूप बताते हैं। इसलिए वे यथार्थवादी नहीं है। जैसे आत्मा को ही ले लीजिए। कोई तो आत्मा को सर्वव्यापी मानता है, कोई असर्वव्यापी, कोई अँगूठे के पर्व के समान मानता है तो कोई हृदय-स्थित मानता है और कोई ललाटस्थित। कोई आत्मा को नित्य और अमूर्त कहता है, इसके विपरीत कोई उसे अनित्य और मूर्त बताता है। अतः इन ज्ञानवादियों को मामला कुछ समझ में नहीं आता। सभी परस्पर एक-दूसरे से विरुद्ध हैं, एकमत नहीं हैं। किसकी बात प्रमाणभूत एवं यथार्थ मानी जाए, किसकी नहीं? जगत में कोई अतिशय ज्ञानी भी नहीं है कि जिसका वचन प्रमाण माना जाए। अगर कोई अतिशय ज्ञानी हो भी तो अल्पज्ञ पुरुष उसे जान नहीं सकता। असर्वज्ञ सर्वज्ञ को जानेगा ही कैसे? सर्वज्ञ विद्यमान हो तो भी जिसे सर्वज्ञ के समान उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, वह सर्वज्ञ को कैसे पहचान सकेगा? अथवा यों कहें कि जो सर्वज्ञ नहीं है, वह सर्वज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जानने का उपाय भी नहीं जान सकता। क्योंकि सर्वज्ञ को जानने का उपाय जानने पर ही सर्वज्ञ को जान सकता है और स्वयं सर्वज्ञ बने बिना सर्वज्ञ को जानने का उपाय नहीं जान सकता है। इस प्रकार सर्वज्ञज्ञान और सर्वज्ञोपायज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष होने से सर्वज्ञ को जानना दुष्कर है। अतः हम तो कहते हैं कि सर्वज्ञ कोई है ही नहीं। सर्वज्ञ के अभाव में, जो सर्वज्ञ नहीं है, उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से तथा ज्ञानवादियों के द्वारा पदार्थों का परस्पर विरुद्ध स्वरूप स्वीकार किये जाने से, तथा ज्यों-ज्यों अधिक ज्ञान होता है, त्यों-त्यों भूल करने पर अधिक अपराध समझे जाने से अज्ञान ही कल्याण का साधन है। वे कहते हैं कि अज्ञानतावश कोई किसी के सिर पर लात मार दे तो इतना बड़ा दोष नहीं माना जाता, क्योंकि उसका भाव शुद्ध है।

इस प्रकार का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले अज्ञानवादी मिथ्यादृष्टि हैं, वे सम्यक्ज्ञान से रहित हैं। वे भ्रम में पड़े हुए हैं। उनका यह आक्षेप किसी माने में सही है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ बताने के कारण ज्ञानवादी सच्चे नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अर्थ बताने वाले लोग असर्वज्ञ के आगमों को मानते हैं। इसीलिए वे परस्पर विरुद्ध अर्थ बताते हैं। परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तों पर बाधा नहीं आती, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगम को मानने वाले वादियों के वचनों में परस्पर विरोध कहीं नहीं आता। क्योंकि इसके बिना सर्वज्ञता होती ही नहीं। अतः ज्ञान पर आया हुआ परदा सम्पूर्णतया दूर हो जाने से तथा राग, द्वेष, मोह आदि जो असत्यभाषण के कारण हैं उनका सर्वथा अभाव होने से सर्वज्ञ के वचन सत्य हैं। उन्हें अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञप्रणीत आगम को मानने वाले परस्पर विरुद्ध बात नहीं कहते हैं।

सर्वज्ञसिद्धि के कारण अज्ञानवाद का खण्डन

'सर्वज्ञ हो भी तो अल्पज्ञ जीव के द्वारा वह जाना नहीं जा सकता', अज्ञानवादियों का यह कथन भी युक्तिविरुद्ध है। यद्यपि सराग वीतराग की-सी चेष्टा करते देखे जाते हैं और वीतराग सराग की-सी प्रवृत्ति करते नजर आते हैं, इसलिए दूसरे की मनोवृत्ति अल्पज्ञ द्वारा जानी नहीं जा सकती, इस तरह प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ की उपलब्धि न होने पर भी सर्वज्ञ के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता; क्योंकि सम्भव और अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। जैसे—व्याकरण आदि शास्त्रों के अध्ययन से संस्कारित बुद्धि का अतिशय ज्ञेय सजीव पदार्थों में देखा जाता है, अर्थात् अज्ञानी की अपेक्षा व्याकरणशास्त्री या सुशिक्षित मनुष्य अधिक जानता-समझता है, इसी तरह ध्यान, समाधि, ज्ञान, साधना आदि के विशिष्ट अभ्यास करने से उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होने से कोई समस्त वस्तुओं को जानने वाला सर्वज्ञ भी हो सकता है। वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा कोई सर्वज्ञता का बाधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि कोई अल्पज्ञ पुरुष प्रत्यक्षप्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता। अल्पज्ञ का ज्ञान अल्प होने से वह सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय के विज्ञान से रहित है। यदि उसका ज्ञान सर्वज्ञ के ज्ञान और ज्ञेय को भी जानता है तो वह स्वयं सर्वज्ञ हुआ, फिर सर्वज्ञ का अभाव कहाँ रहा? अनुमानप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव के साथ अव्यभिचारी कोई हेतु नहीं है। उपमानप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य नहीं है। अर्थापत्तिप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अर्थापत्तिप्रमाण की प्रत्यक्षादिपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि न होने से अर्थापत्तिप्रमाण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर सकता। आगमप्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आगम सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलाने वाला भी है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और सम्भव, इन पाँच प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए यह निश्चित होता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है, यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि सब देश और सब काल में सर्वज्ञ का बोधक (ग्राहक) कोई प्रमाण नहीं मिलता, यह कहना अल्पज्ञ पुरुष के बूते की बात नहीं है, क्योंकि देश-काल की अपेक्षा से जो पुरुष अत्यन्त दूर है, उसका विज्ञान अल्पज्ञ नहीं कर सकता। यदि वह उसका विज्ञान कर ले, तब तो वह भी सर्वज्ञ ठहरता है, फिर सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्थूलदर्शी पुरुष का विज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहुँचता इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान व्यापक नहीं है। यदि कोई अव्यापक पदार्थ किसी पदार्थ के पास न पहुँचे तो उस पदार्थ का अभाव नहीं हो जाता। इसलिए सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता, प्रत्युत सर्वज्ञ के साधक सम्भव और अनुमान आदि प्रमाण मिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

उक्त सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का स्वीकार करने से मतभेदरूप दोष भी नहीं आता। सर्वज्ञ के द्वारा कथित आगम को मानने वाले सभी लोग एकमत से आत्मा को शरीरमात्रव्यापी मानते हैं, क्योंकि शरीरपर्यन्त ही आत्मा का गुण पाया जाता है। तथा अज्ञानवादी ने पहले जो अन्योन्याश्रय दोष बताया है, वह भी यहाँ सम्भव नहीं है। क्योंकि शास्त्र आदि का अभ्यास करने से बुद्धि के अतिशय ज्ञान का अस्तित्व अपनी आत्मा से भी देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष देखी हुई बात में कोई अनुपपत्ति (बाधा) नहीं आती।

व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार के नञ्समास होते हैं—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास नञ्समास सदृशग्राही होता है, जबकि प्रसज्य सर्वथा निषेध करता है। अगर अज्ञानपद में पर्युदास वृत्ति मानकर एक ज्ञान से भिन्न उसके सदृश दूसरे ज्ञान को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान कहते हैं, तब तो आपने दूसरे ज्ञान को ही कल्याण का साधन मान लिया, अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ ? यदि प्रसज्यवृत्ति मानकर ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहते हैं, तब तो ज्ञानाभाव अभावरूप होने से तुच्छ, रूपरहित एवं सर्वशक्तिरहित हुआ, वह क्योंकर कल्याणकर सिद्ध हो सकता है। ज्ञान कल्याण का साधन नहीं है, अज्ञान का अर्थ प्रसज्यवृत्ति से यह होता है तो वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान द्वारा पदार्थ के स्वरूप को जानकर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य की सिद्धि करता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इसलिए ज्ञान को झुठलाया नहीं जा सकता।

अज्ञानवादी धर्मोपदेश में सर्वथा निपुण नहीं हैं, परन्तु अपने अनिपुण शिष्यों को जब वे धर्म का उपदेश देते हैं तो ज्ञान के द्वारा ही देते हैं। अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर बिना विचार किये बोलते हैं, इसलिए मिथ्याभाषण की प्रवृत्ति तो उनमें सहज ही है। जिसमें ज्ञान—वास्तविक ज्ञान होगा, वह पुरुष विचारपूर्वक बोलता है, और सत्यभाषण सदा विचार पर निर्भर है। इसलिए अज्ञानवाद अपने आप में एक मिथ्यावाद है, इससे कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे नाना कर्मबन्धन होने से जीव दुःख ही पाता है।

मूल पाठ

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम ॥३॥
अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं ।
लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवाई ॥४॥

संस्कृत छाया

सत्यमसत्यमिति चिन्तयित्वा, असाधु साध्वित्युदाहरन्तः ।
य इमे जनाः वैनयिका अनेके, पृष्टा अपि भावं व्यनैषुर्नाम ॥३॥
अनुपसंख्यायेति ते उदाहृतवन्तः अर्थः स्वोऽवभासतेऽस्माकमेवम् ।
लवावशंकिनश्चानागतैर्नो, क्रियामाहुरक्रियावादिनः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**सच्चं असच्चं इति चिंतयंता**) जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए (**असाहु साहुत्ति उदाहरंता**) जो असाधु यानी अच्छा नहीं हैं, उसे साधु (अच्छा) बताते हुए (**अणेगे जे इमा वेणइया जणा**) जो ये बहुत से विनयवादी लोग हैं, (**पुट्ठा विणइंसु भावं णाम**) वे पूछने पर विनय को ही मोक्ष का साधन बताते हैं ॥३॥

(**ते अणोवसंखा**) वे विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर (**इति उदाहु**) ऐसा कहते हैं कि (**स अट्ठे अम्ह एवं ओभासइ**) अपने प्रयोजन की सिद्धि हमें इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से (विनय से) ही दीखती है। (**लवावसंकी**) तथा लव यानी कर्मबन्ध की शंका करने वाले (**अकिरियवादी**) अक्रियावादी (**अणागएहि**) भूत और भविष्य के द्वारा वर्तमान की असिद्धि मानकर (**णो किरियं आहंसु**) क्रिया का निषेध करते हैं ॥४॥

भावार्थ

जो सत्य है, उसे असत्य, तथा जो असाधु (दुर्जन) है, उसे साधु (सज्जन) बताते हुए बहुत से विनयवादी पूछने पर विनय को ही मोक्ष का मार्ग बताते हैं ॥३॥

विनयवादी वस्तुतत्त्व को न समझकर, केवल यही कहते हैं—हमें अपने प्रयोजन की सिद्धि विनय से ही दीखती है। इसी तरह कर्मबन्ध की आशंका करने वाले अक्रियावादी भूत और भविष्यकाल के द्वारा वर्तमान को असिद्ध मानकर क्रिया का निषेध करते हैं ॥४॥

व्याख्या

विनयवादी और अक्रियावादी का मन्तव्य

अब शास्त्रकार विनयवादियों और अक्रियावादियों के मन्तव्य प्रस्तुत करके उनके मत का निराकरण तीसरी, चौथी गाथा के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। विनयवादी अपनी सद्-असद्-विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते, वे प्रत्येक का विनय (जो वास्तव में विनय नहीं, चापलूसी, खुशामद, चाटुकारिता या मुखमंगलता होती है) करने की धुन में अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान-सम्मान, दान आदि देता है। वह सत्य-असत्य को परख नहीं सकता। जो सत्य है, उसे परख न सकने के कारण जो व्यक्ति जैसे संज्ञा देता है, वैसे मानकर उसे असत्य कह देते हैं, और जो सरासर असत्य है, उसे लोगों के बहकावे में आकर अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर सत्य मान लेता है। सत्य का अर्थ है—**'सद्भ्यो हितम् सत्यम्'** जो प्राणियों का हित-कल्याण करने वाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण है, उसे सत्य कहते हैं। अथवा मोक्ष या संयम को सत्य कहते हैं, उस सत्य को विनयवादी असत्य कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का वास्तविक (सत्य) मार्ग है, उसे विनयवादी असत्य कहते हैं। यद्यपि केवल विनय से मोक्ष नहीं होता, तथापि वे केवल विनय से ही मोक्ष को मानते हैं, इस प्रकार वे असत्य को सत्य मानते हैं। तथा जो पुरुष विशिष्ट धर्माचरण यानी साधु की क्रिया नहीं करता, वह असाधु है, उसे केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय की क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं। वे धर्म के यथार्थ परीक्षक नहीं हैं। वे केवल औपचारिक विनय से धर्म की उत्पत्ति मानते हैं, यह युक्तिसंगत नहीं हैं। ये बुद्धि पर ताला लगाकर चलने वाले, गंवार और अनाड़ी लोगों की तरह केवल विनय के साथ विचरण करते हैं, वे केवल विनय (औपचारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनय) से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं। जब कोई धर्मार्थी पुरुष उनसे धर्म और मोक्ष के बारे में पूछता है तो अपना घड़ाघड़ाया पेटेंट उत्तर देते हैं—**'केवल विनय करने से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।'** विनयवादी सभी कार्यों की सिद्धि के लिए सभी को विनय करने का उपदेश देते हैं। वे समस्त कल्याणों का द्वार विनय को मानते हैं। इन विनयवादियों के ३२ भेद हैं, जिनका विवरण हम पिछले पृष्ठों में अंकित कर आए हैं।

विनयवादियों के इस एकान्त मताग्रह का निरूपण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'अणोवसंखा ·· अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं।'** आशय यह है कि उपसंख्या ··सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थस्वरूप के परिज्ञान के बिना ही मिथ्याग्रही विनयवादी महामोह से आच्छादित होकर तपाक से कह देते हैं—हमें तो अपने सभी प्रयोजनों की सिद्धि विनय से ही होती दीखती है। विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होगी। परन्तु वे यह नहीं सोचते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना से ही होती है, यद्यपि विनय भी चारित्र का एक अंग है, परन्तु सबकी जी-हुजूरी, मुखमंगलपन या चापलूसी करना वास्तविक विनय -- मोक्षमार्ग का अंगभूत विनय नहीं है। अगर विनयवादी ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप विनय को विवेकपूर्वक अपनाएँ तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक इनकी आराधना करें, साथ ही जो आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए वीतराग परमात्मा हैं या सिद्ध प्रभु हैं, अथवा पंच महाव्रतधारी चारित्रात्मा हैं, उन्हें विवेक की आँखों से देख-परखकर उनकी विनयभक्ति करें तो उक्त मोक्षमार्ग के अंगभूत विनय से स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु इसे छोड़कर अध्यात्मविहीन अविवेकयुक्त कोरे विनय से स्वर्ग या मोक्ष बतलाएँ, यह एकान्त दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।

इससे आगे शास्त्रकार अक्रियावादियों का स्वरूप बताकर उनकी मीमांसा करते हैं—**'लवावसंकी·· णो किरियमाहंसु अकिरियवादी।'** लव कहते हैं कर्म को। उसकी जो शंका करते हैं, अथवा उससे जो अलग हटते हैं, उसे लवावशंकी कहते हैं। ऐसे लवावशंकी लोकायतिक हैं या शाक्यदर्शनी हैं। इनके मत में आत्मा ही नहीं है, तो उसकी क्रिया कहाँ से हो सकती है और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से हो सकता है? अतः इनके मत में वास्तविक बन्ध नहीं है, केवल आरोपमात्र से बन्ध है। जैसे कि कहा है—

बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः।
न चाऽन्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः॥

अर्थात्— जैसे लोक व्यवहार में कहते हैं—मैंने मुट्ठी बाँध ली तथा मुट्ठी खोल ली; यहाँ मुट्ठी बाँधना और खोलना केवल आरोप है। वस्तुतः वह कोई रस्सी से बाँधी और खोली नहीं जाती है। गाँठ और मुट्ठी में बाँधने और खोलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का जो व्यवहार देखा जाता है, वह एक तरह से औपचारिक व्यवहार होता है, इसी तरह जगत् में बद्ध और मुक्त का व्यवहार जानना चाहिए।

बौद्ध पाँच स्कन्ध मानते हैं, वह भी आरोपमात्र से है, परमार्थरूप से नहीं। उनका मन्तव्य यह है कि कोई भी पदार्थ विज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् विज्ञान के द्वारा पदार्थों का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि अवयवी पदार्थ तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों भेदों के द्वारा विचार करने पर पूरा समझ में नहीं आता। इसी तरह अवयव भी परमाणु पर्यन्त विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकाररहित होने से स्वरूप को धारण नहीं करते।

बौद्धों के कथन का आशय यह है कि घट आदि अवयवी पदार्थ, कपाल (ठीकरे) आदि अपने अवयवों से भिन्न है या अभिन्न? इस पर जब विचार किया जाता है, तब वे भिन्न या अभिन्न कुछ भी प्रतीत नहीं होते; क्योंकि यदि अवयवी के समस्त अवयवों को अलग-अलग कर दें तो अवयवी नामक कोई पदार्थ देखने में नहीं आता। ऐसी दशा में उसे अवयवों से अभिन्न कहें, तो यह भी नहीं बनता है, क्योंकि घट-पटादि पदार्थों के अवयवों का विचार करने पर अवयव के भी अवयव और उसके भी अवयव, इस प्रकार अवयवों की धारा निरन्तर चलती हुई परमाणु में जाकर समाप्त होती है। और परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण सामान्य दृष्टि से ज्ञात नहीं होते हैं। अतः अवयवों का ज्ञान भी अशक्य है। ऐसी दशा में कोई भी पदार्थ ज्ञान के द्वारा पूरा-पूरा जाना नहीं जाता।

उक्त सिद्धान्त मानने वाले बौद्धमत में भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध न होने से क्रिया नहीं होती। और क्रिया न होने से क्रिया-जनित कर्मबन्ध भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि आने वाला (अनागत) क्षण अभी आया ही नहीं है और भूतकाल विद्यमान नहीं है तथा पहले और पीछे के क्षणों के साथ वर्तमान क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि नाश हुए के साथ वर्तमान का सम्बन्ध नहीं होता है। अतः क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने से उसके द्वारा कर्म-बन्ध नहीं होता। इस प्रकार अक्रियावादी नास्तिक हैं। वे सब पदार्थों का खण्डन करते हुए कर्मबन्ध की आशंका से क्रिया का निषेध करते हैं।

इसी प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी होने से उसे क्रियारहित मानने वाले सांख्य-दर्शन वाले भी अक्रियावादी हैं। अतः लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य तीनों अक्रिया-वादी बिना विचार किये ही इस सिद्धान्त को मानते हैं। वे आग्रहपूर्वक यह भी कहते हैं कि हमारे मतानुसार ही पदार्थों का स्वरूप यथार्थ रूप से घटित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई ।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥
ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूव रूवाणि अकिरियवाई ।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसारमणोवदग्गं ॥६॥
णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढई हायई वा ।
सलिला न संदंति, ण वंतिवाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए ॥७॥
जहाहि अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते ।
संतं पि ते एवमकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना ॥८॥
संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तदेहं च उप्पाइयं च ।
अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥९॥
केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं ।
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जा परिमोक्खमेव ॥१०॥

संस्कृत छाया

सम्मिश्रभावं च गिरा गृहीते, स मूकमूकोभवत्यननुवादी ।
इदं द्विपक्षमिदमेकपक्षमाहुश्छलायतनं च कर्म ॥५॥
त एवमाचक्षतेऽबुध्यमानाः, विरूपरूपाण्यक्रियावादिनः ।
यान्यादाय बहवो मनुष्याः, भ्रमन्ति संसारमनवदग्रम् ॥६॥
नादित्य उदेति नास्तमेति, न चन्द्रमा वर्धते हीयते वा ।
सलिलानि न स्यन्दन्ते, न वान्ति वाताः, वन्ध्यो नियतःकृत्स्नो लोकः ॥७॥
यथा ह्यन्धः सह ज्योतिषाऽपि, रूपाणि न पश्यति हीननेत्रः ।
सतीमपि ते एवमक्रियावादिनः, क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः ॥८॥
संवत्सरं स्वप्नं लक्षणं च, निमित्तं दैहञ्चौत्पातिकञ्च ।
अष्टांगमेतद् बहवोऽधीत्य, लोके जानन्त्यनागतानि ॥९॥
कानिचिन्निमित्तानि सत्यानि भवन्ति, केषांचित्तत् विपर्ययेतिज्ञानम् ।
ते विद्याभावमनधीयाना आहुर्विद्यापरिमोक्षमेव ॥१०॥

अन्वयार्थ

(गिरा गहीए सम्मिस्सभाव) वे पूर्वोक्त अक्रियावादी लोकायतिक आदि अपनी वाणी से स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए मिश्रपक्ष को यानी पदार्थ की सत्ता और असत्ता दोनों से मिश्रित विरुद्धपक्ष को स्वीकार करते हैं। **(से अणाणुवाई**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुम्मुई होइ) वे स्याद्वादियों के कथन का अनुवाद करने (दोहराने) में भी असमर्थ होकर मूक हो जाते हैं। (**इमं दुपक्खं इममेगपक्खं छलायतणं कम्मं आहंसु**) वे इस परमत को द्विपक्ष-प्रतिपक्षयुक्त तथा अपने मत को एक पक्ष से युक्त (प्रतिपक्षरहित) बताते हैं तथा स्याद्वादियों के वचनों का खण्डन करने के लिए छलयुक्त वचन एवं कर्म—व्यवहार का प्रयोग करते हैं ॥५॥

(**अबुज्झमाणा ते अकिरियवाई**) वस्तुस्वरूप को न समझने वाले वे अक्रियावादी (**विरूवरूवाणि एवमाइक्खंति**) नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन करते हैं। (**जे मायइत्ता बहवे मणूस्सा**) जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत-से मनुष्य (**अणोवदग्गं संसारं भमंति**) अनन्तकाल तक इस चातुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करते हैं ॥६॥

(**ण आइच्चो उएइ**) सर्वशून्यतावादी कहते हैं कि न तो सूर्य उदय होता है, (**ण अत्थमेइ**) न अस्त होता है, (**चंदिमा ण वड्ढई हायई वा**) और न ही चन्द्रमा बढ़ता है, न घटता है। (**सलिला न संदंति**) तथा पानी बहता नहीं है, (**ण वंति वाया**) और हवाएँ चलती नहीं हैं। (**कसिणे लोए हु णियतो वंझो**) यह सारा जगत् सदा अस्थायी है, और मिथ्याभूत—शून्यरूप है ॥७॥

(**जहा हि अंध जोतिणा अपि सह**) जैसे अंधा पुरुष ज्योति (प्रकाश) के साथ रहकर भी (**हीणणेत्ते रूवाइ णो पस्सति**) नेत्रहीन होने के कारण रूप को नहीं देखता। (**एवं निरुद्धपन्ना ते अकिरियाई**) इसी तरह बुद्धिहीन अक्रियावादी (**संतं वि किरियं न पस्संति**) सामने विद्यमान क्रिया को नहीं देखते ॥८॥

(**संवच्छरं सुविणं लक्खणं च**) ज्योतिषशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र (**निमित्तं देहं च उप्पाइयं च**) निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि चिह्नों का फल बताने वाला शास्त्र एवं भूकम्प, उल्कापात, दिग्दाह आदि उत्पात का फल बताने वाला शास्त्र, (**एयं अट्ठंगं अहित्ता**) इन आठ अंगों वाले शास्त्रों को पढ़कर (**लोगंसि बहवे**) जगत् में बहुत-से लोग (**अणागताइं जाणंति**) भविष्य की बातों को जान जाते हैं ॥९॥

(**केई निमित्ता तहिया भवंति**) कई निमित्त तो सत्य (तथ्य) होते हैं, (**केसिंचि तं णाणं विप्पडिएति**) किन्हीं-किन्हीं निमित्तवादियों का यह ज्ञान विपरीत (यथार्थ नहीं) होता है, (**ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा**) यह देखकर ज्ञान प्राप्त कराने वाली विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी (**विज्जा परिमोक्खमेव आहंसु**) विद्या से छुटकारा पाने को ही कल्याणकारक करते हैं ॥१०॥

भावार्थ

पूर्वोक्त अक्रियावादी लोकायतिक आदि अपनी वाणी से स्वीकार किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए पदार्थ का निषेध करके मिश्रपक्ष को अर्थात् पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से मिश्रित विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं। वे स्याद्वादियों के वचन का अनुवाद करने में भी असमर्थ होकर मूक हो जाते हैं। वे अपने मत को प्रतिपक्षरहित और परमत को प्रतिपक्षयुक्त बताते हैं। वे स्याद्वादियों के वचनों का खण्डन करने के लिए वाक्छल का प्रयोग करते हैं ॥५॥

वस्तुस्वरूप को न जानने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन करते हैं, जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर मनुष्य अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं ॥६॥

सर्वशून्यतावादी कहते हैं कि सूर्य उदय नहीं होता, अस्त नहीं होता, तथा चन्द्रमा न घटता है, न बढ़ता है एवं पानी बहता नहीं है, और हवा भी चलती नहीं है। किन्तु यह सारा विश्व अभावरूप और झूठा है ॥७॥

जैसे अन्धे के पास दीपक आदि का प्रकाश होते हुए भी वह घट-पटादि पदार्थों को देख नहीं सकता। इसी तरह जिनके ज्ञान पर मोहरूपी पर्दा पड़ा हुआ है, ऐसे अक्रियावादी विद्यमान क्रिया को नहीं देखते ॥८॥

जगत् में बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीर के तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र और उल्कापात, भूकम्प, दिग्दाह आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन आठ अंगों वाले शास्त्रों को पढ़कर भविष्य में होने वाली बातों को जान लेते हैं ॥९॥

कई निमित्त सच्चे होते हैं, और किन्हीं निमित्तवादियों का वह ज्ञान विपरीत होता है, यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या के त्याग को ही कल्याणकारक कहते हैं ॥१०॥

व्याख्या

अक्रियावादियों की रीति-रीति

पाँचवीं गाथा से दसवीं गाथा तक में विभिन्न पहलुओं से अक्रियावादियों की रीति-नीति का, और उनकी गति-मति का निरूपण किया गया है। अक्रियावादियों के सम्बन्ध में कुछ वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अक्रियावादी मुख्यतया तीन हैं—लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य। इन तीनों का अक्रियावाद का प्रतिपादन अलग-अलग है।

सर्वप्रथम शास्त्रकार ने अक्रियावादी लोकायतिक का मन्तव्य बताया है कि लोकायतिक अपने माने हुए सिद्धान्त से ही जब पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, अथवा जब पदार्थ का अस्तित्व माने बिना अपने सिद्धान्त की सिद्धि होने के कारण वह पदार्थ सिद्ध हो जाता है, तब केवल वचन से उस पदार्थ का निषेध करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए वे इन दोनों से मिश्रित परस्पर विरुद्ध पक्ष को स्वीकार करते हैं। अर्थात् कभी वे उसका अस्तित्व कहते हैं तो कभी नास्तित्व कहने लगते हैं। कभी-कभी वे प्रथम जिस पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उसी का नास्तित्व स्वीकार करने लगते हैं। 'च' शब्द से यह सूचित होता है कि पदार्थ का निषेध करते हुए नास्तिक उसी के अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं। जैसे कि लोकायतिक जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रों को अपने शिष्य को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को और जिसको उपदेश दिया जाता है, उस शिष्य को तो अवश्य ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना उपदेश आदि नहीं हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद में ये तीनों पदार्थ नहीं आते। इसलिये वे मिश्रपक्ष का सहारा लेते हैं। यानी पदार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं। अथवा पदार्थ का निषेध करते हुए उन्हें उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है।

इसी तरह बौद्ध भी परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का सहारा लेते हैं। बौद्धों पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

गन्ता च नास्ति कश्चिद् गतयः षड् बौद्धशासने प्रोक्ताः ।
गम्यत इति च गतिः, स्यात्श्रुतिः कथ शोभना बौद्धी ?

जिस मत में जाने वाला कोई नहीं माना गया है, उस बौद्ध शासन में छह गतियां कही गई हैं। गमन करना गति कहलाती है। जब गमन करने वाला है ही नहीं, तब यह कथन बौद्धशासन में कैसे संगत हो सकता है? जब कर्म ही नहीं माना गया है, तो उसका फल मिलना कैसे संगत होगा? जब गति करने वाला कोई आत्मा ही नहीं है, तब उसकी ६ गतियाँ कैसी? फिर बौद्धों द्वारा मान्य ज्ञानसन्तान भी प्रत्येक ज्ञान से भिन्न नहीं है, अपितु वह आरोपित है तथा प्रत्येक ज्ञानक्षण क्षण-विनाशी होने के कारण स्थिर नहीं है। इसलिए क्रिया न होने के कारण बौद्धदर्शन में अनेक गतियों का होना कदापि सम्भव नहीं है। तथा बौद्धों के आगम में सभी कर्मों को अबन्धन माना गया है। इसके बावजूद भी बुद्ध का ५०० बार जन्म लेना भी वे बताते हैं। जब कर्मबन्धन न हो तो जन्मग्रहण कैसे होगा? साथ ही वे यह भी कहते हैं—"माता और पिता को मारकर एवं बुद्ध के शरीर से रक्त निकाल कर अर्हद्वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य आवीचि नरक में जाता है।"[1] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है? जब सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रों

१. मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुद्पात्य ।
अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा, च पंचैते, आवीचिनरकं यान्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्माण कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? यदि कर्म बन्धनदायी नहीं हैं तो प्राणियों में जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, उत्तम, मध्यम और अधम कैसे हो सकते हैं? इसके अतिरिक्त कर्म का नाना प्रकार का फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इससे सिद्ध है कि जीव अवश्य है, और वह कर्ता है, तथा कर्मफल का भोक्ता भी है, और वह कर्म से युक्त है। इस तरह पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी वे सर्वशून्यवाद को मानते हैं। सर्वशून्यतावाद के पक्ष में उनकी युक्ति यह है—

गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नोपपातघनसदृशाः।
मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमाः ॥

बादलों का नगर के-से दृश्य के समान सांसारिक पदार्थ मिथ्या हैं। तथा वे माया, स्वप्न, मृगतृष्णा, ओसबिन्दु, चन्द्रिका एवं मशाल के समान आभास मात्र हैं। यह स्पष्ट ही बौद्धों द्वारा मिश्र पक्ष का स्वीकार करना है। एक ओर वे कर्मों का पृथक्-पृथक् फल मानते हैं, दूसरी ओर वे सर्वशून्यवाद से विपरीत भाषण करते हैं। वे पदार्थों का नास्तित्व बताते हुए भी उसके विपरीत अस्तित्व का भी स्वीकार करते हैं।

अब रहे सांख्य। सांख्यवादी भी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर उसे क्रियारहित स्वीकार करके भी प्रकृति के वियोग से उसकी मुक्ति मानते हैं। अतः वे स्वयं अपने मुँह से ही आत्मा का बन्ध और मोक्ष बताते हैं। जब आत्मा का बन्ध और मोक्ष होता है तो उनकी ही वाणी से आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है। इसलिए सांख्यवादी भी मिश्रपक्ष को प्राप्त हैं, क्योंकि क्रिया के बिना बंध-मोक्ष कदापि सम्भव नहीं। अतएव सांख्यवादी आत्मा को क्रियारहित सिद्ध करते हुए अपने ही वाक्य से उसे क्रियावान् कह बैठते हैं।

इसके आगे शास्त्रकार कहते हैं कि जब स्याद्वादी यथार्थ हेतु, दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करके बौद्धमत का खण्डन करने लगते हैं तो वे घबराकर बगलें झांकने लगते हैं, निरुत्तर हो जाते हैं, या असम्बद्ध प्रलाप करते हुए वहाँ से खिसकने लगते हैं। अथवा जैन-प्रतिपादित हेतु, दृष्टान्तों का अनुवाद किए बिना ही तथा उत्तर दिए बिना ही वे अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वे अपने दर्शन को पक्ष से रहित, एकपक्षीय, पूर्वापर विरोध रहित, निर्बाध बताते हैं, लेकिन यह बात मिथ्या है। इनका दर्शन पूर्वापर विरुद्ध अर्थ को किस प्रकार बताता है? यह हम पहले बता आए हैं।

अथवा जैनाचार्य कहते हैं कि जैन-दर्शन द्विपक्षीय है, कर्मबन्ध की निर्जरा के बारे में यहाँ दो पक्ष माने गये हैं। जैसे जीव अपने कर्म का फल चोर और परस्त्री-लम्पट के समान इस लोक और परलोक दोनों में प्राप्त करता है। ऐसा सिद्धान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानने के कारण जैनदर्शन द्विपक्षीय है, जबकि बौद्धदर्शन एकपक्षीय है, वह कर्म का फल इसी जन्म में मानता है, दूसरे लोक में नहीं।

इस प्रकार अक्रियावादी लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य वस्तुतः वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से नहीं जानते, उनका हृदय मिथ्यात्वमलपुंज से ढका हुआ है। अपने सिद्धान्त दूसरों को समझाने हेतु अनेक शास्त्रों की प्ररूपणा करते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये ४ धातु या भूत हैं। इनसे भिन्न सुख-दुःख भोक्ता कोई आत्मा नहीं है। तथा ये पदार्थ भी विचार न करने से सत्य-से प्रतीत होते हैं, परन्तु तत्त्वदृष्टि से सब मिथ्या हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वप्न, इन्द्रजाल, मृगतृष्णा, दो चन्द्रमा दिखना आदि के समान प्रतिभासरूप हैं। सभी पदार्थ क्षणिक हैं, आत्मा से रहित हैं, तथा सर्वशून्यता-दृष्टि से मुक्ति प्राप्त होती है, उसी मुक्ति की प्राप्ति के लिए शेष भावनाएँ की जाती हैं।

इस प्रकार आत्मा को क्रियारहित मानने वाले नाना प्रकार के शास्त्रों का हवाला देते हैं। वस्तुतः ये लोग वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं। इनके दर्शनों का आश्रय लेकर बहुत-से लोग अरहट की तरह अनन्तकाल तक संसार चक्र में भ्रमण करते हैं।

लोकायतिक सर्वशून्यतावाद मानते हैं, पर सर्वशून्य में कोई प्रमाण नहीं है। 'सब पदार्थ असत् हैं,' यह बात युक्ति से सिद्ध की जाती है, परन्तु वह युक्ति भी यदि असत् है, तो किसके बल पर पदार्थों की असत्ता सिद्ध की जाएगी? यदि युक्ति को सत्य मानें तो सभी पदार्थ सत्य हैं।

अगली गाथा (नं० ७) में शास्त्रकार सर्वशून्यतावादी के मत का निरूपण करते हैं—सूर्य सर्वजनप्रत्यक्ष दिनमणि एवं जगत् के दीपक के समान है एवं वह दिन आदि काल का विभाग करता है। परन्तु सर्वशून्यतावादी के मत से जब सूर्य ही नहीं है, तो उसके उदय, अस्त की तो बात ही क्या? आकाश में जलता हुआ तेजोमंडल दिखाई तो देता है, परन्तु भ्रान्त पुरुषों को दिखाई देने वाली मृगतृष्णा के समान है। चन्द्रमा भी शुक्लपक्ष में बढ़ता नहीं, कृष्णपक्ष में घटता भी नहीं। जल पर्वतों के झरनों से गिरता और बहता नहीं, निरन्तर गतिशील हवा भी नहीं चलती। कहाँ तक कहें, सौ बातों की एक बात यह है कि यह सारा दृश्यमान संसार या पदार्थ माया, स्वप्न और इन्द्रजाल के समान मिथ्या है।

अब सर्वशून्यतावादियों के मत का खण्डन करते हुए ८वीं गाथा में शास्त्रकार दृष्टान्त देकर कहते हैं—**'जहाहि अंधे ... पस्सति निरुद्धपन्ना'** जैसे जन्मान्ध पुरुष या बाद में दृष्टिरहित हुआ पुरुष दीपक, मशाल आदि के प्रकाशों के साथ में होते हुए भी घट-पटादि पदार्थों को देख नहीं सकता वैसे ही अक्रियावादी विद्यमान घट-पटादि पदार्थों तथा उनकी स्पन्दन आदि क्रियाओं को देख नहीं सकता, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी प्रज्ञा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से ढकी रहती है। समस्त अंधेरे को मिटाने वाले, कमल समूह को विकसित करने वाले, प्रतिदिन उदय-अस्त होते एवं गति करते हुए सूर्य को तो सारा जगत प्रतिदिन देखता है। चन्द्रमा भी शुक्ल-कृष्णपक्ष में क्रमशः बढ़ता-घटता देखा जाता है। नदियाँ वर्षा ऋतु में जल की तरगों से भरी और बहती हुई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं। वृक्ष के कम्पन आदि द्वारा वायु के बहने-चलने का भी अनुमान होता है।

अक्रियावादी जो समस्त वस्तुओं को माया या इन्द्रजाल के समान मिथ्या बताते हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि समस्त वस्तुओं का अभाव मानने पर अमायारूप किसी भी सत्य वस्तु के न होने पर माया का भी अभाव होगा। तथा माया का जो कथन करता है, तथा जिसके प्रति कथन करता है, इन दोनों का भी अभाव होने से माया का कथन भी सिद्ध नहीं हो सकता है। संसार को स्वप्नवत् मिथ्या कहने वाले चार्वाक जाग्रत माने जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि चार्वाक जाग्रत को मानता है तो स्वप्न को तो मान ही लिया। स्वप्न भी अभावरूप नहीं है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ बाहर भी पाये जाते है। स्वप्नशास्त्र के अनुसार स्वप्न के कारण ये हैं—

अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाऽणुया।
सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो ॥

अर्थात्— अनुभव किया हुआ, देखा हुआ, चिन्तन किया हुआ, सुना हुआ, प्रकृति का विकार, देवता का प्रभाव और पुण्य-पाप, ये सब स्वप्न के कारण होते हैं, अभाव कारण नहीं होता।

इन्द्रजाल का प्रयोग भी तभी किया जाता है, जब जगत् में दूसरी सच्ची वस्तु हो, इसलिए इन्द्रजाल को भी अभावरूप नहीं कहा जा सकता।

दो चन्द्रमाओं की प्रतीति भी तभी हो सकती है, जब दो चन्द्रमा का प्रतिभास कराने वाले एक चन्द्रमा का सद्भाव हो, या रात्रि का समय हो। मगर सर्वशून्य हो तो दो चन्द्रमा की प्रतीति कैसे होगी? अतः किसी भी वस्तु का अत्यन्त तुच्छ-रूप अभाव— अत्यन्ताभाव नहीं है। शशविषाण, कूर्मरोम या गगनारविन्द आदि में भी उनके समासपदवाच्य पदार्थ का अभाव है, प्रत्येकपदवाच्य पदार्थ का अभाव नहीं, क्योंकि जगत् में शश (खरगोश) भी है और विषाण (सींग) भी है। इसलिए शश के मस्तक पर विषाण (सींग) का उतने मात्र का निषेध यहाँ है। किन्तु वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं। इस प्रकार अस्ति आदि क्रिया होने पर भी बुद्धिहीन परतीर्थी अक्रियावाद का आश्रय लेते हैं।

शास्त्रकार शून्यवाद का खण्डन करते हुए फिर कहते हैं—**'संवच्छरं''''अणागताइं'** अर्थात् ज्योतिष आदि शास्त्रों को पढ़कर लोग इस लोक में भूत और भविष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जान लेते हैं, परन्तु शून्यवाद मान लेने पर तो यह ज्ञान होना असम्भव है। लौकिकशास्त्रों में ८ शास्त्र ऐसे हैं, जो भूत या भविष्य का फल बता देते हैं। जैसे—भौम, (भूमि सम्बन्धी ज्ञान बताने वाला), उत्पात (भूकम्प, दिग्दाह, उल्कापात आदि का सूचक), स्वप्न, आन्तरिक्ष (नक्षत्रों आदि आकाशस्थ ग्रहों का सूचक), आंग (अंग में उत्पन्न स्फुरण, छींक आदि का फल बताने वाला शास्त्र), स्वर (ईडा, पिंगला सुषुम्णा स्वर), लक्षण (शरीर में श्रीवत्स, स्वस्तिक आदि लक्षणों का फलसूचक शास्त्र), व्यञ्जन (शरीर पर तिल, मष आदि का फलसूचक) तथा नवम पूर्व में तृतीय आचार वस्तु प्रकरण में से उद्धृत जो सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि का सूचक निमित्त शास्त्र है। ये अष्टांग निमित्त शास्त्र कहलाते हैं। इसी प्रकार पक्षी और मनुष्य, पशु (शृगाल आदि) की वाणी तथा प्रशस्त शकुन, छींक आदि भी लक्षणशास्त्र के अन्तर्गत है। इन सब शास्त्रों के पढ़ने से भूत या भविष्य की जानकारी मनुष्यों को होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, सर्वशून्यवाद मानने पर तो यह हो नहीं सकती।

शून्यवाद का इन प्रमाणों से खण्डन होने पर भी चार्वाक शून्यबोधक शास्त्र की दुहाई देते हैं।

इस पर शून्यतावादी अक्रियावादी कहते हैं—ज्योतिष शास्त्र आदि का ज्ञान झूठा भी देखा जाता है। जैनागमों में भी यह बात स्वीकृत की गई है कि चतुर्दश पूर्वज्ञानी पुरुषों के ज्ञान में भी हीयमानता-वर्द्धमानता आदि ६ प्रकार का न्यूनाधिक तारतम्य होता है। अर्थात् उनका ज्ञान भी कमोवेश होता है, इसलिए उनके द्वारा कही बातों में भी अन्तर हो जाता है, तब फिर अष्टांग निमित्तशास्त्रवेत्ताओं के ज्ञान में अन्तर न हो, यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि अष्टांग निमित्तशास्त्रज्ञों में भी कनिष्ठ, श्रेष्ठ, मध्यम, मन्द आदि के भेद से छह कोटि के व्यक्ति होते हैं, उनके एक-दूसरे के भूत-भविष्य कथन में भी फर्क पड़ता मालूम देता है। कोई निमित्त सच्चा होता है कोई झूठा भी सिद्ध होता है। किसी निमित्तज्ञ की बुद्धि की विकलता के कारण उस प्रकार का क्षयोपशम न होने से उसके निमित्त-ज्ञान में अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है। अतः इन निमित्तशास्त्रों के एक-दूसरे के ज्ञान में अन्तर पड़ता देखकर अक्रियावादी इन सभी विद्याओं को सत्य न मानते हुए निमित्तशास्त्र को सच्चा-झूठा दोनों प्रकार का मानकर समस्त श्रुतज्ञान (शास्त्र आदि) के त्याग का उपदेश देते हैं। वे अक्रियावादी यह भी समझते हैं कि विद्या पढ़े बिना ही हम लोकालोक के पदार्थों को जानते हैं। इस प्रकार वे कहते हैं—"ये सब ज्योतिष आदि विद्याएँ झूठी हैं, बेकार हैं, छींक, अपशकुन आदि होने पर या मुहूर्त आदि देखे बिना कहीं जाने पर भी कार्यसिद्धि होती देखी जाती है, इसलिए ज्योतिषियों के फलादेश आदि सब मिथ्या बकवास हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका उत्तर देते हुए जैनाचार्य कहते हैं—शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन किया जाए और सोच-विचार कर कहा जाए तो निमित्तादि के कथन में फर्क नहीं पड़ता। शास्त्राभ्यासियों में जो ९ कोटि के न्यूनाधिक ज्ञानी व्यक्ति बतलाये गये हैं वे शास्त्रज्ञान की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से नहीं, अपितु अध्येता पुरुषों के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण से बताये गये हैं। इससे शास्त्रज्ञान को न्यूनाधिक और झूठा मानना ठीक नहीं है। प्रमाणाभास में फर्क पड़ने से सच्चे प्रमाण को मिथ्या कहना या उसमें शंका करना युक्त नहीं है, क्योंकि मशक में धूँआ भरकर उसका मुँह बाँधकर कोई व्यक्ति उसे किसी जगह ले जाकर खोले और कहे कि देखो इस मशक में धूँआ है, किन्तु आग नहीं है, इसलिए जहाँ-जहाँ धूँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह अनुमानप्रमाण झूठा है, यह कहना भी मिथ्या है। प्रमाता पुरुष के प्रमाद से प्रमाण में दोष बताना ठीक नहीं है। इसी तरह निमित्तादि शास्त्र का फल भी भलीभाँति विचार करके कहा जाए तो वह सत्य होता है।

शुभ-अशुभ, छींक, शकुन आदि निमित्तों के बल से जो शुभ-अशुभ फल की विपरीतता देखी जाती है, वह भी बीच में उसके छींक या शकुन के विपरीत दूसरे निमित्त मिल जाने पर होता है। सुनते हैं—बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को बुलाकर एक बार कहा था—"इस देश में १२ वर्ष का दुष्काल पड़ेगा, इसलिए तुम लोग दूसरे देशों में चले जाओ।" यह सुनकर जब उनके शिष्य जाने लगे तो फिर उन्हें बुलाकर बुद्ध ने कहा—"अब तुम्हें दूसरे देशों में जाने की जरूरत नहीं, क्योंकि आज ही यहाँ एक महासत्वशाली पुण्यवान पुरुष का जन्म हुआ है। अतः उसके प्रभाव से इस देश में सुभिक्ष होगा।" तथागत बुद्ध की इस उक्ति से स्पष्ट जान पड़ता है कि पहले शकुन या निमित्त से विपरीत निमित्त या शकुन यदि बाद में होता है तो पहले वाले शकुन या निमित्त के फल में फर्क हो जाता है। इसलिए निमित्तशास्त्र आदि के प्रमाण को झूठा बताकर भूत-भविष्यकथनरूप क्रियावाद का निराकरण करना मिथ्या है।

मूल पाठ

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं, तहा तहा समणा माहणा य ।
सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥११॥

संस्कृत छाया

त एवमाख्यान्ति समेत्य लोकं, तथा तथा श्रमणा माहनाश्च ।
स्वयं कृतं नाऽन्यकृतं च दुःखम् आहुर्विद्याचरणं च मोक्षम् ॥११॥

अन्वयार्थ

(ते समणा माहणा य) वे श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) तथा माहन यानी ब्राह्मण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**लोगं समिच्च**) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर (**तहा तहा एवमक्खंति**) कर्मानुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। (**सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं**) वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने करने से होता है, दूसरों के करने से नहीं होता। (**विज्जाचरणं पमोक्खं आहंसु**) परन्तु तीर्थंकरों ने ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है।

भावार्थ

शाक्यभिक्षु आदि श्रमण और ब्राह्मण आदि अपनी-अपनी मान्यतानुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार अमुक कर्मफल प्राप्त होना बताते हैं। तथा वे यह भी कहते हैं कि दुःख जीव का अपना ही किया हुआ होता है, दूसरे का किया हुआ नहीं होता। परन्तु तीर्थंकरों ने ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष कहा है।

व्याख्या

एकान्तक्रियावादियों के रंग-ढंग

अब शास्त्रकार एकान्तक्रियावादियों के मत का निरूपण करके उनके विचारों में कहाँ-कहाँ भूल है ? इसे बताते हैं। जो लोग ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रियाओं से मोक्ष प्राप्ति आदि मानते हैं, वे यह कहते हैं कि 'माता, पिता, आदि सब हैं, शुभकर्म का फल भी मिलता है।' वे ऐसा इस आधार पर कहते हैं कि कोरी क्रिया से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार अपनी मान्यतानुसार वे स्थावर जंगमरूप लोक को जानकर यह कहते हैं कि 'हम ही वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जानते हैं।' इस प्रकार की गर्वोक्ति के साथ वे कहते हैं—'सब पदार्थ हैं ही,' इस प्रकार एकान्तरूप समस्त वस्तु के अस्तित्व का कथन करते हैं, लेकिन वस्तु कथंचित् नहीं भी है, ऐसा नहीं कहते। उनका कहना है कि 'जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार ही उसे नरक-स्वर्ग आदि कर्मफल प्राप्त होता है।' वे तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण क्रियामात्र से ही मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

उनका कथन यह भी है कि संसार में सुख-दुःख आदि जो कुछ भी होता है, वह सब अपना किया हुआ होता है; काल, ईश्वर आदि दूसरों के द्वारा किया हुआ नहीं होता। जो क्रिया को नहीं मानते, उनके मत में ये बातें घटित नहीं हो सकतीं। क्योंकि उनके मत से आत्मा क्रियारहित होने से बिना किये सुख-दुःख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यदि क्रिया बिना ही किसी को सुख-दुःख मिलने लगें तो वहाँ कृतनाश और अकृतभ्यागम दोष होंगे।

क्रियावादियों के इस कथन के सम्बन्ध में जैनाचार्य कहते हैं—क्रियावादियों का कथन किसी अंश तक ठीक है कि क्रिया से भी मोक्ष होता है, तथा आत्मा और सुख आदि हैं, परन्तु वे सर्वथा हैं ही, इस प्रकार की एकान्तप्ररूपणा यथार्थ नहीं है। यदि एकान्तरूप से उनका अस्तित्व है ही तो वे कथंचित् नहीं हैं, यह बात नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती, क्योंकि ऐसा न मानने पर सर्ववस्तुएँ सर्ववस्तुरूप हो जाएँगी। इस प्रकार जगत् के सब व्यवहारों का उच्छेद हो जाएगा। अतः वस्तु कथञ्चित् है, ऐसा ही मानना चाहिए। तथा ज्ञानरहित क्रिया से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस कार्य के उपाय का ज्ञान न हो तो उस उपाय से प्राप्त होने वाले पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ ही अभीष्ट फल प्रदान करती हैं। दशवैकालिक सूत्र में कहा है --

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही य सेय पावगं ॥

अर्थात्—पहले ज्ञान होता है, तब दया की जाती है। सारे संयमी पुरुष पहले जीवों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, फिर दया का आचरण करते हैं। जिसको जीवादि पदार्थों का ज्ञान नहीं है, वह पुरुष कैसे दया कर सकता है ? वह कल्याण (पुण्य) और पाप को भी कैसे जान सकता है ?"

अतः क्रिया के समान ज्ञान की प्रधानता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि एकमात्र ज्ञान से भी कार्यसिद्धि नहीं होती, क्योंकि क्रियारहित ज्ञान पंगु के समान है, इसी तरह ज्ञानरहित क्रिया अंधे के समान है। दोनों अलग-अलग रह कर कार्य करने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।**" अर्थात्—तीर्थंकर गणधर आदि ने ज्ञान और चारित्र (क्रिया) दोनों से मोक्ष बताया है।

इस ११वीं गाथा की व्याख्या दूसरी तरह से भी की जा सकती है। वह इस प्रकार—वे तीर्थंकर जिन्होंने इन समवसरणों का निरूपण किया है, वे अनिरुद्धप्रज्ञ (अप्रतिहत केवलज्ञान के धनी) पूर्वोक्त रूप से या आगे कहे जाने वाले ढंग से वस्तु-स्वरूप का कथन करते हैं। वे केवलज्ञान के द्वारा चौदह रज्जुस्वरूप या स्थावर-जंगमरूप इस लोक को हस्तामलकवत् जानकर तीर्थंकर पद को या केवलज्ञान को प्राप्त हैं। तथा वे श्रमण (निर्ग्रन्थ साधु) तथा माहन यानी श्रावक-संयतासंयत जिस-जिस प्रकार से मोक्षमार्ग व्यवस्थित है -- सत्य है, उस-उस प्रकार से उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि संसार के प्राणियों को जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त होता है, वह सब अपने किये हुए कर्म का फल है, काल, ईश्वर आदि के द्वारा दिया हुआ नहीं है। इसीलिए किसी ने कहा है—

सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु य णिमित्तमित्तं परो होई ॥

अर्थात्—सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्राप्त करते हैं, दूसरा तो बुराई और भलाई का केवल निमित्तमात्र होता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अकेले क्रियानिरपेक्ष ज्ञान से, अथवा अकेली ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया से मोक्ष नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हियं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा ॥१२॥
जे रक्खसा वा जमलोइयावा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१३॥
जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहि, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥
न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेहाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥
ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥
ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणा ।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति धीरा य हवंति एगे ॥१७॥

संस्कृत छाया

ते चक्षुर्लोकस्येह नायकास्तु मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तथा तथा शाश्वतमाहुर्लोका यस्मिन् प्रजाः मानव ! सम्प्रगाढाः ॥१२॥
ये राक्षसा वा यमलौकिका वा, ये वा सुराः गन्धर्वाश्च काया ।
आकाशगामिनश्च पृथिव्याश्रिता ये, पुनः पुनर्विपर्यासमुपयान्ति ॥१३॥
यमाहुरोघं सलिलमपारगं, जानीहि वै भवगहनं दुर्मोक्षम् ।
यस्मिन् विषण्णा विषयांगनाभिर्बिद्धोऽपि लोकमनुसंचरन्ति ॥१४॥
न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनो लोभमयावतीताः, सन्तोषिणो ना अकुर्वन्ति पापम् ॥१५॥
तेऽतीतोत्पन्नानागतानि, लोकस्य जानन्ति तथागतानि ।
नेतारोऽन्येषामनन्यनेयाः, बुद्धा हि तेऽन्तकृतो भवन्ति ॥१६॥
ते नैव कुर्वन्ति, न कारयन्ति, भूताभिशंकया जुगुप्समानाः ।
सदा यता विप्रणमन्ति धीरा, विज्ञप्तिधीराश्च भवन्त्येके ॥१७॥

अन्वयार्थ

(ते इह लोगंसि चक्खु) इस लोक में वे तीर्थंकर आदि नेत्र के समान हैं (णायगा उ) वे नायक यानी धर्मनेता या प्रधान हैं (पयाणं हियं मग्गाणुसासंति) वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजाओं—जनता को कल्याण के मार्ग की शिक्षा देते हैं। (**तहा तहा लोए सासयमाहु**) इस चतुर्दश-रज्ज्वात्मक या पंचास्तिकायरूप लोक में जो-जो वस्तु जिस-जिस रूप में अवस्थित है, उसे शाश्वत कहते हैं। अथवा प्राणी जिस-जिस (मिथ्यात्वादि) कारण से जिस-जिस संसार में शाश्वत (स्थिर मजबूत) होते जाते हैं, उसे भी उन्होंने उसी प्रकार से बताया है। (**माणव ! जंसी पया संपगाढा**) हे मनुष्यो ! जिस लोक में प्रजा (नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) व्यवस्थितरूप से रहती है।।१२।।

(**जे रक्खसा वा जमलोइया वा**) जो राक्षस हैं अथवा जो यमपुरी में निवास करते हैं, (**जे वा सुरा गंधव्वा य काया**) तथा जो चारों निकाय के देवता हैं, या जो गन्धर्व हैं या पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय के हैं, (**आगासगामी य पुढोसिया जे**) तथा जो आकाशगामी हैं एवं जो पृथ्वी पर रहते हैं, (**पुणो पुणो विप्परियासुवेंति**) वे सब अपने किये हुए कर्मों के फलस्वरूप बार-बार विभिन्न गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ।।१३।।

(**जं ओहं सलिलं अपारगं आहु**) तीर्थंकरों ने तथा गणधरादि ने जिस संसार को स्वयम्भूरमण समुद्र के जलसमूह जैसा पार करने में अशक्य दुस्तर (अपार) कहा है। (**भवगहणं दुमोक्खं जाणाहि**) उस गहन संसार को दुर्मोक्ष (दुःख से छुटकारा पाया जा सके ऐसा) जानो, (**जंसी विसयंगणाहि विसन्ना**) क्योंकि जिस संसार में मनुष्य पंचेन्द्रिय विषयों तथा ललनाओं की आसक्ति में फँस जाते हैं (**तहओ वि लोयं अणुसंचरंति**) वे स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार से एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमण करते हैं ।।१४।।

(**बाला कम्मुणा कम्म न खवेंति**) अज्ञानी जीव पापकर्म करने के कारण अपने कर्मों का क्षय नहीं कर सकते, परन्तु (**धीरा अकम्मुणा कम्म खवेंति**) धीरपुरुष आस्रवों को रोककर पापकर्म का क्षय कर देते हैं। (**मेहाविणो लोभमयावतीता**) बुद्धिमान् लोग लोभ से दूर रहते हैं। (**संतोसिणो पावं नो पकरेंति**) और वे संतोषी होकर पापकर्म नहीं करते ।।१५।।

(**ते लोगस्स तीय उप्पन्नमणागयाइं तहागयाइं जाणंति**) वे वीतरागपुरुष त्रस-स्थावर जीवात्मक लोक के भूत, वर्तमान और भविष्य काल के वृत्तान्तों को यथार्थ-रूप से जानते हैं। (**अन्नेसि नेयारो अणन्नणेया**) वे दूसरे जीव के नेता (पथप्रदर्शक) हैं। उनका कोई नेता नहीं है। (**ते बुद्धा अंतकडा भवंति**) वे ज्ञानीपुरुष संसार का अन्त करते हैं ।।१६।।

(**दुगुंछमाणा ते**) पाप से घृणा करने वाले वे तीर्थङ्कर, गणधर आदि (**भूताभिसंकाइ**) प्राणियों के संहार की आशंका से, (**णेव कुव्वंति ण कारवंति**) स्वयं पाप नहीं करते हैं, और न दूसरों से भी कराते हैं। (**धीरा सया जता विप्पणमंति**) कर्म-विदारण करने में निपुण वे पुरुष सदा पाप के अनुष्ठान से दूर एवं संयमपालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में यत्नशील रहते हैं। (एगे विण्णत्तिधीरा य हवंति) परन्तु कई अन्यदर्शनी अल्प पराक्रमी जीव ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं, आचरण से नहीं ॥१७॥

भावार्थ

वे तीर्थंकर आदि इस लोक में नेत्र के समान हैं, तथा वे धर्मनायक हैं, लोक में सर्वप्रधान हैं। वे विविध जनता को कल्याणमार्ग की शिक्षा देते हैं। चौदह रज्जु-प्रमाण या पंचास्तिकायरूप लोक जिस अपेक्षा से शाश्वत (नित्य) है, उस अपेक्षा से वे शाश्वत कहते हैं अथवा मिथ्यात्वादि जिन-जिन कारणों से जिस-जिस प्रकार से संसार प्रगाढ़—स्थायी होता है, उसे बताते हैं, और कहते हैं—हे मानवो ! लोक वह है, जिसमें प्राणिगण निवास करते हैं ॥१२॥

राक्षस, यमपुरवासी, देवता, गन्धर्व, आकाशगामी तथा पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी सभी बार-बार भिन्न-भिन्न गतियों में भ्रमण करते हैं ॥१३॥

तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने जिस संसार को स्वयम्भूरमणसमुद्र के जल के समान अपार एवं दुस्तर कहा है, अतः इस गहन संसार को दुर्मोक्ष (दुःख से त्याज्य) समझो। विषयों तथा स्त्रियों की आसक्ति में फँसे हुए जीव इस जगत् में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार से एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करते रहते हैं ॥१४॥

अज्ञानी जीव अशुभ कर्म करने के कारण अपने पापों का नाश नहीं कर सकते, मगर धीर पुरुष कर्मों का निरोध (आस्रवों का निरोध) करके अशुभकर्मों को छोड़कर अपने कर्मों का क्षय करते हैं। बुद्धिमान पुरुष लोभ से दूर रहते हैं और संतोषी होकर पापकर्म नहीं करते ॥१५॥

वे वीतरागप्रभु जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त वृत्तान्तों को यथावत् जानते हैं। वे सबके नेता—मार्गदर्शक हैं, परन्तु उनका कोई नेता नहीं है। वे ज्ञानीपुरुष संसार का अन्त करते हैं ॥१६॥

पापकर्म से विरक्ति (नफरत) करने वाले तीर्थंकर, गणधर आदि प्राणियों के वध की आशंका से स्वयं पाप नहीं करते और न ही दूसरों से कराते हैं, किन्तु परीषह-उपसर्गसहन में धीर, कर्म-विदारण में वीर वे पुरुष सदा पापानुष्ठान से निवृत्त रहकर यत्नपूर्वक संयम में लीन रहते हैं। परन्तु अन्यतीर्थिक ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं, आचरण से नहीं ॥१७॥

व्याख्या

धर्मनायक तीर्थंकर आदि और उनकी शिक्षाएँ

बारहवीं गाथा से लेकर सत्रहवीं गाथा तक शास्त्रकार ने मार्गदर्शक महापुरुषों का स्वरूप तथा उनके समवसरणात्मक उपदेशों का निरूपण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषों के पास मानवों का समवसरण (जमघट) लगता है, यद्यपि वह समवसरण (संगम) किसी स्वार्थ, लोभ या राग से प्रेरित होकर नहीं लगता, वह सिर्फ धर्मार्थी भव्यजनों या मुमुक्षुओं का मेला या मिलन होता है, तीर्थंकर आदि महापुरुष उस समवसरण (एकत्रित जनसमूह) के नेता होते हैं। नेता नेत्र के समान होते हैं। जैसे नेत्र योग्यदेश में स्थित पदार्थ को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही ये धर्मनायक एवं नेत्ररूप महापुरुष समवसरण स्थित भव्यजनसमूह के समक्ष समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देते हैं। वे नायक हैं अर्थात् प्राणियों को सदुपदेश देकर मार्गदर्शक बनते हैं। मार्गदर्शक होने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। वे प्राणियों की आत्मा में निहित गुणों या शक्तियों को भावात्मक समवसरण के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप या ज्ञान-क्रिया-रूप भाव-समवसरणात्मक मोक्षमार्ग का यथार्थ उपदेश देते हैं, जिससे उत्तम भावों के समवसरण में विघ्न डालने वाले अनर्थों का निवारण हो सकता है, मोक्ष या सुगति को वह प्राप्त कर सकता है।

'तहा तहा सासयमाहुलोए'—चौदह रज्जुप्रमाण या पंचास्तिकायरूप इस लोक में आत्मा, मोक्ष, धर्म या मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शनादिरूप) आदि जो शाश्वत तत्त्व हैं, जिनसे आत्मा का कल्याण हो सकता है, उसे यथातथ्यरूप से बताते हैं, अथवा प्राणिगण इस संसार में मिथ्यात्वादि जिन-जिन कारणों से ज्यों-ज्यों स्थिर—स्थायी (शाश्वत) होते जाते हैं, उसे भी वे बताते हैं। बात यह है कि मिथ्यात्व आदि को ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, मनुष्य आस्रवों को रोकने या निर्जरा करने का प्रयत्न बिलकुल नहीं करता, महारम्भादि महापापों में रचा-पचा रहता है, त्यों-त्यों संसार की स्थायिता अधिकाधिक सुदृढ होती जाती है, तीर्थंकर, आहारक आदि को छोड़कर सभी कर्मों का बन्ध होता जाता है। महारम्भादि चार कारणों से जीव नरकायु बाँधते हैं, तब तक संसार का उच्छेद नहीं होता, ज्यों-ज्यों रागद्वेष बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार बढ़ता है। ज्यों-ज्यों कर्मों का संचय होता जाता है, अथवा दुष्टमन, वचन, काया की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों संसार की वृद्धि होती जाती है। यह संसार-वृद्धि ही देव-मनुष्य-नरक-तिर्यञ्चगतिरूप संसार में स्थायी निवास है। इसी बात को महापुरुष सम्बोधन करके कहते हैं—**'जंसी पया माणव ! संपगाढा।'** जब संसारवृद्धि होती जाती है तो इसी में प्राणी नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवरूप से रचा-पचा पड़ा रहता है। मनुष्यों को इसलिए सम्बोधित किया है कि मानव ही प्रायः इस उपदेश के योग्य होते हैं, वे ही संसारबन्धन को काट सकते हैं।

आगे शास्त्रकार तीर्थंकरों के उपदेश का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वे प्राणी विभिन्न योनियों एवं गतियों में बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं। यहाँ प्राणियों के अलग-अलग नाम बताए हैं—व्यन्तरदेव जाति के राक्षस, यमलोक (नरक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में रहने वाले अम्ब, अम्बरीष आदि परमाधार्मिक असुर जाति के देव, सुरपद से सौधर्म आदि वैमानिक तथा च शब्द से ज्योतिषी, भवनपति आदि अन्य जाति के देवों को भी समझ लेना चाहिए। गन्धर्व पद से विद्याधर या कोई अन्य व्यन्तर-जातीय देव समझने चाहिए। काया शब्द से पृथ्वीकाय आदि ६ ही काया के जीवों को ग्रहण कर लेना चाहिए। और आकाशचारी जितने भी विद्याधर, देव या पक्षी-गण आदि हैं, तथा पृथ्वी पर रहने वाले जितने भी त्रस-स्थावर प्राणी हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव हैं। ये सब अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों और गतियों में बार-बार जन्म लेते व मरते हैं। यहाँ अन्य सब प्राणियों — यहाँ तक कि देवों का तो नाम लिया[1], परन्तु मनुष्य का नाम नहीं लिया, इसका कारण यह है कि मनुष्य योनि में मानव अगर तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का उपदेश पाकर संभल जाय तो साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका बनकर संसार परिभ्रमण के कारणों का अन्त कर सकता है, मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। अन्य गतियों—योनियों में तो कर्मबन्धन को काटने की शक्ति (किसी-किसी पचेन्द्रिय तिर्यंच के सिवाय) या मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता या शक्ति नहीं है। यह उपदेश कितना मार्मिक है—मानव समवसरण के लिए ?

संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले तीर्थंकर, गणधर आदि धर्मार्थी मानव समवसरण के समक्ष संसार का स्वरूप बताते हैं—

'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।' आशय यह है कि संसार स्वयंभूरमण समुद्र जलसमूह के समान अपार, अगाध और दुस्तर बताया है। स्वयम्भूरमण समुद्र के जलसमूह को कोई भी जलचर या स्थलचर नहीं लाँघ सकता। इसी प्रकार यह संसारसागर भी दुर्लंघ्य है। यह गहन वन ८४ लाख जीवयोनि प्रमाण है, यथासम्भव संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल की स्थिति वाला है। यह आस्तिक जीवों से भी दुस्तर है, नास्तिकों की तो बात ही दूर रही। जो पुरुष इस संसार में सावद्यकर्म का अनुष्ठान करते हैं, कुमार्ग में पड़े हैं, असत् दर्शन के अनुयायी हैं, विषयासक्त हैं, अंगनाओं में आसक्त हैं,

---

१. यहाँ देवों का नाम इसलिए भी लिया है कि कुछ अन्यतीर्थी लोग यह मानते हैं कि देवता मनुष्य की अपेक्षा अधिक विकास करके उत्तरोत्तर उच्च स्थान प्राप्त करके मोक्ष में जा सकते हैं, परन्तु यहाँ देवों की पृथक्-पृथक् जाति का नामोल्लेख करके यह बता दिया है कि देवता कर्मों को काटकर आध्यात्मिक प्रगति करने में मनुष्य से बहुत पीछे हैं। वे मोक्षप्राप्ति में मनुष्य की होड़ नहीं कर सकते। मोक्ष का अधिकार उन्हें नहीं है। अतः अन्यतीर्थिकों की इस गलत मान्यता का भी खण्डन कर दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या विषय एवं स्त्री के वशीभूत होकर कदापि उत्तम अनुष्ठान नहीं करते, वे इस कीचड़ में फँसकर आकाशलोक या पृथ्वीलोक में बार-बार जन्म-मरण करते हैं, अथवा वे वेषमात्र से प्रव्रज्याधारी हैं किन्तु विरति से रहित होने से राग-द्वेषयुक्त होकर उभयभ्रष्ट होकर बार-बार जन्म-मरण करते रहते हैं।

कई लोग यह सोचते हैं कर्म कर्म से समाप्त होते हैं, परन्तु तीर्थंकरों का यह सिद्धान्त है कि अज्ञानी जीव ही ऐसा सोचते हैं। पापकर्मों में वे गहरे लिप्त होते हैं, इस कारण अपने पूर्व-पापों को क्षीण नहीं कर सकते, नये पापकर्म और बाँधते रहते हैं। जो धीर और आरम्भ-परिग्रह से विरक्त होते हैं, वे ही अपने आस्रवों को रोककर पाप-कर्मक्षय करते हैं। जैसे उत्तम वैद्य चिकित्सा के द्वारा रोग निवारण करता है, वैसे ही वीरपुरुष आस्रवों को रोककर अंशतः शैलेशी अवस्था में कर्मों का क्षपण करते हैं। प्रज्ञोन्नत पुरुष परिग्रह का सर्वथा त्याग कर लोभ का उल्लंघन कर जाते हैं, अथवा लोभ और भय से वे परे हो जाते हैं। अथवा वे लोभ से परे होने के कारण संतोषी हैं, और ऐसे परम-संतोषी पुरुष आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्मतुष्ट हो जाते हैं, वे पापकर्म स्वप्न में भी नहीं करते। ऐसे पुरुष या तो वीतराग हैं, या यदृच्छालाभ संतुष्ट हैं।

जो पुरुष लोभातीत हो जाते हैं, वे वीतराग होते हैं। वे पंचास्तिकायात्मक इस प्राणीलोक के अतीत, अनागत तथा वर्तमान के समस्त दुःखों या वृत्तान्तों को जानते हैं। वे विभंगज्ञानी की तरह विपरीत रूप से नहीं, किन्तु जिसका जैसा सुख-दुःख आदि है, उसे वे वैसा ही देखते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—**'णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया।'** अर्थात्—वे केवलज्ञानी या चतुर्दशपूर्वधर परोक्षज्ञानी संसारसागर को पार करना चाहते हुए दूसरे भव्यजीवों को मोक्ष में पहुँचा देते हैं, अथवा वे उनके मार्गदर्शक बनते हैं, सदुपदेश देते हैं, परन्तु उनका कोई मार्गदर्शक (नेता) नहीं होता, वे स्वयंबुद्ध होते हैं। इसलिए उन्हें किसी दूसरे पुरुष से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। अथवा हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के विषय में उनका कोई नेता नहीं होता। वे स्वयंबुद्ध, तीर्थंकर, गणधर आदि संसार अथवा संसार के कारणरूप कर्मों का अन्त करते हैं।

ऐसे स्वयंबुद्ध महान् पुरुष पापकर्म से विरक्त तथा ज्ञेय पदार्थों को जानने वाले वे प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी पुरुष प्राणिहिंसा की आशंका से न तो स्वयं पाप करते हैं और न दूसरों से कराते हैं। वे प्राणातिपात आदि १८ ही पाप-स्थानों से सदा विरक्त-विरत होकर संयम पालन में प्रयत्नशील रहते हैं। वे धीर पुरुष हेय-ज्ञेय-उपादेय को भली-भाँति जानकर निःशंक मार्ग, जो जिनवरकथित हैं, उसे अपनाकर कर्म-विदारण करते हैं। वे ही वीर हैं, धीर हैं। परीषह-उपसर्ग को सहने में धीर-वीर हैं। इसीलिए शास्त्रकार अन्त में एकान्त ज्ञानवाद एवं एकान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावाद का खण्डन करने हेतु कहते हैं—**'विण्णत्तिधीरा य हवंति'** अन्य लोग केवल ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं, ज्ञान बघारते हैं, किन्तु ज्ञानमात्र से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। जो ज्ञानपूर्वक क्रिया करता है, वही वस्तुतः वीर है। इस प्रकार का वीर पुरुष ही भावसमवसरण के योग्य होता है। यह वास्तविक क्रियावादी का स्वरूप बताया गया है।

मूल पाठ

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥
जे आयओ परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ।
तं जोइभूयं च सया वसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्मं ॥१९॥
अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च ।
जो सासयं जाण असासयं च, जाइं च मरणं च जणोववायं ॥२०॥
अहोऽवि सत्ताणविउट्टणं च, जो आसवं जाणइ संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणइ निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवायं ॥२१॥

संस्कृत छाया

दहराश्च प्राणाः वृद्धाश्च प्राणास्तानात्मवत् पश्यति सर्वलोके ।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तं, बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥१८॥
य आत्मनः परतोवाऽपि ज्ञात्वाऽलमात्मनो भवत्यलं परेषाम् ।
तं ज्योतिर्भूतञ्च सदा वसेद् ये प्रादुष्कुर्युरनुविचिन्त्य धर्मम् ॥१९॥
आत्मानं यो जानाति, यश्च लोकं, गतिं यो जानात्यनागतिम् च ।
यः शाश्वतं जानात्यशाश्वतं च, जातिं च मरणं च जनोपपातम् ॥२०॥
अधोऽपि सत्त्वानां विकुट्टनां च, य आश्रवं जानाति संवरं च ।
दुःखं च यो जानाति निर्जरां च, स भाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**सव्वलोए**) पंचास्तिकाययुक्त समस्त लोक में (**डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे**) छोटे-छोटे कुन्थु आदि भी प्राणी हैं और बड़े-बड़े स्थूलकाय भी प्राणी हैं (**ते आत्तओ पासइ**) सुसाधु उन्हें अपनी आत्मा के समान देखता-जानता है। (**इणं लोगं महंतं उव्वेहती**) वह इस प्रत्यक्ष दृश्यमान 'यह विशाल लोक कर्मवश दुःखरूप है', ऐसा विचार करे, (**बुद्धे अपमत्तेसु परिव्वएज्जा**) इस प्रकार समझता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओं के निकट जाकर दीक्षा धारण करे ॥१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**जे आयओ परओ वावि णच्चा**) जो पुरुष स्वयं या दूसरे से धर्म को जान कर उपदेश करता है, (**अप्पणो परेसिं य अलं होइ**) अपना और दूसरों का उद्धार या रक्षण करने में समर्थ है, (**जे अणुवोइ धम्मं पाउकुज्जा**) जो सोच-विचारकर धर्म को प्रकट करता है, (**तं जोइभूयं च सया वसेज्जा**) उस ज्योतिस्वरूप (तेजस्वी) मुनि के सान्निध्य में सदा निवास करना चाहिए ॥१९॥

(**जो अत्ताणं जाणइ**) जो आत्मा को जानता है। (**जो य लोगं गइं णागइं च जाणइ**) जो लोक को, जीवों की गति और अनागति को जानता है, (**जो सासयं असासयं जाइं मरणं च जणोववायं जाण**) जो शाश्वत (नित्य) अनित्य, जन्म, मरण और प्राणियों के अनेक गतियों में गमन को जानता है ॥२०॥

(**अहोऽवि सत्ताणं विउट्टणं च**) नीचे नरक आदि में जीवों को नाना प्रकार की पीड़ा होती है, यह जो जानता है, (**जो आसवं संवरं च जाणइ**) तथा जो आस्रव (कर्मों के आगमन) और संवर (कर्मों के निरोध) को जानता है। (**जो निज्जरं दुक्खं च जाणइ**) जो निर्जरा और दुःख को जानता है। (**सो किरियवायं भासिउमरिहइ**) वही ठीक-ठीक क्रियावाद को बता सकता है ॥२१॥

भावार्थ

इस संसार में कुंथु आदि छोटे शरीर वाले भी प्राणी हैं और बड़े शरीर वाले प्राणी भी हैं। इन प्राणियों को अपने समान समझकर तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्तयोगों में विचरण करे तथा विशुद्ध संयम का पालन करे अथवा वह तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओं के सान्निध्य में आकर संयम में प्रगति करे या दीक्षा ग्रहण करे ॥१८॥

जो स्वयं या दूसरे के द्वारा धर्म को जानकर उसका उपदेश देता है, वह अपना तथा दूसरे का उद्धार या रक्षण करने में समर्थ है, जो सोच-विचारकर धर्म को प्रगट करता है, उस ज्योतिस्वरूप मुनि के सान्निध्य में सदा निवास करना चाहिए ॥१९॥

जो आत्मा को जानता है, लोक के स्वरूप को जानता है, जो जीवों की गति और अनागति को जानता है, जो शाश्वत-मोक्ष और अशाश्वत यानी संसार को जानता है तथा जो जन्म, मरण और नाना गतियों में प्राणियों के गमन को जानता है ॥२०॥

जो नीचे लोक की नरकादि गतियों में जीवों की नाना प्रकार की यातनाओं को जानता है, तथा जो आस्रव और संवर को जानता है एवं दुःख और निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को ठीक-ठीक बता सकता है ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

यथार्थ क्रियावाद का प्ररूपक कौन और कैसे ?

१८वीं गाथा से लेकर २१वीं गाथा तक यथार्थ क्रियावाद के प्ररूपक की योग्यता, क्षमता एवं निष्ठा के सम्बन्ध में बताया गया है।

जो व्यक्ति क्रियावादी है यानी दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र को मानता है, वह आत्मा, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को अवश्य मानेगा। वह सभी प्राणियों को आत्मतुल्य मानकर उनके स्वभाव, गति, स्थिति आदि को भी जानेगा, अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतों तथा ५ समिति, ३ गुप्ति एवं अन्य उत्तर-गुणों का सम्यक् परिपालन करेगा। यही बात १८वीं से लेकर २१वीं गाथाओं तक संक्षेप में बताई है। जो साधक क्रियावादी होता है, वह आत्मवादी या लोकवादी अवश्य होगा। यानी वह प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख आदि के विषय में जानकर समभाव रखेगा, उनकी रक्षा का ध्यान रखेगा। तत्त्वदर्शी पुरुष समस्त प्राणियों को आत्म-तुल्य समझेगा। चाहे वह प्राणी लघुकाय हो या महाकाय हो, यही उसका प्राणियों के प्रति विनय है, ऐसा सर्वभूतात्मभूत तत्त्वदर्शी पुरुष यही समझता है कि जिस प्रकार मुझे दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणियों को है। इसलिए वह किसी भी प्राणी के साथ प्रतिकूल व्यवहार नहीं करेगा। कहा भी है—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टाः, भूतानामपि ते तथा।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

जैसे स्वयं को अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं। अतः समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वास्तव में वही द्रष्टा है। साथ ही शास्त्रकार ने साधक के लिए कहा है—'**उव्वेहती लोगमिणं महंतं**। वह जिस समय भी धर्म-जागरण करे, उस समय इस विशाल लोक का अनुप्रेक्षण करे। लोक महान् इसलिए है कि एक तो यह षड्कायिक जीवों के सूक्ष्म-बादर भेदों से खचाखच भरा हुआ है। दूसरे काल और भाव से यह अनादि-अनन्त होने के कारण महान् है। तीसरे, यह लोक द्रव्य से षट्द्रव्यात्मक एवं क्षेत्र से १४ रज्जु प्रमाण तथा अन्तरहित एवं अनन्त पर्याययुक्त होने से महान् है।

महान् लोक का उत्प्रेक्षण या चिन्तन कैसे करे ? इसके लिए वृत्तिकार कहते हैं कि वह तत्त्वदर्शी साधक यह सोचे कि इस लोक में सभी प्राणियों के स्थान अनित्य हैं, दुःखपूर्ण इस लोक में सुख का लेशमात्र भी नहीं है। शास्त्रकार ने कहा है—

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारे तत्थ किस्संति जंतवो॥

अर्थात्— जन्म दुःखरूप है, बुढ़ापा दुःखरूप है, रोग और मृत्यु भी दुःखरूप हैं। आश्चर्य है कि इस दुःखरूप संसार में प्राणी नाना प्रकार के क्लेश पाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण यह है कि इस लोक में जीव नाना प्रकार के कर्मों के कारण दुःखरूप फल भोगता है। दूसरा कोई उस दुःख को कम नहीं कर सकता, न उसमें हिस्सा बँटवा सकता है। स्वयंकृत कर्म स्वयं को ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार लोक का अनुचिन्तन करता हुआ साधु ऐसे अप्रमत्त साधुओं के सान्निध्य में जाकर संयम पालन करे अथवा संयम में पराक्रम करे।

इससे आगे शास्त्रकार क्रियावादी की योग्यता का दिग्दर्शन कराते हैं—'जे **आयओ**·····**अणुवीइ धम्मं**' क्रियावादी साधक दो प्रकार के हैं—एक सर्वोच्च क्रियावादी सर्वज्ञ, दूसरे गणधर आदि। जो सर्वज्ञ हैं, वे तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को यथार्थरूप से जान लेते हैं; और जो गणधर आदि छद्मस्थ हैं, वे तीर्थंकरादि के वचनों से जीवादि पदार्थों को सम्यक्रूप से समझ लेते हैं, और स्वतः या परतः धर्म को जानकर दूसरों को उपदेश देते हैं। वे अपने और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं तथा धर्मार्थी समवसरण को धर्मोपदेश देने में समर्थ हैं। धर्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक ऐसे ज्योतिस्वरूप (तेजस्वी—पदार्थों के यथार्थ प्रकाशक) मुनिवरों के सान्निध्य में रहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अपूर्व लाभ उठाते हैं। वे भी ऐसे जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं को देखकर देश, काल, पात्र, व्यक्ति की योग्यता, परिस्थिति आदि सोच-विचारकर उसकी क्षमता और योग्यता के अनुरूप धर्म बताते हैं। वास्तव में गुरुकुलनिवासी को ही ऐसा सुयोग और सुफल मिल सकता है। यह तो हुआ यथार्थ क्रियावादी की योग्यता और क्षमता का विवरण! अब उसका स्वरूप भी शास्त्रकार बताते हैं—जो क्रियावादी साधक होगा वह आत्मवादी अवश्य होगा, और जो आत्मवादी होगा वह लोकवादी और कर्मवादी अवश्य होगा। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई,
जे कम्मावाई से किरियावाई।

जो आत्मवादी होगा, वह लोकवादी होगा यानी लोक-परलोक को अवश्य मानेगा, और जो लोकवादी होगा, वह कर्मवादी होगा यानी कर्म और उनके फल पर विश्वास करेगा और जो कर्मवादी होगा, वह क्रियावादी भी होगा। इसी बात को शास्त्रकार दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं—'**अत्ताण**····· **जणोववायं**। **अहोऽवि सत्ताण**····· **किरियवायं**।' आशय यह है कि आत्मा को जो पुरुष जानता है, वह उसे कर्मानुसार परलोक में जाने वाला, शरीर से भिन्न, सुख-दुःख का आधार, कर्त्ता-भोक्ता और पुण्य-पापरूप फल पाने वाला—यों जानकर जो आत्म-कल्याण की साधना में प्रवृत्त होता है, वही आत्मज्ञ है।

जो पुरुष अहं (मैं) इस प्रकार की प्रतीति से ग्रहण करने योग्य आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है, वही प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप समस्त लोक को जानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मज्ञ पुरुष ही जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है। नृत्यशाला में दोनों हाथ कमर पर रखकर खड़े हुए पुरुष के समान १४ रज्ज्वात्मक इस चराचर विश्व को वह जानता है। अलोक (अनन्त आकाशास्तिकायरूप) को जानता है। जीवों की गति-आगति को जानता है। यानी ये नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव कहाँ से आए हैं? अथवा किन-किन कर्मों को करने से जीव नरक, स्वर्ग, देव, मनुष्य आदि गतियों एवं योनियों में उत्पन्न होते हैं। कहाँ जाकर जीव वापिस नहीं लौटता? कर्मों के सर्वथा क्षय से जीव को कौन सी स्थिति प्राप्त होती है, आत्मा की शुद्ध अवस्था कौन-सी और कैसी है? मोक्ष जाने के उपाय क्या हैं? सम्यग्दर्शनादि मोक्ष का मार्ग क्यों है? इत्यादि जो जानता-देखता है, इस प्रकार आगति के साथ वह अनागति (सिद्धि) को भी जानता है। द्रव्यार्थिक नयानुसार सब पदार्थों को नित्य एवं पर्यायार्थिक नय के अनुसार सबको अनित्य यानी उभयस्वरूप जानता है। निर्वाण को शाश्वत और संसार को अशाश्वत क्यों कहते हैं, इन दोनों को जानता है। निर्वाण शाश्वत इसलिए है कि वहाँ से फिर लौटकर संसार में आना नहीं होता, और संसार अशाश्वत इसलिए है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में संसारी जीव इधर से उधर कर्मवश भ्रमण करता रहता है। वह नरकादि में जन्मरूप जाति को जानता है। आयुष्य के क्षयरूप मरण को भी जानता है, एवं जीवों के उपपात—नरक और देवलोक के जन्म को वह जानता है। यहाँ जन्म का विचार करने पर जीवों की योनि (उत्पत्तिस्थान), जो कि २७ प्रकार की हैं, उसको भी जानना चाहिए। तिर्यञ्च और मनुष्य का मरण होता है, देवों का च्यवन, भवनपति व्यन्तर और नारकों की उद्वर्तना होती है, इसको भी भली भाँति जान लेना चाहिए। यों आत्मवाद को वह भली-भाँति जानता है।

साथ ही जीवों को कर्म कौन करता-कराता है, फल कौन भोगता है? फल भुगताने वाला कौन है? इन सब प्रश्नों का यथार्थ समाधान पाकर क्रियावादी साधक यह जानता है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि गतियों में जीवों को नाना प्रकार की पीड़ा होती है। क्योंकि जो प्राणी पापकर्म करते हैं, वे अपने कृतकर्मों के अनुसार फल भोगते हैं। कर्मवश नरक आदि स्थानों में जाकर वे जीव जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से उत्पन्न नाना प्रकार की शारीरिक-मानसिक पीड़ा को भोगते हैं। सर्वार्थसिद्ध देवलोक से लेकर सातवीं नरक तक जितने प्राणी हैं, वे सब कर्म से युक्त हैं। इनमें जो सबसे अधिक गुरुकर्मी हैं, वे अप्रतिष्ठान नामक नरक-भूमि में जाते हैं। इस कर्मवाद को जो विश्वासपूर्वक जानता-मानता है। इसके अतिरिक्त आठ प्रकार के कर्म जिनके द्वारा आते हैं, उन आस्रवों को जानता है, उनके कारणों और रोकने के उपायों (संवरों) को भी भेद-प्रभेद एवं कारणों सहित जानता है। वह असातावेदनीय के उदयरूप दुःख या उसके कारणों को, तथा उसके विपरीत जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख है या उसके कारण हैं, उन्हें यानी पुण्य-पाप को वह जानता है। आशय यह है कि वह क्रियावादी साधक कर्मबन्ध एवं कर्मक्षय के कारणों एवं निवारण के उपायों को वह भली भाँति जानता है। कारण यह है कि जितने भी और जिस प्रकार के पदार्थ-संसार प्राप्ति के कारण हैं, उतने ही उनसे विपरीत पदार्थ मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं। इत्यादि जो जानता है, और जो इन सबको भली-भाँति हृदयंगम करके दूसरों के गले उतार देता है, उन्हें भली-भाँति समझा सकता है, वही वस्तुतः सच्चा क्रियावादी है। यहाँ इन दो गाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने जीवादि नौ ही तत्त्वों का ग्रहण कर लिया है। 'जो आत्मा को जानता है' यह कहकर जीव पदार्थ, लोक कहकर अजीव पदार्थ, तथा गति, अनागति और शाश्वत आदि कहकर इन्हीं का स्वभाव बताया गया है। आस्रव और संवर का नामोल्लेख किया है। दुःख कहकर बन्ध और पुण्य-पाप सूचित किए गए हैं। क्योंकि ये तीनों ही दुःख के कारण हैं। निर्जरा का नाम भी लिया गया है। मोक्ष भी कहा गया है। इस प्रकार मोक्ष के लिए उपयोगी ९ तत्त्वों के अस्तित्व का स्वीकार करने से ही क्रियावाद सिद्धान्त स्वीकृत होता है। जो व्यक्ति इन तत्त्वों को, विशेषतः आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद को जानता-मानता है, वही वस्तुतः क्रियावाद को जानता-मानता है।

नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक और लोकायतिक आदि सभी के मान्य तत्त्व युक्तिविरुद्ध, प्रमाणविहीन और कई लोकविरुद्ध हैं, इसलिए क्रियावाद के उपयुक्त वे कसौटी में खरे नहीं उतरते। इसीलिए उनके वाद को सम्यक्वाद नहीं कहा गया है।

अब शास्त्रकार सम्यक्वाद को जानकर किस प्रकार की क्रिया करे? यह अन्तिम गाथा में बताते हैं—

मूल पाठ

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं, णो मरणाभिकंखी, आयाणगुत्तो वलया विमुक्के ॥२२॥

त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

शब्देषु रूपेष्वसज्जमानो, गन्धेषु रसेषु चाद्विषन् ।
नो जीवितं नो मरणाभिकांक्षी, आदानगुप्तो वलयाद्विमुक्तः ॥२२॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो) शब्द और रूप में आसक्त न होता हुआ साधक (गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे) अमनोज्ञ गन्ध और रस में द्वेष न करे। (णो जीवियं, णो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरणाभिकंखी) तथा जीने और मरने की आकांक्षा न करता हुआ साधु (**आयाणगुत्ते**) संयम से गुप्त—सुरक्षित और (**वलयाविमुक्के**) माया से विमुक्त रहित होकर विचरण करे।

भावार्थ

साधु मनोहर शब्द और रूप में आसक्त न हो, तथा अमनोज्ञ गन्ध और रस पर द्वेष न करे एवं वह जीने या मरने की इच्छा न करे, किन्तु संयम से अपने को सुरक्षित और माया से रहित होकर विचरण करे।

व्याख्या

समवसरण के योग्य क्रियावादी साधु क्या करे ?

क्रियावादी साधु को सम्यक्वाद जानकर क्या करना चाहिए ? यह इस गाथा में बताया गया है। वास्तव में जब साधक क्रियावादी होता है तो आत्मवादी तो वह स्वतः ही होता है। आत्मवादी का मतलब सम्यक्-ज्ञान सहित अध्यात्म से युक्त है। आत्मवादी शुद्ध आत्मा या आत्म-स्वभाव में जब रमण करता है तो उसके सामने इन्द्रियाँ, मन, शरीर, आदि आत्मबाह्य भौतिक पदार्थ रुकावट डालने आते हैं, जैसे सुन्दर रूप और मनोहर कर्णप्रिय शब्द सामने आए, इसी प्रकार अमनोज्ञ गन्ध और रस भी आ गए, साधक को उस समय झटपट फैसला करना होगा और इन पर पूर्व-संस्कारवश आने वाले राग और द्वेष, आसक्ति और घृणा को तुरंत मन से निकाल देना होगा और शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना होगा।

इन विषयों में लुभायमान होकर असंयमी जीवन जीने की आकांक्षा न करे, तथा परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित होने पर मरने की भी इच्छा न करे। बल्कि जीवन और मृत्यु के प्रति समभावी रहकर साधु केवल आत्म-भावों में रमण करे। संयम (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप) में निष्ठा रखकर मायारहित होकर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करे। आदान संयम को कहते हैं। क्योंकि मोक्षार्थी पुरुष के लिए आदान — ग्रहण करने योग्य वस्तु संयम ही है। उसके द्वारा अपनी आत्मा को विषय-कषायों से गुप्त—सुरक्षित रखे, बचाए। अथवा मिथ्यात्व आदि द्वारा जो ग्रहण किया जाय उसे—कर्म को भी आदान कह सकते हैं। वह आठ प्रकार का है। साधु उन्हें (कर्मों को) ग्रहण करने में मन-वचन-काया से गुप्त और पाँच समिति से युक्त होकर रहे। भाववलय माया को कहते हैं, उससे भी साधु मुक्त रहे।

'त्ति बेमि' शब्दों का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतांगसूत्र का बारहवाँ समवसरण नामक अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ समवसरण नामक बारहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

बारहवें समवसरण अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब तेरहवें अध्ययन की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। बारहवें अध्ययन में परमतवादियों के मत का निरूपण और उनके एकान्तमतवाद का खण्डन भी किया गया है, परन्तु वह खण्डन यथार्थ (सत्य) वचन के द्वारा होता है, इसके लिए **'याथातथ्य'** नामक यह अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। किसी मत, सिद्धान्त और सूत्रवचन का अर्थ और उसकी व्याख्या सुधर्मास्वामी से लेकर अब तक आचार्यों की परम्परानुसार युक्तिसंगत और मोक्षमार्गपरक यथार्थ रूप से किया जाय, उसका नाम याथातथ्य है। इस अध्ययन में यही बताया गया है। इसका प्राकृत नाम है—**आहत्तहीय**, जिसका संस्कृत में रूपान्तर होता है—**याथातथ्य**। इसमें खासतौर से विनीत-अविनीत शिष्यों के गुणावगुणों पर प्रकाश डाला गया है। अभिमानी और सरल, क्रोधी और शान्त, कपटी और सरल, लोभी और निःस्पृह शिष्य कैसे होते हैं, उनका व्यवहार कैसा होता है? यह भी बताया गया है। धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण नामक पूर्व-अध्ययनों में जो वस्तु सत्य और यथार्थ तत्त्व बताई गई है, तथा प्रतिवादियों के जो मत या तत्त्व असत्य और सिद्धान्तविरुद्ध है, उनका भी प्रतिपादन संक्षेप में किया गया है।

याथातथ्य शब्द का निर्वचन

'यथातथा' शब्द से भावप्रत्यय लगकर 'याथातथ्य' शब्द बनता है। निर्युक्तिकार ने पहले के 'यथा' शब्द को छोड़कर पिछले 'तथा' शब्द का निक्षेप बताया है। अथवा जो याथातथ्य है, वही तथ्य है। अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तथ्य कहते हैं। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही कहना तथ्य है। और याथातथ्य का भी यही अर्थ है। इस दृष्टि से 'तथ्य' शब्द के ४ निक्षेप होते हैं। नामतथ्य और स्थापनातथ्य तो सुगम हैं। सचित्तादि पदार्थों में से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप है, उसे द्रव्य की प्रधानता को लेकर **'द्रव्यतथ्य'** कहते हैं। जैसे जीव का लक्षण उपयोग है, पृथ्वी का लक्षण काठिन्य है, जल का लक्षण द्रवत्व है। अथवा जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्षचन्दन आदि द्रव्यों में जिसका जैसा स्वभाव है, उसे **द्रव्यतथ्य** कहते हैं ।

भावतथ्य नियम से ६ प्रकार के औदयिक आदि भावों में जानना चाहिए । कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होता है, उसे **औदयिकभाव** कहते हैं । जैसे—कर्मों के उदय से जीव जो गति आदि का अनुभव करता है, वह औदयिकभाव है । जो कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है, उसे **औपशमिक** कहते हैं अर्थात् कर्म का उदय न होना **औपशमिकभाव** है । एवं कर्मक्षय होने से आत्मा का जो गुण प्रकट होता है उसे **क्षायिकभाव** कहते हैं । वह अप्रतिपाती ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है । जो कर्म के क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है, वह **क्षायोपशमिक** है । वह अंशतः क्षयरूप और अंशतः उपशमरूप है । जो परिणाम से उत्पन्न होता है, वह **पारिणामिकभाव** है, वह जीवत्व, अजीवत्व, भव्यत्व आदि है । इन पाँचों भावों में से दो तीन आदि के संयोग से उत्पन्न भाव **सान्निपातिक** कहलाता है । इन्हीं ६ भेदों में भावतथ्य समाविष्ट हो जाता है ।

अथवा आत्मा में रहने वाला भावतथ्य चार प्रकार का है—ज्ञानतथ्य, दर्शनतथ्य, चारित्रतथ्य और विनयतथ्य । मति आदि ५ ज्ञानों के द्वारा जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह समझना **ज्ञानतथ्य** है, शंका आदि अतिचारों से रहित जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना **दर्शनतथ्य** है, १२ प्रकार के तप और १७ प्रकार के संयम का शास्त्रोक्त रीति से अच्छी तरह आचरण—पालन करना **चारित्रतथ्य** है तथा ४२ प्रकार का विनय, जो कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिक है, उसकी यथायोग्य साधना-आराधना (क्रिया) करना **विनयतथ्य** है । इन ज्ञान आदि का योग्य-रीति से आराधन-आचरण न करना अतथ्य है । यहाँ भावतथ्य का प्रसंग है ।

अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से भावतथ्य दो प्रकार का है । यहाँ प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है । निर्युक्तिकार की दृष्टि में प्रशस्त भावतथ्य का मतलब है—जिस प्रकार से और जिस रीति से सूत्र बनाये गये हैं, उसी तरह से उनके अर्थ की व्याख्या करना और उसी तरह से उनका अनुष्ठान करना । अर्थात्—जैसा सिद्धान्तसूत्र है, तदनुसार वैसा ही आचरण यानी चारित्र हो, और वही अनुष्ठान करने योग्य है, उसी को याथातथ्य कहते हैं । अथवा प्रस्तुत प्रसंग में जो विषय वर्णनीय है, यानी जिस विषय को लेकर उक्त सूत्र रचित है, उस विषय की ठीक-ठीक व्याख्या करना, या उस विषय को संसार से पार करने में कारण बताकर उसकी प्रशंसा करना **याथातथ्य** है ।

आशय यह है कि जिस दृष्टि या रीति से सूत्रों की रचना की गई है, उनकी व्याख्या यदि उसी तरह की जाय और उसी तरह उसको आचरण में क्रियान्वित किया जाये तो वे जीव को संसारसागर से पार करने में समर्थ होते हैं । इसलिए वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याथातथ्य होता है, इसके विपरीत यदि सूत्र का अर्थ और व्याख्या ठीक-ठीक न की जाए, या भलीभाँति तदनुसार अनुष्ठान न किया जाए अथवा उसे संसार का कारण कहकर उसकी निन्दा की जाए तो वह याथातथ्य नहीं होता। उदाहरण के तौर पर- श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी और आर्यरक्षित आदि महान् आचार्यों की परम्परा और धारणा से सूत्र का जो व्याख्यान चला आ रहा है, उसी तरह से उसका व्याख्यान करना **याथातथ्य** है। किन्तु परम्परागत सूत्र-व्याख्यान के विपरीत मनमाना, कुतर्क मद से विकृत, कपोलकल्पित सूत्र-व्याख्यान करना **अयाथातथ्य** है। कोई अपने को पण्डित और ज्ञानी मानकर मिथ्यात्व के कारण दृष्टिविपर्यास होने से सर्वज्ञकथित वस्तुतत्त्व को अयथार्थ —असत्य ठहराकर, और तरह से व्याख्या करता है, वह अयाथातथ्य है। जैसे—जो वस्तु 'की जा रही है', उसे 'की गई' नहीं कहना चाहिए, किन्तु जो 'की जा चुकी है' उसे ही 'की गई' कहना चाहिए, इस प्रकार की व्याख्या या प्ररूपणा भगवान महावीर के '**कडेमाणे कडे**' जो क्रियमाण है, उसे लोक व्यवहार में कृत कहना (व्यवहारनय की दृष्टि से) सिद्धान्त से विरुद्ध है—यह अयाथातथ्य है। लोकव्यवहार में भी यह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के कानपुर जाने के लिए रवाना हो जाने पर उसके बारे में किसी से पूछे जाने पर वह यही कहता है कि वह व्यक्ति कानपुर गया। हालांकि वह अभी तक कानपुर पहुँचा नहीं है। परन्तु जो मनुष्य जरा-से ज्ञान के मद में आकर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त की अंशमात्र भी विपरीत व्याख्या करता है, वह संयम और तप में चाहे जितना उद्यम करता हो, किन्तु अयाथातथ्य प्ररूपणा के फलस्वरूप शारीरिक, मानसिक दुःखों से शीघ्र छुटकारा नहीं पा सकता। इसलिये 'याथातथ्य' अध्ययन के द्वारा समस्त सुविहित साधुओं को यही प्रेरणा दी गई है कि स्वयं के सिद्धान्तज्ञाता होने का अभिमान या श्रुतमद छोड़कर नम्र बनकर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्तों का आशय अधिकृत अधिकारी आचार्यों से समझकर यथार्थरूप से उनकी व्याख्या करे। प्रत्येक सूत्र के अर्थ, भावार्थ, परमार्थ, व्याख्या आदि को भलीभाँति समझकर निरूपण-प्ररूपण करना, तथा तदनुसार आचरण करना ही याथातथ्य अध्ययन का हार्द है।

इस अध्ययन की क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

आहत्तहीयं तु पवेइयस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं ।
सओ अ धम्मं, असओ असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥१॥

संस्कृत छाया

याथातथ्यं तु प्रवेदयिष्यामि, ज्ञानप्रकारं पुरुषस्य जातम् ।
सतश्च धर्ममसतश्चाशीलं, शान्तिमशान्तिं च करिष्यामि प्रादुः ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**आहत्तहीयं तु पवेइयस्सं**) मैं याथातथ्य अर्थात् सच्चे— यथार्थ तत्त्व को बताऊँगा तथा (**नाणप्पकारं**) ज्ञान (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के बोध) का रहस्य कहूँगा, ((**पुरिसस्स जातं**) जीवों के भले-बुरे स्वभावों, तथा गुणों को बताऊँगा, (**असओ असीलं, सओ अ धम्मं**) कुसाधुओं का कुशील और सुसाधुओं का सुशील (धर्म) भी बताऊँगा। (**संतिं असंतिं च पाउं करिस्सामि**) तथा शान्ति (मोक्ष) और अशान्ति (संसार) का स्वरूप भी प्रकट करूँगा।

भावार्थ

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं - मैं यथार्थ तत्त्व का, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के बोध का रहस्य बताऊँगा साथ ही मैं जीवों के अच्छे-बुरे स्वभावों एवं गुणों का भी दिग्दर्शन कराऊँगा, कुसाधुओं के कुशील और सुसाधुओं के सुशील (धर्म) का भी निरूपण करूँगा, एवं शान्ति (मुक्ति) और अशान्ति (बन्धन, संसारभ्रमण) के स्वरूप को भी प्रकट करूँगा।

व्याख्या

याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन

इस गाथा में श्री सुधर्मास्वामी द्वारा याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन अंकित किया गया है। वास्तव में भाव-याथातथ्य में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और विनय इन चारों का समावेश होता है। अतः '**आहत्तहीयं**' (यथार्थ तत्त्व) पद से दर्शन याथातथ्य के, '**नाणप्पकारं**' (सम्यग्ज्ञानादि के रहस्य-ज्ञान) पद से ज्ञानयाथातथ्य के, **पुरिसस्स जातं** आदि (जीवों के स्वभाव, गुण आदि) सुशील-कुशील पद से चारित्र-याथातथ्य एवं **संतिं असंतिं** (मोक्ष और बन्ध) से विनययाथातथ्य के निरूपण करने का अभिवचन प्रतीत होता है।

वस्तु यथार्थतत्त्व या परमार्थ को याथातथ्य कहते हैं। तत्त्वों को यथार्थरूप में समझ लेने पर ही यथार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए सर्वप्रथम याथातथ्य बताने को कहा है। तदनन्तर **नाणप्पकारं** (ज्ञानप्रकार) कहा है। यहाँ प्रकार शब्द 'आदि' अर्थ में प्रयुक्त है, उसका अर्थ है ज्ञान आदि यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र का रहस्य। इन सबका संक्षिप्त स्वरूप हम पहले बता आए हैं। इसके पश्चात् पुरुषों के नाना प्रकार के गुण, धर्म, प्रशस्त-अप्रशस्त स्वभाव आदि के निरूपण की बात कही है। जो पुरुष सज्जन है, सदाचारी है, सुसाधु है, सदनुष्ठान करता है, रत्नत्रय-सम्पन्न है, वह जो श्रुतचारित्ररूपधर्म का शुद्ध आचरण करता है, उसे समस्तकर्मक्षय-रूप शान्ति (मुक्ति) प्राप्त होती है, इसके विपरीत जो पुरुष असज्जन है, अशोभन है, पाखण्डिक पाषण्डी या पार्श्वस्थ आदि हैं, उनके अधर्म (पाप) कुशील और संसार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रमणरूप अशान्ति को प्रकट करूँगा, यह सुधर्मास्वामी का अभिवचन है, जिसे वे आगे की गाथाओं में क्रमशः पूरा करते हैं।

मूल पाठ

अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं, तहागएहिं पडिलब्भधम्मं।
समाहिमाघातमजोसयंता, सत्थारमेवं फरुसं वयंति ॥२॥

संस्कृत छाया

अहनि च रात्रौ च समुत्थितेभ्यस्तथागतेभ्यः प्रतिलभ्य धर्मम्।
समाधिमाख्यातमजोषयन्तः, शास्तारमेवं परुषं वदन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ

(**अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं तहागएहिं**) दिन-रात सम्यक्रूप से सदनुष्ठान करने में प्रवृत्त तथागतों—तीर्थंकरों से (**धम्मं पडिलब्भ**) धर्म (श्रुतचारित्ररूप) को पाकर (**आघात समाहिं अजोसयंता**) तीर्थंकरों द्वारा कथित समाधि-सम्यग्दर्शनादि मोक्षपद्धति का सेवन न करते हुए (जामालि आदि निह्नव) (**सत्थारमेवं फरुसं वयंति**) अपने प्रशास्ता—धर्मोपदेशक को ही कटुवाक्य कहते हैं।

भावार्थ

अहर्निश उत्तम अनुष्ठान करने में प्रवृत्त तथागतों—तीर्थंकरों से धर्म प्राप्त करके तीर्थंकरोक्त समाधिमार्ग का आचरण न करते हुए कुछ निह्नव अपने प्रशास्ता—धर्मोपदेशक (तीर्थंकर) को ही अपशब्द कहते हैं।

व्याख्या

धर्मोपदेशक से धर्म पाकर उन्हीं को निन्दा करने वाले !

इस गाथा में याथातथ्य के सन्दर्भ में शास्त्रकार ने बताया है कि कुछ लोग अहर्निश उत्तम अनुष्ठान में तत्पर तथागत प्रशास्ता तीर्थंकरों से शुद्धधर्म का बोध पाकर भी अपनी मंदभाग्यता या मिथ्यात्व एवं मोहनीयकर्म के उदयवश उन्हीं प्रशास्ताओं की एवं उनके समाधिमार्ग या सिद्धान्तों की निन्दा, अवहेलना करते है, उनकी मखौल उड़ाते हैं और अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, महात्मा सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। यह अयाथातथ्य है। इस प्रकार के अयाथातथ्य या अयथार्थ विचार, वचन एवं कार्य से प्रत्येक साधक को बचना चाहिए और याथातथ्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

ऐसे लोग, जो वीतराग सर्वज्ञ प्रशास्ताप्रवर तीर्थंकर की मजाक उड़ाते हैं, और उनके सिद्धान्त के विरुद्ध कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं, उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति क्रियमाण (किये जाते हुए) पदार्थ को कृत (किया हुआ) बताता है, वह सर्वज्ञ नहीं है, तथा जो पात्र आदि उपकरणों के परिग्रह से भी मोक्ष बताता है, वह सर्वज्ञ नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता, इस प्रकार का अपलाप करते हुए वे निह्नव लोग सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा नहीं रखते, यह उनका अयाथातथ्य है। इसी प्रकार सर्वज्ञोक्त मार्ग पर श्रद्धा रखते हुए भी कुछ साधक मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण लिए हुए संयम भार-रूपी दायित्व को वहन करने में असमर्थ होते हैं, जब ये संयमपालन करने में शिथिलता करते हैं तो आचार्य आदि उन्हें धर्मस्नेहवश वैसा न करने के लिए शिक्षा देते हैं, मगर वे अपनी उद्धतता के कारण शिक्षा देने वाले को ही अपशब्द कहने लगते हैं, यह भी चारित्रीय अयाथातथ्य है। सुसाधक को इस प्रकार के अयाथातथ्यों से बचना चाहिए।

मूल पाठ

विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वएज्जा ॥३॥

संस्कृत छाया

विशोधितं तेऽनुकथयन्ति, ये आत्मभावेन व्यागृणीयुः ।
अस्थानिको भवति बहुगुणानां, ये ज्ञानशंकया मृषा वदेयुः ॥३॥

अन्वयार्थ

(ते **विसोहियं अणुकाहयंते**) वे जामालि आदि निह्नव अच्छी तरह से शोधित इस जिनमार्ग की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपण करते हैं, (**जे आतभावेण वियागरेज्जा**) जो अपनी रुचि के अनुसार आचार्य-परम्परा से विपरीत सूत्रों का अर्थ करते हैं। वे (**बहूगुणाणं अट्ठाणिए होइ**) उत्तम गुणों के भाजन नहीं होते हैं। (**जे णाणसंकाइ मुसं वएज्जा**) जो वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्याभाषण करते हैं, वे भी उत्तम गुणों के पात्र नहीं होते।

भावार्थ

वीतराग का मार्ग समस्त दोषों से रहित है, फिर भी अहंकारवश निह्नव आदि आचार्य-परम्परागत व्याख्या से विपरीत सूत्रों का अर्थ करते हैं। जो पुरुष अपनी रुचि के अनुसार परम्परागत व्याख्यान से भिन्न मनमाना व्याख्यान करते हैं, तथा वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्याभाषण करते हैं, वे उत्तम गुणों के भाजन नहीं होते।

व्याख्या

परम्परा से विरुद्ध व्याख्या, प्ररूपणा श्रेष्ठ गुणों की अपात्रता का कारण

इस गाथा में शास्त्रकार ने अयाथातथ्य प्ररूपण करने वालों की मनोवृत्ति एवं उसके दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है। इसमें निम्न ३ प्रकार के अयाथातथ्य प्ररूपक बताये गये हैं—(१) परम्परागत व्याख्या के विपरीत प्ररूपणा करने वाले, (२) अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुचि के अनुसार परम्पराविरुद्ध मनमानी सूत्र-व्याख्या करने वाले और (३) वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका प्रकट करके मिथ्याभाषण करने वाले। ये तीनों ही प्रकार के विरुद्धप्ररूपक (निह्नव) उत्तम गुणों के भाजन नहीं होते।

विसोहियं - यह वीतराग-मार्ग का विशेषण है। विशोधित का अर्थ है—विविध प्रकार से शोधन किया हुआ, अर्थात् कुमार्ग की प्ररूपणा से बचाकर जो निर्दोष रखा गया है, तथा संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय से रहित एवं युक्ति-तर्क-नय-प्रमाणसंगत है, अनेकान्तवादसापेक्ष है। वह मार्ग विविध वादों, मतों एवं मान्यताओं की एकान्त या विपरीत प्ररूपणाओं से वर्जित है। ऐसा मार्ग- -सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-रूप मोक्षमार्ग है। इस विशुद्ध शोधित मार्ग को यथार्थरूप से न समझकर अपने मताग्रह से ग्रस्त गोष्ठामाहिल, जामालि आदि निह्नव आचार्यों की परम्परागत धारणा-प्ररूपणा को छोड़कर विपरीत प्ररूपणा करते हैं। दूसरे प्रकार के वे अयाता-तथ्य प्ररूपक हैं, जो अपने अहंकार में डूबकर स्वेच्छा से सूत्रों की स्वकल्पित व्याख्या में मोहित होकर आचार्य-परम्परागत अर्थ को तिलांजलि देकर उससे विरुद्ध अर्थ करते हैं, और दूसरों को भी वैसा ही अर्थ समझाते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति मोह-कर्म के उदय के कारण सूत्र के गम्भीर अभिप्राय को पूर्वापर ग्रन्थ-सन्दर्भ के अनुसार समझने में समर्थ नहीं होते। अतः अपने को ज्ञानी और विद्वान मानकर मनमानी उत्सूत्रप्ररूपण करते हैं। मगर इस प्रकार अपनी मनपसन्द शास्त्र-व्याख्या करना महान् अनर्थ का कारण है।

पहले निह्नव विपरीतसिद्धान्तप्ररूपक हैं, जबकि दूसरे निह्नव उत्सूत्र (विपरीत सूत्र व्याख्या) प्ररूपक हैं। हैं ये दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे ! दोनों पूरे अहंकारी और अपने आपको ज्ञानी का अवतार मानने वाले हैं ?

एक तीसरे प्रकार के निह्नव होते हैं, जो वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करते हुए, उन पर कीचड़ उछालते हैं, उनके व्यक्तिगत विशुद्ध जीवन पर छींटाकशी करते हैं, वे मिथ्याभाषी सर्वज्ञोक्त आगम के प्रति शंका प्रगट करते हुए कहते हैं— "यह आगम सर्वज्ञकथित हो ही नहीं सकता, अथवा इसका अर्थ दूसरा है या सर्वज्ञ ऐसा हो नहीं सकता, जिसमें कोई दोष न हो, जो पूर्णज्ञान से युक्त हो आदि।" अथवा जो अपने पाण्डित्य के अभिमान में आकर झूठी बकवास करते हैं कि "मैं जैसा कहता हूँ, वही ठीक है, उसी तरह का अर्थ सम्यक् है, अन्य सब अर्थ झूठे हैं, इसका ऐसा अर्थ हो ही नहीं सकता। यह गलत अर्थ है।"

जहाँ तक व्यक्तिगत विचारों का प्रश्न है, व्यक्ति किसी बात को समझने के लिए जिज्ञासापूर्वक कोई प्रश्न करे, शंका प्रस्तुत करे या समझने की इच्छा से उलटा-सीधा सवाल करे, यह तो क्षम्य है, किन्तु ऐसा न करके वह यथार्थ अर्थ या सत्य सिद्धान्त पर सीधा ही आक्षेप करे, उसे मिथ्या बताकर अपने मत या मान्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्थापना करे, इतना ही नहीं, जनता में उसका जोर-शोर से प्रचार करे, सत्यप्ररूपकों पर कीचड़ उछाले, उनकी निन्दा करे, यह घोर निह्नवता या अयाथातथ्यप्ररूपण है।

इसका दुष्परिणाम बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं- '**अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं।**' ये तीनों ही प्रकार के अयाथातथ्य प्ररूपक बहुत-से उत्तम ज्ञानादि गुणों के भाजन नहीं होते ; किन्तु दोषों के ही भाजन बन जाते हैं। वे उत्तमोत्तम गुण कौन-से हैं ? इसलिए एक प्राचीन गाथा प्रस्तुत है -

सुस्सुसइ पडिपुच्छइ सुणेइ गेण्हइ य ईहए यावि।
तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं ॥

अर्थात्--पहले गुरु से ज्ञान सुनता है, फिर प्रश्न करता है, पश्चात् उनका उत्तर सुनता है, तब उसे ग्रहण करता है, इसके बाद तर्क-वितर्क करता है, उसका समाधान होने पर निश्चय करता है और उसे अपने दिमाग में जमाकर याद रखता है। इन सबके बाद वह तदनुसार आचरण करता है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि सद्गुरु की सेवा-सुश्रूषा करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान होने के बाद आचरण भी सम्यक् होता है और सम्यक् आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उक्त तीनों प्रकार के निह्नव इन उत्तम गुणों के पात्र नहीं बनते। कहीं-कहीं '**अट्ठाणिए होई बहुणिवेसे**' पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है कि बहुत अनर्थ करने वाला कदाग्रही व्यक्ति ज्ञानादि गुणों का पात्र नहीं होता, अपितु दोषों का स्थान बनता है।

ऐसे लोग भयंकर अनर्थकारी एवं अनन्तसंसारी इसलिए होते हैं कि वे अपनी मनमानी विपरीत प्ररूपणा को हजारों-लाखों लोगों के दिलदिमागों में ठसाकर उन्हें भी कुमार्गगामी और अनन्तसंसारी बना देते हैं।

मूल पाठ

जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आयाणमट्ठं खलु वंचयंति।
असाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एसंति अणंतघायं ॥४॥

संस्कृत छाया

ये चाऽपि पृष्टाः परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वंचयन्ति।
असाधवस्ते इह साधुमानिनो मायान्विता एष्यन्त्यनन्तघातम् ॥४॥

अन्वयार्थ

(**जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति**) जो लोग पूछने पर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं, (**आयाणमट्ठं खलु वंचयंति**) गुरु से ग्रहण किये हुए अर्थ से श्रोता को वंचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखते हैं, अथवा आदान—मोक्ष से वे स्वयं वञ्चित रहते हैं, (**ते असाहुणो इह साहुमाणी**) वे वस्तुतः असाधु हैं, परन्तु इस जगत में अपने आपको साधु मानते हैं, (**मायण्णि एसंति अणंतघायं**) वे मायावी पुरुष संसार में अनन्तबार घात को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ

जो व्यक्ति पूछने पर अपने ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाते हैं और दूसरे किसी बड़े आचार्य आदि का नाम बताते हैं, वे मोक्ष से अपने को वंचित करते हैं, अथवा गुरु से ग्रहण किए हुए अर्थ से श्रोता को वंचित करते हैं, वे वास्तव में साधु नहीं हैं, तथापि अपने आपको साधु मानते हैं। ऐसे कपटी (दम्भी) पुरुष संसार के दुःखों से अनन्तबार पीड़ित होते हैं।

व्याख्या

ऐसे मायावी लोग यथार्थ साधुता से दूर

इस गाथा में ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का जिक्र किया गया है, जो याथातथ्य तत्त्वों से अनभिज्ञ हैं, किन्तु जरा-सा ज्ञान पाकर गर्व से छलछला उठते हैं, अपनी शेखी बघारते रहते हैं। जब कोई उनसे पूछता है—'आपने किस गुरु या आचार्य से ये शास्त्र पढ़े हैं?' तब वे तपाक से अपने सच्चे गुरु का नाम छिपाकर दूसरे किसी महान् प्रसिद्ध आचार्य का नाम ले लेते हैं। अथवा यों कह देते हैं कि मैंने स्वयं इन शास्त्रों का अध्ययन किया है। इस प्रकार ज्ञानगर्वोद्धत होकर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं। अथवा जो स्वयं प्रमादवश आचरण में गलती करते हैं, किन्तु आलोचना के समय गुरु आदि के पूछने पर लोकनिन्दा के भय से झूठ बोलकर उसे छिपाते हैं। ऐसा करने वाले मायाचारी लोग अपने आपको मोक्ष से वंचित करते हैं, अथवा वे गुरु द्वारा बताये हुए सच्चे अर्थ से लोगों को वंचित रखते हैं। ऐसे मायाचार एवं दम्भ करने वाले धर्मध्वजी लोग वस्तुतः स्वयं साधु नहीं है, किन्तु अपने आपको साधु मानकर दोहरा पाप करते हैं। कहा भी है—

पावं काऊण सयं अप्पाणं, सुद्धमेव वाहरइ।
दुगुणं करेइ पावं बीयं बालस्स मंदत्तं ॥

अर्थात्—एक तो वह पाप करता है, फिर पूछने पर अपने को शुद्ध ही बताता है। इस प्रकार दुगना पाप करता है, यह उस जीव की दोहरी मूर्खता है।

ऐसे मायाचारी जीव अनन्तकाल तक संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण करते रहेंगे। '**अणंतघायं एसंति**' का अर्थ है—अनन्तबार मृत्यु को प्राप्त होंगे। यह अयाथातथ्य का दुष्परिणाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधेव से दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पावकम्मी ॥५॥

संस्कृत छाया

यः क्रोधनो भवति, जगदर्थभाषी, व्यवसितं यस्तूदीरयेत् ।
अन्धइवाऽसौ दण्डपथं गृहीत्वाऽव्यवसितो धृष्यते पापकर्मा ॥५॥

अन्वयार्थ

(**जे कोहणे जगट्ठभासी होइ**) जो पुरुष क्रोधी है, और दूसरे के दोष को कहने वाला है, (**जे उ विओसियं उदीरएज्जा**) और जो शान्त हुए कलह को फिर से जगाता है, (**पावकम्मी**) वह पापकर्म करने वाला जीव (**अविओसिए**) सदा कलह में पड़ा हुआ (**दंडपहं गहाय अंधेव**) अंधे की तरह छोटी पगडंडी से चलता हुआ (**धासति**) दुःख का अनुभव करता है।

भावार्थ

जो साधक सदा क्रोध करता है, और दूसरों के दोष बखानता रहता है, और शान्त हुए कलह को फिर उभाड़ता रहता है। वह पापकर्म करने वाला और सदा झगड़ों में उलझा रहने वाला पुरुष छोटी (संकड़ी) पगडंडी से जाते हुए अंधे की तरह दुःख का भागी होता है।

व्याख्या

कलहकारी साधक अत्यन्त दुःखभागी

इस गाथा में याथातथ्य चारित्र के सन्दर्भ में क्रोध, कलह, असूया आदि दोषों से घिरे हुए साधक की दशा का वर्णन किया है। ऐसा व्यक्ति कषायों के याथातथ्य स्वरूप, उनके कटुफल, लोकव्यवहार में उनसे हानि, लौकिक-पारलौकिक परिणाम आदि के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता, और न जानने की कोशिश करता है, फलतः अपनी क्रोध और कलह करने की तथा दूसरों को कोसने की आदत को और बढ़ावा देता है। वह यह समझता है कि क्रोध से भन्नाते हुए, कलह करते या बकझक या चखचख करते हुए देखकर लोग मुझसे दबे, सहमे, डरे रहेंगे। परन्तु लोगों के मानस पर उक्त साधक की उलटी प्रतिक्रिया होती है। लोग उसे पास बैठने देना भी नहीं चाहते, उससे बात करने से कतराते हैं, उसे किसी का सहयोग नहीं मिलता, न प्रेम मिलता है। यह तो हुई लौकिक हानि की बात। इन हानियों की ओर से आँखें मूँदकर अंधे की तरह संकड़ी पगडंडी पर सरपट दौड़ता है। अर्थात् शान्त हुए कलह को फिर से भड़काता है। दूसरों को गाली देना, ताने मारना, उनके साथ बकवास करना, बात-बात में लड़ पड़ना, दूसरों के दोषों (ऐबों) को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुँहफट होकर बकना आदि लड़ाई उकसाने के नुस्खे अजमाता है। फलतः वह अन्धे के समान औंधे मुँह गिर पड़ता है, कांटा, बिच्छू, साँप आदि से पीड़ित होता है। ऐसा पापकर्मी जीव परलोक में जन्ममरणरूप चतुर्गतिक संसार में बार-बार परिभ्रमण करता रहता है, नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। इसलिए कषायरूप अयाथातथ्य से बचना साधक के लिए अभीष्ट है।

मूल पाठ

जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
उववायकारी य हरीमणे य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

संस्कृत छाया

यो विग्रहिकोऽन्यायभाषी, नाऽसौ समो भवत्यझंझाप्राप्तः ।
उपपातकारी च ह्रीमनाश्च, एकान्तदृष्टिश्चामायिरूपः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**जे विग्गहीए**) जो साधक कलहकारी है, (**अन्नायभाषी**) अन्यायसयुक्त बोलता है, (**जे समे न होइ**) ऐसा व्यक्ति सम = मध्यस्थ नहीं हो सकता, (**अझंझपत्ते**) और वह कलहरहित नहीं होता, (**उववायकारी**) किन्तु जो गुरु के सान्निध्य में रहता है, या गुरु की आज्ञा पालन करता है, (**हरीमणे य**) पाप करने में गुरु आदि से लज्जित होता है, (**एगंतदिट्ठी य**) तथा जीवादि तत्त्वों में उसकी दृष्टि या श्रद्धा स्पष्ट एवं निश्चित होती है, (**अमाइरूवे**) वही साधक अमायीरूप (सरलस्वभावी) होता है।

भावार्थ

जो साधक कलह करता है, न्यायविरुद्ध बोलता है, ऐसा व्यक्ति मध्यस्थ नहीं हो पाता और वह झगड़ेबाजी से भी दूर नहीं होता; इसके विपरीत जो साधक गुरु के सान्निध्य में रहता है या उनके आदेश के अनुसार कार्य करता है, पाप करने में गुरु आदि से लज्जित होता है, तथा जीवादि-तत्त्वों में उसकी दृष्टि या श्रद्धा स्पष्ट एवं निश्चित होती है, वही साधक अमायीरूप होता है।

व्याख्या

साधक के परस्परविरोधी दो रूप

इस गाथा में अयाथातथ्य और याथातथ्य चारित्र से युक्त दो प्रकार के परस्पर विरोधी साधकों का चित्रांकन किया गया है। जो साधक यथार्थ तत्त्व को या जीवन के महासत्य को न जानकर रात-दिन लड़ाई-झगड़े में रचापचा रहता है, कोई उसे कलह से होने वाली हानियाँ बताता है, और उसे कलह से विरत होने को कहता है, तो भी वह अपनी आदत को नहीं छोड़ता। फलतः ऐसे व्यक्ति राग-द्वेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से युक्त होने के कारण मध्यस्थ—सम नहीं हो सकता है। बल्कि ऐसा व्यक्ति झगड़ेबाजी से दूर नहीं रह सकता। अथवा ऐसा व्यक्ति माया से रहित नहीं हो पाता। यह है अयाथातथ्य साधक का रूप! दूसरी ओर, इससे विपरीत एक सुविनीत साधक है, जो गुरु के सान्निध्य में दोषों से रहित होकर रहता है, गुरु के आदेशानुसार सभी क्रियाओं में प्रवृत्त होता है अथवा शास्त्रोक्त उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करता है, तथा मूलगुण-उत्तरगुणों के पालन में दत्तचित्त रहता है अथवा साध्वाचार-विरुद्ध करने में गुरु आदि से लज्जित होता है, एवं उसकी दृष्टि जीवादि तत्त्वों पर निश्चित (स्पष्ट) होती है। ऐसा साधक सदा समस्त मायारहित होता है। यहाँ 'य' (च) शब्द पड़ा है, जिससे पूर्वोक्त दोषों से रहित होना भी ध्वनित होता है। अर्थात् ऐसा साधक अपने गुरु का नाम नहीं छिपाता, क्रोध, कपट, कलह एवं अभिमान से दूर रहता है। यह अमायी, याथातथ्य चारित्रयुक्त साधक का चित्र है।

सुविहित साधक को पूर्वोक्त दोषों से सदा दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥७॥

संस्कृत छाया

स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः, जात्यन्वितश्चैव सुऋज्वाचारः ।
बह्वप्यनुशास्यमानो यस्तथार्चः, समः स भवत्य झंझाप्राप्तः ॥७॥

अन्वयार्थ

(**बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा**) भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक बार शिक्षा पाकर (अनुशासित होकर) भी जो अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, (**से पेसले सुहुमे पुरिसजाए**) वही साधक विनय आदि गुणों से युक्त है, या मृदुभाषी है, सूक्ष्मदर्शी है, पुरुषार्थ करने वाला है। (**जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे**) वही साधक उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार में सहज-सरल भाव से ही प्रवृत्त रहता है। (**से हु समे अझंझपत्ते होइ**) वही साधक सम (शत्रु-मित्र पर समभाव रखने वाला) या मध्यस्थ एवं अमायाप्राप्त होता है।

भावार्थ

किसी विषय में प्रमादवश भूल हो जाने पर गुरु आदि द्वारा बार-बार अनुशासित किया जाने (शिक्षा देने) पर भी जो चित्तवृत्ति को सही (यथार्थ) रखता है, वही साधक विनयादि गुणों से युक्त, सूक्ष्मार्थदर्शी, पुरुषार्थी है, वही जातिसम्पन्न और साध्वाचार में सहजभाव से प्रवृत्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही साधक शत्रु-मित्र पर सम, या मध्यस्थ अथवा वीतराग के समान है, मायारहित है।

व्याख्या

यथातथ्यचारित्र से सम्पन्न साधक

इस गाथा में यथातथ्य चारित्र से सम्पन्न साधक का चित्रण किया गया है। जो संसार से उद्विग्न विरक्त साधक होता है, वह प्रमादवश भूल हो जाने पर बार-बार गुरु द्वारा अनुशासित होने पर उन्मार्ग प्राप्त कराने वाले कारणों के त्याग, आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि आदि का आदेश देने पर भी अपनी चित्तवृत्ति को यथावत् पवित्र बनाए रखता है, आपे से बाहर नहीं होता। वह विनयादि गुणों से युक्त तथा मृदुभाषी होता है। वह सूक्ष्म अर्थ को देखने या करने वाला होने से 'सूक्ष्म' है, वही वस्तुतः ज्ञानादि में पुरुषार्थ करने वाला है, जो क्रोधादि के वशीभूत हो जाता है, वह पुरुषार्थी नहीं है। तथा वही पुरुष जाति-कुलवान है। जो शील-सम्पन्न है, वही जाति-कुलवान होता है। केवल ऊँचे कुल में पैदा होने से कोई कुलीन नहीं कहलाता। वही पुरुष सहज-सरलरूप से साध्वाचार का पालन करता है जो निन्दा-प्रशंसा में सम रहता है, वही साधक क्रोध या माया से रहित है अथवा वही साधक वीतराग के समान है।

मूल पाठ

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥८॥

संस्कृत छाया

यश्चाऽप्यात्मानं वसुमन्तं मत्वा, संख्यावन्तं वादमपरीक्ष्य कुर्यात्।
तपसा वाऽहं सहित इतिमत्वा, अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥८॥

अन्वयार्थ

(**जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता**) जो अपने आपको संयम एवं ज्ञान का धनी मानकर (**अपरिक्ख वायं कुज्जा**) अपनी जाँच-परख किये बिना किसी के साथ वाद छेड़ देता है या अपनी बड़ाई हाँकता है। (**तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता**) मैं बड़ा तपस्वी (तप से युक्त) हूँ, ऐसा मानकर (**अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं**) दूसरे लोगों को जल में चन्द्रमा की पड़ी हुई परछाई की तरह तुच्छ समझता है, या निरर्थक देखता है।

भावार्थ

जो स्वयं को संयमी एवं ज्ञानवान समझकर अपना पूरी तरह मूल्यांकन किये बिना ही अपनी बड़ाई हाँकता है, अथवा किसी के साथ विवाद करता है, मैं बड़ा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरों को जल में पड़े हुए चन्द्रमा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिबिम्ब के समान निरर्थक या तुच्छ देखता है। ऐसा अभिमानी साधक याथातथ्यचारित्र से रहित है।

व्याख्या

अभिमानी साधक : अपने ही मोक्ष के लिए बाधक

इस गाथा में शास्त्रकार ने याथातथ्यचारित्र से विपरीत चलने वाले अभिमानी एवं मदान्ध साधक की मनोवृत्ति का चित्रण किया है। प्रायः ज्ञानी, तपस्वी और क्रियाकाण्डी साधक को अपने ज्ञान, तप और क्रियाकाण्ड पर गर्व होता है। उस मद में आकर वह अपने आपे से बाहर हो जाता है, वह मुँहफट होकर अपने अपने मुँह से अपनी बड़ाई करने के लिए हरदम फटा पड़ा रहता है। वह प्रसंग हो या न हो, कोई अन्य महत्वपूर्ण बात कर रहा हो, तब भी बीच में टपककर अपनी रामायण सुनाने लगता है, अपने प्रशंसा-पुराण के गीत गाने लगता है। लोगों को उसकी बातों में रस आए या न आए, वह कहे चला जाता है। किन्तु यह असभ्यता और स्वत्वमोह एवं मद कर्मबन्ध का भी कारण है। ऐसा साधक अपने सत्व का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाता और कहता फिरता है—'मैं बहुत बड़ा विद्वान् और ज्ञानी हूँ। मेरे सामने विवाद में कोई नहीं टिक पाता।' और वह बड़े से बड़े तार्किक और विद्वान के साथ विवाद के लिए भिड़ जाता है। कोई तपस्वी हो तो अपनी तपस्या के गीत गाने लगता है। कहता है—इस इलाके में मेरे बराबर कोई तपस्वी नहीं। कोई मेरे बराबर तप करके तो देखे। मैंने अपने शरीर को जितना तपाया है, उतना कोई क्या तपाएगा? कोई क्रियाकाण्डी भी दूसरों को झिड़कता हुआ अपनी शेखी बघारता है—मैं उत्कृष्ट संयम का धनी हूँ। मेरे सामने वह कुछ भी नहीं है। अमुक साधक मेरी तो क्या, मेरी परछाईं की भी होड़ नहीं कर सकता। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा मदान्ध व्यक्ति दूसरों को जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह तुच्छ समझता है। यह मूल्यांकन यथार्थ न होने के कारण अयाथातथ्य है। सुसाधक को इस प्रकार की मदान्धता से दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जई मोणपयंसि गोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

संस्कृत छाया

एकान्तकूटेन तु स पर्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे ।
यो माननार्थेन व्युत्कर्षयेत्, वसुमदन्यतरेणावबुध्यमानः ॥९॥

अन्वयार्थ

(**से एगंतकूडेण उ पलेइ**) वह पूर्वोक्त अहंकारी साधु अत्यन्त मोह माया में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़कर बार-बार संसार में परिभ्रमण करता है। (**मोणपयंसि गोत्तेण विज्जई**) वह समस्त आगम-वाणी के आधारभूत मौनीन्द्र—सर्वज्ञ वीतराग के पद—मार्ग में अथवा मौनीन्द्रों के पद—संयम में नहीं रहता है। (**जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा**) तथा जो सम्मान-प्राप्ति के लिए संयमोत्कर्ष या ज्ञानादि का मद करता है, (**वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे**) एवं संयमी होकर भी वह ज्ञानादि का मद करने से परमार्थ को नहीं जानता।

भावार्थ

पूर्वोक्त मदान्ध साधक एकान्त मोह-माया रूपी भाव-कूट (पाशबन्धन) में पड़कर संसार में बार-बार परिभ्रमण करता है। तथा वह आगम-वाणी के आधारभूत सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग में अथवा मुनीन्द्रों के पद—संयम में स्थित नहीं है, जो सम्मान-सत्कार पाने के लिए अपने ज्ञान, तप, संयमादि की बड़ाई करता है। वास्तव में जो संयम लेकर भी ज्ञानादि का मद करता है, वह मूढ़ है, वह परमार्थ को नहीं जानता है।

व्याख्या

मूढ़ मदान्ध साधक मुनीन्द्र पद में स्थित नहीं

इस गाथा में मदान्ध साधक को मुनीन्द्रों (सर्वज्ञ तीर्थंकरों) के मार्ग या संयम से बहिर्भूत बताकर उसकी इहलोक-परलोक में होने वाली दुर्दशा का दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव में जो साधक पूर्वगाथाओं में उक्त प्रकार से अहंकार, मोह, माया, क्रोध आदि करता है, वह अपनी उसी वृत्ति से अभ्यस्त होने के कारण तीर्थंकरों की सच्ची राह से भटक जाता है और एकान्त मोहमाया के चक्कर में पड़कर बार-बार जन्म-मरण करता रहता है। वह मुनीन्द्रों के पदरूप संयममार्ग में अथवा आगमवाणी के आधारभूत वीतरागप्रणीत मार्ग में स्थित नहीं रहता। उसकी दशा धोबी के कुत्ते की तरह न घर की रहती है, न घाट की। वह कहीं से थोड़ा-सा पूजा-सत्कार पाकर गर्व से फूल उठता है, और अधिकाधिक सम्मान पाने की नीयत से अपने ज्ञानादि की स्वयं प्रशंसा करता है। वास्तव में वह संयम लेकर भी ज्ञानादि के मद में अन्धा होकर वास्तविक (याथातथ्य) मार्ग को नहीं देख पाता, न दूसरे से जानने-समझने का प्रयत्न करता है या वह सब शास्त्रों को पढ़कर तथा उनका अर्थ समझकर भी वस्तुतः सर्वज्ञ मत को नहीं जानता।

मूल पाठ

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

यो ब्राह्मणः क्षत्रियजातको वा, तथोग्रपुत्रस्तथा लेच्छको वा ।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी, गोत्रे न यः स्तब्ध्नात्यभिमानबद्धः ॥१०॥

अन्वयार्थ

(**जे माहणो**) जो ब्राह्मण है, (**खत्तियजायए वा**) अथवा जो क्षत्रिय जातीय है, (**तहुग्गपुत्ते**) तथा उग्र कुल में उत्पन्न हुआ है, (**तह लेच्छई वा**) या लिच्छवीवंशीय क्षत्रिय है, (**जे पव्वइए**) जब वह घरबार छोड़कर प्रव्रजित (दीक्षित) हो जाता है तो (**परदत्तभोई**) दूसरे गृहस्थों द्वारा दिया हुआ अचित्त कल्पनीय-एषणीय आहारादि का सेवन करता है, तथा (**जे गोत्तेण माणबद्धे ण थब्भइ**) जो अभिमानयोग्य स्थानों से पूर्व सम्बन्धित होते हुए भी अपने उच्चगोत्र का गर्व नहीं करता, वही सर्वज्ञोक्त याथातथ्यचारित्र में प्रवृत्त साधु है ।

भावार्थ

जो पुरुष ब्राह्मण हो, क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हो, उग्रवंश का लाल हो, या लिच्छवीवंश का हो, जब घरबार छोड़कर वीतरागमार्ग में मुनिधर्म में दीक्षित हो जाता है तो वह दूसरे के दिये हुए निर्दोष आहारादि का सेवन करता है । ऐसी स्थिति में अभिमानयोग्य स्थानों से पहले से सम्बद्ध होते हुए भी अब जो उच्चगोत्रादि का गर्व नहीं करता वही वास्तव में सर्वज्ञोक्त याथातथ्य मोक्षमार्ग में प्रवृत्त साधु है ।

व्याख्या

कुल, गोत्र, जाति का गर्व न करे, वही सच्चा साधु

इस गाथा में शास्त्रकार ने जातिमद से दूर रहने वाले साधु को ही सर्वज्ञोक्त याथातथ्य मोक्षमार्ग में उद्यत सच्चा साधु बताया है । मद के जितने भी स्थान हैं, उनमें जातिमद सबसे प्रबल है । मनुष्य कितने ही उच्च पद पर पहुँच जाता है, बहुत बड़ा पहुँचा हुआ साधु बन जाता है, धुरंधर शास्त्रज्ञ, उग्रतपस्वी या चारित्रचूड़ामणि बन जाता है, फिर भी कई साधकों को पूर्वसंस्कारवश यदाकदा जातिमद घेर लेता है । और जात्यभिमान में आकर दूसरे तुच्छजात्युत्पन्न साधुओं या गृहस्थों का तिरस्कार कर बैठता है । परन्तु साधु को यह विचार करना चाहिए कि 'मैं गृहस्थाश्रम में चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि किसी भी जाति-कुल से, या किसी सम्माननीय पद से सम्बन्धित रहा होऊँ, अब जब से मैंने वीतरागप्ररूपित मुनिधर्म में दीक्षा ले ली है, तब से पिछले सब जातिपाँति, पद-प्रतिष्ठा के पाशबन्धन या सम्बन्ध काटकर फेंक दिये, अब तो मैं केवल भिक्षाजीवी साधु हूँ, दूसरों के घरों में जाकर, उनके सामने पात्र रखकर, उनके द्वारा दिया हुआ जो भी निर्दोष आहार विधिपूर्वक मिल जाता है, वही मुझे सेवन करना है, तब मेरी जाति-कुल आदि का गर्व वहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितना हास्यास्पद होगा ? मेरे मुण्डित मस्तक पर या चेहरे पर कहाँ किसी जाति की तख्ती लगी होगी ? जो वस्तु सर्वथा छोड़ दी है, और भयंकर कर्मबन्ध का कारण है, उसे पुनः व्यर्थ की अभिमानवृद्धि के लिए अपनाना कितनी मूर्खता है ?" इस प्रकार गहराई से जातिवाद की निःसारता का यथातथ्य स्वरूप समझकर जो जातिमद बिलकुल नहीं करता, वही सर्वज्ञोक्त मार्गानुगामी सच्चा साधु है।

मूल पाठ

न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म से सेवईऽगारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए ॥११॥

संस्कृत छाया

न तस्य जातिश्च कुलं च त्राणं, नान्यत्र विद्याचरणं सुचीर्णम् ।
निष्क्रम्य स सेवतेऽगारिकर्म, न स पारगो भवति विमोचनाय ॥११॥

अन्वयार्थ

(**सुचिण्णं विज्जाचरणं नन्नत्थ**) अच्छी तरह आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय (**न तस्स जाई न कुलं व ताणं**) जाति आदि का मद करने वाले साधक की जाति, कुल या अन्य कोई भी पदार्थ रक्षा नहीं कर सकते। (**णिक्खम्म से अगारिकम्मं सेवई**) जो मनुष्य प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ के कर्मों (सावद्यकर्मों) का सेवन करता है, (**से विमोयणाए पारए ण होइ**) वह अपने कर्मों को क्षय करके मुक्त होने में समर्थ नहीं होता।

भावार्थ

जाति और कुल मनुष्य को दुर्गति से बचा नहीं सकते। वास्तव में भली-भाँति आचरण किए हुए ज्ञान और चारित्र के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु मनुष्य की संसार से रक्षा करने समर्थ नहीं है। किन्तु जो मनुष्य दीक्षा लेकर फिर गृहस्थी के सावद्य, आरम्भजन्य कामों में पड़ जाता है, वह अपने कर्मों को नष्ट करके बन्धनमुक्त होने में समर्थ नहीं होता।

व्याख्या

ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी वस्तु संसारपरिभ्रमण से बचा नहीं सकती

मनुष्य विविध प्रकार की योनियों और गतियों में भटकता हुआ नाना प्रकार के असह्य दुःखों को भोगता है, किन्तु वह सोचता है कि उच्च जाति या उच्च कुल धनादि दुर्गति से या इन दुःखों से मेरी रक्षा कर देंगे, लेकिन उसकी तमाम आशाओं पर पानी फिर जाता है, जब मौत उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है। उस समय उस व्यक्ति के द्वारा आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय कोई भी सजीव या निर्जीव पदार्थ उसे उक्त दुःखों या दुर्गति से बचा नहीं सकता। इसलिए शास्त्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार जाति-कुलाभिमानी साधकों को लक्ष्य में लेकर कहते हैं – **'न तस्स जाई कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।'** आशय यह है, कि पालन किया हुआ श्रुत-चारित्ररूप धर्म ही मनुष्य को दुर्गति में जाने से तथा विविध दुःखों से बचा सकता है। इसे समझ-सोचकर यथोक्त धर्माचरण में लगो, व्यर्थ के जाति आदि के मद के नशे में न बहो। यहाँ जाति और कुल शब्द उपलक्षण हैं, दूसरे भी जो मद के स्थान हैं, वे भी दुर्गति या दुःखों से रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं, यह जान लेना चाहिए। माता से उत्पन्न होने वाली जाति है और पिता से उत्पन्न होने वाला कुल है। श्रुत-चारित्ररूप धर्म के सिवाय ये कोई भी रक्षा नहीं कर सकते, उक्त धर्म से हीन और संसारभ्रमण के कारणों को अपनाने वाला जो पुरुष दीक्षा लेकर भी पुनः गृहस्थी के आरम्भ-समारम्भयुक्त कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है, वह गया-बीता साधक कर्मों के क्षय करने या कर्मबन्धनों को काटने का अवसर मिलने पर भी न तो कर्मक्षय कर पाता है, न कर्मबन्धनों को काटकर मुक्त हो पाता है। वह पुनः चौरासी लाख जीव-योनियों में भ्रमण करता है।

मूल पाठ

णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगगामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१२॥
जे भासवं भिक्खु सुसाहुवाई, पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा ॥१३॥
एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिसति बालपन्ने ॥१४॥
पन्नामयं चेव तवोमयं च णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥१५॥
एयाइं मयाइं विगिंच धीरा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥१६॥

संस्कृत छाया

निष्किंचनो भिक्षुः सुरूक्षजीवी, यो गौरववान् भवति श्लोककामी।
आजीवमेतत्त्वबुध्यमानः पुनः पुनो विपर्य्यासमुपैति ॥१२॥
यो भाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च।
आगाढप्रज्ञः सुविभावितात्मा, अन्यं जनं प्रज्ञया परिभवेत् ॥१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं न स भवति समाधिप्राप्तः यः प्रज्ञावान् भिक्षुर्व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः, अन्यं जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥१४॥
प्रज्ञामदं चैव तपोमदं च, निर्नामयेद् गोत्रमदं च भिक्षुः ।
आजीवगं चैव चतुर्थमाहुः, स पण्डितः उत्तमपुद्गलः स ॥१५॥
एतान् मदान् विविच्यधीरा, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ।
ते सर्वगोत्रापगता महर्षयः, उच्चामगोत्रं च गतिं व्रजन्ति ॥१६॥

अन्वयार्थ

(**जे भिक्खू णिक्किंचणे**) जो भिक्षाजीवी साधु निष्किंचन अर्थात् अपरिग्रही है, भिक्षान्न से पेट भरता है, (**सुलूहजीवी**) जो रूखा-सूखा आहार करके जीता है, (**जे गारवं सिलोगगामी होइ**) अगर वह अपनी ऋद्धि, रस और साता (सुखसामग्री) का गर्व (गौरव) करता है, तथा अपनी प्रशंसा एवं स्तुति की आकांक्षा रखता है, तो (**आजीवमेयं तु**) तो ये सब (अकिंचनता, रूक्षजीविता, भिक्षाजीविता आदि) गुण केवल उसकी आजीविका के साधन हैं। (**अबुज्झमाणो पुणो पुणो विप्परियासुवेति**) परमार्थ को जानने वाला वह अज्ञानी बार-बार संसार में विपर्यास— सुख और सुगति की आशा के विपरीत जन्ममरणादि दुःख और दुर्गति को प्राप्त करता है ॥१२॥

(**जे भिक्खू भासवं सुसाहूवादी**) जो साधु भाषा विज्ञ है, सुन्दर-सुललित भाषा में बोलता है या हित-मित-प्रिय भाषण करता है (**पडिहाणवं**) औत्पातिकी आदि प्रतिभाओं (बुद्धियों) से सम्पन्न है, (**विसारए होइ य**) और शास्त्रपाठों की सुन्दर व्याख्या एवं अनेक प्रकार से अर्थ करने में विशारद निपुण है (**आगाढपण्णे**) तथा सत्य तत्त्व में जिसकी बुद्धि प्रविष्ट है, (**सुविभावियप्पा**) धर्म की भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित है, वही सच्चा साधु है। परन्तु इतने गुणों से युक्त होने पर भी जो (**अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा**) इन गुणों के मद से ग्रस्त होकर दूसरे लोगों का अपनी बुद्धि से तिरस्कार कर देता है, वह साधु नहीं है ॥१३॥

(**जे पन्नवं भिक्खू विउक्कसेज्जा**) जो साधु बुद्धिमान होकर जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, (**अहवा वि जे लाभमयावलित्ते**) अथवा जो साधु अपने लाभ के मद में उन्मत्त होकर (**अन्नं जणं खिंसइ**) दूसरे लोगों की निन्दा करता है, या उन्हें झिड़कता है, (**से बालपन्ने समाहिपत्ते न होइ**) वह बाल-बुद्धि-मूर्ख समाधि प्राप्त नहीं करता ॥१४॥

(**भिक्खू पन्नामयं चेव तवोमयं च**) साधु बुद्धि के (प्रज्ञा) गर्व को तथा तप के मद को, (**गोत्तामयं च**) एवं गोत्र के मद को, (**चउत्थं आजीवगं चेव आहु**) और चौथा जो आजीविका का मद कहा है, उसको (**णिन्नामए**) तिलांजलि दे दे, त्याग दे। (**से पंडिए, से उत्तमपोग्गले**) जो ऐसा करता है, वही पण्डित साधु है और वही उत्तम आत्मा है ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**धीरा एयाइं मयाइं विगिंच**) धीर पुरुष इन मदस्थानों से अपने को हटाए—दूर करे। (**सुधीरधम्मा ताणि ण सेवंति**) सुधीरवीर वीतराग पुरुषों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-धर्म से युक्त साधक उन मदस्थानों का सेवन नहीं करते। (**ते सव्वगोत्तावगया महेसी**) वे समस्त गोत्रों से अलग-अलग निर्लेप महर्षिगण (**उच्चं अगोत्तं गतिं वयंति**) गर्वोच्च तथा गोत्रादि से बिलकुल रहित मोक्षगति को प्राप्त करते हैं ॥१६॥

भावार्थ

जो साधक अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखता, अकिंचन है, भिक्षा से अपना निर्वाह करता है, तथा रूखा-सूखा आहार खाकर जीता है, इसके बावजूद भी यदि वह ऋद्धि, रस और साता का गर्व करता है, और अपनी स्तुति-प्रशंसा की लालसा रखता है, तो उसके ये पूर्वोक्त गुण सिर्फ जीविका के साधन हैं। ऐसा परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ वह मूढ़ बार-बार संसार में जन्म-मरण आदि के दुःखों और दुर्गति को प्राप्त करता है ॥१२॥

जो साधु भाषा के गुण-दोषों तथा व्याकरण के नियमों का विज्ञ है तथा मधुर, सुसंस्कृत, हित, मित भाषा में बोलता है, प्रतिभाओं (औत्पातिकी आदि बुद्धियों) से सम्पन्न है, शास्त्रों के विभिन्न अर्थ और विश्लेषण करने में विशारद (निपुण), यथार्थ तत्त्व में जिसकी बुद्धि प्रविष्ट है एवं धर्मभावना से जिसका अन्तःकरण भावित है, वही सुसाधु है। मगर जो इन गुणों से युक्त होकर भी इनके मद में अन्धा होकर दूसरों का तिरस्कार करता है, वह अविवेकी है ॥१३॥

जो साधु बुद्धिमान् होकर गर्व करता है, अथवा जो अपने लाभ के मद से मत्त होकर दूसरे लोगों को बदनाम करता है या झिड़कता है, वह अतत्त्वदर्शी मूढ़ समाधि प्राप्त नहीं कर पाता ॥१४॥

साधु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद और आजीविकामद न करे। जो मद नहीं करता है, वही पण्डित साधक है और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व का धनी है ॥१५॥

धीर पुरुष पूर्वोक्त मदस्थानों से अपने को अलग रखे, क्योंकि सुधीर सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा उक्त ज्ञानदर्शनचारित्ररूप धर्म से युक्त साधक उन मदस्थानों का सेवन नहीं करते। अतः वे सब गोत्रों से रहित महर्षि होकर सर्वोच्च नाम गोत्रादि से बिलकुल परे मोक्षगति को प्राप्त करते हैं ॥१६॥

व्याख्या

इतना उच्च त्याग होने पर भी मदत्याग न करने का फल

१२वीं गाथा से लेकर १६वीं गाथा तक में शास्त्रकार ने जाति आदि मदों के त्याग न करने पर उच्च से उच्च त्याग को भी निःसार और निरर्थक बताकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति आदि मदों में उन्मत्त त्यागी एवं क्रियाकाण्डी साधकवर्ग को साहस भरी चुनौती दी है। कहाँ तो इतना ऊँचा त्याग है कि पास में एक कौड़ी भी नहीं रखता, बिलकुल अकिंचन, मस्त और भिक्षा पर निर्भर एवं रूखा-सूखा आहार करने वाला अत्यन्त निःस्पृह साधक, और कहाँ इतना नीचा गिरा हुआ जीवन कि पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, प्रसिद्धि और नामना, कामना की तीव्र भूख लगी रहती है, हर समय और हर व्यक्ति के सामने अपने उच्च क्रियाकाण्डों और तपस्या की डींग हाँकी जाती है, तप-संयम के प्रभाव से जो भी कुछ लब्धि या सिद्धि प्राप्त हुई, उसे सुना-सुनाकर बार-बार गर्वपूर्वक कहा जाता है—मेरे इतने शिष्य-शिष्याएँ हैं, इतने भक्त हैं, इतनी सिद्धियाँ प्राप्त हैं, इतना बढ़िया आहार आदि देने को लोगों की होड़ लगी रहती है, इतनी सुख-शान्ति है, इतना आराम है। ये सब डींग इसलिए हाँकी जाती है कि लोगों में हमारी पूछ हो, लोगों की भीड़ हाथ जोड़े खड़ी हो, हमें भगवान माने। किन्तु शास्त्रकार कहते हैं—'**आजीवमेयं**।' ये सब क्रियाकाण्ड, तप, संयम आदि उसने आजीविका के साधन बना दिये। सौदेबाजी कर ली तप-संयम-साधना की। और फिर उसका नतीजा क्या मिलेगा, ऐसी सौदेबाजी करने वाले को? शास्त्रकार कहते हैं—'**पुणो पुणो विप्परियासुवेंति**'। अर्थात् जिस सुख, शान्ति और सुगति की आशा से ऐसा साधक इतनी कठोर साधना करता है, वह निराशा में परिणत हो जाती है, उसे दुर्गति और दुःखों का ही सामना करना पड़ेगा। वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहेगा।

कुछ त्यागी साधु ऐसे भी होते हैं, जो कई भाषाओं के ज्ञाता होते हैं, उन भाषाओं के व्याकरण तथा गुण-दोषों को जानने में निपुण होते हैं। लच्छेदार, मधुर, सुललित, प्रिय, हित, मित भाषा में भाषण करते हैं, इतना सुन्दर छटादार भाषण देते हैं कि लोग आकर्षित होकर वाह-वाह कह उठते हैं। साथ ही वे इतने प्रतिभा-शाली होते हैं कि कोई भी व्यक्ति कैसा भी अटपटा प्रश्न पूछे, उनके पास उत्तर तैयार रहता है। धर्मकथा करते समय वे श्रोताओं के चेहरों को देखकर उनके मनो-भावों को ताड़ जाते हैं। कौन, कैसा, किसका अनुयायी है? इसे वे तुरन्त भाँप लेते हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी शास्त्र की व्याख्या करने में वे इतने सिद्धहस्त होते हैं कि नई-नई स्फुरणा के द्वारा नये-नये गहन अर्थों को खोल देते हैं, प्रत्येक शब्द का पुर्जा-पुर्जा खोल देते हैं। इतना ही नहीं, सत्य तत्त्वों में उनकी पैनी तेज-तर्रार बुद्धि गहराई तक प्रविष्ट हो जाती है और धर्मभावना उनके मनमस्तिष्क में लबालब भरी हुई है। किन्तु सोने की थाली के समान इतने सब गुणों से युक्त होते हुए भी वे साधक थाली में लगी हुई काँटेदार लोहे की मेखों के समान अभिमान के काँटों से भरे होते हैं। वे बात-बात में अपनी भाषाविज्ञता और शास्त्रज्ञता के अभिमान को प्रकट करते रहते हैं। जब भी किसी सभा या धर्मकथा में वे किसी जिज्ञासु या कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वानों को देखते हैं तो चट से कह उठते हैं—"इन बुड्ढकों का यहाँ क्या काम है ? ये बेकार आदमी हैं। इन मूर्खों को क्या आता-जाता है ? है कोई मेरे से टक्कर लेने वाला विद्वान् ? मेरे समान वक्ता होने में कई जन्म लेने होंगे। मुझ-सा शास्त्रज्ञ हो तो आए मेरे सामने, अभी मैं उसे निरुत्तर कर दूंगा ?" इस प्रकार वह महाभिमानी बनकर दूसरों का तिरस्कार करके अपनी सुसाधुता का दिवाला निकाल देता है। इतने सब साधुता के गुणों पर वह अपने हाथों से अभिमान की कालिख पोत देता है।

अब सुन लीजिए, शास्त्रकार के द्वारा उन बौद्धिक अभिमान के दीवानों के लिए दिया गया निर्णय – **'एवं ण से होइ समाहिपत्ते'** अर्थात् जो प्रज्ञावान साधक समस्त शास्त्रों के अर्थ-ज्ञान में दक्ष तथा तत्त्वज्ञान में परिपक्व बुद्धि वाला होकर भी जो प्रज्ञाशाली साधक दूसरों का तिरस्कार, अपमान एवं निन्दा, भर्त्सना करता है, अथवा लाभ के मद से उन्मत्त होकर जो अभावपीड़ित, या लाभान्तराय कर्म के उदय से जिन भद्र साधकों को उपकरण आदि की आवश्यकता होने पर भी मिलते नहीं। उनके सामने लाभमद से गर्वित साधक सर्प की तरह फुंकार उठता है—"अरे कंगालो ! तुम्हें क्या मिलेगा ? तुम इतनी साधना करने पर भी अपना पेट नहीं भर सकते। धिक्कार है, तुम्हें एक वस्त्र या पात्र नहीं मिलता। मैं एक उपकरण चाहूँ तो दस मिल सकते हैं। निकालो, इन भिखमंगे साधुओं को यहाँ से। इनको हम कहाँ तक ला-लाकर देंगे ? ये अपने-आप भिक्षा करके अपनी उदरपूर्ति करें या अन्य उपकरण लाएँ।" इस प्रकार अपने लाभमद की डींग हाँककर दूसरों का तिरस्कार या निन्दा करता है, झिड़कता है, वह समाधिभाव को नहीं पा सकता। समाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को कहते हैं अथवा धर्मध्यान को भी समाधि कहते हैं।

इसके पश्चात् १५वीं गाथा में शास्त्रकार ने साधक जीवन में अत्यन्त दुस्त्याज्य चार प्रकार के मदों का उल्लेख करके इनका सर्वथा त्याग करने वाले साधक को पण्डित एवं उत्तम पुद्गल वाला यानी श्रेष्ठ व्यक्तित्व का धनी कहा है। वे चार ये हैं—(१) प्रज्ञामद, (२) तपोमद, (३) गोत्रमद एवं (४) आजीविकामद। प्रज्ञामद की व्याख्या पहले की जा चुकी है। तपोमद तपस्या करने का अहंकार है। मेरे समान कौन तपस्वी है या मैं उत्कट तप करने वाला हूँ। इस प्रकार का मद तपोमद है। अपनी जाति, कुल, वंश का गर्व करना—मैं अमुक कुल का हूँ, मेरा कुल, जाति या वंश बहुत ऊँचा है। अथवा मन में जात्यभिमान लाकर दूसरे हीनजातीय का अपमान कर देना गोत्रमद है। आजीव का अर्थ है—आजीविका या जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का संग्रह करना, जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों की पूर्ति करना। आहार-पानी तथा वस्त्रादि के लाभ का मद करना भी आजीवमद होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में १६वीं गाथा में सुसाधु को इन सभी मदस्थानों से अपने आप को अलग रखने का निर्देश किया गया है। क्योंकि प्रज्ञादि का मद संसार का कारण है। अतः रत्नत्रयरूप धर्म जिनके रग-रग में रमा हुआ है, वह सभी मदों का त्याग करके गोत्रादि के चक्कर से अपने को बिलकुल दूर रखकर ऊँचे उठ जाते हैं, महर्षि पद को प्राप्त करते हैं और एक दिन वे सर्वोच्च गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ नाम, गोत्र, जाति, आयु आदि सब समाप्त हो जाते हैं।

मूल पाठ

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

संस्कृत छाया

भिक्षुर्मुदर्चस्तथा दृष्टधर्मा, ग्रामं च नगरं चानुप्रविश्य ।
स एषणां जानन्नेषणां च, अन्नस्य पानस्यानुगृद्धः ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे भिक्खू**) मृदर्च अर्थात् उत्तम लेश्यावाला, धर्म को देखा-जाना (अनुभव किया) हुआ साधु (**गामं णगरं च अणुप्पविस्सा**) ग्राम और नगर में भिक्षा के लिए प्रवेश करके (**से एसणं जाणं अणेसणं च**) वह एषणा और अनैषणा को जानता हुआ (**अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे**) अन्न और पान में गृद्ध (आसक्त) न होता हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करे।

भावार्थ

प्रशस्त लेश्यायुक्त तथा धर्म को जीवन में उतारा हुआ साधक भिक्षा के लिए गाँव या नगर में प्रवेश करके सर्वप्रथम एषणा और अनैषणा का विचार दिमाग में बिठाकर आहार-पानी में अनासक्त होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे।

व्याख्या

सुसाधु एषणा-अनैषणा का विचार करके शुद्ध भिक्षा ले

साधु-जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह एवं अस्तेयव्रत की दृष्टि से शुद्ध, दोषवर्जित भिक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। किन्तु साधु जिस दृष्टि से या जिन हिंसादि दोषों से बचने के लिए भिक्षाचरी करता है, अगर वह एषणीय-अनैषणीय, ग्राह्य-अग्राह्य, कल्पनीय-अकल्पनीय आदि का विचार न करे और जैसे-तैसे, जो भी माल मिल गया, पात्रों में भर ले, तो वह हिंसादि दोषों से बचने के बदले दोषों का भण्डार ही भर लाएगा। इसलिए शास्त्रकार एषणा-अनैषणा को जानने की सर्वप्रथम प्रेरणा देते हैं—'**से एसणं जाणमणेसणं च**'। साधु को गाँव में भिक्षा के लिए प्रवेश के समय गवेषणा और ग्रहणैषणा दोनों का विचार करना यहाँ अपेक्षित है। इसलिए खास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिदायत दे दी कि वह आहार पानी में गृद्धिरहित होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे। स्थविरकल्पी साधु १६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और १० एषणा के, यों ४२ दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करे, और जिनकल्पी साधु सात प्रकार की भिक्षा में से ५ प्रकार की भिक्षा का अभिग्रह और दो का ग्रहण करे।[1] वह इस प्रकार हैं—(१) **संसृष्टा** - जिस वस्तु के लेप से गृहस्थ के हाथ भरे हों, वही लेना, (२) **असंसृष्टा** - जिस वस्तु से हाथ को लेप न लगता हो, वह सूखी चीज लेना, जैसे सेके हुए चने आदि, (३) **उद्धृता** - गृहस्थ ने अपने खाने के लिए जो आहार बर्तन में ले रखा हो, वही लेना, (४) **अल्पलेपा** - जिस आहार में घी-तेल आदि का थोड़ा लेप हो, उसे लेना, (५) **उद्गृहीता** - परोसने के लिए जो आहार निकाला हो, उसे ही लेना, (६) **प्रगृहीता**- परोसने से बचा हुआ आहार ही लेना, (७) **उज्झितधर्मा**—फैंक देने योग्य आहार लेना। इनमें से पिछली दो प्रकार की भिक्षा जिनकल्पी साधु के लिए कल्पनीय है, शेष पाँच भिक्षाएँ अकल्पनीय। अथवा जो अभिग्रह है, उसके लिए वह एषणा है, शेष अनैषणा है। इस प्रकार एषणा-अनैषणा का विचार दिमाग में बिठाकर आहार आदि ग्रहण करे।

ऐसे सुसाधु के लिए यहाँ दो विशेषण प्रयुक्त हैं—**मुयच्चे, दिट्ठधम्मे**। मुयच्चे का मृदर्चः रूप होता है, जिसका अर्थ है—प्रशस्त लेश्यायुक्त, दूसरा रूप संस्कृत में मृतार्चः होता है, जिसका अर्थ होता है जिसका शरीर मृतक की तरह है, यानी वह शरीर पर से अपनी ममता इतनी हटा ले कि कोई उसे काटे, मारे तो भी मृतवत् रहे, या किसी प्रकार का स्नानादि संस्कार न करे, शरीर-निरपेक्ष रहे। दूसरा है दृष्टधर्मा, अर्थात् जिसने धर्म को अपने जीवन में उतार कर देख लिया है, अनुभव कर लिया है।

मूल पाठ

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहुजणे वा तह एगचारी।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

संस्कृत छाया

अरतिं रतिं चाभिभूय भिक्षुर्बहुजनो वा तथैकचारी ।
एकान्तमौनेन व्याकुर्वीयात्, एकस्य जन्तोर्गतिरागतिश्च ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**भिक्खू अरतिं रतिं च अभिभूय**) साधु संयम में अरुचि और असंयम में रुचि

---

१. सात प्रकार की भिक्षा—**संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह होति अप्पलेवा य ।**
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दबा या त्याग कर (**बहुजणे वा तह एगचारी**) बहुत लोगों के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, (**एगंतमोणेण वियागरेज्जा**) एकमात्र मौन - मुनिधर्म—संयम से अविरुद्ध - संगत हो, वही कहे। (**एगस्स जंतो गतिरागती य**) यह ध्यान रखे कि प्राणी अकेला ही परलोक में जाता है और अकेला ही आता है।

भावार्थ

मुनि असंयम में दिलचस्पी और संयम में अरुचि न दिखाए, वह अपने संघाटक या गच्छ में अनेक मुनियों के साथ रहता हो, या अकेला ही रहता हो, सिर्फ ऐसी ही बात कहे, जिससे मुनिधर्म में आँच न आए, तथा यह ध्यान रखे कि जीव अकेला ही परलोक में जाता है और अकेला ही आता है।

व्याख्या

साधु के लिए साधना के कुछ सूत्र

साधु कई बार अनेक परीषहों या उपसर्गों अथवा आफतों से घिर जाने पर कठोर संयमचर्या से ऊब जाता है और तपाक से कह बैठता है या मन ही मन सोचता है—'क्या ही अच्छा होता, मैं भी स्वच्छन्द विचरण करता। इस साधु-जीवन में तो इतनी पाबन्दी है कि कहीं स्वतंत्र जा-आ नहीं सकते, चलचित्र नहीं देख सकते, इन्द्रियों के विषयों को खुलेआम मनमाना सेवन करना क्या बुरा है?' इस प्रकार असंयम के तूफानी और संयम विध्वंसक विचार आ जाएँ, यानी अशुभ कर्मोदय से असंयम के प्रति रुचि जग उठे, प्रबल झुकाव होने लगे, और संयम के प्रति निष्ठा शिथिल होने लगे, अरुचि होने लगे, संयम को छोड़-छिटका देने की मन में हूक उठे, तो शास्त्रकार कहते हैं—'**अरतिं रतिं च अभिभूय**।' आशय यह है, कि पूर्वोक्त विपरीत विचार आने लगें तो साधु संसार के स्वभाव तथा नरक-तिर्यञ्चगतियों के दुःखों के सम्बन्ध में गहराई से सोचे कि इस प्रकार के विपरीत विचारों से घोर कर्मबन्धन होता है, इसी असंयम के फलस्वरूप ये संसारस्थ नाना जीव अनेक गतियों में गमनागमन करते हैं और अनेक घोर दुःख पाते हैं। क्या मैं भी साधु होकर, मोक्ष का यात्री होकर फिर असंयम में पड़कर संसार-यात्री बनूँगा? इस प्रकार चिन्तन करके वह असंयम में रति व संयम में अरति का झटपट त्याग कर दे। यदि पूर्वसंस्कारवश कभी असंयम में रुचि और संयम में अरुचि पैदा हो जाय तो उसे भी ज्ञानबल से दबा दे और निष्ठापूर्वक संयम का पालन करे।

मूल पाठ

सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं, खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइयारं वघाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥
कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ आयभावं ।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥
न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले य अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

संस्कृत छाया

स्वयं समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्वा, भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
ये गर्हिताः सनिदानप्रयोगाः, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ॥१९॥
केषांचित्तर्केणाऽबुद्ध्वा भावं क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्दधानः ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं, लब्धानुमानश्च परेष्वर्थान् ॥२०॥
कर्म च छन्दश्च विवेचयेद् धीरो, विनयेत्तु सर्वत आत्मभावम् ।
रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैर्विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्यः ॥२१॥
न पूजनं चैव श्लोककामी, प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात् ।
सर्वाननर्थान् परिवर्जयन्, अनाकुलश्चाकषायी भिक्षुः ॥२२॥

अन्वयार्थ

(**सयं समेच्चा**) अपने आप धर्म को जानकर (**अदुवावि सोच्चा**) अथवा दूसरे से सुनकर, (**पयाण हिययं धम्मं भासेज्जा**) प्रजाओं (जनता) के लिए हितकारक धर्म का भाषण करे । (**जे गरहियासणियाणप्पओगा**) जो कार्य निन्द्य है अथवा जो कार्य निदान (सांसारिक फलाकांक्षा) की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं (**सुधीरधम्मा ताणि ण सेवंति**) सुधीर वीतरागधर्म के अनुयायी ऐसे अकरणीय कार्यों का सेवन नहीं करते ॥१९॥

(**केसिंचि भावं तक्काइ अबुज्झ**) कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके भावों (अभिप्रायों) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाय तो वे (**असद्दहाणे खुद्दंपि गच्छेज्ज**) उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध) पर उतर आते हैं । (**आउस्स कालाइयारं वघाए**) तथा वह उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक आयु को भी आघात पहुँचाकर घटा सकता है, अर्थात् उसे मार भी सकता है । (**लद्धाणुमाणे परेसु अट्ठे**) इसलिए साधु अनुमान से दूसरों का अभिप्राय (भाव) जानकर फिर धर्म का उपदेश दे ॥२०॥

(**धीरे कम्मं च छंदं च विगिंच**) धीर साधक श्रोता के कर्म (आचरण) एवं अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जान ले, फिर (**सव्वओ आयभावं उ विणइज्ज**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रोताओं के मिथ्यात्व आदि को सर्वथा या सब तरह से दूर करे। (**भयावहेहिं रूवेहिं लुप्पंति**) तथा उन्हें यह समझाए कि सुन्दरियों आदि के रूप अत्यन्त भयावह (खतरनाक) हैं, इनके निमित्त से रूप में लुब्ध जीव नष्ट हो जाते हैं। (**विज्जं गहाय तसथावरेहिं**) इस प्रकार विद्वान् पुरुष श्रोताओं (दूसरों) का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावर जीवों का जिससे कल्याण हो, ऐसा धर्मोपदेश दे ॥२१॥

(**न पूयणं चेव सिलोयकामी**) साधु धर्मोपदेश से अपनी पूजा और स्तुति की वांछा न करे, (**पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा**) कोई सुने, न सुने या उपदेश पर अमल करे, न करे वह किसी के प्रति राग (प्रिय) या अप्रिय (द्वेष) न करे, या भला-बुरा न करे। (**सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते**) साधु इन समस्त अनर्थों (अहितकर बातों को छोड़ता हुआ, (**अणाउले अकसायी भिक्खू**) आकुलतारहित एवं कषायरहित होकर धर्मोपदेश दे ॥२२॥

भावार्थ

अपनी बुद्धि से स्वयं धर्म को जानकर अथवा दूसरे से सुनकर जनता के हित के लिए धर्म का उपदेश दे, तथा जो कार्य निन्दित हैं, अथवा जो कार्य सांसारिक फल भोगों की इच्छा से किये जाते हैं, सुघोर पुरुषों के धर्म से युक्त साधक उनका सेवन नहीं करते ॥१९॥

अपनी तर्क-वितर्कयुक्त बुद्धि से दूसरों का अभिप्राय न समझकर उपदेश देने से कदाचित् वे उस उपदेश पर अश्रद्धा उत्पन्न करके क्षुद्रता (क्रोधावेश) पर उतर आते हैं, तथा उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक आयु को चोट पहुँचाकर खत्म भी कर सकते हैं। इसलिए साधु अनुमान से दूसरों का अभिप्राय जानकर ही धर्मोपदेश दे ॥२०॥

धीरपुरुष श्रोताओं के कर्म (कार्य) और अभिप्राय जानकर ही धर्म का उपदेश दे। तथा उपदेश के द्वारा सुनने वालों के मिथ्यात्व आदि को सब तरह से दूर करे। उन्हें समझाए कि सुन्दरियों आदि का रूप भयानक (खतरनाक) है, उसमें लब्ध जीव अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। इस प्रकार विद्वान् पुरुष धर्मसभा में उपस्थित लोगों का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावरों के लिए हितकर उपदेश दे ॥२१॥

साधु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा (सत्कार) और स्तुति (प्रशंसा) की कामना न करे, तथा उपदेश सुनने, न सुनने या उपदेश पर अमल करने, न करने वाले से खुश या नाराज न होकर किसी का भला बुरा न करे, या किसी पर राग-द्वेष न करे। पूर्वोक्त सभी अनर्थों (अनिष्टों) को तिलांजलि देकर साधु आकुलता एवं कषाय से रहित होकर धर्मोपदेश दे ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

साधु धर्मोपदेश देने से पहले और पीछे क्या सोचे ?

१९वीं गाथा से लेकर २२वीं गाथा तक शास्त्रकार ने बताया है कि धर्मोपदेश देने वाले की योग्यता तथा धर्मोपदेश देने से पहले क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए ? धर्मोपदेश किस प्रयोजन से देना चाहिए, किस प्रयोजन से नहीं ? वास्तव में धर्मोपदेशक का काम बहुत बड़ी जिम्मेवारी का है, अगर धर्मोपदेशक जनता को शास्त्र-सिद्धान्तविपरीत, अहितकर, कामोत्तेजक, क्रोधोत्तेजक, या अभिमानवर्द्धक अथवा सावद्य प्रवृत्तिप्रेरक उपदेश दे बैठता है तो उसका नतीजा बहुत बुरा आता है। श्रोताओं में कई बार धर्मोपदेशक के द्वारा उत्तेजना फैला दी जाती है अथवा उसके उपदेश से क्रोध का उफान श्रोताओं में आ जाता है, वे आपस में लड़ने-भिड़ने और तू-तू-मैं-मैं करने पर उतारू हो जाते हैं, कई दफा अगर उपदेशक श्रोताओं के चेहरों पर से या उनकी चेष्टाओं पर से उनके मनोभावों को नहीं पढ़ता है, और ऊटपटाँग बोल देता है, तो अश्रद्धालु व्यक्ति के मन में उसकी भयंकर प्रतिक्रिया होती है, वह वक्ता पर सहसा हमला भी कर बैठता है, कई बार उसकी जान लेने पर उतारू हो जाता है।

इसलिए धर्मोपदेशक का उत्तरदायित्व है कि वह जिस धर्म का उपदेश जनता को देना चाहता है, वह उपदेश उस देश-काल के अनुकूल है या नहीं ? उस उपदेश को पचाने या जीवन में उतारने की उपस्थित श्रोताओं में पात्रता या शक्ति है या नहीं ? इन सब बातों पर भलीभाँति विचार करके वह जनता अथवा प्राणियों के लिए कल्याणकर श्रुतचारित्ररूप धर्म का उपदेश दे। धर्मोपदेशक को दूसरे के उपदेश के बिना ही स्वयं समझकर अर्थात् संसार चार गति वाला है, मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच कर्म-बन्ध के और परम्परा से संसार के कारण हैं, मोक्ष समस्त कर्मक्षयरूप है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये रत्नत्रय मोक्ष के कारण हैं—ये और ऐसी बातों को अपने आप जानकर या अन्य आचार्य आदि से सुनकर साधु भव्य जीवों को श्रुतचारित्ररूप धर्म का उपदेश दे।

धर्मोपदेशक को दूसरों को उपदेश देने से पहले स्वयं अपने जीवन में जो निन्दित, गर्हित, सावद्य और दोषयुक्त बातें हों, उन्हें निकाल देना चाहिए। जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, तथा हिंसा, झूठ, चोरी, आदि पाप तथा कुव्यसन आदि बातें निन्द्य हैं। इन निन्दनीय बातों का त्याग तथा धर्मकथा आदि प्रवृत्तियाँ, निदान यानी पूजा, सत्कार-प्रतिष्ठा या अन्य सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की आशा से नहीं करनी चाहिए। इन निन्द्य या अकरणीय बातों का त्याग करने पर ही श्रोताओं पर उसके धर्मोपदेश का प्रभाव पड़ सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ ही धर्मोपदेशक को पूर्वोक्त बातों की सावधानी रखकर ही अपना उपदेश शुरू करना चाहिए, अन्यथा लेने के बदले देने पड़ सकते हैं। शास्त्रकार ने निम्नोक्त ६ बातों की सावधानी की ओर धर्मोपदेशक का ध्यान खींचा है—

(१) तर्कयुक्त बुद्धि द्वारा श्रोताओं के मनोभावों को पहले जान ले, (२) अनुमान से दूसरों का अभिप्राय जानकर धर्मोपदेश शुरू करे, (३) वह श्रोताओं के कर्मों (कारनामों, लघुकर्मी या गुरुकर्मी अथवा उनके कार्यों) तथा अभिप्रायों को भलीभाँति जान ले, (४) वह पहले श्रोताओं को ऐसा उपदेश दे, जिससे कि उनका मिथ्यात्व सर्वथा दूर हो, (५) सुन्दरियों के रूप में आसक्त होना, अपने भयंकर विनाश को न्यौता देना है इस बात को श्रोताओं के दिमाग में ठसाकर उनकी रूपादि विषयों के प्रति आसक्ति हटाए, (६) जिससे त्रसस्थावर जीवों का कल्याण हो, ऐसा धर्मोपदेश दे, (७) पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशंसा एवं नामना-कामना आदि प्राप्त करने की दृष्टि से धर्मोपदेश न दे। (८) कोई सुने या न सुने, आचरण करे या न करे धर्मोपदेशक साधु को किसी पर राग-द्वेष रखकर किसी का भला-बुरा या प्रिय-अप्रिय नहीं करना चाहिए, (९) समस्त अनर्थों को छोड़कर साधु शान्त, अनाकुल एवं कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश करे।

कभी-कभी ऐसा होता है कि मिथ्यादृष्टियों की अन्तःकरणवृत्ति दुष्ट होती है। मान लो, धर्मोपदेशक ने कुतीर्थिकों साधु-द्वेषियों को जाने-समझे बिना उनकी गलत मान्यताओं का जोर से खण्डन कर दिया, इस पर वह कुतीर्थिक तिलमिला उठेगा, उसके मन में उसकी भयंकर प्रतिक्रिया जागेगी, अश्रद्धावश वह उस साधु के प्रति क्रुद्ध होकर साधु पर प्रहार आदि अनिष्ट कर सकता है। जैसे पालक पुरोहित ने स्कन्दकाचार्य का अनिष्ट किया था। अतः धर्मोपदेशक को बहुत सोच-समझकर पुरुष-विशेष को जानकर धर्मोपदेश करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि कौन किस मत पंथ का अनुयायी है? किसे देव या गुरु मानता है? यह मताग्रही है या सरल है? बिना देखे-समझे उपदेश देने का क्या नतीजा आने की सम्भावना है? इस सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है। वस्त्र-पात्र आदि के लाभरूप पूजा की इच्छा तथा प्रशंसा की कामना तप, संयम, ज्ञान आदि में तो बाधक है ही, धर्मोपदेश करने में भी बाधक है। साधु इनसे निरपेक्ष रहे। सभी प्रकार के अनर्थों (जो कि यथातथ्य के विपरीत हैं) से साधक दूर रहे। श्रोता को प्रिय लगने वाली राजकथा, स्त्रीकथा, विकथा, छलितकथा अथवा सावद्य प्रवृत्तिप्रेरक कथा है, तथा अप्रियकथा है—उस सम्प्रदाय, देव, गुरु की निन्दा। इन दोनों प्रकार की प्रिय-अप्रिय कथाओं से साधु दूर रहे। और सब बातें स्पष्ट हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।
णो जीवियं, णो मरणाभिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ॥२३॥

त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

याथातथ्यं समुत्प्रेक्षमाणः, सर्वेषु प्राणिषु निधाय दण्डम् ।
नो जीवितं, नो मरणाभिकांक्षी, परिव्रजेद् वलयाद् विमुक्तः ॥२३॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**आहत्तहीयं समुपेहमाणे**) साधु याथातथ्य (सत्य)—वास्तविक रूप से स्व-परसमय को भलीभाँति समझता हुआ, (**सव्वेहिं पाणेहिं दंडे णिहाय**) समस्त प्राणियों को दण्ड देना छोड़कर (**णो जीवियं, णो मरणाभिकंखी**) अपने जीवन-मरण की आकांक्षा न करके (**वलयाविमुक्के परिव्वएज्जा**) माया से विमुक्त होकर अपने संयम में प्रगति करे ।

भावार्थ

साधु याथातथ्य रूप से स्वपरसमय को या सत्य धर्म को भलीभाँति देखता हुआ, सब प्राणियों को दण्ड देना छोड़कर अपने जीवन-मरण से निरपेक्ष होकर माया से मुक्त होकर संयमाचरण में उद्यत रहे ।

व्याख्या

याथातथ्य (सत्य) धर्म का प्राणप्रण से पालन करे

अब शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए याथातथ्य (सत्य) धर्म या स्वपरसिद्धान्त को भलीभाँति जानकर सत्यधर्म पर मरणपर्यन्त डटे रहने की प्रेरणा देते हैं । साधु पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि वह स्वयं याथातथ्य दर्शनादि को समझे, लोगों को सही ज्ञानादि की प्रेरणा दे, तथा धर्म, मार्ग और समवसरण नामक पूर्वोक्त तीन अध्ययनों में उक्त तत्त्वों पर विचार करके अथवा सूत्रानुरूप सम्यक्त्व एवं चारित्र का विचार करके, उत्तम अनुष्ठान में संलग्न रहे । मरने-जीने की परवाह न करे । अपितु प्राण जाने पर भी धर्म का उल्लंघन न करे । साधु का कर्तव्य है कि वह असंयम के साथ या त्रसस्थावर प्राणियों का हनन करके चिरकाल तक जीने की इच्छा न करे और न परीषह-उपसर्ग आदि से पीड़ित होकर या रोग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोक, चिन्ता, आफत आदि से दुःखी होकर वेदना को न सह सकने के कारण आग में जलकर, जल में डूबकर या अन्य किसी प्रकार से आत्महत्या करके मरने की इच्छा न करे। अर्थात् जीवन-मृत्यु दोनों में सम रहे। मोह या माया से मुक्त होकर संयमानुष्ठान में डटा रहे। 'त्ति' शब्द समाप्ति सूचक है, 'बेमि' का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतांगसूत्र का तेरहवाँ याथातथ्य नामक अध्ययन अमर-सुख-बोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ याथातथ्य नामक तेरहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ : चौदहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

तेरहवें अध्ययन 'याथातथ्य' की व्याख्या की जा चुकी है। अब चौदहवें अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। तेरहवें अध्ययन में शुद्ध (यातातथ्य) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय का निरूपण किया गया है, किन्तु ज्ञानादि तभी शुद्ध और निर्मल रह सकते हैं, जबकि बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के ग्रन्थों (गाँठों) का त्याग किया जाय, और ग्रन्थसमूह का परित्याग भी ग्रन्थ को जानने से होता है, अतः इस अध्ययन में उस **'ग्रन्थ'** का स्वरूप बताकर उसका परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। इसीलिए इस अध्ययन का नाम **'ग्रन्थ'** रखा गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार ग्रन्थ का सामान्यतया अर्थ **'परिग्रह'** होता है। ग्रन्थ के दो प्रकार हैं—बाह्यग्रन्थ और आभ्यन्तर ग्रन्थ। बाह्यग्रन्थ के मुख्य १० प्रकार हैं—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) धन-धान्य, (४) ज्ञातिजन व मित्र या द्विपद-चतुष्पद, (५) वाहन, (६) शयन, (७) आसन, (८) दासी-दास, (९) स्वर्ण-रजत, (१०) विविध साधन-सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थों में मूर्च्छा रखना ही वास्तव में ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्यतया १४ प्रकार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) राग-मोह, (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) कामाचार (वेद), (९) असंयम में रुचि (रति), (१०) संयम में अरुचि (अरति), (११) विकारी हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा (घृणा)।

जो इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से रहित हैं, अर्थात्—जिन्हें इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से लगाव या आसक्ति नहीं है, तथा जो संयममार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचारांग आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, वे शिष्य कहलाते हैं। शिष्य दो प्रकार के होते हैं—दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। जो दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, उसे दीक्षाशिष्य कहते हैं, और जो आचारांग आदि सूत्रों की शिक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, उसे शिक्षाशिष्य कहते हैं। जो शिक्षा को ग्रहण करता हैं, उसे शैक्ष या शैक्षक कहते हैं। इस अध्ययन में शैक्षक तथा उसकी शिक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है। शिष्य की तरह आचार्य या गुरु के भी दो भेद हैं—एक दीक्षा देने वाला, दूसरा शिक्षा देने वाला, अर्थात् दीक्षागुरु और शिक्षागुरु।

शिक्षा लेने और तदनुसार आचरण करने की अपेक्षा, तथा मूलगुण-आसेवना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(आचरण) और उत्तरगुण-आसेवना के भेद से शिक्षा-शिष्य के भी दो अथवा अनेक भेद होते हैं, इसी प्रकार शिक्षागुरु के भी दो या अनेक भेद होते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि ग्रन्थत्यागी शिक्षाशिष्य (शैक्षक) और शिक्षागुरु कैसे होने चाहिए? उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए? उनके क्या-क्या दायित्व और कर्तव्य हैं? इन सब बातों के सम्बन्ध में संक्षेप में २७ गाथाओं द्वारा इस अध्ययन में निरूपण किया गया है।

अतः इस अध्ययन की क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥१॥

संस्कृत छाया

ग्रन्थं विहायेह शिक्षमाणः, उत्थाय सुब्रह्मचर्यं वसेत् ।
अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्, यश्छेको विप्रमादं न कुर्यात् ॥१॥

अन्वयार्थ

(इह) इस लोक में (**गंथं विहाय**) बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के ग्रन्थों (परिग्रहों) का त्याग करके (**सिक्खमाणो**) मोक्षमार्ग प्रतिपादक शास्त्रों का ग्रहण, अध्ययन और आसेवन (आचरण) रूप से गुरु से सीखता हुआ साधक (**उट्ठाय**) प्रव्रज्या लेकर (**सुबंभचेरं वसेज्जा**, उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करे, जीवन में बसा ले—रमा ले। (**ओवायकारी विणयं सुसिक्खे**) तथा आचार्य या गुरु के सान्निध्य में या उनकी आज्ञा में रहता हुआ शिष्य विनय का प्रशिक्षण (अभ्यास-तालीम) ले। (**जे छेय विप्पमायं न कुज्जा**) जो साधक संयम के अनुष्ठान में दक्ष है, वह संयम या मुनिधर्म के पालन में कदापि प्रमाद न करे।

भावार्थ

इस लोक में बाह्य-आभ्यन्तर समस्त ग्रन्थों (परिग्रहों) का त्याग करके ग्रहण एवं आसेवनरूप से शास्त्रों को सीखता हुआ शिक्षाशिष्य प्रव्रज्या लेकर उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा आचार्य या गुरु के चरणों में या आज्ञा में रहकर विनय का अभ्यास करे। संयम पालन करने में निष्णात साधक कभी प्रमाद न करे।

व्याख्या

ग्रन्थत्यागी शिष्य गुरु के सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण करे

इस अध्ययन की प्रथम गाथा में शास्त्रकार ने समस्तग्रन्थत्यागी शिष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य या गुरु के सान्निध्य में रहकर अध्ययन और आचरण दोनों तरह से शिक्षा लेनी अनिवार्य बताई है।

दीक्षा लेते ही, बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ-त्याग का संकल्प लेते ही, साधक के जीवन में महाव्रतों का अथवा ग्रन्थत्याग का पूर्णरूपेण आचरण नहीं हो जाता। उसके लिए सतत अभ्यास, प्रेरणा, वातावरण, शास्त्रों का अध्ययन, निर्ग्रन्थ गुरुओं का सान्निध्य और प्रशिक्षण की आवश्यकता है अन्यथा नवदीक्षित शिष्य के जीवन में संयम-साधना परिपक्व और सुदृढ़ नहीं होती। वह साधक कच्चा ही रह जाता है और कच्चा एवं अध-कचरा साधक जहाँ कहीं भी जाता है, वहाँ कई तरह की गलतियाँ कर बैठता है। वह किसी प्रश्न का या किसी बात का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता, किसी शंका का यथार्थ समाधान नहीं कर पाता, किसी के विवाद को निपटा नहीं सकता; परीषहों और उपसर्गों के आने पर उनसे घबरा कर या हार खाकर असंयममार्ग की ओर झुक जाता है या संयममार्ग को सर्वथा छोड़ बैठता है। किसी मिथ्यादृष्टि अन्य धर्म, सम्प्रदाय, पंथ या गुरु के बहकावे में आकर वह आचार में शिथिल हो जाता है, जीवन की सही पगडंडी से दूर भटक जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'गंथं विहाय इह सिक्खमाणो..... विप्पमायं न कुज्जा।''**

आशय यह है कि दीक्षा लेते समय समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थों का त्याग करे, क्योंकि ग्रन्थत्याग किये बिना साधक निर्ग्रन्थ नहीं बन सकता; बार-बार ये गाँठें उसके संयमी जीवन में बाधक बनेंगी।

जिस धन-धान्यादि बाह्य तथा कषायादि आभ्यन्तर परिग्रह के द्वारा आत्मा संसार के मायाजाल में गुँथ जाता है, उसे 'ग्रन्थ' कहते हैं।

हाँ तो, ग्रन्थ का त्याग करने के बाद दीक्षा लेकर साधु ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, नववाड सहित ब्रह्मचर्य, भिक्षाचर्या, ग्रन्थत्याग, हिंसादित्याग एवं साध्वाचार के नियमोपनियमों के पालन का अभ्यास गुरु-चरणों में रहकर करे। साथ ही गुरु की सेवा में रहकर वह साधक शास्त्रों का अध्ययन (ग्रहण-शिक्षा) और तदनुसार आचरण (आसेवन-शिक्षा) दोनों प्रकार की शिक्षाओं का भली-भाँति अभ्यास करे। गुरु से दोनों प्रकार का प्रशिक्षण ले। गुरुदेव के चरणों में रहने से साधु को वातावरण भी संयमपूर्ण मिलेगा, साधु मंडली अध्ययन, मनन, चिन्तन, ध्यान, विनय, यम-नियम पालन आदि करेगी, वह देखेगा तो उसके अन्तर् में भी वैसे ही संस्कार जमेंगे। शास्त्रों के अध्ययन से उसे वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होगा, **बीच-बीच** में आचरण के सम्बन्ध में उसे गुरुदेव द्वारा निर्देश-आदेश मिलते रहेंगे, **प्रेरणा** मिलती रहेगी, जहाँ कहीं भूल होगी, वहाँ तुरन्त उसे सुधारने का प्रयत्न होगा। इस प्रकार मुमुक्षु साधक गुरु की आज्ञा का पालन करेगा, उनकी सेवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेगा, ग्रहण एवं आसेवन दोनों प्रकार से विनय शिक्षा भी वह प्रशिक्षण लेगा, और गुरु के सान्निध्य में रहने से वह सब प्रकार से संयममार्ग की साधना में कभी प्रमाद नहीं करेगा, और सब प्रकार से परिपक्व हो जाएगा।

जैसे रुग्ण व्यक्ति वैद्य की हिदायत के अनुसार, उसकी देख-रेख में औषध-सेवन, पथ्यादि पालन करके शीघ्र ही रोग-मुक्त एवं स्वस्थ हो जाता है, वैसे ही साधु सावद्य-अनुष्ठानों, ग्रन्थों एवं प्रमाद का त्यागकर गुरु के सान्निध्य में रहकर गुरु के आदेश-निर्देश के अनुसार चलकर उनकी देख-रेख में संयमरूप औषध सेवन एवं विनयादि पथ्यपालन करके एक दिन विषय-कषायों के रोग से मुक्त हो जाता है, स्वस्थ—आत्मस्वस्थ हो जाता है।

मूल पाठ

जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥२॥
एवं तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा ।
दियस्स छायं व अपत्तजायं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥
ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिति गच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥४॥

संस्कृत छाया

यथा द्विजपोतमपत्रजातं, स्वावासकात् प्लवितुं मन्यमानम् ।
तमशक्नुवन्तं तरुणमपत्रजातं, ढंकादयोऽव्यक्तगमं हरेयुः ॥२॥
एवं तु शैक्षमप्यपुष्टधर्माणं, निःसारितं वश्यं मन्यमानाः ।
द्विजस्य शावमिवापत्रजातं, हरेयुः पापधर्माणोऽनेके ॥३॥
अवसानमिच्छेन्मनुजः समाधिमनुपिलो नान्तकर इति ज्ञात्वा ।
अवभासयन् द्रव्यस्य वृत्तं, न निष्कसेद् बहिराशुप्रज्ञः ॥४॥

अन्वयार्थ

(**जहा दियापोतमपत्तजातं**) जैसे कोई पक्षी का बच्चा पूरे पंख आए बिना (**सावासगा पविउं मन्नमाणं**) अपने आवास स्थान (घोंसले) से उड़कर अन्यत्र जाना चाहता हुआ (**अपत्तजातं तरुणं अचाइयं**) पंख के बिना वह तरुण पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है, (**ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा**) उन उड़ों में असमर्थ पक्षी के बच्चे को अस्पष्टरूप से (थोड़ा-थोड़ा) पंख फड़फड़ाते हुए देखकर ढंक आदि मांसाहारी पक्षी उसका हरण कर लेते हैं और मार डालते हैं ॥२॥

(**एवं तु**) इसी तरह (**अपुट्ठधम्मं**) जो साधक अभी श्रुतचारित्ररूप धर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्ट-परिपक्व नहीं है, उसे (**निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा**) अपने गच्छ से निकला या निकाला हुआ देखकर अपने वशीभूत-सा मानते हुए (**अणेगे पाइधम्मा**) अनेक पाषण्डी परतीर्थिक (**अपत्तजायं दियस्स छायं व**) पंख न लगे हुए पक्षी के बच्चे की तरह (**हरिसु णं**) उसका हरण कर लेते हैं ॥३॥

(**अणोसिए मणुए**) गुरुकुल में निवास न करने वाला साधक पुरुष (**णंतकरिंति णच्चा**) अपने कर्मों का नाश नहीं कर सकता है, यह जानकर (**ओसाणं समाहिं इच्छे**) अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल में निवास एवं समाधि अपेक्षित है। (**दवियस्स वित्तं ओभासमाणे**) मुक्तिगमन के योग्य पुरुष के आचरण को स्वीकार करता हुआ (**आसुपन्नो बहिया ण णिक्कसे**) प्रत्युत्पन्नमति साधु गच्छ से बाहर न निकले ॥४॥

भावार्थ

जिसके पंख अभी तक पूरी तरह से नहीं आए हैं, ऐसा पक्षी का बच्चा जैसे उड़कर अपने घोंसले से बाहर जाना चाहता है, किन्तु पंख पूरी तरह से लगे बिना उड़ नहीं सकता, फिर भी पंख फड़फड़ाने का प्रयास करते देखकर उसे मांसाहारी ढंक आदि पक्षी हरण कर लेते हैं और मार डालते हैं ॥२॥

इसी प्रकार धर्मसाधना में अपरिपक्व, अपुष्ट शैक्ष साधक को गच्छ से निकले या निकाले हुए अकेले विचरण करते देखकर पंख से विहीन पक्षी के बच्चे की तरह बहुत-से पाषण्डी परतीर्थिक बहकाकर उड़ा ले जाते हैं और धर्मभ्रष्ट कर देते हैं ॥३॥

जो अपरिपक्व साधक गुरुकुल में निवास नहीं करता, वह अपने कर्मों का नाश नहीं कर पाता, यह जानकर साधक गुरु के सान्निध्य में निवास करे और समाधि की इच्छा रखे। वह मुक्ति जाने के योग्य पुरुष के आचरण को स्वीकार करे और गच्छ से बाहर न निकले ॥४॥

व्याख्या

अपरिपक्व साधक के लिए गुरुकुल से बाहर खतरा है

दूसरी, तीसरी और चौथी गाथा में शास्त्रकार ने अपरिपक्व, कच्चे साधक को गुरुसान्निध्य से बाहर जाने से क्या-क्या खतरे पैदा होते हैं ? इसे पक्षी के बच्चे का दृष्टान्त देकर समझाया है। जैसे कोई पक्षी का बच्चा अभी उड़ने लायक नहीं हुआ है, फिर भी उसके मन में बार-बार हूक उठती है उड़ने की, मगर अभी तक उसके उड़ने लायक पंख नहीं आए हैं। फिर भी जोश में आकर घोंसले से बाहर निकल जाता है, और थोड़े-थोड़े पंख फड़फड़ाकर उड़ने का प्रयास करता है किन्तु उड़ नहीं सकता। ठीक इसी समय कुछ मांसाहारी पक्षी जो कि इसी ताक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठे रहते हैं, उस पक्षी के बच्चे के रंगढंग देखकर चट से उसे उठा ले जाते है और मार डालते हैं।

यही हालत गच्छ से बाहर निकलकर स्वच्छन्द विचरण करने वाले अपरिपक्व साधु की हो जाती है। अपरिपक्व साधक गीतार्थ नहीं होता, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को शीघ्र परख नहीं सकता, शास्त्रों के अर्थ करने एवं वस्तुतत्व को समझने अनिपुण होता है, धर्मतत्त्व को भली-भाँति जाना-समझा नहीं है, और गुरु-चरणों में चिरकाल तक रहकर उसने अध्ययन, प्रशिक्षण और आचरण किया नहीं है। न उसे संकटापन्न परिस्थितियों में से रास्ता निकालने, संयम की सुरक्षा करने का अनुभव प्राप्त है। नौसिखिया साधक है। जब वह थोड़ा-सा बोलने और भाषण करने में वाचाल हो जाता है, तो अपने आपको बहुत ज्ञानी समझकर गुरु से अलग विचरण करने लगता है। ऐसे में उस अपरिपक्व साधक को प्रायः पाषण्डी लोग, भोला-भाला या अपने सैद्धान्तिक ज्ञान में बुद्धू या धर्मतत्त्व में अनिपुण समझकर बहकाने लगते हैं—अरे साधकजी! तुम्हारे मत में तो आग जलाने, स्नान करने, विषहरण करने आदि का विधान ही नहीं है। यह तुम्हारा मत कैसा है? तुम्हारे मत में अणिमा आदि आठ सिद्धियों का भी वर्णन नहीं है और न तुम्हारे मत को राजा, सेठ, सेनापति आदि बहुत-से लोग मानते हैं। तुम्हारे मत में अहिंसा की इतनी बारीक और अव्यावहारिक व्याख्या है कि उसका पालन ही होना असम्भव है, जबकि यह सारा संसार जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। ये और इस प्रकार के ऐन्द्रजालिक के-से वचन सुनकर वह अपरिपक्व साधक झटपट उनके चक्कर में पड़ जाता है। उसके पश्चात् धीरे-धीरे वे लोग उससे सम्पर्क बढ़ाते जाते हैं, और जब देखते हैं कि 'अब चिड़िया जाल में बिलकुल फँस गई है', अब कहीं जा नहीं सकती, तब उस परिपक्व साधक से कहते हैं—'अब जब इतना परिवर्तन तुमने कर लिया है तो इतना-सा परिवर्तन और कर लो, यह वेष और क्रियाकाण्ड सब छोड़कर हमारे मत में आ जाओ। हम तुम्हें सब सुख-सुविधाएँ देंगे।' इस प्रकार उक्त साधक को वे कुतीर्थी जिनका हृदय मिथ्यात्व, कषाय आदि से मलिन है, बहकाकर धर्मभ्रष्ट कर देते हैं। अथवा उसके स्वजन या राजा आदि कोई सत्ताधीश या धनाढ्य उसे अकेले विचरण करते देखकर उसे घर ले जाने और वेष आदि छोड़ देने के लिए बहकाते हैं। परिजन मधुर और प्रलोभन भरे शब्दों में कहते हैं—"आयुष्मन्! तुम्हारे बिना हमारा पालन-पोषण कौन करेगा? तुम ही हमारे सर्वस्व हो। आधार हो। घर चलो। तुम्हारी इच्छा हो तो वहाँ रहकर तुम अपने क्रियाकाण्ड करते रहना। तुम्हारे लिए हम सब सुविधाएँ जुटा देंगे।" अथवा कोई राजादि शब्दादि विषयभोगों का आमंत्रण देकर उसे उत्तमधर्म से भ्रष्ट कर देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इस प्रकार धर्मतत्त्व में अनिपुण, अधकचरे साधक को कई लोग चकमे में डालकर उसके सर्वस्व संयमधन का अपहरण कर लेते हैं।

ये और इस प्रकार के बहुत से अनर्थों की सम्भावनाएँ अपरिपक्व साधक के गुरुकुल छोड़कर बाहर स्वतन्त्र विचरण करने में हैं, इसी दृष्टि से शास्त्रकार चौथी गाथा में गुरुकुलवास पर विशेष जोर देते हैं—**'ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं।'** अर्थात्—अगर साधक पुरुष समाधि—उत्तम धर्मध्यान या ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्त मोक्षमार्ग की साधना करना चाहता है तो जीवनपर्यन्त या जब तक अपरिपक्व है तब तक गुरु के सान्निध्य में, या गुरु के आदेश-निर्देश में रहे। गुरुचरणों में नहीं रहने वाला साधक कर्मों का अन्त नहीं कर सकता है। अथवा जो साधक गुरु के सान्निध्य में निवास नहीं करता और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है, वह प्रतिज्ञा किये हुए उत्तम अनुष्ठानरूप कार्य को पार नहीं लगता, यह जानकर सदा गुरुकुल में निवास करना श्रेयस्कर है। जो साधक गुरुकुल में निवास नहीं करता, उसका जो भी ज्ञान-विज्ञान है, वह उपहासास्पद होता है। कहा भी है—

न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥

गुरुकुल की उपासना नहीं किये हुए साधक का विज्ञान उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। जैसे गुरु के उपदेश के बिना अपने मन से मनमाना नाच करने वाले मोर का पिछला भाग बिलकुल नंगा हो जाता है। जैसे एक गुरु-उपासक वैद्य ने ऊँट के गले में अटके हुए तुम्बे को मुक्का मारकर उसे ठीक (स्वस्थ) कर दिया था, किन्तु एक राहचलते गँवार ने यह देखकर सोचा—मैं भी इसी प्रकार उपचार करके क्यों नहीं इस वैद्य की तरह मालामाल बन जाऊँ। चट से उसने एक दूकान ले ली, वहाँ वैद्यराज बनकर बैठ गया और यों ही चूर्ण-चटनी देने लगा। एक दिन एक बुढ़िया को लेकर कुछ लोग उस नकली वैद्य के पास आये। बुढ़िया के गले में गण्डमाल था। नकली वैद्यराज ने गुरु की उपासना से तो कुछ सीखा नहीं था। वे इसे उस ऊँट की तरह गला फूला हुआ समझे और बुढ़िया के गले पर जोर से मुक्का मारा। बेचारी बुढ़िया तो वहीं ढेर हो गई। बुढ़िया के सम्बन्धियों ने उस ऊँट-वैद्य को बहुत भला-बुरा कहा और रो-धो कर चल दिए। ऐसी ही दशा उन अधकचरे अपरिपक्व साधकों की होती है, जो गुरु-उपासना से वंचित होकर मनमाना विचरण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'ओभासमासे दवियस्स वित्तं'**। विद्वान साधक मुक्तिगमनयोग्य साधु के या रागद्वेषरहित सर्वज्ञ के अनुष्ठान को उत्तम आचरण द्वारा प्रकाशित करे। गुरुकुल में निवास करने से साधक में अनेक गुण स्वतः सहजभाव से आ जाते हैं, वह अपने अन्दर रहे हुए विषय-कषायों को स्वतः या गुरु के उपदेश से हटा लेता है। इसलिए बुद्धिमान साधक गच्छ से निकल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर बाहर न जाए। गुरुकुल में निवास करने वाले साधक को वहाँ किन गुणों की प्राप्ति होती है, यह अगली गाथा में शास्त्रकार कहते हैं—

मूल पाठ

जे ठाणओ य सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिते य पुढो वएज्जा ॥५॥

संस्कृत छाया

यः स्थानतश्च शयनासनाभ्यां च, पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्तः ।
समितिषु गुप्तिषु चागतप्रज्ञो, व्याकुर्वंश्च पृथक् वदेत् ॥५॥

अन्वयार्थ

(**ठाणओ सयणासणे य परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते**) गुरुकुल में निवास करने वाला साधक स्थान, आसन, शयन और पराक्रम के द्वारा उत्तम साधु के समान आचरण करता है। तथा (**समितिसु गुत्तीसु य आयपन्ने**) वह समितियों और गुप्तियों के विषय में अभ्यस्त होने से अत्यन्त प्रज्ञावान (अनुभवी) हो जाता है। (**वियागरिते य पुढो वएज्जा**) वह समिति और गुप्ति का यथार्थ स्वरूप पृथक-पृथक विश्लेषण करके दूसरों को भी बताता है।

भावार्थ

गुरुकुल में निवास करने वाला साधु स्थान, शयन, आसन और पराक्रम के सम्बन्ध में उत्तम साधु के समान आचरण करता है तथा वह समितियों और गुप्तियों के बारे में अभ्यस्त होने से अत्यन्त प्रवीण हो जाता है। वह दूसरों को भी समिति और गुप्ति का पृथक् विश्लेषण करके उपदेश देता है।

व्याख्या

गुरुकुल निवास से साधक को लाभ

गुरुकुल निवासी साधु को किन-किन गुणों की प्राप्ति होती है? यह इस गाथा में बताया गया है। 'जैसा संग वैसा रंग' इस कहावत के अनुसार साधक जब गुरुदेव के सान्निध्य में रहता है, तब गुरुदेव और उनके पास रहने वाले साधकों के उत्तमोत्तम गुणों का प्रभाव उक्त साधक पर पड़े बिना नहीं रहता। फिर रात-दिन जिन बातों का चिन्तन, मनन, श्रवण, आचरण और उपदेश होता है, उनके पवित्र संस्कार भी उसके मानस में सुदृढ़ होते जाते हैं। इस दृष्टि से गुरुसान्निध्य में रहने वाले साधक की स्थान (ठहरना), आसन (बैठना), शयन (सोना), गमन-आगमन, तप करना, कायोत्सर्ग करना, ध्यान, मौन, जप तथा संयम की विभिन्न क्रियाओं के विषय में पराक्रम करना आदि समस्त क्रियाएँ बहुत ही सावधानी से विवेक, वैराग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और त्याग के साथ पवित्र आध्यात्मिक भावनाओं से सनी हुई होती है। कायोत्सर्ग करते समय भी प्रमार्जन करके मेरुपर्वत के समान अडोल और शरीर से निरपेक्ष हो जाता है, शयन करते समय बिछौना, भूमि और अपने शरीर को भलीभाँति देखभाल कर, प्रमार्जन करके गुरु की आज्ञा लेकर शास्त्रोक्तकाल में सोता है, सोया हुआ भी वह सतर्क रहता है। जरा-सी आहट पाते ही जागृत हो जाता है। आसन आदि पर बैठा हुआ भी अपने शरीर को संकोच कर बैठता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि दैनिक क्रियाओं में सावधान और तत्पर रहता है। इसके अतिरिक्त गुरुकुलवासी साधु ईर्या समिति आदि प्रविचाररूप पाँच समितियों में तथा अप्रविचाररूप तीन गुप्तियों में विवेकवान होता है। वह कर्त्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित, विनय और उत्तरदायित्व के भान से युक्त होता है। निष्कर्ष यह है कि गुरु के सान्निध्य में रहने से उस साधक के जीवन का सर्वांगीण निर्माण हो जाता है। गुरुकृपा से वह समिति, गुप्ति आदि का स्वरूप जानकर तथा उनके अभ्यास से अनुभवी एवं माहिर होकर दूसरों को भी उनके यथार्थस्वरूप, उनके पालन एवं फल का उपदेश देता है।

मूल पाठ

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमायं कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छतिन्ने ॥६॥

संस्कृत छाया

शब्दान् श्रुत्वाऽथ भैरवान्, अनाश्रवस्तेषु परिव्रजेत् ।
निद्रां च भिक्षुर्न प्रमादं कुर्यात्, कथं कथं वा विचिकित्सातीर्णः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**सद्दाणि अदु भेरवाणि सोच्चा**) मधुर या भयंकर शब्दों को सुनकर (**तेसु अणासवे परिव्वएज्जा**) उनमें रागद्वेषरहित होकर साधु संयम में प्रगति करे, (**भिक्खू निद्दं पमायं न कुज्जा**) साधु निद्रा और प्रमाद न करे, (**कहंकहं वा वितिगिच्छतिन्ने**) किसी विषय में शंका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाए।

भावार्थ

ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयंकर शब्दों को सुनकर उनमें रागद्वेष न करे, वह अपने संयम में पराक्रम करे, तथा निद्रारूप प्रमाद न करे, और किसी विषय में शंका होने पर गुरु की कृपा से उससे पार हो जाय।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ मुनि पंचेन्द्रियविषयक ग्रन्थ को तोड़े

निर्ग्रन्थ मुनि के कानों से अच्छे या बुरे, कर्णप्रिय या कर्णकटु शब्द टकराए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना न रहेंगे, किन्तु वह उनमें राग-द्वेष न करे। यहाँ '**अणासवे**' शब्द है, उसका अर्थ है, वह उन पर आस्रव न करे। वस्तु को भले या बुरेरूप से ग्रहण करना आस्रव है। साधु आस्रवरहित हो जाय। वह उनमें मध्यस्थवृत्ति धारण करके संयम में पराक्रम करे। 'निद्रा' और 'प्रमाद' दो शब्द यह सूचित करते हैं कि साधु निद्रा-रूप प्रमाद न करे, साथ ही वह विकथा, कषाय, मद, विषय आदि अन्य प्रमादों से भी दूर रहे। किसी वस्तु या अपने द्वारा गृहीत महाव्रत-भार मे पार होने की शंका या कोई भ्रांति हो तो गुरु-सान्निध्य में रहने वाला साधु गुरु से समाधान प्राप्त करके उक्त शंका नदी से पार हो जाए। अथवा गुरुकुल में रहने वाला साधक समस्त शंकाओं से पार हो जाता है।

मूल पाठ

डहरेण वुड्ढेणऽणुसासए उ, राइणिएणावि समव्वएण ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से ॥७॥
विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं व समयाणुसिसट्ठे ॥८॥
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।
तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमायं कुज्जा ॥९॥
वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हियं पयाणं ।
तेणावि मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा समणुसासयंति ॥१०॥
अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

संस्कृत छाया

दहरेण वृद्धेनानुशासितस्तु, रत्नाधिकेनाऽपि समवयसा ।
सम्यक्तया स्थिरतो नाभिगच्छेन्नीयमानो वाप्यपारगः सः ॥७॥
व्युत्थितेन समयानुशिष्टो दहरेण वृद्धेन तु चोदितश्च ।
अत्युत्थितया घटदास्या वाऽगारिणां वा समयानुशिष्टः ॥८॥
न तेषु क्रुध्येन्न च प्रव्यथयेन्न चाऽपि किञ्चित् परुषं वदेत् ।
तथा करिष्यामीति प्रतिशृणुयात् श्रेयः खलु ममेदं न प्रमादं कुर्यात् ॥९॥
वने मूढस्य यथाऽमूढाः मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तेनाऽपि मह्यमिदमेव श्रेयः यन्मे वृद्धाः सम्यगनुशासति ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ तेन मूढेनामूढस्य, कर्त्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।
एतामुपमां तत्रोदाहृतवान् वीरः, अनुगम्यार्थमपनयति सम्यक् ॥११॥

अन्वयार्थ

(**इहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए**) किसी प्रकार का प्रमाद होने पर अपने से छोटे या बड़े साधु के द्वारा भूल सुधारने के लिए अनुशासित (शिक्षा दिया हुआ) (**राइणिएणावि समव्वएण**) अथवा अपने से प्रव्रज्या में ज्येष्ठ अथवा समवयस्क साधक द्वारा भूल सुधारने के लिए प्रेरित किया हुआ जो पुरुष (**सम्मं तयं थिरओ णाभिगच्छे**) अच्छी तरह स्थिरता के साथ स्वीकार नहीं करता है। (**णिज्जंत एवावि अपारए से**) वह संसार के प्रवाह में बह जाता है, वह उसे पार करने में समर्थ नहीं होता ॥७॥

(**विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठं**) शास्त्र विरुद्ध कार्य करने वाले गृहस्थ तथा परतीर्थी आदि के द्वारा अर्हद्दर्शन के आचार की शिक्षा दिया हुआ साधु (**इहरेण वुड्ढेण उ चोइए व**) तथा उम्र में छोटे या बड़े के द्वारा शुभ कार्य की ओर प्रेरित किया हुआ, (**अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा**) अत्यन्त नीचा (तुच्छ) काम करने वाली घटदासी के द्वारा भी धर्म-कार्य का उपदेश किया हुआ (**अगारिणं वा समयाणुसिट्ठं**) अथवा किसी के द्वारा यह कहा हुआ कि "यह कार्य तो गृहस्थ के योग्य भी नहीं है, फिर साधुओं की तो बात ही क्या है ?" साधु क्रोध न करे ॥८॥

(**तेसु ण कुज्झे**) पूर्वोक्त रूप से शिक्षा देने वालों पर साधु क्रोध न करे (**ण य पव्वहेज्जा**) तथा न उन्हें पीड़ित करे, (**णयावि किंचि फरुसं वएज्जा**) एवं उन्हें कटु-शब्द न कहे, (**तहा करिस्संति पडिसुणेज्जा**) किन्तु मैं आयंदा ऐसा ही करूँगा साधु ऐसी प्रतिज्ञा करे (**सेयं खु मेयं**) और वह यह समझे कि इसी में ही मेरा कल्याण है, (**ण पमायं कुज्जा**) इसलिए प्रमाद न करे ॥९॥

(**जहा अमूढा**) जैसे मार्ग जानने वाले पुरुष (**वणंसि मूढस्स**) जंगल में मार्ग भूले हुए पुरुष को (**पयाणं हियं मग्गाणुसासंति**) प्रजाओं के लिए हितकर मार्ग की शिक्षा देते हैं, (**तेणेव मज्झं एणमेव सेयं**) इसी तरह मेरे लिए भी यही कल्याणकारक उपदेश है, (**जं मे बुद्धा समणुसासंति**) कि ये वृद्ध या तत्त्वज्ञ पुरुष मुझे शिक्षा देते हैं ॥१०॥

(**अह तेण मूढेण**) इसके पश्चात् उस मूढ पुरुष को (**अमूढगस्स सविसेसजुत्ता पूया कायव्व**) अमूढ (विवेकी) पुरुष की विशेषरूप से पूजा करनी चाहिए। (**तत्थ वीरे एओवमं उदाहु**) इस विषय में वीरप्रभु ने यही उपमा बताई है। (**अत्थं अणुगम्म सम्मं उवणेति**) पदार्थ को समझकर प्रेरक के उपकार को सम्यक्रूप से हृदय में स्थापित कर लेता है ॥११॥

भावार्थ

प्रमादवश कदाचित् भूल होने पर अपने से छोटे या बड़े अथवा दीक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में बड़े या समवयस्क साधु के द्वारा भूल सुधारने के लिए प्रेरित (अनुशासित) किए जाने पर जो साधु उसे सम्यक् रूप से स्वीकार नहीं करता, बल्कि झुँझला उठता है। ऐसा साधक संसार के प्रवाह में बह जाता है, वह संसार को पार करने में समर्थ नहीं होता ॥७॥

शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाले गृहस्थ, परतीर्थी आदि के द्वारा अर्हद्-दर्शन के आचार की शिक्षा दिए जाने पर, तथा अवस्था में छोटे या बड़े व्यक्ति के द्वारा शुभकार्य में प्रेरित किए जाने पर अथवा अत्यन्त नीचा कर्म करने वाली घटदासी द्वारा भी धर्मकार्य की शिक्षा दिये जाने पर साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए ॥८॥

पूर्वोक्त प्रकार से शिक्षा दिए जाने पर साधु शिक्षा देने वालों पर गुस्सा न करे, उन्हें किसी प्रकार से तंग न करे, न उन्हें कठोर शब्द या अपशब्द कहे, अपितु उनके सामने ऐसी प्रतिज्ञा करे कि 'अब मैं ऐसा ही करूँगा।' बल्कि वह साधु यह समझे कि इसी में मेरा कल्याण है, इसलिए प्रमाद न करे ॥९॥

जैसे जंगल में मार्ग भूला हुआ व्यक्ति मार्ग के जानकार द्वारा सर्वजन कल्याणकारक मार्ग की शिक्षा पाकर प्रसन्न हो उठता है, ठीक इसी तरह उत्तममार्ग की शिक्षा देने वालों पर साधु प्रसन्न रहे, और यह समझे कि ये बुद्ध या वृद्ध लोग मुझे जो उपदेश देते हैं, वही मेरे लिए कल्याणकारक है ॥१०॥

जैसे मार्गभ्रष्ट पुरुष मार्ग बताने वाले की विशेष पूजा (आदर-सत्कार) करता है, इसी तरह सन्मार्ग की शिक्षा देने वाले का संयमपालन में भूल करने वाला साधु विशेषरूप से आदर-सत्कार करे और उसके उपदेश को हृदय में धारण करे, उसका उपकार माने, यही उपदेश तीर्थंकरों और गणधरों ने दिया है ॥११॥

व्याख्या

भूल बताने वाले का वचन शिरोधार्य करे

सातवीं गाथा से लेकर ग्यारहवीं गाथा तक शास्त्रकार ने यह बताया है कि साधु संयमपालन में प्रमादवश कोई गलती कर जाय और उसे कोई भी छोटा या बड़ा साधक या गृहस्थ या दासी तक सावधान करे तो उस समय वह उनके वचनों को ठुकराए नहीं, झुँझलाए नहीं, उन पर बरस न पड़े, बल्कि शान्ति से, नम्रता से अपनी गलती स्वीकार कर उनका उपकार माने और भविष्य में वैसी भूल न करने का उन्हें वचन दे। कितनी सुन्दर नीति है निर्ग्रन्थता की, पूर्वाग्रह—कदाग्रह की गाँठ से रहित होने की! वास्तव में जो साधक अपना सब घरबार, जमीन-जायदाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुटुम्ब-परिवार आदि का त्याग करके गुरु के चरणों में अपने आपको समर्पण कर देता है, तब उसे इतना अहंकारशून्य हो जाना चाहिए कि गुरु या गुरुदेव की शिष्य-मंडली में से कोई साधु-साध्वी या गृहस्थ भाई-बहन, अथवा घटदासी तक उसकी भूल सुझाए तो उसे नम्रतापूर्वक उनकी बातों को सुनना चाहिए, शान्त हृदय से, ठंडे दिमाग से उस पर सोचना चाहिए कि वास्तव में अगर मेरी यह भूल है तो मुझे अपनी भूल सुझाने वाले या मुझे स्वहितकारक कोई उपदेश या सुझाव-परामर्श या सम्मति देने वाले का बहुत उपकार मानना चाहिए कि उसने बिना किसी स्वार्थ या दुर्भाव से मुझे यह चेतावनी दी, गलत मार्ग पर जाते हुए मुझे सावधान किया। इसके विपरीत यह सोचकर उस व्यक्ति पर झल्ला नहीं उठना चाहिए, यों नहीं कहना या सोचना चाहिए कि "मैं उत्तम कुलोत्पन्न हूँ, उच्च चारित्रवान हूँ, मेरी इतनी प्रतिष्ठा है समाज में, सब लोग मेरा आदर करते हैं और यह तीन कौड़ी का आदमी या मेरे से छोटा (उम्र और दीक्षा में) साधु या यह मेरे से व्रत में बहुत हीन गृहस्थ बहन या भाई मुझे इस प्रकार शिक्षा दे रहा है ? हटो यहाँ से, मैं तुम सबको नहीं मानता, तुम मुझ से जलते हो, इसलिए मुझे इस प्रकार बदनाम करना चाहते हो। जाओ, जाओ, किसी और से कहना।" शास्त्रकार कहते हैं—"**सम्म सयं थिरतो णाभिगच्छे णिज्जंतए वाऽवि अपारए से**" आशय यह है कि गुरुकुलनिवासी होने पर ही साधु के जीवन का सर्वांगीण निर्माण हो सकता, क्योंकि वहाँ जरा-सी गलती होने पर कोई न कोई व्यक्ति उसे सावधान करेगा ही। किन्तु वहाँ अगर प्रमादवश संयम-पालन में कहीं भूल हो जाय और उम्र या दीक्षा में अथवा शास्त्रज्ञान में छोटा या बड़ा साधु उसे सावधान करे "आप जैसे योग्य, कुलीन और महान् साधु को ऐसी गलती नहीं करनी चाहिए,' अथवा समवयस्क सहपाठी साधु उसे कहते हैं—"भाई! आप जैसे विद्वान् और विवेकी साधु ऐसी भूल कैसे कर बैठे ? खैर, अब भी कोई बात नहीं, आप इस भूल को सुधार लीजिए।" इस प्रकार कहने वालों पर वह साधु क्रोध से भड़क न उठे, बल्कि शान्तिपूर्वक सुने और सहन करे। परन्तु जो इस प्रकार नहीं करके, उलटे गलती से सावधान करने वालों पर बरस पड़ता है, उन्हें भला-बुरा (पूर्वोक्त प्रकार से) कहने लगता है, अपने आपको संभालकर '**मिच्छामि दुक्कडं**' नहीं करता, या अपनी भूल स्वीकार नहीं करता, वह साधु अपनी आत्मशुद्धि के सबसे उत्तम अवसर को खो देता है, अपने जीवन-निर्माण के सुनहरे मौके को हाथ से गँवा देता है, अपने दिल-दिमाग के दरवाजे बन्द करके वह अपने सुधार का मार्ग बन्द कर देता है, भविष्य में किसी प्रकार की छोटी-या बड़ी गलती होने पर उन हितैषियों द्वारा स्वयं को सावधान किये जाने, प्रेरित किये जाने का मार्ग ही बन्द कर देता है, चेतावनी देने या भूल बताने वालों को अनुत्साहित करके। यह कितनी बड़ी हानि होगी, उसकी आत्मा के लिए। और फिर वह अपने अहंकार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वाग्रह और कदाग्रहवश जब भूल पर भूल करता जाएगा, और कोई उसकी भूल सुधारने या सुझाकर दुरुस्त कराने वाला नहीं मिलेगा तो भूलों का बहुत बड़ा जत्था इकट्ठा हो जाएगा। उसे भूलों का जत्था नहीं, अशुभकर्मों का जत्था समझना चाहिए। ऐसा व्यक्ति उन अशुभकर्मों के फलस्वरूप संसार के महाप्रवाह में बहता जाता है। वह आया था मुनिधर्म में दीक्षित होकर संसार-सागर से पार उतरने के लिए, इसके बदले वह संसारसागर में गोते खाता फिरता है। कितनी बड़ी हानि है यह! आगे शास्त्रकार उसके लिए कहते हैं कि उसे यह चाहिए था कि यह तो घर के (सहधर्मी) साधु और गृहस्थ ही मुझे सावधान कर रहे हैं, अगर परधर्मी, अन्यतीर्थिक साधु या गृहस्थ, चाहे वह उम्र में उससे छोटा हो या बड़ा हो, पद में उससे कितना ही नीचा हो, व्रतों में न्यून हो, यहाँ तक कि दासी के यहाँ काम करने वाली घटदासी भी क्यों न हो, अगर वह भी किसी शुभकार्य की ओर या धर्मकार्य की ओर प्रेरित करती है या कोई भी व्यक्ति किसी भी जाति, कुल, धर्म, सम्प्रदाय, देश और वेष का व्यक्ति उसे अपने आगमों का हवाला देकर उत्कृष्ट साधु धर्म की शिक्षा देता है, कोई सुझाव, परामर्श या प्रेरणा देता है, और यहाँ तक कह देता है कि "जो कार्य आप कर रहे हैं, यह कार्य तो गृहस्थ के करने योग्य भी नहीं है, अथवा आप इतने उतावले और असभ्य वचन बोल रहे हैं, या जल्दी-जल्दी चल रहे हैं, यह शास्त्रविहित नहीं है, अथवा आप जो हीन आचरण कर रहे हैं, वह आपके आगमों से विहित नहीं है, क्या आप इतना भी नहीं समझते कि यह आचार आपके लिए उचित नहीं है, ऐसा तो एक दासी भी नहीं कर सकती।" इतने अपमानपूर्वक और धिक्कारपूर्वक भी साधु को यदि कोई अच्छी बात सुझाता है, सुन्दर हितकारक उपदेश, या शिक्षा देता है तो साधु मन में जरा भी बुरा न माने, बल्कि अपने मूलगुणों या उत्तरगुणों में किसी प्रकार की हुई भूल को सुझाने के लिए उसका उपकार माने, गुस्सा तो बिलकुल न करे। और न कभी उन भूल सुझाने वालों के वचन पर आगबबूला होकर उनसे बदला लेने की कोशिश करे, उन्हें किसी प्रकार से व्यथित-पीड़ित न करे, उन पर मारण-मोहन-उच्चाटन आदि विद्याओं का प्रयोग करके उनका अहित न करे, न उन्हें कठोर शब्द या अपशब्द कहे। कदाचित् कोई व्यक्ति उक्त साधु के लिए कोई गलत बात भी कहता है तो वह यह सोचे कि गलत कहने वाले के प्रति क्रोध करना तो स्वयं गलती करना है और उसके बराबर गलत होना है। उस समय साधु यह विचार करे—

आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन?

अर्थात्—किसी के द्वारा की जाती हुई अपनी निन्दा या बदनामी को सुनकर बुद्धिमान् पुरुष सत्य तत्त्व के अन्वेषण में अपनी बुद्धि लगाए और यह समझे कि बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्ची है तो क्रोध क्यों करना चाहिए ? यदि बात झूठी है तो भी क्रोध की क्या आवश्यकता है ? क्रोध भी झूठ है एक प्रकार का। आत्मा का यह गुण नहीं है, इसलिए आत्मा की दृष्टि से यह असत्य है। इस प्रकार चिन्तन के प्रकाश में साधु दूसरे को भला-बुरा न कहकर या संतप्त न करके, स्वयं सोचे-समझे—'यह मेरे ही असत् अनुष्ठान का फल है, जिससे यह मुझे ऐसी प्रेरणा कर रहा है। बल्कि साधु अपनी गलती को ढूँढकर चेतावनी देने वालों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक मध्यस्थवृत्ति से यह संकल्प करे कि 'अब से मैं ऐसा ही करूँगा, या अब ऐसी गलती न होगी।' तथा अपने पूर्वाचरण के लिए '**मिच्छामि दुक्कडं**' कहे। पूर्वोक्त शिक्षा या प्रेरणा के सम्बन्ध में साधु यह सोचे कि—"इन्होंने जो मुझे सुझाव, परामर्श, चेतावनी, प्रेरणा या शिक्षा दी है, इसमें मेरा ही तो कल्याण है, क्योंकि इन्हीं लोगों की शिक्षा, प्रेरणा आदि की बदौलत अब कभी मुझसे ऐसा अनुचित कार्य न होगा।" इस प्रकार समझकर साधु कभी असत् आचरण न करे।

इसी बात को शास्त्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—एक घोर जंगल है। उसमें किसी यात्री को दिशाभ्रम हो गया, इस कारण वह रास्ते से भटक गया है, सही मार्ग का उसे पता नहीं पड़ रहा है, वह घबरा रहा है, भूख, प्यास, थकान आदि के कारण हैरान हो रहा है, ऐसी स्थिति में यदि कोई मार्ग का जानकार जो कि सही और गलत रास्तों को भलीभाँति जानता है, आकर कुमार्ग से छुड़ाकर जनता के लिए हितकारक तथा निर्विघ्न इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग बता देता है तो वह दिग्मूढ़ तथा मार्गभ्रष्ट यात्री उससे यथार्थमार्ग का ज्ञान पाकर अपना कल्याण मानता है, उस पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार भ्रान्त होकर असत्मार्ग में प्रवृत्त साधु को भी कोई उस असत्मार्ग से छुड़ाने के लिए सन्मार्ग का उपदेश, सुझाव या परामर्श देता है तो उस पर प्रसन्न होना चाहिए और यह समझना चाहिए, कि इसी में मेरा कल्याण है। इस हितैषी ने मुझ पर इतनी कृपा की है।

साथ ही उनके लिए यह सोचना चाहिए कि जैसे पिता अपने पुत्र को अच्छे मार्ग की शिक्षा देता है, इसी तरह ये वृद्ध लोग या प्रबुद्ध लोग मुझे सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा देते हैं, इसमें मेरी हानि क्या है, बल्कि मेरा अपना कल्याण ही है।

भगवान् महावीर और उनके अनुगामी गणधरों, आचार्यों आदि ने एक उपमा देकर इसे समझाया है कि जैसे मार्गभ्रष्ट पुरुष सही-सलामत पहुँचाने वाले, सन्मार्ग को बताने वाले किरात आदि का भी परम उपकार मानकर विशेषरूप से उसका आदर-सत्कार करता है, वैसे ही संयमपालन में भूल करने वाले मार्गभ्रष्ट साधु को सन्मार्ग की प्रेरणा देने वालों की सद्भावना को समझकर, उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, तथा उनका उपकार मानकर उनकी हितशिक्षा को शिरोधार्य करना चाहिए, उनका आदर करना चाहिए। इतना ही नहीं, उनके उपदेशात्मक या हितशिक्षात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचनों को हृदय में धारण करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि "इस महानुभाव ने गलत रास्ते पर जाते हुए मुझे रोककर, सही मार्ग बताया और जन्म-जरा-मरण आदि अनेक उपद्रवों से भरे हुए मिथ्यात्वरूपी गहन वन से पार किया। यह कितना महान् उपकारी पुरुष है? इस परम उपकारी का अभ्युत्थान, विनय, आदर-सत्कार, प्रतिष्ठा, प्रशंसा आदि द्वारा जितनी पूजा करूँ, उतनी ही थोड़ी है।" वास्तव में संयमपालन में गलती करने वाले साधु को उसकी गलती सुझाकर जो सन्मार्ग की शिक्षा देता है, वह उसका परमहितैषी बन्धु है।

मूल पाठ

णेया जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाइ अपस्समाणे।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि ॥१२॥
एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासइ चक्खुणेव ॥१३॥

संस्कृत छाया

नेता यथान्धकारायां रात्रौ मार्गं न जानात्यपश्यन्।
स सूर्यस्याभ्युद्गमेन, मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥१२॥
एवं तु शैक्षोऽप्यपुष्टधर्मा, धर्मं न जानात्यबुध्यामनः।
स कोविदो जिनवचनेन पश्चात् सूर्योदये पश्यति चक्षुषेव ॥१३॥

अन्वयार्थ

(**जहा णेया अंधकारंसि राओ**) जैसे मार्गदर्शक पुरुष अंधेरी रात में (**अपस्समाणे मग्गं न जाणाइ**) नहीं देखता हुआ मार्ग को जान नहीं पाता, (**से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं पगासियंसि**) परन्तु वही सूर्योदय होने पर चारों ओर प्रकाश फैलते ही (**मग्गं वियाणाई**) मार्ग को स्पष्ट जान लेता है ॥१२॥

(**एवं तु अपुट्ठधम्मे सेहेवि**) इसी प्रकार धर्मतत्त्व में अनिपुण—अपरिपक्व शिष्य भी (**अबुज्झमाणे धम्मं न जाणाइ**) सूत्र और अर्थ को नहीं समझता हुआ धर्म को भी नहीं जानता; (**से जिणवयणेण कोविए**) परन्तु वही अबोध शिष्य एक दिन जिनवचनों के अध्ययन—अनुशीलन से विद्वान् हो जाता है, (**पच्छा सूरोदये पासति चक्खुणेव**) फिर तो वह धर्म को इस प्रकार स्पष्ट जान लेता है, जैसे सूर्योदय होने पर आँख के द्वारा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थों को स्पष्ट जान-देख लेता है ॥१३॥

भावार्थ

जैसे मार्गदर्शक पुरुष अंधकारपूर्ण रात्रि में न दिखाई देने के कारण मार्ग को नहीं जान पाता है, परन्तु वही व्यक्ति सूर्योदय होने के पश्चात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश फैलते ही मार्ग को स्पष्टरूप से जान लेता है। इसी तरह सूत्र और अर्थ को न जानने वाला, धर्म में अनिपुण—अपरिपक्व साधक धर्म के स्वरूप को नहीं जान पाता, परन्तु जिन-वचनों के अध्ययन-अनुशीलन से वह धर्म-तत्त्व का विद्वान्—विशेषज्ञ बनकर इस प्रकार धर्म को स्पष्ट जान लेता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर व्यक्ति आँख के द्वारा घट-पट आदि पदार्थों को जान-देख लेता है ॥१२-१३॥

व्याख्या

धर्मतत्त्व में कब अनिपुण, कब निपुण ?

१२वीं और १३वीं गाथाओं में शास्त्रकार ने धर्मतत्त्व में अनिपुण, नवदीक्षित, अपरिपक्व साधक कब और कैसे निपुण हो जाता है ? इसे सूर्योदय का दृष्टान्त देकर समझाया है।

एक घोर जंगल है, एक व्यक्ति उसका चप्पा-चप्पा अच्छी तरह जानता है, उससे जंगल का कोई भी कोना अपरिचित नहीं है, वह कई बार इस जंगल में भटके हुए लोगों को रास्ता बताता है। किन्तु काले-कजरारे जल से भरे बादलों से ढकी हुई घोर अंधेरी रात्रि छाई हुई हो, जिसमें हाथ को भी हाथ न दिखता हो, क्या ऐसी घोर अंधेरी रात्रि में भी वह वनमार्गों से सुपरिचित व्यक्ति मार्ग जान-देख सकता है ? कदापि नहीं। किन्तु जब पौ फट जाती है, काले अंधेरे को चीरता हुआ सूर्य उदय हो जाता है, दिशाएँ स्पष्ट प्रकाशित हो जाती हैं और पत्थर, टीले, पहाड़, गुफा एवं उबड़-खाबड़ स्थान साफ-साफ नजर आने लगते हैं, तब उसी पुरुष को अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है, क्योंकि उस समय उसके नेत्रों की शक्ति प्रकट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जो नौसिखिया, अपरिपक्व साधक अभी सूत्रों के अर्थों और वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक जान नहीं पाया है, वह धर्मतत्त्व में अनिपुण है, अपुष्ट है, अपरिपक्व है, कच्चा है। किन्तु वही एक दिन का अपरिपक्व, नौसिखिया, अगीतार्थ, सूत्रार्थ से अबोध साधक (शिष्य) जब गुरु-चरणों में रहकर सर्वज्ञप्रणीत आगमों का गहन अध्ययन कर लेता है, तो उसकी आत्मा में सर्वज्ञ का ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है, और वह धर्म में निपुण होकर जीवादि पदार्थों को इसी प्रकार स्पष्ट जान देख लेता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर नेत्रों के द्वारा वह घट-पटादि पदार्थों को स्पष्ट जानता देखता है। तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्रिय और पदार्थों के संयोग से घट-पटादि पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं, इसी तरह सर्वज्ञप्रणीत आगमों के द्वारा भी सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त, और दूरवर्ती स्वर्ग, मोक्ष, देव, पुण्य-पाप आदि का फल इत्यादि पदार्थ साफ-साफ और निश्चित प्रतीत होते हैं। शास्त्रकार का आशय इस प्रकार दृष्टान्त देकर समझाने के पीछे यही प्रतीत होता है कि जो साधक बिलकुल अपरिपक्व, मन्दबुद्धि, बिलकुल अबोध और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धू होता है, वह गुरुकुल में रहने से गुरुकृपा से शास्त्रज्ञान में पारंगत होकर एक दिन धर्मादि तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञाता और विशेषज्ञ बन जाता है। उसके मन की शंका की सब गाँठें खुल जाती हैं।

मूल पाठ

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥१४॥

संस्कृत छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः।
सदा यतस्तेषु परिव्रजेत्, मनाक् प्रद्वेषमविकम्पमानः ॥१४॥

अन्वयार्थ

(**उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु**) ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में (**तसा य जे थावरा जे य पाणा**) जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, (**तेसु सया जए परिव्वएज्जा**) उनमें सदा यत्नपूर्वक (सावधानीपूर्वक) रहता हुआ संयम में प्रगति करे। (**मणप्पओसं अविकंपमाणे**) तथा उन पर जरा-सा भी द्वेष न करता हुआ संयम में निश्चल रहे।

भावार्थ

ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिरछी दिशाओं में जो भी त्रस या स्थावर जीव जहाँ हैं, उनकी हिंसा जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार का यत्न करता हुआ साधु संयम में पराक्रम करे, तथा उन प्राणियों पर लेशमात्र भी द्वेष न रखता हुआ अपने संयम में मजबूत रहे।

व्याख्या

निर्ग्रन्थ साधु समस्त प्राणियों की हिंसा आदि ग्रन्थों से मुक्त रहे

इस गाथा में शास्त्रकार गुरुकुलनिवास के कारण जिन-वचनज्ञाता एवं मूल-उत्तर-गुणों का विशेषज्ञ हो जाने वाले साधु को प्राणातिपात आदि समस्त मूलगुण बाधक ग्रन्थों से मुक्त रहने की प्रेरणा देते हैं।

सर्वप्रथम शास्त्रकार का संकेत है– दिशा-विदिशाओं में रहने वाले जीवों की हिंसा से निवृत्ति का। ऐसा कहकर क्षेत्र प्राणातिपात से विरत होने की प्रेरणा दी है। फिर त्रस और स्थावर (जिनके विषय में पहले परिचय दिया जा चुका है) प्राणियों का प्राणातिपात निषेध करके द्रव्य-प्राणातिपात निवृत्ति सूचित की है। ये सब जीव प्राणी इसलिए कहलाते हैं कि ये दश प्राणों को धारण करते हैं। इन समस्त प्राणियों की सदा-सर्वदा (सब काल में) यतनापूर्वक रक्षा करने का उपदेश देकर शास्त्रकार ने काल-प्राणातिपात से विरति द्योतित की है। इसके पश्चात् भाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणातिपात से विरत होने की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—त्रस या स्थावर प्राणी उपकार करें या अपकार, साधु को उन पर थोड़ा-सा भी मन में द्वेष नहीं रखना चाहिए, फिर उन्हें दुर्वचन कहने या डंडे आदि से उन पर प्रहार करने की तो बात ही दूर रही। कदाचित् वे अपना कोई अनिष्ट करें या हानि पहुँचाएँ तो भी उनके प्रति अमंगल की भावना मन में नहीं होनी चाहिए।

साधु को अपने प्रथम महाव्रत का ध्यान रखते हुए तथा प्राणातिपात को महान ग्रन्थ और पापकर्मबन्ध का महाकारण समझकर उससे प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक जीव के प्रति, प्रत्येक द्वेषादिभाव से बचने का प्रयत्न करना चाहिए और तीन करण तीन योग से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्राणातिपात से दूर रहकर अपने संयम पर अविचल रहना चाहिए। जैसे प्राणातिपात विरति का उपदेश है, वैसे अन्य असत्य आदि ग्रन्थों से भी विरति का उपदेश भी यहाँ समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु को ग्रहण-शिक्षा तथा आसेवना-शिक्षा से युक्त होकर समस्त महाव्रतों और उत्तरगुणों का भली-भाँति पालन करना चाहिए।

मूल पाठ

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥१५॥
अस्सि सुठिच्चा तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी ण भुज्ज एयंतु पमायसंगं ॥१६॥
निसम्म से भिक्खू समीहियट्ठं, पडिभाणवं होइ विसारए य ।
आयाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेइ मोक्खं ॥१७॥

संस्कृत छाया

कालेन पृच्छेत् समितं प्रजासु, आचक्षमाणो द्रव्यस्य वित्तम् ।
तच्छ्रोत्रकारी पृथक प्रवेशयेत्, संख्यायेमं कैवलिकं समाधिम् ॥१५॥
अस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी, एतेषु च शान्ति निरोधमाहु ।
त एवमाचक्षते त्रिलोकदर्शिनः न भूयो यन्तु प्रमादसंगम् ॥१६॥
निशम्य स भिक्षुः समीहितार्थं, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आदानार्थी व्यवदानमौनमुपेत्य शुद्धेनोपैति मोक्षम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

(**कालेण पयासु समियं पुच्छे**) साधु अवसर देखकर प्राणियों के विषय में [illegible] आचार्य से प्रश्न पूछे (**दवियस्स वित्तं आइक्खमाणो**) तथा मोक्षगमन [illegible] (द्रव्य) सर्वज्ञ वीतराग के आगम (ज्ञान-धन) को बताने वाले आचार्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजा-प्रतिष्ठा करे। (**तं सोयकारी पुढो पवेसे**) तथा आचार्य के उपदेश को, आचार्य की आज्ञा का पालन करने वाला शिष्य अपने अन्तःकरण में प्रविष्ट (स्थापित) करे। (**इमं केवलियं समाहिं संखा**) एवं इस (आगे कहे जाने वाले) केवली-प्रज्ञप्त सम्यक्-ज्ञानादिरूप समाधि को भली-भाँति जानकर चुपचाप हृदय में स्थापित करे ।।१५।।

(**अस्सि सुठिच्चा तिविहेण ताई**) गुरु ने जो उपदेश दिया है, उसमें सुस्थित होकर मन-वचन-काया से समस्त प्राणियों की रक्षा करे। (**एएसु वा संति निरोहमाहु**) समिति और गुप्ति के पालन से ही शान्ति और कर्मों का निरोध (आस्रव निरोधरूप संवर सर्वज्ञों ने बताया है। (**तिलोगदंसी ते एवमक्खंति**) वे त्रिलोकदर्शी पुरुष यह कहते हैं कि (**ण भुज्जमेयंतु पमाय संगं**) साधु को फिर कभी प्रमाद का संग नहीं करना चाहिए ।।१६।।

(**से भिक्खू**) गुरुकुल में निवास करने वाला वह साधु (**समीहियट्ठं निसम्म**) साधु के आचार को सुनकर या मोक्षरूपी इष्ट अर्थ को जानकर (**पडिभाणवं विसारए होइ**) प्रतिभावान् और अपने सिद्धान्त का वक्ता या निष्णात हो जाता है। (**आयाण अट्ठी**) मोक्ष या सम्यग्ज्ञान आदि से प्रयोजन रखने वाला वह साधु (**वोदाण मोणं उवेच्च**) तप और संयम को प्राप्त करके (**सुद्धेण मोक्खं उवेति**) शुद्ध आहार या शुद्ध आचरण के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है ।।१७।।

भावार्थ

गुरुकुल निवासी साधु प्रश्न करने योग्य अवसर देखकर सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे तथा सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के आगम या संयमाचरण का उपदेश देने वाले आचार्य का सम्मान करे। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता हुआ शिष्य आचार्य के द्वारा कहे हुए केवली-प्रज्ञप्त सम्यग्ज्ञानादिरूप समाधि को जानकर हृदय में धारण करे ।।१५।।

गुरु के उपदेश में सुस्थित हुआ साधु मन-वचन-काया से प्राणियों की रक्षा करे। इस प्रकार समिति और गुप्ति के पालन से ही सर्वज्ञों ने शान्ति-लाभ और कर्मों का निरोध (संवर) होना बताया है। वे त्रिलोकदर्शी पुरुष कहते हैं कि साधु फिर कभी प्रमाद का संग न करे ।।१६।।

गुरुकुल में निवास करने वाला साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर और इष्ट अर्थ – मोक्ष को जानकर बुद्धिमान और अपने सिद्धान्त का वक्ता हो जाता है। तथा मोक्ष या सम्यग्ज्ञान आदि से प्रयोजन रखता हुआ वह तप और संयम को प्राप्त करके शुद्ध आचार या शुद्ध आहार के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है ।।१७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

गुरुकुलवासी निर्ग्रंथ द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि

१५वीं गाथा से लेकर १७वीं गाथा तक गुरुकुल में निवास करने वाले साधु द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। गुरुकुल में रहने वाले साधु को विचार और आचार दोनों तरह का प्रशिक्षण लेना अनिवार्य है। इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में ग्रहण-शिक्षा और आसेवना-शिक्षा कहते हैं। वह शास्त्रीय अध्ययन भी करता है, वाचना लेता है, आचार-विचार के सम्बन्ध में शंका-समाधान करता है, पठित पाठ को बार-बार दोहराता है, उस पर चिन्तन-मनन और आत्मिक दृष्टि से अनुप्रेक्षण भी करता है, और दूसरों को उस सम्बन्ध में उपदेश भी देता है। यह सब ग्रहणशिक्षा के अन्तर्गत है। और आसेवना-शिक्षा में ग्रहण की हुई विचार-आचार सम्बन्धी बातों को जीवन में उतारना है, पारिपार्श्विक वातावरण से प्रभावित एवं उत्साहित होकर तप-संयम में वृद्धि करता है, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, हृदय इन सब पर नियन्त्रण करने की, कषायों और विषयों पर विजय पाने की साधना गुरु के निर्देशन में करता है। ध्यान, मौन, यौगिक साधना, तप, जप, स्वाध्याय आदि गुरु के निर्देशन में करता है, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, नियमोपनियम आदि मूल-उत्तरगुणों की साधना भी सावधानी से करता है, कहीं भूल होने पर प्रतिक्रमण, आलोचना, आत्मनिन्दा, गर्हा और प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि भी करता है। यह सारा कोर्स, जिसमें कुछ थ्योरिटिकल और कुछ प्रेक्टिकल दोनों ही प्रकार का होता है, गुरुसान्निध्य में चलता है।

इसी के सन्दर्भ में शास्त्रकार कहते हैं – गुरुकुलवासी शिष्य प्रश्न करने योग्य काल तथा गुरुदेव की मनःस्थिति, या अन्य परिस्थिति देखकर सम्यग्ज्ञानादि से परिपूर्ण गुरु से प्रजाओं– जन्मधारी १४ प्रकार के जीवों के सम्बन्ध में सविनय सभक्ति पूछे। पूछने के बाद योग्य समाधान पाकर या मोक्षगामी वीतराग सर्वज्ञों के द्वारा कथित आगम या ज्ञान-दर्शन-चारित्र, या मोक्ष अथवा संयमरूपी धन की शिक्षा प्राप्तकर आचार्यश्री का आदर-सत्कार एवं बहुमान करे। कैसे करे? इसके लिए कहते हैं—उनकी बातों को कानों से सावधानीपूर्वक श्रवण करे, उनके द्वारा बताये गए आचार-विचार सम्बन्धी उपदेश को मन-मस्तिष्क में स्थापित करे, हृदय में धारण करे, और उसे क्रियान्वित करने का भरसक प्रदान करे। और केवली तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा कथित मोक्षमार्गरूप या धर्मध्यानरूप उत्तम समाधि के उपदेश को सुनकर हृदय में पवित्रता एवं भक्ति के साथ स्थापित करके तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करे।

गुरुदेव से उसने जो समाधिरूप मोक्षमार्ग सुना है, उसमें भलीभाँति सुस्थित होकर उसे जीवन में रमा ले तथा मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदितरूप से उस समाधिमार्ग द्वारा आत्मा की सुरक्षा करे अथवा सदुपदेश देकर प्राणिमात्र की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षा करे। इस प्रकार जो साधक अपनी तथा दूसरे की रक्षा करता है, समिति-गुप्ति आदिरूप समाधिमार्ग में अच्छी तरह स्थित हो जाता है, उसके दिलदिमाग में या तन-मन-नयन में समाधिमार्ग अच्छी तरह रम जाता है, तब उसे शान्ति प्राप्त होती है, उसके तमाम द्वन्द्व छूट जाते हैं, सम्पूर्ण दुःखों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार की अनुभूतियुक्त बातें वे ही कह सकते हैं, जिनका इतना उत्कृष्ट अनुभव हो गया हो। इसके सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**'ते एवमक्खंति तिलोगदंसी।'** अर्थात् ऊँची, नीची, तिरछी सभी दिशाओं में स्थित पदार्थों को जो हस्तामलकवत् जानते-देखते हैं, वे त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ पुरुष पूर्वोक्त परमानन्द की अनुभूति साक्षी देते हैं। इसलिए शास्त्रकार शैक्ष-साधक से कहते हैं—अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, अब भविष्य में कभी प्रमाद का संग न करना, अन्यथा यह सुनहरा अवसर हाथ से चला जाएगा।

आगे शास्त्रकार कहते हैं—गुरुकुलवासी साधक मोक्षगमनयोग्य साधु के आचार-विचार को सुनकर तथा अपने इष्ट-अर्थ—मोक्ष पुरुषार्थ को हृदयंगम करके हेय-ज्ञेय-उपादेय को भली-भाँति जान करके गुरुकुल में रहने के कारण प्रतिभावान हो जाता है तथा वह साधु-सिद्धान्त एवं मोक्षमार्ग का इतना उच्चकोटि का ज्ञाता एवं वक्ता हो जाता है कि किसी भी पदार्थ के वस्तुस्वरूप को बताने में वह हिचकता नहीं। वह गुरुकुल में मोक्षार्थी पुरुष के द्वारा ग्रहण करने (आदान) योग्य सम्यग्ज्ञानादि से ही वास्ता रखता है, इसलिए वह बारह प्रकार के तप तथा आस्रवनिरोधरूप संवर-संयम की ग्रहण एवं आसेवना शिक्षा (प्रशिक्षण) पाकर इन दोनों में पर्याप्त अभ्यस्त हो जाता है। साथ ही वह उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध आहार या शुद्ध आचार से अपना जीवनयापन करता हुआ साधु समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कहीं-कहीं **'न उवेइ मारं'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है—ऐसा शुद्ध मार्गचारी साधु बार-बार मार-मृत्यु (जन्म-मरण) अथवा जिसमें प्राणिवर्ग स्वकर्मवश बार-बार मरते हैं, वह संसार प्राप्त नहीं करता। सम्यक्त्व को न त्यागने वाला साधक ७-८ भव तक ही जन्म-मरण प्राप्त करता है, उसके बाद नहीं।

मूल पाठ

संखाइ धम्मं च वियागरंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधियं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥
णो छायए णोऽवि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा ॥१९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं ।
ण किंचिमिच्छे मणुए पयासु, असाहुधम्माणि ण संवएज्जा ॥२०॥
हासं पि णो संधइ पावधम्मे, ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।
णो तुच्छए णो य विकत्थइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥२१॥
संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥२२॥
अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं ।
न कत्थइ भासं विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ॥२३॥
समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया समिया अट्ठदंसी ।
आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे, अभिसंधए पावविवेगं भिक्खू ॥२४॥
अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जइज्जया णाइवेलं वएज्जा ।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणइ भासिउं तं समाहिं ॥२५॥
अलूसए णो पच्छन्नभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययंति ॥२६॥
से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च धम्मं च जे विंदइ तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥२७॥

त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

संख्यया धर्मं व्याकृणन्ति, बुद्धा हि तेऽन्तकरा भवन्ति ।
ते पारगा द्वयोरपि मोचनाय, संशोधितं प्रश्नमुदाहरन्ति ॥१८॥
नो छादयेन्नार्जव च लूषयेत् मानं न सेवेत प्रकाशनं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यान्न चाप्याशीर्वादं व्याकृणीयात् ॥१९॥
भूताभिशंकया जुगुप्समानो, न निर्वहेन्मंत्रपदेन गोत्रम् ।
न किञ्चिदिच्छेन्मनुजः प्रजासु असाधु धर्मान्न संवदेत् ॥२०॥
हासमपि न संधयेत् पापधर्मान्, ओजस्तथ्यं परुषं विजानीयात् ।
न तुच्छो न च विकत्थयेदनाकुलो, वाऽकषायी भिक्षुः ॥२१॥
शंकेत चाऽशंकितभावो भिक्षुः, विभज्यवादं च व्याकृणीयात् ।
भाषाद्वयं धर्मसमुत्थितेर्व्याकृणीयात् समतया सुप्रज्ञः ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुगच्छन् वितथं विजानीयात्, तथा तथा साधुरकर्कशेन ।
न कथयेद् भाषां विहिंस्यान् निरुद्धकं वाऽपि न दीर्घयेत् ॥२३॥
समालपेत् प्रतिपूर्णभाषी, निशम्य सम्यगर्थदर्शी ।
आज्ञाशुद्धं वचनमभियुंजीत, अभिसन्धयेत् पापविवेकं भिक्षुः ॥२४॥
यथोक्तानि सुशिक्षेत यतेत नातिवेलं वदेत् ।
स दृष्टिमान् दृष्टि न लूषयेत् स जानाति भाषितुं तं समाधिम् ॥२५॥
अलूषको नो प्रच्छन्ननभाषी, नो सूत्रमर्थं च कुर्यात् त्रायी ।
शास्तृभक्त्याऽनुविचिन्त्यवादं, श्रुतं च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥२६॥
स शुद्धसूत्र उपधानवांश्च, धर्मञ्च यो विन्दति तत्र तत्र ।
आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तः सोऽर्हति भाषितुं तं समाधिम् ॥२७॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**धम्मं च संताइ वियागरंति**) गुरुकुलनिवासी साधु सद्बुद्धि से स्वयं श्रुत-चारित्ररूप धर्म को जानकर दूसरे को उपदेश करते हैं (**ते बुद्धा हु अंतकरा भवंति**) वे तीनों काल के ज्ञाता होकर समस्त संचित कर्मों का अन्त करने वाले होते हैं। (**दोण्ह वि मोयणाए ते पारगा**) वे यथार्थ धर्मोपदेष्टा साधक अपने और दूसरों को कर्मपाश से छुड़ाकर संसारसमुद्र के पारगामी हो जाते हैं। (**संसोधियं पण्हमुदाहरंति**) ऐसे साधु प्रश्न का उत्तर पूर्वापर अविरुद्ध (सम्यक् प्रकार से शोधित) देते हैं ॥१८॥

(**णो छादये**) साधु प्रश्नों का उत्तर देते समय शास्त्र के वास्तविक अर्थ को न छिपाए, (**णो वि य लूसएज्जा**) तथा अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की व्याख्या न करे ; अथवा अपने आचार्य या दूसरों को दूषित (बदनाम) न करे, (**माणं ण सेवज्जा**) तथा मैं ही शास्त्र का ज्ञाता हूँ, इस प्रकार से अभिमान न करे, (**पगासणं च**) और न ही मैं बड़ा विद्वान् हूँ, तपस्वी हूँ, चमत्कारी हूँ, इस प्रकार से अपने आपको प्रकाशित करे। (**पन्ने ण वावि परिहासं कुज्जा**) प्राज्ञ साधक श्रोता की हंसी न करे, (**ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा**) साधु किसी को आशीर्वाद न दे ॥१९॥

(**भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे**) साधु प्राणियों के विनाश की आशंका से, तथा पाप से घृणा करता हुआ किसी को आशीर्वाद न दे, (**मंतपदेण गोयं ण णिव्वहे**) तथा मंत्र आदि पदों द्वारा साधु अपने गोत्र—वाणी के संयम को निःसार न बनाए। (**मणुए पयासु ण किंचि मिच्छे**) मनस्वी साधक प्रजाओं—मनुष्यों, देवों आदि जीवों से किसी भी वस्तु की आकांक्षा न करे, (**असाहु धम्माणि न संवएज्जा**) एवं वह असाधुओं के धर्म का उपदेश न करे ॥२०॥

(**हासंपि णो संधइ**) भिक्षाजीवी साधु हँसी-मजाक न करे, या ठहाके मार-कर न हँसे अथवा विदूषक की तरह कोई शरीरादि की चेष्टा न करे, जिससे लोगों को हँसी छूटे, (**पावधम्मे**) मन-वचन-काया से कोई भी पापमय प्रवृत्ति न करे, (**ओए**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तहीए फरुसे दियाणे) राग-द्वेषरहित साधु जो कठोर सत्यवचन दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला हो, उसे भी न कहे (**अणाविले वा अकसाइ भिक्खू**) तथा साधु सदा लोभादि एवं कषायों से रहित होकर रहे ॥२१॥

(**असंकित भाव भिक्खू**) सूत्र और अर्थ के विषय में शंकारहित होने पर भी साधु (**संकेज्ज**) मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, इसलिए कहीं भूल न कर बैठूँ, इस प्रकार सदा सशंक रहे, निःशंक होकर जो मन में आए, वह बेधड़क होकर न बोले, (**विभज्जवायं च वियागरेज्जा**) तथा विभज्यवाद — सापेक्षवाद-स्याद्वाद युक्त वचन बोले। (**धम्मसमुट्ठितेहिं भासादुयं**) सम्यक्रूप में धर्माचरण में उत्थित —उद्यत साधुओं के साथ विचरण करता हुआ साधु सत्यभाषा तथा सत्यामृषा भाषा (जो असत्य नहीं तथा मिथ्या नहीं है), ऐसी दो भाषाएँ बोले। (**समया सुपन्ने वियागरेज्जा**) उत्तम बुद्धि-सम्पन्न साधु धनवान हो या दरिद्र दोनों को समभाव से धर्म का उपदेश दे ॥२२॥

(**अणुगच्छमाणे**) पूर्वोक्त दो भाषाओं के माध्यम से प्रवचन करते हुए साधु के कथन को कोई-कोई ठीक समझ लेते हैं, (**वितहं विजाणे**) और कोई मंदबुद्धि विपरीत या मिथ्या समझते हैं, (**तहा तहा साहु अकक्कसेणं**) जो विपरीत समझते हैं, उन्हें साधु कोमल (अकर्कश) शब्दों में हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा जैसे-तैसे समझाने की चेष्टा करे। (**ण कत्थइ**) जो यथार्थ नहीं समझता है, उसे भ्रूभंग आदि अनादर सूचक चेष्टाओं से कहकर उसके मन को दुःखित न करे, (**भासं विहिंसइज्जा**) साधु प्रश्न करने वाले पर खीझकर या उसकी भाषा की निन्दा करके उसे व्यथित न करे, (**निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा**) छोटी-सी बात को शब्दाडम्बर करके लंबी-चौड़ी न करे ॥२३॥

(**पडिपुन्नभासी समालवेज्जा**) जो बात संक्षेप में न समझाई जा सके, उसे साधु विस्तृत रूप से कहकर समझाए। (**निसामिया समिया अट्ठदंसी**)) गुरु से सुन कर अच्छी तरह पदार्थ (बात) को जानने वाला साधु (**आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे**) वीतराग-आज्ञा (तीर्थंकरभाषित शास्त्र के विधान) शुद्ध अनुकूल वचनों का प्रयोग करे। (**भिक्खू पावविवेकं अभिसंधए**) साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोष वाक्यों का प्रयोग करे ॥२४॥

(**अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा**) सर्वज्ञ अर्हत्प्रतिपादित शास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन करे, गुरु से शास्त्रों की सुशिक्षा ले, (**जइज्जया**) और सदैव उसमें प्रयत्न करे। (**णाइवेलं वएज्जा**) मर्यादा का उल्लंघन करके अधिक न बोले। (**से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा**) वह सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक अपने सम्यग्दर्शन को दूषित न करे, (**से तं समाधिं भासिउं जाणइ**) ऐसा साधक सर्वज्ञोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप भाव समाधि को कहना जानता है ॥२५॥

(**अलूसए**) साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे, (**णो पच्छन्नभासी**) तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह सिद्धान्त को न छिपाए। (**ताई सुत्तमत्थं च णो करेज्ज**) प्राणिमात्र का त्राता-रक्षक सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे। (**सत्थारभत्ती अणुवीइ वाय**) साधु शिक्षा देने वाले (शास्ता) गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ सोच-विचारकर कोई बात कहे। (**सुयं च सम्मं पडिवायय॑ति**) तथा गुरु से जैसा सुना है, सूत्र का वैसा ही अर्थ या व्याख्या दूसरों के सामने करे ॥ २६॥

(**से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च**) जो साधु यथार्थ रूप से आगमों का अध्ययन कर शुद्ध रूप से प्रतिपादन करता है, (**जे तत्थ तत्थ धम्मं विदइ**) जो साधु उत्सर्ग की जगह उत्सर्गरूप धर्म को एवं अपवाद की जगह अपवादरूप धर्म को अंगीकार करता है, (**से आदेज्जवक्के**) वही साधक ग्राह्यवचन (जिसका वचन लोग ग्रहण कर लें) होता है, अर्थात् उसी की बात मान्य होती है। (**कुसले वियत्ते**) तथा वही शास्त्र के अर्थ (व्याख्या) करने में कुशल तथा बिना विचारे कार्य न करने वाला पुरुष (**तं समाहिं भासिउं अरिहइ**) उस सर्वज्ञोक्त समाधि का प्रतिपादन कर सकता है ॥२७॥

भावार्थ

गुरुकुल में निवास करने वाले साधक सुबुद्धि से धर्म को समझकर दूसरे को उसका उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे त्रिकालज्ञ होकर समस्त संचित कर्मों का अन्त कर देते हैं। वे यथार्थ धर्मोपदेशक साधक अपने और दूसरे को कर्मपाश से मुक्त कराकर संसार से पार हो जाते हैं। ऐसे साधु प्रश्न का सम्यक् प्रकार से संशोधित पूर्वापर अविरुद्ध उत्तर देते हैं ॥१८॥

प्रश्न का उत्तर देते समय साधु शास्त्र के वास्तविक अर्थ को न छिपाए, तथा अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्र की व्याख्या न करे एवं यह भी अभिमान न करे कि मैं बहुत बड़ा विद्वान् या शास्त्रज्ञ हूँ, मैं महान् तपस्वी हूँ, क्रियाकाण्डी हूँ, और न लोगों के समक्ष अपने गुणों को प्रकाशित करे। किसी कारणवश श्रोता यदि किसी बात को न समझे तो उसकी मजाक न उड़ाए तथा किसी व्यक्ति को साधु खुश होकर आशीर्वाद भी न दे ॥१९॥

पाप से नफरत करता हुआ साधु प्राणियों के विनाश की आशंका से किसी को आशीर्वाद न दे तथा मंत्रविद्या का प्रयोग करके अपने संयम को खोखला न बनाए एवं वह जनता से किसी वस्तु की (भेंट, चढ़ावे आदि के रूप में) इच्छा न करे तथा वह असाधुओं के धर्म की भी प्रेरणा न दे ॥२०॥

किसी की हँसी-मजाक या जिन चेष्टाओं से हँसी छूटती हो, ऐसी चेष्टाएँ साधु न करे, तथा वह हँसी-मजाक में भी पापमय प्रवृत्तियों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न कहे। रागद्वेषरहित साधु दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले कठोर वचन सत्य हों, तो भी न कहे। साधु पूजा-सत्कार आदि पाकर गर्व न करे, तथा अपनी प्रशंसा न करे। साधु सदा चित्त की शुद्धि से युक्त तथा लोभादि से मुक्त होकर रहे ॥२१॥

सूत्र और अर्थ के विषय में निःशंक होने पर भी सर्वज्ञ के वचन से कहीं विरुद्ध तो नहीं है, इस प्रकार शंकित-सा विनम्र होकर बोले तथा व्याख्यान आदि के समय स्याद्वादमय वचन बोले एवं धर्माचरण में समुत्थित—समुद्यत साधुओं के साथ रहता हुआ साधु सत्य-भाषा और सत्यामृषा (जो असत्य न हो, मिथ्या भी न हो) इन दो भाषाओं का प्रयोग करे। वह धनिक और निर्धन दोनों को समभाव से धर्म कहे ॥२२॥

पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेकर धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई बुद्धिशाली व्यक्ति तो यथार्थरूप में समझ लेते हैं, लेकिन कुछ भाई के लाल मंदबुद्धि होते हैं, जो उसका उलटा अर्थ लगाते हैं। अतः उन विपरीत समझने वालों को साधु हेतु, युक्ति, दृष्टान्त द्वारा मधुर शब्दों में समझाने का प्रयत्न करे। मगर उसे झिड़ककर या ठीक न समझने वाले का अनादर करके उसके दिल को चोट न पहुँचाए। साधु उस प्रश्नकर्ता की भाषा की मजाक न उड़ाए, उसे ताने या व्यंग्य न कसे। जो छोटी-सी बात है उसे शब्दाडम्बर करके बहुत विस्तार से न कहे ॥२३॥

जो बात थोड़े शब्दों में कहने से समझ में नहीं आती, उसे साधु विस्तार से कहकर समझाए तथा गुरुदेव से पदार्थ को अच्छी तरह समझकर वीतराग-आज्ञा (शास्त्र-वचन) से शुद्ध वचन बोले। साधु पाप का विवेक रखता हुआ निर्दोष, निरवद्य वचन बोले ॥२४॥

साधु तीर्थंकरों और गणधरों के द्वारा कथित-रचित आगमों की अच्छी तरह शिक्षा प्राप्त करे, और उसमें सतत पुरुषार्थ करे। मर्यादा का अतिक्रमण (भंग) करके साधु बहुत ज्यादा न बोले। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न साधु अपने सम्यक्त्व को दूषित न करे, जो साधु इस प्रकार उपदेश कर सकता है, वही सर्वज्ञोक्त भावसमाधि को जानता है ॥२५॥

साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे तथा सिद्धान्त को न छिपाए, और न ही प्राणिरक्षक साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा करे। शिक्षा देने वाले (शास्ता) गुरु की भक्ति का ध्यान रखते हुए सोच-विचारकर कोई बात कहे। तथा उसने गुरु से जिस प्रकार से जैसा अर्थ या व्याख्या सुनी है, तदनुसार वैसी ही सूत्र की व्याख्या करे ॥२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो साधु की सूत्र प्ररूपणा, व्याख्या एवं अध्ययन शुद्ध रूप से करता है, तथा जो शास्त्रोक्त तपश्चरण करता है, एवं जो उत्सर्ग की जगह उत्सर्ग-धर्म को और अपवाद की जगह अपवाद-धर्म को स्वीकार करता है, उसी साधु का वचन आदेय (ग्राह्य) होता है, तथा वही शास्त्र का अर्थ करने में कुशल तथा बिना विचार किये कार्य न करने वाला पुरुष उस सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है। यह मैं कहता हूँ ॥२७॥

व्याख्या

गुरुकुलवासी साधु द्वारा वाणी प्रयोग : कब और कैसा ?

अठारहवीं गाथा से लेकर सत्ताईसवीं गाथा तक शास्त्रकार ने गुरुकुलनिवासी निर्ग्रन्थ साधु के द्वारा होने वाले वचन-प्रयोग का स्पष्ट निर्देश किया है। गुरुदेव के सान्निध्य में निवास करने के कारण साधक धर्म में दृढ, बहुश्रुत, प्रतिभाशाली एवं पदार्थज्ञान में निपुण होकर इतना परिपक्व हो जाता है कि उसके जीवन का कोई भी कोना ऐसा नहीं रह जाता, जिसका सर्वांगपूर्ण निर्माण न हुआ हो। उसके मन, वचन और काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में गुरु की छाया रहती है, उसके हर व्यवहार में गुरु की प्रकृति प्रतिबिम्बित हो जाती है। शास्त्रकार ने पूर्वगाथाओं में उसके मन और तन से होने वाली कर्तव्यरूप प्रवृत्तियों का निरूपण कर दिया है। अब वे इन गाथाओं द्वारा ऐसे परिपक्व साधक के वचन-प्रयोग के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन दे रहे हैं। गुरुकुल में निवास करते-करते वे साधु उत्तम बुद्धि द्वारा संसार के प्रत्येक पदार्थ का श्रुतचारित्ररूप धर्मदृष्टि से यथार्थरूप समझ लेते हैं, तभी वे अपनी और दूसरे की शक्ति, रुचि, प्रकृति, योग्यता और क्षमता को जानकर अथवा सभा और प्रतिपादन योग्य बातों को भली-भाँति समझकर धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

यों धर्म की व्याख्या करते-करते उनका शास्त्रीयज्ञान इतना परिपक्व हो जाता है कि वे जीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध में त्रिकालज्ञ हो जाते है, ऐसी स्थिति में वे जन्म-जन्मान्तर में संचित कर्मों का आसानी से अन्त कर डालते हैं, इतना ही नहीं, वे दूसरों को भी कर्मपाश से मुक्त कराने में या संसारासक्ति रूपी बेड़ियों को काटने में समर्थ हो जाते हैं, अर्थात् संसार समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। ऐसे परम स्नातक साधु पुरुष अच्छी तरह से शोधित करके पूर्वापर विरुद्ध वचन नहीं बोलते हैं। वे अपनी बुद्धि से पहले यह सोच लेते हैं कि श्रोता कौन है या प्रश्नकर्ता कौन है। उसकी रुचि, योग्यता और क्षमता कितनी है ? पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति (Grasping power) कितनी है ? यह किस भूमिका का व्यक्ति है ? इन बातों का भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण करके वे धर्म का प्रतिपादन करते हैं, या प्रश्न का समुचित उत्तर देते हैं। जैसा कि एक विशेषज्ञ कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयरियसयासा व धारिएण अत्थेण झरियमुणिएणं ।
तो संघमज्झयारे ववहरिउं जे सुहं होंति ।।

अर्थात्—आचार्यश्री से भलीभाँति ग्रहण किये हुए पदार्थ को सुनिश्चित किया हुआ एवं याद रखने में निपुण विज्ञ साधक संघ में (संघ के समक्ष) सुखपूर्वक पदार्थ की व्याख्या कर सकता है ।

परन्तु ऐसा परमविज्ञ गुरु के सान्निध्य में रहकर अभ्यस्त साधक भी कुछ बातों में सावधान रहे, यह शास्त्रकार कहते हैं—(१) प्रश्न का उत्तरदाता साधु शास्त्र के अर्थ को न छिपाए, (२) अपसिद्धान्त का सहारा लेकर शास्त्र की व्याख्या न करे, (३) शास्त्रज्ञ आदि होने का अभिमान न करे, (४) अपने गुणों का भी प्रकाशन न करे, (५) कोई श्रोता न समझे तो उसकी मजाक न करे, (६) जो धर्मोपदेश को श्रद्धापूर्वक सुन ले, उसे आशीर्वाद प्रदान न करे ।

प्रश्न का उत्तरदाता साधु चाहे कुत्रिकापण की तरह तीनों लोकों के एकत्रित पदार्थसमूह की तरह सर्ववेत्ता हो, या रत्नमंजूषा के समान समस्त ज्ञेय पदार्थों का ज्ञानाश्रय हो, अथवा चौदह पूर्वधारियों में से एक हो तथा आचार्य से शिक्षा पाकर प्रतिभासम्पन्न एवं पदार्थज्ञान में पारंगत हो, ऐसा उत्कृष्ट साधक किसी कारणवश श्रोता पर कुपित हो जाय, अथवा श्रोता पर झुंझला उठे तो भी वह सूत्रार्थ को छिपाए नहीं, अर्थात् वह सूत्र की अन्य व्याख्या न करे, अथवा धर्मकथा करता हुआ साधु वस्तुतत्त्व को न छिपाए, अथवा वह अपने गुणों की उत्कृष्टता बताने की दृष्टि से दूसरों के गुणों को न छिपाए, दूसरों के गुणों को या शास्त्र के आशय को तोड़मरोड़ कर विकृत या दूषित न करे । अथवा आचार्य के नाम तथा उपकार को छिपाए नहीं, न उन्हें बदनाम करे । अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्र की विपरीत व्याख्या न करे । ऐसा गर्व भी न करे कि मैं समस्त शास्त्रों का वेत्ता हूँ, मेरे समान समस्त संशयों का निवारक कोई नहीं है । मेरे समान हेतु और युक्तियों द्वारा पदार्थ का व्याख्याता कोई नहीं है । इसी प्रकार वह अपने आपको तपस्वी, बहुश्रुत, महान् गुणी आदि के रूप में प्रकाशित न करे । क्योंकि इस प्रकार गर्व करने या स्वप्रशंसा करने से मनुष्य का पुण्यक्षय हो जाता है । इसलिए परिपक्व साधक को बहुत ही नम्र, अहंकारशून्य, एवं प्रशंसा, प्रसिद्धि, नामना, कामना से दूर रहना चाहिए । कोई श्रोता मंदबुद्धि के कारण न समझे तो उसकी मजाक न करे, ताने न मारे, न आक्षेप करे । इसी प्रकार खुश होकर 'जीते रहो, दीर्घायु, पुत्रवान या धनवान् हो', इत्यादि आशीर्वचन भी न कहे, क्योंकि कदाचित् आशीर्वचन से उलटा हो जाए तो साधु असत्यवादी ठहरेगा, लोकश्रद्धा समाप्त हो जाएगी । प्राणियों की विराधना की आशंका से आशीर्वाद देना पापयुक्त कर्म है, जिसका साधु के त्याग होता है । इसी प्रकार मंत्र-प्रयोग करके साधु वाणीसंयम को निःसार न बनाए । गोत्र के दो अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। गो—वाणी, त्र—रक्षा, जो वाणी की रक्षा (संयम) करता है, उसे गोत्र कहते हैं, वह है - मौन या वाक्संयम। मारण, मोहन, उच्चाटन तथा अन्य सावद्य-कार्यों के लिए मंत्र-प्रयोग जीवों की विराधना का कारण है, इसलिए संयम का घातक है अथवा प्राणियों के जीवन को गोत्र कहते हैं। उस जीवन को साधु शासक, राज-नेता आदि के साथ गुप्त-मन्त्रणा (मन्त्र) करके या गुप्त रूप से उपदेश देकर नष्ट न कराए। ऐसी मन्त्रणा प्राणघातक है; इसलिए सर्वथा वर्जित है। प्रजा कहते हैं प्राणियों को या जनता को। उनके बीच में बैठकर धर्मोपदेश देने वाला साधु उनसे लाभ, पूजा, सत्कार आदि की इच्छा न करे। तथा असाधुओं का जो पिण्डदान, तर्पण या श्राद्ध आदि धर्म है, उसका उपदेश साधु न करे। जिस उपदेश से सम्यक्त्व की हानि होती हो, व्रत दूषित होता हो, वैसे किसी भी लौकिक धर्म या सावद्य कर्म आदि का उपदेश साधु न दे। अथवा असाधुओं (यानी दुर्जनों) के गुण्डागर्दी, व्यभिचार, अत्याचार आदि कार्यों की सराहना न करे। साधु कुप्रावचनिकों की हँसी न उड़ाए, न आक्षेपकारक वचन कहे, न किसी के साथ कलह करा देने वाली हँसी-मजाक करे, न हास्योत्पादक वचन कहे या चेष्टा करे। हँसी में भी पापबन्ध के कारणरूप प्रवृत्ति की प्रेरणा न करे। साधु राग-द्वेषरहित होने से ओजस्वी होता है, अथवा बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थत्यागी साधु सत्य होने पर भी जो बात दूसरों के चित्त को दुःखित करने वाली हो, कर्कश हो या अनुष्ठान करने में कठोर-दुरनुपेय हो, उसे न कहे। अपने पूजा-सत्कार आदि के लाभ की डींग न हांके, न बढ़चढ़कर अपनी प्रशंसा करे। बहुत ही सावधानी के साथ वाणी-प्रयोग करे।

साधु धर्म की व्याख्या करते समय निःशंक हो, अर्थ के बारे में निश्चित हो, तो भी संभल-संभल कर शंकित-सा बोले, बेधड़क होकर या बिना विचारे अंट-संट न बोले, यह न सोचे कि मुझे इस विषय पर सोचने की क्या आवश्यकता है? मैंने पचासों दफा इस सूत्र की व्याख्या कर दी है, जो बात अत्यन्त स्पष्ट है, उसमें शंका को स्थान ही कहाँ? यह सोचकर उद्धततापूर्वक न बोले। यह सोचकर शंकित-सा होकर कि 'मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, कहीं भूल ही हो सकती है,' नम्रतापूर्वक शास्त्र व्याख्या करे अथवा साधु ऐसी बात न कहे, जिससे श्रोता को शंका उत्पन्न हो। वह पदार्थों का अलग-अलग विश्लेषण करके विभज्यवादपूर्वक अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से पृथक्-पृथक् अर्थ करके स्याद्वाद की दृष्टि से व्याख्या करे। अनेकान्तवाद लोक-व्यवहार से मिला-जुला होने के कारण सर्वव्यापी है, अनुभवसिद्ध है, उसमें साधु कहीं धोखा नहीं खा सकता। इसलिए उसी का आश्रय लेकर साधु बोले। जैसे द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जो पदार्थ नित्य है, वही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से जो वस्तु सत् है, वही परद्रव्यादि की अपेक्षा से असत् है। किसी के पूछने पर या न पूछने पर अथवा धर्मकथा के प्रसंग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु दो ही भाषाओं का प्रयोग करे—पहली सत्यभाषा और अन्तिम-असत्यामृषा (यानी जो सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं)। महान् धर्मधुरंधर साधुओं के साथ विचरण करने के कारण साधु के मन में यह विचार नहीं आना चाहिए कि मैं धनिकों या सत्ताधीशों का गुरु हूँ, इन्हीं को उपदेश दूँ, प्रत्युत समभावी साधु धनिक हो या दरिद्र, सबको समानभाव से धर्मोपदेश दे।

दो भाषाओं का आश्रय लेकर शास्त्र का अर्थ या व्याख्या समझाते हुए साधु को कई प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ता है, जो जिज्ञासु, श्रद्धालु एवं सूझ-बूझ वाले हैं, वे तो उसकी बात को यथार्थ रूप से समझ लेते हैं, किन्तु जो मूढ़ हैं, दुर्मति हैं, या मंदबुद्धि और अजिज्ञासु हैं, वे उसके तात्पर्य को ठीक रूप में समझ नहीं पाते, बल्कि कभी-कभी वे उसे विपरीत रूप में लेते हैं, उस समय विज्ञ साधु का कर्तव्य है कि वह उस विपरीत समझने वाले व्यक्ति को उचित हेतु, उदाहरण और सुयुक्तियों द्वारा समझाने का भरसक प्रयत्न करे। किन्तु इसके विपरीत साधु उस पर खीझकर—'तू मूर्ख है। तू क्या समझेगा ? तेरे बस की बात नहीं है। तेरी अक्ल तो कहीं दूसरी जगह चरने गई है ! धिक्कार है तुझे ! लाख समझाने पर भी तू न समझा, गंवार कहीं का ! भाग जा, यहाँ से, क्यों मेरा दिमाग चाटता है ? इत्यादि शब्द कहकर उसे झिड़के नहीं। यदि प्रश्नकर्ता की भाषा अशुद्ध हो, प्रश्न पूछने का ढंग ठीक न हो, तो भी साधु उसे डाँटे-फटकारे नहीं, उसकी अशुद्ध वाक्यावली की छीछालेदर न करे, न ही उसकी मखौल उड़ाए। उसका अपमान न करे। तथा जो बात संक्षेप में कही जा सकती है, उसे व्यर्थ ही शब्दाडम्बर करके लम्बी न करे, क्योंकि एक तो अधिक लंबी बात को सुनते-सुनते श्रोता उकता जाता है, दूसरे, लम्बी बात कहने में वक्ता और श्रोता दोनों का समय भी अधिक जाता है। व्यर्थ ही समय खोने से क्या फायदा ? जैसे कि एक अनुभवी साधक ने कहा है—

सो अत्थो वत्तव्वो जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं।
जो पुण थोवो बहु अक्खरेहिं सो होइ निस्सारो॥

अर्थात्—साधु को वही बात कहनी चाहिए, जो थोड़े शब्दों में कही जा सके। थोड़ी बात बहुत शब्दों में कही जाती है तो वह निःसार हो जाती है।

सूत्रशैली—संक्षिप्त शैली में ही साधु का वश चले तो अपनी बात कहनी चाहिए, जिसका अर्थ गम्भीर हो, महान् अर्थ हो। वही प्रशस्त शैली मानी जाती है।

परन्तु जो बात अत्यन्त कठिन और दुरूह हो, जिसे श्रोतागण थोड़े-से शब्दों में कहने से पूरी तरह समझ न पाते हों, उसे साधु उत्तम हेतु, युक्तियाँ, दृष्टान्त आदि देकर विस्तृत रूप में समझाए। किसी गहन बात को थोड़े से तथा क्लिष्ट शब्दों में समझाकर छुट्टी पा लेने में वक्ता की कृतार्थता नहीं है। श्रोता की योग्यता, रुचि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ग्रहणशक्ति देखकर वक्ता को तदनुसार संक्षेप या विस्तार में उस शब्द के स्पष्ट पृथक्-पृथक्, व पर्यायवाची शब्द बताकर उनका भावार्थ और तात्पर्य समझाकर श्रोता को सन्तुष्ट करना चाहिए। मूल बात तो अपने वक्तव्य या मन्तव्य को श्रोता के गले उतारने की है। अतः साधु श्रोता की भूमिका देखकर किसी गहन विषय को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत शैली अपनाए तो कोई हर्ज नहीं है।

गुरुकुलस्थ साधु आचार्य से पदार्थ को भली-भाँति सुन-समझकर उसका ठीक निश्चय करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप से जान लेता है। ऐसा सम्यगर्थदर्शी साधक सर्वज्ञप्रणीत आगम या सिद्धान्त से विरुद्ध या पूर्वापर विरुद्ध या असंगत वचन न बोले, अपितु सिद्धान्तसंगत शुद्ध वचन बोले। इस प्रकार का उच्चकोटि का धर्मोपदेश देकर तत्त्वदर्शी मुनि अपने भाषण के बदले किसी प्रकार के वस्त्रादि लाभ, सत्कार, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा या प्रशंसा की आकांक्षा न रखे, निःस्पृहभाव से निर्दोष भाषण करे।

साधु को सिद्धान्तानुरूप आगमानुकूल वचन या भाषण करने में सिद्धहस्त बनने के लिए पहले क्या करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जया जइज्जा।'** अर्थात् गुरुकुल में रहकर साधु तीर्थंकर और गणधर आदि ने जो वचन कहे हैं, जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिन आचार-विचारों का प्रतिपादन किया है; उनका जमकर अध्ययन करे, सीखे, तदनुसार आचरण में लाए, उन आचार-विचारों का भली-भाँति अहर्निश अभ्यास करे, अर्थात् ग्रहण-शिक्षा के द्वारा सर्वज्ञोक्त आगमवाणी को अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना-शिक्षा के द्वारा उद्युक्तविहारी होकर उसका सेवन करे। दूसरे लोगों के सामने भी वह उसी तरह प्रतिपादन करने का प्रयत्न करे। यद्यपि साधु ग्रहण-शिक्षा, आसेवना शिक्षा या देशना में प्रयत्न करे, किन्तु जो जिस कर्तव्य का काल है, अध्ययन काल है या भिक्षाकाल आदि है, उसका उल्लंघन करके देशना आदि देने के लिए न बोले। अथवा साधु अध्ययन, उपदेश, भाषण या अन्य कर्तव्यों की मर्यादा का उल्लंघन न करे। साधु यथाप्रसंग एक के बाद दूसरी सभी क्रियाएँ यथासमय करे, किसी भी क्रिया में बाधा न डाले। जो साधु कालानुसार आचरण करता है, वह दृष्टिमान पदार्थ के यथार्थ स्वरूप में श्रद्धा रखने वाला है, वह साधु किसी भय या प्रलोभन के वश होकर अपनी सम्यग्दृष्टि को दूषित न करे। आशय यह है कि साधु श्रोता की योग्यता देखकर तदनुसार धर्म का उपदेश दे ताकि वह अपसिद्धान्त को त्यागकर सम्यक्धर्म में दृढ़ हो जाय, किन्तु इसके विपरीत वह इस प्रकार का उपदेश न दे, जिससे श्रोता के मन में शंका पैदा हो और उसके सम्यक्त्व में आँच आए। वस्तुतः जो इस प्रकार का उपदेश करने में निष्णात है, सक्षम है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप सर्वज्ञोक्त भाव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि का अथवा श्रोता के चित्तस्थैर्यरूप समाधि का भली-भाँति प्रतिपादन करना जानता है।

इसी बात को शास्त्रकार दूसरे पहलू से कहते हैं कि साधु सर्वज्ञोक्त आगमों की व्याख्या करते समय अपसिद्धान्त की प्ररूपणा करके सर्वज्ञोक्त आगम को दूषित या बदनाम न करे। जो सिद्धान्त शास्त्र से अविरुद्ध है, पवित्र है तथा सर्वजन-विख्यात है, उसे अस्पष्ट भाषण करके या संदिग्ध शब्दों का प्रयोग करके छिपाए नहीं। अथवा **'णो पच्छन्नभासी'** का अर्थ यह भी होता है कि जो सिद्धान्त या बात प्रच्छन्न (गुप्त) रखने योग्य है, जिसे अपरिपक्व या अश्रद्धालु को बताने से उसके दुरुपयोग या बदनाम होने की सम्भावना है, उसे किसी अपरिपक्व, अश्रद्धालु या अजिज्ञासु या दोषदर्शी को न बताए, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताने से वह दूषित हो जाता है। इसीलिए कहा है—

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्।
दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे॥

अर्थात्—जिसकी बुद्धि शान्त नहीं है, चंचल है, ऐसे व्यक्ति को शास्त्र की उत्तम बातें कहना, दोष के लिए ही होता है, जैसे नये-नये बुखार वाले रोगी को तुरंत बुखार मिटाने के लिए दवा देना हानिकारक होता है।

साधु जैसे प्राणिमात्र का रक्षक होता है, वैसे ही अपनी आत्मा का भी पापों और बुराइयों से रक्षक होता है, वह षड्जीवनिकाय का रक्षक होने के नाते प्राणियों का माता-पिता है, उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह कोई ऐसा कार्य मन-वचन-काया से न करे, जिससे इन प्राणियों को हानि पहुँचे, उनके प्राणों का वियोग हो; इसीलिए उपदेशक साधु अपनी कल्पनानुसार सूत्र या उसके अर्थ को न बदले। क्योंकि अर्थ बदलने से या सूत्र बदलने से एक ही नहीं, हजारों व्यक्ति विपरीत मार्ग पर चलने लगेंगे, उनकी बहुत बड़ी हानि होगी, स्वयं भी ऐसा करके संसारवृद्धि कर लेगा। कदाचित् अर्थ बदलने से सावद्य-प्ररूपण के कारण अनेक प्राणियों की हिंसा होने की संभावना हो। दूसरी बात यह है कि सूत्र अथवा अर्थ के बदलने से जिस आचार्य या गुरु से उस सूत्र या अर्थ की शिक्षा ली है, उनके प्रति उसकी वफादारी या भक्ति खत्म हो जाएगी। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सत्थारभत्ती.....सुयं च सम्मं पडिवाययंति।'** अर्थात् सत्य की आराधना या सम्यक्त्व की साधना की अपेक्षा रखता हुआ साधु वही अर्थ दूसरे के समक्ष कहे, जैसा या जो अर्थ उसने गुरु (प्रशास्ता) के मुख से सुना है। वह दूसरे के समक्ष शास्त्र की व्याख्या करने से पूर्व शास्त्र का अध्ययन करानेवाले गुरु या आचार्य में अपनी जो भक्ति है, उसे ध्यान में रखते हुए यह सोच ले कि 'मेरे द्वारा इस बात को कहने से आगम में कोई बाधा तो नहीं आती।' पूर्णतया सोच-विचार कर ही कोई बात कहे। ऐसा नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोचे कि अब मुझे गुरु से क्या लेना-देना है ? अब तो मैं स्वतन्त्र हूँ, अपने आप में सुखी हूँ, फिर मैं विद्वान् हूँ, इसलिए शास्त्र का जो भी अर्थ कर दूँ, जिस किसी तरह से समझा दूँ तो क्या हर्ज है ? पूर्वोक्त दोषों को ध्यान में रखते हुए साधु शास्त्र की यथाश्रुत सम्यक् व्याख्या करे।

अब शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो साधक शास्त्र के सूत्रपाठ का शुद्ध उच्चारण, अर्थ या व्याख्यान करता है, शास्त्रोक्त तप करता है, तथा श्रुतचारित्ररूप धर्म को यथायोग्य स्थान में फिट कर देता है। अर्थात् उत्सर्ग-अपवाद, आज्ञार्थक, हेत्वर्थक, स्व-परसिद्धान्त से सिद्ध बात का जहाँ जो योग्य या प्रसंग प्राप्त है, वहीं शुद्ध धर्म की दृष्टि से स्थापित करता है, वही साधक आदेयवाक्य, शास्त्रार्थकुशल, बिना विचारे कार्य न करने वाला है। और ऐसा साधक—जो पूर्वोक्त उत्तम गुणों से सम्पन्न है, आगम प्रतिपादन तथा उत्तम अनुष्ठान-कर्ता है, वही सर्वज्ञोक्त सम्यग्ज्ञानादिरूप भावसमाधि की व्याख्या कर सकता है। **'त्ति बेमि'** शब्द का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतांगसूत्र का चौदहवाँ ग्रन्थ अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ ग्रन्थ नामक चौदहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदान : पन्द्रहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

चौदहवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब पन्द्रहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। चौदहवें अध्ययन में कहा गया है कि साधु को बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों से मुक्त होना चाहिए। ग्रन्थमुक्त होने से साधु आयत (विशाल) चारित्र से सम्पन्न हो जाता है। अतः इस अध्ययन में यह बताया गया है कि साधक किस प्रकार विशाल चारित्र सम्पन्न हो सकता है? इस अध्ययन में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधु को आयत-चारित्र होना चाहिए।

वैसे इस अध्ययन में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर या वीतराग पुरुष का स्वभाव, सयमी पुरुष की जीवन पद्धति आदि का निरूपण है। इस अध्ययन में कुल २५ गाथाएँ हैं।

इस अध्ययन के तीन नाम हैं (१) आदान अथवा आदानीय (२) संकलिका अथवा शृंखला, (३) जमतीत अथवा यमकीय।

आदान या आदानीय नाम इसलिए है कि मोक्षार्थी पुरुष समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए जिस विशिष्ट ज्ञानादि का आदान—ग्रहण करते हैं, उसका इस अध्ययन में निरूपण है।

इस अध्ययन का आदानीय नाम रखने के पीछे निर्युक्तिकार का मन्तव्य यह है कि इस अध्ययन में जो पद प्रथम गाथा के अन्त में है, वही पद अगली गाथा के प्रारम्भ में ग्रहण (आदान) किया गया है। अथवा प्रथम गाथा के अर्धभाग के अन्त हो वही पद, शब्द, अर्थ और उभय के द्वारा यदि द्वितीय गाथा के आदि में हो या द्वितीय गाथा के अर्धभाग की आदि में हो तो वह पद आदि और अन्त के ग्रहण होने से आदानीय कहलाता है। इस अध्ययन में ऐसा ही हुआ है, इसलिए इसका नाम आदानीय रखा गया है।

वृत्तिकार कहते हैं कि कुछ लोग इस अध्ययन को संकलिका अथवा शृंखला नाम से पुकारते हैं क्योंकि एक तो इस अध्ययन में प्रथम पद्य का अन्तिम शब्द एवं द्वितीय पद्य का आदि शब्द शृंखला की भाँति जुड़े हुए हैं, अर्थात् उन दोनों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कड़ियाँ एक समान हैं। अथवा इस अध्ययन में अन्त और आदि पद का संकलन हुआ है, इसलिए इसका नाम 'संकलिका' है।

अथवा इस अध्ययन का आदि शब्द '**जं अतीतं**' है, इसलिए इसका नाम **जमतीत** है। अथवा इस अध्ययन में यमक अलंकार का प्रयोग हुआ है, इसलिए इस अध्ययन का नाम यमकीय है, जिसका आर्ष प्राकृतरूप '**जमईय**' है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का नाम आदान या आदानीय ही बताया है। दूसरे दो नाम वृत्तिकार ने बताये हैं।

निक्षेप दृष्टि से आदान शब्द के अर्थ

कार्यार्थी पुरुष जिस वस्तु को ग्रहण करता है, अथवा जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसे आदान कहते हैं। वैसे आदान का अर्थ ग्रहण करना होता है। इसके चार निक्षेप होते हैं। नाम और स्थापना को छोड़कर द्रव्य-आदान और भाव-आदान को समझ लेना चाहिए। **द्रव्य-आदान** धन के ग्रहण करने को कहते हैं, क्योंकि संसारी मनुष्य दूसरे सब कार्यों को छोड़कर सर्वप्रथम बड़े क्लेश से धन को ग्रहण करते हैं। अथवा उस धन के द्वारा द्विपद-चतुष्पद आदि को ग्रहण करते हैं। इसलिए धन को द्रव्य-आदान कहते हैं। **भाव-आदान** दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। क्रोध आदि का उदय होना अथवा मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्ध के आदान रूप होने से अप्रशस्त भावादान है। तथा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी के द्वारा विशुद्ध अध्यवसाय को ग्रहण करना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भावादान है। इस अध्ययन में इसी प्रशस्त भावादान का निरूपण है।

इसी प्रशस्त भावादान के सन्दर्भ में इस अध्ययन की क्रमप्राप्त प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

जमतीतं पडुपन्नं, आगमिस्सं च णायओ ।
सव्वं मन्नंति तं ताई, दंसणावरणंतए ॥१॥

संस्कृत छाया

यदतीतं प्रत्युत्पन्नमागमिष्यच्च नायकः ।
सर्वं मन्यते तत् त्रायी दर्शनावरणान्तकः ॥१॥

अन्वयार्थ

(**जमतीतं**) जो पदार्थ हो चुके हैं, (**पडुपन्नं**) जो पदार्थ वर्तमान में विद्यमान हैं, और (**आगमिस्सं च**) जो पदार्थ भविष्य में होने वाले हैं, (**तं सव्वं**) उन सबको (**दंसणावरणंतए ताई णायओ**) दर्शनावरणीयकर्म का सम्पूर्ण रूप से अन्त करनेवाले, जीवों के त्राता—रक्षक, धर्मनायक तीर्थंकर (**मन्नंति**) जानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

जो पदार्थ उत्पन्न हो चुके हैं, वर्तमानकाल में जो पदार्थ विद्यमान हैं, और जो भविष्यकाल में होंगे, उन सब पदार्थों को दर्शनावरणीयकर्म का सर्वथा क्षय करने वाले, जीवों के त्राता एवं धर्मनायक पुरुष जानते हैं।

व्याख्या

त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञाता

इस गाथा में तीनों काल में होने वाले पदार्थों को कौन जानता है ? इस सम्बन्ध में तीन विशेषण देकर बताया गया है कि जो इस प्रकार की विशेषता से युक्त होता है, वही जानता है।

जो पुरुष भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों को जानता है वही समस्त बन्धनों को जानने और तोड़ने वाला है। साथ ही इन सब त्रिकालवर्ती पदार्थों के यथार्थस्वरूप का निरूपण करने के कारण वह पुरुष नायक अर्थात् प्रणेता है। वही पुरुष भूत-भविष्य-वर्तमान त्रिकालवर्ती पदार्थों को द्रव्यादि चार स्वरूप से तथा द्रव्य और पर्याय के निरूपण से जानता है तथा जानता हुआ विशिष्ट उपदेश देकर वह प्राणियों को संसारसागर से पार उतारता है, और सब जीवों की रक्षा करता है। दर्शनावरणीयकर्म का क्षय करने के साथ-साथ चारों घातिकर्मों का क्षय हो ही जाता है।

मूल पाठ

अंतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं ।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥२॥

संस्कृत छाया

अन्तको विचिकित्साया: स जानात्यनीदृशम् ।
अनीदृशस्याख्याता, स न भवति तत्र तत्र ॥२॥

अन्वयार्थ

(**वितिगिच्छाए अन्तए**) जो संशय को दूर करने वाला है, (**से अणेलिसं जाणति**) वह पुरुष सबसे बढ़कर पदार्थ को जानता है। (**अणेलिसस्स अक्खाया**) जो पुरुष सबसे बढ़कर वस्तुतत्त्व का निरूपण करने वाला है, (**से तहिं तहिं ण होइ**) वह इधर-उधर के बौद्धादि दर्शन में नहीं है।

भावार्थ

संशय को दूर करने वाला पुरुष सबसे बढ़कर पदार्थ को जानता है। जो पुरुष सबसे बढ़कर वस्तुतत्त्व का निरूपण करने वाला है, वह इधर-उधर के बौद्धादि दर्शनों में नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

संशयातीत सर्ववस्तुतत्त्वनिरूपक अन्य दर्शनों में नहीं

जो पुरुष चार घातीकर्मों को नष्ट कर चुका है, वह सब प्रकार के संशयों को दूर कर देता है। विचिकित्सा चित्त की अस्थिरता या संशयात्मक ज्ञान को कहते हैं। विचिकित्सा को दूर करनेवाला महापुरुष संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का भी विनाशक होता है। और ऐसा महापुरुष निःसंशयज्ञान से सम्पन्न होता है।

आशय यह है कि जो पुरुष संशयादि के कारणभूत चार घातीकर्मों का क्षय कर देता है, उसमें संशय या विपर्ययरूप मिथ्याज्ञान नहीं होता। ऐसा पुरुष अनन्यसदृशदर्शी होता है, अर्थात् उसके समान वही होता है, अन्य कोई नहीं, जो सूक्ष्म, बादर आदि अनन्तधर्मात्मक पदार्थों को जान सके, वह परस्पर मिले हुए सामान्य विशेषात्मक पदार्थों को जानता है। क्योंकि 'सर्वज्ञ पुरुष का एक ही ज्ञान अचिंत्यशक्ति से युक्त होने के कारण वस्तु के सामान्य-विशेष दोनों का निश्चय करता है।

इस सम्बन्ध में मीमांसक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि सर्वज्ञादि सब पदार्थों के ज्ञाता हैं तो उनको स्पर्श आदि का ज्ञान बना रहने से अनभिमत वस्तु के रसास्वाद का भी ज्ञान होना चाहिए। किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान इतरजनों (छद्मस्थों) के ज्ञान के समान नहीं होता। सर्वज्ञ पुरुष वस्तु के अनन्त अतीत एवं अनागत पर्यायों को तथा अनन्त धर्मों को युगपत् जानते हैं, जबकि दूसरों का ज्ञान इस प्रकार का नहीं होता। स्पर्श के ज्ञानमात्र से स्पर्श की अनुभूति होती है, यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। फिर सर्वज्ञ वीतराग होते हैं, उन्हें कोई रस न इष्ट होता है, न अनिष्ट। वे सब पदार्थों को मध्यस्थ भाव से ही जानते हैं।

मीमांसक आक्षेप करते हैं कि सामान्य रूप से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर भी महावीर आदि अर्हन्त (तीर्थंकर) ही सर्वज्ञ हैं, बुद्ध या कपिल नहीं, इसमें क्या प्रमाण है? यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो इनमें मतभेद क्यों है।[1]

इस आक्षेप का परिहार करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'अणेलिसस्स अक्खाया'** अर्थात् जो पुरुष अनन्यसदृश (अनुपम) धर्म का प्रतिपादक है, वह बौद्ध आदि दर्शनों में नहीं है, क्योंकि वे द्रव्य और पर्याय दोनों को यथार्थरूप से नहीं मानते। बौद्ध केवल पर्यायों को ही मानते हैं, द्रव्य को नहीं; क्योंकि वे सभी पदार्थों को क्षणिक कहते हैं। मगर यह तो हर कोई जानता है कि द्रव्य के बिना निर्बीज

---

१. **अर्हन् यदि सर्वज्ञो, बुद्धो नेत्यत्र का प्रमा?**
अथापि सर्वज्ञौ, मतभेदस्तयोः कथम्? —मीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने के कारण पर्यायों का अस्तित्व भी कहाँ रहेगा ? इसलिए पर्याय मानने वालों को आधारभूत परिणामी द्रव्य अवश्य मानना चाहिए, लेकिन शाक्यमुनि परिणामी द्रव्य नहीं मानते, इसलिए उन्हें सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है ?

और सांख्यदर्शन (कपिलप्रणीत) वाले उत्पत्ति-विनाशरहित एकमात्र स्थिर स्वभाव वाले केवल द्रव्य को ही मानते हैं, परन्तु यह बात प्रत्यक्ष अनुभूत है कि कार्य करने में समर्थ पर्याय है, जिन्हें वे नहीं मानते। किन्तु द्रव्य कदापि पर्यायरहित होता नहीं। इसलिए सांख्यप्रणेता कपिल भी कैसे सर्वज्ञ माने जा सकते हैं ?

द्रव्य और पर्याय, दूध और पानी की तरह घुले-मिले -अभिन्न-से हैं, लेकिन उन्हें सर्वथा भिन्न मानने वाले न्याय-दर्शन (उलूकमत) प्रणेता भी सर्वज्ञ नहीं हैं।

इस प्रकार अन्य दर्शनप्रणेता असर्वज्ञ होने के कारण उन दर्शनों में से कोई भी दर्शनप्रणेता द्रव्य-पर्यायरूप अनन्यसदृश उभयविध पदार्थ का वक्ता नहीं है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्त ही भूत-भावी-वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों के यथार्थ रूप से वक्ता हैं।

मूल पाठ

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥३॥

संस्कृत छाया

तत्र तत्र स्वाख्यातं, तच्च सत्यं स्वाख्यातम् ।
सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥३॥

अन्वयार्थ

(**तहिं तहिं सुयक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने भिन्न-भिन्न आगमादि स्थानों में जीवादि पदार्थों का अच्छी तरह से कथन किया है, (**से य सच्चे सुआहिए**) वही सत्य है और वही सुभाषित है। (**सया सच्चेण संपन्ने मित्तिं भूएहिं कप्पए**) अतः सदा सत्य से समन्वित होकर जीवों के साथ मैत्रीभाव को धारण करो।

भावार्थ

श्री तीर्थंकरदेव ने आगम आदि विभिन्न स्थलों में जीवादि तत्त्वों का जो भलीभाँति उपदेश दिया है, वही सत्य है और वही सुभाषित है। इसलिए मनुष्य को सदा सत्य से युक्त होकर जीवों से मैत्री करनी चाहिए।

व्याख्या

अर्हद्भाषित तत्त्वकथन ही सत्य है

इस गाथा में अर्हन्त की सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। बात यह है कि वीतराग अर्हन्तदेव ने जीव आदि तत्त्वों का युक्तिसंगत एवं सम्यक् निरूपण किया है, तथा मिथ्यात्व आदि पाँच पापों को बन्ध का कारण कहकर उन्हें संसार का कारण कहा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो मोक्ष का मार्ग बताया है वह सब मोक्ष के कारण तथा पूर्वापर से अविरुद्ध एवं युक्तिसगत होने के कारण **स्वाख्यात** यानी यथार्थ सम्यक् कथन है। किन्तु अन्यतीर्थियों का कथन स्वाख्यात (पूर्वापर-अविरुद्ध एवं युक्तियुक्त) नहीं है क्योंकि अन्यतीर्थियों ने पहले तो **'मा हिंस्यात सर्व भूतानि'** (समस्त प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए) ऐसी आज्ञा देकर फिर स्थान-स्थान पर जीवों के संहारक आरम्भ की आज्ञा दी है। इसलिए उनके द्वारा कथित वचन पूर्वापर विरुद्ध हैं तथा विचार करने पर युक्तिविरुद्ध हैं, इसलिए अन्यतीर्थिकों का कथन स्वाख्यात नहीं है। तीर्थंकरदेव अविरुद्ध अर्थभाषी होते हैं, क्योंकि उनमें मिथ्याभाषण के कारणरूप राग, द्वेष, मोह आदि दोष नहीं हैं। अतः अर्हत्स्वरूप के विज्ञाता पुरुष कहते हैं—तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित कथन ही सत्य है क्योंकि वे असत्य के कारणभूत राग-द्वेष-मोह से रहित होते हैं और वे सर्वजीवहितैषी होते हैं। उनका कथन ही सुभाषित है, क्योंकि वही समस्त प्राणियों के लिए प्रियकर होता है। रागादि दोष ही असत्य एवं अप्रियभाषण के कारण रूप होते हैं, वे दोष अर्हन्त में नहीं हैं, इसलिए कारण के अभाव से कार्य का अभाव स्वतः सिद्ध है। कहा भी है —

वीतरागा हि सर्वज्ञाः, मिथ्या न ब्रुवते वचः ।
यस्मात तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥

अर्थात्—सर्वज्ञ पुरुष वीतराग होते हैं, वे मिथ्यावचन नहीं बोलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ पुरुषों का वचन सत्य अर्थ का प्रतिपादक होता है।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि दूसरे दर्शनकारों में सर्वज्ञता न हो तो भी हेय-उपादेय मात्र के ज्ञान से भी सत्यवादिता हो सकती है। जैसे कि वे कहते हैं—

सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

अर्थात्—मार्गदर्शक पुरुष सब पदार्थों या जीवों को जाने-देखे या न जाने-देखे, केवल अभीष्ट पदार्थों को जान देख ले। कीड़ों की संख्या का ज्ञान हो जाय तो भी वह हमारे किस काम का ?

इस शंका का समाधान शास्त्रकार करते हैं—**'से य सच्चे सुआहिए।'** तीर्थंकरों का कथन सदा सत्य और सुभाषित होता है। सत्य, सर्वहितकर एवं प्रिय भाषण सर्वज्ञता होने पर ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। जिनमें सर्वज्ञता नहीं है, उन्हें जैसे कीड़ों की संख्या का ज्ञान नहीं है, वैसे ही दूसरे पदार्थों का ज्ञान न होना भी सम्भव है। इसलिए कहा है—**सदृशे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्।** एक जगह उक्त पुरुष का ज्ञान बाधित और असम्भवित होने पर दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगह भी इसी तरह का हो सकता है। इस तरह उनकी सत्यवादिता दूषित हो जाती है। फिर उनके किसी भी वचन पर विश्वास कैसे किया सकता है। अतः तीर्थंकर भगवान् को अवश्य ही सर्वज्ञ मानना पड़ेगा, क्योंकि उनका वचन सदैव सत्य होता है।

इसीलिए उनके लिए कहा है—'**सया सच्चेण·····भूएहिं कप्पए।**' अर्थात् तीर्थंकर सदा सत्य, प्राणियों के लिए हितकर वचन अथवा संयम (भूतहितकारी होने से) से सम्पन्न होकर प्राणियों में मैत्री की स्थापना—प्राणियों की रक्षा का उपदेश देकर भूतदया की स्थापना करते हैं।

अथवा इस पंक्ति का विधिपरक यह अर्थ भी हो सकता है कि अतएव जिनोक्त वचनों का आराधक मुनि सदा सत्य से युक्त होकर सब प्राणियों के प्रति मैत्री करे या सर्वभूतदया का उपदेश देकर भूतदया की स्थापना करे।

मूल पाठ

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ ।
बुसीमं जगं परिन्नाय, अस्सि जीवितभावणा ॥४॥

संस्कृत छाया

भूतैश्च न विरुध्येत, एष धर्मो वृषीमतः ।
वृषीमान् जगत् परिज्ञाय, अस्मिन् जीवितभावना ॥४॥

अन्वयार्थ

(**भूएहिं न विरुज्झेज्जा**) प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करे, (**एस बुसीमओ धम्मे**) यह सुसंयमी साधुओं का धर्म है। (**बुसीमं जगं परिन्नाय**) सुसंयमी साधु त्रसस्थावररूप जगत् के स्वरूप को जानकर (**अस्सि जीवितभावणा**) इस तीर्थंकर प्ररूपित धर्म में जीवसमाधानकारिणी भावना करे।

भावार्थ

प्राणियों के साथ विरोध न करे, यह सुसंयमी साधुओं का धर्म है। इसलिए जगत् का स्वरूप जानकर वीतराग प्रतिपादित धर्म में जीवित भावना करे।

व्याख्या

प्राणिमात्र के साथ मैत्री की साधना का क्रम

इस गाथा में मैत्री-साधना की एक झांकी प्रस्तुत की गई है। इसके लिए तीन क्रम प्रस्तुत किये हैं—(१) प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करे, (२) त्रस-स्थावर रूप जगत् का स्वरूप जाने (३) जीवों के या जीवन के लिए समाधानकारिणी या समाधिकारिणी भावना करे। प्राणियों के साथ विरोध का कारण प्राणियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विघात करने वाला आरम्भ है। मैत्री की साधना के लिए साधु प्राणियों के साथ अविरोधरूप ऋषि-मुनियों के इस धर्म को अपना जीवनधर्म (अपना स्वभाव) बना ले। साथ ही वह त्रसस्थावररूप दृश्यमान जगत् का या जीवों का स्वरूप जाने और अपनी व उनकी आत्मा को शान्ति (समाधि) देने वाली २५ प्रकार की भावनाओं का अनुप्रेक्षण करे।

मूल पाठ

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥५॥

संस्कृत छाया

भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिवाहितः ।
नौरिव तीरसम्पन्नः सर्वदुःखान् त्रुट्यति ॥५॥

अन्वयार्थ

(**भावणाजोगसुद्धप्पा**) भावनारूपी योग से शुद्ध आत्मा वाला पुरुष (**जले णावा व आहिया**) जल में नाव के समान कहा गया है। (**नावा व तीरसंपन्ना**) किनारे पर पहुँची हुई नाव जैसे विश्राम करती है, वैसे ही (**सव्वदुक्खा तिउट्टइ**) उक्त पुरुष समस्त दुःखों से मुक्त—शान्त हो जाता है।

भावार्थ

पूर्वोक्त २५ या १२ प्रकार की भावनाओं से जिसकी आत्मा शुद्ध (पवित्र) हो गई है, वह पुरुष जल में नौका के समान संसारसमुद्र को पार करने में समर्थ कहा गया है। जैसे तट पर पहुँचकर नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावना का साधक भी संसार समुद्र के तट पर पहुँच कर सारे ही दुःखों से छूट जाता है।

व्याख्या

भावनायोगसाधक की गति-मति

इस गाथा में भावनायोग के साधक की गति-मति का दिग्दर्शन कराया गया है। उत्तम भावना के योग से जिसका अन्तःकरण स्वच्छ एवं निर्मल हो गया है, जिसके अन्तर में क्रोधादि कालुष्य जरा भी नहीं रहा है, जिसके मन-मस्तिष्क में ईर्ष्या, द्वेष, वैर, विरोध, निन्दा, चुगली, विषयतृष्णा, लोकैषणा आदि का जरा भी कण नहीं है, वह पवित्रात्मा पुरुष सांसारिकता के स्वभाव को छोड़कर जल में नाव की तरह संसारसागर में रहता हुआ भी संसारसागर के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। जैसे नाव जल में डूबती नहीं है, वैसे ही वह संसारसागर में डूबता नहीं है। जिस प्रकार उत्तम कर्णधार (नाविक) से युक्त और अनुकूल हवा से प्रेरित नाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर किनारे पहुँचकर विश्राम लेती है, उसी प्रकार उत्तम चारित्रवान् कर्णधार से युक्त जीवनरूपी नौका तप-संयमरूपी पवन से प्रेरित होकर दुःखात्मक संसार से छूटकर समस्त दुःखों के अभावरूप मोक्ष के तट पर पहुँच जाती है।

मूल पाठ

तिउट्टइ उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं ।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥६॥

संस्कृत छाया

त्रुट्यति तु मेधावी जानन् लोके पापकम् ।
त्रुट्यन्ति पाप कर्माणि, नवं कर्माकुर्वतः ॥६॥

अन्वयार्थ

(**लोगंसि पावगं जाणं**) लोक में पापकर्म को जानने वाला (**मेहावी उ तिउट्टइ**) बुद्धिमान पुरुष समस्त बन्धनों से छूट जाता है। (**नवं कम्मं अकुव्वओ**) नवीन कर्मबन्ध न करने वाले पुरुष के (**पावकम्माणि तिउट्टंति**) सभी पापकर्मों के बन्धन टूट जाते हैं।

भावार्थ

लोक में पापकर्म के स्वरूप को जानने वाला बुद्धिमान साधक सभी बन्धनों को तोड़ देता है। क्योंकि नया कर्मबन्धन न करने वाले पुरुष के सभी पापकर्मबन्धन टूट जाते हैं।

व्याख्या

बन्धनमुक्त मेधावी साधक

पूर्वगाथा में भावनायोग से शुद्ध आत्मा की गति-मति बताई गई थी, उसी सन्दर्भ में इस गाथा में बताया गया है कि तथारूप शुद्धात्मा मन-वचन-काया द्वारा अशुभ यानी पाप से छूट जाता है, अथवा वह सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ देता है। वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर संसारसागर से पार हो जाता है। कैसे मुक्त हो जाता है, इसकी संक्षिप्त प्रक्रिया शास्त्रकार बताते हैं—'**तिउट्टइ उ मेहावी नवं कम्ममकुव्वओ।**' अर्थात्—शास्त्रोक्त साधु-मर्यादाओं में स्थित अथवा सद्-असद्विवेकी साधक चौदह रज्जु परिमित तथा जीवों से भरे हुए इस लोक में सावद्यानुष्ठानरूप पापाचरण को अथवा उसके कार्यरूप अष्टविध कर्मों को या विशेषतः पाप-कर्मों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनके कारणों का त्याग करके उनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार लोक अथवा कर्म को जानने वाला तथा नवीन कर्मबन्ध न करने वाला यानी आस्रवद्वारों को रोकने वाला व्यक्ति पूर्वसंचित प्राचीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों को तप, संयम आदि से क्षीण करने के लिए जुट जाता है, तो एक दिन उसके प्राचीन और नवीन समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और तब वह बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूल पाठ

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जायई ण मिज्जई ॥७॥

संस्कृत छाया

अकुर्वतः नवं नास्ति, कर्म नाम विजानाति ।
विज्ञाय स महावीरो, येन जायते न म्रियते ॥७॥

अन्वयार्थ

(**अकुव्वओ णवं णत्थि**) जो पुरुष कर्म (कार्य) नहीं करता है, उसके नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है। (**कम्मं नाम विजाणइ**) वह पुरुष अष्टविध कर्मों को विशेषरूप से जानता है। (**से महावीरे विन्नाय**) इस प्रकार वह महावीर पुरुष कर्मों को जानकर (**जेण जायई ण मिज्जई**) ऐसा कार्य करता है, जिससे न तो वह संसार में फिर जन्म लेता है और न ही मरता है।

भावार्थ

जो पुरुष कोई कर्म नहीं करता, उसके नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। वह पुरुष आठ प्रकार के कर्मों को विशेषरूप से जानता है। इस प्रकार वह महान् वीर पुरुष आठ प्रकार के कर्मों को जानकर ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे वह संसार में न तो कभी उत्पन्न होता है, और न ही मरता है।

व्याख्या

कर्मबन्धन से मुक्ति और उसके बाद.....

इस गाथा में अन्य दार्शनिकों की मुक्ति से वापस लौट आने की मिथ्या मान्यता का खण्डन ध्वनित करते हुए शास्त्रकार तीर्थंकरप्रतिपादित सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—'**अकुव्वओ णवं णत्थि**''''**जेण जायई ण मिज्जई**।'

कुछ दार्शनिकों की मान्यता यह है कि "कर्मक्षय हो जाने के पश्चात् जिनको मोक्ष प्राप्त हो चुका है, वे ज्ञानी भी जब अपने तीर्थ (संघ) की अवहेलना होती देखते हैं, तो पुनः संसार में लौट आते हैं।"[1] परन्तु यह मान्यता न तो युक्तिसंगत है और न सत्य ही। क्योंकि जब साधक समस्त क्रियाओं से रहित हो जाता है तो

---

१. ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके मन-वचन-कायारूप कारण भी नष्ट हो जाते हैं, और वह कुछ भी कार्य (व्यापार) नहीं करता। ऐसी स्थिति में उसके ज्ञानावरणीय आदि नवीन कर्मबन्ध होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि कारण का अभाव हो जाता है तो कार्य का अभाव स्वतः हो जाता है। इस प्रकार जब मुक्ति में पहुँचे हुए मुक्त पुरुष के कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है, तो फिर कर्मों के अभाव में संसार में पुनः कैसे आ सकता है, क्योंकि संसार कर्म का ही कार्य है। वास्तव में मुक्तजीव सभी संगों, संयोगों, आसक्तियों, बन्धनों, ग्रन्थियों एवं द्वन्द्वों से रहित होता है, उसके लिए अपना-पराया कुछ भी नहीं होता, वह यदि अपना-पराया करने लगेगा तो पुनः रागद्वेष से लिप्त हो जाएगा। परन्तु मुक्त जीव रागद्वेष से सर्वथा मुक्त होता है। इसलिए उसे अपने तीर्थ की अवहेलना का कोई विचार ही नहीं आता।

अतः शास्त्रकार इस अकाट्य सिद्धान्त को प्रस्तुत करके जन्म-मरण से रहित होने का एक क्रम सूचित करते हैं कि जब आत्मगुणों से युक्त साधक आठ प्रकार के कर्मों, उनके कारणों और उनके फलों को भी जान लेता है, साथ ही वह कर्मक्षय (निर्जरा) करने के उपाय को भी भलीभाँति जान लेता है, अथवा वह पुरुष कर्मों एवं उनके नामों या स्वरूपों को, या नाम शब्द उपलक्षण होने से कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशों को भी अच्छी तरह से जान लेता है। इस प्रकार उन कर्मों को, उनकी निर्जरा के उपायों को, जानकर कर्मविदारण करने में समर्थ यह महान वीर पुरुष ऐसा पराक्रम करता है, जिससे वह फिर संसार में न जन्म लेता है, न मरता है। अर्थात् वह जन्ममरण से सर्वथा रहित हो जाता है। यहाँ कारण के अभाव से कार्य का अभाव बताया गया है, इसलिए जो लोग कहते हैं कि जगत्पति परम पुरुष का अविनाशी, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म ये चारों स्वभावतः अनादि-सिद्ध हैं, इस मान्यता का खण्डन समझ लेना चाहिए। यह मत युक्तिहीन है।

मूल पाठ

ण मिज्जइ महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं ।
वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगंसि इत्थिओ ॥८॥

संस्कृत छाया

न म्रियते महावीरो, यस्य नास्ति पुराकृतम् ।
वायुरिव ज्वालामत्येति, प्रिया लोकेषु स्त्रियः ॥८॥

अन्वयार्थ

(**जस्स पुरेकडं नत्थि**) जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं हैं, (**महावीरे ण मिज्जइ**) वह महान् वीर पुरुष जन्मता-मरता नहीं है। (**जालं वाउव्व लोगंसि पिया इत्थिओ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्चेति) जैसे हवा आग की ज्वाला को उल्लंघन कर जाती है, उसी तरह इस लोक में वह महावीर पुरुष प्रिय स्त्रियों (की आसक्ति) को लाँघ जाता है।

भावार्थ

जिस साधक के पूर्वकृत कर्म (बाकी) नहीं हैं, वह पुरुष जन्मता-मरता नहीं है। जैसे हवा आग की लपटों को लांघ जाती है, वैसे ही इस लोक में महान् वीर साधक मनोज्ञ मनोहर स्त्रियों को उल्लंघन कर जाता है, है, अर्थात् उनके फन्दे में नहीं फँसता।

व्याख्या

पूर्वकृतकर्म एवं स्त्रीवश्यता नहीं, वही पुरुष महावीर है

इस गाथा में महावीरता की परिभाषा दी है। उसके लिए इसमें दो बातें विशेषरूप से बताई हैं -

(१) जिसके पूर्वकृत कर्म शेष नहीं हैं, (२) तथा जो प्रिय स्त्रियों के वश में नहीं होता।

ण मिज्जइ- नहीं मरता। इसका आशय है, ऐसा साधक जिसके पूर्वकृत संचित कर्म शेष नहीं हैं, वह संसार के जन्ममरण के चक्र में नहीं फँसता और न संसार में भ्रमण करता है। इसका मतलब है—वह महापराक्रमी साधक जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि, शोक आदि दुःखों से युक्त नहीं होता। जन्म-मरण आदि उसी के होते हैं, जिसके सैकड़ों जन्मों में उपार्जित कर्म शेष हों, तथा जिसने आस्रवद्वारों को नहीं रोका है।

आस्रवों में प्रधान मैथुन है, स्त्री-प्रसंग उसका बहुत बड़ा अंग है। इसीलिए शास्त्रकार उपमा देकर समझाते हैं— **'वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगंसि इत्थीओ।'** अग्नि की ज्वाला जलाने वाली है, वह सहसा उल्लघन नहीं की जा सकती, तथापि न रुकने तथा निरन्तर बहने वाली हवा उसे उल्लंघन कर जाती है, इसी तरह वह महावीर पुरुष हावभाव, कटाक्ष, हास्य, विलास आदि से युक्त, अत्यन्त सुन्दर और दुस्त्यज स्त्रियों को भी उल्लंघन कर जाता है, उनके फंदे में कतई नहीं फँसता, वह वीर साधक उनसे जीता नहीं जाता, क्योंकि वह उनका स्वरूप जानता है। तथा वह स्त्री-परीषह विजय का फल भी जानता है। कहा भी है—

स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्त भावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥१॥
स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, सम्बन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् ।
अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्राः, नारीभिरुत्सादितराजवंशा ॥२॥

अर्थात्—स्त्रियाँ मुस्कराकर, हावभाव दिखाकर, मद से या लज्जा से पराङ्-मुख होकर, अर्धकटाक्ष (कनखियों) से देखकर, मधुर वचनों से, ईर्ष्या से, कलह से या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीला करके, यानी सब प्रकार के नाटक करके पुरुषों को अपने प्रणय पाश में बाँध लेती हैं। तथा स्त्रियों के लिए दो भाइयों में आपस में फूट हो जाती है, सम्बन्धियों में परस्पर वैमनस्य का मूल ही स्त्रियाँ हैं। काम से अतृप्त बहुत से राजाओं ने कामिनियों के कारण युद्ध करके राजवंशों को उजाड़ दिया है। इस प्रकार नारियों का स्वरूप जानकर महावीर साधक उनके किसी भी चक्कर में नहीं आते।

एक प्रश्न है—महाव्रत तो पांच हैं, फिर दूसरे व्रतों के विषय में न कहकर चौथे महाव्रत के विषय में ही क्यों कहा ? अर्थात् अन्य आस्रवों के त्याग के बारे में न कहकर स्त्रीप्रसंगरूप मैथुन के बारे में ही क्यों कहा गया ? इसका समाधान यह है कि मैथुनसेवन सब आस्रवों में बड़ा है, और अधर्म का मूल है, महादोष का आश्रयस्थान है, इसीलिए सर्वप्रथम इसका त्याग करने का कहा गया है। बहुत से लोग स्त्रीप्रसंग में कोई दोष ही नहीं मानते, उनके भोगवादी मत का खण्डन करने के लिये भी यह पाठ है। फिर दूसरे व्रत अपवादसहित हैं, जबकि चतुर्थ महाव्रत में कोई अपवाद नहीं है। इसी बात को सूचित करने के लिए यहाँ चौथे आस्रव के त्याग का संकेत किया है।

मूल पाठ

इत्थीओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा ।
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥६॥

संस्कृत छाया

स्त्रियो ये न सेवन्ते, आदिमोक्षा हि ते जनाः ।
ते जना बन्धनोन्मुक्ताः, नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥६॥

अन्वयार्थ

(**जे इत्थीओ ण सेवंति**) जो साधक स्त्रियों का सेवन नहीं करते, (**ते जणा हु आदिमोक्खा**) वे साधक सबसे प्रथम मोक्षगामी होते हैं। (**बंधणुम्मुक्का ते जणा जीवियं नावकंखंति**) समस्त बन्धनों से मुक्त वे जीव जीवन (जीने) की आकांक्षा नहीं करते।

भावार्थ

जो वीर साधक स्त्रियों का सेवन नहीं करते, वे सबसे पहले मोक्षगामी होते हैं तथा सर्वबन्धनों से मुक्त वे साधक जीवन (असंयमी जीवन) जीने की आकांक्षा नहीं करते।

व्याख्या

स्त्री-सेवन से दूर : मोक्ष अत्यन्त निकट

इस गाथा में शास्त्रकार स्त्री-सेवनरूप आस्रवद्वार के निरोध का फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताते हैं। जो साधक महापराक्रमी हैं, वे शास्त्रीय अध्ययन से एवं अनुभव से यह समझते हैं कि स्त्रीप्रसंग के फल अत्यन्त कटु होते हैं, स्त्रियाँ सुगतिपथ में अर्गलारूप हैं, संसार के महागर्त में डालने वाली हैं, अविनयों की राजधानी हैं, सैकड़ों माया-जालों से भरी हैं, महामोहिनी शक्ति हैं। इस कारण वे स्त्री-सेवन की इच्छा कदापि नहीं करते। सुन्दरियों के द्वारा प्रार्थना करने पर या हावभाव आदि से आकृष्ट करने पर भी वे उनके मोहजाल में जरा भी नहीं फँसते। ऐसे वीर साधक दूसरों से बहुत उत्कृष्ट हैं और समस्त कर्मक्षयरूप या सर्वद्वन्द्व-निवृत्तिमय मोक्ष को सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं। अथवा जिन पुरुषों ने दुराचरणों में प्रधान स्त्री-प्रसंग का मन-वचन-काया से पूर्णतया त्याग कर दिया है, वे ही पुरुष आदिमोक्ष हैं, अर्थात् वे प्रधानपुरुषार्थभूत मोक्षपुरुषार्थ में उद्यत हैं। यहाँ आदि शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है। ऐसे नरवीर मोक्षरूप पुरुषार्थ में केवल उद्यत ही नहीं, अपितु स्त्रीरूपी पाशबन्धन से मुक्त हो जाने के कारण समस्त पाशबन्धनों से मुक्त हैं। इस कारण वे जीवन की— असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते हैं, अथवा वे जिंदगी की परवाह नहीं करते, यानी स्त्री-प्रसंग न करने पर चाहे मौत से ही भेंट करनी पड़े, वे इसकी चिन्ता नहीं करते, अथवा विषय-भोग की इच्छा को त्यागकर उत्तम आचार-पालन में तत्पर एवं मोक्ष में एकाग्र वे साधक दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नहीं करते।

मूल पाठ

जीवियं पिट्ठओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं ।
कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥१०॥
अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासए ।
अणासए जए दंते, दढे आरयमेहुणो ॥११॥
णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।
अणाइले सया दंते, संधि पत्ते अणेलिसं ॥१२॥
अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव चक्खुमं ॥१३॥
से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए व अंतए ।
अंतेण खुरो वहई, चक्कं अंतेण लोट्ठई ॥१४॥
अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

जीवितं पृष्ठतः कृत्वाऽन्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥१०॥
अनुशासनं पृथक् प्राणिषु वसुमान् पूजनास्वादकः ।
अनाशयो यतो दान्तो दृढ आरतमैथुनः ॥११॥
नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रोता अनाविलः ।
अनाविलः सदा दान्तः, सन्धिं प्राप्तोऽनीदृशम् ॥१२॥
अनीदृशस्य खेदज्ञो, न विरुध्येत केनाऽपि ।
मनसा वचसा चैव, कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥१३॥
स हि चक्षुर्मनुष्याणां, यः कांक्षायाश्चान्तकः ।
अन्तेन क्षुरो वहति, चक्रमन्तेन लुंठति ॥१४॥
अन्तान् धीराः सेवन्ते, तेनाऽन्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने, धर्ममाराधयितुं नराः ॥१५॥

अन्वयार्थ

(**जीवियं पिट्ठओ किच्चा**) ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) (**कम्मणं अंतं पावंति**) कर्मों के अन्त (क्षय) को प्राप्त करते हैं। (**कम्मुणा संमुहीभूता**) वे पुरुष विशिष्ट कर्म (धर्माचरण) के अनुष्ठान के कारण मोक्ष के सम्मुखीभूत हैं; (**जे मग्गमणुसासई**) जो मोक्षमार्ग पर स्वयं अनुष्ठान द्वारा अधिकार (शासन) कर लेते हैं अथवा जो मोक्षमार्ग की शिक्षा मुमुक्षुओं को देते हैं ॥१०॥

(**अणुसासणं पुढो पाणी**) उन मोक्षाभिमुख साधकों का अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। (**वसुमं पूयणासए अणासए जए दंते दढे आरयमेहुणो**) संयम का धनी, पूजासत्कार में दिलचस्पी न रखने वाला, आशय—वासना से रहित, संयम में प्रयत्नशील, दान्त—जितेन्द्रिय अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ एवं मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है ॥११॥

(**णीवारे व ण लीएज्जा**) सूअर आदि प्राणी को प्रलोभित करके फँसाकर मौत के मुँह में पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्रीप्रसंग या अल्पकालिक विषयलोभ में वह लीन नहीं होता, नहीं फँसता। (**छिन्नसोए**) जिसने विषयभोगरूप आस्रवद्वारों) को नष्ट कर डाला है। (**अणाविले**) जो राग-द्वेषमल से रहित-स्वच्छ शुद्ध है, (**सया दंते**) जो सदा इन्द्रियों और मन पर काबू करके रहता है, (**अणाइले**) विषयभोगों में प्रवृत्त न होने से जो स्थिरचित्त है, वही पुरुष (**अणेलिसं संधिं पत्ते**) अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

(**अणेलिसस्स खेयन्ने**) अनन्यसदृश (जिसके समान संसार में और कोई उत्तम पदार्थ नहीं है, वह अनीदृश) —अनुपम संयम या वीतरागोक्त धर्म में जो खेदज्ञ —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपुण है या उसका मर्मज्ञ है, वह (**मणसा, वयसा चेव कायसा चेव केणइ ण विरुज्झिज्ज**) मन से, वचन से और काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध नहीं करता, (**चक्खुमं**) जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान है, यानी परमार्थदर्शी है।।१३।।

(**से हु मणुस्साणं चक्खू**) वही पुरुष मनुष्यों का नेत्र है - नेता है - मार्गदर्शक है, (**जे य कंखाए अंतए**) जो सब प्रकार की (विषयभोग आदि की) कांक्षाओं का अन्त (नाश) करनेवाला है, अथवा कांक्षाओं के अन्त - सिरे पर है। (**खुरो अंतेण वहति**) जैसे छुरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता (चलता) है, (**चक्कं अंतेण लोट्टई**) रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है—गति करता है ।।१४।।

(**धीरा अंताणि सेवंति**) परीषहों व उपसर्गों को सहने में धीर, अथवा विषय-सुखों की इच्छारहित बुद्धि से सुशोभित साधक अन्त—प्रान्त आहार का सेवन करते हैं, (**तेण इह अंतकरा**) इसी कारण वे संसार का अन्त कर देते हैं। (**इह माणुस्सए ठाणे णरा धम्ममाराहिउं**) इस मनुष्यलोक में दूसरे मनुष्य (साधक) भी धर्माराधन करके संसार का अन्त करते हैं ।।१५।।

भावार्थ

जो मोक्षाभिमुखी साधक होते हैं, वे जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर कर्मों (ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों) का अन्त पा लेते हैं, यानी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पुरुष विशिष्ट तप, संयम आदि के उत्तम आचरण (सदनुष्ठानरूप धर्मक्रिया) से मोक्ष के सम्मुख-से होकर जीते हैं, वे ही मोक्षमार्ग पर आधिपत्य (शासन) करते हैं, अथवा वे ही जीवन्मुक्त साधक मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं ।।१०।।

उनके द्वारा दी जाने वाली मोक्षमार्ग की शिक्षा या धर्मदेशना भिन्न-भिन्न प्राणियों के लिए अभिप्राय, रुचि, योग्यता आदि के भेद से विभिन्न प्रकार की होती है, या वह विभिन्न रूपों में परिणत होती है। इसलिए संयम का धनी, पूजा-सत्कार-प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि आदि में रुचि न रखने वाला, सब प्रकार की विषयभोगों की वासना (आशय) से रहित, संयम में पुरुषार्थ करने वाला, इन्द्रियमनोविजेता, महाव्रत आदि की कृत प्रतिज्ञा दृढ़-अटल, एवं मैथुनसेवन से विरत साधक ही मोक्ष के अभिमुख या मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है ।।११।।

सूअर आदि प्राणियों को प्रलोभित करके जाल में फँसाकर मौत के मुँह में पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान प्रलोभनीय स्त्रीप्रसंग या अल्पकालिक विषयलोभ में जो वीर साधक लीन नहीं होता, फँसता नहीं, जिसने विषयभोगरूप या संसारागमनरूप आस्रवद्वारों को छिन्न-भिन्न कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डाला है, जो राग-द्वेषरूप मल से रहित - शुद्ध है, जो सदा इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण रखता है; विषयभोगों में प्रवृत्त न होने से स्थितप्रज्ञ या स्थिरचित्त है, वही पुरुष अनुपम भावसन्धि—मोक्षाभिमुखता को प्राप्त करता है ॥१२॥

जो साधक अनन्यसदृश—अनुपम संयम या वीतरागप्ररूपित धर्म का मर्मज्ञ है, वह मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नहीं करता। जो पुरुष ऐसा है, वही दिव्यनेत्रवान या परमार्थदर्शी है ॥१३॥

जो साधक सब प्रकार की विषयभोग आदि की कांक्षाओं का अन्त (समाप्त) करने वाला या जो कांक्षाओं के अन्त—सिरे पर है, वही मनुष्यों का नेत्र है—नेता मार्गदर्शक है। जैसे छुरा या उस्तरा अन्तिम भाग (अन्तिम सिरे) से कार्य करता है (चलता है), रथ का पहिया भी अन्तिम भाग (किनारे) से ही चलता है, वैसे ही मोक्षाभिमुख साधक मोहनीय आदि कर्मों का अन्त करके ही संसार के अन्त (पार) तक या मोक्ष के अन्त (किनारे) पर पहुँच जाता है ॥१४॥

परीषहों और उपसर्गों में सहिष्णु या विषयनिरपेक्ष बुद्धि से सुशोभित धीर साधक अन्तप्रान्त (बचे-खुचे ठंडे बासी रूक्ष) आहार का सेवन करते हैं, इस कारण वे संसार का अन्त या समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं। ऐसे ही पुरुष इस मनुष्यलोक में धर्म की आराधना करके संसारसागर का अन्त (पार) कर देते हैं, अथवा धर्माराधना के योग्य होते हैं ॥१५॥

व्याख्या

मोक्षाभिमुख साधकों की साधना का सारांश

१०वीं गाथा से लेकर १५वीं गाथा तक विभिन्न पहलुओं से मोक्षाभिमुख साधकों की साधना का सारांश बताया गया है। मोक्षाभिमुखी साधक का अर्थ है—जिसका मुख मोक्ष की ओर हो गया है, जो अब संसार या संसार के विषय-भोगों, सुख-सुविधाओं, लुभावनी भोगसामग्री, उत्तम स्वादिष्ट आहार, पानी, सुन्दर मकान, शरीरप्रसाधन, साजसज्जा आदि की ओर झाँककर भी नहीं देखता, अर्थात् संसार या संसार के बन्धन में डालने वाले कारणों से विमुख हो गया है, अथवा संसार-बन्धन में डालने वाले कर्मों, कर्मों के कारणों – आस्रवों आदि का जिसने अन्त कर दिया है। जो संसारसागर को पार करके मोक्ष के तट पर पहुँच गया है, अथवा उधर ही जिसके पैर सरपट गति से बढ़ रहे हैं, जो दृढ़तापूर्वक मजबूत कदमों से मोक्ष की ओर गति कर रहा है, इधर-उधर संसार की लुभावनी झाँकियों को नहीं देखता, जो देहनिरपेक्ष, जीवननिरपेक्ष, प्रसिद्धि, नामना, कामना, पूजा-सत्कार आदि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिलकुल निरपेक्ष हो गया है, जो केवल मोक्ष की ही बात करता है, मोक्ष का ही ध्यान, चिन्तन एवं मनन करता है, मोक्ष के अनुष्ठानों में ही दिलचस्पी लेता है, मोक्ष की ही क्रिया करता है, मोक्ष का ही उपदेश करता है। संसारमार्ग से कोई वास्ता नहीं रखता, सांसारिक सम्बन्धों से कोई लगाव नहीं रखता, उसी महामुनि को मोक्षाभिमुख कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को शास्त्रकार ६ गाथाओं में स्पष्ट करते हैं।

मोक्षाभिमुख साधक असंयमी जीवन या प्राणधारण रूप जीवन की ओर पीठ कर देते हैं, यानी उससे बिलकुल विमुख या निरपेक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार जीने की इच्छा का त्याग करके वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का या चार प्रकार के घातिकर्मों का अन्त कर देते हैं। अर्थात् वे जीवन-निरपेक्ष साधक उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अनुष्ठान करके संसारसागर के अन्तस्वरूप, समस्त द्वन्द्वों के अभावरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यद्यपि वे पुरुष समस्त दुःखों की निवृत्तिरूप या सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्ष को अभी तक प्राप्त नहीं है, तथापि वे तप-संयम आदि की विशिष्ट धर्मक्रिया के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं—चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके दिव्य ज्ञान से युक्त एवं मोक्षपद के अभिमुख हैं ऐसे मोक्षाभिमुख साधक की पहिचान क्या है ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'जे भगवणुसासई।'** इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो मोक्षमार्ग पर अनुशासन—आधिपत्य करते हैं, यानी जिनका मोक्षमार्ग पर इतना असाधारण अधिकार हैं कि वे संसार-मार्ग की ओर जरा भी मुड़ नहीं सकते, जिनकी गति-मति और प्रगति मोक्ष की ओर अटल है। दूसरा अर्थ यह है कि जो प्राणियों के हित के लिए भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की ही शिक्षा या धर्मदेशना देते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त साधकों को मोक्षाभिमुख समझो।

मोक्षमार्ग का ही उपदेश देने वाला मोक्षाभिमुख उत्तम साधक कैसा होता है ? इसे ही शास्त्रकार **वसुमं, पूयणासए, अणासए, जए दंते दढे, आरयमेहुणे,** इन विशेषणों द्वारा बताते हैं। मोक्षमार्ग का अनुशासक या मोक्षाभिमुख वही हो सकता है, जो संयमधन से युक्त हो, जो पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, नामना-कामना, या प्रसिद्धि में बिलकुल दिलचस्पी न रखता हो, जो विषयभोगों की (आशय) वासना से रहित हो, इन्द्रियों और मन को दमन करने वाला हो, अपनी महाव्रत आदि की प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहता हो, अथवा देवता, नरेन्द्र आदि द्वारा वैषयिक प्रलोभन दिये जाने पर भी जो अपने संकल्प एवं यमनियम पर चट्टान-सा अविचल, अटल रहता हो, जो मैथुनादि इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों से बिलकुल विरक्त—निवृत्त हो। वसु धन को कहते हैं, चारित्रात्माओं के लिए संयम ही धन है। इसलिए यहाँ वसुमान का अर्थ संयम-धन से युक्त है। इन विशेषण से युक्त जीवन्मुक्त साधक ही मोक्षाभि-मुख और मोक्षमार्ग का अनुशासक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुसासणं—यहाँ अनुशासन का अर्थ है—जिस शिक्षा या देशना से प्राणी यद्-असद्-विवेकी बनाये जाकर सन्मार्ग पर चढ़ाये जायें।[1]

किन्तु मोक्षाभिमुख पुरुषों द्वारा किया गया मोक्षमार्ग का इस प्रकार का अनुशासन (धर्मोपदेश) भव्य-अभव्य प्राणियों के अभिप्राय, रुचि, प्रकृति, आदत और संस्कार के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का और उन जीवों में भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होता है। जैसे पृथ्वी की विभिन्नता के कारण मेघों से बरसा हुआ एक ही प्रकार का जल अनेक रूपों में परिणत हो जाता है, वैसे ही प्राणियों की रुचि, योग्यता आदि की भिन्नता के कारण एक ही मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक का उपदेश (अनुशासन) भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता है। अभव्य प्राणियों में सर्वज्ञ मोक्षाभिमुख आप्त का उपदेश उचित रूप में परिणत नहीं होता, इसमें सब उपायों को जानने वाले सर्वज्ञ अनुशासक का कोई दोष नहीं है। अभव्य प्राणियों के स्वभाव का ही यह परिणाम है कि सर्वज्ञ निर्दोष धर्मोपदेशक का वाक्य एकान्त हितकर, अमृतस्वरूप एवं समस्त द्वन्द्वों का विनाशक होने पर भी अभव्यों में यथार्थरूप में परिणत नहीं होता। यद्यपि मोक्षाभिमुख सर्वज्ञ महापुरुष के श्रीमुख से तो एक ही प्रकार की धर्म देशना निकलती है, तथापि श्रोताओं की विभिन्नता के कारण उसकी परिणति में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए आचार्य ने कहा है—

सद्धर्म बीजवपनानघकौशलस्य,
यल्लोकबान्धव ! तवाऽपि खिलान्यभूवन्।
तन्नाद्भुत, खगकुलेष्विह तामसेषु,
सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥

हे लोकबान्धव ! सद्धर्मरूपी बीज को बोने में आपकी कुशलता सर्वथा निर्दोष है, उसमें कोई त्रुटि नहीं होती, फिर भी आपके लिए कोई-कोई भूमि ऊसर सिद्ध होती है। अर्थात् कई जीवों पर आपका प्रयास निष्फल जाता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि अन्धकार में विचरण करने वाले कुछ पक्षी (उल्लू आदि) ऐसे भी होते हैं, जिन्हें सूर्य की किरणें भ्रमरी के पैर की तरह काली ही नजर आती हैं।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अणुसासणं पुट्ठो पाणी।**'

ऐसा मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक स्त्रीप्रसंग में कदापि लीन नहीं होता, अर्थात् ग्रस्त नहीं होता, इसे उपमा देकर शास्त्रकार समझते हैं—'**णीवारे व**'। नीवार चावल आदि धान्य विशेष के कणों को कहते हैं। शिकारी (व्याध) आदि

---

१ अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सद्-असद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम्—धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणम्।' **सूत्र० वृत्ति**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य सूअर, कबूतर आदि प्राणियों को फँसाने से लिए जंगल में जाल बिछा देते हैं और वहीं चावल आदि के दाने बिखेर देते हैं, वह प्राणी चावल आदि के दानों के लोभ में आकर उन दानों को खाने लगता है, और वहीं फँस जाता है। अर्थात् उसे बाँध दिया जाता है, और फिर उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है। उन भोले जानवरों के लिए नीवार एक तरह से मौत का कारण है, वैसे ही स्त्रीप्रसंग भी अनेक बार जन्म, मरण तथा अन्य नाना प्रकार के दुःखों का कारण है, यह समझकर साधक उसमें बिलकुल नहीं फँसता।

छिन्नसोए - जिसने आस्रवद्वारों या पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में प्रवृत्ति के द्वारों (संसारागमनद्वारों) को छिन्न-भिन्न कर दिया है, वह छिन्नस्रोत है।

रागद्वेषरूपी मल से रहित होने से जो अनाविल है, अथवा जो अनाकुल है—विषयभोगों में प्रवृत्त न होने के कारण स्वस्थचित्त है। इन्द्रियों और मन पर सदा नियंत्रण रखता है। इस प्रकार के अनुपम गुणों से विशिष्ट महापुरुष ही अनुपम भावसन्धि—कर्मक्षयरूप मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

अणेलिसस्स खेयन्ने— मोक्षाभिमुख साधक के लिए यह महत्त्वपूर्ण गुण है कि वह अनीदृश यानी अनन्यसदृश (जिसके समान संसार में और कोई पदार्थ न हो) संयम या वीतरागप्रतिपादित धर्म का मर्मज्ञ होता है, अथवा खेदज्ञ का यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि अनन्यसदृश धर्म या संयम पालन करने में साधक को कितने-कितने खेदों, परीषहों, उपसर्गों या आफतों का सामना करना पड़ता है, इसका जो ज्ञाता-अनुभवी हो। तथा ऐसा मोक्षाभिमुख साधक मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नहीं करता, अपितु सबके प्रति मैत्री-भावना, अभिन्नता, आत्मतुल्य भावना रखता है, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ भावना रखता है। आशय यह है कि ऐसा महान् साधक किसी के साथ अन्तःकरण से विरोध नहीं करता, किन्तु चित्त को शान्त एवं मैत्री आदि भावों से ओत-प्रोत रखता है। वचन से किसी के प्रति अपशब्द या कटुशब्द नहीं निकालता, अपितु हित, मित, प्रिय एवं सत्य बोलता है। शरीर से भी वह संयम विरोधी कोई चेष्टा नहीं करता। ऐसा मोक्षाभिमुख साधक ही वस्तुतः दिव्य विचारचक्षु से सम्पन्न है या परमार्थतत्त्वदर्शी है। वह सर्वोत्तम संयम या तीर्थंकरोक्त धर्म का मर्मज्ञ मोक्षाभिमुख साधक ही वास्तव में मनुष्यों का नेत्र है, अर्थात् नेता—पथप्रदर्शक है, बशर्ते कि वह शब्दादि समस्त विषयों की आकांक्षाओं का अन्त कर चुका हो, अथवा समस्त आकांक्षाओं के अन्त पर सिरे स्थित हो। विषयतृष्णा (या आकांक्षाओं) के अन्त—सिरे पर रहने वाला साधक कैसे अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि कर लेता है? इसी को शास्त्रकार दो दृष्टान्तों द्वारा समझाते हैं—उस्तरा या छुरा अन्त (अग्र) भाग से ही काम करता है, रथ का पहिया भी अन्त (अन्तिम सिरे) से मार्ग पर चलता है; जैसे इन दोनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त भाग ही कार्यसाधक होता है, वैसे ही संसार के या संसार-परिभ्रमण के या विषयकारणभूत कषायरूप मोहनीय आदि कर्मों के अन्त भाग पर या मोक्ष के अन्त (तटीय) भाग पर स्थित होकर ही मोक्षाभिमुख साधक अपना मोक्षप्राप्तिरूप कार्य सिद्ध करता है।

फिर वे मोक्षाभिमुख साधक धीर होते हैं, अर्थात् महासत्त्व होते हैं, वे देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्गों या परीषहों को सहने में सक्षम होते हैं, अथवा वे विषय सुखों की इच्छा से बिलकुल रहित होते हैं।

अंताणि सेवंति—ऐसे पुरुष अन्तों का सेवन करते हैं। अर्थात् बच्चे-खुचे, रूखे-सूखे, ठंडे, नीरस आहार—अन्तआहार अथवा प्रान्त आहार का सेवन करते हैं, अथवा वे ग्राम या नगर के अन्त-प्रान्त प्रदेश (निर्जन एकान्त स्थान) का सेवन करते हैं, जहाँ उन्हें किसी प्रकार की सुख-सुविधा न मिले, अथवा विषय-कषाय की स्पृहा के अन्त का सेवन करते हैं। इस प्रकार के अन्त-प्रान्त के अभ्यास से वे संसार का अन्त करते हैं, अथवा संसार के कारणभूत कर्मों का अन्त करते हैं। ऐसे मोक्षाभिमुख पुरुष केवल तीर्थंकर आदि ही नहीं, किन्तु इस मनुष्य-लोक में या आर्यक्षेत्र में दूसरे मानव भी सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म की आराधना करके कर्मभूमि में संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज होकर सदनुष्ठान की सामग्री पाकर संसार का अन्त करने वाले हुए हैं, होते हैं।

यद्यपि इस पंचम आरे में भरतक्षेत्र से मुक्त नहीं होते, लेकिन महाविदेह क्षेत्र से तो बहुत-से मानव सदा ही मुक्त (सिद्ध) होते रहते हैं।

मूल पाठ

निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं ।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥
अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसिं आहियं ।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥
इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१८॥

संस्कृत छाया

निष्ठितार्थाश्च देवा वा, उत्तरीये इदं श्रुतम् ।
श्रुतञ्च मयेदमेकेषां, अमनुष्येषु नो तथा ॥१६॥
अन्तं कुर्वन्ति दुःखानामिहैकेषामाख्यातम् ।
आख्यातं पुनरेकेषां, दुर्लभोऽयं समुच्छ्रयः ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतो विध्वंसमानस्य, पुनः सम्बोधिर्दुर्लभा ।
दुर्लभाश्च तथार्चाः, या धर्मार्थं व्यागृणन्ति ॥१८॥

अन्वयार्थ

(**उत्तरीए इयं सुयं**) लोकोत्तर प्रवचन (तीर्थंकर की धर्मदेशना) में मैंने (सुधर्मास्वामी ने) यह (आगे कही जाने वाली) बात सुनी है कि (**निट्ठियट्ठा व देवा वा**) मनुष्य ही कर्मक्षय करके सम्यग्दर्शनादि के आराधन से कृतकृत्य (निष्ठितार्थ) होते हैं—यानी मुक्ति (सिद्धगति) प्राप्त करते हैं, अथवा कर्म शेष रहने पर सौधर्म आदि देव बनते हैं। (**एयं एगेसिं**) यह मोक्षप्राप्ति (कृतकृत्यता) भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ही प्राप्त होती है, (**अमणुस्सेसु णो तहा**) मनुष्य योनि या गति से भिन्न योनि या गति वाले प्राणियों को मनुष्यों के जैसी कृतकृत्यता या मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त नहीं होती। (**मे सुयं**) ऐसा मैंने तीर्थंकर भगवान् के मुख से साक्षात् सुना है ॥१६॥

(**एगेसिं आहियं**) कई अन्यतीर्थिकों का कथन है कि देव ही समस्त दुःखों का अन्त करते हैं, मनुष्य नहीं; परन्तु ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि (**इह**) इस आर्हत्प्रवचन में तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही (**दुक्खाणं अंतं करंति**) शारीरिक-मानसिक आदि समस्त दुःखों का अन्त करते हैं। इस सम्बन्ध में (**एगेसिं पुण आहियं**) किन्हीं गणधर आदि का कथन है कि (**अयं समुस्सए दुल्लहे**) यह समुच्छ्रय—समुन्नत विकसित मानव शरीर या मानव जन्म मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, अथवा मनुष्य के बिना यह (आगे कहा जाने वाला) समुच्छ्रय यानी धर्मश्रवणादिरूप अभ्युदय भी दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाना तो दूर की बात है ॥१७॥

(**इओ विद्धंसमाणस्स**) जो जीव इस मनुष्यभव से भ्रष्ट हो जाता है, उसे (**पुणो संबोहि दुल्लहा**) पुनः जन्मान्तर में सद्धर्म का बोध (सम्बोधि) प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ—कठिन है। (**तहच्चाओ दुल्लहाओ**) सम्बोधि (सम्यग्दर्शन) प्राप्ति के योग्य तेजस्वी मनुष्यदेह अथवा बोधिग्रहण योग्य आत्म-परिणतिरूप शुभलेश्या प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। (**जे धम्मट्ठं वियागरे**) जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं अथवा जो धर्म को प्राप्त करने या धर्म का अनुष्ठान पाने योग्य हैं, उनकी लेश्या प्राप्त करना दुर्लभ है ॥१८॥

भावार्थ

मैंने तीर्थंकर भगवान् के लोकोत्तर प्रवचन में सुना है कि मनुष्य ही कर्मक्षय करके मोक्ष पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं अथवा कुछ कर्म शेष हों तो सौधर्म आदि देव होते हैं। तथा मैंने तीर्थंकर आदि से यह भी सुना है कि यह मोक्षप्राप्ति (कृतकृत्यता) भी किन्हीं विरले ही मनुष्यों को होती है, क्योंकि मनुष्य से भिन्न गति एवं योनि वाले जीवों में ऐसी योग्यता नहीं होती ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्हीं अन्यतीर्थिकों का कथन है कि देव ही क्रमशः समस्त दुःखों का अन्त (नाश) करते हैं, दूसरे प्राणी नहीं, किन्तु यह सम्भव नहीं। क्योंकि इस आर्हत्प्रवचन में तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का अन्त (नाश) करते हैं। किन्हीं गणधर आदि का यह भी कथन है कि यह समुच्छ्रय - मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, सद्धर्मश्रवण आदि अभ्युदय प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा मनुष्य शरीररूप अभ्युदय प्राप्त करना बड़ा कठिन है ॥१७॥

जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसे फिर जन्मान्तर में सम्बोधि (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त होना अति दुर्लभ है। तथा बोधिप्राप्ति-योग्य आत्मा (अन्तःकरण) की शुभ परिणतिरूप लेश्या अथवा बोधिग्रहण-योग्य तेजस्वी देह पाना बड़ा कठिन है। एवं जो जीव धर्म की व्याख्या करते हैं, अथवा धर्म की प्राप्ति के योग्य हैं, उनकी लेश्या (अन्तःकरण-परिणति) प्राप्त करना बहुत मुश्किल है ॥१८॥

व्याख्या

मोक्षप्राप्तियोग्य मनुष्य जन्म तथा अभ्युदय : कितना दुर्लभ ?

१६वीं से १८वीं गाथा तक में शास्त्रकार ने मोक्षप्राप्ति के योग्य, मनुष्य, मनुष्यभव, दुःखों का अन्त, तदनुरूप लेश्या आदि की दुर्लभता का उल्लेख करके यह ध्वनित कर दिया है कि मनुष्य मोक्षप्राप्ति के लिए भरसक पुरुषार्थ करे।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि यह मैंने लोकोत्तर तीर्थंकर भगवान से या तीर्थंकर भगवान् के लोकोत्तर प्रवचन से सुना है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करके समस्त कर्म-क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं, और निष्ठितार्थ यानी कृतार्थ हो जाते हैं। कई मनुष्य जिनके कर्म शेष रह जाते हैं, वे सौधर्म आदि विमानवासी देव हो जाते हैं। इससे आगे फिर वे इसी प्रकार कहते हैं—मनुष्य गति में ही मोक्षप्राप्ति (सिद्धिप्राप्ति) होती है, अन्य गति में नहीं। अर्थात् मनुष्य ही सर्वकर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करता है, जो मनुष्य नहीं है, वह नहीं। इस कथन से शाक्यों ने जो यह कहा है कि देवता ही समस्त कर्मों को क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं, वह मान्यता खण्डित समझनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त जो तीन गतियाँ हैं, उनमें सम्यक्चारित्र का परिणाम नहीं है, इसलिए मनुष्य की तरह मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

१७वीं गाथा में इसी बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**अंतं करंति दुक्खाणं इहमेगेसि आहियं**' आशय यह है कि किन्हीं मतवादियों का यह कथन है कि देवता ही उत्तरोत्तर स्थानों को प्राप्त करते हुए समस्त दुःखों का अन्त (नाश) कर सकते हैं, मनुष्य नहीं। यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि देव आदि भवों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में धर्माराधन का अभाव है। अतः वे मोक्षगति (देव आदि भवों से) प्राप्त नहीं कर सकते, न दुःखों का अन्त कर सकते हैं। इसके विपरीत आर्हतमत में तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का अन्त कर सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है; दूसरे प्राणी नहीं।

साथ ही गणधर आदि का कहना है कि मनुष्य भव में ही धर्माराधना की परिपूर्ण सामग्री का सद्भाव होता है। इसलिए मनुष्य के बिना मनुष्य शरीर, उत्तम क्षेत्र, सद्धर्मश्रवण, श्रद्धा तथा चारित्र में पराक्रम आदि सब समुच्छ्रय— अभ्युदय प्राप्त होना दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाने की बात तो दूर है। अथवा मनुष्य शरीर-रूप अभ्युदय का प्राप्त करना अतीव दुर्लभ है। जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता है, जिसके पुण्य प्रबल नहीं हैं, उसे मानव-शरीर प्राप्त होना कठिन है। जैसे महासागर में गिरे हुए रत्न का पुनः पाना अतिदुर्लभ है, इसी तरह मानव-शरीर मिलना भी दुर्लभ है। कहा भी है—

ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्।
मानुष्य खद्योततडिल्लताविलसित प्रतिमम् ॥

अर्थात्—यह मानवशरीर जुगनू के प्रकाश और बिजली की चमक के समान अत्यन्त चंचल है। इसलिए यदि वह अगाध संसार-सागर में गिर गया तो फिर इसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

जिस मनुष्य के पुण्य का संचय नहीं होता, वह धर्माराधना या संयम-पालन से रहित मानव इस उत्तम देवदुर्लभ मानव शरीर से या उत्तमधर्म से भ्रष्ट होकर इस संसार की अटपटी विविध योनियों और गतियों में भटकता है, उसे एक बार मानव-शरीर से भ्रष्ट हो जाने के बाद फिर दूसरे तिर्यंच आदि जन्मों में सम्बोधि—सम्यग्दृष्टि का पाना अतीव दुर्लभ है। क्योंकि जैनदर्शन का यह सिद्धान्त है कि सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के बाद उत्कृष्ट अर्धपुद्गलपरावर्तकाल के पश्चात् फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से मनुष्य शरीर या सम्यग्दर्शनरूप उत्तम धर्म से भ्रष्ट होने के बाद जन्मान्तर में सम्बोधि का पाना दुर्लभ बताया है।

एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यहाँ व्यक्त किया है कि सम्यग्दर्शन या सम्बोधि की प्राप्ति के योग्य शुभलेश्या (आत्मा या अन्तःकरण की शुद्ध परिणति) का प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा अर्चा का अर्थ है—तेजस्वी (ज्वाला के समान) मानव शरीर। जिसने धर्मरूपी बीज नहीं बोया है, उसे तेजस्वी मानव शरीर प्राप्त नहीं होता। तब फिर आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल में जन्म, समस्त इन्द्रियों की पूर्णता इत्यादि सामग्री का मिलना तो और भी दुर्लभ है। साथ ही जो धर्म-प्राप्ति करने योग्य जीव हैं, उनकी-सी लेश्या प्राप्त करना भी जीवों के लिए अत्यन्त कठिन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं ।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ?॥१६॥

संस्कृत छाया

ये धर्मं शुद्ध माख्यान्ति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ।
अनीदृशस्य यत्स्थानं, तस्य जन्म-कथा कुतः ॥१६॥

अन्वयार्थ

(जे) जो महापुरुष (**पडिपुन्नमणेलिसं सुद्धं धम्मं अक्खंति**) प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं, (**अणेलिसस्स जं ठाणं**) वे सर्वोत्तम (अनुपम) स्थान को प्राप्त करते हैं। (**तस्स जम्मकहा कओ**) फिर उनके लिए जन्म लेने की तो बात ही कहाँ है ?

भावार्थ

जो पुरुष प्रतिपूर्ण, सर्वोत्तम और शुद्धधर्म की व्याख्या करते हैं, और स्वयं आचरण करते हैं, वे सब दुःखों से रहित सर्वोत्तम पुरुष का जो स्थान है, उसको प्राप्त करने हैं, उनके लिए फिर जन्म लेने और मरने की बात भी नहीं है।

व्याख्या

परिपूर्ण अनुपम शुद्धधर्म के व्याख्याता : जन्म-मरणरहित

धर्म का उपदेशक कैसे धर्म की व्याख्या करता है ? उसकी क्या स्थिति होती है ? इसे इस गाथा में शास्त्रकार ने बताया है।

जो महापुरुष विशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, रागद्वेषरहित हैं, केवलज्ञान सम्पन्न हैं, हस्तामलकवत् सारे जगत को देखते हैं, परहितरत रहते हैं, वे आयत-चारित्र होने से धर्मपरिपूर्ण हैं, समस्त उपाधियों से वर्जित होने से शुद्ध हैं, या यथाख्यातचारित्ररूप हैं, एवं जो सबसे उत्तम है तथा सब से उत्कृष्ट है, उस धर्म का प्रतिपादन एवं आचरण करते हैं। ऐसे महापुरुष उस स्थान को प्राप्त कर लेते हैं, जो समस्त दुःख-द्वन्द्वों से रहित हैं और जो ऐसे अनुपम ज्ञानदर्शन-चारित्र-सम्पन्न महापुरुष को मिला करता है। जो इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं, उनके लिए जन्म लेने की बात ही नहीं सोची जा सकती, जिसका जन्म ही नहीं होता, उसके मरण के बारे में तो स्वप्न में भी नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि उनके कर्मबीज नष्ट हो चुके हैं, कहा भी है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जैसे बीज जल जाने से उसमें से कोई अंकुर बिलकुल उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

मूल पाठ

कओ कयाइ मेहावी, उप्पज्जंति तहागया ।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा ॥२०॥

संस्कृत छाया

कुतः कदाचित् मेधावी, उत्पद्यन्ते तथागताः ।
तथागता अप्रतिज्ञाश्चक्षुर्लोकस्यानुत्तराः ॥२०॥

अन्वयार्थ

(**तहागया**) इस जगत् में फिर नहीं आने के लिए मोक्ष में गये हुए (**मेहावी**) ज्ञानी पुरुष (**कओ कयाइ उप्पज्जंति ?**) क्या कभी फिर उत्पन्न हो सकते हैं ? कदापि नहीं। (**अप्पडिन्ना तहागया**) निदानरहित वे तीर्थंकर गणधर आदि (**लोकस्सणुत्तरा चक्खू**) प्राणिजगत् के लिए नेत्र के समान हैं।

भावार्थ

जो पुनरागमन से रहित होकर मोक्ष में पहुँच गये हैं, क्या कभी वे मेधावी (केवलज्ञानी) महापुरुष वापस यहाँ लौटकर जन्म ले सकते हैं ? कदापि नहीं। अर्थात्—उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता। वे सब प्रकार की कामनाओं (निदानों) से सर्वथा रहित तीर्थंकर गणधर आदि प्राणियों के सर्वोत्तम नेत्र हैं यानी पथ-प्रदर्शक हैं।

व्याख्या

ऐसे मुक्त महापुरुषों का पुनः जन्म कहाँ ?

यह एक माना हुआ तथ्य है, कि मोक्ष में व्यक्ति तभी जाता है, जब उसके समस्त कर्म कट गए हों, समस्त बन्धनों एवं संसार से मुक्त हो गया हो। इसीलिए एक बार मोक्ष में जाने के बाद फिर यहाँ लौटकर आना नहीं हो सकता, क्योंकि उसके समस्त कर्म कट गये हैं, वापस संसार में आने और जन्ममरण का कोई भी कारण नहीं है। तब वे ज्ञानी महापुरुष अपवित्र गर्भाधानरूप इस संसार में फिर कभी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? निदानरहित अर्थात् सांसारिक सुख-भोगों या पदार्थों की कामना (निदान) से रहित, प्राणिहिततत्पर तीर्थंकर, गणधर आदि संसार के सभी प्राणियों के लिए सत्-असत् पदार्थ के प्रदर्शक होने से नेत्र के समान हैं।

मूल पाठ

अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेइए ।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, णिट्ठं पावंति पंडिया ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

अनुत्तरं च स्थानं तत्, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यत्कृत्वा निर्वृता एके, निष्ठांप्राप्नुवन्ति पण्डिताः ॥२१॥

अन्वयार्थ

(**से ठाणे अणुत्तरे य**) वह संयमरूप स्थान सबसे प्रधान है, (**कासवेण पवेइए**) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने जिसका वर्णन किया है। (**जं किच्चा णिव्वुडा एगे पंडिया निट्ठं पावंति**) जिसका पालन करने से जिनकी कषायाग्नि शान्त हो चुकी हैं वे कई पण्डितसाधक संसार के अन्त को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित संयम नामक स्थान सबसे प्रधान है। जिस संयम की आराधना करके अनेक महापुरुष अपनी कषायाग्नि बुझाकर शीतल बने हैं और वे पापभीरु मुनि संसार के अन्त को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

संयम नामक प्रधान स्थान : संसार के अन्त का कारण

इस गाथा में संयम की महत्ता बताई है। जिससे बढ़कर कोई स्थान नहीं है, उसे अनुत्तर कहते हैं, वह संयम नामक स्थान है। काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने इसका कथन किया है। पाप से निवृत्त और ज्ञानादि शुभक्रिया में प्रवृत्त कोई धीर पुरुष उस सर्वोत्तम संयम स्थान की आराधना करके कषायाग्नि को प्रशान्त करके शीतल बने हैं, और अन्त में वे संसारचक्र का अन्त प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् वे जन्म-मरण के अन्तरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

मूल पाठ

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वई ॥२२॥
ण कुव्वई महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं ।
रयसा सम्मुहीभूया, कम्मं हेच्चा ण जं मयं ॥२३॥

संस्कृत छाया

पण्डितः वीर्यं लब्ध्वा, निर्घाताय प्रवर्त्तकम् ।
धुनीयात् पूर्वकृतं कर्म, नवं वाऽपि न करोति ॥२२॥
न करोति महावीरः, आनुपूर्व्याः कृतं रयः ।
रजसा सम्मुखीभूतः कर्म हित्वा यन्मतम् ॥२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**पडिए णिग्घायाय पवत्तगं वीरियं लद्धुं**) पण्डितपुरुष कर्म का विनाश करने में समर्थ वीर्य को पाकर (**पुव्वकडं कम्मं धुणे**) पूर्वकृत कर्म का नाश करे और (**णवं वाऽवि ण कुव्वइ**) नये कर्मबन्ध न करे ॥२२॥

(**महावीरे**) कर्म विदारण करने में समर्थ धर्मवीर (**अणुपुव्वकडं रयं**) दूसरे प्राणी जो क्रमशः पापकर्म करते हैं (**ण कुव्वई**) उसे नहीं करता, (**रयसा**) क्योंकि वह पापकर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किया जाता है। (**जं मयं कम्म हेच्चाण संमुहीभूता**) अतः पापकर्म अथवा उसके कारण का त्याग करके जो तीर्थंकर आदि महापुरुषों द्वारा सम्मत और मोक्ष के उपायरूप तप-संयमादि द्वारा आठ कर्मों को नष्ट कर मोक्ष के सम्मुख होते हैं। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के योग्य आचरण में ही तत्पर रहते हैं ॥२३॥

भावार्थ

पण्डितसाधक कर्म को विदारण करने में समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करे और नवीन कर्मबन्ध न करे। दूसरे प्राणी मिथ्यात्व आदि क्रम से जो पापकर्म करते हैं, उसे कर्म को विदारण करने में पराक्रमी वीर साधक नहीं करता। पूर्वभवों में कृतपाप के द्वारा ही नये पापकर्म किये जाते हैं। परन्तु वह पुरुष अपने पूर्वकृत पापकर्मों को रोक देता है, और आठ प्रकार के कर्मों को त्यागकर मोक्ष के सम्मुख हो जाता है ॥२२-२३॥

व्याख्या

कर्मों से मुक्त : मोक्षसम्मुख साधक

इन दो गाथाओं में कर्मों को रोकने, क्षय करने, पापकर्मों का सर्वथा त्याग करने और आठों ही कर्मों को त्याग करके मोक्षसम्मुख होने का क्रम बताया है। वास्तव में साधक के लिए समस्त कर्मों से रहित होने का उपाय यही है कि पहले हिताहित-विवेकी पण्डितमुनि अनेक भवों में उपार्जित कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर्य (शक्ति) प्राप्त करे, अनेक भवों में संचित पूर्वकर्मों का त्याग करे और नवीन कर्मों को रोके यानी आस्रवनिरोध करे। साथ ही वह कर्म को विदारण करने में समर्थ साधक दूसरे प्राणी जैसे मिथ्यात्व आदि के क्रम से पापकर्म करता है, वैसे नहीं करता क्योंकि वह पापकर्म पूर्वभव में कृतपाप के प्रभाव से ही किया जाता है। किन्तु वह महासमर्थ वीर साधक सुसंयम का आश्रय लेकर अपने पूर्वकृत कर्मों को तो दबा देता है, और जीवों द्वारा मान्य ८ प्रकार के जो कर्म हैं, उन सबको त्यागकर वह मोक्ष या सत्संयम के सम्मुख हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं ।
साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥
अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया ।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने ॥२५॥

त्ति बेमि ॥

संस्कृत छाया

यन्मतं सर्वसाधूनां, तन्मतं शल्यकर्त्तनम् ।
साधयित्वा तत्तीर्णाः, देवा वा अभूवंश्च ते ॥२४॥
अभूवन् पुरा धीरा, आगमिन्यपि सुव्रता ।
दुर्निबोधस्य मार्गस्यान्तं, प्रादुष्करास्तीर्णाः ॥२५॥

इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ

(**जं सव्वसाहूणं मयं**) जो समस्त साधुओं को मान्य है (**साहइत्ताण सल्लगत्तणं तं मयं**) उस पाप या पाप से उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाले संयम की साधना करके (**तिन्ना**) अनेक जीव संसारसागर से तरे (पार हुए) हैं, (**देवा वा अभविंसु**) अथवा वे देवता हुए हैं ॥२४॥

(**पुरा धीरा अभविंसु**) प्राचीनकाल में धीर (वीर) पुरुष हो चुके हैं, (**आगमिस्सा वि सुव्वया**) और भविष्य में भी सुव्रत पुरुष होंगे, (**दुन्निबोहस्स मग्गस्स**) यानी दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग के (**अंतं**) अन्त को पाकर तथा (**पाउकरा**) उस मार्ग को प्रकाशित करके (**तिन्ने**) संसारसागर से पार हुए हैं ।

भावार्थ

समस्त साधुओं को मान्य जो संयम है, वह पाप या पाप से उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाला है। इसलिए अनेक साधक उस संयम की आराधना करके संसारसागर से तरे (पार हुए) हैं अथवा वे देव हुए हैं ॥२४॥

प्राचीनकाल में बहुत से वीर पुरुष हुए हैं, भविष्य में भी होंगे, वे दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के अन्त (सिरे) को पाकर तथा दूसरों के सामने उस मार्ग को प्रकाशित करके संसार से पार हुए हैं ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

संयम एवं मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम

इन दोनों गाथाओं में शास्त्रकार ने संयम एवं मोक्षमार्ग की साधना का सुपरिणाम संक्षेप में बताया है।

शास्त्रकार का कहना है कि संयम एक ऐसा महत्त्वपूर्ण एवं सर्वसाधुओं द्वारा मान्य स्थान है, जो पाप या उससे उत्पन्न कर्मरूप शल्य को काटने वाला है। उस संयम का शास्त्रानुकूल सम्यक्रूप से अनुष्ठान करके या उसकी साधना करके बहुत से साधक संसारसागर से पार हुए हैं। जिनके कर्म पूर्णतया क्षय नहीं हुए, वे सम्यक्त्वप्राप्त सच्चारित्री साधक वैमानिक देव हुए हैं, या आगे चलकर होंगे।

अब शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का माहात्म्य और सुपरिणाम बताते हुए कहते हैं कि कर्म को विदारण करने में समर्थ बहुत से वीरसाधक पूर्वकाल में हो चुके हैं, भविष्य में भी उत्तम संयम का अनुष्ठान करने वाले बहुत से साधक होंगे और वर्तमान काल में भी वैसे ही धीरसाधक हैं। उन साधकों ने संसारसागर को कैसे पार किया, पार करेंगे या पार करते हैं। इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की अन्तिम सीमा (पराकाष्ठा) पर पहुँचकर तथा दूसरों के समक्ष उस मार्ग को प्रकाशित करके तथा स्वयं उसका आचरण करते हुए संसारसागर से वे पार हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। **'त्ति'** शब्द समाप्ति का सूचक है, **'बेमि'** का अर्थ पूर्ववत् है।

सूत्रकृतांग सूत्र का पन्द्रहवाँ आदानीय नामक अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ आदानीय नामक पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा : सोलहवाँ अध्ययन

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

पन्द्रहवें अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब सोलहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम **गाहा— गाथा** है। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम अध्ययन है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि इससे पहले १५ अध्ययनों में जो-जो बातें कही गई हैं, उनमें से जिनका विधान है, उनका विधिरूप से और जिनका निषेध है, उनका निषेध रूप से पालन करने वाला--यानी उन विधि-निषेधों का उसी तरह आचरण करनेवाला व्यक्ति साधु (उपलक्षण से साध्वी वृन्द भी) हो सकता है। इस अध्ययन में प्रतिपादित अर्थ के साथ पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों की संगति इस प्रकार है—**प्रथम अध्ययन** में प्रतिपादित स्वसमय-परसमय का ज्ञान प्राप्त करने से साधु सम्यक्त्वगुण में स्थिर होता है। **दूसरे अध्ययन** में कहे हुए कर्मों को विदारण करने वाले ज्ञान आदि के द्वारा ८ कर्मों के विनाश में समर्थ साधु होता है। **तीसरे अध्ययन** में बताये गए अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला साधु होता है। **चौथे अध्ययन** में बताये गये दुःसह स्त्री-परीषह को जिसने सहन कर लिया है, वही साधु है। **पंचम अध्ययन** में कही हुई नरक की पीड़ा को सुनकर नरक में ले जाने वाले दुष्कर्मों का जो त्याग कर देता है, वही साधुता को प्राप्त करता है। **छठे अध्ययन** में यह प्रेरणा दी गई कि जैसे चार ज्ञान के धारक श्रमण भगवान् महावीर ने कर्मक्षय के लिए उद्यत होकर संयमपालन का पुरुषार्थ किया, वैसे ही अन्य छद्मस्थ साधुओं को करना चाहिए। **सातवें अध्ययन** में यह प्ररूपण है कि कुशील के दोषों को जानकर जो साधक उन्हें त्यागकर सुशील में स्थित होता है, वही सुविहित साधु होता है। **आठवें अध्ययन** में बताया गया है कि मोक्षाभिलाषी साधकों को बालवीर्य का त्याग करके पण्डितवीर्य के लिए उद्यत होना चाहिए। **नौवें अध्ययन** में कहा गया है कि शास्त्रोक्त क्षमा आदि श्रमणधर्मों को यथावत् पालता हुआ साधक संसार से मुक्त हो जाता है। **दसवें अध्ययन** में कहा है सर्वाङ्गीण समाधि से युक्त साधक मोक्ष प्राप्त करता है। **ग्यारहवें अध्ययन** में बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी उत्तम भावमार्ग को प्राप्त करके साधक क्लेशों का नाश करता है। **बारहवें अध्ययन** में बताया गया है कि अन्य-

६८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थिकों के एकान्तवादी दर्शनों को गुण-दोष विचार के सहित भली-भाँति जानता हुआ पुरुष उनमें श्रद्धा नहीं करता। **तेरहवें अध्ययन** में कहा गया है कि शिष्य के गुण-दोषों को जानने वाला तथा सद्गुणों में प्रवृत्त साधु ही स्वपरकल्याणकर्ता होता है। **चौदहवें अध्ययन** में यह कथन है कि जिसका अन्तःकरण प्रशस्तभावों से भावित होता है, वही निःशंक तथा शान्त होता है। **पन्द्रहवें अध्ययन** में बताया गया है कि शास्त्रोक्त चारित्र का पालन करने वाला साधु मोक्ष-साधक होता है।

संक्षेप में, इस अध्ययन में यह बताया गया है कि जो समस्त पापकर्मों से विरत है, राग-द्वेष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परनिन्दा-अरति-रति-मायामृषावाद-मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है, समितियुक्त है, ज्ञानादि गुण सहित है, सर्वदा संयम में प्रयत्नशील है, क्रोध-अभिमान से दूर है, वह माहण है। इसी तरह जो अनासक्त, निदानरहित, कषायमुक्त, हिंसा-असत्य-अब्रह्मचर्य-परिग्रह से रहित है, वह श्रमण है। जो अभिमानरहित, विनयसम्पन्न, परीषहों और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाला, आध्यात्मिक वृत्तियुक्त है, परदत्तभोजी है, वह भिक्षु है। जो ग्रन्थ-रहित (परिग्रहादि विरत) एकाकी है, एकविद् (एकमात्र आत्मा का ही ज्ञाता) है, पूजा-सत्कार का अभिलाषी नहीं है, वह निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में माहण, श्रमण, भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। यह पिछले समस्त अध्ययनों का सार है। इस अध्ययन का नाम गाथा-षोडशक भी है।

गाथा-अध्ययन क्या और कैसे ?

गाथा के चार निक्षेप होते हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम-गाथा, स्थापनागाथा तो सुगम हैं। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्य-गाथा यह है कि जो पुस्तक और पन्नों पर लिखी हुई है जैसे **'जयति'** इत्यादि। अथवा पुस्तक और पन्नों पर लिखी हुई यह षोडश-अध्ययनरूपा गाथा ही द्रव्यगाथा है। निर्युक्तिकार 'गाथा' शब्द का विश्लेषण करते हुए कहते हैं— जिसका उच्चारण मधुर, कर्णप्रिय एवं सुन्दर हो, वह मधुरा भी गाथा है क्योंकि वह मधुर शब्दों से बनी हुई होती है। अथवा जो मधुर अक्षरों में प्रवृत्त करके गाई—पढ़ी जाती है, उसका नाम भी गाथा है। अथवा जो सामुद्र छन्द में रची गई हो, वह गाथा है। गाथा का सामुद्र छन्द की दृष्टि से वृत्तिकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—जो अनिबद्ध है—छन्दोबद्ध नहीं है, पण्डितों ने उसे संसार में 'गाथा' नाम दिया है।[1] मालूम होता है, यह अध्ययन किसी प्रकार के पद्य में रचित नहीं है, फिर भी गाया (पढ़ा) जा सकता है, इसलिए इसका नाम **'गाथा'** रखा गया है। अथवा जिसमें बहुत-सा अर्थसमूह एकत्रकर समाविष्ट किया गया हो, वह गाथा है। अर्थात् पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो अर्थ (बातें) कहे गए हैं, उन सबको पिण्डित—एकत्रित

---

१. 'तच्चेदं छन्दः—अनिबद्धं च यल्लोके गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्' —सूत्र० वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके प्रस्तुत अध्ययन में समाविष्ट किया गया है, इस कारण इसे गाथा अध्ययन कहते हैं। अथवा पन्द्रह अध्ययनों में साधुओं के क्षमा आदि जो गुण विधि-निषेधरूप में बताये गये हैं, वे इस सोलहवें अध्ययन में एकत्र करके प्रशंसात्मक रूप में कहे जाते हैं, इसलिए इस अध्ययन को गाथा कहते हैं। **भावगाथा** वह है, जिसमें क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न गाथा से प्रति साकारोपयोग हो, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुत क्षायोपशमिक भाव में ही माना जाता है। श्रुतरूप शास्त्र में निराकारोपयोग सम्भव नहीं है।

शास्त्रकार अब क्रमप्राप्त सूत्र का अस्खलित आदि गुणों के साथ उच्चारण करते हैं—

मूल पाठ

अहाह भगवं—एवं से दंते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा १ समणेत्ति वा २, भिक्खूत्ति वा ३, णिग्गंथेत्ति वा ४॥

पडिआह—भंते ! कहं नु दंते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा ? तं नो बूहि महामुणी ! ॥सूत्र १॥

संस्कृत छाया

अथाह भगवान् एवं स दान्तो, द्रव्यो, व्युत्सृष्टकाय इति वाच्यः—माहन इति वा, श्रमण इति वा, भिक्षुरिति वा, निर्ग्रन्थ इति वा॥

प्रत्याह—भदन्त ! कथं नु दान्तो, द्रव्यो, व्युत्सृष्टकाय इति वाच्यः माहन इति वा, श्रमण इति वा, भिक्षुरिति वा, निर्ग्रन्थ इति वा ? तन्नो ब्रूहि महामुने ! ॥सूत्र १॥

अन्वयार्थ

(अह भगवं आह) पन्द्रह अध्ययन कहने के बाद भगवान् ने कहा कि (**एवं से दंते, दविए, वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा**) पन्द्रह अध्ययनों में उक्त अर्थों (गुणों) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश में कर चुका है, मुक्तिगमन-योग्य है, जिसने शरीर का व्युत्सर्ग कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

(पडिआह) शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—(**भंते ! कहं नु दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति, माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा वच्चे ?**) हे भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनों के कथित अर्थों (गुणों) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय-मनोविजयी है, मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य) है, एवं काया का व्युत्सर्ग कर चुका है, उसे क्यों माहन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? (तं नो बूहि महागुणी) हे महामुने ! वह हमें आप बताइए ।

भावार्थ

पन्द्रह अध्ययन कहने के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—"पन्द्रह अध्ययनों में कथित अर्थों (बातों) से युक्त जो पुरुष इन्द्रिय और मन को वश में कर चुका है, मुक्तिगमन के योग्य (द्रव्य) है, जिसने शरीर पर से ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ।" शिष्य ने पूछा—"भदन्त ! पन्द्रह अध्ययनों में उक्त अर्थों से सम्पन्न जो पुरुष इन्द्रिय और मन को जीत चुका है, मोक्षगमन के योग्य (भव्य) है तथा कायव्युत्सर्ग कर चुका है, उसे क्यों माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमें बताइए ।"

व्याख्या

माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ : स्वरूप और प्रतिप्रश्न

इस सूत्र में यह बताया गया है कि श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यों के सामने जब पन्द्रह अध्ययनों में उक्त साधु-गुणों के सम्बन्ध में श्रमण भगवान् महावीर के उद्गार प्रस्तुत किये कि ऐसा व्यक्ति माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तब उसी के सम्बन्ध में जम्बूस्वामी आदि ने प्रतिप्रश्न किया है ।

यहाँ 'अथ' शब्द प्रथम और अन्तिम मंगल-रूप होने से वह इस श्रुतस्कन्ध के अन्तिम मंगल का सूचक है । अथवा अथ शब्द 'अनन्तर' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है पन्द्रह अध्ययनों के पश्चात उनके अर्थों को एकत्रित करने वाला यह सोलहवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है । अर्थात् इसके पश्चात् उत्पन्न दिव्य-ज्ञानसम्पन्न भगवान् महावीर ने देवों और मनुष्यों से परिपूर्ण परिषद् में ऐसी (आगे कही जाने वाली) बात कही है । यह कहकर श्री सुधर्मास्वामी यह कहना चाहते हैं कि पिछले १५ अध्ययनों में या इस गाथा अध्ययन में जो कुछ भी उपदेश दिया गया है, वह सब भगवान् का है, मेरा इसमें कुछ नहीं है । मैं तो उनके द्वारा कथित उद्गारों का व्यवस्थित रूप से सम्पादन करने वाला हूँ, इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है ।

भगवान् ने क्या कहा था ? इसे शास्त्रकार उट्टंकित करते हैं—"१५ अध्ययनों में जो विधि-निषेधरूप उपदेश दिया गया है, उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधु दान्त, द्रव्य और व्युत्सृष्टकाय है तो निःसन्देह उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है । दान्त उसे कहते हैं—जो साधक इन्द्रिय और मन का दमन करता है, पापाचरण में या सावद्यकार्यों में प्रवृत्त होने से रोक लेता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना ही नहीं, उसकी इन्द्रियाँ और मन इतने अभ्यस्त हो जाएँ कि विपरीत मार्ग पर जाएँ ही नहीं। तथा मुक्ति जाने योग्य होने से द्रव्यभूत है, अथवा भव्य अर्थ में द्रव्य में शब्द का प्रयोग होता है। इसके अनुसार उत्तम जाति के सुवर्ण की तरह राग-द्वेष के समय होने वाले अपद्रव्य—यानी बुराइयों से रहित होने के कारण जो शुद्ध द्रव्यभूत है। शरीर को सजाने-संवारने, शृंगारित करने आदि शारीरिक संस्कारों का जिसने त्याग कर दिया हो और जो शरीर से सब प्रकार का ममत्व त्याग चुका हो, वह साधक व्युत्सृष्टकाय कहलाता है। ऐसे विशिष्ट गुणों से सुशोभित साधक को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए, भिक्षु कहना चाहिए या उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए। माहन का अर्थ होता है जो स्वयं स्थावर, जंगम, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त भेद वाले प्राणियों का हनन नहीं करता है, 'और किसी भी प्राणी का हनन मत करो' इसी प्रकार का उपदेश वह दूसरों को भी देता है। **'समण'** शब्द प्राकृत भाषा का है, उसके संस्कृत में तीन रूप होते हैं-- **श्रमण, शमन** और **समन**। **श्रमण का अर्थ है**—जो तप-संयम में यथाशक्ति श्रम-पुरुषार्थ करता है। **शमन का अर्थ है**— कषायों का उपशमन करने वाला। तीसरे **समन का अर्थ** है --जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम है। अथवा प्राणिमात्र पर अनुकम्पा की भावना से युक्त हो, वह भी 'समन' कहलाता है।

'भिक्षु' का अर्थ है—जो स्वयं पचन-पाचन आदि क्रिया नहीं करता, न पैसे से भोजनादि मोल लेता है, न खरीद कर लाया हुआ भोजन लेता है, किन्तु निर्दोष, कल्पनीय, एषणीय, निरवद्य, अचित्त, आहारपानी भिक्षा के रूप में ग्रहण करके जीवन निर्वाह करता है, जो निरवद्य भिक्षाशील है, भिक्षाजीवी है। अथवा जो आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। अथवा जो इन्द्रियदमन आदि भासुर (देदीप्यमान) गुणों से युक्त होता है, उसे भी भिक्षु कहना चाहिए।

निर्ग्रन्थ उसे कहते हैं --जिसकी बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ नष्ट हो गई हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने कहा कि पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में उक्त अर्थों के अनुसार अनुष्ठान करने वाले दान्त, शान्त, मोक्ष-प्राप्ति योग्य, विदेह (देह ममत्वत्यागी) साधु को माहन कहना चाहिए, श्रमण कहना चाहिए या भिक्षु कहना चाहिए अथवा उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

इसे सुनकर श्री जम्बूस्वामी आदि ने श्री सुधर्मास्वामी से सविनय प्रतिप्रश्न किया कि तथारूप साधक को माहन, श्रमण, आदि क्यों और किस अपेक्षा से कहा गया है ? यह आप हमें बताएँ ? क्योंकि आप **भदन्त** (कल्याणकारी) हैं अथवा आप भय का अन्त करने वाले हैं, या भव (संसार) का अन्त करने वाले हैं। हे महामुने ! आप त्रिकालज्ञ हैं, भगवान् के संघ के एक विशिष्ट प्रतिनिधि हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सुधर्मास्वामी भगवान् के आशय को स्पष्ट करने के लिए और शिष्यों के समाधानार्थ अगले सूत्रों में कहते हैं --

मूल पाठ

इति विरए सव्वपावकम्मेहिं पिज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरति-रति-मायामोस - मिच्छादंसणसल्लविरए, सहिए समिए, सया जए णो कुज्झे, णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥सूत्र २॥

संस्कृत छाया

इति विरतः सर्वपापकर्मभ्यः प्रेम-द्वेष-कलहाभ्याख्यान-पैशुन्य-पर-परीवादारतिरति-माया-मृषा-मिथ्यादर्शनशल्यविरतः सहितः समितः, सदा यतः न क्रुध्येन्नो मानी माहन इति वाच्यः ॥सूत्र २॥

अन्वयार्थ

(**इति सव्वपावकम्मेहिं विरए**) पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार आचरण करने वाला जो साधक समस्त पापों से निवृत्त है, (**पिज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्लविरए**) जो किसी पर राग-द्वेष नहीं करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर झूठा दोषारोपण नहीं करता, किसी की चुगली नहीं करता, दूसरों की निन्दा नहीं करता, जिसकी संयम में अरुचि और असंयम में रुचि नहीं है, कपटयुक्त झूठ नहीं बोलता (दम्भ नहीं करता), यानी १८ ही पापस्थानों में विरत होता है, (**समिए सहिए**) पाँच समितियों से युक्त है, ज्ञानदर्शनचारित्र से युक्त है,(**सया जए**) सदा षट्जीव-निकाय की यतना (रक्षा) करने में तत्पर रहता है, अथवा सदा इन्द्रियजयी होता है, (**णो कुज्झे णो माणी**) किसी पर क्रोध नहीं करता और न मान करता है, इन गुणों से सम्पन्न अनगार 'माहन' कहे जाने योग्य है।

भावार्थ

पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में उपदिष्ट बातों के अनुसार आचरण करने वाला जो साधक सब पापों से निवृत्त है, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, किसी से कलह नहीं करता, किसी के प्रति मिथ्यादोषारोपण नहीं करता, किसी की चुगली नहीं खाता, किसी की निन्दा नहीं करता, जिसकी संयम में अरुचि और असंयम में रुचि नहीं होती, जो मायाचार नहीं करता तथा मिथ्यात्वरूपी शल्य से विरत है, पाँच समितियों से तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से युक्त है, सदा इन्द्रियजयी है या सदा छहकाय के जीवों पर यतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, न कभी मान करता है, ऐसा साधक ही माहन कहलाने योग्य है।

व्याख्या

ऐसे साधुओं को 'माहन' क्यों कहा जाए ?

पूर्वसूत्र में जम्बूस्वामी आदि द्वारा यह प्रश्न उठाया गया था कि पूर्वोक्त विशिष्ट गुणयुक्त साधु को माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिए ? इसके उत्तर में श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा प्रश्न के एक अंश 'माहन' के सम्बन्ध में इस सूत्र में बताया गया है। वास्तव में **माहन** का तात्पर्य होता है —किसी भी प्रकार से, किसी भी जीव की, मन-वचन-काया से हिंसा न करना, न कराना और न हिंसा का अनुमोदन करना। राग-द्वेष से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य[1] तक जो पापस्थान गिनाएँ हैं, उनके सेवन से भावहिंसा तो अवश्य होती है। भावहिंसा द्रव्यहिंसा से भी अधिक भयंकर है। द्रव्यहिंसा बाद में हो, चाहे न हो, घोर कर्मबन्धन तो भावहिंसा से तुरन्त हो ही जाता है। इसलिए उक्त साधक को **'माहन'**[2] कहने के पीछे भगवान् का आशय यही है कि वह राग-द्वेष से लेकर मिथ्यादर्शन तक जो पापस्थान भावहिंसा के मूल कारण हैं उनसे विरत रहता है। इन सबके अर्थों का स्पष्टीकरण भावार्थ में कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त उस साधक को माहन इसलिए कहा जाना चाहिए कि वह पाँच समिति और उपलक्षण से तीन गुप्तियों से युक्त है। ये अष्ट प्रवचन-माताएँ ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग की प्रवृत्ति के समय या मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के समय अहिंसा-सत्यादि महाव्रतों की रक्षा करती हैं, साधक को सावधान रखती हैं, जैसे मारना हिंसा है, वैसे झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि भी एक तरह से हिंसा है —भावहिंसा है। जो साधु पाँच समिति और तीन गुप्ति से सम्पन्न है, वह इस प्रकार की भावहिंसा से दूर है इसलिए उसका माहन पद सार्थक है। फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये रत्नत्रय हिंसानिवारण का अमोघ उपायभूत मार्ग है, इससे सुशोभित साधु माहन ही तो कहलाएगा। इसके अनन्तर

---

१. जगत् में कोई पदार्थ नहीं है, कोई भी नित्य नहीं है, न कोई कर्म करता है, न कोई कर्म का फल भोगता है, तथा मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है, और उसकी प्राप्ति का कोई भी उपाय नहीं है, ये ६ मिथ्यात्व के स्थान हैं, जो शल्य के समान महाभयंकर हैं, भावहिंसाजनक हैं, माहन इस मिथ्यादर्शनशल्य से निवृत्त है।

—**सम्पादक**

२. मा + हन (**मत हिंसा करो**) इन दो शब्दों से माहन शब्द बनता है, 'हन हिंसा-गत्योः' धातु से 'हन' शब्द बनता है जो हनन करता है, वह हन है, जो हनन नहीं करता वह माहन है। अर्थात् जो किसी प्रकार से हिंसा नहीं करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'**सया जए**' शब्द है, जिसका एक अर्थ होता है, जो साधक षड्जीवनिकाय की रक्षा करने में सदा यत्नवान होता है, दूसरा अर्थ होता है—जो इन्द्रियों को सावद्य व्यापार (जो कि हिंसाजनक होता है) में जाने नहीं देता, उन पर विजय पाया हुआ है, ऐसे साधक को भी 'माहन' कहना अनुचित नहीं। आगे जो दो वाक्य हैं कि वह किसी पर क्रोध नहीं करता, अभिमान नहीं करता, वे भी उसकी परम अहिंसा के द्योतक हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया लोभ इन चारों कषायों का सेवन करने से भावहिंसा होती है। जो साधक क्रोधमानरूप भावहिंसा से दूर रहता है, वह माहन कहलाने योग्य है ही। इन सब दृष्टियों से या गुणों के कारण पूर्वोक्त साधक को माहन कहा जाना युक्तियुक्त है।

मूल पाठ

एत्थवि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाणं च अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणाओ पुव्वि पडिविरए पाणाइवाया सिया दंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ॥सूत्र ३॥

संस्कृत छाया

अत्राऽपि श्रमणोऽनिश्रितोऽनिदानः आदानं चातिपातं च, मृषावादं च, बहिर्द्धञ्च, क्रोधं च, मानं च, मायां च, लोभं च, प्रेम च, द्वेषं च, इत्येव यतो यत आदानमात्मनः प्रद्वेषहेतून् ततस्तत आदानात् पूर्वं प्रतिविरतः प्राणातिपातात् स्याद् दान्तो द्रव्यो व्युत्सृष्टकायः श्रमण इति वाच्यः ॥सूत्र ३॥

अन्वयार्थ

(**एत्थवि समणे**) जो श्रमण पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से युक्त है उसे आगे (यहाँ) कहे जाने वाले गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। (**अणिस्सिए अणियाणे**) जो शरीर आदि में आसक्त नहीं है, तथा जो किसी भी सांसारिक फल की आकांक्षा, कामना (निदान) नहीं करता है। (**आदाणं**) जिनसे कर्मों का आदान—ग्रहण हो, यानी कर्मबन्ध के कारणभूत (**अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च**) प्राणिहिंसा, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह उपलक्षण से अदत्तादान से रहित है, (**कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च**) इसी तरह जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता है, (**इच्चेव जओ जओ अप्पणो पद्दोसहेऊ**) इस प्रकार जिन-जिन बातों से आत्मा की इहलोक-परलोक में हानि दिखती है, तथा जो-जो अपनी आत्मा के लिए द्वेष के कारण हैं, (**तओ तओ पाणाइवाया आदाणाओ पुव्वं पडिविरए**) उन-उन प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारणों से पहले से ही जो निवृत्त है, तथा जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**दंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे सिया**) इन्द्रियविजयी, मुक्तिगमन के योग्य और जो शरीर के ममत्व से रहित है, उसे श्रमण करना चाहिए।

भावार्थ

जो श्रमण पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से विशिष्ट है, उसे आगे (यहाँ) कहे जाने वाले गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। जो शरीरादि में आसक्त न रहता हुआ, अपनी तप आदि साधना के सांसारिक फल की आकांक्षा (निदान) नहीं करता है, एवं जो कर्मबन्धन के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से रहित है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता है, एवं जिन जिन प्रवृत्तियों से इहलोक और परलोक में आत्मा की हानि होती है, या जिन-जिन कार्यों से कर्मबन्ध होता है, जिससे आत्मा द्वेष का भाजन (कारण) बनता है, उन-उन प्राणातिपात आदि कर्मबन्ध के कारणों से जो पहले से ही निवृत्त है। जो इन्द्रियविजेता है, मोक्षगमन के योग्य है, तथा शरीर के ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

व्याख्या

ऐसे साधक को 'श्रमण' कहने में कोई आपत्ति नहीं

पहले सूत्र की व्याख्या करते समय श्रमण के हमने तीन अर्थ बताए थे। मूल में '**समण**' शब्द है, उसका पहला रूप श्रमण होता है। श्रमण अपने ही पुरुषार्थ के बल पर जीता है, वह दूसरे किसी भी देवी-देव या किसी धनिक या सत्ताधीश के आगे गिड़गिड़ाता नहीं, वह कष्ट या आफत आने पर स्वयं ही सामना करता है, आत्मा स्वयं ही कर्मों से बंधा है, इसलिए स्वयं ही छूट सकता है यह उसका निश्चित सिद्धान्त है, इसीलिए यहाँ श्रमण की योग्यता के लिए '**अनिश्रित**' शब्द का प्रयोग किया है। यानि वह किसी का आश्रित बनकर—परभाग्योपजीवी बनकर नहीं जीता, वह स्वयं संयम और तप में पुरुषार्थ करके आगे बढ़ेगा। दूसरा विशेषण है—'**अणियाणे**' वह श्रमण जो तपस्या करता है, अपने कर्मों को काटने के लिए मोक्षप्राप्ति के लिए, लेकिन वह अपनी तपस्या के साथ उसके फल के रूप से किसी भी प्रकार की इहलौकिक या पारलौकिक कामना, नामना या सांसारिक सुख-भोग की आकांक्षा (निदान) को नहीं जोड़ेगा, वह निर्निदान रहेगा। इसी तरह दूसरों की आशा न रखकर श्रमण मोक्ष के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, या चारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना अपने श्रम के बल पर करेगा। इसी प्रकार श्रमण का जितना भी श्रम या तप होता है, वह कर्मक्षय के लिए होता है, जिन हिंसा आदि से कर्म-बन्धन होता हो, उन्हें वह क्यों अपनाएगा। इसीलिए यहाँ हिंसा, झूठ, मैथुन, परिग्रह आदि पाप कर्मबन्धन के कारणों (आदानों) से दूर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना श्रमण के लिए आवश्यक बताया है। समण का एक रूप होता है **'शमन'**। जो कषायों या राग-द्वेष का शमन करता है, वह शमन है। इसीलिए यहाँ क्रोध से लेकर रागद्वेष तक के विकारों का शमन भी श्रमण के लिए आवश्यक बताया है। इसके अतिरिक्त जो-जो कर्मबन्धन के कारण हैं, उन-उन से कर्मक्षयपुरुषार्थी श्रमण दूर ही रहता है। और तीसरा रूप जो **समन** है, वह सूचित करता है कि श्रमण के जीवन में समभाव होना चाहिए, उसे द्वेष के कारणों एवं राग या मोह के कारणों से दूर रहकर समत्व में स्थित रहना आवश्यक है। इसलिए **'अणिस्सिए'** से लेकर **'वोसट्ठकाए'** तक के जो गुण आवश्यक बताए हैं, **'समण'** शब्द के तीनों रूपों में आ जाते हैं। अतः ऐसे गुणों से युक्त साधक को श्रमण कहना पूर्णतया उचित है।

मूल पाठ

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए, संविधुणीय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥सूत्र ४॥

संस्कृत छाया

अत्रापि भिक्षुरनुन्नतो विनीतो नामको दान्तो द्रव्यो (द्रविकः) व्युत्सृष्टकायः संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अध्यात्मयोगशुद्धादान उपस्थितः स्थितात्मा संख्याय परदत्तभोजी भिक्षुरिति वाच्यः ॥सूत्र ४॥

अन्वयार्थ

(**एत्थवि भिक्खू**) 'माहन' और 'श्रमण' शब्द के अर्थ में जितने गुण पूर्वसूत्र में वर्णित हैं, वे यहाँ भिक्षु में भी होने चाहिए। इसके अतिरिक्त यहाँ भिक्षु के लिए जो विशिष्ट गुण हैं, उनका होना भी आवश्यक है। जैसे (**अणुन्नए**) अनुन्नत यानी वह अभिमानी न हो, (**विणीए**) गुरु आदि या ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो, (**नामए**) सबके प्रति नम्र व्यवहार करता हो, (**दंते**) इन्द्रिय और मन को वश में रखता हो, (**दविए**) मुक्ति प्राप्त करने योग्य गुणों से युक्त हो, (**वोसट्ठकाए**) शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो, (**विरूवरूवे परिसहोवसग्गे संविधुणीय**) नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों का समभाव से सामना करके सहने वाला (**अज्झप्पजोग सुद्धादाणे**) जिसका चारित्र अध्यात्मयोग से शुद्ध है, (**उवट्ठिए**) जो सच्चारित्र के पालन में उद्यत है—उपस्थित है, (**ठिअप्पा**) जो स्थितप्रज्ञ है, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्धभाव में स्थित है, या जिसका चित्त मोक्षमार्ग में स्थिर है, (**संखाए परदत्तभोई**) संसार को असार जानकर दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिये गए आहार से जो अपना निर्वाह करता है, (**भिक्खूत्ति वच्चे**) उस साधु को भिक्षु कहना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ

'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रों में वर्णित हैं, वे सभी गुण यहाँ वर्णित भिक्षु में होने आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त ये (आगे कहे जाने वाले) विशिष्ट गुण भी भिक्षु में होने चाहिए। जैसे वह साधु निरभिमानी हो, गुरु आदि अथवा सम्यग्ज्ञानादि के प्रति विनीत हो, सबके प्रति उसका व्यवहार नम्र हो, इन्द्रिय-मनोविजेता हो, जो मोक्षप्राप्ति के योग्य गुणों से सम्पन्न हो, जो शरीर के प्रति अनासक्त रहकर परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सह लेता हो, जिसका चारित्र अध्यात्मयोग के प्रभाव से निर्मल हो, जो उत्तम चारित्र-पालन में उद्यत हो, और जो स्थितप्रज्ञ हो, अथवा जिसकी आत्मा अपने आत्मभाव में स्थित हो या जिसका चित्त मोक्षमार्ग में स्थिर हो, तथा जो संसार को निःसार जानकर दूसरे के द्वारा दिये हुए एषणीय प्रासुक कल्पनीय आहार-पानी (भिक्षान्नमात्र) से अपना निर्वाह करता हो, उसे निःसन्देह भिक्षु कहना चाहिए।

व्याख्या

इतने गुणों से सम्पन्न ही वास्तव में भिक्षु है

त्यागी साधु की भिक्षा भीख माँगना नहीं है, साधु पेशेवर भिखारी कतई नहीं है और न भिक्षा से पेट पालकर शरीर को हृष्टपुष्ट बनाकर आलसी एवं निकम्मे बनकर पड़े रहना है। आचार्य हरिभद्रसूरि के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखें तो जैनसाधु की भिक्षा सर्वसम्पत्करी है, उसकी भिक्षा पुरुषार्थ को नष्ट करने वाली न तो पौरुषघ्नी है, और न ही वह आजीविका भिक्षा है। दूसरी बात यह है कि आध्यात्मिक जगत् में भिक्षा लेने का अधिकार उसी को है, जो अपने जीवन को आध्यात्मिक साधना द्वारा, या रत्नत्रय की आराधना द्वारा उन्नत बनाता हो, जो अहर्निश तप-संयम में, स्वपरकल्याण में पुरुषार्थ करता हो, वही सच्चे माने में भिक्षु कहलाने योग्य है। इस तथ्य के प्रकाश में जब हम भिक्षु के गुणों की नापतौल करते हैं तो इस सूत्र में बताये गए सभी गुण यथार्थ हैं। एक भी गुण ऐसा नहीं है, जो भिक्षु के लिए उचित और अनिवार्य न हो। भिक्षु स्वपरकल्याण के लिए तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना के लिए अहर्निश आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है। वह अहिंसा की दृष्टि से स्वयं भोजन पकाता या पकवाता नहीं, और अपरिग्रह की दृष्टि से स्वयं मोल नहीं खरीदता, न मोल खरीदा हुआ लेता है, ऐसी स्थिति में वह गृहस्थवर्ग से अपने लिए बनाये हुए आहारादि में से उनके द्वारा दिया हुआ थोड़ा-थोड़ा लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। गृहस्थ के यहाँ बने हुए आहार को भी वह छीनकर, चुराकर, या बिना पूछे उठाकर नहीं लाता और न ही वहाँ से अनेषणीय, अकल्पनीय या सचित्त वस्तु लाता है, वृक्ष आदि पर लगे हुए पके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फलों को भी वह स्वयं तोड़कर नहीं लेता, और न किसी सूने घर में या रास्ते में पड़ी किसी के स्वामित्व से रहित वस्तु को उठाता है या उसका उपयोग या उपभोग करता है। वह जब भी कोई चीज लेगा भिक्षावृत्ति के द्वारा भिक्षा के अपने नियमानुसार प्राप्त और दूसरे के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दी हुई वस्तु का ही उपयोग या उपभोग करेगा। इसीलिए भिक्षु का सबसे बड़ा गुण यहाँ बताया है—**'परदत्तभोई'** किन्तु **'परदत्तभोजिता'** का अर्थ यह नहीं है कि जैनभिक्षु का भिक्षा का पेशा या धन्धा हो। ऐसा करने वाला दीन-हीन बन जाएगा, उसकी तेजस्विता समाप्त हो जाएगी, उसे भिक्षा लेने का अधिकार उसकी स्वपरकल्याण की या मोक्ष की साधना को लेकर है। जब कोई व्यक्ति भिक्षा को अपनी आजीविका का साधन या अधिकार की वस्तु बना लेता है तो उसमें अभिमान आ जाता है, वह उद्धत होकर दूसरों पर धौंस जमाने लगता है, अगर उसे भिक्षा न दोगे तो वह श्राप या अन्य अनिष्टकारक विधि से उसका अनिष्ट कर देगा, इस प्रकार की धमकी देने लगता है, अथवा जब उसे भिक्षा नहीं दी जाती है या नहीं मिलती है तो वह उन गृहस्थों को अपशब्द कहने लगता है, भला-बुरा कहने लगता है या उसे या उस गाँव या नगर को कोसने लगता है, यह स्थिति सर्वसम्पत्करी भिक्षाजीवी भिक्षु के लिए उचित नहीं है, इसीलिए यहाँ भिक्षु के चार विशिष्ट गुण दिये हैं, जो भिक्षा करने के साथ-साथ उसमें आने जरूरी हैं—**'अणुन्नए विणीए नामए दंते'** यानी भिक्षु में भिक्षाजीविता के साथ-साथ निरभिमानिता या अनुद्धतता (द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से), विनीतता, नम्रता और इन्द्रिय-मनोविजयिता होनी अनिवार्य है। वह शरीर से भी अक्खड़पन न जताए तथा मन में भी उद्धतता या गर्व न लाए। न किसी गृहस्थ पर धौंस जमाए, न श्राप आदि अपशब्दों का प्रयोग करे। भिक्षा कभी न मिली या देर से मिली तो मन में भी रोष, द्वेषभाव न लाए। और यह सोचे कि आत्मा तो निराहारी, निर्वस्त्र एवं उपाधिरहित है। मैं जितना भी हो सके, इस शरीर के प्रति ममत्व छोड़कर निःस्पृह, निरपेक्ष, सहायतारहित बनूँ। इसी दृष्टि से यहाँ **वोसट्ठकाए, संखाए, ठिअप्पा** और **उवट्ठिए** ये चार विशिष्ट गुण भिक्षाजीवी साधु के दिए हैं। व्युत्सृष्टकाय (शरीर पर से अपनी आसक्ति का उत्सर्ग करने वाला) का रहस्य ऊपर दिया जा चुका है। **संखाए** का रहस्यार्थ यह है कि साधु अपने शरीर के स्वभाव का चिन्तन करे कि इसमें जितना भी भरा जाता है, वह मल के रूप में निकल जाता है, फिर सरस, स्वादिष्ट, औद्देशिक आहार से भरने के बजाय सादे सात्त्विक एवं कल्पनीय-एषणीय आहार से इसे क्यों न भरूँ? शरीर को तो जैसे चाहो वैसे रखा जा सकता है, थोड़े-से सादे सात्त्विक आहार से भी शरीर निभ सकता है। मेरा धर्म है कि मैं शरीर को लेकर पराधीन न बनूँ या कम से कम पदार्थों से अपना काम चलाऊँ। यह गुण भिक्षाजीविता के साथ बहुत ही उपयोगी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'**ठिअप्पा**' का तात्पर्य है कि भिक्षु अपने आत्मभावों में स्थिर रहे, खाने-पीने, पहनने आदि पदार्थों का चिन्तन न करे और न ही सांसारिक पदार्थों को पाने की लालसा करे। वह या तो आत्मगुणचिन्तन में लीन रहे या मोक्षमार्ग में स्थिर रहे। यह गुण भी भिक्षु के लिए इसलिए अनिवार्य है कि फिर वह आहारादि पदार्थों को लाचारी या निर्बलता के रूप में ही स्वीकार करेगा, वह भी उपकृतभाव से। इसी-लिए यहां **उवट्ठिए** विशेषण का प्रयोग भिक्षु के लिए किया गया है। उसका आशय भी यही है कि भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन में उद्यत रहे, उसी का ही ध्यान रखे, चिन्तन करे, शरीर या शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के चिन्तन से मन को हटा ले। '**अज्झप्पजोगसुद्धादाणे**' का आशय भी यही है कि भिक्षाचर्यारूप जो चारित्र है, उसे अध्यात्म भावनाओं से ओत-प्रोत व शुद्ध रखे कि "मेरी भिक्षाचर्या अध्यात्मजीवन को पुष्ट करने और रत्नत्रय की आराधना करने के लिए है, शरीर को पुष्ट, बलदान या मोटा बनाने के लिए नहीं।"

साधु जब भिक्षाजीवी है तो उसे आहार, पानी, वस्त्र, धर्मोपकरण, मकान, तख्त आदि सब चीजें भिक्षा से ही प्राप्त होती हैं। ऐसी दशा में साधु को कई जगह २२ परीषहों या देवादिकृत उपसर्गों में से किसी भी परीषह या उपसर्ग से वास्ता पड़ सकता है। आहार, वस्त्र, उपकरण, मकान आदि न मिलने, अनुकूल न मिलने या अन्य कोई उपद्रवादि रूप परीषहों या उपसर्गों का सामना करने का अवसर आए तो तपस्वी साधु उस समय अपनी सहिष्णुता का परिचय दे। इस दृष्टि से इस सूत्र में बताए गए सभी विशिष्ट गुण होने पर उस साधक को भिक्षु कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

मूल पाठ

एत्थवि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते सुसमिते सुसामाइए, आयवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथेत्ति वच्चे ॥ सूत्र ५ ॥

से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो। **त्ति बेमि॥**

संस्कृत छाया

अत्राऽपि निर्ग्रन्थः एकः एकविद् बुद्धः संच्छिन्नस्रोताः सुसंयतः, सुसमितः सुसामायिकः आत्मवादप्राप्तः विद्वान् द्विधाऽपि स्रोतः परिच्छिन्नो नो पूजासत्कारलाभार्थी धर्मार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः समतां चरेद् दान्तो द्रव्यो व्युत्सृष्टकायो निर्ग्रन्थ इति वाच्यः ॥सूत्र ५॥

तदेवमेव जानीत यदहं भयत्रातारः। **इति ब्रवीमि॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(एत्थवि णिग्गंथे) जो गुण भिक्षु में बताये गये हैं, वे सब यहाँ निर्ग्रन्थ में भी होने चाहिए। उन गुणों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुण निर्ग्रन्थ में और होने चाहिए। वे ये हैं - (एगे) द्रव्य से सहायक से रहित एकाकी और भाव से रागद्वेषादि से रहित एकाकी आत्मा, (एगविऊ) एकवेत्ता हो, अर्थात् जो यह भली-भाँति जानता हो कि आत्मा अकेला ही परलोक में जाता है। (बुद्धे) जो वस्तुस्वरूप को जानता हो, (संछिन्नसोए) जिसने आस्रवद्वारों को रोक दिया है, (सुसंजते) जो बिना प्रयोजन अपने शरीर की क्रिया नहीं करता है अथवा जो अपनी इन्द्रिय और मन पर संयम रखता है। (सुसमिए) जो पाँच प्रकार की समितियों से युक्त है, (सुसामाइए) जो शत्रु और मित्र पर समभाव रखता है, (आयवायपत्ते) जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, (विऊ) जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता है, (दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने) जिसने द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से संसार में आगमन के स्रोत (मार्ग) को बन्द कर दिया है, (णो पूयासक्कारलाभट्ठी) जो पूजा, सत्कार और अर्थादि के लाभ की इच्छा नहीं रखता है, (धम्मट्ठी) किन्तु एकमात्र धर्म की ही इच्छा रखता है, (धम्मविऊ) जो धर्म को जानता है, (णियागपडिवन्ने) जो मोक्षमार्ग को प्राप्त है, (समियं चरे) समभाव से विचरण करता है, (दंते दविए वोसट्ठकाए) उक्त गुणों से युक्त जो पुरुष जितेन्द्रिय, मोक्षगमन के योग्य है तथा शरीर पर से आसक्ति हटा चुका है, (णिग्गंथेत्ति वच्चे) उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

(से एवमेव जाणह जमहं) अतः आप लोग इसी तरह समझें, जैसा हमने कहा है (भयंतारो) क्योंकि भय से जीवों की रक्षा करने वाले सर्वज्ञ तीर्थंकर आप्त-पुरुष अन्यथा नहीं कहते हैं।

भावार्थ

पूर्वसूत्र में भिक्षु के जितने गुण बताये हैं, वे सभी यहाँ निर्ग्रन्थ में भी होने चाहिए। इसके सिवाय यहाँ वर्णित कुछ विशिष्ट गुण भी निर्ग्रन्थ में होने आवश्यक हैं। जो साधक द्रव्य से सहायकरहित अकेला है, तथा भाव से रागद्वेषरहित एकाकी आत्मा है, तथा यह आत्मा परलोक में अकेला ही जाता है, इस बात को भली-भाँति जानता (एकवेत्ता) है, जो वस्तुस्वरूप को जानता है, जिसने आस्रवद्वारों को रोक दिया है। जो प्रयोजन के बिना अपने शरीर की कोई क्रिया नहीं करता है, अथवा शरीर के अंगोपांगों, इन्द्रियों या मन को नियन्त्रण (संयम) में रखता है, जो पाँच समितियों से युक्त होकर शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता, विद्वान् है, जिसने संसार में आगमन के स्रोत (मार्ग) को द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से बन्द कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया है, जो पूजा-सत्कार या वस्त्रादि लाभ की बिलकुल इच्छा नहीं रखता, किन्तु एकमात्र धर्म की इच्छा रखता है, (धम्मविऊ) जो धर्मतत्त्व का वेत्ता है, जो मोक्षमार्ग को प्राप्त है, जो समभाव से चलता है या सिद्धान्त के अनुसार चलता है, उक्त गुणों से युक्त जो पुरुष जितेन्द्रिय है, मोक्षगमन के योग्य (भव्य) है तथा शरीर पर से आसक्ति का त्याग कर चुका है, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से कहते हैं कि मैंने यह तीर्थंकर देव से सुनकर आप लोगों से जो कहा है, उसे आप सत्य समझें, क्योंकि जगत् की भय से रक्षा करने वाले श्री तीर्थंकर सर्वज्ञ आप्तपुरुष अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं।

व्याख्या

इसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए

निर्ग्रन्थ उसे कहते हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियों से सर्वथा मुक्त हो। ग्रन्थियाँ जब तक हैं तब तक साधक मोक्ष की दिशा में प्रगति नहीं कर सकता, इसलिए पूर्वसूत्र में उक्त भिक्षु के गुणों से युक्त होते हुए भी जो साधक इस सूत्र में कथित निर्ग्रन्थ के विशिष्ट गुणों से युक्त हो, उसे निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है। निर्ग्रन्थ के लिए सर्वसंगों, समस्त सम्बन्धों, समस्त सहायकों एवं समस्त सांसारिक संयोगों या पदार्थों का त्याग करना आवश्यक है, उसके बिना वह निर्ग्रन्थत्व में टिक नहीं सकेगा। इसलिए यहाँ उसके विशिष्ट गुणों में से सर्वप्रथम **एगे, एगविऊ** कहा है। एकाकी होने पर वह चिन्तित न हो, यही सोचे कि यह आत्मा अपने कर्मवश परलोक में अकेला ही जाता है, और अकेला ही यहाँ से आता है, कोई किसी का सहायक या साथी नहीं होता। न इस लोक में ही कोई किसी के दुःख-सुख को बँटा सकता है और न ही कोई किसी के साथ स्थायी रह सकता क्योंकि शरीर अनित्य है। ये सांसारिक धन, मकान, दूकान, सोना, चाँदी, या अन्य आहार आदि पदार्थ भी स्थायी नहीं है, ये भी किसी को एकान्त सुख या दुःख अथवा सहायता नहीं दे सकते। इस प्रकार का एक या एकत्व का तत्त्वज्ञान होने पर संग, संयोग, सम्बन्ध, सहायक आदि की ग्रन्थि टूट सकती है। जब साधक के दिल-दिमाग में यह बात भलीभाँति जँच जाएगी, वह इस तत्त्वज्ञान में अच्छी तरह अभ्यस्त हो जायगा कि समस्त संग, संयोग आदि क्षणिक हैं, कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, सिवाय आत्मा के कोई भी साथ जाने वाला नहीं, स्वकृत कर्म स्वयं को ही भोगने पड़ेंगे, तब साधक उन गाँठों को तोड़ने में देर नहीं लगाएगा, जो उसे व्यर्थ ही अज्ञान या वस्तुस्वरूप न समझने के कारण सांसारिक पदार्थों के सहायकत्व या सुख-दुखप्रदातृत्व की आशा में उलझाए हुए थे। इसीलिए निर्ग्रन्थ में **एगे, एगविऊ, बुद्धे, अणवयग्गपत्ते, विऊ, धम्मविऊ** इत्यादि गुण सार्थकता के लिए होने अत्यन्त आवश्यक हैं। तभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह **संछिन्नसोए** (आस्रवद्वारों को बन्द करने वाला), **सोयपलिच्छिन्ने** (द्रव्यभाव दोनों प्रकार से संसार में आगमन के स्रोत (मार्ग) को काटने वाला) बन सकेगा।

आभ्यन्तर ग्रन्थों में हिंसा आदि पाप भी हैं। निर्ग्रन्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह सुसमित बने, धर्मवेत्ता बने, इन्द्रियों और मन को विषयों में जाने से रोके, अपने शरीर पर से ममता उतारे। ये गुण आने पर वह ईर्या आदि पाँचों समितियों से युक्त होकर हिंसा, असत्य आदि ग्रन्थों से दूर रह सकेगा। धर्मवेत्ता बनकर प्रत्येक प्रवृत्ति धर्म से युक्त कर सकेगा, हिंसा आदि पापरूप ग्रन्थि से बचेगा, साथ ही निर्ग्रन्थ एक पर राग और दूसरे पर द्वेष नहीं करेगा, न किसी से वैर बढ़ाएगा, न किसी से मोह; दोनों ही पर समभाव रखेगा। इसी प्रकार पूजा, सत्कार या वस्त्रादि लाभ की आकांक्षा नहीं करेगा, इन्हें बन्धन और आत्मा को परतन्त्रता में डालने वाले समझेगा। इसलिए निर्ग्रन्थ के लिए पूजा-सत्कारलाभ से निरपेक्ष रहना अनिवार्य है। शरीर सब खुराफातों की जड़ है, इसे खाने, पीने, रहने, पहनने-ओढ़ने और इसे सुख-सुविधा में रखने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के पाप कर्म करता है, उस पर ममत्व करके कर्मबन्धन करता है, सुकुमार बनाकर परीषहों और उपसर्गों का सामना करने से कतराता है, इस प्रकार सामान्य मनुष्य जहाँ शरीर पर ममत्व रखकर हिंसा, झूठ, परिग्रह आदि अनेक पापों की गाँठ बाँध लेता है, वहाँ निर्ग्रन्थ इसी शरीर पर से ममत्व हटाकर इसे संस्कारित करने एवं सजाने-सँवारने में व्यर्थ समय, शक्ति नहीं खोता, वह काया पर से ममत्व का व्युत्सर्ग कर देता है, उसे अनासक्तिपूर्वक आहार पानी देकर उससे संयमपालन या धर्माचरण करता है। मोक्षमार्ग में उसे संलग्न कर देता और मोक्षगमन के योग्य (भव्य) बन जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ के **वोसट्ठकाए, णिग्गयपडिकम्मे दविए दंते** आदि विशिष्ट गुण सार्थक ही हैं। इस दृष्टि से निर्ग्रन्थ के ये विशिष्ट गुण जिसमें हों, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

आप्तपुरुष के इस कथन की सत्यता में संदेह नहीं

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं कि मैंने जो बातें आप लोगों से कही हैं, वे अपनी ओर से नहीं कहीं, अपितु तीर्थंकरदेव से सुनकर कही हैं, इसलिए ऐसे आप्तपुरुष के द्वारा उक्त कथन की सत्यता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि एकान्तहितैषी, सबको भय से बचाने वाले, राग-द्वेष मोहादि से रहित सर्वज्ञ आप्त अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं।

इति सोलसमं गाहानामज्झयणं समत्तं ॥

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का गाथा नामक सोलहवाँ अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

॥ पढमो सुयक्खंधो समत्तो ॥

॥ प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org